卐 नमो आयरियाणं 卐

जैनाचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी म.सा. को
उनकी हीरक-स्वर्ण-जयन्ती पर सादर समर्पित

जीत अभिनन्दन ग्रन्थ

निर्देशक :
पंडित-रत्न उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी म. सा. 'श्रमणलाल'

प्रधान सम्पादक :
मुनि गुणवंतचंद्र 'गुणी'

प्रकाशक :
श्री जयध्वज प्रकाशन समिति—मद्रास
शाखा : ब्यावर (राज.)

※ नमो गुरुदेवाय ※

○ प्रकाशन-नाम : जीत अभिनन्दन ग्रन्थ
○ निर्देशक : उपाध्याय श्री लालचंद जी महाराज
○ परामर्शक : पूज्य श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज
○ संप्रेरक : स्वामिप्रवर श्री शुभचंद्र जी महाराज
○ मार्गदर्शक : मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी महाराज 'पारस'
○ सह-संपादक : श्री भद्रेशमुनि जी 'भद्रंकर'
○ संपादक-मंडल : डॉ. तेजसिंह गौड़—उन्हेल
डॉ. दामोदर शास्त्री—दिल्ली
डॉ. नरेन्द्र भानावत—जयपुर

○ प्रधान संपादक
मुनि गुणवंतचंद्र 'गुणी'

○ प्रबंध संपादक
श्री पुखराज मोहनोत—जोधपुर

○ द्रव्य-सहायक : श्री पारसमल जी समदड़िया—मद्रास
श्री चैनमल जी सुराणा—मद्रास
○ प्रकाशन-वर्ष : वीर संवत्-२५१३, वि. संवत् २०४३, ई. सन् १९८६
○ प्रति : पांच सौ ○ कुल पृष्ठ : छह सौ छियानवे
○ प्रकाशक : श्री जयध्वज प्रकाशन समिति—मद्रास
○ मुद्रक : एम. एल. प्रिण्टर्स, सरदारपुरा—जोधपुर
○ मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपये मात्र

○ प्राप्ति-स्थल :
शाखा : श्री जयध्वज प्रकाशन समिति
श्रुताचार्य चौथ स्मृति-भवन
३९ विनोदनगर
ब्यावर-३०५९०१ (राजस्थान)

विषय-निर्देशिका

प्रारम्भ

प्रथम खण्ड : जीवन-दर्शन (गद्य-विभाग)

○ प्रथम खण्ड : जीवन-दर्शन (पद्य-विभाग)

○ प्रथम खण्ड : जीवन-दर्शन (कृतित्व-परिचय)

○ द्वितीय खण्ड : जैनदर्शन और साहित्य

○ तृतीय खण्ड : जैन इतिहास एवं परम्परा

● चतुर्थ खण्ड : परिशिष्ट

समर्पण....

जन-मन-भावन ! पावन-दर्शन
शीतलता है चन्दन - सी ।
करुणाकर की करुणा में तो
छाया दुःख - निकन्दन - सी ।।

तेज - पुञ्ज ! तव सफल साधना
वाणी में है ओज भरा ।
शान्त - हृदय ! सुखदाता ! तेरे
जीवन में आमोद भरा ।।

ज्ञानामृत का पान कराया
मान बढ़ाया शासन का ।
शासित बनकर समता रखकर
पाठ पढ़ाया शासन का ।।

हीरक - स्वर्ण - जयन्ती अवसर
मिल - जुल संघ मनाता है ।
उपकारों के ऋण से बोझिल
मस्तक झुक - झुक जाता है ।।

श्रमण-श्रेष्ठ गुरु - जीत - चरण में
श्रद्धा - भक्ति अर्पण है ।
सन्मति - दायक बोध - प्रदायक
को यह ग्रन्थ समर्पण है ।।

—मुनि गुणवंतचंद्र 'गुणी'

प्रबन्ध सम्पादक का प्रतिवेदन

☐

पुखराज मुरणोत

अभिनन्दन न तो परम्परा है और न ही आवश्यकता। यह तो श्रद्धालु-भक्तों के समर्पित हृदयों का कोकिल-कंठी कूजन है। व्यक्ति - विशेष के सुरभित-सत्कार्यों, सद्‌गुणों, जीवनादर्शों का पूजन है। दीर्घ-साधना-रत दिव्य-साधक की अनमोल अनुभूतियों के पराग-कोष द्वारा प्राप्त होने वाले मधुकणों से व्याप्त (हृदयानंद की अभिव्यक्ति-रूप) भक्त-मन-भ्रमर-दल का आध्यात्मिक गुञ्जन है।

व्यक्ति में विशिष्टता के प्रादुर्भाव एवं विकास के दो कारण हैं—अन्तर्मुखी साधना एवं बहिर्मुखी साधना। प्रथम चरम-लक्ष्य की प्राप्ति की हेतुक है तो दूसरी प्राप्त ज्ञान-ज्योति को जन-जन में विकीर्ण कर जन-जागृति एवं जन-कल्याण की हेतुक।

ऐसी 'स्व' एवं 'पर'-कल्याणक साधना व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्फटिक-तुल्य निर्मल बनाती है। यहाँ व्यक्ति-वैशिष्ट्य के लिए केवल साधना-क्षेत्र का उल्लेख इस बात का स्पष्ट संकेत है कि इस गरिमामय राष्ट्र की गौरवशाली संस्कृति में अनादिकाल से तप और त्याग, विरक्ति और निवृत्ति, वैराग्य एवं संयम-साधना को पूजा-प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त है।

जो व्यक्ति भारतीय संस्कृति से सुपरिचित हैं, वे श्रमण (जैन)-संस्कृति की महत्ता को नकार नहीं सकते। यह श्रमण-संस्कृति ही है जिसने जीवन की आध्यात्मिक धारा के विकास पर बल देकर इस राष्ट्र की गौरव-गरिमा को बढ़ाने में अपूर्व सहयोग प्रदान किया है। इतिहास साक्षी है—किसी भी राष्ट्र के पतन में जो मूलभूत कारण रहे हैं वे हैं—विलासिता, पारस्परिक-संघर्ष तथा सीमातीत स्वार्थ-वृत्ति। श्रमण-संस्कृति ने आध्यात्मिक ज्ञान-रश्मियों के आलोक में उपर्युक्त दुर्गुणों को समय-समय पर निःशेष करने का सफल प्रयत्न किया है।

वर्तमान युग में मानव भौतिकता की चकाचौंध से भ्रमित बन पथ-भ्रष्ट हो रहा है, भटक रहा है। वह बाह्याडम्बर से अपने सुख-सुविधा के सुनहरे-स्वप्नों को संजोने की भूल कर रहा है। गरीबों की झोंपड़पट्टी से अमीरों की बहुमंजिला बिल्डिंग तक में रहने वाले नर और नारी, सभी आज अशांत हैं, उद्विग्न हैं, विनाश के कगार पर खड़े हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में एक कसक है, एक टीस है, एक

कचोट है। सर्वत्र राग, द्वेष और क्लेश का साम्राज्य है। आश्चर्य यह है कि इतना सब होने पर भी मानव-समुदाय, व्यष्टि से समष्टि तक अर्थ की साधना में डूबा है। पराधीन वस्तुओं की प्राप्ति में उसकी प्रतिस्पर्धा-भावना दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। अर्थ और केवल अर्थ ही उसका जीवन, उसका सुख, उसका चैन, उसकी खुशी, उसका साहस, उसका शौर्य, उसकी प्रतिष्ठा एवं यहाँ तक कि अर्थ ही उसका धर्म बन रहा है।

ऐसे संत्रस्त समय में अर्हद्-वचनों का आलम्बन देकर धर्म की यथार्थता बतलाने वाले, भौतिकता की चकाचौंध से हटाकर आध्यात्मिकता की अन्तर्ज्योति को प्रज्वलित करने वाले, बाह्य पदार्थों के आकर्षण में उलझे व्यक्ति को 'स्व' की ओर अग्रसर होने के लिए उपदेश देने वाले ऋषि-मुनियों, संत-साधुओं, त्यागी-विरागियों की शरण ही इन सबसे बचने का, मन के संत्रास को दूर करने का एवं भटकाव से निकलकर सत्य-पथ-दर्शन का एकमात्र उपाय है। इसी में सुख है, शांति है, आनंद है, गौरव है, प्रतिष्ठा है और है जीवन का यथार्थ-वैभव। किसी ने ठीक ही कहा है—

"संसार-सागरस्यान्तं, गन्तुमिच्छति चेद्यदि।
चारित्रं महतां पोतं, कृत्वा गच्छन्तु भावुकाः ।।"

अर्थात्—इस अपार संसार-सागर से पार होने की यदि इच्छा है तो महान् पुरुषों के जीवन-चारित्र रूपी नौका का आधार लेना चाहिए।

"तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं !
अरहंताणं भगवंताणं णाम-गोयस्स वि
सवणयाए, किमंगपुरा-अभिगमण—
वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवा—
सणयाए ? एगस्स वि आयरियस्स
धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए।"

अर्थात्—"भगवान महावीर के किसी नगर के उद्यान में पदार्पण पर नगर-निवासियों में पारस्परिक वार्तालाप चल रहा था। एक नागरिक ने दूसरे नागरिक से कहा—हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार के अनंतज्ञान के धनी अरहंत भगवान् का तो यदि नाम और गौत्र भी श्रवण कर लिया जाए तो महान् फल की प्राप्ति होती है। यदि उनके चरणों में पहुँचकर वन्दन-नमस्कार करने का, संदेहास्पद प्रश्न का समाधान पाने का और पर्युपासना करने का अवसर मिलता हो तो उसकी तो फिर बात ही क्या है ? ऐसे महामानवों द्वारा जीवन में आचरित एक भी महावाक्य यदि सुनने को मिल जाए तो इससे अधिक और क्या पुण्य हो सकता है ?"

स्पष्ट भासित है कि महापुरुषों का, दिव्य-साधकों का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधकों का तो नाम-श्रवण भी शुभ होता है। यदि उनके दर्शन करने, उनके सम्पर्क में आने, उनसे वार्तालाप करने, उनके प्रवचन सुनने और उन्हें समीप से देखने का अवसर मिल जाए तो उससे बढ़कर भाग्यशालिता और क्या होगी ?

वर्तमान युग में ऐसे ही एक महापुरुष, दिव्य-साधक, चारित्राराधक हैं—जयसंघ के आचार्य-प्रवर,

महामहिम, काव्य-न्याय-तीर्थ, तर्कमनीषी, पंडितरत्न, श्रमण-श्रेष्ठ श्री जीतमल जी महाराज साहब। जिनशासन-नायक भगवान महावीर के सयाने सपूत, अखिल मानव-जाति की कल्याण-भावना के पोषक देवदूत—आगम-व्याख्याता के रूप में, तत्त्व-चिन्तक के रूप में, धर्मनेता के रूप में, संयम-साधक के रूप मे, अहिंसा-सिद्धान्त के प्रचारक के रूप में एवं परिग्रह के उत्सर्गकर्त्ता के रूप में भारतवर्ष की इस धर्मधरा पर विचरण कर रहे हैं, यह हमारे परम-सौभाग्य का सूचक है।

दीक्षावधि के पचपन वर्षों की सम्पूर्ति के तुरन्त पश्चात् ही आपके सार्वजनिक अभिनंदन की भावना उभर कर समाज के सम्मुख आई। अनेकानेक आग्रह-भरे निवेदन आपश्री के चरणों में प्रस्तुत हुए। कभी-कभी तो श्रद्धालु-भक्तों के आग्रह हठधर्मिता की पराकाष्ठा तक भी पहुँच जाते पर ख्याति, प्रसिद्धि एवं लोकैषणा की आकांक्षा-अभिलाषा तथा प्रदर्शन, आडम्बर दिखाने का मोहाकर्षण जिस महनीय के स्वभाव में ही न हो; उत्सव-समारोह-आयोजन की भीड़-भाड़ भी जिनकी प्रकृति से मेल न खाती हो, उनसे सार्वजनिक अभिनन्दन के आयोजन की स्वीकृति भला कैसे मिलती? साधक-वृन्द भला क्यों यह चाहने लगा कि समाज हमारे साधना-जीवन का, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का, साहित्यिक एवं सामाजिक सेवाओं का गुण-गान करे या हमारी जीवनियाँ लिपिवद्ध करे, जिससे भावी पीढ़ी हमें याद करे। इस पर भी समाज का जो प्रबुद्ध, चेतनाशील एवं विवेकानुगामी वर्ग है, आगे बढ़कर स्वयं उनके सम्मान, गुणगान, अभिनन्दन के लिए उत्सुक रहता है। अपने श्रद्धेय गुरुजनों के प्रति श्रद्धावनत होकर अपनी समुज्ज्वल संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में अपने आपको भाग्यशाली मानता है। सन्तों, महापुरुषों, त्यागियों के जीवन-चरित्र, उनके अभि-नन्दन-ग्रन्थ एवं स्मृति-ग्रन्थ ऐसे "प्रकाश-स्तम्भ" होते हैं, जो युग-युगों तक समाज का सही मार्गदर्शन करते हैं, अतः ऐसे ग्रंथ प्रेरणा के पुञ्ज माने जाते हैं।

रायपुर-मारवाड़ में संवत् २०३३ की महावीर-जयंती के पुनीत अवसर पर जयसंघ ने आपको संघ के आचार्य-पद पर सुशोभित किया। इस एक दशक के अपने आचार्यकाल में आपके नेतृत्व ने संघ की चहुंमुखी प्रवृत्तियों को तीव्र गति दी एवं उन्हें विकसित किया, जयसंघ को समुन्नत, संगठित एवं सुविस्तृत किया। इस दशक में आपके अभिनन्दन की चर्चा ने फिर जोर पकड़ा। बात आप तक भी पहुंचाई गई। आपने अपनी सदाबहार मधुर-मोहक मुस्कान के साथ फरमाया—"भक्तजनों की भावना ही मेरा अभि-नन्दन है फिर यह आडम्बर क्यों?

समय गतिशील है। वह अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ता गया। दिनाँक ६ मई, १९८५ को जोधपुर में किसी आवारा, सड़कों पर घूमते सांड की चपेट में आकर आचार्य-प्रवर दुर्घटनाग्रस्त हो गए। उनके कूल्हे की हड्डी में फ्रेक्चर हो गया। चिकित्सा-चर्या-परिचर्या प्रारम्भ हुई। अभी दस प्रतिशत भी स्वास्थ्य-सुधार नहीं हो पाया था कि संघ पर एक अकल्पनीय वज्राघात हुआ। आपके अतिप्रिय अल्पायुष्य-शिष्य होनहार-विद्वान एवं संघ व समाज के भावी आशा-दीप श्री नूतनमुनि जी म. सा. गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गए। ऐसे अस्वस्थ हुए वे, कि वापस स्वस्थ हुए ही नहीं।

दिनाँक ९ सितम्बर, १९८५ को क्रूरकाल ने संघ के इस आशा-दीप को बुझा दिया। एक अपूरणीय, असह्य क्षति थी यह। सारा समाज व्यथित, बेचैन और स्तब्ध-स्तंभित रह गया। इस गहन-

क्षति से, इस मर्मान्तक-आघात से समाज कुछ संभला तो पुनः वही चर्चा, वही आग्रह। समाज के वातावरण में आग्रह के भीतर छिपी ऊष्मा को महसूस कर आचार्य-श्री ने इस बार मौन धारण कर लिया। समाज के कर्णधारों, संघ के अग्रणी श्रावकों, कर्मठ एवं संघनिष्ठ कार्यकर्त्ताओं ने इस मौन का लाभ उठाया। 'मौनं स्वीकृतिलक्षणं' वाला नीतिपद उन्हें इस समय अपने ध्येय की सफलता का श्रेष्ठ साधन लगा।

यह लगभग आंग्ल-पंचांग के नूतन-वर्ष (१९८६) का प्रथम मास था। संयोग कुछ ऐसे एकत्रित हुए कि समारोह-आयोजन का सौभाग्य कुचेरा-श्रीसंघ को प्राप्त हुआ और वहाँ के क्षेत्रीय प्रतिनिधियों की मांग पर २३ व २४ जून १९८६ की तिथियाँ समारोह-आयोजन के लिए निश्चित कर ली गईं।

पूज्य आचार्यप्रवर की आयु के इस समय तक तीन-चतुर्थांश-शतक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। संयम की साधना, ज्ञान की आराधना तथा धर्म की जागरणा करते हुए आपने पंचदशाधिक-अर्द्धशतक-वर्ष "स्व" तथा "पर" कल्याण में अब तक बिता दिए हैं। कुचेरा-श्रीसंघ ने इसीलिए यह निर्णय लिया कि इस 'अभिनन्दन-समारोह' को आचार्य-भगवन् की "हीरक-जन्म-जयंती" एवं "दीक्षा-स्वर्ण-जयंती" के रूप में आयोजित किया जाए। "अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ" ने उनके निर्णय को स्वीकृति दी तथा कार्यक्रमों की रूपरेखा में "जीत-अभिनन्दन-ग्रन्थ" प्रकाशन की योजना भी रखी।

समय सीमित था। इस कार्यावधि में, सिकुड़े-सिमटे काल में 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के प्रकाशन जैसा महनीय कार्य असंभव-सा महसूस हो रहा था। मैंने सोचा असम्भव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है।

सर्व-प्रथम मैं जयसंघ के उपाध्याय-प्रवर, पंडितरत्न, साहित्यसूरि श्री लालचंद्रजी महाराज साहब की सेवा में पहुँचा। उपाध्याय-प्रवर की प्रतिभा, कार्यशैली की प्रवणता एवं उनके उत्साह से जन-जन परिचित है। सबसे पहले मैंने अपनी समस्या आप ही के सम्मुख रखी। आपने शान्त एवं स्थिर-स्वर में फरमाया— "योजना बना कर कार्य प्रारम्भ कर दो, विधि-पूर्वक किये गए कार्यों से सिद्धि कभी दूर नहीं रहती।"

अब मैं सभी के शुभाकांक्षी स्वामी श्री शुभमुनिवर से शुभाशीष लेकर परम प्रतापी गुरुवर्य श्री पार्श्वमुनि जी की चरण-रज ग्रहण करने पहुँचा। मेरे उत्साह में वृद्धि करते हुए आपने फरमाया— "शुभकार्य के लिए समय की कमी कभी भी बाधक नहीं बनती। कार्य प्रारम्भ करने की जरूरत है, सतत लगन-पूर्वक उसमें जुटे रहने की आवश्यकता है, पूर्णाहुति तो स्वतः हो जाती है।" तब मुझे याद आ गईं राष्ट्रीय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियां—

राम तुम्हारा चरित, स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है॥

और आचार्यप्रवर का जीवन गुप्त जी के इस कथन की पुष्टि करता है। तभी तो यह सब कुछ इतने सहजभाव से किया जा सका।

वैसे कार्य गुरुतर था, भावनाएँ गुरुतर थीं, आशीर्वाद भी गुरुतर थे पर समय ....? कहते हैं गुरुकृपा असंभव को भी संभव बना देती है। यह वह शक्ति है, जो व्यक्ति की सम्पूर्ण मनोकामनाएँ पूरी कर देती है। गुरुवर की सत्प्रेरणा से सभी इच्छित कार्य सिद्ध हो जाते हैं। मार्ग में आने

वाली समस्त बाधाओं का निवारण करने में सक्षम है, गुरुवर की कृपादृष्टि । इनका वरदहस्त ही सफलता का अमोघ साधन है। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप, स्वरूप, सज्जा, सामग्री एवं अत्यल्पावधि में इसका लेखन, सम्पादन व प्रकाशन सब कुछ इन परमश्रद्धेय गुरुदेवों के शुभाशीष का ही सुफल है।

अब तक के प्रकाशित अभिनन्दन-ग्रन्थों की लीक से हट कर इस ग्रन्थ को संतुलित सामग्री से सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है, जिससे ग्रन्थ साधारण शिक्षित व्यक्ति से लेकर मनीषी विद्वानों तक सभी के उपयोगी बन सके।

ग्रन्थ में कहाँ क्या है? यह कितने खण्डों में विभक्त है? प्रत्येक खण्ड किन विषयों की सामग्री से सम्बद्ध है?—इन सभी का विवरण देकर सम्पादकीय के कलेवर को बढ़ाना युक्तिसंगत नहीं होगा। कारण स्पष्ट है, यह सब तो 'अनुक्रमणिका' देखकर भी ज्ञात किया जा सकता है।

ग्रंथ-निर्माण-काल में स्व. श्री नूतनचंद्र जी महाराज साहब की स्मृति निरन्तर बनी रही। स्व. मुनि जी स्वयं एक कुशल लेखक, सम्पादक, प्रेरक, परामर्शक, निदेशक, मार्गदर्शक, निष्पक्ष-निर्णायक एवं समीक्षक थे। आज यदि इस ग्रन्थ को उनकी कलम एवं कला का स्पर्श मिल पाता तो निश्चय ही यह ग्रन्थ और अधिक उपयोगी, आकर्षक एवं उत्कृष्ट बन पाता। यही बात कुछ अंशों में स्व. डॉ. पी.सी. जैन के लिए भी कही जा सकती है।

इस विशाल ग्रंथ का गुंथन निश्चय ही सामूहिक सहयोग एवं श्रम का सु एवं सफल परिणाम है। आगम-व्याख्याता, पंडितरत्न, साहित्यसूरि, उपाध्यायप्रवर श्री लालचंद्र जी म. सा. के सतत निदेशन एवं सामग्री-संकलन व चयन के सहयोग ने ग्रंथ-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुरुवर्य श्री शुभमुनि जी तथा श्री पार्श्वमुनि जी म. सा. के शुभाशीर्वाद एवं अमूल्य-परामर्श ने ग्रन्थ-निर्माण-कार्य में मेरे उत्साह को निरन्तर बनाए ही नहीं रखा, उसे बढाया भी है। विद्यार्थी श्री भद्रेशमुनि जी ने भी समय निकाल कर गीत-काव्य-रचनाओं में संशोधन-सहयोग कर मेरे गुरुतर-कार्य को सरल, सुगम और हल्का बनाया है।

डॉ. नरेन्द्र भानावत एवं डॉ. दामोदर शास्त्री का आभार किन शब्दों में प्रकट करूं, जिन्होंने ग्रन्थ-योग्य अपनी-अपनी रचनाएँ समय पर प्रेषित करने के साथ-साथ उच्चकोटि के अनेक ख्याति-प्राप्त लेखकों की अमूल्य रचनाएँ भिजवाकर ग्रंथ को समृद्ध बनाने में भरपूर सहयोग दिया है। डॉ. दामोदर शास्त्री का तो मैं विशेष रूपेण आभारी हूँ, जिन्होंने पूज्य गुरुवर आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी म.सा. की संस्कृत-रचनाओं का संपादन किया एवं उनके कृतित्व की समीक्षा बहुत ही गवेषणात्मक ढंग से की।

डॉ. तेजसिंह गौड़ तो ग्रंथ-सृजन में पूर्णतः समर्पित थे। यह उन्हीं की सामर्थ्य थी, श्रम था, भागदौड़ का परिणाम था कि हम पूज्य श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री से, डॉ. भानावत जी से एवं दिल्ली, उदयपुर, इन्दौर, उज्जैन आदि स्थानों के अनेक विद्वानों से उनकी नवीनतम अमूल्य रचनाएँ समय की एक निश्चित परिधि में प्राप्त कर सके।

श्री जगदीशचंद्र जी ललवाणी ने अपनी दीर्घ एवं दुस्साध्य अस्वस्थता के बावजूद भी जिस लगन, श्रम एवं कुशल-कार्यशैली का परिचय दिया है, उसके लिए वे एवं एम. एल. प्रिण्टर्स के स्टाफ-सदस्य निश्चय ही धन्यवाद के पात्र हैं।

पुखराज मुणोत

प्रेस-सामग्री की सुवाच्य एवं स्पष्ट लिपि में प्रतिलिपि तैयार करने का गुरुतर-उत्तरदायित्व निभाने में सहयोग किया है—श्री रतनसिंह, ब्यावर ने एवं श्री महेश भण्डारी, महामंदिर ने। मैं इन दोनों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। आभार उनके प्रति भी जिन्होंने संस्मरण, श्रद्धार्चन अथवा अन्य किसी भी तरह के लेखन से हमें सहयोग दिया। और अब अन्त में—

युवा-हृदय, कर्मठ-कार्यकर्त्ता एवं सतत श्रमलीन श्रमण परम-श्रद्धेय मुनिवर श्री गुणवंतचंद्र जी महाराज साहब "गुणी" के प्रति हार्दिक कृतज्ञता एवं विशेष आभार प्रदर्शित किए विना मैं रह नहीं सकता। आप ही के सतत लगन, आप ही के निरन्तर परिश्रम और आप ही के अदम्य उत्साह ने मेरे कार्य को सहज-संभाव्य बनाया। सम्पूर्ण ग्रंथ-निर्माण-कार्यकाल में मुझे लगा कि कार्य मैं नहीं कर रहा हूँ, कोई अन्य शक्ति कार्य कर रही है। निश्चय ही वह शक्ति मुनि श्री गुणवंतचंद्र जी की कार्यशैली में अन्तर्निहित थी। वे स्वयं कार्य में डूब कर कार्य करते थे और मैं निरन्तर उनसे पाता था प्रेरणा और स्फुरणा।

सबके सामूहिक श्रम का सुफल, यह 'जीत-अभिनन्दन-ग्रंथ' उत्कृष्ट जैन साहित्य की अभिवृद्धि में महत्स्थान वरेगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

—जोधपुर (राज.)
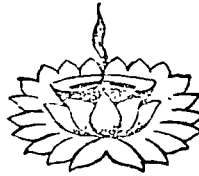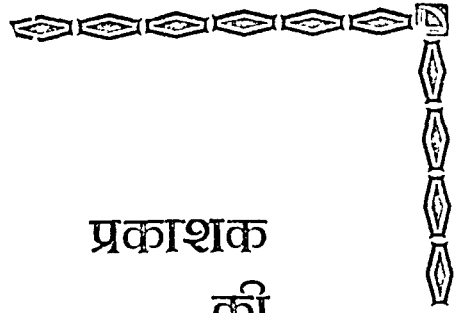
प्रकाशक की अभिव्यक्ति

□

एन. सुगालचन्द सिंघवी

व्यष्टि से समष्टि का निर्माण भारतीय संस्कृति का आधार है। महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ, भावी-पीढ़ियों के लिए प्रेरणा की स्रोत बनकर उन्हें सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं सुशील बनाती हैं। श्रमण-संस्कृति के सन्त-रत्न ऐसे ही महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं। इन सन्तात्माओं का जीवन, उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रकाशन की परिधि में आए, यह अति महत्त्व-पूर्ण कार्य है। जैन समाज की जितनी भी प्रकाशन-संस्थाएँ हैं, उन सभी का यह पुनीत दायित्व है कि वे श्रमण-संस्कृति के आदर्श-श्रमणों का जीवन-दर्शन सर्व-जनहिताय प्रकाशित करें/प्रकाश में लाएँ।

जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास ने इसी परम-पावन-उद्देश्य को अपने समक्ष रखकर इस क्षेत्र में पहल की है। विगत कुछ वर्षों में इस संस्था ने कई महत्त्वपूर्ण प्रकाशन जैन-जगत् को दिए हैं। सच देखा जाए तो इस संस्था के उद्भव की आधार-शिला ही विशाल-काय ग्रंथ-राज **"जयध्वज"** है, जो युगप्रधान धर्मगुरु, क्रियोद्धारक एवं क्रान्तिकारी आचार्य **पूज्य श्री जयमल्लजी महाराज साहब** की धवल-धर्म कीर्ति-कथा का अद्वितीय ग्रंथ-रत्न है।

संस्था ने **'सर्वतोमुखी व्यक्तित्व'** के नाम से **श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमलजी** म. सा. का एवं **"पूनम का चाँद"** नामक ग्रन्थ में स्वाध्याय-प्रेमी **स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा.** के यशस्वी जीवन-चरित्र का भी प्रकाशन किया हैं। ये सभी ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति के देदीप्यमान दिव्य सन्त-रत्नों की जीवन-गाथाओं का बखान करते हैं, जो निश्चय ही मानव-मात्र के लिए प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं।

जन-जन को युग-युग तक प्रेरित एवं प्रभावित करने वाले सन्त-रत्नों के जीवन-चरित्र, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को प्रकाश में लाने की दिशा में एक और विशाल-ग्रंथ विद्वद्-पाठकों के कर-कमलों में रखा जा रहा है—**"जीत-अभिनन्दन-ग्रंथ"**; केवल अभिनन्दन-ग्रंथ ही नहीं अपितु जैन धर्म एवं दर्शन की अनमोल-सामग्री का दस्तावेज है।

ग्रंथ के निर्माण एवं प्रकाशन की समग्र कथा लगभग छह माह की अल्प समयावधि में सिमटी है। विशाल-ग्रंथ का इतने कम समय में लेखन, संपादन एवं मुद्रण एक आश्चर्य ही है

और उसी आश्चर्य को सत्यदर्शी बनाने वाले हैं—परमश्रद्धेय आचार्य-प्रवर के सुशिष्य **कर्मठ-अध्यवसायी मुनि श्री गुणवंतचन्द्र जी महाराज**। उनके परिश्रम एवं प्रयत्नों का भगीरथ स्वरूप ही ग्रंथ-निर्माण का केन्द्र-बिन्दु है। **'जयगुंजार'** पत्र के सम्पादक **डॉ. तेजसिंह जी गौड़** एवं सह-संपादक **श्री पुखराज जी मुणोत** के भी हम पूर्णतया आभारी हैं। डॉ. गौड़ ने विद्वानों से संपर्क कर उच्चकोटि की रचनाओं की प्राप्ति में सहायता दी है जबकि श्री मुणोत ने ग्रंथ के लिए रचनाओं का चयन किया है तथा अपना समस्त समय देकर अनेक रचनाओं का संपादन व पुनर्लेखन किया है।

समय पर ग्रंथ-प्रकाशन का हमारा संकल्प इन्हीं के अथक प्रयत्नों का सुफल है।

दीर्घकालीन असाध्य अस्वस्थता के होते हुए भी **एम.एल. प्रिन्टर्स, जोधपुर** के संचालक **श्री जगदीशचंद जी ललवानी** ने जिस हिम्मत एवं परिश्रम का परिचय ग्रंथ के मुद्रण में दिया, जिस गति से कार्य करवाया और अत्यल्प समय में अनेक कष्ट उठाकर ऐसा सुन्दर मुद्रण किया, उसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करने के लिए उचित शब्द भी नहीं मिल पा रहे हैं।

आचार्य-प्रवर की हीरक-जन्म एवं स्वर्ण-दीक्षा जयन्ती का आयोजक **'श्री कुचेरा-संघ'** इस ग्रंथ के निर्माण एवं प्रकाशन का आधार-स्तम्भ है। संघ के जयन्ती-समारोह-आयोजन ने ही ग्रंथ-प्रकाशन-योजना को जन्म दिया। **कुचेरा के श्रीयुत चैनमल जी सुराणा** के हम विशेष रूप से आभारी हैं, जिनके प्रबल आग्रह के कारण ही ये समस्त आयोजन संभव हो सके।

ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ-सहयोग करने वाले—**उदारमना सेठ श्री चैनमलजी सुराणा मद्रास, श्री पन्नालालजी बोथरा—चांगोटोला, श्री किस्तूरचन्दजी सुराणा—कटंगी, श्री अमरचन्दजी चोरड़िया—बैंगलोर, श्री लूणकरणजी सोनी-भिलाई, श्री गणपतराजजी धारीवाल—महामन्दिर, श्री बाबुलालजी मकाणा—हाजीवास, श्री गुलाबचन्द जी भींवराज जी सुराणा-महामंदिर एवं श्री पारसमल जी समदड़िया-मद्रास** आदि के प्रति प्रकाशन-समिति जितना आभार प्रकट करे, वह कम है।

पूज्य गुरुदेव उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी म. सा. आदि संतों की असीम कृपा के बिना भला क्या हो पाता? उनके लिए आभार प्रकट करना इस समिति के लिए कैसे संभव है। उनकी अमृतोपम कृपादृष्टि को शब्दों में ज्ञापित करने की सामर्थ्य इस लेखनी में कहाँ?

विद्वान् संत-मुनिराज, सम्पादक-मण्डल एवं कलम के धनी विद्वद्-लेखकवर्य: सभी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूं, जिनकी कृपा-श्रम एवं सहयोग से यह ग्रंथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सका है।

ग्रन्थ कितना उपयोगी है, अब तक प्रकाशित अनेकानेक ग्रंथों की कोटि में इसका स्थान कहाँ है, यह कैसा बन पड़ा है? इसका निर्णय तो सुधि-पाठक ही करेंगे। आशा है ग्रंथ, उच्चकोटि के प्रकाशनों की शृंखला में स्थान ग्रहण करेगा।

—**मन्त्री, श्री जयध्वज प्र. समिति**
मद्रास (तमिलनाडु)

प्रथम खण्ड

जीवन - दर्शन

- लहरों पर सागर (जीवन – चरित्र)
- संस्मरण (गद्य)
- संस्मरण (पद्य)
- कृतित्व - परिचय

लहरों पर सागर

(उद्भव और विकास)

पुखराज मुणोत

स्व कथ्य : शीर्षक-अभिप्राय

* जल ही जल ! अथाह, अपार, असीम ! तट पर खड़े हो जाइए और सागर पर नजर डालिए किनारा नजर नहीं आएगा। अधिक आनन्द की अनुभूति चाहिए, कभी सागर के वक्षस्थल को नापते हुए, चीरते हुए, मध्य-सागर पहुंच जाइए। देखिए वहां से चारों ओर। है न अक्षय जल-भण्डार !

* केवल जल-भण्डार ही नहीं, बहुमूल्य रत्नों-मौक्तिकों और मणियों का भी खजाना है बहुआयामी विचित्रताओं का अक्षय कोष है, नित्य-नवीनताओं का अपरिमित आगर है। गहन इतना कि थाह न मिले, मर्यादित इतना कि मर्यादा स्वयं सागर से उपमित हो, जीवन्त इतना कि जीवन भी वहीं आकर विश्राम ले।

* सतह पर कैसी उत्ताल तरंगें। एक के बाद एक लहर जल पर नर्तन करती हुई भाग रही है। सागर गरज रहा है, लहरें उफन रही हैं। कितनी लहरें टकराती हैं, आ-आकर सागर से। परिणाम क्या होता है ? टकराने वाली प्रत्येक लहर वहीं बिखर जाती है। टकराव, बिखराव फिर एक नई लहर का उद्भव।

* आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा का जीवन भी एक सागर है। ज्ञान का, दर्शन का, चारित्र का अक्षय कोष; अनुभूतियों का विशाल भण्डार, अनेकानेक बहु-आयामी गुणों का आगर ! गहन-गंभीर चिन्तन, मर्यादित-संयमित दीर्घ-जीवन, नित्य-नव-ज्ञान, स्वाध्याय का अमृत-संचय !

* सागर की सतह पर लहरें नृत्य करती हैं पर आपके जीवन-सागर की सतह पूर्णतया शान्त है, समतल है, सरल है। जो कुछ भी है वह निराडम्बर है, प्रदर्शन की भावना से रहित है, निर्लिप्त है। सतह सूनी है, गर्भ में बहुत कुछ है। तरंगित जीवन, लहरों पर नृत्य करता जीवन बहुत पीछे है, बहुत नीचे है। "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" जीवन-सागर की बिखरी हुई लहरों का जो इतिहास-अंश विभिन्न स्रोतों से मिल पाया है, उसी की प्रस्तुति है—

"लहरों पर सागर"

※ राष्ट्र-व्यापी एक भरे-पूरे समाज की, एक विशाल समुदाय की कितनी हलचलें !
※ वैचारिक भिन्नताओं, मतभेदों की कैसी उत्ताल तरंगें !
※ अज्ञान-जनित क्रिया-काण्डों व क्रिया-रहित तार्किक ज्ञान की निराधार उठती अनंत-अनंत लहरें !

और

इन सभी को शांत करता, सभी में एकता भरता एवं अर्थहीन मान्यताओं को झुठलाता-बिखराता सागर-सा एक विराट् व्यक्तित्व ! उसी व्यक्तित्व की प्रस्तुति है—

लहरों
पर
सागर

जीवनी किसकी ?

जीवन-चरित महापुरुषों के, हमें नसीहत करते हैं ।
हम भी अपना अपना जीवन, स्वच्छ-रम्य कर सकते हैं ।।

जीवनी लिखना, साहित्य की सबसे कठिन विधा है । किसी स्वतन्त्र विषय पर सामग्री का आकलन, संकलन और कल्पना का पुट सहज संभाव्य है पर जब हम किसी व्यक्ति विशेष की जीवनी लिखने के लिए कलम उठाते हैं तो बहुधा वह सामग्री दुर्लभ हो जाती है, जिसकी हमें जरूरत रहती है । कल्पना की सतरंगी उड़ान तो वहां संभव ही कहां ? फिर यह भी तो डर रहता है कि जीवनी के चरित्र-नायक का न तो बढ़-चढ़ कर वर्णन हो और न उनके जीवन का कोई ऐसा पक्ष उजागर होने से रह जाए, जिसके बिना उनकी जीवनी का लेखन अधूरा-सा लगे ।

जीवनी किसकी लिखी जाए ? सामान्य पुरुषों की जीवनी कौन पढ़ेगा ? पढ़ेगा भी तो उसका फल, उसका परिणाम क्या होगा ? लेखन की किसी भी विधा के पीछे चाहे कुछ भी उद्देश्य या लक्ष्य रहे हों पर पाठकों पर हितकारी प्रभाव अवश्य पड़े, कुछ सामाजिक चेतना जगे, कुछ रद्दोबदल हो—चलते हुए जीवन में; यह तो अत्यन्त आवश्यक है । वैसे भी भारतीय साहित्य की एक प्रमुख विशेषता रही है—'स्वान्तः सुखाय, परजन-हिताय' । ऐसी जीवनी उन विशिष्ट पुरुषों की ही लिखी जा सकती है, जिनका जीवन, जिनका समय राष्ट्र-धर्म-समाज या जाति के उत्थान के लिए बीता हो, जिन्होंने अपने जीवन को एक समुदाय के लिए व्यतीत किया हो, जिनकी चेतना से जागृति का बिगुल बजा हो । ऐसा विशिष्ट व्यक्ति नेता, अभिनेता, क्रांतिकारी, समाज-सुधारक, त्यागी, वैरागी, पथदर्शक, शिल्पी, साहित्यकार या कलाकार कुछ भी हो सकता है ।

भारत ने हमेशा व्यक्ति-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा को ही महत्व दिया है । यहाँ राजा, महाराजा, धनाधीश, श्रेष्ठी या शिखर-स्थित व्यवसायियों की जगह संतों, साधुओं, त्यागियों की पूजा ही विशेष रूप से हुई है । पद, सत्ता और शक्ति के स्थान पर सेवा, समता और भक्ति को नमन हुआ है । भोग-ऐश्वर्य-ऋद्धि की नहीं बल्कि योग-संयम और सिद्धि की अर्चना-उपासना हुई है । यहाँ स्वर्ण, रजत, हीरे, पन्ने, माणक, मोती, एक-छत्र-राज्य या विपुल-सम्पदा केवल भय-युक्त आदर भले ही दे दे पर वास्तविक आदर, सच्ची श्रद्धा तो उन्हीं की झोली में गिरती है, जो इन सब बहुमूल्य पदार्थों को

त्याग कर अमूल्य साधना-पथ पर आगे बढ़ जाते हैं। यहां मुनियों ने कभी सम्राटों को शीश नहीं झुकाया, ऋषियों ने महाराजाओं का अभिनन्दन नहीं किया, त्यागी-तपस्वी सन्तों ने कभी सत्ताधीशों का मुंह नहीं ताका। इससे विपरीत त्यागी-तपस्वी, सन्त-महात्मा, साधु-ऋषि या मुनियों के चरणों में सदैव ऐश्वर्य-ऋद्धि व सत्ताधारी ही सिर झुकाते आए हैं। सिकन्दर या अकबर, नेपोलियन बोनापार्ट या समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त या अशोक सभी इतिहास के पन्नों तक ही सीमित हैं शायद कुछेक शताब्दियां बाद वहाँ से उड़ भी जायेंगे, धूमिल पड़ जायेंगे पर ऋषभ या महावीर, राम या कृष्ण आदि युगों-युगों तक वन्दनीय, पूजनीय, अभिनन्दनीय बने रहेंगे।

निश्चय ही आज का युग अति-भौतिकवादी युग है, विज्ञान का युग है, प्रगति और प्रचार का युग है तभी तो आज भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, मिलावट, रिश्वत और शासन-तन्त्र की अकर्मण्यता ने अपने जाल में गरीब जनता को बुरी तरह जकड़ रखा है। महंगाई ने जनता की कमर तोड़ दी है। धनिक वर्ग अधिक धनी और निर्धन-वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। जनसाधारण में इससे आक्रोश है, उद्वेग है, अशांति है। आक्रोश, उद्वेग और अशांति जहां नहीं है वह स्थान है सन्त-हृदय। आत्म-साधना में लीन सन्त-मुनिराजों का जीवन, साधना के कठोर-धरातल पर जिस सुख का आस्वादन कर रहा है, वहाँ भला दुःख-शोक-अशांति का क्या काम ? **आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज साहब** का जीवन भी त्याग, तपस्या, सेवा, संयम, सरलता, मृदुता एवं सदाचरण का जीता-जागता ज्वलन्त उदाहरण है। उनका सम्पूर्ण जीवन जिन-शासन के लिए समर्पित है। उनके व्यक्तित्व की सौरभ दुर्गन्ध-युक्त वातावरण में सुगन्ध का प्रसार करने वाली, उनके ज्ञान का आलोक पथ-भ्रष्ट/अज्ञानान्धकार में भटकते प्राणियों के लिए सुपथ-दर्शक एवं उनके हृदय की सरलता जन-मन को सुखद-शांति, अद्भुत शीतलता प्रदान करने वाली है।

पन्द्रह वर्ष पूर्व ही आपने अपनी दीक्षा-पर्याय का अर्द्ध शतक पार कर लिया था। तभी से आपकी दीक्षा-स्वर्ण जयन्ती मनाने के लिए विभिन्न प्रस्ताव आते रहे, योजनाएँ बनती रहीं पर आप रहे शुरू से ही निर्लिप्त, निस्पृह अतः कभी आपकी ओर से स्वीकृति पाना दुर्लभ हो जाता तो कभी अन्य बाधाएँ आ जातीं।

इस वर्ष भी (१९८५-८६) पूज्य-प्रवर की स्वर्ण-दीक्षा-जयन्ती के लिए कुचेरा-श्री संघ का विनम्र पर विशेष आग्रह बना रहा। संपूर्ण चातुर्मास-काल में संघ के प्रतिनिधि आते रहे, निवेदन प्रस्तुत करते रहे और किसी न किसी कारण से उनके विनम्र-निवेदन टलते रहे। चातुर्मास-समाप्ति के साथ ही बाहर से आए अनेकानेक संघों एवं विशेषतः कुचेरा-श्रीसंघ का पुनः पुनः आग्रह बना रहा—"पन्द्रह वर्षों से यह प्रसंग टलता आ रहा है, अब तो इसके लिए हमें स्वीकृति देनी ही होगी।" जब साधुभाषा में बहुत ही कठिनता से कुछ आश्वासनात्मक उत्तर मिला तो तैयारियां प्रारम्भ हो गई, एक विशाल स्वर्ण-जयन्ती-आयोजन की। उसी आयोजन का एक प्रमुख हिस्सा है—**"जीत-अभिनन्दन-ग्रंथ"**। ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में पूज्य-प्रवर के जीवन-दर्शन, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सम्मिलित किया गया है। उसी प्रथम खण्ड के एक अंश के रूप में प्रस्तुत है—आचार्य-प्रवर का जीवन-दर्शन।

पुखराज मुणोत

गणेश मिला : कमल खिला

राजस्थान रेगिस्तान। राजस्थान राजाओं का स्थान, राजपूतों का स्थान। राजस्थान शूरवीरों की भूमि, दानवीरों की धरा। यहाँ तलवारें उगती रही हैं रण-खेतों में, यहाँ बांकड़ली मूछों की मान-मर्यादा के लिए पल-पल में होती रही है धरा रक्त-रंजित। अपनी आन-बान के लिए पलक में मर-मिटने वाला यही राजस्थान हृदय की अति-सुकोमलता के लिए भी सुप्रसिद्ध है। शरणागत की रक्षार्थ माताएँ अपने पुत्रों का रक्त चढ़ा सकती हैं, धरा की आजादी के लिए श्रेष्ठी-वर्ग सर्वस्व भेंट कर स्वयं फकीर बन सकता है और आगत के स्वागत में यहाँ का दरिद्र-नारायण भी इस तरह लग जाता है कि जैसे वही उसका भगवान् हो। एक तरफ इस राज्य को उद्योगों एवं शिक्षा मे पिछड़ा माना गया है पर दूसरी तरफ भारत का शायद ही ऐसा कोई स्थान हो, जहाँ कोई न कोई राजस्थानी (मारवाड़ी) किसी न किसी व्यवसाय में न लगा हो। ऊंचे-ऊंचे धोरों वाला, केर और कुमटियों वाला, अंगरखों और ऊंची धोती वाला यह प्रदेश भारत-भर में केवल अपनी शूरवीरता और उद्यमशीलता के लिए ही प्रख्यात नहीं है बल्कि त्याग-तप और संयम के लिए भी विख्यात है। तप-संयम एवं नियम के पालन में भूधर (पर्वत) की तरह अडोल, अकम्प रहने वाले क्षमामूर्ति पूज्य **जैनाचार्य-सम्राट् श्री भूधरजी** महाराज, अमरता के पुजारी ध्यानयोगी एवं परम कारुणिक पूज्य **आचार्य-प्रवरश्री रघुनाथजी महाराज** तथा तपोनिष्ठ-साधक युगप्रणेता एवं सद्धर्म प्रचारक पूज्य **आचार्य प्रवर श्री जयमल्लजी महाराज** जैसे अनेकानेक दिव्य-विभूतियों ने भी इसी पुण्य-धरा पर अवतरण लिया था।

राजस्थान प्रदेश का उत्तर-पश्चिमी भागस्थ नागौर शहर जहाँ एक ओर तगड़े बैलों एवं उद्यमशील जाट कौम के लिए प्रसिद्ध है वहीं प्राकृतिक वातावरण की दृष्टि से भी यह सभी ऋतुओं में अनुकूल है।[1] 'सवा लख पट्टी' के नाम से भी यह शहर ख्याति-प्राप्त है। इस नाम से इसकी ख्याति के मूल में "नागौरी-बैल" ही हैं। इन बैलों की जोड़ी का विक्रय-मूल्य सवा लाख तक पहुंचे तब तक तो जैसे कोई विशेष बात ही नहीं, कोई आश्चर्य नहीं, कोई अनोखापन नहीं। इसी नागौर पट्टी में एक अच्छा-सा कस्बा है कुचेरा। कुचेरा कस्बे से लगभग छह-सात किलोमीटर के अन्तराल पर 'लूणसरा' नामक एक छोटा-सा ग्राम है। पाँच सौ के आसपास घर हैं इस ग्राम में। यह ग्राम कुचेरा से पूर्व दिशा में स्थित है। भाग्यवान् पुरुष की सीधी मस्तक-रेखाओं के समान एक सीधी कच्ची सड़क लूणसरा में जाकर विश्राम लेती है। इस सड़क के दोनों ओर कूओं के मृदु-जल से सिंचित हरे-भरे खेत हैं। इन खेतों की हरियाली इनके स्वामी कृषकों की खुशहाली का, सम्पन्नता का और सुखी-जीवन का परिचय देती है। नागौर पट्टी कई बार वर्षा के अभाव में दुष्काल से आक्रांत हो जाया करती है। शताब्दियों से चले आ रहे दुष्काल के इस क्रम में लूणसरा ग्राम के कूपों का प्रचुर जल यहां के निवासियों की दुष्काल से सदैव रक्षा करता आ रहा है। दुष्काल के समय आसपास के लोग भूख और प्यास से परेशान हो इसी गांव की शरण लिया करते हैं। कहने के लिए यह ग्राम है पर ग्राम होते हुए भी यह पुण्य की सम्पदा का धनी है। यहाँ का जलवायु भी स्वास्थ्यवर्धक है। इस ग्राम की पुण्यवानी को, यहाँ की मानसिक शांति को, यहां के लोगों की प्राकृतिक सरलता को एवं निष्कपट भोले-भाले जीवन को और यहां के सुरम्य प्राकृतिक वातावरण को देखकर नागरिक जीवन आकर्षण-हीन, सार-हीन और निस्तत्त्व लगने लगता है।

---

१. सियाळे खाटू भली, उनाळे अजमेर।
नगीनो नित को भलो, सावण बीकानेर॥

लूणसरा ग्राम के बाहर एक विशाल तालाब है, जो यहाँ के निवासियों के श्रममय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। ग्राम में एक जैन-मंदिर और एक उपाश्रय भी है, जो यहाँ के निवासियों की धार्मिक चेतना के प्रतीक हैं। धर्म किसी भी जाति-पांति, वर्ण या वर्ग के भेद को नहीं मानता। जो जिस धर्म को मान्यता देता है वही उसका धर्म हो जाता है। लूणसरा ग्राम चिरकाल से जैनधर्म एवं जैनाचार्यो-संतों का प्रभाव-क्षेत्र रहा है। संवत् १९६७ में यहाँ ओसवालों के लगभग पचास-साठ घर थे। इनमें एक घर बाघचार (बाघमार) गोत्रीय श्री वचनमलजी का भी था। आप वहीं कपड़े का व्यवसाय करते थे और अपनी ईमानदारी, सदाचारी, मृदु-व्यवहार एवं उद्यमशीलता के कारण ग्रामवासियों में विशेष प्रसिद्ध तथा अतिप्रिय थे। आपकी सहचरी धर्मपत्नी श्रीमती "**भीखीबाई**" भी धर्म-निष्ठ, श्रद्धालु, पति-भक्त एवं एक सहृदय महिला थीं। दाम्पत्य-जीवन दोनों का सामंजस्य-पूर्ण था, दो कन्याएँ हो चुकी थीं और अब माता-पिता पुत्र का मुख देखने के लिए अति उत्सुक थे/तरस रहे थे। भारतीय संस्कृति भी इस लिहाज से बड़ी विचित्र है। यहाँ पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाए जाते हैं, मिठाई बांटी जाती है, खुशियों के सागर लहराते हैं जबकि पुत्री का जन्म एक बोझ रूप माना जाता है, फलतः खुशियों का स्थान उदासी ग्रहण कर लेती है, वातावरण में मायूसी झलक उठती है। शायद इसके पीछे पुत्र से वंश-परम्परा चलने की, पुत्र द्वारा संपत्ति में वृद्धि होने की एवं वृद्धावस्था में उसके सहारा बनने की स्वार्थ-भावनाएँ घर कर रही हों। यही कारण है कि श्री वचनमलजी और श्रीमती भीखीभाई ने भी पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक मनौतियाँ मनाई, काले-गौरे भेरु को मनाया, टोटके किए। यद्यपि जैनधर्म की मान्यता यह नहीं है। वहाँ तो शुभ-कर्मो से ही पुत्र, धन, सुख आदि की प्राप्ति का सिद्धान्त बताया गया है पर जैन होकर भी अपनी कामना, इच्छा और वासनाओं की पूर्ति की संभावनाएँ देखकर व्यक्ति रुढ़ियों, परम्पराओं और झूठी मान्यताओं में उलझ ही जाता है। यदि वह कट्टर, दृढ़धर्मी नहीं है तो लौकिक व्यवहारों और पारिवारिक दायित्वों को निभाने के नाम पर भी अनेक तरह की रुढ़ियों और कुरीतियों को मान लेता है तथा जैन-सिद्धांतों के विपरीत चलने की परम्परागत भूलें कर बैठता है।

पूर्व जन्म के संचित शुभकर्मो (पुण्य) के उदय के परिणाम-स्वरूप संवत् १९६७ के **श्रावण मास में कृष्ण-पक्ष की सप्तमी** के शुभ दिन श्री वचनमलजी के घर एक पुत्र-रत्न ने जन्म लिया। उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति हुई, उनकी चिंता दूर हटी। उनका हृदय-कमल खिल उठा। उन्हें लगा कि उनके चारों ओर दूर-दूर तक कमल ही कमल खिले हैं और उन खिले हुए कमलों की सौरभ दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है। यह सब उन्हें बड़ा शुभ लगा। एक सुखद-स्वप्न उनकी आंखों के आगे झिलमिला रहा था। हिन्दू संस्कृति के अनुसार विवाह-जन्म-पूजन आदि प्रत्येक शुभ-कार्य में विघ्न-हरण मंगल-करण के लिए श्री गणेशजी को याद किया जाता है। शायद इसी कारण माता-पिता ने अपने नवजात-शिशु का नाम '**गणेशमल**' रख दिया। तब सोचा होगा उन्होंने कि बालक का नाम गणेशमल रख दें तो उसका सम्पूर्ण जीवन सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं से दूर रहेगा और इसे किसी भी तरह के संकट का सामना नहीं करना पड़ेगा। माँ की ममता और पिता के वात्सल्य में पुत्र के प्रति कितनी पवित्र, कितनी मंगल-भावना अन्तर्निहित रहती है।

आनन्द का झूला : मानव-मन झूला

माता प्रसन्न थी, पिता आनन्दित थे। उन दोनों का जीवन अब हर्ष का अथाह सागर था। वे अपने नन्हे शिशु भोलेभाले गजानंदी 'गणेश' में अपनी चिर-सञ्चित अभिलाषाओं की पूर्ति देखने लगे। उन्हें लग रहा था कि उन दोनों के जीवन का समस्त जीवन-रस उस नन्हे शिशु में समाविष्ट हो गया है

गणेश मिला : कमल खिला

राजस्थान रेगिस्तान। राजस्थान राजाओं का स्थान, राजपूतों का स्थान। राजस्थान शूरवीरों की भूमि, दानवीरों की धरा। यहाँ तलवारें उगती रही हैं रण-खेतों में, यहाँ बांकड़ली मूछों की मान-मर्यादा के लिए पल-पल में होती रही है धरा रक्त-रंजित। अपनी आन-बान के लिए पलक में मर-मिटने वाला यही राजस्थान हृदय की अति-सुकोमलता के लिए भी सुप्रसिद्ध है। शरणागत की रक्षार्थ माताएँ अपने पुत्रों का रक्त चढ़ा सकती हैं, धरा की आजादी के लिए श्रेष्ठी-वर्ग सर्वस्व भेंट कर स्वयं फकीर बन सकता है और आगत के स्वागत में यहाँ का दरिद्र-नारायण भी इस तरह लग जाता है कि जैसे वही उसका भगवान् हो। एक तरफ इस राज्य को उद्योगों एवं शिक्षा में पिछड़ा माना गया है पर दूसरी तरफ भारत का शायद ही ऐसा कोई स्थान हो, जहाँ कोई न कोई राजस्थानी (मारवाड़ी) किसी न किसी व्यवसाय में न लगा हो। ऊंचे-ऊंचे धोरों वाला, केर और कुमटियों वाला, अंगरखों और ऊंची धोती वाला यह प्रदेश भारत-भर में केवल अपनी शूरवीरता और उद्यमशीलता के लिए ही प्रख्यात नहीं है बल्कि त्याग-तप और संयम के लिए भी विख्यात है। तप-संयम एवं नियम के पालन में भूधर (पर्वत) की तरह अडोल, अकम्प रहने वाले क्षमामूर्ति पूज्य **जैनाचार्य-सम्राट् श्री भूधरजी** महाराज, अमरता के पुजारी ध्यानयोगी एवं परम कारुणिक पूज्य **आचार्य-प्रवरश्री रघुनाथजी महाराज** तथा तपोनिष्ठ-साधक युगप्रणेता एवं सद्धर्म प्रचारक पूज्य **आचार्य प्रवर श्री जयमल्लजी महाराज** जैसे अनेकानेक दिव्य-विभूतियों ने भी इसी पुण्य-धरा पर अवतरण लिया था।

राजस्थान प्रदेश का उत्तर-पश्चिमी भागस्थ नागौर शहर जहाँ एक ओर तगड़े बैलों एवं उद्यमशील जाट कौम के लिए प्रसिद्ध है वहीं प्राकृतिक वातावरण की दृष्टि से भी यह सभी ऋतुओं में अनुकूल है।[1] 'सवा लख पट्टी' के नाम से भी यह शहर ख्याति-प्राप्त है। इस नाम से इसकी ख्याति के मूल में "नागौरी-बैल" ही हैं। इन बैलों की जोड़ी का विक्रय-मूल्य सवा लाख तक पहुंचे तब तक तो जैसे कोई विशेष बात ही नहीं, कोई आश्चर्य नहीं, कोई अनोखापन नहीं। इसी नागौर पट्टी में एक अच्छा-सा कस्बा है कुचेरा। कुचेरा कस्बे से लगभग छह-सात किलोमीटर के अन्तराल पर 'लूणसरा' नामक एक छोटा-सा ग्राम है। पाँच सौ के आसपास घर हैं इस ग्राम में। यह ग्राम कुचेरा से पूर्व दिशा में स्थित है। भाग्यवान् पुरुष की सीधी मस्तक-रेखाओं के समान एक सीधी कच्ची सड़क लूणसरा में जाकर विश्राम लेती है। इस सड़क के दोनों ओर कूओं के मृदु-जल से सिंचित हरे-भरे खेत हैं। इन खेतों की हरियाली इनके स्वामी कृषकों की खुशहाली का, सम्पन्नता का और सुखी-जीवन का परिचय देती है। नागौर पट्टी कई बार वर्षा के अभाव में दुष्काल से आक्रांत हो जाया करती है। शताब्दियों से चले आ रहे दुष्काल के इस क्रम में लूणसरा ग्राम के कूपों का प्रचुर जल यहां के निवासियों की दुष्काल से सदैव रक्षा करता आ रहा है। दुष्काल के समय आसपास के लोग भूख और प्यास से परेशान हो इसी गांव की शरण लिया करते हैं। कहने के लिए यह ग्राम है पर ग्राम होते हुए भी यह पुण्य की सम्पदा का धनी है। यहाँ का जलवायु भी स्वास्थ्यवर्धक है। इस ग्राम की पुण्यवानी को, यहाँ की मानसिक शांति को, यहां के लोगों की प्राकृतिक सरलता को एवं निष्कपट भोले-भाले जीवन को और यहां के सुरम्य प्राकृतिक वातावरण को देखकर नागरिक जीवन आकर्षण-हीन, सार-हीन और निस्तत्त्व लगने लगता है।

---

१. सियाळे खाटू भली, उनाळे अजमेर।
नगीनो नित को भलो, सावण बीकानेर॥

लूणसरा ग्राम के बाहर एक विशाल तालाब है, जो यहाँ के निवासियों के श्रममय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। ग्राम में एक जैन-मंदिर और एक उपाश्रय भी है, जो यहाँ के निवासियों की धार्मिक चेतना के प्रतीक हैं। धर्म किसी भी जाति-पांति, वर्ण या वर्ग के भेद को नहीं मानता। जो जिस धर्म को मान्यता देता है वही उसका धर्म हो जाता है। लूणसरा ग्राम चिरकाल से जैनधर्म एवं जैनाचार्यों-संतों का प्रभाव-क्षेत्र रहा है। संवत् १९६७ में यहाँ ओसवालों के लगभग पचास-साठ घर थे। इनमें एक घर वाघचार (वाघमार) गोत्रीय श्री वचनमलजी का भी था। आप वहीं कपड़े का व्यवसाय करते थे और अपनी ईमानदारी, सदाचारी, मृदु-व्यवहार एवं उद्यमशीलता के कारण ग्रामवासियों में विशेष प्रसिद्ध तथा अतिप्रिय थे। आपकी सहचरी धर्मपत्नी श्रीमती **"भीखीवाई"** भी धर्म-निष्ठ, श्रद्धालु, पति-भक्त एवं एक सहृदय महिला थीं। दाम्पत्य-जीवन दोनों का सामंजस्य-पूर्ण था, दो कन्याएँ हो चुकी थीं और अब माता-पिता पुत्र का मुख देखने के लिए अति उत्सुक थे/तरस रहे थे। भारतीय संस्कृति भी इस लिहाज से बड़ी विचित्र है। यहाँ पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाए जाते हैं, मिठाई बाँटी जाती है, खुशियों के सागर लहराते हैं जबकि पुत्री का जन्म एक बोझ रूप माना जाता है, फलतः खुशियों का स्थान उदासी ग्रहण कर लेती है, वातावरण में मायूसी झलक उठती है। शायद इसके पीछे पुत्र से वंश-परम्परा चलने की, पुत्र द्वारा संपत्ति में वृद्धि होने की एवं वृद्धावस्था में उसके सहारा बनने की स्वार्थ-भावनाएँ घर कर रही हों। यही कारण है कि श्री वचनमलजी और श्रीमती भीखीभाई ने भी पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक मनौतियाँ मनाईं, काले-गौरे भेरु को मनाया, टोटके किए। यद्यपि जैनधर्म की मान्यता यह नहीं है। वहाँ तो शुभ-कर्मों से ही पुत्र, धन, सुख आदि की प्राप्ति का सिद्धान्त बताया गया है पर जैन होकर भी अपनी कामना, इच्छा और वासनाओं की पूर्ति की संभावनाएँ देखकर व्यक्ति रुढ़ियों, परम्पराओं और झूठी मान्यताओं में उलझ ही जाता है। यदि वह कट्टर, दृढ़धर्मी नहीं है तो लौकिक व्यवहारों और पारिवारिक दायित्वों को निभाने के नाम पर भी अनेक तरह की रुढ़ियों और कुरीतियों को मान लेता है तथा जैन-सिद्धांतों के विपरीत चलने की परम्परागत भूलें कर बैठता है।

पूर्व जन्म के संचित शुभकर्मों (पुण्य) के उदय के परिणाम-स्वरूप संवत् १९६७ के **श्रावण मास में कृष्ण-पक्ष की सप्तमी** के शुभ दिन श्री वचनमलजी के घर एक पुत्र-रत्न ने जन्म लिया। उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति हुई, उनकी चिंता दूर हटी। उनका हृदय-कमल खिल उठा। उन्हें लगा कि उनके चारों ओर दूर-दूर तक कमल ही कमल खिले हैं और उन खिले हुए कमलों की सौरभ दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है। यह सब उन्हें बड़ा शुभ लगा। एक सुखद-स्वप्न उनकी आंखों के आगे झिलमिला रहा था। हिन्दू संस्कृति के अनुसार विवाह-जन्म-पूजन आदि प्रत्येक शुभ-कार्य में विघ्न-हरण मंगल-करण के लिए श्री गणेशजी को याद किया जाता है। शायद इसी कारण माता-पिता ने अपने नवजात-शिशु का नाम **'गणेशमल'** रख दिया। तब सोचा होगा उन्होंने कि बालक का नाम गणेशमल रख दें तो उसका सम्पूर्ण जीवन सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं से दूर रहेगा और इसे किसी भी तरह के संकट का सामना नहीं करना पड़ेगा। माँ की ममता और पिता के वात्सल्य में पुत्र के प्रति कितनी पवित्र, कितनी मंगल-भावना अन्तर्निहित रहती है।

आनन्द का झूला : मानव-मन झूला

माता प्रसन्न थी, पिता आनन्दित थे। उन दोनों का जीवन अब हर्ष का अथाह सागर था। वे अपने नन्हे शिशु भोलेभाले गजानंदी 'गणेश' में अपनी चिर-सञ्चित अभिलाषाओं की पूर्ति देखने लगे। उन्हें लग रहा था कि उन दोनों के जीवन का समस्त जीवन-रस उस नन्हे शिशु में समाविष्ट हो गया है।

गणेश मिला : कमल खिला

राजस्थान रेगिस्तान। राजस्थान राजाओं का स्थान, राजपूतों का स्थान। राजस्थान शूरवीरों की भूमि, दानवीरों की धरा। यहाँ तलवारें उगती रही हैं रण-खेतों में, यहाँ बांकड़ली मूछों की मान-मर्यादा के लिए पल-पल में होती रही है धरा रक्त-रंजित। अपनी आन-बान के लिए पलक में मर-मिटने वाला यही राजस्थान हृदय की अति-सुकोमलता के लिए भी सुप्रसिद्ध है। शरणागत की रक्षार्थ माताएँ अपने पुत्रों का रक्त चढ़ा सकती हैं, धरा की आजादी के लिए श्रेष्ठी-वर्ग सर्वस्व भेंट कर स्वयं फकीर बन सकता है और आगत के स्वागत में यहाँ का दरिद्र-नारायण भी इस तरह लग जाता है कि जैसे वही उसका भगवान् हो। एक तरफ इस राज्य को उद्योगों एवं शिक्षा में पिछड़ा माना गया है पर दूसरी तरफ भारत का शायद ही ऐसा कोई स्थान हो, जहाँ कोई न कोई राजस्थानी (मारवाड़ी) किसी न किसी व्यवसाय में न लगा हो। ऊंचे-ऊंचे धोरों वाला, केर और कुमटियों वाला, अंगरखों और ऊंची धोती वाला यह प्रदेश भारत-भर में केवल अपनी शूरवीरता और उद्यमशीलता के लिए ही प्रख्यात नहीं है बल्कि त्याग-तप और संयम के लिए भी विख्यात है। तप-संयम एवं नियम के पालन में भूधर (पर्वत) की तरह अडोल, अकम्प रहने वाले क्षमामूर्ति पूज्य **जैनाचार्य-सम्राट् श्री भूधरजी** महाराज, अमरता के पुजारी ध्यानयोगी एवं परम कारुणिक पूज्य **आचार्य-प्रवरश्री रघुनाथजी महाराज** तथा तपोनिष्ठ-साधक युगप्रणेता एवं सद्धर्म प्रचारक पूज्य **आचार्य प्रवर श्री जयमल्लजी महाराज** जैसे अनेकानेक दिव्य-विभूतियों ने भी इसी पुण्य-धरा पर अवतरण लिया था।

राजस्थान प्रदेश का उत्तर-पश्चिमी भागस्थ नागौर शहर जहाँ एक ओर तगड़े बैलों एवं उद्यमशील जाट कौम के लिए प्रसिद्ध है वहीं प्राकृतिक वातावरण की दृष्टि से भी यह सभी ऋतुओं में अनुकूल है।[1] 'सवा लख पट्टी' के नाम से भी यह शहर ख्याति-प्राप्त है। इस नाम से इसकी ख्याति के मूल में "नागौरी-बैल" ही हैं। इन बैलों की जोड़ी का विक्रय-मूल्य सवा लाख तक पहुंचे तब तक तो जैसे कोई विशेष बात ही नहीं, कोई आश्चर्य नहीं, कोई अनोखापन नहीं। इसी नागौर पट्टी में एक अच्छा-सा कस्बा है कुचेरा। कुचेरा कस्बे से लगभग छह-सात किलोमीटर के अन्तराल पर 'लूणसरा' नामक एक छोटा-सा ग्राम है। पाँच सौ के आसपास घर हैं इस ग्राम में। यह ग्राम कुचेरा से पूर्व दिशा में स्थित है। भाग्यवान् पुरुष की सीधी मस्तक-रेखाओं के समान एक सीधी कच्ची सड़क लूणसरा में जाकर विश्राम लेती है। इस सड़क के दोनों ओर कूओं के मृदु-जल से सिंचित हरे-भरे खेत हैं। इन खेतों की हरियाली इनके स्वामी कृषकों की खुशहाली का, सम्पन्नता का और सुखी-जीवन का परिचय देती है। नागौर पट्टी कई बार वर्षा के अभाव में दुष्काल से आक्रांत हो जाया करती है। शताब्दियों से चले आ रहे दुष्काल के इस क्रम में लूणसरा ग्राम के कूपों का प्रचुर जल यहां के निवासियों की दुष्काल से सदैव रक्षा करता आ रहा है। दुष्काल के समय आसपास के लोग भूख और प्यास से परेशान हो इसी गांव की शरण लिया करते हैं। कहने के लिए यह ग्राम है पर ग्राम होते हुए भी यह पुण्य की सम्पदा का धनी है। यहाँ का जलवायु भी स्वास्थ्यवर्धक है। इस ग्राम की पुण्यवानी को, यहाँ की मानसिक शांति को, यहां के लोगों की प्राकृतिक सरलता को एवं निष्कपट भोले-भाले जीवन को और यहां के सुरम्य प्राकृतिक वातावरण को देखकर नागरिक जीवन आकर्षण-हीन, सार-हीन और निस्तत्त्व लगने लगता है।

---

१. सियाळे खाटू भली, उनाळे अजमेर।
   नगीनो नित को भलो, सावण बीकानेर॥

लूणसरा ग्राम के बाहर एक विशाल तालाब है, जो यहाँ के निवासियों के श्रममय जीवन का ज्वलन्त उदाहरण है। ग्राम में एक जैन-मंदिर और एक उपाश्रय भी है, जो यहाँ के निवासियों की धार्मिक चेतना के प्रतीक हैं। धर्म किसी भी जाति-पांति, वर्ण या वर्ग के भेद को नहीं मानता। जो जिस धर्म को मान्यता देता है वही उसका धर्म हो जाता है। लूणसरा ग्राम चिरकाल से जैनधर्म एवं जैनाचार्यों-संतों का प्रभाव-क्षेत्र रहा है। संवत् १९६७ में यहाँ ओसवालों के लगभग पचास-साठ घर थे। इनमें एक घर बाघचार (बाघमार) गोत्रीय श्री वचनमलजी का भी था। आप वहीं कपड़े का व्यवसाय करते थे और अपनी ईमानदारी, सदाचारी, मृदु-व्यवहार एवं उद्यमशीलता के कारण ग्रामवासियों में विशेष प्रसिद्ध तथा अतिप्रिय थे। आपकी सहचरी धर्मपत्नी श्रीमती "**भीखीबाई**" भी धर्म-निष्ठ, श्रद्धालु, पति-भक्त एवं एक सहृदय महिला थीं। दाम्पत्य-जीवन दोनों का सामंजस्य-पूर्ण था, दो कन्याएँ हो चुकी थीं और अब माता-पिता पुत्र का मुख देखने के लिए अति उत्सुक थे/तरस रहे थे। भारतीय संस्कृति भी इस लिहाज से बड़ी विचित्र है। यहाँ पुत्र के जन्म पर उत्सव मनाए जाते हैं, मिठाई बाँटी जाती है, खुशियों के सागर लहराते हैं जबकि पुत्री का जन्म एक बोझ रूप माना जाता है, फलतः खुशियों का स्थान उदासी ग्रहण कर लेती है, वातावरण में मायूसी झलक उठती है। शायद इसके पीछे पुत्र से वंश-परम्परा चलने की, पुत्र द्वारा संपत्ति में वृद्धि होने की एवं वृद्धावस्था में उसके सहारा बनने की स्वार्थ-भावनाएँ घर कर रही हों। यही कारण है कि श्री वचनमलजी और श्रीमती भीखीभाई ने भी पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक मनौतियाँ मनाईं, काले-गौरे भेरु को मनाया, टोटके किए। यद्यपि जैनधर्म की मान्यता यह नहीं है। वहाँ तो शुभ-कर्मो से ही पुत्र, धन, सुख आदि की प्राप्ति का सिद्धान्त बताया गया है पर जैन होकर भी अपनी कामना, इच्छा और वासनाओं की पूर्ति की संभावनाएँ देखकर व्यक्ति रुढ़ियों, परम्पराओं और झूठी मान्यताओं में उलझ ही जाता है। यदि वह कट्टर, दृढ़धर्मी नहीं है तो लौकिक व्यवहारों और पारिवारिक दायित्वों को निभाने के नाम पर भी अनेक तरह की रुढ़ियों और कुरीतियों को मान लेता है तथा जैन-सिद्धांतों के विपरीत चलने की परम्परागत भूलें कर बैठता है।

पूर्व जन्म के संचित शुभकर्मो (पुण्य) के उदय के परिणाम-स्वरूप संवत् १९६७ के **श्रावण मास में कृष्ण-पक्ष की सप्तमी** के शुभ दिन श्री वचनमलजी के घर एक पुत्र-रत्न ने जन्म लिया। उन्हें इच्छित फल की प्राप्ति हुई, उनकी चिंता दूर हटी। उनका हृदय-कमल खिल उठा। उन्हें लगा कि उनके चारों ओर दूर-दूर तक कमल ही कमल खिले हैं और उन खिले हुए कमलों की सौरभ दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है। यह सब उन्हें बड़ा शुभ लगा। एक सुखद-स्वप्न उनकी आंखों के आगे झिलमिला रहा था। हिन्दू संस्कृति के अनुसार विवाह-जन्म-पूजन आदि प्रत्येक शुभ-कार्य में विघ्न-हरण मंगल-करण के लिए श्री गणेशजी को याद किया जाता है। शायद इसी कारण माता-पिता ने अपने नवजात-शिशु का नाम 'गणेशमल' रख दिया। तब सोचा होगा उन्होंने कि बालक का नाम गणेशमल रख दें तो उसका सम्पूर्ण जीवन सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं से दूर रहेगा और इसे किसी भी तरह के संकट का सामना नहीं करना पड़ेगा। माँ की ममता और पिता के वात्सल्य में पुत्र के प्रति कितनी पवित्र, कितनी मंगल-भावना अन्तर्निहित रहती है।

आनन्द का झूला : मानव-मन भूला

माता प्रसन्न थी, पिता आनन्दित थे। उन दोनों का जीवन अब हर्ष का अथाह सागर था। वे अपने नन्हे शिशु भोलेभाले गजानंदी 'गणेश' में अपनी चिर-सञ्चित अभिलाषाओं की पूर्ति देखने लगे। उन्हें लग रहा था कि उन दोनों के जीवन का समस्त जीवन-रस उस नन्हे शिशु में समाविष्ट हो गया है।

वह शिशु ही अब उनकी आशाओं का केन्द्र, उनकी आँखों का तारा, प्यारा, दुलारा बन गया। दो पुत्रियों के पश्चात् ऐसा मन-भावन लाडला सपूत! वे तो निहाल ही हो गए उसे पाकर और बड़ी लगन, बड़े प्यार से अत्यन्त सावधानी पूर्वक उसका पालन-पोषण करने लगे। शिशु गौर-वर्ण था, हंसमुख था, कृशकाय होते हुए भी मन को मोहने वाला था। बड़ी-बड़ी आँखें, तीखे नाकनक्श तथा ऊंचा भाल। मोहल्ले की औरतें, बालिकाएँ, बालक और वृद्ध-पुरुष उसे जब-तब आकर गोदी में भर लेते, प्यार करते, खिलाते (रमाते)। माता प्रसन्नता जाहिर करती पर डरती मन ही मन कि कहीं किसी की नजर न लग जाए। काला काजल का टीका लगा देती। आँखों में काजल डालती इतना गहरा कि आँखों से निकले आंसुओं के साथ बहकर गालों पर फैल जाए और वह किसी की भी बदनजरों का शिकार न होने पाए।

मां-बाप के अतुल स्नेह-संरक्षण के तले बालक गणेश बड़ा होने लगा। आगे जाकर बालक क्या बनेगा, कैसा होगा—यह सब बचपन में ही मालूम किया जा सकता है। मारवाड़ में तो एक कहावत है—"पूत रा पग, पालणे में दीसे"। बालक गणेश निश्चय ही होनहार था। "होनहार बिरवान के, होत चीकने पात" के अनुसार वह बचपन से ही गम्भीर-प्रकृति का सरल एवं उदारमना, विनम्र तथा प्रतिभाशाली था। पिता को तो पूर्ण विश्वास था कि यह बालक आगे चलकर निश्चय ही कोई न कोई महान् कार्य सम्पादित करेगा, महापुरुष बनेगा और अपने मां-बाप, कुल एवं खानदान का नाम रोशन करेगा। यह वृद्धावस्था में केवल हमारा ही सहारा नहीं होगा बल्कि अपने सम्पूर्ण परिवार, अपने मोहल्ले, अपने ग्राम का भी सहारा बनेगा। इसके सुसंस्कार इसे सर्वप्रिय बना देंगे।

पंडितों, ज्योतिषियों, भविष्य-वक्ताओं तथा हस्त-रेखा के जानकारों से बालक का पिता बार-बार मिलता, उन्हें बालक का भविष्य पूछता और यह जानकर हर्षातिरेक से उसका मनमयूर नाच उठता कि वस्तुतः बालक का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। घर आकर वह उसकी माता से बड़े गर्व के साथ कहता—'देखना, एक दिन हमारा बेटा सारे गांव का राजा बनेगा, सबका प्रिय बनेगा, सभी उसे चाहेंगे और उसकी जय-जयकार करेंगे।' बालक की माता मुस्कराती और संकोच-पूर्वक कहती—"अब रहने भी दीजिए। आप कुछ ज्यादा ही बढ़ा रहे हैं इसे, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा?"

इसी तरह दिन पर दिन व्यतीत होते गए। माता-पिता के प्यार से बालक ने कभी कमी महसूस नहीं की। वह अब चार-पांच वर्ष का हो रहा था पर माता-पिता का दुलार अब भी वैसा ही था। वे अब भी उसे गोद में लेते, झुलाते, प्यार करते। अपने खिलौनों के ढेर में जब बालक गणेश अपने को भी भुलाकर खेल रहा होता तो माता-पिता भी बच्चे बनकर उसका साथ देते। कभी वक्ष-स्थल से चिपका कर, वक्षस्थल में छुपा कर असीम प्यार प्रदर्शन के साथ संरक्षण की बलवती भावना प्रकट करते। नन्हा-सा बालक अपने मां-बाप का ढेर सारा प्यार-दुलार पाकर झूम उठता और किल-कारियों से घर भर देता। उस घर में पुण्य-कर्मों की बयार चल रही थी। जब तक यह बयार चलती रही, आनन्द का झूला उस घर में झुलाती रही तब तक वह घर आनंद, उत्साह और प्रेम से भरा रहा। पर एक दिन..................

सपनों ने मन को सदा छला

जी हां, एक दिन वह बयार रुक गई। परिवर्तन ही संसार का अटल नियम है। हम सोचते कुछ और हैं और होता कुछ और है। विधि का विधान कहिए या कर्मों की विचित्र लीला, उसे आज तक कौन समझ पाया है? इसीलिए तो कहावत प्रसिद्ध हो गई—'तेरे मन कछु और है विधिना के कछु

और ।' बालक के माता-पिता ने सोचा था—"अब हम इसे सुशिक्षित करेंगे, सुसंस्कारित करेंगे, इसका विवाह करेंगे, इसे धन्धे में लगाएंगे और समय आने पर यह अपने सद्व्यवहार, अपने सत्कर्म और अपने चारित्र के बल पर सभी का प्रिय बनेगा।" वही पिता अचानक ही, बिना किसी पूर्व नोटिस के, सूचना के अपनी प्रियतमा को, अपनी प्यारी पुत्रियों को एवं कलेजे के टुकड़े को कठिन परिस्थितियों के झंझावात में जूझने के लिए छोड़कर अकेला ही ऐसे स्थान के लिए प्रस्थान कर गया, जहाँ से लौटकर कोई उस रूप में वापिस नहीं आता। वास्तव में जीवन, संगति का नाम नहीं, वह तो असंगति का प्रथम सूत्र है—

"जीवन संगति का नाम नहीं, यह सूत्र असंगति का पहला !
आरोह लिए थी स्वर लहरी
अवरोहों में उतरी ठहरी
जो प्रीत बनी सुख की दहरी
वह पीर हुई उतनी गहरी।

*

सपनों ने मन को सदा छला
जीवन संगति का नाम नहीं, यह सूत्र असंगति का पहला !"

और वही असंगति बालक गणेश के जीवन में अपना श्रीगणेश करने आ पहुंची। बालक गणेश अब छठे वर्ष में प्रवेश कर चुका था। तुतला कर तुतली बोली बोलना, घुटनों के बल सरक कर चलना, रोना और मचलना आदि बचपन की सारी बातें कहीं बहुत पीछे छूट चुकी थीं। उसे अब कुछ बोलना, पैरों के बल खड़े होकर चलना और टूटे-फूटे शब्दों में अपनी बात दूसरों से कहना आ गया था। वि. संवत् १९७३-७४ के आसपास का समय था यह। प्रथम विश्वयुद्ध हो चुका था। बर्तानिया और जर्मनी दोनों ही राष्ट्र युद्ध से थक चुके थे और शांति की श्वांस लेना चाहते थे। वर्षों तक यह महायुद्ध चला था। जहां-जहां युद्ध हुआ, सैनिकों के सैंकड़ों-हजारों शव इधर-उधर पड़े सड़ रहे थे और उनकी विषैली सड़ांध समीपवर्ती क्षेत्रों को भी प्रभावित कर रही थी। वातावरण विषाक्त एवं दूषित बन चुका था। अभी इन मृत-सैनिकों के शव दफनाने का कार्य प्रारम्भ होना ही था कि दूषित वायुमण्डल का दुश्चक्र चला। प्लेग, महामारी का दौर प्रारम्भ हो गया। एक गाँव से दूसरे गांव और एक नगर से दूसरे नगर……कुछ ही दिनों में प्लेग ने पूरे संसार को अपनी चपेट में ले लिया। विश्व का कोई भी किनारा इस महामारी के दामन से अपने को नहीं बचा सका। महायुद्ध एवं महामारी, इस दोहरी मार ने जो ऊधम मचाया, तूफान खड़ा किया, जन-धन-पशु की हानि की उसका तो सही-सही ब्यौरा मिलना भी कठिन हो गया था। उधर सैनिक-नवजवानों की लाशें सड़ रही थीं तो इधर प्रत्येक गांव और शहर में प्रतिदिन दस-बीस व्यक्ति महामारी के शिकार हो रहे थे। शवों को न कोई जलाने वाला था, न दफनाने वाला। ऐसा संभाव्य ही कहाँ था ? लोगों को अपनी जान की, प्राणों की चिन्ता लगी थी। लोग तो मृतकों के शवों की छाया से भी डरते थे, छूना तो दूर रहा। उन्हें भय था कि कहीं प्लेग उन्हें भी ले दबोचेगा। 'छूत' का रोग जो ठहरा, जो छूए वही मरे। नर-नारी, आबाल-वृद्ध गांव और कस्बों को

छोड़कर जंगलों में आश्रय ले रहे थे। आवाद क्षेत्र वीरान बन गए और वीरान आवाद हो गए। जंगलों में अस्थायी नगर बस गए। घर का, परिवार का, धन का, सम्पत्ति का, व्यवसाय का, पशुओं का एवं सारे नाते-रिश्तों का मोह छूट रहा था। इन सब पर जो आसक्ति और ममता की भावना थी, विपत्ति के बादलों से आच्छादित हो गई थी। सबके दिलों में एक ही भाव, एक ही विचार, एक ही ध्यान—"जान है तो जहान है।"

बालक गणेश के पिताश्री भी इसी महामारी के शिकार हो गए। हंसता-बोलता एक शरीर निष्प्राण हो गया। आनन्द के झूले में झूलते परिवार की एक डोर कट गई। बालक की माता पर तो जैसे आसमान ही टूट पड़ा। कल्पनाओं के सतरंगी पंख सजा कर आसमान में उड़ती हुई उस मां के पर ही कट गये और अब वह यथार्थ के उस कठोर धरातल पर खड़ी थी, जिसका स्पर्श मात्र रोमाञ्चित करने के लिए काफी था।

एक व्यक्ति : कितनी शक्ति

गणेश भला क्या समझे कि क्या हो गया और क्या हो रहा है? उसके सामने थी उसकी मां। गुमसुम, अशांत और उदास। सदा प्रसन्न रहने वाली, हंसने-हंसाने वाली, हर्ष एवं आनन्द का सौरभ लुटाने वाली उसकी मां अब क्या से क्या बन गई? कहाँ वे रंग-बिरंगे, रेशमीन चटकीले-भड़कीले वस्त्र और कहाँ श्वेत सूती सादा वस्त्र। उसके श्वेत वस्त्र उसे ऐसे लगते जैसे उसके जीवन का समस्त राग-रंग ही उड़ गया हो। वह टुकर-टुकर अपनी माँ के मुंह को देखता पर वहाँ अब क्या बचा था? वहां तो थे सदावहार आंसू जो कभी सूखने का नाम ही नहीं लेते थे। बालक कुछ पूछना चाहकर भी पूछ नहीं पा रहा था। वह स्वयं आश्चर्य-चकित था कि उसके पिता क्यों नहीं हैं? कहां हैं? कब आयेंगे? एक बार तो उसने हिम्मत करके पुकारा भी था—माँ!, पर माँ वहां थी कहां जो सुनती। उसका तो केवल शरीर-भर वहाँ रखा था, प्राण या आत्मा तो कहीं अन्यत्र भटक रहे थे। रक्त-मांस का एक पिण्ड, हड्डियों का एक ढाँचा तो था पर उसमें कम्पन, थिरकन, धड़कन होते हुए भी जैसे थी ही नहीं। जीवन की ऐसी क्षण-भंगुरता, निस्सारता एवं अस्थिरता को देखकर वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ बन गई। कल क्या था और आज क्या है? सहस्र आशाओं की दीप्तरश्मियों से आलोकित उसका सुनहरा प्रभात देखते ही देखते अंधकारमय दिशाहीन निशा में बदल गया। आनन्द और सुख का लहर-लहर लहराता असीम समुद्र कुछ ही पलों में शोक-संताप एवं निराशा रूप मरु-सिकता की अथाह राशि में परिवर्तित हो गया। महादेवी वर्मा के शब्दों में :

निःश्वासों की नीड़,
निशा का बन जाता जब शयनागार।
लुट जाते अभिराम
छिन्न-मुक्तावलियों के वन्दनवार।
तब बुझते तारों के नीरव, नयनों का यह हाहाकार,
आंसू से लिख-लिख जाता है
'कितना अस्थिर है संसार'!

यही स्थिति थी उसकी। निरन्तर बहते हुए आंसू उसकी व्यथा-कथा सुना रहे थे और बता रहे थे कि यह संसार कितना असार है। एक व्यक्ति के न रहने से कितना अंतर आ गया, उसकी स्थिति में। एक परिवर्तन ने समस्त जीवन, समस्त परिवार को ही उथल-पुथल कर रख दिया। एक काल-निशा सहस्रों आशा-किरणों को निगल गई। सारा संसार वहीं है, वैसा ही है। ग्राम, नगर, पेड़-पौधे, नर-नारी, सगे-सम्बन्धी, आकाश, सूरज, चाँद, सितारे, दिशाएं—सभी तो वहीं हैं, वैसे ही हैं पर एक वह भीखीबाई नाम की अबला-स्त्री! क्या हो गया है उसे? एक व्यक्ति क्या चला गया, उसके जीवन का सारा रस ही सूख गया; सम्पूर्ण आनंद और उत्साह ही लुप्त हो गया! ओफ, एक व्यक्ति : कितनी शक्ति!!

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते!
आँखों के कोष हुए हैं,
मोती बरसा कर रीते!!

*

मेरी आहें सोती हैं—
इन ओठों की ओटों में।

—महादेवी वर्मा

अन्तर्द्वन्द्व : माता का मन

पूज्य श्री जयमल जैन श्रमण संघ के नवम यशस्वी पट्टधर वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज के स्मृति-पटल पर जब भी वह पुरानी दृश्यावलि घूमती है, उन्हें रोमाञ्च-सा हो आता है। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति, महामारी का भयंकर प्रकोप, प्रतिक्षण एक न एक व्यक्ति की मृत्यु, लाशें ही लाशें, ग्रामवासियों के हैरान-उद्विग्न-दहशत-भरे वे चेहरे, प्लेग से/मौत से बचने के लिए घने जंगलों की शरण। वह तो मां की ममता ही थी, जिसने उन्हें बचा लिया वरना बालक गणेश क्या उस उम्र में उन थपेड़ों को सह पाता। सच ही, माँ की ममता बड़ी विचित्र होती है, बड़ी तीव्र होती है, बड़ी भावनामयी होती है। उस समय वह माँ ही तो थी अपने पुत्र का, अपनी पुत्रियों का जीवन-धन, अवलम्बन, सहारा।

नयनों में सपनों की जगह घनीभूत पीड़ा और हृदय में आशाओं के स्थान पर घोर निराशाओं को लेकर सहृदया माँ ने अब बच्चों के लिए जीना शुरू किया। महामारी का प्रकोप कम होने पर लोग धीरे-धीरे पुनः अपने-अपने गाँव-कस्बों में आकर बसने लगे। श्रीयुत भीखीभाई भी लूणसरा जाने का मानस बनाने लगी। मन कभी कहता—'अब लूणसरा क्यों? क्या रखा है वहाँ?' फिर सोचती—मेरे लिए तो लूणसरा ही क्या, सारा संसार ही व्यर्थ है अब तो! जीवन का सार संसार नहीं हो सकता। जन्म, जरा और मरण—ये तीनों आखिर क्यों? क्या इनसे छुटकारा पाना सम्भव है? क्या मृत्यु सभी दुःखों से मुक्ति दिला देती है? मरने वाला व्यक्ति स्वयं तो सारे दुःख, सारी चिंताएँ, सारे बवाल-जंजाल यहीं छोड़कर चला जाता है पर अपने पीछे कितना शोक, कितनी पीड़ा, कितनी वेदना छोड़ जाता है? ये तीन-तीन बच्चे! जाने वाले की निशानियाँ, उसके प्रतिरूप! पर वही नहीं तो इनसे क्या? इनमें

भी दो तो पुत्रियाँ हैं, जिनके विवाह की कितनी विकट समस्या ! कैसे तलाशूंगी इनके योग्य वर ? कहाँ से लाऊंगी इन्हें देने के लिए दायजे का इतना धन ? मुझे तो चाहिए कि मैं इस संसार को, संसार के इन नाते-रिश्तों को छोड़ त्याग का मार्ग अपना लूं। कोई न कोई तो मेरे इन बच्चों का पालन-पोषण करेगा ही। इतने बड़े समाज में कोई तो ऐसा उदारमना मिलेगा, जो मेरी पावन-भावना को देखते हुए इनकी शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, शादी-ब्याह, जीवन-निर्वाह का उत्तरदायित्व अपने कंधों पर ले। पर...... ....(दूसरे ही पल विचार पलटे।)

" ...... पर नहीं ! मरते समय पतिदेव ने इन बच्चों का ध्यान रखने की बात कही थी, अनेक संकटों और आपत्तियों से जूझकर भी इन्हें योग्य बनाने का मुझ से वचन लिया था। योग्य वर ढूंढकर पुत्रियों की शादी का संकेत भी दिया था। मरते-मरते उन्होंने मुझे अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग किया फिर अब मैं क्यों अपने कर्त्तव्यों से मुख मोड़ने की बात सोचने लगी। पहले इन बच्चों के प्रति मेरा कर्त्तव्य, उस कर्त्तव्य-पालन में ही मेरे जीवन का लक्ष्य। इसके बाद तप और त्याग, संयम और साधना की बात !"

टूटना नहीं : तोड़ना है

हृदय के भीतर कहीं बहुत गहरे में वैराग्य के बीज का वपन हो चुका था पर सामाजिक/सांसारिक/पारिवारिक कर्त्तव्यों की याद ने उस बीज के अंकुरण को कुछ समय के लिए दबा दिया। हमारे चरित नायक की मातुश्री अपनी सन्तानों को लेकर लूणसरा पहुँच गई। दुर्भिक्ष, विश्वयुद्ध एवं महामारी के बाद गाँव का वातावरण अभी उतना स्नेहमय एवं पारस्परिक प्रेम से पूर्ण नहीं बन पाया था। जन-जीवन धीरे-धीरे सामान्य हुआ चाहता था। लोग अभी तक भीरु एवं निर्बल थे—तीनों दृष्टि से; मानस से, मस्तिष्क से एवं कर्म से। सुयोग्य एवं सज्जन व्यक्ति सुव्यवस्था के लिए प्रयत्नशील थे जबकि अयोग्य, अकर्मण्य एवं दुर्जन व्यक्ति इस बीच फैली अव्यवस्थाओं से लाभान्वित होना चाह रहे थे। ऐसे ही वातावरण में 'दुबले पर दुहरी मार' वाली कहावत चरितार्थ हो गई। अवसर की ताक में बैठे किसी चोर-उचक्के ने उस शोक-संतप्त, दुःख की मारी अभागन नारी के घर चोरी का जाल फैलाया। सोने के कितने ही कीमती मणि-माणिक जड़े आभूषण, चाँदी के भारी-भरकम बर्तन, स्वर्ण-तार-खचित कई साड़ी-दुपट्टे आदि वेष चोरी में चले गए। रूठे हुए भाग्य ने यह एक और प्रहार किया उस आपत की मारी सन्नारी पर। कहते हैं—आपदा कभी अकेली नहीं आती। जब वह प्रहार करती है किसी पर तो चारों ओर से घेर-घेर कर प्रहार पर प्रहार करती है। शायद ये आपदाएं, विपत्तियाँ, मुसीबतें उस ममतामयी माँ को, कर्त्तव्य की देवी को, वैराग्य-भावना को हृदय-मंदिर में संजोई हुई त्याग-मूर्ति को अपने सघन प्रहारों से तोड़ देना चाहती थीं। उस माता के लिए तो यह एक परीक्षा की घड़ी थी, इम्तिहान का वक्त था, दुर्दैव एवं कर्त्तव्य के बीच संघर्ष का माहौल था। दूर खड़ा भाग्य उसकी हालत पर हंस रहा था और चाहता था कि अब भी यह नारी रोए, गिड़गिड़ाए, मुझे कोसे, देवी-देवताओं की मनौतियां मनाए, पीर-फकीरों-भोपों के पास जाए लेकिन उसे क्या मालूम था कि "वे दिन हवा हुए जब पसीना गुलाब था" अब तो एक पर एक आपत्तियों ने उस नारी को अटूट बना दिया था, संघर्षों से लड़ते-लड़ते वह वज्र-हृदया बन गई थी। इसी बीच लूणसरा ग्राम में ही महासती श्री हुलासांजी का पदार्पण भी

हो गया था और उनके मुखारविंद से जिनवाणी-श्रवण के बाद वह भाग्य के साथ कर्म(श्रम) पर विश्वास करने लग गई थी। जादू-टोटकों, देवी-देवताओं से उसकी आस्था समाप्त हो चुकी थी। राष्ट्रकवि दिनकर के शब्दों में—

"है कौन विघ्न ऐसा जग में
टिक सके आदमी के मग में
खम ठोक ठेलता है जब नर,
पर्वत के जाते पांव उखड़ ॥

*

कंकड़ियां जिनकी सेज सुघर
छाया देता केवल अम्बर।
विपदाएं दूध पिलाती है
लोरी आंधियां सुनाती हैं।
जो लाक्षा-गृह में जलते हैं, वे ही सूरमां निकलते हैं ॥"

पांडवों की तरह हमारे चरित-नायक की मातु-श्री भी तो विपदाओं में पली जा रही थी, संघर्षों की आंधियों से लोरियां सुन रही थीं और कष्टों के लाक्षा-गृह में जल रही थीं। उसे सूरमां बनना ही था, विपदाओं को हराना ही था और जीवन के संघर्षों में, कर्त्तव्य के प्रत्येक क्षण में जीतना ही था। वह पहले से अधिक सहनशील बन गई। उसका घर लुट गया, चोर सारा कीमती सामान ले गए पर उसे एक अमूल्य धन दे गये। वह धन था—अटूट साहस, असीम धैर्य और आत्म-विश्वास। घबराने या साहस छोड़ने की जगह उसने अपने कर्त्तव्यों पर पुनर्विचार किया और नई परिस्थितियों में एक नई योजना को जन्म देकर उसके क्रियान्वयन की बात सोचने लगी।

पारिवारिक कर्त्तव्य-मुक्ति

इस जीवनी के नायक की आयु उस समय लगभग छह वर्ष की रही होगी। इनकी दो बड़ी बहनें तब भारतीय परम्परानुसार विवाह-योग्य हो चुकी थीं। वैसे भी इन तीनों की माता अपने पति की मृत्यु के उपरान्त मन ही मन संयम-मार्ग ग्रहण करने का निश्चय कर चुकी थी पर कर्त्तव्य-पालन की आड़ ने इसका मार्ग रोक रखा था। 'लूणसरा' ग्राम के इनके मकान में जब चोरी हो गई तो माता ने एक योजना बनाई। इस योजना के तीन चरण थे—प्रथम तो लूणसरा का मकान, वहां का व्यवसाय एवं जमीन आदि बेचकर कुचेरा जाकर बसना, दूसरा चरण था कुचेरे में शीघ्रातिशीघ्र उपयुक्त वर देखकर दोनों कन्याओं के हाथ पीले करना और तीसरा एवं अन्तिम चरण था स्वयं जैन भागवती दीक्षा लेना। इस सारी योजना में एक ही कमी उन्हें खटक रही थी और वह थी बालक गणेश के भविष्य का उसमें नाममात्र का संकेत तक न होना। इसके लिए उसने तय किया कि उस समय जैसी भी स्थिति-परिस्थिति, वातावरण एवं बालक गणेश का मानस होगा वैसा कर लिया जाएगा।

योजना के प्रथम चरण के क्रियान्वयन में उस महामहनीया माता ने लूणसरा ग्राम की अपनी समस्त चल-अचल सम्पत्ति को बेच दिया और रकम लेकर कुचेरा चली आई। कुचेरा नागौर जिले का एक बड़ा कस्बा है। यहां महाजनों/ओसवालों की बहुत बड़ी आबादी है। अधिकांश ओसवाल-कुल

के लोगों का बाहर मद्रास-बेंगलोर आदि महानगरों में व्यवसाय है। लगभग सभी सम्पन्न हैं अतः पुत्रियों के योग्य वर ढूंढने में यहां उन्हें आसानी थी और उन पर यही एक सबसे बड़ी जिम्मेवारी भी थी। भारतीय संस्कृति के अनुसार लड़कियां जैसे ही किशोरावस्था में पांव रखने लगती हैं, उनकी कड़ी निगरानी प्रारम्भ हो जाती है। अनेक तरह के प्रतिबन्ध उन पर लगा दिये जाते हैं। उनकी माता उन्हें गृह-कार्यो में दक्ष बनाने, सुशील एवं सुसंस्कृत बनाने तथा अन्यान्य नारी-सुलभ गुणों से युक्त करने में जी-जान से जुट जाती हैं। इतना कुछ करने के पीछे एक बड़ा भारी रहस्य है और वह यह कि एक आदर्श-नारी दोनों कुलों को तो उज्ज्वल करती ही है, देश के भविष्य को भी समुज्ज्वल बनाती है।

आज भारतीय नारी आदर्श की जगह यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़े होना पसन्द करती है और शायद यहीं से हमारे दुर्भाग्य की शुरूआत होती है। बढ़ती हुई फैशनपरस्ती, पश्चिमी देशों के अंधानुकरण और भौतिकता की चकाचौंध में आकण्ठ डूबी आज की भारतीय नारी ने नारी के आदर्श स्वरूप को एक गहरे गर्त तले दबा दिया है। नर के साथ समानता के नाम पर उसने अपने सारे अमोलक नारी-गुणों को तिलाञ्जलि दे दी है। आज इस भारतीय नारी के अत्याडम्बर एवं प्रतिस्पर्द्धा की तीव्र भावना ने समस्त नारी-जाति को बदनाम ही नहीं किया बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज को अन्दर ही अन्दर खोखला बना दिया है।

दहेज का वास्तविक स्वरूप भी अब प्रतिस्पर्द्धा के काले बादलों से आवृत हो गया है; फलतः 'दहेज' जहाँ एक मानवीय व्यवहार था वहाँ आज उसका रूप दानवीय बन गया है। दहेज नाम के दानव ने अपना बाह्य आवरण इतना सभ्य एवं शिष्ट बना लिया है कि हजारों कमनीय कलियों की बलि होने पर भी उस हत्यारे का कहीं अता-पता नहीं मिलता, जो इनकी मृत्यु का निश्चित कारण है। इस दहेज रूपी दानव को जकड़ने, पकड़ने एवं नष्ट करने के जितने भी प्रयत्न किए गए, सभी निष्फल हुए।

उस समय भी दहेज या दायजा-प्रथा थी पर ऐसा दानवीय एवं इतना घिनौना रूप नहीं था उसका। कुचेरा आने के कुछ ही समय बाद माता भीखीबाई ने अपनी दोनों पुत्रियों की शादी समय की धार के साथ चले आ रहे रीति-रिवाजों एवं कुल की परम्पराओं को निभाते हुए ठाट-बाट से करदी। ज्येष्ठ पुत्री **किसनीबाई** का विवाह श्रीमान् पूसालालजी सुराणा से तथा कनिष्ठ पुत्री **सजनीबाई** का विवाह श्रीमान् भेरुंलालजी सुराणा के साथ सानन्द सम्पन्न हो गया। आप दोनों उस समय कुचेरा में ही निवास करते थे और कपड़े के साधारण व्यवसाय में रत थे। इस समय श्रीमती किसनीबाई अपने परिवार सहित बालाघाट-कटंगी में तथा श्रीमती सजनीबाई सपरिवार मद्रास में सानन्द रहती हैं। दोनों परिवारों की हमारे चरित-नायक आचार्य श्री के प्रति अच्छी लगन एवं श्रद्धा है।

चेचक का प्रकोप : माता का संकल्प

दोनों पुत्रियों का विवाह करने के बाद माता भीखीबाई अपने पुत्र गणेश को लेकर कुचेरा से लूणसरा चली आईं। उस समय लूणसरा में महासती श्री हुलासांजी का चातुर्मास था। पुत्र के साथ रहते हुए ही माता ने पूर्ण वर्षावास धर्मध्यान, जप-तप एवं जिनवाणी रूप वचनामृत का पान करते, सतीजी के प्रवचन सुनते हुए बिता दिया। हृदय के भीतर कहीं गहन दबे वैराग्य के बीज को उपयुक्त वातावरण मिला। भूमि तो पहले से ही ऊर्वरा बन चुकी थी, जिनवाणी की अमृत-वर्षा ने उसे अंकुरण

का अवसर दिया। तप-त्याग, भक्ति, जप, ध्यान आदि ने उसे पल्लवित, पुष्पित किया। अब वह नन्हा-सा वैराग्य-बीज लहलहाते पौधे का रूप धारण कर चुका था और संयम रूपी फल वहाँ फलित होने के लिए आतुर होने लगे थे।

पुण्य यदि प्रवल हों तो कार्यसिद्धि के लिए अनुकूल संयोग एवं साधन स्वतः जुटते चले जाते हैं। बालक गणेश की माता भीखीबाई का भी पुण्य प्रवल था, कुछ ही दिनों पश्चात् उसे **स्वामी श्री नथमलजी महाराज** के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी के प्रवचन का आप पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और उस महान् आत्मा ने स्वामीजी की आज्ञा में दीक्षा लेने का, संयम की राह अपनाने का, साध्वी बनकर विचरने का दृढ़ निश्चय कर लिया। आपने अपना निश्चय महासती **श्री हुलासांजी** को बताया और घर-बार छोड़कर अपने पुत्र के साथ वैरागिन-बहन के रूप में उन्हीं की सेवा में रहने लगी। बालक गणेश भी माता के वैराग्य-रंग से भींजने लगा। महासती श्री हुलासांजी के साथ चलते हुए दोनों माता-पुत्र फलौदी पहुंचे। यहाँ बालक गणेश ज्वराक्रांत हो गया, चिकित्सा की गई पर कोई आराम नहीं। ज्वर तो था ही, चेचक ने भी आक्रमण कर दिया और उसके शरीर पर 'माता' के पोपटे-फफोले निकल आए। गणेश की माता ने इसे भी परीक्षा की घड़ी समझा और हृदय से प्रार्थना करने लगी—"मेरे परम-आराध्य-गुरुवर्य स्वामी श्री नथमलजी महाराज ! आप जहाँ कहीं हों, मेरी विधियुक्त वन्दना स्वीकार करें। गुरुदेव ! मैं संयम की राह पर अग्रसर होने की इच्छुक हूं। अब और अधिक विलम्ब सहा नहीं जाता। आप करुणा-निधान हैं। इस दासी की विनती स्वीकार करिए, मेरे पुत्र को शीघ्र स्वस्थ कीजिए। मैं संकल्प करती हूँ कि यदि आपकी आज की स्मृति, गुणानुवाद एवं प्रार्थना के प्रभाव से गणेश ठीक हो गया तो उसके मन में भी संयम की पवित्र भावना अंकुरित करूंगी और उसे आपके चरणों में जिनशासन की सेवा के लिए समर्पित कर दूंगी।

गुरु-स्मरण-चमत्कार

जो दवा न कर सकी वह दुआ ने कर दिखाया। डाक्टर, वैद्य, हकीम जहां थक गए वहीं माँ की पावन-प्रार्थना ने जादू-सा असर किया। अगले दो-तीन दिनों में ही बालक गणेश का ज्वर उतर गया, चेचक के दाने सूखने लगे, पन्द्रह दिनों से शोभाहीन पड़ा वह बाल-चेहरा कुछ सस्मित हुआ। माता ने गुरुवर-स्मरण के चमत्कार को साक्षात् देखा। बालक ठीक हुआ तो माता-पुत्र दोनों गुरुदेव की सेवा में महामन्दिर पहुंचे। दर्शन, वन्दन के बाद गणेश की मातुश्री ने अपने मन की वैराग्य-भावना को गुरुवर के सम्मुख प्रकट कर दीक्षा की अनुमति चाही।

स्वामी जी ने एक बार माता के चेहरे पर नजर डाली; चाहे जैसे चेहरे को पढ़ लेने वाली पैनी नज़र। देखा—चेहरे पर दृढ़ता के भाव थे। वहाँ से नजर हटाई और बालक गणेश के चेहरे पर गड़ा दी। कुछ देर देखते रहे उसे, फिर वैरागिन से पूछा—"तुम्हारी धार्मिक जानकारी क्या है ? परिवार में कौन-कौन हैं ? दीक्षा क्यों लेना चाहती हो ?" सभी प्रश्नों का सही-सटीक उत्तर मिला तो संतुष्ट हुए पर अचानक पूछ बैठे—'माता तो दीक्षा लेंगी, यह पुत्र क्या करेगा ?' बालक गणेश पास ही खड़ा था। उस पर एक ममत्व-पूर्ण दृष्टि डालकर वह बोली—"पूज्यवर ! निश्चय ही यह मेरा पुत्र तब तक मेरे लिए एक समस्या हो सकता है, जब तक इसके भावी-जीवन का मार्ग मुझे नहीं मिलता। मुझे इस बात का पहले ही ध्यान था, अतः मैं इसका समाधान भी साथ लेकर आई हूँ।"

के लोगों का बाहर मद्रास-बेंगलोर आदि महानगरों में व्यवसाय है। लगभग सभी सम्पन्न हैं अतः पुत्रियों के योग्य वर ढूंढने में यहां उन्हें आसानी थी और उन पर यही एक सबसे बड़ी जिम्मेवारी भी थी। भारतीय संस्कृति के अनुसार लड़कियां जैसे ही किशोरावस्था में पांव रखने लगती हैं, उनकी कड़ी निगरानी प्रारम्भ हो जाती है। अनेक तरह के प्रतिबन्ध उन पर लगा दिये जाते हैं। उनकी माता उन्हें गृह-कार्यो में दक्ष बनाने, सुशील एवं सुसंस्कृत बनाने तथा अन्यान्य नारी-सुलभ गुणों से युक्त करने में जी-जान से जुट जाती हैं। इतना कुछ करने के पीछे एक बड़ा भारी रहस्य है और वह यह कि एक आदर्श-नारी दोनों कुलों को तो उज्ज्वल करती ही है, देश के भविष्य को भी समुज्ज्वल बनाती है।

आज भारतीय नारी आदर्श की जगह यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़े होना पसन्द करती है और शायद यहीं से हमारे दुर्भाग्य की शुरूआत होती है। बढ़ती हुई फैशनपरस्ती, पश्चिमी देशों के अंधानुकरण और भौतिकता की चकाचौंध में आकण्ठ डूबी आज की भारतीय नारी ने नारी के आदर्श स्वरूप को एक गहरे गर्त तले दबा दिया है। नर के साथ समानता के नाम पर उसने अपने सारे अमोलक नारी-गुणों को तिलाञ्जलि दे दी है। आज इस भारतीय नारी के अत्याडम्बर एवं प्रतिस्पर्द्धा की तीव्र भावना ने समस्त नारी-जाति को बदनाम ही नहीं किया बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज को अन्दर ही अन्दर खोखला बना दिया है।

दहेज का वास्तविक स्वरूप भी अब प्रतिस्पर्द्धा के काले बादलों से आवृत हो गया है; फलतः 'दहेज' जहाँ एक मानवीय व्यवहार था वहाँ आज उसका रूप दानवीय बन गया है। दहेज नाम के दानव ने अपना बाह्य आवरण इतना सभ्य एवं शिष्ट बना लिया है कि हजारों कमनीय कलियों की बलि होने पर भी उस हत्यारे का कहीं अता-पता नहीं मिलता, जो इनकी मृत्यु का निश्चित कारण है। इस दहेज रूपी दानव को जकड़ने, पकड़ने एवं नष्ट करने के जितने भी प्रयत्न किए गए, सभी निष्फल हुए।

उस समय भी दहेज या दायजा-प्रथा थी पर ऐसा दानवीय एवं इतना घिनौना रूप नहीं था उसका। कुचेरा आने के कुछ ही समय बाद माता भीखीबाई ने अपनी दोनों पुत्रियों की शादी समय की धार के साथ चले आ रहे रीति-रिवाजों एवं कुल की परम्पराओं को निभाते हुए ठाट-बाट से करदी। ज्येष्ठ पुत्री **किसनीबाई** का विवाह श्रीमान् पूसालालजी सुराणा से तथा कनिष्ठ पुत्री **सजनीबाई** का विवाह श्रीमान् भेरुंलालजी सुराणा के साथ सानन्द सम्पन्न हो गया। आप दोनों उस समय कुचेरा में ही निवास करते थे और कपड़े के साधारण व्यवसाय में रत थे। इस समय श्रीमती किसनीबाई अपने परिवार सहित बालाघाट-कटंगी में तथा श्रीमती सजनीबाई सपरिवार मद्रास में सानन्द रहती हैं। दोनों परिवारों की हमारे चरित-नायक आचार्य श्री के प्रति अच्छी लगन एवं श्रद्धा है।

चेचक का प्रकोप : माता का संकल्प

दोनों पुत्रियों का विवाह करने के बाद माता भीखीबाई अपने पुत्र गणेश को लेकर कुचेरा से लूणसरा चली आई। उस समय लूणसरा में महासती श्री हुलासांजी का चातुर्मास था। पुत्र के साथ रहते हुए ही माता ने पूर्ण वर्षावास धर्मध्यान, जप-तप एवं जिनवाणी रूप वचनामृत का पान करते, सतीजी के प्रवचन सुनते हुए बिता दिया। हृदय के भीतर कहीं गहन दबे वैराग्य के बीज को उपयुक्त वातावरण मिला। भूमि तो पहले से ही ऊर्वरा बन चुकी थी, जिनवाणी की अमृत-वर्षा ने उसे अंकुरण

का अवसर दिया। तप-त्याग, भक्ति, जप, ध्यान आदि ने उसे पल्लवित, पुष्पित किया। अब वह नन्हा-सा वैराग्य-बीज लहलहाते पौधे का रूप धारण कर चुका था और संयम रूपी फल वहाँ फलित होने के लिए आतुर होने लगे थे।

पुण्य यदि प्रबल हों तो कार्यसिद्धि के लिए अनुकूल संयोग एवं साधन स्वतः जुटते चले जाते हैं। बालक गणेश की माता भीखीबाई का भी पुण्य प्रबल था, कुछ ही दिनों पश्चात् उसे **स्वामी श्री नथमलजी महाराज** के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्वामीजी के प्रवचन का आप पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा और उस महान् आत्मा ने स्वामीजी की आज्ञा में दीक्षा लेने का, संयम की राह अपनाने का, साध्वी बनकर विचरने का दृढ़ निश्चय कर लिया। आपने अपना निश्चय महासती श्री **हुलासांजी** को बताया और घर-बार छोड़कर अपने पुत्र के साथ वैरागिन-बहन के रूप में उन्हीं की सेवा में रहने लगी। बालक गणेश भी माता के वैराग्य-रंग से भींजने लगा। महासती श्री हुलासांजी के साथ चलते हुए दोनों माता-पुत्र फलौदी पहुंचे। यहाँ बालक गणेश ज्वराक्रांत हो गया, चिकित्सा की गई पर कोई आराम नहीं। ज्वर तो था ही, चेचक ने भी आक्रमण कर दिया और उसके शरीर पर 'माता' के पोपटे-फफोले निकल आए। गणेश की माता ने इसे भी परीक्षा की घड़ी समझा और हृदय से प्रार्थना करने लगी—"मेरे परम-आराध्य-गुरुवर्य स्वामी श्री नथमलजी महाराज ! आप जहाँ कहीं हों, मेरी विधियुक्त वन्दना स्वीकार करें। गुरुदेव ! मैं संयम की राह पर अग्रसर होने की इच्छुक हूं। अब और अधिक विलम्ब सहा नहीं जाता। आप करुणा-निधान हैं। इस दासी की विनती स्वीकार करिए, मेरे पुत्र को शीघ्र स्वस्थ कीजिए। मैं संकल्प करती हूँ कि यदि आपकी आज की स्मृति, गुणानुवाद एवं प्रार्थना के प्रभाव से गणेश ठीक हो गया तो उसके मन में भी संयम की पवित्र भावना अंकुरित करूंगी और उसे आपके चरणों में जिनशासन की सेवा के लिए समर्पित कर दूंगी।

गुरु-स्मरण-चमत्कार

जो दवा न कर सकी वह दुआ ने कर दिखाया। डाक्टर, वैद्य, हकीम जहां थक गए वहीं माँ की पावन-प्रार्थना ने जादू-सा असर किया। अगले दो-तीन दिनों में ही बालक गणेश का ज्वर उतर गया, चेचक के दाने सूखने लगे, पन्द्रह दिनों से शोभाहीन पड़ा वह बाल-चेहरा कुछ सस्मित हुआ। माता ने गुरुवर-स्मरण के चमत्कार को साक्षात् देखा। बालक ठीक हुआ तो माता-पुत्र दोनों गुरुदेव की सेवा में महामन्दिर पहुंचे। दर्शन, वन्दन के बाद गणेश की मातुश्री ने अपने मन की वैराग्य-भावना को गुरुवर के सम्मुख प्रकट कर दीक्षा की अनुमति चाही।

स्वामी जी ने एक बार माता के चेहरे पर नजर डाली; चाहे जैसे चेहरे को पढ़ लेने वाली पैनी नजर। देखा—चेहरे पर दृढ़ता के भाव थे। वहाँ से नजर हटाई और बालक गणेश के चेहरे पर गड़ा दी। कुछ देर देखते रहे उसे, फिर वैरागिन से पूछा—"तुम्हारी धार्मिक जानकारी क्या है ? परिवार में कौन-कौन हैं ? दीक्षा क्यों लेना चाहती हो ?" सभी प्रश्नों का सही-सटीक उत्तर मिला तो संतुष्ट हुए पर अचानक पूछ बैठे—'माता तो दीक्षा लेंगी, यह पुत्र क्या करेगा ?' बालक गणेश पास ही खड़ा था। उस पर एक ममत्व-पूर्ण दृष्टि डालकर वह बोली—"पूज्यवर ! निश्चय ही यह मेरा पुत्र तब तक मेरे लिए एक समस्या हो सकता है, जब तक इसके भावी-जीवन का मार्ग मुझे नहीं मिलता। मुझे इस बात का पहले ही ध्यान था, अतः मैं इसका समाधान भी साथ लेकर आई हूँ।"

स्वामीजी महाराज, अन्य संत एवं उपस्थित श्रावक-गण सोच रहे थे कि शायद इसके लालन-पालन हेतु कोई पारिवारिक सदस्य साथ होगा। वही इस वालक की समस्त जिम्मेदारी ले लेगा और इसे दीक्षार्थ अनुमति मिल जाएगी। उन सभी की आँखें इधर-उधर भटकने लगीं, निहारने लगीं कि इस भीड़ में से अभी कोई आगे आएगा और इस वालक की संरक्षण की जिम्मेदारी ओढ़ेगा पर जव वालक की मां ने समस्या के समाधान में एक अन्य ही विचार प्रस्तुत किया तो सभी स्तब्ध रह गए! "क्या यह संभव हो सकेगा ?" सव के मन में यही एक प्रश्न उमड़ने/घुमड़ने लगा।

यह वही करेगा : जो मैं कर रही हूं

उस वीर-हृदया रमणी ने विनीत भाव से कहा—गुरुवर! यह बालक मेरी ही तरह विपदाओं और आपदाओं में झूलता हुआ वड़ा हुआ है। यह मेरा पुत्र है, अतः संघर्षों से लड़कर जीने की कला इसने भी सीख ली है। मेरे और इस वालक में अंतर यही है कि इसकी अभी वाल्यावस्था है और मैं प्रौढ़-अवस्था में हूँ। मैंने इस संसार को पूर्ण रूप से भोगा है, जीया है पर इसने अभी इस दुनिया में आकर केवल दुःख ही देखे हैं या देखी है मातृ-छाया, ममत्व का सम्वल। दुनियां के भोगों को भोगने के लिए अभी इसकी उम्र पड़ी है पर मेरा विचार है कि "जिन परिस्थितियों के मध्य से यह वालक निकला है, जिस वातावरण में पलकर इतना वड़ा हुआ है उन सवसे इसने संसार की असारता और जीवन की नश्वरता को भली प्रकार जान लिया है। आपकी महती कृपा से ही अभी कुछ दिनों पूर्व यह मृत्यु के मुख से बाल-बाल बचा है। इसका यह नया जीवन आप ही की देन है। गुरुवर! मैंने संकल्प लिया था कि यदि यह बालक असाध्य रोग से बच जाता है तो इसे जिनशासन की सेवा के लिए गुरु-चरणों में अर्पित कर दूंगी। अतः यह वालक अव आपको समर्पित है। यह भी भविष्य में वही करेगा, जो मैं करने जा रही हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि आने वाले समय में यह साधु वनकर, आपके चरणों में रहकर शासन की योग्य सेवा करेगा। आप इसे स्वीकार करिए और मुझे दीक्षा की आज्ञा प्रदान कीजिए।

स्वामी श्री नथमल जी महाराज के ही सुशिष्य सम्यक् श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमलजी महाराज द्वारा रचित 'नाथ-गुणमाला' नामक चौपी में इस सारी घटना का विवरण इस प्रकार मिलता है—

"उगणीसे छीयंतरे, ऊतरियो चौमास।
महामंदिर पधारिया, संलेखन गुणरास॥

कन्हे कुचेरा गाँव के, लूणसरा की वासि।
वागचार वचनेश की, प्रवल वियोग पियासि॥

तिण भीखीवाई तणो एकाकी सुत जान।
नाम जीतमल वय वरप सात तणे अनुमान॥

चौमासो कीनों तिहां सती हुलासजी आप।
वाई भई विरागिणी तस उपदेश प्रताप॥

पुत्र सहित प्रयाण किय वंदन श्री गुरुदेव ।
पौष वदी पंचमी दिने ते पहुंच्या तत्खेव ।।
अरज करी इण भांति सु, अम दुहुं ने अब आप ।
तारो इण संसार सुं, जिहां दुःख अनमाप ।।"
(नथ के मोती, परिशिष्ट पृ. 34)

अनुभव की आंखें : अनगढ़ व्यक्तित्व

एक वैरागिनी माता द्वारा सात-आठ वर्षीय पुत्र का जैन-साधक को समर्पण। गुरु-चरणों में एक अद्भुत भेंट। स्वामी जी ने उस त्यागमूर्ति माता के कथन को अक्षरशः सुना। एक बार पुनः बालक गणेश के चेहरे पर अपनी दृष्टि टिकाई। बालक ने भी मंदमुस्कान बिखेरते हुए अपनी नजरें गुरुदेव के मुखारविंद पर डालीं। केवल दो क्षण के लिए नजरों से नजरें मिलीं, आंखें चार हुई, दृष्टि-मिलाप हुआ और बालक को लगा जैसे एक विजली टकरा गई हो उसकी नजरों से, एक विद्युत-लहर समाविष्ट हो गई हो उसके अन्तर में। तलवार की तीक्ष्ण धार की तरह थी वह पैनी नजर, जो उस बालक की आंखों की राह से होती हुई सीधी अन्तर-हृदय तक पैठ गई। बालक ने नजरें झुकालीं। यह कोई आंख-मिचौनी का खेल नहीं था। यहां तो एक ओर था अनुभवों का अक्षय-कोष और दूसरी ओर अनुभवों से सर्वथा रिक्त एक अनगढ़ पात्र। एक कुशल परीक्षक की तरह उन अनुभवी आंखों ने अपने सम्मुख खड़े एक अनगढ़ व्यक्तित्व को पढ़ा। अंग्रेजी में एक कहावत है—

"Face is an index of a person"

स्वामी जी ने भी उस बालक का फेस-रीडिंग किया, चेहरा पढ़ा, मुख पर झलकती हृदय की भावनाओं को आंका और अपने चिरसञ्चित अनुभवों के आइने में उसे सुसंस्कारों से ओतप्रोत एवं निर्मल-हृदय पाया। कसौटी पर खरा उतर गया गणेश तो उसकी माता को वहीं दीक्षा की अनुमति प्राप्त हो गई और उस पावनमना के द्वारा समर्पित 'बालक-गणेश' को भी वहीं वैरागी के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उपस्थित जनसमुदाय में हर्ष की लहर फैल गई। "माता और पुत्र" दोनों ने एक साथ संयम-साधना के पथ पर विचरण करने की आज्ञा गुरुवर से प्राप्त कर ली है—सुनकर चतुर्विध संघ ने माता-पुत्र की अभ्यर्थना की, उनका आदर-सत्कार किया और गगनभेदी जय-जयकारों के निनाद से वातावरण गूंज उठा। तब किसने सोचा था कि स्वामी श्री नथमलजी महाराज को इस तरह से एक वैरागिनी माता द्वारा समर्पित यही माई का लाल बालक गणेश "मुनि जीतमलजी" के नाम से जय-सम्प्रदाय के नवम यशस्वी आचार्य बनकर दिग्दिगन्त में ज्ञान-सौरभ फैलाएंगे और लक्ष-लक्ष श्रद्धालु-भक्त आपके दर्शनों के, आपके चरणारविन्द-स्पर्शन के लिए सदैव लालायित बने रहेंगे।

माता-पुत्र-संवाद

बालक गणेश अब वैरागी श्री गणेशमल कहे जाने लगे। उनकी उम्र तब भी आठ वर्ष की ही थी। उन्होंने जब यह देखा कि मेरी मातु-श्री, मेरी जन्मदात्री जननी; जिनका ही मुझे एक मात्र अवलम्बन है, दीक्षा लेने जा रही हैं, जैन-साध्वी बनने जा रही हैं, सांसारिक रिश्तों को तोड़ रही हैं, मोह-माया को छोड़ रही हैं, मान और ममत्व से मुंह मोड़ रही हैं तो उन्हें बड़ा अटपटा लगा। अब तक वे लगभग

सारा समय माता के साथ ही व्यतीत कर रहे थे। माता ही उनकी संरक्षक थीं, शिक्षक थीं, पालक थीं। वे ही उन्हें सुसंस्कार देने वाली थीं और उनका जीवन-निर्माण करने वाली थीं। अब उन मातु-श्री का इस तरह बिछुड़ना और तब उनका स्वयं का एकाकी रह जाना—यह स्थिति उन्हें अप्रिय-सी लग रही थी, बात गले नहीं उतर पा रही थी। वि. संवत् १९७७ में आपकी मातु-श्री ने महासती हुलासांजी के पास रीयां (पीपाड़ शहर के निकट) में दीक्षा ग्रहण की थी।[1] दीक्षा लेने से कुछ दिन पूर्व आपने हिम्मत कर मां के चरणों में बैठ निवेदन किया—"मातेश्वरी! पिताजी तो देवलोक सिधार गए, अब आप भी संसार को त्याग श्वेताम्बर-धारिणी जैन-साध्वी बनने को प्रस्तुत हैं। जब आप दीक्षा ले लेंगी तो मेरा क्या होगा?"

मां देखती रही बालक गणेश के निराशा से थके पर निर्लिप्त-भावों से भरे चेहरे को। उन्होंने उनके भोले-भाले उपर्युक्त कथन को सुना और मन में सोचने लगीं—"क्या कहूं मैं इसे? क्या इसे यह कहना उपयुक्त होगा कि संसार को त्याग कर तुम भी मेरी तरह दीक्षा ले लो। संयम की राह पकड़ कर, साधु बनकर साधना में लग जाओ पर............कैसे कहूँ? अभी तो यह आठ ही वर्ष का है।" कितनी ही देर तक चिन्तन करने के पश्चात् धीर-गंभीर स्वर में पुत्र को सम्बोधन कर कहने लगी—"बेटे! तुम सपूत हो, तुम में सुसंस्कारों का मैंने बीजारोपण किया है, जिनशासन-जिनधर्म एवं धर्म-गुरुओं में तुम्हारी आस्था जगाई है। मेरे बाद ये ही तुम्हारे भावी जीवन को दिशा देंगे। तुम्हें इन्हीं के साथ रहना है, इन्हीं में अपना अकेलापन खोना है, इन्हीं में अपना सम्बल/सहारा ढूंढ़ना है।"

पुत्र—इनके पास रह तो लूंगा पर मुझे करना क्या होगा?

माता—बेटे तुम्हें अभी कुछ समय तक इन्हीं के साथ रहकर ज्ञान का अभ्यास करना होगा, सामायिक-प्रतिक्रमण-पच्चीस बोल आदि सीखने होंगे।

पुत्र—क्या ये सब सीख लेने के बाद मुझे भी दीक्षित कर लेंगे? मैं भी साधु बन जाऊंगा?

माता—(पुत्र के ये बोल सुनकर माता निहाल हो गई और हर्षातिरेक में कहने लगी) "तुम धन्य हो बेटे! तुम्हारे विचार बड़े नेक हैं। इस पर भी ध्यान रहे बेटे कि यह संयम का मार्ग, यह साधना का पथ अत्यन्त कंटकाकीर्ण है, दोहला है, दुधारी तलवार और जलते-सुलगते अंगारों पर चलने जैसा है। तुम अभी बालक हो अतः एक-दो वर्ष ज्ञानाभ्यास करो, साधु-चर्या को निकट से देखो, उसे जीवन में पालने का प्रयत्न करो। संयम श्रेष्ठ है पर दुष्कर अवश्य है। इतना सब जानकर, समझकर भी तुम यदि इस पथ पर चलने को कटिबद्ध हो जाते हो तो निश्चय ही तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा, जीवन कल्याणमय होगा।

पुत्र—अम्बे! मैं आठ वर्ष का तो अब भी हूं। क्या मुझे आपके साथ ही दीक्षा नहीं मिल सकती? क्या संयम का मार्ग, दीक्षा के द्वार इस समय मेरे लिए बंद हैं? गुरुदेव ने तो उस दिन अपने प्रवचन में कहा था कि धर्म की साधना उम्र के किसी भी भाग में की जा सकती है। अतिमुक्त कुमार, गजसुकुमाल आदि के शास्त्रोक्त उदाहरण भी तो दिए थे, उन्होंने बाल-वय में दीक्षित होने के।

1. "साल सितंतर में सती हुलासजी पास।
   भीखी बाई दीख ली रीयां पीपार पास॥"
   नय के मोती, परिशिष्ट पृ. ३८

(पुत्र के मन की उत्कृष्ट भावना को अपने सामने जीवंत देखकर, कानों से मनोहारी शब्दों में उसे सुनकर माता के हृदय की कलि-कलि खिल गई। वे गद्गद् हो उठीं। इस पर भी धैर्य-पूर्वक उन्होंने उसे समझाया)—

माता—लाल ! तुम्हारे इन वचनों को सुनकर मेरे हृदय में प्रसन्नता का जो एक सागर-सा लहराया है, उसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता पर बेटे ! शास्त्रीय विधिविधान के अनुसार तुम्हें दीक्षित होने से पहले साधक-जीवन की आवश्यक जानकारी होनी चाहिये, कुछ आगमिक ज्ञान होना चाहिए, प्रतिक्रमण आदि कुछ आवश्यक सूत्र-स्तोक भी कण्ठस्थ होने चाहिए। अतः अच्छा यही है कि पहले तुम ज्ञान ग्रहण करो और फिर चारित्र अंगीकार करो।

पहले ज्ञान फिर चारित्र, इस तथ्य को उस मेधावी बालक की मेधा-शक्ति ने पहचाना और तभी उसने अपने द्वय कर-कमलों को सम्पुटित कर माता से कहा—जैसी आपकी आज्ञा, मातेश्वरी ! अब यही करूंगा।

पुत्र-समर्पण-पत्र

चरित-नायक की मातु-श्री जब रीयां में दीक्षित होने को थीं तब पुत्र की भावी दीक्षा के सम्बन्ध में उनसे काफी कुछ पूछा गया था। भविष्य में होने वाली उस दीक्षा में किसी प्रकार का कोई विघ्न खड़ा न हो, शांति-पूर्वक दीक्षा-कार्य हो सके, इसके लिए समाज व संघ के अग्रगण्य कार्यकर्त्ताओं, नेताओं, अधिकारियों ने काफी सोच-विचार कर यह प्रार्थना की कि एक लिखित बयान यदि संघ के पास हो तो अत्युत्तम रहे। बात उचित ही थी। आपकी मातेश्वरी ने उसी समय एक लिखित बयान दिया जिसमें अपने प्रिय पुत्र गणेश को जैन भागवती दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर अपने हस्ताक्षर किए और अनेक गणमान्य सज्जनों की साख डलवाई। यह 'पुत्र-समर्पण-पत्र' आज भी 'रीयां श्री संघ' के पास अथवा 'पूज्य जयमल जैन ज्ञान-भण्डार, पीपाड़शहर' में सुरक्षित है।

गुरु-वियोग

गुरु-सेवा का भी अपना एक अनोखा आनन्द है। वे व्यक्ति भाग्यशाली होते हैं, जिन्हें सदैव या चिर-काल तक गुरु की सेवा में रहने का शुभ-अवसर मिल पाता है। वे व्यक्ति, जो सच्चे हृदय से गुरु-सेवा में तत्पर रहते हैं, उन्हें उस गुरु-सेवा का उत्कृष्ट फल भी निश्चय ही प्राप्त होता है। एक कहावत प्रचलित है—"करोगे सेवा तो मिलेगा मेवा"; गुरु-सेवा का सबसे बड़ा फल है, ज्ञान रूपी मेवे की प्राप्ति। गुरु के बिना ज्ञान कहाँ ? गुरु ही तो गोविन्द, परमात्मा, ईश्वर तक पहुंचने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की राह बताने वाले होते हैं। इस जीवनी के चरितं-नायक ने गुरु-सेवा में रहकर धर्मध्यान, ज्ञान-रमण एवं जप-तप पूर्वक दिन बिताने प्रारम्भ किए। उस समय आपके साथ तीन अन्य वैरागी-बंधु भी स्वामिवर्य की सेवामें थे—श्री चैनमल, श्री घनराज तथा श्री जीवनमल।

पौष वदी पंचमी को आप अपनी मातु-श्री के साथ गुरुवर की सेवामें पधारे थे। बहुत इच्छा थी, जिज्ञासा थी, भावना थी कुछ सेवा करने की, कुछ सीखने की और गुरु-चरणों में रहने की पर विधि का विधान, कर्मो का खेल.......। एक माह भी नहीं बीत पाया था कि माह वद चतुर्थी (संवत् १६७६) की दोपहर, जोधपुर के मंडी-स्थानक में आपके गुरु बिना आपको दीक्षा दिए ही समाधि-संथारा पूर्वक काल-

सारा समय माता के साथ ही व्यतीत कर रहे थे। माता ही उनकी संरक्षक थीं, शिक्षक थीं, पालक थीं। वे ही उन्हें सुसंस्कार देने वाली थीं और उनका जीवन-निर्माण करने वाली थीं। अब उन मातु-श्री का इस तरह बिछुड़ना और तब उनका स्वयं का एकाकी रह जाना—यह स्थिति उन्हें अप्रिय-सी लग रही थी, बात गले नहीं उतर पा रही थी। वि. संवत् १९७७ में आपकी मातु-श्री ने महासती हुलासांजी के पास रीयां (पीपाड़ शहर के निकट) में दीक्षा ग्रहण की थी।[1] दीक्षा लेने से कुछ दिन पूर्व आपने हिम्मत कर मां के चरणों में बैठ निवेदन किया—"मातेश्वरी ! पिताजी तो देवलोक सिधार गए, अब आप भी संसार को त्याग श्वेताम्बर-धारिणी जैन-साध्वी बनने को प्रस्तुत हैं। जब आप दीक्षा ले लेंगी तो मेरा क्या होगा ?"

मां देखती रही बालक गणेश के निराशा से थके पर निर्लिप्त-भावों से भरे चेहरे को। उन्होंने उनके भोले-भाले उपर्युक्त कथन को सुना और मन में सोचने लगीं—"क्या कहूं मैं इसे ? क्या इसे यह कहना उपयुक्त होगा कि संसार को त्याग कर तुम भी मेरी तरह दीक्षा ले लो। संयम की राह पकड़ कर, साधु बनकर साधना में लग जाओ पर............कैसे कहूँ ? अभी तो यह आठ ही वर्ष का है।" कितनी ही देर तक चिन्तन करने के पश्चात् धीर-गंभीर स्वर में पुत्र को सम्बोधन कर कहने लगी—"बेटे ! तुम सपूत हो, तुम में सुसंस्कारों का मैंने बीजारोपण किया है, जिनशासन-जिनधर्म एवं धर्म-गुरुओं में तुम्हारी आस्था जगाई है। मेरे बाद ये ही तुम्हारे भावी जीवन को दिशा देंगे। तुम्हें इन्हीं के साथ रहना है, इन्हीं में अपना अकेलापन खोना है, इन्हीं में अपना सम्बल/सहारा ढूंढ़ना है।"

पुत्र—इनके पास रह तो लूंगा पर मुझे करना क्या होगा ?

माता—बेटे तुम्हें अभी कुछ समय तक इन्हीं के साथ रहकर ज्ञान का अभ्यास करना होगा, सामायिक-प्रतिक्रमण-पच्चीस बोल आदि सीखने होंगे।

पुत्र—क्या ये सब सीख लेने के बाद मुझे भी दीक्षित कर लेंगे ? मैं भी साधु बन जाऊंगा ?

माता—(पुत्र के ये बोल सुनकर माता निहाल हो गई और हर्षातिरेक में कहने लगी) "तुम धन्य हो बेटे ! तुम्हारे विचार बड़े नेक हैं। इस पर भी ध्यान रहे बेटे कि यह संयम का मार्ग, यह साधना का पथ अत्यन्त कंटकाकीर्ण है, दोहला है, दुधारी तलवार और जलते-सुलगते अंगारों पर चलने जैसा है। तुम अभी बालक हो अतः एक-दो वर्ष ज्ञानाभ्यास करो, साधु-चर्या को निकट से देखो, उसे जीवन में पालने का प्रयत्न करो। संयम श्रेष्ठ है पर दुष्कर अवश्य है। इतना सब जानकर, समझकर भी तुम यदि इस पथ पर चलने को कटिबद्ध हो जाते हो तो निश्चय ही तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा, जीवन कल्याणमय होगा।

पुत्र—अम्बे ! मैं आठ वर्ष का तो अब भी हूं। क्या मुझे आपके साथ ही दीक्षा नहीं मिल सकती ? क्या संयम का मार्ग, दीक्षा के द्वार इस समय मेरे लिए बंद हैं ? गुरुदेव ने तो उस दिन अपने प्रवचन में कहा था कि धर्म की साधना उम्र के किसी भी भाग में की जा सकती है। अतिमुक्त कुमार, गजसुकुमाल आदि के शास्त्रोक्त उदाहरण भी तो दिए थे, उन्होंने बाल-वय में दीक्षित होने के।

1. "साल सितंतर में सती हुलासजी पास।
भीखी बाई दीख ली रीयां पीपार पास॥"
नथ के मोती, परिशिष्ट पृ. ३८

(पुत्र के मन की उत्कृष्ट भावना को अपने सामने जीवंत देखकर, कानों से मनोहारी शब्दों में उसे सुनकर माता के हृदय की कलि-कलि खिल गई। वे गद्‌गद् हो उठीं। इस पर भी धैर्य-पूर्वक उन्होंने उसे समझाया)—

माता—लाल ! तुम्हारे इन वचनों को सुनकर मेरे हृदय में प्रसन्नता का जो एक सागर-सा लहराया है, उसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता पर बेटे ! शास्त्रीय विधिविधान के अनुसार तुम्हें दीक्षित होने से पहले साधक-जीवन की आवश्यक जानकारी होनी चाहिये, कुछ आगमिक ज्ञान होना चाहिए, प्रतिक्रमण आदि कुछ आवश्यक सूत्र-स्तोक भी कण्ठस्थ होने चाहिए। अतः अच्छा यही है कि पहले तुम ज्ञान ग्रहण करो और फिर चारित्र अंगीकार करो।

पहले ज्ञान फिर चारित्र, इस तथ्य को उस मेधावी बालक की मेधा-शक्ति ने पहचाना और तभी उसने अपने द्वय कर-कमलों को सम्पुटित कर माता से कहा—जैसी आपकी आज्ञा, मातेश्वरी ! अब यही करूंगा।

पुत्र-समर्पण-पत्र

चरित-नायक की मातु-श्री जब रीयां में दीक्षित होने को थीं तब पुत्र की भावी दीक्षा के सम्बन्ध में उनसे काफी कुछ पूछा गया था। भविष्य में होने वाली उस दीक्षा में किसी प्रकार का कोई विघ्न खड़ा न हो, शांति-पूर्वक दीक्षा-कार्य हो सके, इसके लिए समाज व संघ के अग्रगण्य कार्यकर्त्ताओं, नेताओं, अधिकारियों ने काफी सोच-विचार कर यह प्रार्थना की कि एक लिखित बयान यदि संघ के पास हो तो अत्युत्तम रहे। बात उचित ही थी। आपकी मातेश्वरी ने उसी समय एक लिखित बयान दिया जिसमें अपने प्रिय पुत्र गणेश को जैन भागवती दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर अपने हस्ताक्षर किए और अनेक गणमान्य सज्जनों की साख डलवाई। यह 'पुत्र-समर्पण-पत्र' आज भी 'रीयां श्री संघ' के पास अथवा 'पूज्य जयमल जैन ज्ञान-भण्डार, पीपाड़शहर' में सुरक्षित है।

गुरु-वियोग

गुरु-सेवा का भी अपना एक अनोखा आनन्द है। वे व्यक्ति भाग्यशाली होते हैं, जिन्हें सदैव या चिर-काल तक गुरु की सेवा में रहने का शुभ-अवसर मिल पाता है। वे व्यक्ति, जो सच्चे हृदय से गुरु-सेवा में तत्पर रहते हैं, उन्हें उस गुरु-सेवा का उत्कृष्ट फल भी निश्चय ही प्राप्त होता है। एक कहावत प्रचलित है—"करोगे सेवा तो मिलेगा मेवा"; गुरु-सेवा का सबसे बड़ा फल है, ज्ञान रूपी मेवे की प्राप्ति। गुरु के बिना ज्ञान कहाँ ? गुरु ही तो गोविन्द, परमात्मा, ईश्वर तक पहुंचने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की राह बताने वाले होते हैं। इस जीवनी के चरितं-नायक ने गुरु-सेवा में रहकर धर्मध्यान, ज्ञान-रमण एवं जप-तप पूर्वक दिन बिताने प्रारम्भ किए। उस समय आपके साथ तीन अन्य वैरागी-बंधु भी स्वामिवर्य की सेवामें थे—श्री चैनमल, श्री धनराज तथा श्री जीवनमल।

पौष वदी पंचमी को आप अपनी मातु-श्री के साथ गुरुवर की सेवामें पधारे थे। बहुत इच्छा थी, जिज्ञासा थी, भावना थी कुछ सेवा करने की, कुछ सीखने की और गुरु-चरणों में रहने की पर विधि का विधान, कर्मों का खेल.......। एक माह भी नहीं बीत पाया था कि माह वद चतुर्थी (संवत् १९७६) की दोपहर, जोधपुर के मंडी-स्थानक में आपके गुरु बिना आपको दीक्षा दिए ही समाधि-संथारा पूर्वक काल-

सारा समय माता के साथ ही व्यतीत कर रहे थे। माता ही उनकी संरक्षक थीं, शिक्षक थीं, पालक थीं। वे ही उन्हें सुसंस्कार देने वाली थीं और उनका जीवन-निर्माण करने वाली थीं। अब उन मातु-श्री का इस तरह बिछुड़ना और तब उनका स्वयं का एकाकी रह जाना—यह स्थिति उन्हें अप्रिय-सी लग रही थी, बात गले नहीं उतर पा रही थी। वि. संवत् १९७७ में आपकी मातु-श्री ने महासती हुलासांजी के पास रीयां (पीपाड़ शहर के निकट) में दीक्षा ग्रहण की थी।[1] दीक्षा लेने से कुछ दिन पूर्व आपने हिम्मत कर मां के चरणों में बैठ निवेदन किया—"मातेश्वरी ! पिताजी तो देवलोक सिधार गए, अब आप भी संसार को त्याग श्वेताम्बर-धारिणी जैन-साध्वी बनने को प्रस्तुत हैं। जब आप दीक्षा ले लेंगी तो मेरा क्या होगा ?"

मां देखती रही बालक गणेश के निराशा से थके पर निर्लिप्त-भावों से भरे चेहरे को। उन्होंने उनके भोले-भाले उपर्युक्त कथन को सुना और मन में सोचने लगीं—"क्या कहूं मैं इसे ? क्या इसे यह कहना उपयुक्त होगा कि संसार को त्याग कर तुम भी मेरी तरह दीक्षा ले लो। संयम की राह पकड़ कर, साधु बनकर साधना में लग जाओ पर.......... कैसे कहूँ ? अभी तो यह आठ ही वर्ष का है।" कितनी ही देर तक चिन्तन करने के पश्चात् धीर-गंभीर स्वर में पुत्र को सम्बोधन कर कहने लगी—"बेटे ! तुम सपूत हो, तुम में सुसंस्कारों का मैंने बीजारोपण किया है, जिनशासन-जिनधर्म एवं धर्म-गुरुओं में तुम्हारी आस्था जगाई है। मेरे बाद ये ही तुम्हारे भावी जीवन को दिशा देंगे। तुम्हें इन्हीं के साथ रहना है, इन्हीं में अपना अकेलापन खोना है, इन्हीं में अपना सम्बल/सहारा ढूंढ़ना है।"

पुत्र—इनके पास रह तो लूंगा पर मुझे करना क्या होगा ?

माता—बेटे तुम्हें अभी कुछ समय तक इन्हीं के साथ रहकर ज्ञान का अभ्यास करना होगा, सामायिक-प्रतिक्रमण-पच्चीस बोल आदि सीखने होंगे।

पुत्र—क्या ये सब सीख लेने के बाद मुझे भी दीक्षित कर लेंगे ? मैं भी साधु बन जाऊंगा ?

माता—(पुत्र के ये बोल सुनकर माता निहाल हो गई और हर्षातिरेक में कहने लगी) "तुम धन्य हो बेटे ! तुम्हारे विचार बड़े नेक हैं। इस पर भी ध्यान रहे बेटे कि यह संयम का मार्ग, यह साधना का पथ अत्यन्त कंटकाकीर्ण है, दोहला है, दुधारी तलवार और जलते-सुलगते अंगारों पर चलने जैसा है। तुम अभी बालक हो अतः एक-दो वर्ष ज्ञानाभ्यास करो, साधु-चर्या को निकट से देखो, उसे जीवन में पालने का प्रयत्न करो। संयम श्रेष्ठ है पर दुष्कर अवश्य है। इतना सब जानकर, समझकर भी तुम यदि इस पथ पर चलने को कटिबद्ध हो जाते हो तो निश्चय ही तुम्हारा मार्ग प्रशस्त होगा, जीवन कल्याणमय होगा।

पुत्र—अम्बे ! मैं आठ वर्ष का तो अब भी हूं। क्या मुझे आपके साथ ही दीक्षा नहीं मिल सकती ? क्या संयम का मार्ग, दीक्षा के द्वार इस समय मेरे लिए बंद हैं ? गुरुदेव ने तो उस दिन अपने प्रवचन में कहा था कि धर्म की साधना उम्र के किसी भी भाग में की जा सकती है। अतिमुक्त कुमार, गजसुकुमाल आदि के शास्त्रोक्त उदाहरण भी तो दिए थे, उन्होंने बाल-वय में दीक्षित होने के।

---

1. "साल सितंतर में सती हुलासजी पास।
भीखी बाई दीख ली रीयां पीपार पास॥"
नय के मोती, परिशिष्ट पृ. ३८

(पुत्र के मन की उत्कृष्ट भावना को अपने सामने जीवंत देखकर, कानों से मनोहारी शब्दों में उसे सुनकर माता के हृदय की कलि-कलि खिल गई। वे गद्‌गद् हो उठीं। इस पर भी धैर्य-पूर्वक उन्होंने उसे समझाया)—

माता—लाल ! तुम्हारे इन वचनों को सुनकर मेरे हृदय में प्रसन्नता का जो एक सागर-सा लहराया है, उसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता पर बेटे ! शास्त्रीय विधिविधान के अनुसार तुम्हें दीक्षित होने से पहले साधक-जीवन की आवश्यक जानकारी होनी चाहिये, कुछ आगमिक ज्ञान होना चाहिए, प्रतिक्रमण आदि कुछ आवश्यक सूत्र-स्तोक भी कण्ठस्थ होने चाहिए। अतः अच्छा यही है कि पहले तुम ज्ञान ग्रहण करो और फिर चारित्र अंगीकार करो।

पहले ज्ञान फिर चारित्र, इस तथ्य को उस मेधावी बालक की मेधा-शक्ति ने पहचाना और तभी उसने अपने द्वय कर-कमलों को सम्पुटित कर माता से कहा—जैसी आपकी आज्ञा, मातेश्वरी ! अब यही करूंगा।

पुत्र-समर्पण-पत्र

चरित-नायक की मातु-श्री जब रीयां में दीक्षित होने को थीं तब पुत्र की भावी दीक्षा के सम्बन्ध में उनसे काफी कुछ पूछा गया था। भविष्य में होने वाली उस दीक्षा में किसी प्रकार का कोई विघ्न खड़ा न हो, शांति-पूर्वक दीक्षा-कार्य हो सके, इसके लिए समाज व संघ के अग्रगण्य कार्यकर्त्ताओं, नेताओं, अधिकारियों ने काफी सोच-विचार कर यह प्रार्थना की कि एक लिखित बयान यदि संघ के पास हो तो अत्युत्तम रहे। बात उचित ही थी। आपकी मातेश्वरी ने उसी समय एक लिखित बयान दिया जिसमें अपने प्रिय पुत्र गणेश को जैन भागवती दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर अपने हस्ताक्षर किए और अनेक गणमान्य सज्जनों की साख डलवाई। यह 'पुत्र-समर्पण-पत्र' आज भी 'रीयां श्री संघ' के पास अथवा 'पूज्य जयमल जैन ज्ञान-भण्डार, पीपाड़शहर' में सुरक्षित है।

गुरु-वियोग

गुरु-सेवा का भी अपना एक अनोखा आनन्द है। वे व्यक्ति भाग्यशाली होते हैं, जिन्हें सदैव या चिर-काल तक गुरु की सेवा में रहने का शुभ-अवसर मिल पाता है। वे व्यक्ति, जो सच्चे हृदय से गुरु-सेवा में तत्पर रहते हैं, उन्हें उस गुरु-सेवा का उत्कृष्ट फल भी निश्चय ही प्राप्त होता है। एक कहावत प्रचलित है—"करोगे सेवा तो मिलेगा मेवा"; गुरु-सेवा का सबसे बड़ा फल है, ज्ञान रूपी मेवे की प्राप्ति। गुरु के बिना ज्ञान कहाँ ? गुरु ही तो गोविन्द, परमात्मा, ईश्वर तक पहुंचने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की राह बताने वाले होते हैं। इस जीवनी के चरितं-नायक ने गुरु-सेवा में रहकर धर्मध्यान, ज्ञान-रमण एवं जप-तप पूर्वक दिन बिताने प्रारम्भ किए। उस समय आपके साथ तीन अन्य वैरागी-बंधु भी स्वामिवर्य की सेवामें थे—श्री चैनमल, श्री धनराज तथा श्री जीवनमल।

पौष वदी पंचमी को आप अपनी मातु-श्री के साथ गुरुवर की सेवामें पधारे थे। बहुत इच्छा थी, जिज्ञासा थी, भावना थी कुछ सेवा करने की, कुछ सीखने की और गुरु-चरणों में रहने की पर विधि का विधान, कर्मो का खेल.......। एक माह भी नहीं बीत पाया था कि माह वद चतुर्थी (संवत् १९७६) की दोपहर, जोधपुर के मंडी-स्थानक में आपके गुरु बिना आपको दीक्षा दिए ही समाधि-संथारा पूर्वक काल-

धर्म को प्राप्त हो गए।[1] उस समय हमारे चरित-नायक ने सोचा था—"वाह रे दैव ! कदम-कदम पर धोखा ! क्या ये सव दुर्घटनाएँ, वियोग, विलगाव मेरे ही कर्म-पत्री में लिखे हैं ?" सम्यक् श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमलजी म.सा. की लेखनी से इनकी व इनके तीनों अन्य साथी वैरागियों की उस समय की भावना इन शब्दों में प्रकट हुई है—

"चैनो, धन्नो ने जीवरण जीत था रे
चार वैरागी तिण काल रे।
वोले म्हाँने तो दीक्षा दियां विना रे
आप पधारो दीन दयाल रे ? ॥"[2]

जगत् में मृत्यु निश्चित है। जाने वाले को भला आज तक कौन रोक पाया है ? यहीं आकर मानव और मानव का विज्ञान हारता है, तब उसे एक अदृश्य-शक्ति का आश्रय स्वीकार करना पड़ता है; जिसे वह चाहे प्रकृति कह दे, चाहे प्रभु कह दे, चाहे कर्म कह दे या फिर कुछ और कह दे।

दीक्षा-पूर्व शिक्षा

ज्ञान और चारित्र, ये दोनों ही साधना के सूत्र हैं। साधक ज्ञान का मार्ग ग्रहण करे या चारित्र का ? क्या चारित्र के विना कोरे ज्ञान के वल पर या ज्ञान के विना केवल चारित्र के वल पर साधना सिद्ध हो सकती है ? शास्त्र वताते हैं कि दोनों ही साधना की सिद्धि के लिए वरावर आवश्यकता रखते हैं। ज्ञान के विना चारित्र अंधा है और चारित्र के विना ज्ञान पंगु। चारित्र यदि शरीर है तो ज्ञान उसकी आत्मा है, धड़कन है, प्राण है। न तो शरीर के विना आत्मा की कल्पना संभाव्य है और न आत्मा के विना शरीर का कोई मूल्य है।

जैन आचार-पद्धति में ज्ञान और चारित्र के सम्मिश्रण को ही 'साधना' के नाम से भाषित किया गया है। अतः यहाँ किसी भी आत्मार्थी वैरागी को तव तक दीक्षा का पात्र नहीं माना जाता जव तक वह एक निर्धारित धार्मिक ज्ञान अर्जित नहीं कर लेता और साधु के लिए आचरणोपयोगी क्रियाओं की निश्चित संहिता को पूरी तरह समझ नहीं लेता। देखा तो यह भी जाता है कि वैरागी या दीक्षार्थी अपने अर्जित ज्ञान को किस अंश तक जीवन में ढालता है, ग्राह्य को धारण करता है, आचरणीय को आचरण में उतारता है। गुरु की परीक्षक-दृष्टि भावी शिष्य की योग्यता को, उसके खानपान, रहन-सहन, वोल-चाल एवं जीवन के अन्यान्य व्यवहारों में, कसौटी पर कसती रहती है।

गुरु-वियोग के वाद, भावी संयम-जीवन को प्रशस्त वनाने वाला, वैरागी श्री गणेशमल का वैराग्य-काल तत्कालीन आचार्य-प्रवर पूज्य श्री कानमलजी म.सा., स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. एवं स्वामी श्री चांदमलजी म.सा. आदि संतों के संरक्षण/सान्निध्य में व्यतीत होने लगा। साधु-संहिता या साध्वाचार के प्रथम चरण में सम्मिलित तथ्यों की जानकारी के लिए "दीक्षा-पूर्व शिक्षा" का श्री गणेश अव आपने स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. के चरणों में वैठकर किया। शिक्षण या अभ्यास का

१. नथ के मोती-परिशिष्ट 'नाथ-गुण-माला' पृष्ठ ३६
२. नथ के मोती-परिशिष्ट 'नाथ-गुणमाला" पृष्ठ ३७

यह क्रम निरन्तर दो वर्षो तक चला। इन दो वर्षों में आपने स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म. सा. के अतिरिक्त स्वामी श्री चांदमलजी म. सा. के पास भी लगन-पूर्वक वहुत कुछ सीखा। दोनों ही परम-उपकारी गुरुदेवों ने भी आपकी जिज्ञासा एवं अध्यवसाय को देखते हुए पूरी अनुकम्पा से आपको ज्ञानाभ्यास कराया।

अपने वैराग्य-काल में आपने सामायिक सूत्र, प्रतिक्रमण-सूत्र पच्चीस वोल का स्तोक, कर्मप्रकृति-स्तोक, नवतत्त्व, देव-द्वार, पांच समिति-तीन गुप्ति का स्तोक, वीरत्थुई, भक्तामर-स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र आदि का तो अध्ययन कर इन्हें कण्ठस्थ किया ही, साथ ही श्री दशवैकालिक सूत्र एवं श्री उत्तरा-ध्ययन सूत्र का भी पारायण कर डाला। वुद्धि आपकी तीव्र थी, स्मरण-शक्ति आपकी असाधारण थी और यही कारण था कि आपने उसी लघुवय में वीतराग-भाषा प्राकृत, देव-भापा संस्कृत एवं हमारी अपनी भाषा हिन्दी के व्याकरणों का प्रारम्भिक ज्ञान भी अत्यल्प अवधि में प्राप्त कर लिया था।

दीक्षा की अनुमति

आप में अनोखी प्रतिभा थी, वौद्धिक-कौशल था, चिंतन-चातुर्य था और कुछ ऐसे जन्मजात संस्कार भी थे कि किसी भी ग्रंथ को पढ़ने, सूत्र-पाठ कण्ठस्थ करने या उसके आंतरिक तत्त्व को/गूढ़ार्थ को समझने में आपको किञ्चित् मात्र भी कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। स्वामीजी-द्वय भी चकित थे कि इतनी अल्प अवधि में इतना ज्ञान और इस छोटी उम्र में ऐसी वुद्धि ! अव स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. को विश्वास हो गया कि यह प्रखरमति, प्रतिभावान् एवं भाग्यशाली वालक निश्चय ही संघ के भविष्य को समुज्ज्वल बनाएगा, जिन-शासन की उत्कृष्ट सेवा करेगा और 'स्व' तथा 'पर' कल्याणक वनेगा। वे अतीव प्रसन्न थे ऐसा सुयोग्य शिष्य पाकर। सव तरह से योग्य जानकर स्वामीजी ने अनेकानेक समाज के अग्रगण्य श्रावकों के आग्रह को स्वीकारते हुए आपकी दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी।

दीक्षा-स्थल एवं दीक्षा-तिथि

वैरागी श्री गणेशमल अत्यंत प्रसन्न हुए; आप दो वर्ष पूर्व परीक्षार्थी की हैसियत से वैरागी वने थे, परीक्षक गुरुवर ने उन्हें सफल घोषित किया था। आपके मन-मन्दिर के देव, आराध्य गुरु स्वामी श्री नथमलजी महाराज का देवलोक हुए दो वर्ष का समय व्यतीत हो चुका था। उस समय से अव तक की आपकी संपूर्ण शिक्षा का दायित्व स्वामिवर्य श्री चौथमलजी महाराज का ही था, उन्हीं की देखरेख में आपने शिक्षण प्राप्त किया था। अन्यान्य विद्वान् मुनिराजों ने भी आपके शिक्षण में सहयोग दिया था। अव स्वामीजी ही आपके गुरु थे, गुरु के रिक्त-स्थान की पूर्ति करने वाले गुरु। दीक्षा दिलाने का, दीक्षा के विधि-विधान को आयोजित व सम्पूरित करने का समस्त उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर था। विभिन्न ग्रामों, कस्वों एवं शहरों के श्रावक-संघ इस दीक्षा के महोत्सव को अपने-अपने क्षेत्र में आयोजित करवाने के लिए लालयित थे। विनतियों पर विनतियां आ रही थीं। जोधपुर, खांगटा, नागौर, कुचेरा, व्यावर, महामन्दिर एवं पीपाड़ आदि अनेक क्षेत्रों के संघीय प्रतिनिधि-मण्डल कई वार निवेदन कर चुके थे। विचार-विमर्श के वाद दीक्षा-महोत्सव-आयोजन हेतु

जिस सौभाग्यशाली क्षेत्र को चुना गया, वह था--"पीपाड़शहर"। दीक्षा-आयोजन की तिथि रखी गई--मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की दशमी (द्वितीय नवमी) सम्वत् १९७८ तदनुसार दिनांक ८-१२-१९२१। दीक्षा-स्थल तथा दीक्षा-तिथि की विधिवत् घोषणा कर दी गई, विभिन्न क्षेत्रों के श्रावक-संघों को सूचित कर दिया गया एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से सूचना जनसाधारण तक पहुंचाने के प्रयास भी किए गए।

दीक्षा-स्थल : पीपाड़शहर

राजस्थान की धरा महान् है, निराली आन व अनोखी शान के लिए प्रसिद्ध है और यहां का त्याग वलिदान जग-विख्यात है। संत-महात्माओं एवं शूर-वीर योद्धाओं की जननी होने का सौभाग्य भी इसे प्राप्त है। इसी गौरव-पूर्ण धरा का एक जिला है 'जोधपुर'। पीपाड़शहर, इसी जोधपुर जिले का एक हरा-भरा, आवाद कस्वा है। जोवपुर से विलाड़ा तक जाने वाली लघु-रेल-लाईन का एक रेलवे-स्टेशन है यह पीपाड़शहर। मारवाड़ (जोधपुर) राज्य के इतिहास में इस शहर का अपनी दानवीरता के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। राजा-महाराजाओं के समय मारवाड़ के 'ढ़ाई घरों'[1] में एक घर सेठों की रीयां (पीपाड़) का, एक घर विलाड़ा के दीवान का और आधा घर जोधपुर-महाराजा का गिना जाता था। 'सेठों की रीयां' पीपाड़शहर का ही एक गाँव है। व्यवसाय की दृष्टि से यह एक उन्नत क्षेत्र है तो राजनैतिक दृष्टि से भी इसका अपना पर्याप्त महत्व है। यहाँ सभी सम्प्रदाय एवं धर्म के लोग निवास करते हैं पर जैनधर्मानुयायियों का इस क्षेत्र में वर्चस्व आज भी है और तव भी था।

दीक्षा-महोत्सव-व्यय

स्व. श्रीमती मिश्रीवाई मुणोत इसी पीपाड़शहर की एक उदारमना, सहृदया सुश्राविका थीं। आपका चित्त सदा जिनभक्ति में लवलीन रहता था। 'संत-समागम, हरिकथा' दोनों में आपका जीवन रमणशील था। जिनानुयायी जैन मुनिराजों के लिए आपके हृदय में अगाध-श्रद्धा थी, पूज्यभाव था एवं उनके दर्शन की चाह आपको सदा वनी रहती थी। आपने जव से सुना कि 'लूणसरा के एक होनहार बालक, जो इस समय वैराग्यावस्था में गुरुदेव स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. की सेवामें है, की दीक्षा के लिए इस पुण्यभूमि पीपाड़ का चयन हुआ है, तव से आपका हृदय प्रसन्नता एवं प्रमोद से हर्षित/प्रमुदित था। उस दीक्षार्थी की दीक्षा पर और इस दीक्षास्थली पीपाड़ की पुण्यवानी पर चिंतन करते-करते आप यदा-तदा वड़ी भावुक वन जाती और सोचने लगतीं—"मैं तो दीक्षा ले नहीं सकती, हीनपुण्या हूँ। मेरी भाव-भूमि ही अनुत्पादक, अनूर्वरा है। संयम के मार्ग पर चलने योग्य कर्म शायद मैंने किए ही नहीं पर मैं कुछ तो कर सकती हूँ। धर्म-दलाली का एवं धर्म-प्रभावना का लाभ तो ले ही सकती हूँ। मेरे पास इतनी सम्पत्ति, इतना धन है; आखिर इसका सही उपयोग क्या है? दीक्षा जैसे महोत्सव और स्वधर्मी वन्धुओं के आतिथ्य में इसे खर्च कर देना ही क्या इसका सदुपयोग नहीं होगा?"

विचारों का सिलसिला चलता रहा, धन से अति सम्मोहित मन धर्म के प्रति अनुरक्त मन से तर्क-वितर्क करता रहा, सञ्चय-वृत्ति एवं त्याग-वृत्ति में द्वन्द्व होता रहा। परिणाम शुभ ही रहा। सद्विचारों ने प्रतिरोधी विचारों पर विजय प्राप्त की। एक निश्चय था अव आपके हृदय में। एक दिन

१. एक समय था, मारवाड़ राज्य 'ढ़ाई घर का झूंपड़ा' नाम से प्रसिद्ध था।

वह निश्चय सबके सामने उद्घाटित भी हो गया। सब ने सुना कि इस दीक्षा-महोत्सव का समस्त व्यय-भार सुश्राविका श्रीमती मिश्रीबाई मुणोत ने वहन करने की अनुमति चाही है। संघ भला अनुमति क्यों न देता ! उस दानशीला महिला का अनेकशः धन्यवाद करते हुए दीक्षोत्सव के आयोजन में होने वाले समस्त व्यय के लिए श्री संघ ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी।

नीति-पूर्वक धनार्जन, समभाव से धन-सञ्चय और प्रमोदभाव से सत्कार्यो में धन का समुचित उपयोग—ये तीनों बातें बहुत ही मुश्किल हैं। नीतिकार तो यहाँ तक कहते हैं कि धनार्जन या धन-सञ्चय उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना महत्वपूर्ण संचित धन का सदुपयोग है। वे महान् हैं, अति विशाल-हृदय हैं और धन्यवाद के पात्र हैं जो दीक्षा जैसे अति शुभ-आयोजन में रुचिपूर्वक अपने अर्जित/संचित धन का खुलकर उपयोग करते हैं। निश्चय ही पीपाड़ की श्रीयुत मिश्रीबाई मुणोत ने अपने इस पुनीत कार्य के सम्पादन से समाज में यश-नाम और कीर्ति को प्राप्त किया था। आज भी उनका नाम पीपाड़ के श्रावक-श्राविकाओं के हृदय-पटल पर अंकित है।

दीक्षा की पूर्व तैयारियां

दीक्षा-स्थल और दीक्षा की घोषणा हो चुकी थी। दीक्षा-आयोजन के लिए होने वाले समस्त व्यय हेतु पीपाड़ की ही सन्नारी श्रीमती मिश्रीबाई मुणोत सहर्ष तत्पर थीं। पीपाड़शहर के निवासी अब दीक्षा के भव्य-आयोजन की तैयारियों में जुट गये। स्थानक-भवनों को चमकाया गया, आगन्तुक अतिथियों के लिए आवास की उचित व्यवस्था की गई, शहर से बाहर भव्य दीक्षा-मण्डप सजाने की योजना बनी। बाहर से आने वाले श्रद्धालु-भक्तों, नर एवं नारियों, बच्चों, बूढ़ों एवं युवकों—सभी के स्वागतार्थ बड़े पैमाने पर भोजनादि की व्यवस्था की गई। पूरे कस्बे को नई-नवेली दुलहन की तरह सजाने का कार्य प्रारम्भ हो गया। शहर के सारे सार्वजनिक स्थलों को स्वच्छ एवं सुन्दर रूप देकर उन्हें दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र बनाया गया। मुख्य बाजार को तो इतनी भव्यता से सजाया/संवारा गया कि दर्शक वाह, वाह कर उठें। जगह-जगह स्वागत-द्वार बनाये गए, वन्दनवारें सजाई गई, तोरण बाँधे गए। नगर के सभी मुख्य-मार्गो पर दुधिया-रोशनी की व्यापक व्यवस्था की गई। जल-वितरण की व्यवस्था को दीक्षा-अवधि तक के लिए इतना सुचारु बनाये रखने की तैयारी थी कि जिससे कहीं पानी का अभाव लक्षित न हो। सुरक्षा के व्यापक प्रबन्ध किये गए। स्थान-स्थान पर पूछताछ-केन्द्र एवं शीतल-जल उपलब्ध कराने की व्यवस्थाएं की गई। प्रतिदिन के वन्दोलों, दीक्षा की पूर्व सन्ध्या पर निकलने वाली वन्दोली तथा दीक्षा के दिन आयोजित शोभायात्रा के लिए भी विशेष रूप से प्रबंध किए गए, जिससे सब कुछ अद्वितीय, असाधारण बन सके और वर्षों तक इस समारोह की स्मृति दर्शकों के स्मृति-पटल पर चलचित्र की तरह घूमती रहे।

दीक्षा का पूर्व विधान

संवत् १९७८ का चातुर्मास-काल पूर्णाहुति पर था। दीक्षा-तिथि लगभग बीस दिन दूर थी विधि-विधान के अनुसार दीक्षा-तिथि से अधिकतम एक माह पूर्व एवं न्यूनतम एक सप्ताह पूर्व दीक्षार्थी को 'पाट' बैठाना चाहिए था, बाने डालना चाहिए था। उस समय दीक्षार्थी श्री गणेशमल स्वामी श्री

चाँदमलजी म.सा. के पास ज्ञानाराधन में मगन थे। स्वामीजी का चातुर्मास था 'सेठों की रीयां'। पीपाड़ के पास ही है यह गाँव। संघ के कई अग्रगण्य श्रावक गए स्वामिवर्य की सेवामें और विनीत निवेदन किया वैरागी-वंधु को पीपाड़-प्रस्थान की आज्ञा के लिए। आज्ञा मिल गई। दीक्षार्थी श्री गणेश अब पीपाड़ पहुंच गए। उन्हें शुभ-मुहूर्त दिखला कर एक दिन बाने बिठा दिया गया।

दीक्षा एवं विवाह : भिन्नता एवं समानता

बाने बिठाना, गीत गाना, वंदोले जीमना, बंदोली निकालना आदि शब्दों से सहज ही 'विवाह' की स्मृति हो आती है। विवाह के उत्सव में ये सभी कार्यक्रम होते हैं। बड़ी समानताएँ हैं, विवाह एवं दीक्षा के कार्यक्रमों में जबकि इन दोनों कार्यों में बड़ी असमानता है, रात-दिन का अंतर है। दीक्षा इस संसार से निवृत्ति का मार्ग है जबकि विवाह संसार में प्रवृत्त होने का सूचक है। दीक्षा का उद्देश्य आत्म-विकास द्वारा आत्मा के 'स्व' स्वरूप को प्राप्त करना है जबकि विवाह का उद्देश्य है—'स्व' को भूल 'पर' में झूलना, सांसारिक और भौतिक पदार्थों के विकास को गति देना। दीक्षा का मार्ग जन्म-जरा-मरण से मुक्त कराने वाला, मुक्ति दिलाने वाला है जबकि विवाह में बद्ध होकर मानव जन्म-जरा, व्याधि एवं मरण की ओर उन्मुख होता है; विवाह जन्मादि व्याधियों को बढ़ाने वाला है। दीक्षा से कर्मों की निर्जरा होती है, कर्म-बंधन से छुटकारा मिलता है लेकिन विवाह कर्म-बंधन का मूल कारण और दुःखों का स्रोत है। दीक्षा से व्यक्ति स्वयं तिरता है और दीक्षित होकर दूसरों को भी तारता है, इधर विवाह करके व्यक्ति स्वयं संसार-समुद्र में डूबता है और अपने साथ अन्य संबंधियों को भी डुबोने के कर्म करता है। दाम्पत्य-सूत्रों में बांधकर रखने वाले विवाह-समारोहों से, ममत्व-सूत्रों को जड़-मूल से काटकर फेंकने वाले दीक्षा-समारोहों का महत्व बढ़कर है, श्रेयस्कर है, श्रेष्ठतर है। यही कारण है कि घर-परिवार, ग्राम व संसार के बंधनों का त्याग करने वाले दीक्षार्थी का दीक्षा-समारोह, विवाहादि समारोहों से भी अत्यधिक उत्साह, लगन एवं उमंग से आयोजित किया जाता है। दूल्हा यदि वर है तो दीक्षार्थी वर-श्रेष्ठ है, उससे कम नहीं। दूल्हा यदि बींद-राजा है तो दीक्षार्थी भी बींद-महाराजा है। आपने दूल्हे बहुत देखे होंगे, किसी दीक्षार्थी को भी देखिए फिर उन दोनों की तुलना करिए। दीक्षार्थी को नित-नवीन, भव्य एवं बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से ऐसा सजाया जाता है कि राजाओं और राजकुमारों की सजावट तो उसके आगे पानी भरती है। विवाह कुछ घरों का मेला है; दीक्षा सम्पूर्ण गाँव का, पूरे समाज का मेला है। हाथी, घोड़े, बैण्ड-बाजे, नगाड़े-निशान, शहनाइयाँ.......... क्या-क्या नहीं होता इन दीक्षा-समारोहों में/श्रद्धालु आबाल-वृद्ध नर-नारी, चाहे वे जैन हों या अजैन —अपने घर में उपलब्ध श्रेष्ठ परिधानों से अपने आपको सुसज्जित करते हैं, आभूषणों से अलंकृत करते हैं, अपना बनाव-श्रृंगार करते हैं तथा दीक्षा-महोत्सव में दुगुने-चौगुने उत्साह-उमंग से गाते-नाचते भाग लेते हैं।

दीक्षा-समारोह का औचित्य

एक प्रश्न खड़ा होता है यहां कि क्या संसार को त्याग रहे विरक्त पुरुष-स्त्री के लिए समाज का इस प्रकार से आडम्बर करना, समारोह आयोजित करना एवं गीत-संगीत आदि के कार्यक्रम रखना उचित है?

प्रश्न का उत्तर इन समारोहों के पक्ष में भी दिया जाता रहा है और विपक्ष में भी। अति व्यय एवं अति आडम्बर का विरोध प्रकट करते हुए अनेक आलोचक कटु-शब्दों में ऐसे समारोहों की निन्दा करते हैं। अवसर की महानता एवं प्राचीन परम्पराओं के उदाहरण देकर अनेक प्रबुद्ध-जन इन समारोहों को आवश्यक बताते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समारोह मनाने के पक्ष में तो हैं पर उनका कहना है कि "ऐसे समारोह बहुत ही सादगी से हों उनके आयोजन में मितव्ययता बरती जाए।"

विवाह में कितना आडम्बर, कितना अपव्यय, कितना आयोजन होता है? क्या इसके पीछे कोई उद्देश्य है? मुझे बताया गया है कि विवाह दो दिलों के सम्पर्क की ही बात नहीं है, वह एक सामाजिक परम्परा है, लौकिक रीति-रिवाज है। यह आडम्बर और अपव्यय एक साक्षी है, सबूत है, गवाह है। समाज वहां इकट्ठा होता है, उसके समक्ष समस्त विवाह-विधि की क्रियाएं होती हैं, इसका अर्थ है उपस्थित जनसमुदाय की साक्षी में यह सब हो रहा है। कभी कोई कदाचित् ऐसा न करे तो कई प्रश्न उठ खड़े हो सकते हैं; चुपचाप विवाह क्यों हुआ? किसी को बुलाया क्यों नहीं? क्या, दाल में कुछ काला है?

ठीक इसी प्रकार दीक्षा-विधि-विधान के आयोजन के लिए भी एक उचित दलील है। बहुत ही सादगी से, बिना समारोह के, बिना बाहर के लोगों की उपस्थिति के, बिना दीक्षा-निमन्त्रण-पत्रिका के यदि दीक्षा-समारोह हो तो ऐसे ही अनेक प्रश्न यहां भी उठ खड़े हो सकते हैं। दीक्षा के बाद भी दर्शनार्थी शायद ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं, उन्हें बार-बार उत्तर देकर संतुष्ट किया जाना भी अनिवार्य-सा बन सकता है। यही कारण है कि विशाल-समारोह एवं निकटवर्ती अनेक श्री संघों की उपस्थिति में दीक्षा दी जाती है।

समारोह-आयोजन के पक्ष-विपक्ष की बहस को यहीं छोड़िए, अब चले आइए वहाँ जहाँ दीक्षा-उत्सव का आयोजन किया जाना है। जिस नगर में इस समारोह का आयोजन होना है, वहाँ के संघीय प्रतिनिधि-कार्यकर्त्ता, वहाँ की जैन जनता और श्रद्धालु-श्रावक-श्राविकाओं के लिए ऐसे समारोहों का महत्व किसी भी बड़े से बड़े लौकिक त्यौहार, राष्ट्रीय उत्सव या सामाजिक समारोहों से कम नहीं होता। वे जिस तरह भी अपनी हृदय की प्रसन्नता को व्यक्त कर सकते हैं, करते हैं। जो जैनी नहीं हैं, उनके समक्ष ये समारोह दीक्षार्थी के संयम-पथ पर बढ़ने के सूचक और उस संयम-पथ के महत्व को प्रकट करने के साधन होते हैं। समारोह के सभी कार्यक्रम जीव को संसार की तरफ आकर्षित करने वाले, प्रलोभनों में फंसाने वाले, आसक्ति की ओर ले जाने वाले और मोह-माया के प्रति रिझाने वाले होते हैं अतः दीक्षार्थी/विरक्त जीव के लिए ये समारोह परीक्षा की वे घड़ियाँ हैं, जिनमें से गुजर कर उसे उत्तीर्ण होना पड़ता है। काजल की कोठरी में से उसे बेदाग निकलना पड़ता है, इन सभी आयोजनों में निर्लिप्त रहना पड़ता है तभी उसकी दीक्षा-भूमिका पूर्णतः परिपक्वता प्राप्त करती है।

पीपाड़ : तीर्थधाम बना

ज्यों-ज्यों दीक्षा-तिथि निकट आ रही थी, पीपाड़-निवासियों का उमंग-उत्साह बढ़ता ही जा रहा था। इधर चातुर्मास-काल की पूर्णाहुति हो चुकी थी। षट्काय-जीवों की रक्षार्थ पावस-ऋतु के प्रारम्भ से पावसान्त पर्यन्त जो साधु एक ही स्थान पर रहने के लिए बाध्य थे, उनके विहार-द्वार अब प्रकृति ने खोल दिए थे। जगह-जगह संतों की विहार-दिशा एवं क्षेत्र-स्पर्शन की अटकलें लगाई जा रही थीं।

चाँदमलजी म.सा. के पास ज्ञानाराधन में मगन थे। स्वामीजी का चातुर्मास था 'सेठों की रीयां'। पीपाड़ के पास ही है यह गाँव। संघ के कई अग्रगण्य श्रावक गए स्वामिवर्य की सेवामें और विनीत निवेदन किया वैरागी-बंधु को पीपाड़-प्रस्थान की आज्ञा के लिए। आज्ञा मिल गई। दीक्षार्थी श्री गणेश अब पीपाड़ पहुंच गए। उन्हें शुभ-मुहूर्त दिखला कर एक दिन बाने बिठा दिया गया।

दीक्षा एवं विवाह : भिन्नता एवं समानता

बाने बिठाना, गीत गाना, बंदोले जीमना, बंदोली निकालना आदि शब्दों से सहज ही 'विवाह' की स्मृति हो आती है। विवाह के उत्सव में ये सभी कार्यक्रम होते हैं। बड़ी समानताएँ हैं, विवाह एवं दीक्षा के कार्यक्रमों में जबकि इन दोनों कार्यों में बड़ी असमानता है, रात-दिन का अंतर है। दीक्षा इस संसार से निवृत्ति का मार्ग है जबकि विवाह संसार में प्रवृत्त होने का सूचक है। दीक्षा का उद्देश्य आत्म-विकास द्वारा आत्मा के 'स्व' स्वरूप को प्राप्त करना है जबकि विवाह का उद्देश्य है—'स्व' को भूल 'पर' में झूलना, सांसारिक और भौतिक पदार्थों के विकास को गति देना। दीक्षा का मार्ग जन्म-जरा-मरण से मुक्त कराने वाला, मुक्ति दिलाने वाला है जबकि विवाह में बद्ध होकर मानव जन्म-जरा, व्याधि एवं मरण की ओर उन्मुख होता है; विवाह जन्मादि व्याधियों को बढ़ाने वाला है। दीक्षा से कर्मों की निर्जरा होती है, कर्म-बंधन से छुटकारा मिलता है लेकिन विवाह कर्म-बंधन का मूल कारण और दुःखों का स्रोत है। दीक्षा से व्यक्ति स्वयं तिरता है और दीक्षित होकर दूसरों को भी तारता है, इधर विवाह करके व्यक्ति स्वयं संसार-समुद्र में डूबता है और अपने साथ अन्य संबंधियों को भी डुबोने के कर्म करता है। दाम्पत्य-सूत्रों में बांधकर रखने वाले विवाह-समारोहों से, ममत्व-सूत्रों को जड़-मूल से काटकर फेंकने वाले दीक्षा-समारोहों का महत्व बढ़कर है, श्रेयस्कर है, श्रेष्ठतर है। यही कारण है कि घर-परिवार, ग्राम व संसार के बंधनों का त्याग करने वाले दीक्षार्थी का दीक्षा-समारोह, विवाहादि समारोहों से भी अत्यधिक उत्साह, लगन एवं उमंग से आयोजित किया जाता है। दूल्हा यदि वर है तो दीक्षार्थी वर-श्रेष्ठ है, उससे कम नहीं। दूल्हा यदि बींद-राजा है तो दीक्षार्थी भी बींद-महाराजा है। आपने दूल्हे बहुत देखे होंगे, किसी दीक्षार्थी को भी देखिए फिर उन दोनों की तुलना करिए। दीक्षार्थी को नित-नवीन, भव्य एवं बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से ऐसा सजाया जाता है कि राजाओं और राजकुमारों की सजावट तो उसके आगे पानी भरती है। विवाह कुछ घरों का मेला है; दीक्षा सम्पूर्ण गाँव का, पूरे समाज का मेला है। हाथी, घोड़े, बैण्ड-बाजे, नगाड़े-निशान, शहनाइयाँ.......... क्या-क्या नहीं होता इन दीक्षा-समारोहों में/श्रद्धालु आबाल-वृद्ध नर-नारी, चाहे वे जैन हों या अजैन—अपने घर में उपलब्ध श्रेष्ठ परिधानों से अपने आपको सुसज्जित करते हैं, आभूषणों से अलंकृत करते हैं, अपना बनाव-शृंगार करते हैं तथा दीक्षा-महोत्सव में दुगुने-चौगुने उत्साह-उमंग से गाते-नाचते भाग लेते हैं।

दीक्षा-समारोह का औचित्य

एक प्रश्न खड़ा होता है यहां कि क्या संसार को त्याग रहे विरक्त पुरुष-स्त्री के लिए समाज का इस प्रकार से आडम्बर करना, समारोह आयोजित करना एवं गीत-संगीत आदि के कार्यक्रम रखना उचित है?

प्रश्न का उत्तर इन समारोहों के पक्ष में भी दिया जाता रहा है और विपक्ष में भी। अति व्यय एवं अति आडम्बर का विरोध प्रकट करते हुए अनेक आलोचक कटु-शब्दों में ऐसे समारोहों की निन्दा करते हैं। अवसर की महानता एवं प्राचीन परम्पराओं के उदाहरण देकर अनेक प्रबुद्ध-जन इन समारोहों को आवश्यक बताते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समारोह मनाने के पक्ष में तो हैं पर उनका कहना है कि "ऐसे समारोह बहुत ही सादगी से हों उनके आयोजन में मितव्ययता बरती जाए।"

विवाह में कितना आडम्बर, कितना अपव्यय, कितना आयोजन होता है? क्या इसके पीछे कोई उद्देश्य है? मुझे बताया गया है कि विवाह दो दिलों के सम्पर्क की ही बात नहीं है, वह एक सामाजिक परम्परा है, लौकिक रीति-रिवाज है। यह आडम्बर और अपव्यय एक साक्षी है, सबूत है, गवाह है। समाज वहां इकट्ठा होता है, उसके समक्ष समस्त विवाह-विधि की क्रियाएं होती हैं, इसका अर्थ है उपस्थित जनसमुदाय की साक्षी में यह सब हो रहा है। कभी कोई कदाचित् ऐसा न करे तो कई प्रश्न उठ खड़े हो सकते हैं; चुपचाप विवाह क्यों हुआ? किसी को बुलाया क्यों नहीं? क्या, दाल में कुछ काला है?

ठीक इसी प्रकार दीक्षा-विधि-विधान के आयोजन के लिए भी एक उचित दलील है। बहुत ही सादगी से, बिना समारोह के, बिना बाहर के लोगों की उपस्थिति के, बिना दीक्षा-निमन्त्रण-पत्रिका के यदि दीक्षा-समारोह हो तो ऐसे ही अनेक प्रश्न यहां भी उठ खड़े हो सकते है। दीक्षा के बाद भी दर्शनार्थी शायद ऐसे प्रश्न पूछ सकते हैं, उन्हें बार-बार उत्तर देकर संतुष्ट किया जाना भी अनिवार्य-सा बन सकता है। यही कारण है कि विशाल-समारोह एवं निकटवर्ती अनेक श्री संघों की उपस्थिति में दीक्षा दी जाती है।

समारोह-आयोजन के पक्ष-विपक्ष की बहस को यहीं छोड़िए, अब चले आइए वहाँ जहाँ दीक्षा-उत्सव का आयोजन किया जाना है। जिस नगर में इस समारोह का आयोजन होना है, वहाँ के संघीय प्रतिनिधि-कार्यकर्त्ता, वहाँ की जैन जनता और श्रद्धालु-श्रावक-श्राविकाओं के लिए ऐसे समारोहों का महत्व किसी भी बड़े से बड़े लौकिक त्यौहार, राष्ट्रीय उत्सव या सामाजिक समारोहों से कम नहीं होता। वे जिस तरह भी अपनी हृदय की प्रसन्नता को व्यक्त कर सकते हैं, करते हैं। जो जैनी नहीं हैं, उनके समक्ष ये समारोह दीक्षार्थी के संयम-पथ पर बढ़ने के सूचक और उस संयम-पथ के महत्व को प्रकट करने के साधन होते हैं। समारोह के सभी कार्यक्रम जीव को संसार की तरफ आकर्षित करने वाले, प्रलोभनों में फंसाने वाले, आसक्ति की ओर ले जाने वाले और मोह-माया के प्रति रिझाने वाले होते हैं अतः दीक्षार्थी/विरक्त जीव के लिए ये समारोह परीक्षा की वे घड़ियाँ हैं, जिनमें से गुजर कर उसे उत्तीर्ण होना पड़ता है। काजल की कोठरी में से उसे बेदाग निकलना पड़ता है, इन सभी आयोजनों में निर्लिप्त रहना पड़ता है तभी उसकी दीक्षा-भूमिका पूर्णतः परिपक्वता प्राप्त करती है।

पीपाड़ : तीर्थधाम बना

ज्यों-ज्यों दीक्षा-तिथि निकट आ रही थी, पीपाड़-निवासियों का उमंग-उत्साह बढ़ता ही जा रहा था। इधर चातुर्मास-काल की पूर्णाहुति हो चुकी थी। षट्काय-जीवों की रक्षार्थ पावस-ऋतु के प्रारम्भ से पावसान्त पर्यन्त जो साधु एक ही स्थान पर रहने के लिए बाध्य थे, उनके विहार-द्वार अब प्रकृति ने खोल दिए थे। जगह-जगह संतों की विहार-दिशा एवं क्षेत्र-स्पर्शन की अटकलें लगाई जा रही थीं।

कुचेरा से आचार्य-प्रवर पूज्य श्री कानमल जी म.सा. (जय-संप्रदाय के अष्टम पट्टधर), स्वामिवर्य श्री चौथमल जी म.सा., श्री धनराज जी म.सा., श्री मूलचन्द जी म.सा. एवं श्री रामलाल जी म.सा. तथा 'सेठों की रीयां' से स्वामी श्री चाँदमलजी म.सा., श्री गंभीरमलजी म.सा. व श्री चैनमलजी म.सा. का विहार पीपाड़ की दिशा में हो चुका था, जहाँ एक भव्य-आत्मा किसी वियोगिनी की तरह उनकी प्रतीक्षा में एक-एक घड़ी, एक-एक पल गिने जा रहा था और गुरु-दर्शनों को आतुर था। पीपाड़ शहर की इस समय की तमाम धूमधाम का नायक वही आत्मा था, पर निर्लिप्त जैसे जल में कमल हो। उसे नित्य दूल्हे की तरह सजाया जाता था क्योंकि उसे अपनी अभीष्ट दुल्हन 'मुक्ति' का वरण करना था। नित्य अनेक भाग्यवान्, पुण्यवान् एवं श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं के घर उसे वंदोले जीमने जाना पड़ता था और वहाँ जाकर भी वह सीखता था षट्रस-व्यंजनों का रसहीन-भाव से आस्वादन करना। बैंड-बाजे, तोरण, झंडियां, नगाड़े, शहनाइयां और स्वयं उसके भड़कीले वस्त्राभूषण; ये सभी उसके लिए कौतुक से बढ़कर कुछ भी महत्व नहीं रखते थे। उसका तो ध्यान एकमात्र गुरुदेवों के दर्शनों में था, उन्हीं की प्रतीक्षा उसकी साधना थी। इसके अतिरिक्त उसे जागते हुए चलते-उठते-बैठते बस मुंहपत्ति, रजोहरण और श्वेतवस्त्र ही चारों ओर नजर आते थे। जब सो जाता तो स्वप्न में भी स्वयं खुद ही को देखता पर देखता स्वयं को साधुवेश में सजा-धजा। दिन हवा बनकर उड़े जा रहे थे। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को स्वामी श्री चाँदमलजी म.सा. ठाणा तीन से तथा चतुर्थी को आचार्य श्री कानमलजी म.सा. ठाणा पाँच से पीपाड़ पधार गए। पीपाड़ तीर्थधाम बन गया। श्रद्धालु-भक्त भी दर्शन के लिए एवं दीक्षा-आयोजन में सम्मिलित होने के लिए आने लगे।

बंदोली : दीक्षा की पूर्व सन्ध्या

दीक्षा के लिए अब केवल एक रात्रि का विलम्ब था। दीक्षार्थी और दीक्षित के मध्य एक रात्रि की दीवार, एक रात्रि का समय अवशिष्ट था। दीक्षा की इस पूर्व सन्ध्या पर स्थानीय संघ की ओर से दीक्षार्थी की विशाल वन्दोली निकालने का आयोजन था और वन्दोली के बाद होना था, दीक्षार्थी का अभिनन्दन-समारोह। यहाँ यह बताना प्रसंगोचित होगा कि दीक्षा-पूर्व की सन्ध्या को छोड़कर शेष जितने भी दिन (बाने बैठने से लेकर दीक्षा की पूर्व सन्ध्या तक) 'वन्दोले' होते हैं, वे सभी व्यक्तिगत होते हैं। जो व्यक्ति, जो घर, जो परिवार वन्दोला देता है उसे ही वंदोला ले जाने, वन्दोला पुनः पहुंचाने एवं वन्दोले के भोजन (जीमण) का सारा प्रबन्ध करना पड़ता है, वही उस दिन का समस्त व्यय वहन करता है। दीक्षा की पूर्व सन्ध्या से दीक्षित होने तक के समस्त कार्यक्रम—वंदोली, बृहत्थाल, अभिनंदन, शोभायात्रा आदि स्थानीय संघ द्वारा आयोजित होते हैं। इन समारोहों के आयोजन की व्यवस्था समाज को, संघ को या दीक्षा-समारोह-समिति को मिलजुल कर करनी होती है। 'वंदोले' में नायक (दीक्षार्थी) अपने लिए प्रस्तावित रहवासीय स्थल से उस व्यक्ति के घर तक जाता है, जिसके यहाँ उस दिन के वंदोले की व्यवस्था है पर 'वंदोली' में उसे पूरे शहर के मुख्य-मुख्य मार्गों से विशेष साज-सज्जा के साथ धार्मिक गीत एवं भजनों से गुन्जरित वातावरण में तथा जय-जयकारों की तुमुल-ध्वनि के बीच घूमना होता है। स्त्रियां मंगल-कलश धारण किए सुमधुर ध्वनि में मंगल-गीत गाती हैं। दीक्षार्थी राजसी ठाट के साथ अश्वारूढ़ होता है। जगह-जगह पर इस वन्दोली को रोककर दीक्षार्थी का भव्य-स्वागत किया जाता है।

वैरागी गणेशमल की वन्दोली शहर की गलियों, मुख्यमार्गों, चतुष्पथों पर धूम मचाती हुई 'अभिनन्दन सभा' में परिणित हो गई; जहाँ दीक्षार्थी का भावभीना अभिनंदन किया गया, प्रशस्तियां गाई गई और भावी उत्कृष्ट जीवन के लिए मंगल-कामनाएँ की गई ।

जन-सागर उमड़ पड़ा

दीक्षा के एक दिन पूर्व निकाली गई इस वृहत्-वंदोली में और अगले दिन के दीक्षा-कार्यक्रम में भाग लेने के लिए, इनकी शोभा बढ़ाने के लिए तथा संत-महात्माओं एवं स्वयं भव्यात्मा दीक्षार्थी के दर्शनों का लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक निकट एवं दूर के ग्रामों, कस्बों तथा नगरों से श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं का आगमन जारी था । ब्यावर, जोधपुर, नागौर, कुचेरा, पाली, सोजत, गिरी, नानणा, विरांटिया, कुशालपुर, रायपुर, खाँगटा, महामंदिर, विसलपुर आदि अनेक स्थानों से गुरु-दर्शनाभिलाषी धर्मप्रेमी वहाँ आ गए थे । कारों, जीपों और वसों की रेलमपेल मच गई थी । लग रहा था जैसे कोई बहुत बड़ा मेला हो । मेला ही तो था, धर्म का मेला । इस मेले में थी एक बड़ी भीड़, एक बहुत बड़ा सागर उमड़ रहा था वहाँ जन-समूह का । कई व्यवसायियों ने इसे संभावित विक्री का अच्छा अवसर समझकर अस्थायी व्यवसाय-गृह (तम्बू में दूकानें) खोल लिए थे । कुल मिलाकर समारोह ने विशाल मेले का रूप धारण कर लिया था ।

आत्म-चिंतक जाग रहा था

दीक्षा-दिवस अब दूर नहीं था । मात्र एक रात्रि का व्यवधान बीच में था । आगन्तुक दर्शक और स्थानीय रहवासी विश्राम-दायिनी रात्रि के अंक में निद्रा-मग्न थे । आज की श्रान्ति (थकान) को रात्रि में विश्रान्ति द्वारा आने वाले कल के लिए मिटाना आवश्यक था । बिना थकान मिटाए कैसे कार्यशील होंगे और कार्य कितना करना है ? दीक्षा महोत्सव का कार्य, उसकी समस्त व्यवस्थाएँ कोई साधारण बात नहीं है । कल की कार्य-व्यवस्था के लिए रात्रि-विश्राम, निद्रा भी आवश्यक थी । वैरागी भी अपने धर्म के माता-पिता के घर से स्थानक-भवन में आ गए । बहुत श्रान्त थे, निद्रा आनी चाहिए थी परन्तु नहीं आ रही थी । निद्रा आती भी कैसे, उन्हें तो निद्रा का पथ छोड़कर जागरण के पथ की ओर अग्रसर होना था । वे सोच रहे थे—"बहुत सो लिया है मेरा यह आत्मा, अब तक जन्म-जन्मान्तरों से सोता ही तो आ रहा है, कितनी लम्बी-गहरी नींद ले चुका है और उस नींद में कितने ही मायावी सपनों की भूल-भूलैया में फंस चुका है । अब तो मुझे उन सपनों को भूल जाना है, उन्हें जड़ा-मूल से मिटा देना है, सपनों की उलझन को सुलझाना है । मुझे अब यथार्थ में जीना है, वास्तविकता को देखना है । किसी संदेह में, किसी भ्रान्ति में नहीं पड़ते हुए तीर्थंकरों द्वारा अनुमोदित, प्रतिपादित और प्रचारित आध्यात्मिक पथ का राही बनना है । ऐसी मंजिल प्राप्त करनी है मुझे, जहाँ से वापिस लौटने की कोई प्रक्रिया नहीं है और न ही जिसके आगे कोई मंजिल है । जब तक पूर्णरूपेण आवागमन नहीं मिट जाता, जन्म-जरा-मरण के बंधन नहीं टूट जाते, 'स्व' में स्थिति नहीं हो जाती तब तक मुझे जागृत ही रहना है, साधना करनी है, आगे ही आगे बढ़ना है ।"

वैरागी गणेशमल का जीव इसी चिंतन-धारा में डूब रहा था । उसकी समस्त चेतना अपने जागृत रूप में एकरूप हो रही थी, केन्द्रित हो रही थी फिर उसे नींद कैसे आती ? सारा नगर सो रहा था पर वह आत्म-चिंतक जाग रहा था । उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन १४ की २५ वीं गाथा में भगवान् महावीर फरमाते हैं—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ।।

अर्थात् — "जो जो रात्रियां व्यतीत हो गई हैं, वे पुन: लौटकर आने वाली नहीं हैं। जो साधक धर्म की साधना/आराधना में रात्रियां विताते हैं, धर्म-चिंतन में निरत रहकर रात्रि-जागरणा करते हैं, उन्हीं की रात्रियां सफल होती हैं।" गीता में भी एक जगह आया है—

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।"

अर्थात् — "संसार के समस्त प्राणी जिस रात्रि के समय को सोकर खोते हैं, संयमी उसी रात्रि से जागकर वहुत कुछ प्राप्त कर लेते हैं।" संयमी पुरुष के लिए तो जागृत रहना/कदम-कदम पर सावधान रहना ही जीवन है।

वह समय समीप आ रहा था……

वैरागी गणेशमल शीघ्रातिशीघ्र संसार से किनारा करना चाहते थे। रात्रि का व्यवधान भी उन्हें खल रहा था क्योंकि उनके मन में पल-प्रतिपल दीक्षा का भाव पल रहा था। विचारों की दौड़ में रात्रि कब और कैसे बीत गई, उन्हें तनिक भी पता नहीं चला। क्षण पर क्षण बीते जा रहे थे। कुछ ही देर में प्राची दिशा ने अपने बन्द द्वारों को धीमे से खोला और उदीयमान सूर्य ने स्वर्णिम रश्मियों से धरती-तल का मधुर - स्पर्श करते हुए निद्रा-ग्रस्त प्राणियों के चैतन्य रूप दरो-दीवार पर हौले-से दस्तक दी। उस अस्फुट खटाखटाहट ने संसार को जगाया, निद्रा को भगाया, प्राणी मात्र को कर्म में लगाया। हमारे उन वैरागी गणेश के ज्ञान-दिवाकर की किरणें तो निरन्तर ज्योतिर्मय थीं, उन रश्मियों के प्रिय आलोक में वे भला क्यों सोते, वे तो निरन्तर सजग थे। प्राणिमात्र जग रहा था कर्म - लिप्त होने के लिए, हमारे ये वैरागी जागरूक थे कर्म-वन्धन को काटने के लिए। शनैः शनैः उद्दीप्त होते एवं आगे बढ़ते गगन-विहारी सूर्य की किरणों का प्रकाश वढ़ता जा रहा था, फैलता जा रहा था, तेज होता जा रहा था। वैरागी का मन भी ज्ञान की प्रदीप्त किरणों से, संयम के आलोक से आलोकित हो रहा था। सम्पूर्ण पीपाड़ शहर अंगड़ाई लेकर सजग हो गया। चहल-पहल प्रारम्भ हो गई, हल-चल जग गई। ज्यों-ज्यों समय वीत रहा था, दीक्षा की वेला निकट आती जा रही थी। समय की प्रगति वैरागी की मंजिल को गति दे रही थी। वह समय समीप आता जा रहा था, जव वैरागी का मनोरथ फलना था, उन्हें दीक्षार्थी से दीक्षित अवस्था में परिवर्तित होना था।

भव्य शोभा यात्रा

दीक्षा-स्थल तक पहुंचने के लिए वाहर 'वरघोड़े' (शोभायात्रा) की भव्य तैयारियां लगभग पूर्ण हो चुकी थीं। वैरागी गणेशमल को भी असाधारण रूप से अलंकृत कर सजाया गया। हिम-धवल धोती, खीनखाप (एक प्रकार का वहुमूल्य चमकदार कपड़ा) की अचकन, गले में खरे मोतियों की माला, स्वर्ण-निर्मित हार एवं चंदन-हार, कानों में रत्नजटित स्वर्ण-लौंग, सिर पर विश्व-प्रसिद्ध राजस्थानी महीन वंधेज का लाल रंग का चून्दड़ी-साफा, साफे पर स्वर्ण कलंगी, गोटा तार की सैंकड़ों तुरियां। चमकीले धातु-चूर्ण से सजा हुआ गौरवान्वित भाल। गौर वर्ण, स्वस्थ शरीर के वैरागी के उस समय का देवोपम-सौन्दर्य। अहा! कैसे लिखूं इस कलम से उस अद्भुत रूप का वर्णन? जैसे परमात्मा का रूप अगम्य,

घास-फूस एवं पेड़-पौधों रहित एक बड़ा मैदान था। इसी मैदान में तम्बूओं के सहारे एक अस्थायी दीक्षा-मण्डप का निर्माण करवाया गया था। मंडप को रंग-विरंगी झंडियों, जय-जयकार लिखी हुई अनेक वस्त्र-पट्टिकाओं से सजाया गया था। चारों ओर कनातें लगाकर धूप से रक्षा की गई थी। मंडप को रस्से और वल्लियों की सहायता से दो भागों में बांट दिया गया था। एक भाग में पुरुष-वर्ग के बैठने की व्यवस्था थी तो दूसरा हिस्सा स्त्री-वर्ग के लिए सुरक्षित रखा गया था। दोनों भागों के बीच एक-दो फुट चौड़ी पगडंडी मैदान के समानान्तर मंच तक पहुंचने की दृष्टि से बना दी गई थी। मंच के सम्मुख का स्थान सामायिक व्रतधारी श्रावक-श्राविकाओं के लिए आरक्षित था। मंच पर दो विशाल काष्ट-पट्ट रखे थे। इन्हीं काष्ट-पट्टों पर विराजमान थे—वयोवृद्ध **स्वामी श्री दयाचन्दजी म.सा., स्वामी श्री राजमलजी म.सा., स्वामी श्री चौथमलजी म.सा., स्वामी श्री बख्तावरमलजी म.सा., स्वामी श्री चांदमलजी म.सा.** एवं अन्य मुनिगण। इसी मंच पर काष्ट-पट्टों से कुछ दूरी पर महासती श्री हुलासांजी आदि विराजी हुई थी। श्रावक-श्राविकाओं का भी मण्डप में प्रवेश प्रारम्भ हो गया था। समय शनैः शनैः आगे बढ़ रहा था। सभी टकटकी लगाए उस ओर देख रहे थे, जिधर से वैरागी की शोभायात्रा बगीची में प्रविष्ट होने को थी। बैंड-बाजों एवं जय-जयकारों की आवाज मण्डप तक पहुच रही थी। ज्यों-ज्यों जुलूस निकट आ रहा था, हलचल बढ़ रही थी। नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओं के प्रवेश के साथ ही शोर भी काफी बढ़ गया था। बैंड-बाजों की ध्वनि बन्द करवा दी गई थी। सहस्राधिक नर-नारी मंडप में प्रवेश कर वहाँ बिछी दरी-पट्टियों पर आसन ग्रहण कर चुके थे। वैरागी गणेश अश्व से उतर कर मंद-मंद मुस्काता, मंथर-गति से मंडप से होते हुए गुरुदेवों के सन्निकट पहुंचा। विराजमान सभी मुनिराजों एव महासती-वर्ग को यथा-विधि तिक्खुत्तो के पाठ से वंदना की। जन-समूह की ओर मुंह कर अपने दोनों हाथ जोड़ते हुए 'जय-जिनेंद्र' कहकर सबका अभिवादन किया। सभी की नजरें वैरागी बालक-बनड़े के चेहरे पर सुस्थित हो गई। क्यों न होतीं ? उस दिन के समारोह का मुख्य-आकर्षण वही तो था।

वैरागी श्री गणेशमल के अतिरिक्त इस समारोह में एक प्रौढ़-श्राविका भी सभी दर्शकों की निगाहों में बार-बार आ रही थीं। वह सुश्राविका थीं— **श्रीमती मिश्रीबाई मुणोत**। दीक्षार्थी की धर्म-मातेश्वरी पद पर आरूढ़ हो आप मातृत्व का दायित्व निभा रही थीं। दीक्षा-विधान की यह एक सुनिश्चित परम्परा है कि दीक्षार्थी की माता समारोह में उपस्थित रहे और दीक्षार्थी के लिए साज-सज्जा की एवं दीक्षा के लिए आवश्यक सामग्री की यथा-शक्ति व्यवस्था करे।

दीक्षार्थी का निवेदन : दीक्षा की आज्ञा

मण्डप में उस समय अद्भुत शांति छा गई जब वैरागी ने जनाभिवादन के पश्चात् गुरुवर के सम्मुख विनम्र निवेदन किया— "गुरुदेव ! मैं आज से अपने सभी सम्बन्धियों से, जगत् की माया से, भौतिकी पदार्थों से अपने ममत्व-भाव एवं रागात्मक सम्बन्धों को तिलांजलि देकर आपके पवित्र चरण-सरोजों की शरण ग्रहण करना चाहता हूँ, मुनि बनना चाहता हूँ, संयम की आराधना करना चाहता हूँ। आप मुझे इन चरणों की शरण दीजिए, अपनी निश्रा में दीक्षित कीजिए, मुक्तिमार्ग का अनुयायी बनाइए।"

दीक्षार्थी बालक का निवेदन सुनकर गुरुदेव स्वामिवर्य श्री चौथमल जी म. सा. ने उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए फरमाया— "बन्धुओ ! दीक्षार्थी दीक्षा का निवेदन प्रस्तुत कर चुका है।

इसके निवेदन को स्वीकृत करने के पूर्व जिनशासन के नियमानुसार हमें भी दीक्षार्थी के संरक्षकों से आज्ञा प्राप्त करनी अनिवार्य है; अतः दीक्षार्थी-बालक के अभिभावक, जो कोई भी यहां उपस्थित हों, आगे आकर इसकी दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करें, अपनी स्वीकृति दें।

स्वामी जी ने जब वैरागी गणेश के लिए आज्ञा प्राप्त करनी चाही तो सर्वप्रथम रीयां-श्री संघ ने वह लिखित समर्पण-पत्र गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसमें दीक्षार्थी की मातु-श्री ने अपने पुत्र को लिखित रूप में दीक्षा लेने के लिए अपनी आज्ञा दी थी। तदनन्तर गुरुदेव का संकेत पाकर संघपति जी ने वह पत्र मण्डप में उपस्थित नर-नारियों के सम्मुख उच्च-स्वर से पढ़ कर सुना दिया। पत्र सुनने के बाद पीपाड़-श्री संघ ने स्वीकृति दे दी, इस पर भी वहां उपस्थित वैरागी की बहिन एवं बूआ से पूछा गया, धर्म के माता-पिता से पूछा गया। सभी ओर से आश्वस्त हो, संतुष्ट हो स्वामी जी ने दीक्षार्थी के निवेदन को स्वीकार करते हुए मंगल-पाठ सुना दिया।

वेश-परिवर्तन

आपने अब तक दीक्षार्थी को राजसी अलंकरणों से अलंकृत देखा। उसकी चमचमाती, दर्शकों को आकर्षित करती बहुमूल्य वेशभूषा के ये अन्तिम क्षण थे। गुरुमुख से मंगल-पाठ सुनने के बाद उसे भोग का त्याग करना था और त्याग को भोगना था। सांसारिक पहचान के समस्त चिन्हों को, अलंकरणों को, परिधानों को छोड़ना था और संयमी की पहचान कराने वाले लोक-पूजनीय अलंकरणों (श्वेत वस्त्रों) को धारण करना था। इतने विशाल समारोह, आयोजन एवं सांसारिक वैभव को बड़ी ऊंची सीमा तक भोग लेने पर भी हमारे इस दीक्षार्थी का मन 'जल में कमलवत्' त्याग से जुड़ा हुआ था, संसार से सर्वथा निर्लिप्त था।

दीक्षार्थी गणेश, दीक्षा-मण्डप से निकल दीक्षा-मण्डप के निकट ही उस कक्ष (कमरे) की ओर चल दिया, जहां उसे अपने वेश का परिवर्तन करना था। उसकी गति में दृढ़ता थी। वह न अधिक तेज चल रहा था, न ही अत्यधिक धीमा चल रहा था। उसके चलने की गति, उसके मन की दृढ़ता को प्रकट कर रही थी। कुछ लोग वेश-परिवर्तन करते हैं इस उद्देश्य से कि वेश-परिवर्तन से मन का भी शायद परिवर्तन हो जाए, वे अपना सिर मुंडवाते हैं कि शायद सिर मुंडाने के बाद अपने मन को भी मूंड सकें। हमारे चरित्र-नायक की स्थिति यह नहीं थी। वे तो अपने वैराग्यकाल में ही मन में परिवर्तन ला चुके थे। मन-परिवर्तन के बाद ही उन्हें आज्ञा मिल पाई थी वेश-परिवर्तन की; अपने मन को उन्होंने पहले ही मूंड लिया था, तब अवसर प्राप्त हुआ था उन्हें सिर मुंडाने का। उनके मन में अपूर्व उत्साह था, एक अजीब-सा उल्लास था, एक निराली उमंग थी। उन्हें लग रहा था कि संसार का सम्पूर्ण वैभव, समस्त सम्पदा अति तुच्छ है; नगण्य है। वैभव में बिताया जीवन, दास-जीवन है; व्यक्ति वैभव का दास बन कर रह जाता है। वैभव को त्याग करने के बाद का जीवन ही असली वैभवपूर्ण जीवन है, जिसमें वैभव स्वयं त्याग और त्यागी का दास बना रहता है। अब तो कुछ ही क्षणों की बात है, जब वे इस विश्व के समस्त वैभव-भोगी प्राणियों, राजा-महाराजाओं, सम्राटों, नेताओं, उद्योगपतियों एवं पदाधिकारियों के लिए वंदनीय-पूजनीय बन जाएंगे। सम्पत्ति की, श्री की, ऋद्धि की गति ऐसी ही होती है, आप उसके पीछे दौड़िए, वह आपको भुलावा देकर

घास-फूस एवं पेड़-पौधों रहित एक बड़ा मैदान था। इसी मैदान में तम्बूओं के सहारे एक अस्थायी दीक्षा-मण्डप का निर्माण करवाया गया था। मंडप को रंग-बिरंगी झंडियों, जय-जयकार लिखी हुई अनेक वस्त्र-पट्टिकाओं से सजाया गया था। चारों ओर कनातें लगाकर धूप से रक्षा की गई थी। मंडप को रस्से और बल्लियों की सहायता से दो भागों में बांट दिया गया था। एक भाग में पुरुष-वर्ग के बैठने की व्यवस्था थी तो दूसरा हिस्सा स्त्री-वर्ग के लिए सुरक्षित रखा गया था। दोनों भागों के बीच एक-दो फुट चौड़ी पगडंडी मैदान के समानान्तर मंच तक पहुंचने की दृष्टि से बना दी गई थी। मंच के सम्मुख का स्थान सामायिक व्रतधारी श्रावक-श्राविकाओं के लिए आरक्षित था। मंच पर दो विशाल काष्ट-पट्ट रखे थे। इन्हीं काष्ट-पट्टों पर विराजमान थे—वयोवृद्ध **स्वामी श्री दयाचन्दजी म.सा., स्वामी श्री राजमलजी म.सा., स्वामी श्री चौथमलजी म.सा., स्वामी श्री बख्तावरमलजी म.सा., स्वामी श्री चांदमलजी म.सा.** एवं अन्य मुनिगण। इसी मंच पर काष्ट-पट्टों से कुछ दूरी पर महासती श्री हुलासांजी आदि विराजी हुई थी। श्रावक-श्राविकाओं का भी मण्डप मे प्रवेश प्रारम्भ हो गया था। समय शनैः शनैः आगे बढ़ रहा था। सभी टकटकी लगाए उस ओर देख रहे थे, जिधर से वैरागी की शोभायात्रा बगीची में प्रविष्ट होने को थी। बैंड-बाजों एवं जय-जयकारों की आवाज मण्डप तक पहुच रही थी। ज्यो-ज्यो जुलूस निकट आ रहा था, हलचल बढ़ रही थी। नर-नारियों एवं बालक-बालिकाओ के प्रवेश के साथ ही शोर भी काफी बढ़ गया था। बैंड-बाजों की ध्वनि बन्द करवा दी गई थी। सहस्राधिक नर-नारी मंडप में प्रवेश कर वहाँ बिछी दरी-पट्टियों पर आसन ग्रहण कर चुके थे। वैरागी गणेश अश्व से उतर कर मंद-मंद मुस्काता, मथर-गति से मंडप से होते हुए गुरुदेवो के सन्निकट पहुंचा। विराजमान सभी मुनिराजों एव महासती-वर्ग को यथा-विधि तिक्खुत्तो के पाठ से वदना की। जन-समूह की ओर मुंह कर अपने दोनो हाथ जोड़ते हुए 'जय-जिनेंद्र' कहकर सबका अभिवादन किया। सभी की नजरें वैरागी बालक-बनड़े के चेहरे पर सुस्थित हो गई। क्यों न होतीं ? उस दिन के समारोह का मुख्य-आकर्षण वही तो था।

वैरागी श्री गणेशमल के अतिरिक्त इस समारोह में एक प्रौढ़-श्राविका भी सभी दर्शकों की निगाहो में बार-बार आ रही थी। वह सुश्राविका थीं— **श्रीमती मिश्रीबाई मुणोत**। दीक्षार्थी की धर्म-मातेश्वरी पद पर आरूढ़ हो आप मातृत्व का दायित्व निभा रही थीं। दीक्षा-विधान की यह एक सुनिश्चित परम्परा है कि दीक्षार्थी की माता समारोह में उपस्थित रहे और दीक्षार्थी के लिए साज-सज्जा की एवं दीक्षा के लिए आवश्यक सामग्री की यथा-शक्ति व्यवस्था करे।

दीक्षार्थी का निवेदन : दीक्षा की आज्ञा

मण्डप में उस समय अद्भुत शांति छा गई जब वैरागी ने जनाभिवादन के पश्चात् गुरुवर के सम्मुख विनम्र निवेदन किया— "गुरुदेव ! मैं आज से अपने सभी सम्बन्धियों से, जगत् की माया से, भौतिकी पदार्थो से अपने ममत्व-भाव एवं रागात्मक सम्बन्धों को तिलांजलि देकर आपके पवित्र चरण-सरोजों की शरण ग्रहण करना चाहता हूँ, मुनि बनना चाहता हूँ, संयम की आराधना करना चाहता हूँ। आप मुझे इन चरणो की शरण दीजिए, अपनी निश्रा में दीक्षित कीजिए, मुक्तिमार्ग का अनुयायी बनाइए।"

दीक्षार्थी बालक का निवेदन सुनकर गुरुदेव स्वामिवर्य श्री चौथमल जी म. सा. ने उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए फरमाया— "बन्धुओ ! दीक्षार्थी दीक्षा का निवेदन प्रस्तुत कर चुका है।

इसके निवेदन को स्वीकृत करने के पूर्व जिनशासन के नियमानुसार हमें भी दीक्षार्थी के संरक्षकों से आज्ञा प्राप्त करनी अनिवार्य है; अतः दीक्षार्थी-बालक के अभिभावक, जो कोई भी यहां उपस्थित हों, आगे आकर इसकी दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करें, अपनी स्वीकृति दें।

स्वामी जी ने जब वैरागी गणेश के लिए आज्ञा प्राप्त करनी चाही तो सर्वप्रथम रीयां-श्री संघ ने वह लिखित समर्पण-पत्र गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसमें दीक्षार्थी की मातु-श्री ने अपने पुत्र को लिखित रूप में दीक्षा लेने के लिए अपनी आज्ञा दी थी। तदनन्तर गुरुदेव का संकेत पाकर संघपति जी ने वह पत्र मण्डप में उपस्थित नर-नारियों के सम्मुख उच्च-स्वर से पढ़ कर सुना दिया। पत्र सुनने के बाद पीपाड़-श्री संघ ने स्वीकृति दे दी, इस पर भी वहां उपस्थित वैरागी की बहिन एवं बूआ से पूछा गया, धर्म के माता-पिता से पूछा गया। सभी ओर से आश्वस्त हो, संतुष्ट हो स्वामी जी ने दीक्षार्थी के निवेदन को स्वीकार करते हुए मंगल-पाठ सुना दिया।

वेश-परिवर्तन

आपने अब तक दीक्षार्थी को राजसी अलंकरणों से अलंकृत देखा। उसकी चमचमाती, दर्शकों को आकर्षित करती बहुमूल्य वेशभूषा के ये अन्तिम क्षण थे। गुरुमुख से मंगल-पाठ सुनने के बाद उसे भोग का त्याग करना था और त्याग को भोगना था। सांसारिक पहचान के समस्त चिन्हों को, अलंकरणों को, परिधानों को छोड़ना था और संयमी की पहचान कराने वाले लोक-पूजनीय अलंकरणों (श्वेत वस्त्रों) को धारण करना था। इतने विशाल समारोह, आयोजन एवं सांसारिक वैभव को बड़ी ऊंची सीमा तक भोग लेने पर भी हमारे इस दीक्षार्थी का मन 'जल में कमलवत्' त्याग से जुड़ा हुआ था, संसार से सर्वथा निर्लिप्त था।

दीक्षार्थी गणेश, दीक्षा-मण्डप से निकल दीक्षा-मण्डप के निकट ही उस कक्ष (कमरे) की ओर चल दिया, जहां उसे अपने वेश का परिवर्तन करना था। उसकी गति में दृढ़ता थी। वह न अधिक तेज चल रहा था, न ही अत्यधिक धीमा चल रहा था। उसके चलने की गति, उसके मन की दृढ़ता को प्रकट कर रही थी। कुछ लोग वेश-परिवर्तन करते हैं इस उद्देश्य से कि वेश-परिवर्तन से मन का भी शायद परिवर्तन हो जाए, वे अपना सिर मुंडवाते हैं कि शायद सिर मुंडाने के बाद अपने मन को भी मूंड सकें। हमारे चरित्र-नायक की स्थिति यह नहीं थी। वे तो अपने वैराग्यकाल में ही मन में परिवर्तन ला चुके थे। मन-परिवर्तन के बाद ही उन्हें आज्ञा मिल पाई थी वेश-परिवर्तन की; अपने मन को उन्होंने पहले ही मूंड लिया था, तब अवसर प्राप्त हुआ था उन्हें सिर मुंडाने का। उनके मन में अपूर्व उत्साह था, एक अजीब-सा उल्लास था, एक निराली उमंग थी। उन्हें लग रहा था कि संसार का सम्पूर्ण वैभव, समस्त सम्पदा अति तुच्छ है; नगण्य है। वैभव में बिताया जीवन, दास-जीवन है; व्यक्ति वैभव का दास बन कर रह जाता है। वैभव को त्याग करने के बाद का जीवन ही असली वैभवपूर्ण जीवन है, जिसमें वैभव स्वयं त्याग और त्यागी का दास बना रहता है। अब तो कुछ ही क्षणों की बात है, जब वे इस विश्व के समस्त वैभव-भोगी प्राणियों, राजा-महाराजाओं, सम्राटों, नेताओं, उद्योगपतियों एवं पदाधिकारियों के लिए वंदनीय-पूजनीय बन जाएंगे। सम्पत्ति की, श्री की, ऋद्धि की गति ऐसी ही होती है, आप उसके पीछे दौड़िए, वह आपको भुलावा देकर

कहीं की कहीं चली जाएगी और आप हाथ मलते, रोते-विलखते रह जाएंगे। आप उससे मुंह मोड़ लीजिए, उसकी उपेक्षा कर दीजिए, उसके प्रति ममत्व को पूर्णतया त्याग दीजिए फिर देखिये तमाशा ! आपको नचाने वाली स्वयं नाचने लगेगी, आपके पीछे-पीछे चलेगी और आपके चरणों की चेरी बनना चाहेगी। उस शाश्वत-वैभव को प्राप्त करने के लिए इस नश्वर-वैभव का त्याग तो करना ही होगा। त्याग से ही सिद्धि का वरण होगा, मुक्ति का पथ प्रशस्त होगा और मोक्ष की मंजिल सुगम बनेगी।

मोक्ष-मंजिल को ही सुगम बनाने के लिए दीक्षार्थी श्री गणेशमल ने उस कक्ष में प्रवेश किया। वहाँ सब कुछ पूर्व नियोजित था अतः योजनानुरूप सम्पूर्ण तैयारी भी थी। दीक्षार्थी ने सर्वप्रथम एक-एक करके अपने उन राजसी अलंकारों को शरीर से अलग किया, जिन्हें देख-देख कर जन-साधारण की आँखें चुंधिया जाती थीं। इन्हें उतार कर उसकी आत्मा ने संतोष का अनुभव किया, लगा कि अब तक घुटन में घुटती हुई आत्मा को छुटकारा मिला है। आभरण-अलंकरण उतरे। पहले से बुलाए गए नापित ने उसके सिर की सुकोमल-सुचिक्कन केश-राशि को केश-कर्तन-यंत्र (मशीन) से उतारा, केवल शिखास्थल पर कुछ केश-राशि रहने दी गई। मुंडित सिर ऐसा लग रहा था जैसे अतीत में बंधे हुए कर्मों का बहुत बड़ा दल तो समाप्त हो गया हो और शिखा-केश-गुच्छ की तरह मामूली कर्म ही अवशिष्ट हों। केश-राशि व्यक्ति के बाह्य व्यक्तित्व को भव्य बनाती है, उसके सौंदर्य को बढ़ाती है, लावण्य को निखारती है पर जो व्यक्ति आत्मा के अमर एवं शाश्वत सौंदर्य की ओर उन्मुख हो चुका हो, वह भला शारीरिक सौंदर्य के बोधक इन पदार्थों का क्यों ध्यान रखे ? उसके लिए तो देह-शृंगार, रूप-लावण्य, शरीराकर्षण—ये सभी व्यर्थ हैं, त्याज्य हैं।

एक सुन्दर चमचमाते थाल में उस केश-राशि को रख दिया गया। उस पर चंदन के छींटे दिए गए, केसर छिटकी गई। त्यागात्मा की केशराशि के उस थाल को लेकर नापित दीक्षा-मंडप में पहुंचा और अब उस थाल से श्रद्धालु-भक्त कुछ केश शकुन के बतौर उठाते, आँखों व सिर से लगाते और सावधानी से किसी कागज, दस्ती (रुमाल), डिबिया आदि में सुरक्षित रख देते एवं अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ सिक्के उस थाली में डाल देते। यह था श्रद्धा और विश्वास का एक माहौल, मन की भावनाओं का एक खेल। मारवाड़ में एक कहावत प्रसिद्ध है—"मानो तो देवता नहीं तो पत्थर"। कुछ चमत्कारिक मान्यताएँ एवं कुछ विश्वास ऐसे जमे हुए थे लोगों के दिल में कि अधिकाधिक लोग त्यागी-दीक्षार्थी के केश प्राप्त करना चाह रहे थे। कर्म या भाग्य के अनुसार ही सब कुछ होता है पर पुरुषार्थ उस "होने वाले सब कुछ" को करवाता है। कर्म (भाग्य) भी है और पुरुषार्थ भी है पर विश्वास नहीं है, श्रद्धा नदारद है तो सफलता फिसल सकती है, सिद्धि में कुछ कमी रह सकती है।

त्यागात्मा के केश-राशि का थाल केश रहित हो गया। अब उसमें केशराशि के स्थान पर धन-राशि थी, सिक्कों का ढेर था। वह सारी राशि केश उतारने वाले उस नापित को अर्पित थी।

वेश-परिवर्तन-कक्ष के ठीक मध्य में एक चतुःस्तम्भ-काष्ट-पट्ट रखा था। दीक्षार्थी को उसी पट्ट पर बिठा दिया गया। अब होना था दीक्षार्थी का दीक्षाभिषेक। अनेक प्रकार की सुगंधियों से मिश्रित (अचित्त) जल से उसका अभिषेक किया गया। लग रहा था जैसे उन समस्त शारीरिक चिन्हों, स्मृतियों एवं गंधादि से मुक्ति दिलाई जा रही है, जिनसे सांसारिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध रह चुका था और भावी

जीवन में जिनकी लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं थी। अब आ खड़ा हुआ वह अवसर, वह समय, वह क्षण जिसकी लम्बे समय से प्रतीक्षा थी। अपनी चिर-प्रतीक्षित वेश-परिवर्तन की घड़ी को आते, उपस्थित होते देख, मन के मधुर-सुखद स्वप्न को साकार होते देख, भोग और त्याग के बीच की लक्ष्मण-रेखा के नामोनिशान को अंतिम रूप से मिटते देख किशोर गणेश रोमांचित हो उठा। हर्ष से, प्रमोद से, आनन्दातिरेक से उसका रोम-रोम खड़ा हो गया। आकाश में छाए मेघ मयूर-मन को नृत्य के लिए जैसे विवश कर देते हैं ठीक वैसे ही श्वेत वस्त्रों की उपस्थिति ने, मुनि के धारण करने योग्य उस परिधान ने जो उसी के लिए लाया गया था, जिसे पहनने की अब तैयारियाँ हो रही थीं, उसे हर्षित कर दिया। उन वस्त्रों को देखकर उसका मन-मयूर भी नर्तन करने लगा। निवृत्ति के प्रतीक और प्रवृत्ति-त्यक्ता के सूचक ये श्वेत-वस्त्र अब उसे धारण करने थे। बेदाग और निर्मल जीवन के साक्षी एवं भावी संयमित जीवन के शिक्षक ये श्वेत-वस्त्र गणेश के जीवन के एक अध्याय को समाप्त कर दूसरे अध्याय का श्रीगणेश करने वाले थे। स्वामी श्री चांदमलजी म. सा. के निर्देशन में ये वस्त्र उसे धारण करने थे। स्वामीजी उस कक्ष में पधारे तो वहां उपस्थित नर-नारी वंदन की मुद्रा में तत्पर हो गए, आशीर्वाद पाकर एवं उनके संकेत को समझकर पुनः यथास्थान खड़े हो गए। स्वामीजी की देखरेख में, उनके निर्देशानुसार मुनि-वेश धारण किया जाने लगा। सलवटें देकर चोलपट्टा पहनाया गया, विशेष ढंग से चद्दर ओढ़ाई गई, मुख पर सोलह अंगुल चौड़ी व इक्कीस अंगुल लम्बी श्वेत वस्त्र की अष्टपुटी मुखवस्त्रिका धारण करवाई गई। जीव-रक्षक, प्राणि-मात्र के प्रति दया का प्रतीक रजोहरण हाथ में दिया गया। भिक्षा के निमित्त लाए गए काष्ट-पात्र (पातरे) श्वेत वस्त्र की एक झोली में रखकर उसे दिए गए। मुनिवेश-धारी गणेश ने झोली को उठाया और ज्योंही एक कदम आगे बढ़ाया, उसकी धर्म-मातेश्वरी उसके सम्मुख आ खड़ी हुई। निर्बाध-संयम-यात्रा की कामना से आशीर्वाद देती हुई उस मां ने उसके मस्तिष्क पर केसर-चंदन का मंगलदायक स्वस्तिक-चिन्ह सजाया और हाथ जोड़ कर विनम्र शब्दों में निवेदन करने लगी—"आज से आपके समस्त संसारी सम्बन्ध टूट रहे हैं, आप माता-पिता-भाई-बहन आदि अनेकानेक स्वजनों एवं परिजनों के प्रति अपने ममत्व को त्याग रहे हैं। गुरुमुख से दीक्षा-मंत्र स्वीकार करने के पूर्व कृपा कर इस मां को प्रथम-भिक्षा का लाभ दीजिए। जैसे एक मां अपने सद्यजात शिशु को सर्वप्रथम स्व-स्तन-पय-पान कराती है ठीक वैसे ही मैं आपकी स्थापित (धर्म) मां, आपकी इस भिक्षुक-झोली में सर्वप्रथम भिक्षा देकर 'पुण्यशालिनी मां' का गौरव प्राप्त करना चाहती हूं। मेरी इच्छा पूर्ण करिए।" कितना उदार होता है मातृ-हृदय ! कितना विशाल, कितना हितैषी, कितना कोमल, कितना ममत्वपूर्ण, कितना निःस्वार्थ और कितना भाव-विह्वल ! मां से बढ़कर इस लोक में भला अन्य कौनसा सम्बन्ध हो सकता है ? पुत्र विरक्त है पर मां की ममता .. .... ? वहाँ विरक्ति कहां ? वहां तो वही ममता का अजस्र-स्रोत। झोली खुली, खोळ के लिए लाई गई सामग्री झोली में बहरा दी गई। खोळ भरने की यह परम्परा जैसे ही समाप्त हुई, प्रथम-भिक्षा-ग्रहण की खुशी में वहाँ उपस्थित अनेक श्रद्धालु-भक्तों ने गुरुवर की एवं दीक्षार्थी की जय-जयकारों से समस्त वातावरण में नई ताजगी भर दी।

दीक्षा-विधान

कक्ष के भीतर से 'जय-जयकार' की ध्वनि हवा की तरंगों पर तैरती हुई दीक्षा-मण्डप को स्पर्श कर गई। उपस्थित नर-नारियों ने अपने में एक विचित्र उत्तेजना का अनुभव किया। हल-चल बढ़ी, शोर

वढ़ा, चहल-पहल मची। कुछ नर-नारी उत्तेजना-वश अपने स्थान पर खड़े हो गए तो कुछ उन्हें पुनः वैठने के लिए निवेदन करने लगे। उधर आकाश-भेदी जय-निनादों के वीच दीक्षार्थी-मुनि बाहर निकले। कुछ ही समय पूर्व जिस किशोर को राजसी-वस्त्राभूषणों से अलंकृत देखा गया था, अब वही किशोर श्वेताम्वर-धारी मुनि-वेश पहने था एवं उसका सिर मुंडित था। उस अलौकिक/परिवर्तित वेश में उन्हें देखते ही सारा मण्डप, सारा पंडाल भगवान् महावीर की, जैनधम की, पूज्य श्री जयमल जी म.सा. की एवं गुरुवरों की जय-जयकारों से गूंज उठा। "दीक्षार्थी ....की जय" का निनाद वढने लगा। सभी के मुंह से जय-जयकार की ध्वनि निकल रही थी, जवकि उन सभी की आँखों में कौतुहल-मिश्रित विस्मय के भाव प्रकट हो रहे थे। सभी की नजरें दीक्षार्थी पर, उनके नव-मुनि-वेश पर टिकी हुई थीं। एक व्यक्ति वोल उठा—"ये तो अभी बहुत छोटे हैं। दीक्षा कैसे पालेंगे ?" दूसरे व्यक्ति ने जवाव दिया—'आज छोटे हैं, कल वड़े हो जाएंगे।' किसी तीसरे ने कहा—"हां, हां, समय को जाते क्या देर लगती है।" इस पर एक अन्य व्यक्ति कहने लगा—"इतने छोटे वच्चे को दीक्षा देने का क्या औचित्य है ?" इसका भी उत्तर वहीं मिल गया—"उचित क्यों नहीं है, भाई ? गजसुकुमाल ने और अतिमुक्तक कुमार ने वचपन में ही तो दीक्षा ली थी।"

ऐसी ही कई आवाजें, कई प्रतिक्रियाएँ, कई सवाल-जवाव ! नर एवं नारियों की, श्रावक एवं श्राविकाओं की—सभी की जुवानें कुछ-न-कुछ कह रही थीं, सभी के कान कुछ-न-कुछ सुन रहे थे पर आँखें सभी की केन्द्रित थीं वहाँ, जहाँ दीक्षार्थी-मुनि थे। वे अब मंच के निकट गुरुदेवों के सम्मुख पहुंच गए थे। विनय जीवन का आभूषण है। साधक के लिए विनय एक अनिवार्य शर्त है। विनय एक ऐसा गुण है जो साधक के प्रत्येक व्यवहार में झलकना चाहिए। विनयमूर्ति दीक्षार्थी-मुनि ने मंच के निकट पहुंच कर पूज्य आचार्य-प्रवर एवं सभी गुरुदेवों को यथाक्रम-यथाविधि विनीत वंदन करना प्रारम्भ किया। 'गुरु-वंदन सूत्र' का उच्चारण करते हुए पंचांग नमा कर वहाँ विराजित सभी मुनिराजों को तीन-तीन वार वन्दना की। जव तक गुरु-नमन, गुरु-वंदन का यह क्रम चला, मण्डप में पुनः शांति स्थापित हो चुकी थी।

मुनि-वृन्द के चरणाम्वुजों में वन्दन के पश्चात् दीक्षार्थी-मुनि, दीक्षा-मंत्र के लिए वहीं करवद्ध खड़े होगए। श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रमण संघ के तत्कालीन आचार्य-प्रवर श्री कानमलजी म.सा. का संकेत पाकर उनके आदेश को शिरोधार्य करते हुए स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. ने दीक्षा का शास्त्रीय विधि-विधान चतुर्विध-संघ के समक्ष प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम महामन्त्र नवकार का सघोष उच्चारण तत्पश्चात् क्रमशः ईर्यापथिकी क्रिया से लगने वाले दोषों की आलोचना के लिए 'इच्छाकारेणं' का पाठ, आत्म-शुद्धि के लिए तस्स उत्तरी' का पाठ, कायोत्सर्ग-ध्यान (इच्छाकारेणं का), प्रकट में धर्म की आदि करने वाले श्री ऋपभ जिन से लेकर इस अवसर्पिणी-काल के अंतिम शासन-प्रवर्तक वर्धमान जिन तक चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति के लिए 'लोगस्स' का पाठ, सावद्य योगों (पाप युक्त क्रियाओं) के त्याग और यावज्जीवन सामायिक व्रत ग्रहण के लिए प्रतिज्ञा रूप 'करेमि भंते' का पाठ—इन सभी पाठों का उच्चारण गुरुवर ने शिष्यमुख से करवाया।

सावद्य-त्याग का यह शास्त्रीय पाठ अत्यन्त सारगर्भित है। यह दीक्षा का मूलभूत पाठ है, वीज है। श्रमण-संस्कृति का यह आधारभूत तत्त्व है। जन्म-जरा-मृत्यु के जर्जरण का यह यन्त्र है, कर्म-रिपुओं

के नाश हेतु अमोघ मन्त्र है। यही आस्रव-निरोध का साधन है। इसी में पाप-संताप-लिप्तात्मा का परिशोधन है, ज्ञानलव-दुर्विदग्ध जीवों का प्रतिरोधन है। यह पाठ रत्नत्रयी के लिए कलुषित कषायों का प्रतिरोध करता है, वासना की वायु के संचार का निरोध करता हे, पदे-पदे प्रलोभनीय-कमनीय इन्द्रिय-विषयों की दुर्दमनीय कान्त-कामनाओं का संरोध करता है। समता-व्रत-प्रतिज्ञा का यह पाठ जिनेन्द्र-भाषित बत्तीस आगमों के अंतिम बत्तीसवें "आवश्यक सूत्र" के प्रथम आवश्यक का एक पाठ है। समस्त जैन वाङ्मय का सारभूत, आधारभूत तत्त्व जिसे माना गया है, ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र-पाठ का इस प्रसंग में अक्षरश: उल्लेख आवश्यक है। पाठ इस प्रकार है—

"करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

इसी पाठ द्वारा दीक्षा-मंत्र को अपने जीवन में धारण करते हुए दीक्षार्थी-मुनि स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. के सम्मुख संकल्प-मुद्रा में कहते हैं—

"हे भगवन् ! संसार में जितने भी सावद्य-हिंसामय व्यापार हैं; मैं उन सभी का मन, वचन और कर्म से सर्वथा प्रकारेण जीवन-भर के लिए त्याग करता हूँ। हिंसायुक्त आचरण न मैं कभी करूंगा, न अन्य किसी को करने के लिए प्रेरित करूंगा और न ही करते हुए की अनुमोदना करूंगा।"

पापयुक्त प्रवृत्तियों का परित्याग ही अहिंसक-जीवन है। जैनधर्म का समूचा ढाँचा अहिंसा की गहरी नींव पर ही खड़ा है। अहिंसा ही इस धर्म की धुरी है। अहिंसा के अतिरिक्त इस धर्म के जितने भी अन्य सिद्धान्त हैं; सभी आरावत् हैं, धुरी पर स्थित हैं और धुरी पर ही भ्रमण-रत हैं। इस एक अहिंसा-सिद्धान्त को श्रमण-संस्कृति से परे कर दीजिए फिर देखिए क्या नतीजा होता है? श्रमण-संस्कृति निष्प्राण, निष्प्रभ व निःस्पन्दन प्रतीत होगी। विश्व का अस्तित्व यदि कहीं स्थिर है तो वह है अहिंसा-सिद्धान्त में। प्राणी मात्र की चिन्मयता का समस्त तत्त्व इसी अहिंसा-दर्शन से निःसृत है। 'ज्ञाताधर्म-कथा' सूत्र में भगवान् महावीर नव-दीक्षित मेघकुमार मुनि को दीक्षा के समय अपने श्रीमुख से इस प्रकार सम्बोधित करते हैं—

"हे देवानुप्रिय ! इस पृथ्वी पर युग-प्रमाण दृष्टि रखकर इस प्रकार चलना चाहिए, इस प्रकार निर्जीव भूमि पर खड़ा होना चाहिए, इस प्रकार भूमि का प्रमार्जन कर बैठना चाहिए, इस प्रकार शरीर व वस्त्रादि की प्रतिलेखना करके सोना चाहिए, इस प्रकार सकारण निर्दोष आहार करना चाहिए, इस प्रकार हितमित और मधुर-भाषण करना चाहिए कि इनमें तनिक भी प्रमाद या असावधानी के कारण किसी प्राण-भूत-जीव और सत्व को कष्ट न पहुंचे। अप्रमत्तता से सावधानतया जीव-मात्र की रक्षा करना ही संयम का पालन है।"

सामायिक व्रत-धारण-पाठ में और ज्ञाताधर्म के इस सूत्र-पाठ में जिस तत्त्व की व्याख्या है, वह है अहिंसा। दोनों की शिक्षाएँ, संकल्प मूल रूप में अहिंसा से ही अनुप्राणित हैं।

नव-दीक्षित मुनिजी ने समग्र रूप से अहिंसा-धर्म को धारण करने की प्रतिज्ञा कर ली। प्रतिज्ञा-सूत्र के बाद अरिहंत देव एवं सिद्ध प्रभु की स्तुति स्वरूप 'नमोऽत्थुणं' सूत्र-पाठ को विधिवत् दो बार उच्चरित किया व कराया गया। दीक्षा के इस संक्षिप्त विधान के पश्चात् आजीवन सामायिक व्रतधारी

नवदीक्षित मुनि श्री ने पुनः आचार्य-प्रवर आदि समस्त मुनिराजों को तीन-तीन बार पंचांग-नमन पूर्वक वंदन किया और संकेतानुसार स्वामिवर्य श्री चौथमलजी महाराज के पास आकर नत-सिर विनयपूर्वक खड़े हो गए। स्वामीजी ने उनके सद्य-मुंडित मस्तिष्क पर अपना वरद-हस्त रखा, मानों आशीर्वाद प्रदान कर रहे हों, पर नहीं उनके कर-कमल तो वहाँ कुछ ढूंढ़ रहे हैं। अब स्वामीजी के हाथ में आप श्री की शिखा-स्थल स्थित अवशिष्ट केश-राशि है। अपने हाथों से उन केशों का लुञ्चन करते हुए स्वामीजी ऐसे लग रहे थे जैसे अभी-अभी दीक्षित मुनिवर के (जन्म-जरा-मरण के चक्कर में उलझाने वाले) भवबीजांकुरों का उन्मूलन कर रहे हों। दर्शकों के लिए दीक्षा-विधि के अन्त में, दीक्षा-समारोह की समाप्ति पर एक महत्वपूर्ण घोषणा हुई। वह थी—नवदीक्षित मुनिजी के नव-नाम-संस्करण की उद्घोषणा। वैरागी गणेशमल का दीक्षा के बाद अब नाम रखा गया--

"मुनि जीतमल"

दीक्षा का सत्यार्थ बोध

दीक्षा-विधान समाप्त हुआ। वह विधान, जिसके बाद व्यक्ति की जीवन-धारा सर्वथा बदल जाती है, जीने का ढंग ही दूसरा हो जाता है; कहना चाहिए नया जन्म मिल जाता है। दीक्षा क्या है? सन्त-कवि उपाध्याय अमरमुनि जी कहते हैं—"दीक्षा एक अखण्ड ज्योतिर्मय जीवन-यात्रा है, जो असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होती है। दीक्षा एक साधना है, बाहर से अन्दर में सिमट आने की और एक सामाजिक कमनीय कला भी है अन्दर से बाहर फैलाने की। दीक्षा के पथ पर आध्यात्मिकता और सामाजिकता का सुन्दर समन्वय है।

दीक्षा अशुभ का बहिष्कार है
दीक्षा शुभ का संस्कार है
दीक्षा शुद्धत्व का स्वीकार है!
'स्व' की 'स्व' से 'स्व' को
सहज स्वीकृति ही तो दीक्षा है!

※

दीक्षा : स्वयं पर स्वयं का शासन
स्वयं का स्वयं पर नियन्त्रण,
सद्गुरु मात्र साक्षी है,
पथ का भोमिया है,
शेष सब कुछ शिष्य पर!
जगाता गुरु है, कर्ता-धर्ता शिष्य है।

※

श्रद्धा का घृत, ज्ञान की बाती,
कर्म की ज्योति,
यही है दीक्षा का मंगल-दीप,
जिसकी स्वर्णिम आभा से
हो जाता तमसावृत अन्तर
ज्योतिर्मय अक्षय अजरामर!

※

शत्रु-मित्र में, यश-अपयश में
हानि-लाभ में, सुख में दुख मे
सहज तुल्यता समरसता ही
दीक्षा का सत्यार्थ बोध है
इसीलिए दीक्षा का सत्पथ
नहीं नरक लोक को जाता
नहीं स्वर्ग-लोक के प्रति ही
वह जाता है मात्र मोक्ष को।
और मोक्ष है,
'स्व' का 'स्व' में
सदा-सदा के लिए निमज्जन[1] !"

इस तरह दीक्षा, आत्म-साधना है, आत्मसिद्धि का सुपथ है पर है अति दुर्गम। भगवान् महावीर फरमाते हैं—

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ[2] ॥"

अर्थात्—"दुर्जय (बड़ी मुश्किल से जीते जा सकने वाले) संग्राम में दस लाख सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक आत्मा को जीत लेना उत्कृष्ट विजय है।" इस प्रकार आत्मजयी को ही सर्वश्रेष्ठ 'विजयी' माना गया है। रणक्षेत्र में वाह्य युद्ध जीतने वाले को जहाँ वीर कहा जाता है, वहीं आंतरिक युद्ध-जेता को महावीर कहकर पुकारा गया है।

जो ऐसे ही दुर्गम महावीर-पथ के राही बनकर विचर रहे हैं, उन्हीं संतों में आज एक मूर्धन्य नाम है 'आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज' का। उन्हें हम श्रद्धालु-भक्तों का शतशः वन्दन ! कोटिशः अभिनन्दन !!

असिधारा-पथ पर

गणेश अतीत हो गया। वर्तमान ने उन्हें 'मुनि जीत' के नाम से अभिहित किया। वैदिक परम्परा ने 'गणेश' को सिद्धि का देवता माना है। गणेश और जीत (विजय, सिद्धि) का चिर-काल से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना गया है। आज भी 'जीत' के लिए, सफलता के लिए, विजय के लिए प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व 'गणेश' को याद किया जाता है, उनकी स्थापना-पूजा की जाती है, उन्हें आमंत्रित किया जाता है—यह लोक-रीति है। आज तो कार्यारम्भ के लिए 'श्री गणेश' शब्द रूढ़ हो गया है, लोक-उक्ति बन गया है। हमारे 'गणेश' भी अब 'जीत' हो गए और 'जीत' से ही उनकी साधना का श्रीगणेश

१. सागर नौका और नाविक (उ. अमरमुनि) पृष्ठ २२९
२. उत्तराध्ययन सूत्र ९/३४

नवदीक्षित मुनि श्री ने पुनः आचार्य-प्रवर आदि समस्त मुनिराजों को तीन-तीन बार पंचांग-नमन पूर्वक वंदन किया और संकेतानुसार स्वामिवर्य श्री चौथमलजी महाराज के पास आकर नत-सिर विनयपूर्वक खड़े हो गए। स्वामीजी ने उनके सद्य-मुंडित मस्तिष्क पर अपना वरद-हस्त रखा, मानों आशीर्वाद प्रदान कर रहे हों, पर नहीं उनके कर-कमल तो वहाँ कुछ ढूंढ़ रहे हैं। अब स्वामीजी के हाथ में आप श्री की शिखा-स्थल स्थित अवशिष्ट केश-राशि है। अपने हाथों से उन केशों का लुञ्चन करते हुए स्वामीजी ऐसे लग रहे थे जैसे अभी-अभी दीक्षित मुनिवर के (जन्म-जरा-मरण के चक्कर में उलझाने वाले) भवबीजांकुरों का उन्मूलन कर रहे हों। दर्शकों के लिए दीक्षा-विधि के अन्त में, दीक्षा-समारोह की समाप्ति पर एक महत्वपूर्ण घोषणा हुई। वह थी--नवदीक्षित मुनिजी के नव-नाम-संस्करण की उद्घोषणा। वैरागी गणेशमल का दीक्षा के बाद अब नाम रखा गया--

"मुनि जीतमल"

दीक्षा का सत्यार्थ बोध

दीक्षा-विधान समाप्त हुआ। वह विधान, जिसके बाद व्यक्ति की जीवन-धारा सर्वथा बदल जाती है, जीने का ढंग ही दूसरा हो जाता है; कहना चाहिए नया जन्म मिल जाता है। दीक्षा क्या है? सन्त-कवि उपाध्याय अमरमुनि जी कहते हैं—"दीक्षा एक अखण्ड ज्योतिर्मय जीवन-यात्रा है, जो असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होती है। दीक्षा एक साधना है, बाहर से अन्दर में सिमट आने की और एक सामाजिक कमनीय कला भी है अन्दर से बाहर फैलाने की। दीक्षा के पथ पर आध्यात्मिकता और सामाजिकता का सुन्दर समन्वय है।

दीक्षा अशुभ का बहिष्कार है
दीक्षा शुभ का संस्कार है
दीक्षा शुद्धत्व का स्वीकार है!
'स्व' की 'स्व' से 'स्व' को
सहज स्वीकृति ही तो दीक्षा है!

※

दीक्षा : स्वयं पर स्वयं का शासन
स्वयं का स्वयं पर नियन्त्रण,
सद्गुरु मात्र साक्षी है,
पथ का भोमिया है,
शेष सब कुछ शिष्य पर!
जगाता गुरु है, कर्ता-धर्ता शिष्य है।

※

श्रद्धा का घृत, ज्ञान की बाती,
कर्म की ज्योति,
यही है दीक्षा का मंगल-दीप,
जिसकी स्वर्णिम आभा से
हो जाता तमसावृत अन्तर
ज्योतिर्मय अक्षय अजरामर!

※

शत्रु-मित्र में, यश-अपयश में
हानि-लाभ में, सुख में दुख मे
सहज तुल्यता समरसता ही
दीक्षा का सत्यार्थ बोध है
इसीलिए दीक्षा का सत्पथ
नही नरक लोक को जाता
नहीं स्वर्ग-लोक के प्रति ही
वह जाता है मात्र मोक्ष को ।
और मोक्ष है,
'स्व' का 'स्व' में
सदा-सदा के लिए निमज्जन[1] ।"

इस तरह दीक्षा, आत्म-साधना है, आत्मसिद्धि का सुपथ है पर है अति दुर्गम । भगवान् महावीर फरमाते हैं—

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ[2] ।।"

अर्थात्—"दुर्जय (बड़ी मुश्किल से जीते जा सकने वाले) संग्राम में दस लाख सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक आत्मा को जीत लेना उत्कृष्ट विजय है ।" इस प्रकार आत्मजयी को ही सर्वश्रेष्ठ 'विजयी' माना गया है । रणक्षेत्र में वाह्य युद्ध जीतने वाले को जहाँ वीर कहा जाता है, वहीं आंतरिक युद्ध-जेता को महावीर कहकर पुकारा गया है ।

जो ऐसे ही दुर्गम महावीर-पथ के राही बनकर विचर रहे हैं, उन्हीं संतों में आज एक मूर्धन्य नाम है 'आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी महाराज' का । उन्हें हम श्रद्धालु-भक्तों का शतशः वन्दन ! कोटिशः अभिनन्दन !!

असिधारा-पथ पर

गणेश अतीत हो गया । वर्तमान ने उन्हें 'मुनि जीत' के नाम से अभिहित किया । वैदिक परम्परा ने 'गणेश' को सिद्धि का देवता माना है । गणेश और जीत (विजय, सिद्धि) का चिर-काल से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना गया है । आज भी 'जीत' के लिए, सफलता के लिए, विजय के लिए प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व 'गणेश' को याद किया जाता है, उनकी स्थापना-पूजा की जाती है, उन्हें आमंत्रित किया जाता है—यह लोक-रीति है । आज तो कार्यारम्भ के लिए 'श्री गणेश' शब्द रूढ़ हो गया है, लोक-उक्ति बन गया है । हमारे 'गणेश' भी अब 'जीत' हो गए और 'जीत' से ही उनकी साधना का श्रीगणेश

१. सागर नौका और नाविक (उ. अमरमुनि) पृष्ठ २२६
२. उत्तराध्ययन सूत्र ६/३४

हो गया। एक खेलने कूदने की आयु का बालक, किशोरावस्था प्राप्त करते-करते चारित्र-व्रतधारी साधु बन जगत् का वन्दनीय हो गया। नया जीवन, नवीन-पथ, नव-वेश, नूतन-नाम ! कितना परिवर्तन हो गया ? साधना और आराधना के 'असि-धारा-पथ' पर मुनि जीत चल पड़े। आपकी संयम-यात्रा प्रारम्भ हो गई। अब आपको शीत-उष्ण एवं वर्षा में सीमित परिग्रह, निश्चित कपड़ों एवं जहां जैसा मिले, वैसे स्थान में जीवन व्यतीत करना था। जलते हुए अंगारों की तरह संतप्त-धरा पर नग्न-पाँव विचरण करना था, हाड़-हाड़ में कम्पन पैदा कर देने वाली कड़कड़ाती शीत में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर भ्रमण करना था, वर्षों से सुनसान पड़े ग्राम्य स्थानकों या ढूंढों जैसी जीर्ण-शीर्ण ईमारतों में ठहर कर साँप-बिच्छु-चमगादड़-डांस-मच्छर आदि को सहन करना था, कभी भूखे रहना था तो कभी प्यासे रहना था और इतना सब करते हुए भी अपने मन को नियंत्रित रखना था; प्रतिकूल परिस्थितियों को समत्व-पूर्वक सहना था। राग-द्वेषादि आत्म-शत्रुओं पर विजय पाने के लिए ज्ञान-साधना करनी थी, तपाराधन करना था, ब्रह्मचर्य का तीन करण, तीन योग से पालन करना था, पंचेंद्रियों की विषय-लोलुपता पर अंकुश लगाना था—क्या यह सब कोई साधारण व्यक्ति कर सकता है ? क्या किसी औसत, सामान्य इन्सान के वश की बातें हैं ये ?

एक में अनेक

नवदीक्षित मुनिराज को अब आत्मजयी बनने की साधना करनी थी, दुःसाध्य को साधना था, दुष्प्राप्य को प्राप्त करना था। उनका चरम लक्ष्य था—शाश्वत-सुखों का आस्वादन अर्थात् समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्ति। संयम-पथ के पथिकों का व्यक्तित्व अनेक दिव्य-गुणों से निर्मित होता है, भव्य होता है, उन्नत बनता है। ये दिव्य-गुण ही इन पथिकों के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को उजागर करते हैं। निरुक्तिकारों की दृष्टि में एक उज्ज्वल व्यक्तित्व के जो अनेक रूप होते है, वे इस प्रकार हैं—

वे **मुनि** हैं क्योंकि वे सावद्य-कार्यों के प्रति मौन रहते हैं,[१] वे जगत् की त्रैकालिक अवस्थाओं को जानते हैं,[२] उनके वचन सभी को मान्य होते हैं,[३] वे संयमी जीवन जीने की प्रतिज्ञा लेते हैं[४]।

वे **श्रमण** होते हैं क्योंकि वे श्रम-रत रहते हैं,[५] वे समता का आचरण करते हैं,[६] उनकी कथनी एवं करनी समान होती है,[७] उनका मन सम्यक् होता है[८]।

वे **निर्ग्रन्थ** कहलाते हैं, जो बाह्य (धन, कुटुम्ब, परिग्रह आदि) और आभ्यन्तर (क्रोध मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि) ग्रंथियों से विनिर्मुक्त हैं[९]।

---

१. 'सावज्जेसु मोणवतीति मुणी'—दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. २३३
२. 'मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः' सूत्रकृतांग टीका २ प. ४१
३. 'मन्यतेऽसौ मुनिः'—अभिधान चिंतामणि कोश पृ. १४
४. 'मुणति-प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुणिः' उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य-टीका प. ३५७
५. 'श्राम्यतीति श्रमणः'—आचारांग टीका प. ४०२
६. 'समतया प्रवर्त्तन्ति इति समणाः'—स्थानांग टीका प. २७२
७. 'संगतं वा यथाभवत्येवमणति—भासते समणः'—भगवती टीका प. ७
८. 'सम्यक् मणे समणे'—सूत्रकृतांग चूर्णि–१ पृ. ६०
९. 'वज्झ अव्भंतराती गंथातो णिग्गतो णिग्गंथो'—वही पृ. २४६
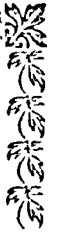
वे अणगार होते हैं, जिनके आगर (घर) नहीं होता।[1]

वे साधु हैं, जो शांति-धर्म की साधना करते हैं,[2] जो रत्नत्रयी द्वारा मोक्ष की साधना करते हैं,[3] जो प्राणी मात्र के प्रति समता का चिन्तन करते हैं,[4] जो संयम में सहायक बनते हैं।[5]

वे ऋषि हैं, जो धर्म को जानते हैं एवं उसी में गति करते हैं।[6]

वे भिक्षु भी हैं, जो तपस्या के द्वारा आठों कर्मों का भेदन करते हैं,[7] जो शुद्ध भिक्षा से जीवन-यापन करते हैं।[8]

मुनि जीत : बड़ी दीक्षा

जिन नामों, जिन संज्ञाओं, जिन विशेषताओं से शास्त्रकारों ने एक संयमी को सम्बोधित किया है, वे सभी केवल उस वेश की महत्ता के कारण नहीं हैं, जिसे संयम-साधक धारण करता है बल्कि उन गुणों के महत्व को अभिव्यक्त करते हैं जिनके सद्भाव में यह वेश उस पर सुशोभित होता है। 'मुनि जीत' ने गुणानुरूप वेश धारण कर लिया, उन्हें योग्य गुरु मिल गए, समुचित पथ मिल गया। अब उन्हें अपने गुणों का विकास कर 'स्व' को निखारना था, गुरु-सेवा में तत्पर रहकर ज्ञान प्राप्त करना था और संयम-पथ पर अग्रसर हो चारित्र-धर्म में एकरूप होने का प्रयास करना था।

जिस दीक्षा का विधि-विधान आपने अब तक पढ़ा है, वह कहलाती है—'छोटी दीक्षा।' जैन शास्त्रों में इस छोटी (प्रारम्भिकी) दीक्षा के बाद कम से कम सात दिन और अधिकाधिक (योग्यता के माप-दण्ड के आधार पर) छह माह के अन्तराल में बड़ी दीक्षा का विधान है। पच्चीस बोल-स्तोक के अन्तिम बोल के अनुसार चारित्र के पांच प्रकार बताये गए हैं, जिनमें प्रथम चारित्र है—'सामायिक चारित्र।' सामायिक चारित्र को जीवन-भर के लिए नियम एवं विधि-विधान-पूर्वक ग्रहण करना ही छोटी दीक्षा है। दूसरे चारित्र का नाम है—'छेदोपस्थापनीय-चारित्र।' सामायिक चारित्र धारण करने का अर्थ है—आजीवन समस्त सावद्य-योगों को तीन करण, तीन योग से त्यागने का पवित्र संकल्प। छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) ग्रहण करने से पहले तक मुनि साधक-धर्म का पालन तो करता है परन्तु क्रियात्मक ज्ञान की दक्षता के अभाव में उस समय तक उसकी लाई भिक्षा एवं उसके अन्य उपकरण केवल उसी के काम आ सकते हैं. दूसरे मुनिराजों के लिए उनका उपयोग निषिद्ध है। बड़ी

---

१. 'अगारं—घरं तं जस्स नत्थि सो अणगारो'—दशवैकालिक-अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ. ८५
२. 'शान्ति साधयन्तीति साधवः'—वही, जिनदास चूर्णि पृ. ६६
३. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधवः'—वही पृ. ६६
४. 'समतां वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति साधवः'—वही पृ. ६६
५. 'साहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधवः'—भगवती-टीका प. ४
६. 'ऋषति धर्म्ममिति ऋषिः'—उत्तराध्ययन चूर्णि पृ. २०७
७. 'भेत्ताऽऽगमोवउत्तो दुविह तवो भेअणं च भेत्तव्वं।
अट्ठविहं कम्मखुहं तेण निरुत्तं स भिक्खुत्ति॥' —दशवैकालिक निर्युक्ति—३४२
८. 'भिक्खणसीलो भिक्खू'—निशीथ भाष्य ६२७५

णाणं णरस्स सारो

मुनि श्री जीतमलजी अब अपनी आत्मा रूपी सूई को ज्ञान रूपी धागे से पिरोने में संलग्न थे, जिससे वह आत्मा इस संसार में पुनः भटक न सके[1]। आत्मा को ज्ञान-युक्त करने से ही आत्मा के अस्तित्व का बोध प्रतिपल बना रह सकता है। मानव-जीवन का तो सार ही ज्ञान है।[2] ज्ञान के आलम्बन से ही आत्मा अज्ञान का नाश कर स्व-स्वरूप को प्रकट कर पाती है।[3] ज्ञान ही विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है।[4] यदि ज्ञान ही नहीं है तो शुद्ध-चारित्र की अस्तिता एवं उसके प्रति तल्लीनता कैसे संभव होगी[5]। अतः आप तत्पर थे अद्यावधि अनसुने ज्ञान को सुनने के लिए तथा श्रवण किए हुए ज्ञान (धर्म) को आचरण में उतारने के लिए।

पढ़ने में आपकी रुचि थी, स्मरण-शक्ति आपकी असाधारण थी और मनन-चिन्तन आपकी प्रकृति थी। ग्राह्य को ग्रहण करना एवं गृहीत को जीवन में ढालना आपका संकल्प था। आपने अपनी वैराग्यावस्था में ही बहुत कुछ कण्ठस्थ कर लिया था। मुनि बनने के पश्चात् गुरुदेव स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. ने कुछ सूत्र-पाठ एवं स्तुति-स्तोत्र और याद करवाए तथा स्तोक-संग्रह के माध्यम से आपको साधक-धर्म की शिक्षा देनी प्रारम्भ की, जिससे आप आत्मोन्नति-सोपान पर सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ सकें। ज्ञानारम्भ के प्रथम चरण में गुरुवर ने विद्यार्थी-मुनिवर को विद्याध्ययन के क्षेत्र में सफलता पाने हेतु मुख्यतया दो बातों के लिए विशेष सचेत किया। वे दो बातें थीं—प्रथम विनय और द्वितीय स्वाध्याय। एक ज्ञान-प्राप्ति का साधन है तो दूसरा ज्ञान के संरक्षण का।

ज्ञान-प्रदाता, शिक्षा-गुरु स्वामिवर्य श्री चौथमलजी म.सा. विद्या प्राप्त्यर्थ विनय के गुण को सर्वाधिक महत्व देते थे। उनका कहना था—विद्या की शोभा विनय से होती है। वे विद्यार्थी मुनि श्री को शास्त्रीय उद्धरण देते हुए कहा करते थे—"विनय के बिना गृहीत विद्या उसी प्रकार निष्फल हो जाती है, जिस प्रकार पर्याप्त जल-सिंचन के अभाव में धान्य (चावल) की खेती।[6] शिष्य का विनय शिक्षक की प्रसन्नता का मूल कारण होता है और शिक्षक की प्रसन्नता से ही विद्यार्थी की शिक्षा में चार चाँद लगते हैं। संयम के पालन में भी विनय अत्यावश्यक है। बिना विनय के विद्या, शिक्षा, ज्ञान, धर्म, तप सभी निष्फल होते हैं, अतः विनय जिनशासन का मूल है[7]। विनयहीन व्यक्ति के हृदय में सद्गुण कभी नहीं ठहर सकते[8], इसलिए ज्ञानपिपासु के लिए विनयवान् बनना प्रथम शर्त है। जहाँ विनय नहीं

१. उत्तराध्ययन सूत्र २९/५९
२. 'णाणं णरस्स सारो'—(दर्शन पाहुड—३१)
३. 'सुयस्स आराहणाए, णं अन्नाणं खवेई'।—(उत्तराध्ययन सूत्र २९/५९)
४. सव्व जगुज्जोयकरं णाणं—(व्यवहार भाष्य ७/२१६)
५. 'नाणंमि असंतंमि चरित्तं वि न विज्जए।' (वही ७/२१७)
६. "विणयाहीता विज्जा देंति फलं इह परे य लोगम्मि।
   न फलंति विणयहीणा सस्साणिव तोयहीणाई॥"
   (बृहत्कल्प भाष्य—५२०३)
७. 'विणओ सासणे मूलं'—(विशेषावश्यक भाष्य—३४६)
८. 'न विनयशून्ये गुणावस्थानम्'—उत्तराध्ययन चूर्णि-१

होता वहाँ उसके प्रतिपक्षी मान-अभिमान, गर्व-घमण्ड का बोलवाला होता है अतः ऐसे कुपात्र में विद्या का सफल होना तो अतिदूर, उसका प्रवेश ही असंभव हो जाता है।"

इसी तरह 'स्वाध्याय' को भी स्वामीजी महाराज विद्यार्जन एवं ज्ञान-ग्रहण हेतु अत्यावश्यक बताते थे। केवल बताते ही थे, ऐसा नहीं, स्वाध्याय को तो उन्होंने अपने जीवन का एक विशिष्ट अंग बना रखा था। वे स्वयं एक कर्मठ साधक थे, श्रुत-आराधक थे, निष्कर्मण्यता के प्रबल विरोधक थे और समय की कीमत को समझने वाले एक प्रबुद्ध विचारक थे। उनके प्रवचन का मुख्य विषय भी स्वाध्याय ही रहता था। दर्शनार्थी भक्तों को भी मंगल-पाठ देते समय स्वामी जी उन्हें नित्य स्वाध्यायार्थ प्रेरित करते थे एवं जैसी जिनकी सामर्थ्य होती उसके अनुसार उन्हें स्वाध्याय हेतु संकल्पित भी करते थे। स्वामी जी की इसी शिक्षा के कारण विद्यार्थी मुनि श्री जीतमल जी भी शनैः शनैः स्वाध्याय से ऐसे जुड़े कि कुछ ही समय में स्वाध्याय आपका अभिन्न रूप बन गया।

विनय और स्वाध्याय के अतिरिक्त जिन कई लक्षणों और गुणों की आवश्यकता एक विद्यार्थी को होती है-उन पर प्रकाश डालते हुए स्वामी जी ने मुनि जी को गुण-ग्राहक बने रहने की सबल प्रेरणा दी। विद्यार्थी के पाँच विशेष लक्षणों का विवेचन करते हुए वे कहा करते थे-"सदैव कौवे की तरह चेष्टा रखने वाला, बगुले के सदृश एकाग्र ध्यान रखने वाला, श्वान (कुत्ते) की तरह सजग-नींद-सोने वाला, अल्प आहार करने वाला एवं गृहस्थ के प्रपंचों से मुक्त रहने वाला अनुशासित विद्यार्थी ही वास्तव में शिक्षा-ग्रहण करने के योग्य होता है"[1], ऐसा सुपात्र ही गुरु द्वारा प्रदत्त विद्या-दान का अधिकारी होता है।

परमोपकारी गुरुवर के इन तथ्यों को हमारे जीवनी-नायक ने हृदय में उतार लिया। आपका मनन-चिंतन तो पहले से ही गंभीर था, अब आप सफल विद्यार्थी बनने जा रहे थे, आपमें ज्ञान की प्यास जग चुकी थी अतः आपने दृढ़ निश्चय किया कि मात्र गुरुवर के प्रति ही नहीं अपितु सभी संयतों-विद्वानों के प्रति भी विनयवान् बनूंगा, विनय को अपने जीवन-व्यवहार में प्रतिष्ठापित करूंगा और स्वाध्यायादि अन्य गुणों एवं शिक्षार्थी-योग्य लक्षणों को धारण करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहूंगा।

शिक्षा-गुरु

विद्या-प्राप्ति की योग्यतार्थ उपदेशात्मक ज्ञान देने के बाद आपके शिक्षा एवं दीक्षा-गुरु श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म.सा. ने आपके शिक्षण की समुचित व्यवस्था कर दी। आगम-ज्ञान का शिक्षण तो स्वयं स्वामी जी ने एवं स्वाध्यायप्रेमी श्री चाँदमल जी म.सा. ने दे ही दिया था। आगम के गूढ़ अर्थों को समझाने में आप दोनों निष्णात थे। आगम के साथ ही स्तोत्र, स्तोक एवं जैन इतिहास के अध्ययन का क्रम भी चला। प्राकृत व संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान भी आप दोनों ने विद्यार्थी मुनिजी को करवाया।

शिष्य की योग्यता से प्रभावित हो अब विद्यार्थी मुनिवर के उच्च अध्ययन की व्यवस्था की गई। व्याकरण-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, न्याय-शास्त्र, आंग्ल भाषा एवं उसका साहित्य, संस्कृत भाषा व साहित्य के साथ-साथ उर्दू-भाषा के अध्ययन पर भी ध्यान दिया गया। अनेक विषय-विशेषज्ञ अध्यापकों ने

१. "काकचेष्टो बकध्यायी श्वाननिद्रस्तथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पंचलक्षणः॥" —हितोपदेश

एवं विद्वज्जनों ने आपकी योग्यता के विकास में अच्छा सहयोग किया और अपनी अमूल्य सेवाएँ आपके शिक्षण-कार्य हेतु अर्पित कीं। आपके अध्यापकों का व अध्ययन का जो विवरण उपलब्ध हो सका, वह इस प्रकार है—

(१) पं. श्री जयनन्दनजी झा (संस्कृत-प्राकृत व हिन्दी व्याकरण)
(२) पं. श्री च्यवनरामजी (हिन्दी-संस्कृत साहित्य)
(३) पं. श्री रमाकान्तजी मिश्र (व्याकरण व साहित्य)
(४) पं. श्री बेचरदासजी (प्राकृत-व्याकरण)
(५) पं. श्री शोभाचन्दजी भारिल्ल (दर्शन एवं न्याय शास्त्र)
(६) पं. श्री वंशीधरजी जैन वीणा (व्याकरण, न्याय व दर्शन)
(७) डॉ. श्री पुरुषोत्तमचन्द्र जी जैन (संस्कृत व आंग्ल-साहित्य)
(८) पं. श्री लक्ष्मीधरजी (संस्कृत शास्त्री-परीक्षा-पाठचक्रम)
(९) शतावधानी पूज्य श्री रतनचन्द्रजी म.सा. (सिद्धान्त कौमुदी)

शिक्षा-योग्यता : एक नजर में

शिक्षक योग्य थे, अपने-अपने विषय के आधिकारिक ज्ञाता व प्रकाण्ड पण्डित थे। शिक्षा ग्रहण करने वाले भी होनहार थे, बुद्धिमान थे, सुपात्र थे फिर भला शिक्षा-स्तर में कमी क्यों रहती? आपने अपने शिक्षा-काल में एकाग्र-मन से अध्ययन किया, मनन व चिन्तन कर गृहीत-ज्ञान को जीवन में उतारा और उसे स्मृति-कोष में भविष्य के लिए सुरक्षित भी कर लिया। आपकी शिक्षा का, शिक्षण-योग्यता का संक्षिप्त विवरण जैसा भी उपलब्ध हो सका, यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है—

हिन्दी भाषा एवं साहित्य

हिन्दी ही बिन्दी है, भव्य भारत के भाल की। हिन्दी ही राष्ट्रभाषा है, हिन्दी ही हमारी मातृ-भाषा भी है। आपके अध्ययन का प्रारम्भ हिन्दी भाषा के ज्ञान से हुआ। आपने हिन्दी-व्याकरण को पढ़ा, हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पढ़ा, आदिकाल से लेकर अब तक के मुख्य कवियों, साहित्यकारों को जाना एवं उनकी प्रमुख रचनाओं का गहन-साहित्यिक अध्ययन किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सोहनलाल द्विवेदी, निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी वर्मा, मक्खनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह दिनकर, मुंशी प्रेमचन्द आदि की अनेक आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त रचनाओं का आस्वादन कर आपने भाषा की दृष्टि से उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। आज आप हिन्दी-भाषा के पठन-पाठन में तो सिद्धहस्त हैं ही, हिन्दी में रचना-लेखन भी करते हैं। आपका हिन्दी में साहित्य-सृजन भाषा की दृष्टि से उच्च कोटि का है।

प्राकृत भाषा एवं साहित्य

प्राकृत तीर्थंकरों की वाणी है, भाषा है। समस्त जैन वाङ्मय प्राकृत-भाषा में लिपि-बद्ध है। जैनागमों के रहस्यों को समझने के लिए आपने प्राकृत-भाषा का गहन अध्ययन किया, इसकी जटिल व्याकरण को बारीकी से समझा। प्राकृत मार्गोपदेशिका एवं प्राकृत सिद्धान्त कौमुदी को पढ़ा। प्राकृत के समस्त जैनागमों का विशद अध्ययन किया, उनके मर्म को समझा एवं चिन्तन-मनन-पूर्वक उनकी सरल व्याख्या कर जन-सामान्य में प्रवचनों के माध्यम से उस तीर्थंकर-वाणी को सहज रूप में प्रस्तुत किया व कर रहे हैं।

संस्कृत भाषा एवं साहित्य

संस्कृत आपकी सर्वाधिक प्रिय भाषा रही। संस्कृत-व्याकरण का आपने ठोस अध्ययन किया। सिद्धान्त कौमुदी, महाभाष्य, बालमनोरमा, अष्टाध्यायी एवं सिद्ध-हेम-व्याकरण जैसे अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का अध्ययन-मनन किया। हितोपदेश, पंचतन्त्र जैसे नीति-कथा-ग्रन्थ, कालिदास के रघुवंश, कुमार संभव (महाकाव्य), मेघदूत, ऋतु-संहार (खण्ड काव्य), अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्नि-मित्र (नाटक), भारवी के किराताजु नीय, माघ के शिशुपालवध तथा बाणभट्ट की कादम्बरी आदि ग्रन्थों का भी आप श्री ने लगन-पूर्वक विशद अध्ययन किया। साहित्य-दर्पण एव काव्य-प्रकाश जैसे लक्षण-ग्रंथों को निचोड़ा, 'ध्वन्यालोक' को पढ़ा एवं हर्षचरित, दशकुमारचरित, मुद्राराक्षस, नागानन्द, मृच्छकटिक, स्वप्नवासवदत्ता, यशस्तिलक चम्पू आदि साहित्य-ग्रन्थों का भी संस्कृत-ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से अध्ययन किया। अमरकोश एवं अभिधान-चिंतामणि कोश का रुचिपूर्वक अध्ययन कर आपने अपने संस्कृत-शब्द-भण्डार को भी विस्तृत किया। परिणाम यह कि शनैः शनैः संस्कृत-भाषा-विशेषज्ञ के रूप में आपका स्थान उच्च से उच्चतर बनता गया और संस्कृत-काव्य-रचना के क्षेत्र में आपने अच्छी सफलता प्राप्त कर ली। 'समस्या-पूर्ति' संस्कृत-काव्य की कठिनतम विधा है, पर उसमें भी आप सिद्ध-हस्त हैं और अब तक विद्वानों द्वारा प्रदत्त अनेक समस्याओं की पूर्ति कर चुके हैं।

जैन वाङ्मय

जैन सिद्धान्त के अनेक स्तोक, अनेक जैन-स्तोत्र एवं सूत्र-पाठ आपने दस-ग्यारह वर्ष की अल्पायु में ही कण्ठस्थ कर लिए थे। शिक्षा-काल में आपने अपने स्तोक-ज्ञान को चिन्तन-मनन द्वारा इतना व्यापक रूप दिया कि आप शीघ्र ही बोल-थोकड़ों के विशेष-ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। आपकी इस क्षेत्र में यह प्रसिद्धि आज भी बनी हुई है।

पूज्य श्री अमोलकऋषि जी महाराज द्वारा सम्पादित समस्त जैनागमों (ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद एवं एक आवश्यक—कुल बत्तीस) का शुद्ध वाचन सीखा, उनका अर्थ समझा एवं व्याख्या-विश्लेषण का मनन-पूर्वक अध्ययन कर आप उनमें पारंगत बन गए। आगम-वाचना पर आपका विशेष ध्यान, विशेष बल रहा। दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र एवं नंदीसूत्र तो आपने कण्ठस्थ ही कर लिए। तत्कालीन आचार्य-प्रवर श्री कानमलजी महाराज का आगम-शिक्षण में विशेष सहयोग रहा। अपने शिक्षाकाल में आपने अनेक आगमों की नियुक्ति, चूर्णि एवं टीकाओं का भी सविशेष अध्ययन किया।

आज भी आप आगमिक रहस्यों का मनन-पूर्वक उद्घाटन करने में श्रमरत हैं। आगम-स्वाध्याय आपकी दैनिकचर्या का एक प्रमुख अंग है।

न्याय-शास्त्र

बहुत-से नैयायिक ग्रन्थों का भी आपने जिज्ञासा-पूर्वक अध्ययन किया। जिन न्याय-ग्रंथों को आपने पढ़ा वे कुछ इस प्रकार हैं—न्यायदीपिका, स्याद्वादमञ्जरी, प्रमाण-मीमाँसा, रत्नाकरावतारिका, न्यायमुक्तावली आदि।

दर्शन शास्त्र

दर्शन के क्षेत्र में आपका ध्यान मुख्य रूप से जैन-दर्शन पर केन्द्रित रहा। जैन दार्शनिक ग्रंथों का आपने अति-विस्तृत अध्ययन किया और इस विषय में विशेषज्ञता प्राप्त की। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के विभिन्न दार्शनिकों एवं दर्शन-ग्रन्थों को भी आपने जाना/समझा तथा 'षड्दर्शन समुच्चय' को विशेष रुचि के साथ पढ़ा।

इनके अतिरिक्त 'तर्कशास्त्र' का भी आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया। कलकत्ता से संचालित 'काव्य-न्याय विषयक स्नातकोत्तर-परीक्षा' में अच्छी सफलता प्राप्त की। विद्वद्-मण्डल ने आपकी योग्यताओं को, प्रतिभा को 'काव्यतीर्थ' एवं 'तर्कमनीषी' जैसी उपाधियों से अलंकृत किया। सन् १९३३ में आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की 'साहित्य मध्यमा' परीक्षा सम्पूर्ण (सभी खण्ड एक साथ) दी एवं सफलता प्राप्त की।

ज्ञान अथाह है, अनन्त है, अपार है। कितना भी सीखा जाए पर वह होता है सागर की कुछ बूंदों के सदृश ही। अपने शिक्षा-काल में मुनि-श्री ने जो कुछ सीखा, पढ़ा, ज्ञानार्जन किया; उसे वहीं विराम नहीं दिया। "ज्ञान तो उम्र के प्रत्येक भाग में हर-पल, हर-क्षण, कहीं भी व कभी भी सीखा जा सकता है एवं वर्धित किया जा सकता है"—इसी मौलिक मान्यता के आधार पर आप शिक्षा-काल के बाद भी निरन्तर ज्ञानाराधना में लगे रहे। अनंतज्ञान-प्रवाह में आपके साधना-मय जीवन के गोते लगते रहे और "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" उक्ति के अनुसार आपके श्रम-उद्यम-पुरुषार्थ का सुफल भी आपको मिलता रहा।

आज भी आप ज्ञान-साधना में रत हैं। आपके ज्ञानार्जन का वर्तमान स्रोत है—"स्वाध्याय"।

स्वाध्याय से स्व-अध्ययन तक

मुनि बनने के बाद ज्ञान-साधना ही साधक का मुख्य लक्ष्य रहता है। ज्ञान की साधना का प्रथम चरण है गुरु से ज्ञान की प्राप्ति, द्वितीय चरण है प्राप्त-ज्ञान पर मनन-चिन्तन और तृतीय चरण है ज्ञान के प्रकाश में 'स्व' का अध्ययन। प्रतिभासंपन्न मुनि जी ने ज्ञानार्जन के प्रथम चरण में ही द्वितीय चरण को स्थान दे दिया था। ज्यों-ज्यों ज्ञान विकसित होता गया, आपका मनन-चिन्तन भी बढ़ता गया। आप अब गुरुजनों, विद्वानों, शिक्षकों एवं ग्रंथों-पुस्तकों से अधीत ज्ञान पर अधिकाधिक चिन्तन करने लगे। इसी चिंतन ने आपके जीवन में 'स्वाध्याय' को जन्म दिया। ज्ञान की पिपासा बढ़ी, जिज्ञासा जगी तो स्वयं ही अनेक सन्दर्भ-ग्रंथों का पारायण करने लगे। एक ही विषय पर विभिन्न पुस्तकों का तुलनात्मक अध्ययन करने लगे। यहीं आपको स्वाध्याय के महत्त्व की अनुभूति हुई। आपने जाना कि—

"स्वाध्याय ही सब भावों (तत्त्वों) का प्रकाश करने वाला है।[1] स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादित करने वाले) कर्म का क्षय होता है[2] अतः यह ज्ञान-प्राप्ति का साधन है, मार्ग है। स्वाध्याय में रत रहने से सर्व दुःखों से छुटकारा मिल जाता है[3]। अतः यह मानसिक शांति का अमोघ उपाय है।"

१ 'सज्झायं तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं'-उत्तराध्ययन सूत्र २६/३७

२ 'सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।'-उत्तराध्ययन सूत्र २९/१९

३ 'सज्झाए वा निउत्तेणं सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे'- वही २६/१०

इस तरह ज्ञान-प्राप्ति के इस विशिष्ट साधन को, अद्वितीय तप को, बंधन-मुक्ति के उपाय को आपने अपना जीवन-सहचर बना लिया। वर्षों तक स्वाध्याय-लीन रहे तो आपको ज्ञान के दिव्य-प्रकाश की स्वानुभूति होने लगी। उसी प्रकाश में आपने आत्मोन्मुखी बन आत्म-चिन्तन प्रारम्भ किया। स्वयं अध्ययन करते-करते मुनि श्री 'स्व' के अध्ययन तक जा पहुंचे। अपने ज्ञान को आगे ही आगे गतिमान रखने के लिए आत्म-हितकारी सत्साहित्य का अध्ययन आपने कभी छोड़ा नहीं। अपने गुरु के पद-चिह्नों पर आप चलते रहे। स्वाध्याय-प्रेमी स्वामी श्री चाँदमल जी महाराज के स्वाध्यायमय जीवन से भी आप विशेष प्रभावित हुए। स्वाध्याय से आपने ज्ञान का तत्त्वान्वेषण किया, श्रुत को हृदयंगम किया, एकाग्रता प्राप्त करने में सफलता हासिल की। आपका कहना है—"मानसिक एवं शारीरिक शांति की अचूक औषध यदि कोई है तो वह है 'स्वाध्याय'। रोगी चाहे कैसा ही क्यों न हो, वह अगर स्वाध्याय में डूबकर शारीरिक पीड़ाओं को विस्मृत कर देगा तो निश्चय ही मन की विकृतियों को भगाने में समर्थ बन जाएगा और मस्तिष्क की विक्षिप्त विचार-धाराओं को वहाँ से हटाने में सफलता प्राप्त कर लेगा, फलतः उसे रोगों से मुक्ति भी मिल जाएगी।"

'स्वाध्याय' आज भी पूज्य मुनि श्री के जीवन का अनिवार्य अंग बना हुआ है। वृद्धावस्था, अस्वस्थता, शारीरिक निर्बलता—इन सब प्रतिकूलताओं के बावजूद भी आप स्वाध्याय में निमग्न रहते हैं। क्या दिन और क्या रात! अधिकाधिक समय आपका स्वाध्याय, ध्यान एवं जप-जाप में ही व्यतीत होता है।

नमो उवज्झायाणं

विद्या विनय देती है और विनय से पात्रता आती है। विद्या का शुद्ध और सम्यक् रूप अध्यात्म-ज्ञान है। यही सम्यग्ज्ञान आत्मा को निखारता है। विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने से दोहरा लाभ होता है। एक तरफ ज्ञान-साधक स्वयं ज्ञान के प्रकाश में स्व-कल्याण के पथ पर बढ़ता है तो दूसरी ओर प्राप्त ज्ञान का वितरण करता हुआ अन्य भव्य-जीवों को भी आत्म-कल्याण की डगर पर चलने की सत्प्रेरणा देता है, अतः ज्ञान और ज्ञानी स्व-पर-कल्याणक होते हैं। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-रक्षण, ज्ञान-वृद्धि एवं ज्ञान को हृदयंगम करते हुए मुनि श्री जीतमल जी म. सा. 'स्व' का अध्ययन करने लगे। ऐसा करते हुए उन्हें जब अपने हृदय में ज्ञान की एक कल्याणदायक आभा का अनुभव हुआ तो वे उस आभा को बिखेरने लगे, बांटने लगे। ज्ञान का तो कोष ही निराला होता है। यह वह कोष है जो "ज्यों-ज्यों खर्चे त्यों बढ़े, बिन खर्चे घटि जाहिं"। हमारे ये साधक अपनी ज्ञान-साधना करते हुए, स्थान-स्थान पर ज्ञान की अखण्ड-ज्योति जगाते हुए आत्म-कल्याण के प्रशस्त-पथ पर कदम बढ़ाए जा रहे थे; उधर इनकी यश-सौरभ मन्द-मन्द हवाओं में तैरती हुई इस पार से उस पार फैली जा रही थी, और इधर इनकी बढ़ती हुई ख्याति से समस्त जैन-समाज इनकी ओर आकर्षित हुआ जा रहा था।

वि. संवत् २००४ में राजस्थान के ऐतिहासिक नगर नागौर में "श्री जयमल जैन श्रमण-संघ" के सभी साधु-मुनिराज एकत्रित हुए; स्वामिवर्य श्री हजारीमल जी म. सा., श्रुताचार्य श्री चौथमलजी म.सा. एवं स्वामी श्री रावतमलजी म. सा. के सभी संत। यहीं 'जय-सम्प्रदाय' के 'आचार्य-पद' पर किसी सुयोग्य संत को सुस्थित करने की वार्ता चली। पूज्य-प्रवर श्री कानमलजी म. सा. के देवलोक हो जाने

दर्शन शास्त्र

दर्शन के क्षेत्र में आपका ध्यान मुख्य रूप से जैन-दर्शन पर केन्द्रित रहा। जैन दार्शनिक ग्रंथों का आपने अति-विस्तृत अध्ययन किया और इस विषय में विशेषज्ञता प्राप्त की। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के विभिन्न दार्शनिकों एवं दर्शन-ग्रन्थों को भी आपने जाना/समझा तथा 'षड्दर्शन समुच्चय' को विशेष रुचि के साथ पढ़ा।

इनके अतिरिक्त 'तर्कशास्त्र' का भी आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया। कलकत्ता से संचालित 'काव्य-न्याय विषयक स्नातकोत्तर-परीक्षा' में अच्छी सफलता प्राप्त की। विद्वद्-मण्डल ने आपकी योग्यताओं को, प्रतिभा को 'काव्यतीर्थ' एवं 'तर्कमनीषी' जैसी उपाधियों से अलंकृत किया। सन् १९३३ में आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की 'साहित्य मध्यमा' परीक्षा सम्पूर्ण (सभी खण्ड एक साथ) दी एवं सफलता प्राप्त की।

ज्ञान अथाह है, अनन्त है, अपार है। कितना भी सीखा जाए पर वह होता है सागर की कुछ बूंदों के सदृश ही। अपने शिक्षा-काल में मुनि-श्री ने जो कुछ सीखा, पढ़ा, ज्ञानार्जन किया; उसे वहीं विराम नहीं दिया। "ज्ञान तो उम्र के प्रत्येक भाग में हर-पल, हर-क्षण, कहीं भी व कभी भी सीखा जा सकता है एवं वर्धित किया जा सकता है"—इसी मौलिक मान्यता के आधार पर आप शिक्षा-काल के बाद भी निरन्तर ज्ञानाराधना में लगे रहे। अनंतज्ञान-प्रवाह में आपके साधना-मय जीवन के गोते लगते रहे और "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" उक्ति के अनुसार आपके श्रम-उद्यम-पुरुषार्थ का सुफल भी आपको मिलता रहा।

आज भी आप ज्ञान-साधना में रत हैं। आपके ज्ञानार्जन का वर्तमान स्रोत है—"स्वाध्याय"।

स्वाध्याय से स्व-अध्ययन तक

मुनि बनने के बाद ज्ञान-साधना ही साधक का मुख्य लक्ष्य रहता है। ज्ञान की साधना का प्रथम चरण है गुरु से ज्ञान की प्राप्ति, द्वितीय चरण है प्राप्त-ज्ञान पर मनन-चिन्तन और तृतीय चरण है ज्ञान के प्रकाश में 'स्व' का अध्ययन। प्रतिभासंपन्न मुनि जी ने ज्ञानार्जन के प्रथम चरण में ही द्वितीय चरण को स्थान दे दिया था। ज्यों-ज्यों ज्ञान विकसित होता गया, आपका मनन-चिन्तन भी बढ़ता गया। आप अब गुरुजनों, विद्वानों, शिक्षकों एवं ग्रंथों-पुस्तकों से अधीत ज्ञान पर अधिकाधिक चिन्तन करने लगे। इसी चिंतन ने आपके जीवन में 'स्वाध्याय' को जन्म दिया। ज्ञान की पिपासा बढ़ी, जिज्ञासा जगी तो स्वयं ही अनेक सन्दर्भ-ग्रंथों का पारायण करने लगे। एक ही विषय पर विभिन्न पुस्तकों का तुलनात्मक अध्ययन करने लगे। यहीं आपको स्वाध्याय के महत्त्व की अनुभूति हुई। आपने जाना कि—

"स्वाध्याय ही सब भावों (तत्त्वों) का प्रकाश करने वाला है।[1] स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादित करने वाले) कर्म का क्षय होता है[2] अतः यह ज्ञान-प्राप्ति का साधन है, मार्ग है। स्वाध्याय में रत रहने से सर्व दुःखों से छुटकारा मिल जाता है[3]। अतः यह मानसिक शांति का अमोघ उपाय है।"

१ 'सज्झायं तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं'-उत्तराध्ययन सूत्र २६/३७
२ 'सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।'-उत्तराध्ययन सूत्र २९/१९
३ 'सज्झाए वा निउत्तेणं सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे'- वही २६/१०

इस तरह ज्ञान-प्राप्ति के इस विशिष्ट साधन को, अद्वितीय तप को, बंधन-मुक्ति के उपाय को आपने अपना जीवन-सहचर बना लिया। वर्षों तक स्वाध्याय-लीन रहे तो आपको ज्ञान के दिव्य-प्रकाश की स्वानुभूति होने लगी। उसी प्रकाश में आपने आत्मोन्मुखी बन आत्म-चिन्तन प्रारम्भ किया। स्वयं अध्ययन करते-करते मुनि श्री 'स्व' के अध्ययन तक जा पहुंचे। अपने ज्ञान को आगे ही आगे गतिमान रखने के लिए आत्म-हितकारी सत्साहित्य का अध्ययन आपने कभी छोड़ा नहीं। अपने गुरु के पद-चिह्नों पर आप चलते रहे। स्वाध्याय-प्रेमी स्वामी श्री चाँदमल जी महाराज के स्वाध्यायमय जीवन से भी आप विशेष प्रभावित हुए। स्वाध्याय से आपने ज्ञान का तत्त्वान्वेषण किया, श्रुत को हृदयंगम किया, एकाग्रता प्राप्त करने में सफलता हासिल की। आपका कहना है—"मानसिक एवं शारीरिक शांति की अचूक औषध यदि कोई है तो वह है 'स्वाध्याय'। रोगी चाहे कैसा ही क्यों न हो, वह अगर स्वाध्याय में डूबकर शारीरिक पीड़ाओं को विस्मृत कर देगा तो निश्चय ही मन की विकृतियों को भगाने में समर्थ बन जाएगा और मस्तिष्क की विक्षिप्त विचार-धाराओं को वहाँ से हटाने में सफलता प्राप्त कर लेगा, फलतः उसे रोगों से मुक्ति भी मिल जाएगी।"

'स्वाध्याय' आज भी पूज्य मुनि श्री के जीवन का अनिवार्य अंग बना हुआ है। वृद्धावस्था, अस्वस्थता, शारीरिक निर्बलता—इन सब प्रतिकूलताओं के बावजूद भी आप स्वाध्याय में निमग्न रहते हैं। क्या दिन और क्या रात! अधिकाधिक समय आपका स्वाध्याय, ध्यान एवं जप-जाप में ही व्यतीत होता है।

नमो उवज्झायाणं

विद्या विनय देती है और विनय से पात्रता आती है। विद्या का शुद्ध और सम्यक् रूप अध्यात्म-ज्ञान है। यही सम्यग्ज्ञान आत्मा को निखारता है। विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने से दोहरा लाभ होता है। एक तरफ ज्ञान-साधक स्वयं ज्ञान के प्रकाश में स्व-कल्याण के पथ पर बढ़ता है तो दूसरी ओर प्राप्त ज्ञान का वितरण करता हुआ अन्य भव्य-जीवों को भी आत्म-कल्याण की डगर पर चलने की सत्प्रेरणा देता है, अतः ज्ञान और ज्ञानी स्व-पर-कल्याणक होते हैं। स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-रक्षण, ज्ञान-वृद्धि एवं ज्ञान को हृदयंगम करते हुए मुनि श्री जीतमल जी म. सा. 'स्व' का अध्ययन करने लगे। ऐसा करते हुए उन्हें जब अपने हृदय में ज्ञान की एक कल्याणदायक आभा का अनुभव हुआ तो वे उस आभा को बिखेरने लगे, बांटने लगे। ज्ञान का तो कोष ही निराला होता है। यह वह कोष है जो "ज्यों-ज्यों खर्चे त्यों बढ़े, बिन खर्चे घटि जाहिं"। हमारे ये साधक अपनी ज्ञान-साधना करते हुए, स्थान-स्थान पर ज्ञान की अखण्ड-ज्योति जगाते हुए आत्म-कल्याण के प्रशस्त-पथ पर कदम बढ़ाए जा रहे थे; उधर इनकी यश-सौरभ मन्द-मन्द हवाओं में तैरती हुई इस पार से उस पार फैली जा रही थी, और इधर इनकी बढ़ती हुई ख्याति से समस्त जैन-समाज इनकी ओर आकर्षित हुआ जा रहा था।

वि. संवत् २००४ में राजस्थान के ऐतिहासिक नगर नागौर में "श्री जयमल जैन श्रमण-संघ" के सभी साधु-मुनिराज एकत्रित हुए; स्वामिवर्य श्री हजारीमल जी म. सा., श्रुताचार्य श्री चौथमलजी म.सा. एवं स्वामी श्री रावतमलजी म. सा. के सभी संत। यहीं 'जय-सम्प्रदाय' के 'आचार्य-पद' पर किसी सुयोग्य संत को सुस्थित करने की वार्ता चली। पूज्य-प्रवर श्री कानमलजी म. सा. के देवलोक हो जाने

(संवत् १९८५) की तिथि से आज तक आचार्य का यह महत्त्वपूर्ण पद रिक्त पड़ा था। अपने समाधिमरण के समय पूज्य श्री कानमल जी म. सा. ने संघ के संगठन एवं अन्य समस्त कार्यों की जिम्मेदारी श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म. सा. के कन्धों पर डाल दी थी और तब से आज तक वे ही इस भार को, जिम्मेदारी को पूर्ण निष्ठा के साथ निभा रहे थे, सम्प्रदाय की शासन-सत्ता चला रहे थे। इन्हीं के प्रयत्नों एवं प्रभाव का परिणाम था कि नागौर में सभी मुनिराज 'आचार्य' जैसे महत्त्वपूर्ण पद के लिए एकत्रित होकर सुखद निर्णय लेने जा रहे थे। अनेकानेक प्रस्ताव रखे गए, अनेक नाम आए पर श्रुताचार्य जी के वर्चस्व ने सभी को प्रभावित किया। वर्षों के आपसी विवादों का निपटारा हो सके, आपसी सामंजस्य एवं तालमेल को गति, प्रगति मिले और एक ही सम्प्रदाय के अलग-अलग संघाड़े कम से कम इस रूप में तो संगठित हो जाएँ, इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर श्रुताचार्य जी ने स्व. स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज के शिष्य मुनि श्री मिश्रीमल जी म. सा. 'मधुकर' का नाम प्रस्तावित किया और अपने प्रभाव से, विशेष बल देकर उन्हें ही 'आचार्य-पद' पर पदासीन करवा दिया।

एकत्रित भक्तों ने उस समय श्रुताचार्य जी की इस निस्पृहता एवं उनके इस संघैक्य के प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सबने कहा—"श्रुताचार्य जी के स्वयं के शिष्य मुनि श्री जीतमल जी म. सा. आयु में, दीक्षा में और ज्ञानादि में बढ़-चढ़ कर हैं पर इन्हें आचार्य नहीं बनाया क्योंकि ये इनके स्वयं के शिष्य हैं। कितनी महानता है, कैसा त्याग है, कितना विवेक है!" श्रावक संघ के एकत्रित कार्यकर्त्ताओं ने वहीं एक विचार-गोष्ठी आयोजित की। गोष्ठी में विचार-विमर्श चले, परिणाम-स्वरूप सभी ने एक स्वर से गुरुजनों के पाद-पद्मों में करबद्ध निवेदन किया कि 'आचार्य-पद' के लिए आपका चुनाव निश्चय ही प्रशंसनीय है एवं समीचीन भी। इस चुनाव से अधिकांश श्रावक-गण संतुष्ट हैं पर हम सभी की हार्दिक इच्छा है कि आपके सुशिष्य मुनि श्री जीतमल जी म. सा. को भी इसी अवसर पर 'उपाध्याय' पद से विभूषित किया जाए।

संघ-प्रार्थना उचित थी। गुरुदेव ने उनके विनीत-निवेदन पर अपनी स्वीकृति की मुहर अंकित कर दी। वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन आयोजित उसी विशाल-समारोह में **मुनि श्री जीतमल जी** को **'उपाध्याय'** पद से अलंकृत कर दिया गया। अब आप उपाध्याय श्री जीतमल जी म. सा. कहलाने लगे। उपस्थित जन-समूह ने आपका गगनभेदी जयघोष किया। जय-सम्प्रदाय के इतिहास में यह पहला अवसर था जब किसी मुनि को 'उपाध्याय' का पद प्रदान किया गया। यह एक ऐतिहासिक निर्णय सिद्ध हुआ। इससे पूर्व (पूज्य श्री जयमल जी महाराज से पूज्य श्री कानमल जी महाराज तक) जय-सम्प्रदाय में उपाध्याय-पद पर किसी को शोभित नहीं किया गया था। हमारे चरित-नायक ही इस सम्प्रदाय के प्रथम उपाध्याय-श्री थे।

उपाध्याय-पद का महत्त्व अध्ययन और अध्यापन को लेकर विशेष है। स्वयं पढ़ना, सीखना, निरन्तर ज्ञानार्जन करना और दूसरों को भी पढ़ाना, सिखाना तथा अर्जित ज्ञान को बांटना; यही है उनका कर्त्तव्य और इसी में निहित है उनके पद की गरिमा। 'आचार्य-पद' पर अवस्थित मुनिराज जहाँ संघ का संचालन, संगठन एवं शासन करते हैं तो उन्हें संघ के भीतरी अनुशासन को कायम रखने में अनेक विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, अनेक गुत्थियों को अपनी सूझ-बूझ से सुलझाना पड़ता है, संघ-हित में अनेक कटु-निर्णय भी लेने पड़ते हैं। इस पद के गौरव का सम्बन्ध शासन-तन्त्र से

है जबकि उपाध्याय-पद विशुद्ध रूप से ज्ञान-सम्बद्ध है। मिथ्यात्व रूप अंधकार को मिटाने के लिए ज्ञान का प्रकाश बांटना, धर्म से डिगते हुए प्राणी को उचित दलीलें देकर धर्म में स्थिर करना, पाखण्डियों-मूढ़मतियों-भ्रमित भक्तों को सत्य-तथ्य-निरूपण-पूर्वक सही मार्ग पर लाना आदि उपाध्याय-पद के उपयुक्त गरिमामय कार्य हैं। अब तो आप आचार्य-पद पर शोभित हैं और वर्तमान उपाध्याय हैं आपकी निश्रा में विचरण करने वाले एवं स्व. स्वामी श्री बख्तावरमल जी महाराज के सुशिष्य साहित्यसूरि पंडित-रत्न श्री लालचन्द जी महाराज साहब। मैं जब भी वर्तमान उपाध्याय-प्रवर को देखता हूँ तो आचार्य-श्री को भी अपनी कल्पना की नजरों से उसी रूप में देखने का प्रयत्न करता हूँ। जहाँ भी बैठते हैं वह पट्ट पुस्तकों से भरा, जिस कमरे में विराजते हैं वहाँ भी इतस्तत: ग्रन्थ-पुस्तकें, जो भक्त आपकी सेवामें बैठे होते हैं उनसे भी आगमिक चर्चा। जिसे कुछ समाधान चाहिए, नया पाठ चाहिए, किसी प्रसंग का प्रकरण चाहिए, शब्द-वाक्य या अनुच्छेद अथवा सूत्र-पाठ का अर्थ चाहिए वही चला आता है, बड़ी आतुरता से आपके पास। श्रावक भी, श्राविका भी, संत भी और सतियाँ भी। पूज्य-पाद श्री जीतमल जी म. सा. ने भी अपने उपाध्याय-काल में अनेक दुर्लभ जैन-ग्रन्थों का अवलोकन किया, अनेक ग्राम-नगरों के प्राचीन ज्ञान-भण्डारों को सुव्यवस्थित किया/करवाया, जैनदर्शन एवं जैन-सिद्धान्त पर अनेक मौलिक शोध-लेख लिखे, प्रभावशाली प्रवचन देकर जैन व जैनेतर लोगों को धर्म-कार्यों के प्रति जागृत किया, अनेक साधु-साध्वियों को आगम-ज्ञान कराया एवं स्तोक-स्तोत्र आदि सिखाए, जिज्ञासुजनों की ज्ञान-पिपासा शांत की, अन्य मतावलम्बियों को जिन-मत की ओर प्रभावित किया, धर्म में शिथिल अनेक जिनानुयायियों की आस्था धर्म के प्रति सुदृढ़ की। अनेकों को धर्म का सुपथ दिखाया और उन्हें उस पथ पर चलने की पावन-प्रेरणा दी। 'नमो उवज्झायाणं'—नमस्कार महामंत्र के इस चौथे पद को उस समय सुशोभित करने वाले हमारे वर्तमान आचार्य-श्री को हमारा वन्दन ! नमन !!

दक्षिण भारत की धर्म-यात्रा

वर्तमान उपाध्याय-प्रवर प्रखरवक्ता पंडित मुनि श्री लालचन्दजी महाराज की दीक्षा दक्षिण भारत में महाराष्ट्र के ताँदली गांव में हुई। यह ग्राम आकोला से लगभग चौदह किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। दीक्षा थी वि. संवत् १९८७ की और दीक्षा के वर्ष का चातुर्मास भी महाराष्ट्र में ही हुआ। दक्षिण भारत के इस एक चातुर्मास के बाद संत वापिस मारवाड़ पधार गए और मरुधरा की पुण्यभूमि का पावन-पद-स्पर्श करते हुए विचरने लगे। उधर महाराष्ट्र के भक्तजनों को इन जैन-मुनिराजों की प्रतिभा, इनका विशिष्ट संयम एवं इनके ओजस्वी प्रवचन याद आने लगे। दक्षिण भारत की ओर विहार एवं चातुर्मास के लिए विनतियाँ तब से बराबर आती रहीं पर कभी किसी मुनिवर की अस्वस्थता तो कभी किसी की अशक्तता, कभी किसी की अनिच्छा तो कभी मरुधरा के श्रद्धालु-श्रावकों का हठाग्रह। बीस-पच्चीस वर्षों तक यह स्थिति बनी रही। स्वामिवर्य श्री चौथमल जी महाराज के (संवत् २००९, जोधपुर-चांदीहाल में) देवलोक-गमन के पश्चात् मुनिवर (दक्षिण-भारत की) धर्म-यात्रा करने पर विचार-विमर्श आपस में करने लगे, मानस बनने लगा। यह बात दक्षिणी श्रावकों को ज्ञात हुई तो उनकी विनतियों का जोर भी बढ़ा, आग्रह प्रबल बना, संघ-प्रतिनिधि निवेदन करने बार-बार मारवाड़ आने लगे। इस समय सुप्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता श्रीमान् जवाहरलाल जी मुणोत का

बम्बई से एक पत्र भी प्राप्त हुआ। अपनी इच्छा जाहिर करते हुए उन्होंने पत्र में लिखा था— "दक्षिण-भारत में आपका पद-स्पर्श, विहार, विचरण निश्चित रूपेण स्वागत-योग्य है पर यदि प्रस्थान करें तो सोच-समझकर ! मेरा तात्पर्य यह है कि यदि एक-दो वर्ष इधर बिताकर पुनः राजस्थान जाने की भावना हो तो आपका राजस्थान से बाहर निकलना व्यर्थ ही रहेगा।" श्री मुणोत जी का लिखना उचित ही था। पुनः मुनिराजों ने आपस में विचार-विमर्श किया और तब एक निश्चय पर पहुंचे।

योजनानुसार राजस्थान से प्रस्थान हुआ और मुनि-चरण दक्षिण का पद-स्पर्श करने निकल पड़े। एक-दो-तीन-चार.... पूरे चौदह वर्ष की वह दक्षिण की धर्म-यात्रा अनुभव की दृष्टि से, प्रचार-प्रसार की दृष्टि से, व्यक्तित्व निखारने की दृष्टि से, ज्ञानाभिवृद्धि की दृष्टि से अत्यन्य सफल रही। नए सम्पर्क, नए क्षेत्र, नए श्रावक, नई बोलियां, नए आयाम, नए क्षितिज। संस्कृत में एक कहावत है - 'पदे-पदे निधानानि।' यह कदम-कदम पर खजाना किनके लिए ? उनके लिए जो भ्रमण करें, पद-विहार करें, पैदल यात्रा करें। जो यहाँ 'निधान' शब्द का अर्थ धन-सम्पत्ति से लगाते हैं, वास्तव में वे एकान्त-वादी एवं सीमित-दृष्टि वाले हैं। यहाँ निधान का अर्थ है—जीवनोपयोगी अमूल्य अनुभव। पद-विहार में नए क्षेत्रों के पद-स्पर्श से जो लाभ मिलता है उसे वे ही जान सकते हैं, जो पद-विहार कर चुके हैं।

निश्चय ही नए-नए क्षेत्रों में अनजान-स्थलों की पैदल-यात्राओं में कई कठिनाइयाँ आती हैं। भिन्न भाषा एवं भिन्न बोलियों के कारण भावों के सुगम आदान-प्रदान की, साधु-व्यवहार एवं समाचारी की अनभिज्ञता के कारण आहार-पानी एवं रहन-सहन की, एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने वाले निकट-तम रास्तों-पगडंडियों या शॉर्टकट मार्गों की अपरिचितता से पद-विहार की और इसी तरह की अनेक परेशानियाँ उपस्थित होती हैं जिनका सामना पैदल-यात्री को करना होता है। स्वामी श्री चाँदमलजी म.सा. के नेतृत्व में पूज्य श्री जीतमलजी म.सा. ने राजस्थान से सुदूर मद्रास तक का विस्तृत जनक्षेत्र देखा। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक एवं तामिलनाडु प्रान्तों के सैकड़ों ग्राम-नगरों को अपने पद-स्पर्श से पावन किया। हजारों-हजार नर-नारियों को जिनमत के लिए प्रेरित कर उन्हें अहिंसक बनाया, जिना-नुयायी बनाया। संवत् २०१४ से २०२७ तक कुल चौदह चातुर्मास दक्षिण भारत में हुए, जिनमें आठ महाराष्ट्र के विभिन्न नगरों, उपनगरों में एवं दो-दो मध्यप्रदेश, कर्णाटक और तामिलनाडु के क्षेत्रों में। दक्षिण-भारत की इस धर्म-यात्रा की स्मृति का कीर्ति-स्तम्भ है : 'जयध्वज ग्रंथ' एवं "जयध्वज प्रकाशन समिति"।

आज राजस्थान से मद्रास तक के सुदूरवर्ती इलाकों तक जगह-जगह आपके सहस्रों परम-श्रद्धालु भक्त मिलेंगे, अनेक ग्राम-नगरों में 'श्री जयमल जैन श्रावक संघ' के कार्यकर्त्ता एवं सदस्य मिलेंगे, अनेक सुश्रावक 'जयगुन्जार' पत्र के रसिक एवं नियमित पाठक मिलेंगे, अनेक श्रावक ऐसे भी मिलेंगे जिनके हृदय में अंकुरित भक्ति-वीणा के तार आचार्य-जीत एवं उपाध्याय-लाल की साधना-शक्ति से जुड़े हैं और जो प्रतिवर्ष गुरु-चरणों की रज को शिरोधार्य करने राजस्थान जैसे शुष्क मरुस्थल की यात्रा करते हैं; ये सारे ही सुखद परिणाम उसी धर्म-यात्रा की देन हैं।

राजस्थान में जय-संघ की दिन-ब-दिन वर्तमान प्रगति का श्रेय भी दक्षिण-भारत को जाता है और उस श्रेय की प्राप्ति के पीछे भी इसी धर्म-यात्रा का अमिट साया है। राजस्थान के कितने ही मरुधरा-लाल, जो आज इन दक्षिण-वर्ती क्षेत्रों में अपने व्यापारिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठान जमा कर

लक्ष्मी-पति बन चुके हैं, आपकी दक्षिण-यात्रा के समय आप-श्री की प्रतिभा से प्रभावित हुए हैं और आज भी 'जय-संघ' एवं उसकी समस्त गतिविधियों में तन-मन-धन से सहयोग कर रहे हैं।

इस तरह आपकी वह चतुर्दश-वर्षीय दक्षिण-भारत की धर्म-यात्रा जय-जैन-संघ के विकास एवं सुदृढ़-स्थिति की आधारशिला सिद्ध हुई है।

जीत-वाणी

हृदय-गत विचारों का आदान-प्रदान 'वाणी' के माध्यम से होता है। 'वाणी' की इस शक्ति का विकास जितना मानव कर सकता है उतना अन्य कोई प्राणी नहीं। भावों के प्रकाशन में सरलता के लिए मानव जीवन-भर प्रयत्नशील रहता है। ज्ञान एवं अनुभव वाणी को प्रवाह देने वाले हैं। कथनी-करनी की समानता एवं संयमित भाषा से वाणी प्रभावोत्पादक बनती है। वाणी में विवेक का होना सोने में सुहागे के समान है। वाणी ही अमृत है और वाणी ही विष। वाणी जहाँ दो दिलों को मिलाने वाली है वहीं वह अभिन्न मनों में मनमुटाव कराने वाली भी है। वाणी एक वह शक्ति है, जिसका समुचित प्रयोग व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित कर सकता है और अनुचित प्रयोग विनष्ट भी कर सकता है। **'मुख ऊपर मिठियास, घट मांहि खोटा घड़े'** जैसी बाहर से प्रिय लगने वाली वाणी विनाश का कारण बनती है। इसी तरह **'आपहु कह भीतर गई, जूती खात कपाल'** जैसी वाणी भी दुर्गति ही करवाती है। वाणी के लिए नीतिकार कहते हैं कि वह हित और मित हो, सत्य और प्रिय हो एवं हृदय-तराजू पर तोली हुई अर्थात् विवेक-पूर्ण हो।

इस जीवनी के चरित-नायक की वाणी उन सभी गुणों से सम्पन्न है, जो नीतिकारों ने बताए हैं। आपकी वाणी आत्म-कल्याणी है, शांति व सुखदायिनी है, परस्पर विरोधी जनों के लिए सेतु-बंध-सी है, हृदय-क्लेश दूर करने वाली है और प्रेम-स्नेह-सौहार्द पैदा करने वाली है। आपकी वाणी में ओज होते हुए भी शीतलता है, गूढ़-रहस्योद्घाटकता होते हुए भी उसमें सरलता है, अपनत्व की झलक होते हुए भी उसमें समता है।

जन-हित में आपकी वाणी उपदेशों एवं प्रवचनों के माध्यम से पिछले पचास वर्षों से अजस्र रूप में बहती हुई चली आ रही है। अनेक गाँवों, शहरों एवं नगरों के श्री संघ आपकी वाणी के प्रभाव से सुपरिचित हैं। आप ही की वाणी से प्रभावित होकर करमावास (मालियान) के ठाकुर श्री मोहब्बतसिंह जी ने मांसाहार का त्याग किया। रायपुर, निमाज, सबलपुर, कालवी आदि अनेक गाँवों/कस्बों के ठाकुर आपके सम्पर्क में आए, आपकी वाणी एवं आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए और उन्होंने अपने दुर्व्यसनों का त्याग किया। ठाकुर कल्याणसिंहजी कालवी, जो राजस्थान की राजनीति के चतुर खिलाड़ी हैं, आपके प्रथम दर्शनों से ही बड़े प्रभावित हुए और आज भी आपके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं।

जैनेतर-समुदाय के अन्य कितने ही व्यक्तियों ने आपकी वाणी के प्रभाव को अपने जीवन में उतारा है। 'झूंठा' के श्री गणपत मोची, श्री रामचन्द्र लुहार आदि कई व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन्होंने आपके श्रीमुख से सामायिक-प्रतिक्रमण सीखा है। आपकी सत्प्रेरणा से जागृत हो अनेकों ने सप्त-कुव्यसन, धूम्रपान, मद्यपान, रात्रिभोजन आदि का परित्याग भी किया है।

आप अधिक बोलना, वाणी का अपव्यय करना, व्यर्थ-भाषण करना पसन्द नहीं करते हैं। यही कारण है कि आपकी वाक्शक्ति एवं भाषा-प्रभाव में ज्यों-ज्यों प्रगति होती गई है। मौन एवं संयम को आप वाणी का भूषण मानते हैं। यदि मैं कह दूं कि "आपकी सहज-भाव से निःसृत वाणी 'वचनसिद्धि' का रूप ले लेती है" तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जीत-साधना

इस समय (संवत् २०४२) आपका साधना-काल लगभग पैंसठ वर्ष का है। इस सुदीर्घ साधना-काल में आपने सम्यक् प्रकारेण ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना की है और उस आराधना के बल पर आपको जिस आत्म-शक्ति की उपलब्धि हुई है वह निश्चय ही आश्चर्यजनक एवं चमत्कारिक है। जैन मुनि अपनी शक्तियों का प्रयोग अपने लिए, यश-नाम-कीर्ति के लिए, जन-मन को आकर्षित करने या लुभाने के लिए, भक्तजनों को प्रभावित करने के लिए कभी नहीं करते; इस पर भी यदा-कदा स्वतः या संघ-हित में वे शक्तियाँ स्वयं लाभान्वित हो जाती हैं पर उनका भी पता लगाना कठिन है। न उनका कहीं आकलन-संकलन होता है और न स्वयं मुनिराज अपने श्रीमुख से उन्हें कहते हैं।

एक दृष्टि से यदि विचार करें तो सम्पूर्ण सुदीर्घ साधना-काल ही आपका जीवन-इतिहास है और वही उनकी साधना का इतिवृत्त है। इस दृष्टि से आपकी ज्ञान-साधना, आपका स्वाध्याय से स्व-अध्ययन तक पहुंचना, आपके प्रतिभाशाली सुशिष्यों का समुदाय, आपके वरद-हस्त एवं महती कृपा से संचालित अनेक धर्म-संस्थाएँ, धार्मिक शिक्षण-शिविर, स्वाध्याय प्रशिक्षण-शिविर आदि सभी आपकी साधना-शक्ति के ही सुफल हैं।

आपकी साधना-शक्ति में जिन कतिपय विशेष गुणों को सम्मिलित किया जाना यहाँ आवश्यक है वे हैं—असीम धैर्य, अतुलित आत्मबल, अपार सहनशीलता। चाहे आपका शरीर अस्वस्थ रहा हो, चाहे आप गंभीर रूप से पीड़ित हुए हों, चाहे आपका तन कभी किसी करण से अति-अशक्त बना हो, चाहे विहार-काल में कष्ट-साध्य उपसर्ग एवं परीषह उपस्थित हुए हों, चाहे संघ व संगठन की ज्वलन्त समस्याओं ने आपको घेरा हो—कभी किसी भी विषम-परिस्थिति में आपने अपना धैर्य नहीं खोया। चतुर्विध संघ की भावी आशाओं के केन्द्र अपने सुयोग्य शिष्य 'नूतन' जैसे 'नवरत्न' को खोकर भी आप अपने में स्थिर रहे, धैर्यशील रहे। *जीवन एक जलधारा है, सरिता है, बहती हुई नदी है। इस जीवन-सरिता के बहाव में कितने* ही मोड़, कितने ही पड़ाव आते हैं, कुछ सुखद एवं अनुकूल तो कुछ दुःखद एवं प्रतिकूल। महापुरुष वे हैं जो दोनों ही परिस्थितियों में तटस्थ बने रहते हैं, समभाव-पूर्वक हर तरह के प्रसंगों को निकल जाने देते हैं और स्व-स्थिति को यथावत् बनाए रखते हैं, विकसित करते हैं तथा मंजिल तक पहुंचने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आचार्य प्रवर एक ऐसे ही दिव्य-साधक हैं।

णमो आयरियाणं

श्री जयमल जैन चतुर्विध संघ के अष्टम आचार्य-प्रवर पूज्यपाद श्री कानमल जी महाराज का संवत् १९८५ मे स्वर्गवास हो गया तो संघ का आचार्य-पद रिक्त हो जाने से पुनः किसी योग्य एवं प्रभावी संत के आचार्य चुने जाने की प्रतीक्षा होने लगी। अपने अन्तिम समय में पूज्य श्री कानमलजी म.सा. ने

श्रुताचार्य स्वामिवर्य श्री चौथमल जी म. सा. को संघ की समस्त जिम्मेदारियाँ, संगठन के सारे उत्तर-दायित्व, चतुर्विध संघ का सुव्यवस्थित संचालन एवं शासन के अधिकार सौंप दिए थे। सम्प्रदाय में उस समय तीन संघाड़े थे। लगभग दो दशक तक इस विषयक विचार-विमर्श होते रहे, प्रयत्न चलते रहे। संवत् २००४ में श्रुताचार्य जी के अथक प्रयत्नों से स्वामी श्री हजारीमल जी म.सा. के संघाड़े से आचार्य-पद के लिए चुने गए मुनिराज के नाम पर सभी ने स्वीकृति दी, पद प्रतिष्ठित हुआ पर शीघ्र ही पुनः रिक्त हो गया। अपनी आंतरिक कटु-परिस्थितियों के कारण स्व. पंडित मुनि श्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर' को अत्यल्प समय में ही स्वेच्छया वह पद छोड़ना पड़ा। संघ का आचार्य जैसा महत्त्वपूर्ण, गौरवशाली पद असाधारण एवं अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण संवत् २०३२ तक रिक्त रहा। आचार्य-पद की इस रिक्तता के वक्त संघ की संगठनात्मक गतिविधियों को बनाए रखने एवं उसे टकराव-बिखराव जैसी स्थितियों से बचाने में श्रुताचार्य जी ने अपनी समस्त प्रतिभा एवं योग्यता का उपयोग किया व सफलता प्राप्त की। इस बीच कुछ वर्षों तक संघ ने अपना विलय 'श्रमण संघ' नामक अ.भा.व. श्वे. स्था. श्रमण-संगठन में किया था पर कई सैद्धान्तिक कारणों से जय-संघीय श्रमण उस संघ को छोड़ने के लिए मजबूर हो गए। सोजत-चातुर्मास (संवत् २०३१) में पुनः जयमल जैन चतुर्विध संघ के गठन की योजना बनी। भारत-भर के जय-गच्छीय श्रावक-श्राविकाओं एवं संघों को स्थिति की सूचना दे दी गई।

संवत् २०३२ का वर्ष पूर्णतः संगठन-कार्य में लगा। इसी बीच श्रद्धालु श्रावकों के साग्रह निवेदन को मान्य कर गुरुवर को नागौर में 'आचार्य-कल्प' के पद से विभूषित किया गया। संवत् २०३३ बड़ा सौभाग्यशाली वर्ष रहा, जयगच्छ के लिए। इस वर्ष संघ को दो मुनि-रत्न प्राप्त हुए—श्री गुणवंत मुनि एवं श्री भद्रेशमुनि तथा इसी वर्ष आचार्य-कल्प श्री जीतमल जी म.सा. को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया।

अवसर था महावीर-जयन्ती का। 'रायपुर' (मारवाड़) में दीक्षा की भव्य तैयारियाँ हो चुकी थीं। दो दीक्षाएँ होनी थीं यहाँ। दीक्षा के लिए चैत्र सुदी त्रयोदशी, महावीर-जयंती का शुभ दिन ही नियत था। दीक्षा की पूर्व तैयारियों के समय आदर्श सुश्रावक एवं जयगच्छ के कर्मठ कार्यकर्त्ता स्व. श्री चांदमलजी जांगड़ा ने अपने साथियों के सम्मुख अपनी मनोकामना उजागर करते हुए कहा—"कितना सुखद अवसर है, अच्छा हो यदि इसी अवसर पर इस पुण्यधरा को एक सौभाग्य और मिल जाए!" उन्हीं साथियों में से एक श्री भंवरलालजी तातेड़ ने पूछा—"क्या इच्छा है आपकी? क्या करवाना चाहते हैं आप?" स्व. जांगड़ा जी ने कहा—मैं चाहता हूं कि विद्वान् एवं प्रतिभावान् संत आचार्यकल्प श्री जीतमलजी म.सा. आचार्य बनें और उन्हें आचार्य की चद्दर इसी दीक्षा-समारोह में समर्पित की जाए।"

स्थानीय सभी कार्यकर्त्ताओं को एकत्रित किया गया, बात की बात में कार्यकारिणी की बैठक हुई। स्व. श्री जांगड़ा जी ने प्रस्ताव प्रस्तुत किया, समर्थन मिला और सर्वसम्मति से स्वीकृत भी हो गया। जवाजा, ब्यावर, सोजतशहर, मद्रास, बेंगलोर आदि ग्रामों/शहरों के कतिपय वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की अनुमति भी जांगड़ा जी ने टेलीफोन, तार द्वारा शीघ्र प्राप्त करली और अन्त में यही निर्णय रहा कि दीक्षा से कुछ पूर्व "आचार्य-चद्दर-समर्पण-महोत्सव" हो और उसके तुरन्त बाद दीक्षा-कार्यक्रम। नवीन

कार्यक्रम की उद्‌घोषणा पूरे रायपुर में करवा दी गई। विशेष अधिकारियों, कार्यकर्त्ताओं एवं श्री संघों को टेलीफोन, तार आदि से सूचित कर दिया गया। जरूरत से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थानों पर स्वयं कार्यकर्त्ता वाहन लेकर पहुंचे और इस तरह जय-संघ का एक सुखद स्वप्न चिर-प्रतीक्षा के पश्चात् इस धर्म-धरा **रायपुर-मारवाड़** में साकार हुआ।

चैत्र सुदी त्रयोदशी के शुभ दिन **रायपुर** में किसी सुखी-सम्पन्न प्रदेश की राजधानी की तरह चहल-पहल थी। शताधिक ग्रामों, शहरों एवं नगरों के दशसहस्राधिक गुरुचरणानुरागी भक्तों का वहाँ आगमन हो चुका था; सभी प्रतीक्षा कर रहे थे अब उस घड़ी की जब गुरुदेव श्री जीतमल जी म.सा. को आचार्य-पद की चद्दर समर्पित होनी थी।

विशाल-मण्डप के ठीक सामने रखे हुए काष्ट-पट्टों पर विराजमान थे—गुरुवर श्री जीतमल जी म.सा., पंडित-रत्न श्री लालचन्द जी म.सा., श्री शुभचन्द जी म.सा. एवं श्री पार्श्वमुनि जी म.सा. आदि मुनिराज। इन पट्टों के निकट ही एक लघु-पट्ट पर वह विशिष्ट चद्दर सुशोभित थी जिसे आज एक महामहिम व्यक्तित्व का स्पर्श पाना था। गरिमामय इस चद्दर को बहराने का सौभाग्य मिला था—रायपुर-श्री संघ को। इसी लघु-पट्ट के सन्निकट आज के समारोह के केन्द्र-विन्दु वैरागी-द्वय (श्री गुलाबचन्द वैंगाणी एवं श्री भगवान् परिहार) शुद्धासन पर आसीन थे। पट्ट के समीप ही मंच पर महासतियाँ जी म.सा विराजमान थीं। मण्डप में आगे ही आगे एक ओर सामायिक व्रतधारी श्रावक थे तो उनके निकट ही 'जयमल-गच्छ' के श्रद्धालु-श्रावक एवं एकनिष्ठ कार्यकर्त्ता उच्च आसन पर सुशोभित थे। मंच के नीचे, जनमेदिनी के सम्मुख एक ध्वनि-विस्तारक-यंत्र की व्यवस्था की गई थी। मण्डप दो भागों में विभक्त था—एक भाग में श्रावक (पुरुष) वर्ग एवं दूसरे में श्राविका (स्त्री) वर्ग के बैठने की व्यवस्था थी। सब अपने-अपने आसन ग्रहण कर चुके थे/कर रहे थे। इधर कार्यक्रम प्रारम्भ होने का समय भी हो चुका था। ध्वनि-प्रसारक-यंत्र पर रायपुर के ही वयोवृद्ध सुश्रावक एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री चांदमल जी जांगड़ा आए। आपने बताया कि आज दीक्षा-समारोह के पहले, पूर्व घोषणानुसार 'आचार्य-चद्दर-समर्पण-समारोह' का कार्यक्रम सम्पन्न होगा। इस समारोह की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए आप द्वारा यह कहा गया कि जयसंघ के श्रमण व श्रमणी-वर्ग को श्रमण-संघ से सम्बन्ध विच्छेद किए लगभग अठारह मास का समय होने जा रहा है। श्रमण-संघीय पक्षपात-पूर्ण रवैये एवं विभेदक विचारों के वातावरण में पुनः श्रमणसंघ में सम्मिलित होने की कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती अतः कल्प-मर्यादा के अनुसार जयगच्छीय श्रमण-श्रमणियों को आचार्याज्ञा में विचरण करने हेतु जयगच्छ के रिक्त आचार्य-पद का प्रतिष्ठापन अत्यावश्यक है। ब्यावर के वयोवृद्ध एवं अनुभव-वृद्ध सम्माननीय सुश्रावक श्री गुलाबचन्द जी मुणोत से उन्होंने आग्रह किया कि वे यहाँ पधार कर विधि-विधान-पूर्वक 'आचार्य-चद्दर-समर्पण' के कार्यक्रम का संचालन करें।

निर्भीक एवं दबंग वक्ता, स्पष्टभाषी एवं यथार्थ को देखने के साथ-साथ भविष्य के गर्भ में छिपी परिस्थितियों का भी पूर्वानुमान लगाने वाले श्री मुणोत जी मंथर, पर दृढ़ गति से मंच के निकट पहुंचे। पेचदार भव्य पगड़ी एवं साधारण वेशभूषा में भव्य व्यक्तित्व........। अपने ओजपूर्ण शब्दों में आपने जयगच्छ के गत अर्धशत-तुल्य वर्षों से रिक्त आचार्य-पद की संक्षिप्त अन्तर्कथा कही, आचार्य-पद की

आवश्यकता बताई। आचार्य कैसा हो एवं क्या-क्या दायित्व वहन करे आदि बातों पर प्रकाश डाला। चतुर्विध-संघ का आचार्य-पद के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसे भी स्पष्ट किया और तब जयगच्छ के प्रति समर्पित प्रतिनिधि कार्यकर्त्ताओं—श्रीमान् लालचन्द जी मरलेचा–मद्रास, श्रीयुत मांगीलाल जी गोटावत–सोजतसिटी, श्री भंवरलाल जी कोठारी–ब्यावर, श्री अम्बालाल जी नावरिया–जवाजा, श्री रतनचन्द जी बोहरा–मद्रास, श्री अनराज जी चाम्बड़–जोधपुर, श्री पारसमल जी सांखला–बेंगलोर, श्री फूलचन्द जी मूथा–पीपाड़शहर, श्री घीसूमल जी बोहरा–नागौर, श्री गजराज जी समदड़िया–नानणा, श्री लालचन्द जी श्रीश्रीमाल–ब्यावर, श्री चांदमल जी जांगड़ा–रायपुर, श्री भंवरलाल जी तातेड़–रायपुर, श्री मोहनलाल जी पगारिया–रायपुर, श्री मोहनलाल जी बोहरा–कुशालपुर, श्री लालचन्द जी पोरवाल–पाली, श्री चम्पालाल जी बागरेचा–जोधपुर, श्री सोहनलाल जी कटारिया–महामन्दिर, श्री मूलचन्द जी लूंकड़–जोधपुर आदि को सनाम सम्बोधित कर उनसे आग्रह किया कि वे मंच के निकट पधार कर गुरुदेव आचार्य-कल्प श्री जीतमल जी म.सा. को आचार्य-पद-चद्दर ओढ़ाने एवं समर्पित करने का पंडित-रत्न मुनि श्री लालचन्द जी म.सा. से निवेदन करें।

आह्‌वान पर सभी सुधि-सुश्रावक एवं श्रेष्ठिजन मंच की ओर पधारे। सभी ने गुरुवर-पद-पंकज में वन्दन किया एवं पंडित-रत्न मुनि श्री लालचंदजी म.सा. के सम्मुख अपना विनीत निवेदन प्रस्तुत किया। पंडित-रत्न मुनि श्री ने आज के दिन को अति शुभ एवं ऐतिहासिक बताते हुए, आचार्य-पद की महिमा तथा पूज्य श्री जीतमल जी म.सा. को उक्त पद के लिए सुयोग्य एवं श्रेष्ठ-श्रमण बताते हुए उस चद्दर को सादर अपने कर-कमलों में लिया। बड़ी श्रद्धा, विनय एवं भक्ति से चद्दर को खोलते हुए आपने पूज्य श्री जीतमल जी म.सा. के कंधों पर उसे ऐसे डाल दिया, जैसे अपना हृदय, अपना समस्त भक्तिभाव आपके श्री-चरणों में समर्पित कर रहे हों। विशाल-मण्डप आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी म.सा. की जय-जयकार से कितने ही क्षणों तक गून्जता रहा। गगन-मण्डल और धरती-तल श्रद्धालु-भक्तों के सहस्र-सहस्र कण्ठों से निकली उस उल्लासमयी जयध्वनि से एकबारगी भर उठा। दिग्दिगन्त से टकरा कर एक ही नारा, एक ही निनाद, एक ही घोष—

"आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी म.सा. की जय"

कितने मोड़ ! कितने पड़ाव !!

जीवन की यह सरिता काल-लब्धि के किनारों से बंधी-सिमटी अबाध-गति से निरंतर प्रवहमान है। यह, वह जीवन-सरिता है जिसकी सरस-शीतल-आनंददायिनी धारा न कभी सूखती है, न मन्द पड़ती है। जीवन के प्रारम्भ से लेकर विद्यमान क्षण तक इस सरित-प्रवाह ने कितने मोड़, कितने पड़ाव देखे !

※ बालक गणेशमल !

※ वैराग्यमूर्ति श्री गणेशमल !!

※ नवदीक्षित मुनि श्री जीतमल !!!

※ विद्यार्थी मुनि श्री जीतमल जी महाराज !!!!

※ उपाध्याय श्री जीतमल जी महाराज साहब !!!!!

※ स्वामि-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज साहब !!!!!!

※ आचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी महाराज साहब !!!!!!!

चहुंमुखी प्रतिभा एवं बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी आचार्य-प्रवर के आचार्यत्व का पिछला एक दशक, आपकी जीवन-सरिता का हीरक मोड़ है। अति गौरवशाली, अतीव महिमामय! जय-संघीय इतिहास के अविस्मरणीय हीरों, पन्नों, माणिक, मोती-जटित ये पृष्ठ युग-युग तक संघ के चरम-उत्कर्ष एवं संतुलित भव्य-नेतृत्व की कथा कहते रहेंगे।

आपके आचार्यत्व का विगत एक दशक संघ के सर्वतोमुखी उन्नयन का दशक रहा है। आत्म-नियंत्रण अर्थात् संयम-साधना, ज्ञान-आराधना एवं आचार-पालन में बिना शैथिल्य लाए अप्रमत्त-भाव से रमण करते हुए भी आपने संघ की व्यवस्था एवं संघ के अनुशासन पर सतर्क दृष्टि रखी है। जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास के गौरवशाली, कीर्तिमान प्रकाशन; 'जयगुन्जार' मासिक पत्र का निरन्तर प्रकाशन; श्री श्वे. स्था. जयमल जैन शिक्षण संस्थान की स्थापना एवं उसके तत्त्वावधान में संचालित धार्मिक शिक्षण शालाओं, धार्मिक शिक्षण शिविरों, श्री भूधर जैन सांस्कृतिक कला मंच, श्री जय जैन पुस्तक कोष, निबंध-प्रतियोगिता आदि अनेक उपसंस्थाओं तथा पूज्य श्री जयमल जैन ज्ञान भण्डार, श्री जिनराज ज्ञान-भण्डार आदि अनेक ज्ञान-भण्डारों के सफल संचालन आप ही की स्फुरणा, आशीर्वाद एवं प्रेरणा से सम्भव बन सके हैं।

आप जैसे युग-पुरुष के सम्पूर्ण साधना-जीवन का निचोड़ राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में समाहित है—

'सब की पीड़ा के साथ, व्यथा अपने मन की जो जोड़ सके।
मुड़ सके जहाँ तक समय, उसे निर्दिष्ट दिशा में मोड़ सके।
युगपुरुष वही सारे समाज का विहित धर्म-गुरु होता है।
सबके मन का जो अन्धकार, अपने प्रकाश से धोता है॥'

इस विलक्षण व्यक्तित्व वाले धर्म-गुरु पर आज जैन समाज गर्वित है। जयमल जैन चतुर्विध संघ को और भारत-भर में यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान आपके लक्ष-लक्ष अनन्य श्रद्धालु-श्रावकों/भक्तों को आपके कुशल-नेतृत्व एवं सरल व्यक्तित्व से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। विश्वास है आने वाले कई वर्षों तक इस संघ को, जैन-समाज को आपके शत-शत मंगल आशीर्वाद मिलते रहेंगे और मिलता रहेगा आपका सुदीर्घ पथ-दर्शन।

आपके चरण-कमल-सेवक भक्तों के लोचन-भ्रमर आपके मुखारविन्द का अपलक दर्श-सुधारस-पान कर प्रसन्नता से सुदीर्घ-काल तक खिले रहें, प्रफुल्लित रहें, झूमते/आनन्द-नृत्य करते रहें। 'जीत' नाम सभी के लिए 'जीत' अर्थ का सूचक हो। 'जीत' स्मरण हर भक्त के लिए कार्य-सिद्धि रूप 'जीत' का कारण बने। 'जीत' गुणगान प्राणिमात्र के लिए आत्मोत्थान रूप स्वसिद्धि (आत्मजीत) का मार्ग प्रशस्त करे, इन्हीं सदभिलाषाओं के साथ—

सूर्य-सा है तेज, शशि-सम शीतलता है।
व्योम-व्याप्त प्रख्यात, सरलता-निर्मलता है।
सागर-सा गम्भीर भव्य व्यक्तित्व तुम्हारा।
अभिनन्दन जय 'जीत', नमन मम शत-शत बारा॥
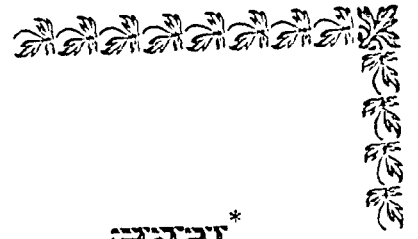
संस्मरण (गद्य-विभाग)

जलदा* इव नव-जीवनदा

स्व. डा. पी. सी. जैन

दो धाराएँ

सारे विश्व का मानव दो प्रकार के वर्गों में विभक्त है। एक वर्ग है अन्तर्मुखी मानवों का और दूसरा है बहिर्मुखी व्यक्तियों का। अन्तर्मुखी मानवों के चिन्तन की आधारशिला है पारलौकिक-जीवन और बहिर्मुखी व्यक्तियों की है ऐहलौकिक जीवन। मानव-इतिहास के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि चिन्तन की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों धाराएँ अनादि-काल से साथ-साथ बहती चली आ रही हैं। पहली धारा मानव के सुसंस्कृत, प्रबुद्ध और विकसित रूप की प्रतीक है और दूसरी उसके आदि स्रोत संसारी जीवन की। पहली में मानव की चेतना उसके अनेक जन्म-जन्मान्तरों के उत्तरोत्तर परिमार्जित होने वाले संस्कारों की सूचक है और दूसरी उसके अपरिमार्जित या असंस्कृत स्वरूप की। किसी भी वस्तु का अपने मूल रूप में होना इतना महत्त्व नहीं रखता जितना उसका सुसंस्कृत रूप महत्त्वप्रद होता है। संस्कार के लिए समय लगता है, कई बार सदियाँ भी लग जाती हैं और उसके लिए मानव की विकसित चेतना भी अपेक्षित है। मानव की चेतना को विकसित होने में भी अनेक शताब्दियाँ लगीं। अपनी निरन्तर होने वाली अनेक सफल एवं असफल अनुभूतियों के सद्भाव में भी मानव जब जीवन की अनेक समस्याओं और ग्रन्थियों को सुलझाने में सफल न हो सका तो जीवन का लक्ष्य उसके लिए रहस्यात्मक बन गया। पग-पग पर उसको सारा ब्रह्माण्ड, सारी सृष्टि, स्थावर-जंगम का विस्तार, प्रकृति की अलक्ष्य लीलाएँ, प्रकृति के उपहार, उपसंहार, प्राणियों तथा सृष्टि के पदार्थों की नश्वरता,

*डॉ. पी. सी. जैन 'जय-संघ' की साहित्यिक गतिविधियों की धुरी थे। आपने जयध्वज प्रकाशन समिति की अनेक पुस्तकों का लेखन व सम्पादन किया। आप ही की प्रेरणा से जय-संघ ने जयगुंजार (मासिक पत्र) प्रकाशन का शुभ निर्णय लिया। प्रारम्भ से ही 'जयगुंजार' के आप प्रधान सम्पादक रहे। दिनांक १७ जनवरी १९८४ को क्रूर-काल के कराल-पञ्जों ने आप जैसी विद्वान् विभूति को हम से छीन लिया। आप उस समय आचार्य-श्री के जीवन-चरित्र-लेखन का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। लगभग १२० पृष्ठ ही लिख पाए थे कि यह दुःखद घटना घटी। आपके अधूरे संकल्प को पूर्ण करने की दृष्टि से ही आपके द्वारा लिखित संकेतों के आधार पर नए ढंग और नई कलम से आचार्य-प्रवर के जीवन-चरित्र का लेखन-कार्य हुआ है। यहाँ उद्धृत है स्व. डॉ. श्री जैन द्वारा लिखित उस अपूर्ण जीवन-कथा के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश, प्रेरक संस्मरण के रूप में।

अप्रत्याशित हृदय-विदारक और रोमांचकारी घटनाएँ, प्राकृतिक प्रकोप और व्यापक संहार—सब रहस्यमय प्रतीत होने लगे। उसकी चेतना सदियों के विकास से समृद्ध हो चुकी थी। उसने अथक प्रयत्न किया—संसार के, प्रकृति के और जीवन के रहस्यों को समझने का, उनके अन्तर तक, गहराई तक पहुँचने का, परन्तु प्रत्याशित लक्ष्य पर पहुँचना उसके लिए संभव न हो सका। वह चिन्तित हो उठा, परेशान हो गया। अनेक प्रकार के प्रश्नों ने उसके मन को आक्रान्त कर लिया, उसकी मेधा असमंजस में पड़ गई और उसकी प्रज्ञा अनेक प्रकार के रहस्यात्मक जटिल प्रश्नों से पराभूत होने लगी। वह सोचने लगा—

"आखिर इस जन्म-मृत्यु का रहस्य क्या है ? जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित क्यों है ? जन्म होता ही क्यों है ? मृत्यु क्यों आती है ? क्या जन्म और मृत्यु का कोई नियन्ता है ? नियन्ता है तो वह कौन है और क्या है ? सृष्टि के पदार्थों की भाति क्या यह सृष्टि भी नाशवान् है या केवल इसके पदार्थ ही नश्वर हैं ? इस सृष्टि की उत्पत्ति कब हुई और क्यों हुई ? स्वयं हो गई या किसी ने इसका सृजन किया ? शरीर के अन्दर जो चेतन-शक्ति है वह क्या पंचभूत-सामंजस्य से जात है, उसके नष्ट होते ही नष्ट होने वाली है अथवा उसकी सत्ता पृथक् है और भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होती ? मानव की प्रबुद्ध चेतना से प्रसूत उक्त प्रश्नों के परिणाम-स्वरूप ही दर्शन, धर्म और आध्यात्मिक तत्त्व का श्री गणेश हुआ। जो चिन्तक या विचारक जीवन के मूलभूत तत्त्वों की गवेषणा में अग्रसर हुए वे ऋषि, महर्षि, सन्त और गुरु कहलाए। दूसरे शब्दो में दर्शन की, धर्म की और अध्यात्मवाद की नींव इन्हीं सन्तों ने रखी। धर्म की यह नींव एक ही समय में या अल्पकाल में ही नहीं रखी गई किन्तु इसको अनेक शताब्दियाँ लगीं और अनेक शताब्दियों के सन्तों के निरन्तर चिन्तन के योगदान द्वारा सिंचित होकर यह पल्लवित, पुष्पित और फलित होती रही।

धर्म का स्वरूप

आरम्भ में प्राय: सभी मेधावी सन्तों ने अपनी अनुभूति के निष्कर्ष के रूप में यही कहा—"जिस क्रिया-काण्ड से, जिस विधि-विधान से, जिस प्रवृत्ति से, जिस आचरण से और जिस साधना के द्वारा आत्मा का अभ्युदय हो, विकास हो, कल्याण हो वही धर्म है।" आत्म-विकास की इस प्रवृत्ति के पूर्व दो प्रवृत्तियाँ थीं—प्रेय की और श्रेय की। प्रेय की प्रवृत्ति ही प्रधान थी, श्रेय की विकासाभाव के कारण गौण थी। सहज स्वभाव के अनुकूल लोग वैसा ही आचरण करते थे जो उनको प्रिय लगता था, जो उनके सुख के अनुकूल था और जिससे उनके मानस की और उनकी इन्द्रियों की तृप्ति संभव थी। श्रेयोन्मुखता, प्रबुद्ध मानवों की परिमार्जित चेतना का परिणाम था। मूल में धर्म की परिभाषा, धर्म का मूल तत्त्व, धर्म का लक्ष्य और धर्म की व्याख्या समानता लिए हुए थी परन्तु सृष्टि परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता सृष्टि का ध्रुव नियम है। मानव सृष्टि का अभिन्न अंग है, इसलिए उसके विचारों में, संस्कारों में और चिन्तनधारा में परिवर्तन आना भी स्वाभाविक है। मनोवैज्ञानिकों और भाषा-वैज्ञानिकों ने परिवर्तन को विकास का लक्षण माना है। सृष्टि के प्राय: सभी पदार्थों के विकास में परिवर्तन अन्तर्निहित है। परिवर्तन होगा, तभी विकास संभव है। दार्शनिक उस परिवर्तन को जब ह्रास कह कर पुकारता है तो इसे हम मात्र उसकी बुद्धि का व्यायाम कह सकते हैं। वास्तविकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समय जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, परिवर्तित होता गया, वैसे-वैसे देश के तत्त्व-चिन्तकों की धर्म-विषयक चिन्तन-धाराओं में भी परिवर्तन की लहरें उठने लगीं। परिणामस्वरूप दर्शन की, धर्म की और आध्यात्मिक तत्त्व की अनेक शाखाएँ उद्भूत हुईं। मनीषी दार्शनिकों ने, तार्किकों ने और धर्माधिकारियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुरूप धर्म की ऐसी व्याख्याएँ कीं, जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं तो बहुत भिन्न अवश्य थीं। इसी मूल स्रोत से सांख्य, मीमांसा, योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त—इन छह दर्शनों का सूत्रपात हुआ। उक्त सभी दर्शन वैदिक दर्शन की कोटि में आते हैं। इन दर्शनों की प्रतिक्रिया के रूप में जैन-दर्शन और बौद्ध-दर्शन अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन-दर्शन की सत्ता वैदिक दर्शनों के भी पूर्व की है किन्तु बौद्ध-दर्शन बौद्ध-काल से ही प्रकाश में आया। यहाँ दर्शनों का विश्लेषण करना हमारा प्रासंगिक विषय नहीं है, मात्र धर्म-तत्त्व का विकास दिखाने के लिए ही यहाँ दर्शनों का उल्लेख किया गया है।

जहाँ धर्म का मूल उद्देश्य आत्म-विकास था वहाँ भिन्न-भिन्न विद्वानों और आचार्यों द्वारा अनेक दर्शनों की स्थापना के कारण धर्म की विभिन्न व्याख्याएँ हो गईं और परिणाम-स्वरूप पारस्परिक विरोधी सिद्धान्तों का जन्म भी हुआ। भिन्न-भिन्न दर्शनों के जन्मदाता ऋषियों और आचार्यों ने अपने-अपने तर्कों द्वारा अपनी-अपनी मान्यताओं की पुष्टि की और एकान्त रूप से उनको ही सत्य ठहराने की चेष्टा की। फलतः धर्म को मूल तत्त्व मानकर कलह, द्वेष और ईर्ष्या का सूत्रपात हुआ। संघर्ष की नींव पक्की हुई। भिन्न-भिन्न धर्मों के विद्वान और आचार्य शास्त्रार्थ के मंच पर उतर आए, धर्म के नाम पर अखाड़ेबाजी आरम्भ हो गई। धर्म के मूल लक्ष्य—विनय, नम्रता, प्रेम, सार्वभौम-मैत्री, समता, पर-कल्याण-कामना, परार्थ और उत्सर्ग को धर्म-प्रचारक और धर्माधिकारी भूल गए तथा उद्दण्डता, विद्रोह, घृणा, ईर्ष्या, विषमता, शत्रुता और स्वार्थ-परायणता को उनके स्थान पर खड़ा कर दिया। फिर वही हुआ जो अपेक्षित था, इस प्रकार के विकृत विचारों से। धर्म के नाम पर झगड़े होने लगे, युद्ध होने लगे, मार-काट होने लगी, हत्याएँ होने लगीं और सर्वत्र शत्रुता का, सन्देह का वातावरण फैल गया। धर्म बदनाम हुआ। धर्म की प्रतिष्ठा तिरोहित होने लगी और धर्म को कलह का और द्वेष का बीज समझा जाने लगा। धार्मिक क्रांति के इस विषमकाल में प्राचीन जैनाचार्यों—आचार्य यशोभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र आदि ने जैन न्याय (अनेकान्त-वाद) का प्रचार एवं प्रसार करके धर्म को आधार मानकर पारस्परिक कलह करने वाले धर्माचार्यों और दर्शनाचार्यों में समन्वय की भावना को अनुप्राणित किया एवं धर्म को कलंकित करने वाली निहित स्वार्थ-प्रेरित भावना से बचाया। अपने अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद के सिद्धान्त को आधार मानकर उन्होंने जो कुछ भी कहा, जो भी तर्क प्रस्तुत किए और जो भी सर्वधर्मों के सामंजस्य के लिए युक्तियाँ दीं उनमें कहीं कटुता का, विद्वेष का, ईर्ष्या का और पक्षपात का संचार नहीं था।

जैनाचार्यों द्वारा प्रचारित और प्रसारित अनेकान्तदर्शन की समन्वयात्मक पद्धति से भिन्न-भिन्न युगों के जैनेतर दर्शनों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और जैनेतर दर्शन के अनेक आचार्यों ने अनेकान्त दर्शन की सत्यता को समझा, उसे अपनाया और अपने दर्शनों में उसे अभिव्यक्ति दी। परिणाम-स्वरूप जो धार्मिक विद्वेष की भावना सदियों से धार्मिक वातावरण को दूषित कर रही थी, उसमें कमी हुई और कुछ पावनता आई। जैनाचार्यों की सर्वधर्म-समन्वय की इस

भावना ने भारतीय संस्कृति को धर्म और अध्यात्मवाद की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित किया। इन्हीं जैनाचार्यों की परम्परा में विक्रम की अठारहवीं शती में अपने जन्म से मरुधरा-मण्डल को मण्डित करने वाले आचार्य जयमल जी हुए हैं जिनके नाम के जाप से आज भी राजस्थान के अनेक श्रावक भवसागर को पार करने की आशा करते हैं। क्योंकि पूज्य जयमल जी म.सा. ने अपने पद-विहार से जिन-जिन प्रान्तों को पावन किया, सर्वत्र उन्होंने ईर्ष्याक्रान्त धर्मों में स्याद्वाद के आधार पर समन्वय स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया था। उनके समग्र सन्त-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समन्वय के सिद्धान्त की स्थापना एव प्रतिपादन में अभिव्यक्त हुई थी। उन्हीं की परम्परा एवं पीढ़ी के वर्तमान आचार्य श्री जीतमल जी महाराज हैं, जिनके व्यक्तित्व की एक झलक मैं आपके समक्ष प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अपने पूर्वाचार्यो के पद-चिन्हों पर चलते हुए हमारे वर्तमान आचार्य श्री भी राष्ट्र में, समाज में, धर्म में, राजनीति में और दैनिक जीवन में सर्वत्र समन्वय की. सामंजस्य की और मेल की भावना को सर्वोदय के लिए हितकारिणी मानते हैं।

समन्वय-प्रभावक : आचार्य श्री

आज का युग शास्त्रार्थो का युग नहीं है। धर्म को या दर्शन को आधार बनाकर जैसे पूर्व-मध्यकाल में आचार्य और विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए अखाड़े में उतरते थे, वैसी परम्परा अब समाप्त हो गई है। उसे समय के विपरीत मान लिया गया है। परन्तु उसके पीछे जो विचारों की, सिद्धान्तों की, धारणाओं की और मान्यताओं की भिन्नता थी वह तो येन-केन रूपेण अब भी चली आ रही है। रूप वदल गया, शरीर वदल गया परन्तु चेतना और भावना वे ही हैं। यदि हम यह भी कह दें कि मान्यताओं की और सिद्धान्तों की जितनी भिन्नता आज के युग में है उतनी न प्राचीनकाल में थी और न ही पूर्व-मध्यकाल में, तो इसमें अत्युक्ति न होगी। एकतन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, सार्वभौमैक्यवाद— आदि-आदि जो वाद आज प्रचलित हैं, उनका जन्म उस समय कहाँ हुआ था? जितने वाद उतनी फूट, यह स्वाभाविक है। जैनाचार्यो की अनेक पीढ़ियों से चली आ रही समन्वय की प्रभावना की प्रवृत्ति को महत्त्व देते हुए हमारे आचार्य श्री जीतमल जी महाराज जिस-जिस क्षेत्र में भी पद-विहार द्वारा प्रवेश करते हैं—सर्वत्र टूटे हुओं को जोड़ते हैं, बिखरे हुओं को बटोर कर एक स्थान में एकत्रित करते हैं, द्वेष से जलने वालों की अग्नि को अपनी शांतिमयी शीतल वाणी से शांत करते हैं और ३६ के अंकों के समान एक-दूसरे से विमुख हुए लोगों को ६३ के अंकों के समान पारस्परिक प्रेमोन्मुख किया करते हैं।

मध्यप्रदेश के 'राजनांदगांव' नगर में श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों तथा स्थानकवासियों में चिरकाल से झगड़ा चला आ रहा था। दोनों वर्ग एक-दूसरे के प्रति शत्रुता की भावनाओं को पाल रहे थे, पारस्परिक व्यवहार में कटुता थी, एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था, विश्वास की भावना समाप्त हो चुकी थी, प्रतिशोध की भावना घर कर रही थी,एक-दूसरे से बोल-चाल तक वन्द थी और बोलते भी थे तो क्रोध के कषाय से लिप्त होकर, दोनों ओर के सदस्यों का अपने ही अज्ञानजन्य वातावरण में दम घुट रहा था परन्तु पारस्परिक सामंजस्य का, मेल का कोई भी सूत्र दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में राजनांदगांव के निवासियों के सौभाग्य से मुनिराज श्री जीतमल जी महाराज का वहाँ अप्रत्याशित

पदार्पण हुआ। सभी श्रावक प्रसन्न हुए, हर्षोल्लास का सागर उमड़ पड़ा, सब के मनों में आनन्द की लहर समा नहीं रही थी। इस महान् उल्लास के पीछे एक आशा की किरण थी, एक दृढ़-आस्था थी, एक अटूट विश्वास था और एक निष्ठापूर्ण श्रद्धा थी कि अब एक ऐसी महान् आत्मा का, महान् शक्ति का, असाधारण व्यक्तित्व का, धार्मिक विभूति का नगर में प्रवेश हुआ है, जिससे अज्ञान के अन्धकार का लोप होगा, सद्बुद्धि जागृत होगी, शंकाएँ निवृत्त होंगी। सामाजिक कटुता का अन्त होगा, पारस्परिक सन्देह की कलुषित भावना तिरोहित होगी और हित की भावना की प्रतिष्ठा होगी। नगर के दोनों सम्प्रदायों के सदस्यों ने नवागंतुक मुनिराज के समन्वयात्मक प्रवचन के प्रभाव को आने-जाने वाले श्रावकों से भलीभांति सुन रखा था, केवल परख बाकी थी। परख का समय भी अत्यन्त निकट आ रहा था।

स्वाध्याय-प्रेमी स्वामी श्री चांदमल जी म. सा. एवं मुनिराज श्री जीतमल जी महाराज आदि का बडी ही धूम-धाम से नगर में प्रवेश कराया गया। स्थानक में प्रवेश हुआ। दोनों वर्गों के श्रावक स्वागत-समारोह में शामिल थे। कितने शीघ्र भूल गए थे सब वैमनस्य के भाव को। यह प्रभाव था एक महान् संत की उपस्थिति का, एक महान् व्यक्तित्व के चमत्कार का, एक महान् विभूति के ओज का, एक आध्यात्मिक साधक की ऊर्जा का, एक महान् कल्याणकामिनी, परहितकारिणी और सर्वोदय की कामना से अनुप्राणित पावन आत्मा का। सन्तों के तो दर्शन ही पुण्यार्जन के हेतु होते हैं। उनका व्यक्तित्व तीर्थो का प्रतीक होता है। उनके दर्शन हो जाएँ तो किसी भी तीर्थ पर जाने की आवश्यकता नहीं रहती। तीर्थों पर जाने का पुण्य चिरकाल में फलीभूत होता है किन्तु सन्तों की संगति-जन्य फल की प्राप्ति तो तुरन्त हो जाती है। इसी भाव को 'शुकसप्तति' के विद्वान् लेखक ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है :

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधव: ।
कालेन फलते तीर्थ, सद्य: साधुसमागम: ।।

शुकसप्तति:, ६८/१.

'रस-गंगाधर' के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ ने उक्त सत्य की ही पुष्टि करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में लिखा है :

दूरी करोति कुमतिं विमली करोति,
चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकी करोति।
भूतेषु किञ्च करुणां बहुली करोति,
संग: सतां किमु न मङ्गलमातनोति ।।

अर्थात्—सन्त महात्माओं का संसर्ग दुष्ट बुद्धि को दूर करने वाला है, चित्त को निर्मल बनाने वाला है, चिरकाल तक किए गए पापों के फल को अल्प करने वाला है और संसार के प्राणिमात्र के प्रति मन में करुणा का संचार करने वाला है। अर्थात् कोई भी ऐसा मंगलमय फल नहीं है, जिसे वह प्रदान नहीं कर सकता।

राजनांदगाँव में वास्तव में हुआ भी यही। मुनिराज श्री जीतमल जी म.सा. आदि सन्त पाट पर विराजमान हो गए। पहले प्रार्थना-सभा हुई और तत्पश्चात् संक्षिप्त प्रवचन। मुनिराज को नगर की दो सम्प्रदायों की फूट का, वैमनस्य का और पारस्परिक कटुता का आभास मिल चुका था। उन्होंने

अपने संक्षिप्त प्रवचन में धर्म की महानता पर तो बल दिया ही किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि "धर्म का सच्चा स्वरूप मानव-सम्बन्धों को तोड़ता नहीं किन्तु जोड़ता है। धर्म मन को मालिन्य की नहीं किन्तु निर्मलता की ओर प्रेरित करता है; धर्म पारस्परिक विद्वेष की नहीं किन्तु मैत्री की प्रेरणा देता है। धर्म विषमता की ओर नहीं किन्तु प्राणिमात्र के प्रति समता की ओर उन्मुख करता है; समता के तत्त्व को यदि धर्म से पृथक् कर दिया जाए तो धर्म में जो अवशिष्ट रहता है, उसका कोई मूल्य नहीं। धर्म प्राणीमात्र में स्वयं को देखने की दृष्टि प्रदान करता है। धर्म शत्रुता नहीं, मित्रता की ओर उन्मुख करता है। इसी संसार के प्राचीन इतिहास के अवलोकन से ज्ञात होता है कि पृथ्वी पर जब कभी भी धर्म के नाम को लेकर विप्लव हुए हैं, सामाजिक क्रांतियाँ हुई हैं, युद्ध हुए हैं, कलह हुए हैं, विस्फोट हुए हैं वे तब हुए हैं, जब धर्म के अनुयायियों ने, पक्षान्धों ने और अन्धविश्वासियों ने अपनी स्वार्थ-परायणता के कारण अधर्म को धर्म समझ लिया। सच्चा धर्म तो वैमनस्य की भावना से दूर रहकर पारस्परिक सद्भाव की, मैत्री की और मिलाप की शिक्षा देता है। जैन धर्म ऐसी समतामयी सम्पदा का धनी है कि उसने जैनेतरों की फूट को मिटाकर भी उनमें सौहार्द की भावना उत्पन्न की; वैदिक षड्दर्शनों के अनुयायी जो सैद्धान्तिक भेद के कारण एक दूसरे से झगड़ते रहते थे, विद्वेष रखते थे और ईर्ष्या की अग्नि में सुलगते रहते थे, उनमें भी अपने अनेकान्तदर्शन के प्रभाव से समन्वय की प्रतिष्ठा की और सबको समता के एक मंच पर लाने का भरसक प्रयास किया। समता तो जैन धर्म का प्राण है। जिसके अनुयायियों के धार्मिक और आध्यात्मिक विधि-विधानों में, क्रिया-कलापों में समता का प्राधान्य हो, समता का साम्राज्य हो, उनमें विद्वेष, ईर्ष्या और वैमनस्य क्यों? जो कुछ मैंने यहाँ के एक ही धर्मावलम्बी श्रावकों में होने वाले संघर्ष के विषय में सुना उससे मुझे आश्चर्य हुआ, खिन्नता हुई, एक अप्रत्याशित घटना पर बड़ा विचार करना पड़ा, चिंता करनी पड़ी। आप दोनों सम्प्रदाय के श्रावकों का उपास्यदेव एक ही है, सभी भगवान महावीर के उपासक हो और सभी उसी नवकार मंत्र को मानने वाले, उसी का जाप करने वाले हो। फिर भेद के लिए स्थान कहाँ रह गया, फूट के लिए कारण क्या बन गया? सदियों से दूसरे को मिलाने का यश अर्जन करने वाले यदि स्वयं ही लड़ेंगे तो इसका अर्थ यह होगा कि वे पूर्वजों के अर्जित किए यश को खो रहे हैं एवं अपनी मान्यता और धर्म को कलंकित कर रहे हैं। आप सब का कर्त्तव्य तो यह है कि आप अपने सदाचरण द्वारा, अपने मधुर व्यवहार द्वारा और धार्मिक जीवन के क्रिया-कलापों द्वारा अनादिकाल से चली आ रही जैन धर्म की और श्रमण-अध्यात्मवाद की परम्परा को अग्रसर करें, उसे आचरण की शक्ति प्रदान करें और उसकी धारा को अक्षुण्ण रूप से बहने के लिए मार्ग प्रशस्त करने में प्रयत्नशील रहें परन्तु उसके स्थान पर आप कर क्या रहे हैं? एक-दूसरे से झगड़ रहे हैं। इससे दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? सब यही सोचेंगे कि जो धर्म स्वयं के अनुयायियों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता उससे दूसरे क्या आशा रख सकते हैं? आप सब—दोनों सम्प्रदायों के श्रावक, जो मुझे सुनने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं, अपने अन्तर को टटोल कर देखो कि क्या आपकी पारस्परिक फूट, पारस्परिक द्वेष, पारस्परिक वैमनस्य जैनधर्म की मान्यताओं के अनुकूल है? क्या आप भगवान महावीर द्वारा दर्शाए गए धर्म-पथ पर चल रहे हैं? क्या आपने जिन अणुव्रतों के पालन का सन्तों की सेवा में बैठकर नियम लिया उनका पालन कर रहे हैं? क्या आपने श्रमण-संस्कृति के समता-योग को समझा है? यदि समझा होता तो दोनों वर्गों में प्रेम का संचार होता।
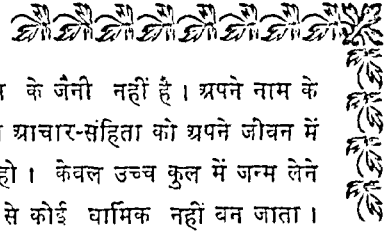
प्रेम नहीं हैं, इससे यही ज्ञात होता है कि आप नाम के जैनी हैं, काम के जैनी नहीं हैं। अपने नाम के साथ जैन लगाने से कोई जैनी नहीं बन जाता, जैनी तो जैनधर्म की आचार-संहिता को अपने जीवन में उतारने से बनता है, भले ही वह किसी भी जाति, वर्ग और रंग का हो। केवल उच्च कुल में जन्म लेने से, स्वयं को अभिजात मानने से एवं अपने 'अहं' का पोषण करने से कोई धार्मिक नहीं बन जाता। केवल अपने व्यक्तित्व की और अपनी मान्यता की प्रशंसा करके कोई प्रशंसनीय नहीं बन जाता, प्रशंसनीय तो दूसरों द्वारा की गई प्रशंसा से बनता है। जिस प्रकार रेलवे के प्रतीक्षा-गृह में कबूतर सारा दिन बुरी तरह से लड़ते हैं, चोंचें मार-मार कर एक-दूसरे को खूनमखून कर देते हैं और जब कोई बिल्ली आ जाए तो आखें बन्द कर लेते हैं, सम्भवत: यह सोचकर कि ऐसा करने से बिल्ली उन्हें देख न पाएगी या बिल्ली वहाँ से गायब हो जाएगी; ठीक ऐसी ही दशा आप सब की भी है। सदा आपस में झगड़ते रहते हो, ऐसी तुच्छ बातों के लिए जो उपेक्षणीय हैं, जिनको नगण्य समझा जा सकता है और जिनका धार्मिक जीवन में विशेष महत्त्व नहीं है परन्तु जब अन्तर के शत्रुओं से लड़ने का समय आता है तो आंखें बन्द कर लेते हो।

निश्चय ही आपने अपनों को, जो आपके सहधर्मी भाई हैं, आपके बन्धु हैं, आपके मित्र हैं और आपके सगे-संबंधी भी हैं उनको अज्ञानता के कारण शत्रु मान रखा है; जो भगवान महावीर की शिक्षा और उपदेश के सर्वथा विपरीत है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप सब—दोनों सम्प्रदायों के श्रावक और श्राविका अपने मतभेद को भूल कर, अपनी पुरानी भूलों पर पश्चाताप कर, अपने मानसिक कालुष्य को मन से निकालकर, माला के टूटे-बिखरे मोतियों को पुनः प्रेम के धागे में पिरोकर एक सूत्र में बन्ध जाएंगे।

प्रवचन-सभा में उपस्थित सभी सभासदों के मुखमंडल पर मैं उल्लास की, प्रसन्नता की और निर्मल भावों की छटा देख रहा हूँ, जिससे मुझे लग रहा है कि टूटा हुआ सुवर्ण-खण्ड ज्ञान का ताप पाकर पुनः एक रूप हो गया है। आज इतना ही पर्याप्त है।"

हमारे चरित्र-नायक मुनिराज का अनुमान सर्वथा सत्य निकला, उनका अन्तर्मन निर्मल होने के कारण कभी भूल नहीं करता है, धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त, वे मनोविज्ञान के भी निष्णात पण्डित हैं। वे अपने संपर्क में आने वाले भक्तों के अन्तर्मन की बात उनकी आकृति से ही जान लेते हैं। तभी तो किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है :

आकारेणैव चतुरास्तर्कयन्ति परेङ्गितम्।
गर्भस्थं केतकीपुष्पमामोदेनैव षट्पदाः॥

सु. र. भा., पृ. १५८

अर्थात्—चतुर विद्वान् आकृति की रूपरेखा से ही दूसरे के अन्तर्मन की बात को समझ जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे भ्रमर सुगन्धि से ही अन्दर छिपे हुए केवड़े के पुष्प का ज्ञान कर लेते हैं।

जैन मुनिराज के प्रवचन से श्रोता इतने प्रभावित हुए कि उनका हृदय सर्वथा परिवर्तित हो गया, पारस्परिक दैनिक दुर्व्यवहार का दारुण दुःख अदृष्ट हो गया; शत्रुता प्रेम में परिवर्तित हो गई और मानसिक दुःख उल्लास में समाहित हो गया। प्रवचन समाप्त होते ही सब श्रोताओं ने एक स्वर में अपने

मानस की कृतज्ञता के उद्गारों को तारस्वर में अभिव्यक्ति देते हुए नारा लगाया—'जैन मुनिराज श्री जीतमल जी महाराज की जय, परहितकारी सन्त श्री जीतमल जी महाराज की जय, संत-शिरोमणि श्री जीतमलजी महाराज अमर रहें।'

समता के पुजारी : आचार्य श्री

संत-रत्न श्री जीतमल जी महाराज ने अनेक वर्षों के टूटे हुए हृदयों को जोड़ा, बिखरों को बिटोरा, कुमार्ग पर चलने वालों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया, अज्ञानान्धकार में भटकते हुओं को प्रकाश दिखाया, ईर्ष्या की आग में जलने वालों पर अपनी आगमानुप्राणित शीतल वाणी की वर्षा करके तपन को शांत किया। अहिंसा, संयम, तप और समता के पुजारी एक महामुनि के लिए इस सामंजस्य स्थापन करने वाले क्रिया-कलाप को भी हम जीवन की एक महान् उपलब्धि मानते हैं। श्रावक-श्राविकाएँ जब प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित हुए तब वे ईर्ष्या, विद्वेष, घृणा, संदेह, भेदभाव, क्रोध आदि विकारों के भार से दबे हुए थे परन्तु एक महान् सन्त की कृपा से वे अब विकारों को त्याग चुके थे और हल्के हो गए थे। सब ऐसा अनुभव कर रहे थे जैसे चिरकाल के अंधकार के पश्चात् इन्होंने सूर्य की किरणें देखी हों। शास्त्र में महापुरुषों को बादल के समान नवजीवन प्रदान करने वाले कहा है :

"जलदा इव नवजीवनदाः" और यह भी कहा है कि :

"किमत्र चित्रं यत्सन्तः, परानुग्रहतत्पराः।
नहि स्वदेहशैत्याय, जायन्ते चन्दनद्रुमाः।"

(विक्रम चरितम्. १३८)

अर्थात्—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि सन्तात्मा सदा परोपकार करने के लिए तत्पर रहते हैं। जिस प्रकार चंदन के वृक्षों का जन्म अपने शरीर की शीतलता के लिए नहीं होता, अपितु दूसरों को शीतलता प्रदान करने के लिए होता है; इसी प्रकार सन्तों के जीवन का लक्ष्य भी प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा करने के लिए होता है।

खांगटा (जोधपुर जिले में) एक छोटा-सा ग्राम है। वहाँ किसी स्थानक के निमित्त स्थानकवासी समाज में ही दो धड़े हो रहे थे। एक ही सम्प्रदाय के भाई अपने ही धर्मस्थान को लेकर एक-दूसरे के शत्रु बन रहे थे। यह सब दुर्भाग्यपूर्ण था। जब कुमति का आक्रमण होता है तो क्या संसारी और क्या धार्मिक लोग—सभी पर अविवेक सवार हो जाता है। वे सहधार्मिकता के भाव को नहीं किन्तु अपने स्वार्थ को देखने लगते हैं। अपने निहित स्वार्थ के लिए धर्म गौण हो जाता है। बन्धुत्व की भावना समाप्त हो जाती है। रक्त के और धर्म के सम्बन्ध फीके पड़ जाते हैं एवं सहकारिता और सहयोग की भावना भी लुप्त हो जाती है। यही सब हो रहा था खांगटा ग्राम की स्थानकवासी जैन समाज में। दक्षिण के लम्बे और दीर्घकालीन विहार एवं अवस्थान से लौटकर पूज्य श्री जीतमल जी महाराज मरुधरा को अपने चरण-रज से पावन कर चुके थे और कर रहे थे। अपने पद-विहार में कतिपय वर्ष पूर्व उनका गमन 'खांगटा' की ओर भी हुआ। बडी विनती थी वहाँ के भाईयों की, वहाँ पधारने के लिए। सबको पूर्ण विश्वास था कि गुरुदेव के पदार्पण से उनकी धार्मिक समस्या का समाधान अवश्य निकलेगा। उनकी परेशानी अवश्य दूर हो जाएगी। ग्रीष्म की तपन के

पश्चात् वर्षा के बादलों की प्रतीक्षा करने वाले लोगों के समान खांगटा के श्रावक गुरुदेव की प्रतीक्षा करने लगे। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और गुरुदेव का अपनी शिष्य-मंडली के साथ खांगटा ग्राम में प्रवेश हुआ। अपने विरोध-भाव को भूलकर दोनों धड़ों के श्रावक गुरुदेव का स्वागत करने के लिए ग्राम की सीमा के बहुत आगे तक गए। बड़ी धूमधाम से, उल्लास से और उत्कण्ठा से आचार्यप्रवर का ग्राम-प्रवेश कराया गया। आचार्यश्री को पहले ही किसी श्रावक के मुख से स्थानक को लेकर पारस्परिक वैमनस्य का पता चल गया था। वास्तव में इसी वैमनस्य को मिटाने के लिए तो वे दूर की पद-यात्रा करके यहाँ पधारे थे। भक्तों ने आचार्यप्रवर से बड़ी ही विनम्रता, आकांक्षा और अनुनय-पूर्ण वाणी में चातुर्मास के लिए विनती की और गणमान्य, वयोवृद्ध श्रावकों ने करबद्ध होकर कहा—'हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे गुरुदेव जो अपनी करुणा, दयालुता, अनुकम्पा और उदारता के लिए सारे जैन-शासन में प्रख्यात हैं, हमें निराश न करते हुए, हमारी चातुर्मास की विनती और प्रार्थना की उपेक्षा नहीं करेंगे।

अपने परम भक्त अनुयायियों की प्रार्थना और आग्रह को सुनकर आचार्यप्रवर ने अपना प्रवचन आरम्भ करते हुए कहा :

"प्रिय धर्मबन्धुओ ! माला की सुन्दरता तभी तक रहती है जब तक उसके मनके एक सूत्र में पिरोए रहते हैं। सूत्र के टूटते ही मनके यत्र-तत्र बिखर जाते हैं और माला का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार सब श्रावक माला के मनकों के समान हो और जब तक प्रेम के और धर्म के डोरे में पिरोए रहोगे तब तक आपका सौन्दर्य विद्यमान रहेगा और आपकी सत्ता संसार में स्थिर रह सकेगी; परन्तु यदि आपने प्रेम के सूत्र को, धर्म के डोरे को अपनी अज्ञानता से तोड़ डाला तो आप सभी मनकों की तरह बिखर जाओगे; इस सत्य को समझना है, इसका मनन करना है और इसको अपने जीवन में उतारना है। अपने अस्तित्व को, अपने धर्म को और अपनी आस्था को यदि कायम रखना है तो आपको एक सूत्र में बन्धकर रहना होगा।

जैसा कि हमारे सुनने में आया है, आप सब अपने सन्मार्ग से भटक गए हैं और अज्ञानता के कारण एक होते हुए भी अपने को एक-दूसरे से अलग समझने लगे हैं। संसारी व्यक्ति की दृष्टि से यह एक तुच्छ-सी बात है, एक सामान्य-सी बात है जिस पर आपकी मन-मुटाव की नींव रखी हुई है। हमारी दृष्टि से यह एक विशेष बात है, एक विशेष घटना है। धर्म किसी को तोड़ता नहीं, धर्म तो जोड़ता है और सब को भ्रातृभाव से, मैत्रीभाव से रहने की शिक्षा देता है। जब धर्म का आधार पारस्परिक मैत्री की भावना की स्थापना है तो फिर धर्म-स्थान को लेकर जहाँ धार्मिक क्रिया-कलाप के पावन परमाणु व्याप्त हैं, वैमनस्य क्यों हो ? दो भाई अपने धार्मिक स्थान के कलह का भी यदि आपस में मिलकर फैसला नहीं कर सकते तो इसका यही अर्थ है कि आपके मनों में वैमनस्य का मैल बहुत अधिक मात्रा में जमा हो गया है, आपकी विवेक-शक्ति आपका साथ छोड़ चुकी है और आपकी निहित-स्वार्थ की भावना चरम-सीमा को पार कर गई है। हमारा चातुर्मास यहाँ करवाने की सच्ची भावना है सच्ची धर्म की लगन है और धर्म की प्रभावना अभिलषित है तो आप चौबीस घण्टे में अपने भेदभाव भूलकर एक हो जाओ अन्यथा चातुर्मास की स्वीकृत दूर रही, हम शीघ्र ही यहाँ से विहार करने के लिए बाध्य हो जाएंगे। कल जब

आप प्रातः प्रार्थना-सभा में उपस्थित होंगे तो आप सब के मुखमण्डल पर प्रेम की एक-सी ही आभा हम देखेंगे ऐसी हमें पूर्ण आशा है।"

अगले दिन प्रातः जब लोग प्रार्थना-सभा में सम्मिलित हुए तो सबके चेहरों पर प्रसन्नता की, उल्लास की झलक थी। मालिन्य की, सन्देह की, शत्रुता की और विरोध की छाया लुप्त हो चुकी थी। सबने अपने आपको धर्म के, प्रेम के और समता के सूत्र में पिरो लिया था। अब सभी धर्मबंधुओं में प्रेम की एक ही धारा बह रही थी। एकता के सूत्र ने पुनः उनको अपनी वास्तविक स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया था। वे सब यह अनुभव कर रहे थे कि वे जुड़ने को तो सदा से ही तत्पर थे परन्तु जोड़ने वाले गुरुदेव की अपेक्षा थी। गुरुदेव आए और उन्होंने अपनी ज्ञानांजन-शलाका से सबके नेत्रों का अज्ञानान्धकार दूर किया, उन्हें सन्मार्ग पर प्रवृत्त किया और जिनवाणी का प्रभाव प्रकट कर एक प्रकार का चमत्कार करके दिखा दिया।

आचार्यप्रवर को भी महती प्रसन्नता का अनुभव हुआ, सबको प्रेम के सूत्र में बंधा देखकर और सबको सत्पथ पर प्रवृत्त होने का आनन्दानुभव करते देखकर। ऐसा है प्रभाव हमारे आचार्य श्री के व्यक्तित्व का, उनकी ज्ञान-गरिमा का, उनकी परहित-कल्याण-कामना का और उनकी अन्तस की शांति की प्रतीक मुख-मुद्रा का। ऐसे महान् व्यक्तित्व के धनी, आगम विशेषज्ञ, तर्क-चूड़ामणि, अनेकान्तवाद के प्रचारक, अपने सद्-उपदेश द्वारा टूटे हुओं को जोड़ने वाले, जुड़े हुओं को धर्म-पथ पर अग्रसर करने वाले, लम्बी-लम्बी पद यात्राओं द्वारा भारत के कोने-कोने में धर्म का प्रचार करने वाले, अहिंसा, संयम और तप की प्रतिमूर्ति, प्राणीमात्र के प्रति समता की भावना रखने वाले, धर्म की प्रभावना के लिए अनेक परीषहों को सहन करने वाले इन्द्रियजयी पूज्यपाद श्री जीतमलजी महाराज के कुशल-नेतृत्व में हम सब भी अपने जीवन को समत्व-परक जीने का सत्प्रयास करते रहें, यही मंगल-भावना है।
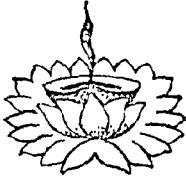
दिव्य-व्यक्तित्व का भव्य-अभिनन्दन

पं. रत्न उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंदजी म.सा.

श्रद्धेय आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी म. सा. जय-संघ के संत-शिरोमणि हैं। आपका व्यक्तित्व ऊर्जस्वल और अद्‌भुत है। आपकी प्रतिभा विलक्षण है। कुशल-कवि, सफल लेखक, ओजस्वी वक्ता, उत्कृष्ट-साधक होने के साथ-साथ आप एक अच्छे ज्योतिषविद् भी हैं। सद्‌गुणों की सौरभ से महकता हुआ आपका जीवन विनय, सरलता, विवेक एवं सहज-स्नेह से आपूरित है। आप मेरे चाचा गुरु हैं। मेरी दीक्षा (वि.सं. १९८७) के बाद से अब तक मुझे आप-श्री का स्नेह-सान्निध्य मिलता रहा है। स्वाध्याय-प्रेमी स्वामी श्री चाँदमल जी म.सा. के स्वर्गारोहण (वि.सं. २०२५) के पश्चात् 'जय संघ' के वरिष्ठ संत आप ही थे अतः तब से अब तक आपके साहचर्य में, आपकी आज्ञा में और आपकी सेवामें मेरा साधना-जीवन व्यतीत हो रहा है। आपके मृदुल-मृदु शान्त-स्वभाव एवं दीप्तमान-संयम-ज्ञानाधारित समुज्ज्वल-व्यक्तित्व ने मुझे निरन्तर प्रेरित किया है। मेरे जीवन-अनुभव-संग्रह से आप-श्री के व्यक्तित्व को उजागर करने वाले कुछ प्रसंग, संस्मरण रूप में प्रस्तुत हैं :

ज्ञान-गरिमा

वि. संवत् दो हजार नव। ऐक्य-भावना से उत्प्रेरित अनेक संत-महात्माओं के सत्प्रयासों से नव-संगठित 'श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन 'श्रमण-संघ' के मंत्रीमण्डल की मीटिंग 'सोजतशहर' में होनी निश्चित हो चुकी थी। वर्तमान आचार्य-प्रवर एवं हम सन्त उस समय बावड़ी गाँव में थे और श्रमण-संघ के तीन अधिकारी संत—सहमंत्री श्री हस्तीमलजी म.सा., मंत्री मुनि श्री मिश्रीमलजी म.सा. 'मरुधर-केसरी' एवं मंत्री मुनि श्री पुष्करमुनि जी म.सा. विराज रहे थे, पीपाड़शहर। एक संदेश मिला—मंत्री-मण्डल-सभा में सोजतशहर पहुंचने का पर संदेश की भावना, हमारी भावना के अनुकूल प्रतीत नहीं हुई अतः "नहीं आ सकेंगे, विवशता है"—ऐसा संदेश हमारी ओर से भिजवा दिया गया। इस पर सहमंत्री मुनिवर का पुनः एक पत्र मिला, जिसमें एक बार मिलने की भावना अभिव्यक्त करते हुए हमें बुलाया गया था। इस समय तक मरुधरकेसरी जी महाराज बिलाड़ा पहुंच गए थे, श्री पुष्करमुनि जी म सा. पीपाड़ ही विराजमान थे और पूज्य श्री हस्तीमल जी म.सा. रीयाँ (सेठों की) पधार गए थे।

आचार्य-श्री जीतमलजी म सा. और हम सन्त रीयाँ में पूज्य-श्री हस्तीमल जी म.सा. से मिले। सोजत-सम्मेलन की अन्तर्गत नीति की बातें तो हुई ही, कुछ दिन आपके साथ रहने का अवसर भी मिला। रत्नाधिकों के प्रति आत्मीयता के भाव प्रस्फुटित हों, यह स्वाभाविक ही था। "ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की बात" के अनुसार परस्पर ज्ञान-ध्यान के आदान-प्रदान का सुअवसर प्राप्त हुआ। अपने न्यायतीर्थ-परीक्षा के अध्ययन-काल में आचार्य-श्री ने स्याद्वादमंजरी, न्यायदीपिका, प्रमाणमीमांसा, स्याद्वाद-रत्नाकर, प्रमाणनय-तत्त्वालोक आदि अनेक न्याय-ग्रन्थों का ठोस अध्ययन किया था अतः इस विषय में दोनों ज्ञान-गुणियों के परस्पर वार्तालाप हुआ। सहमंत्री जी ने उस समय आपकी ज्ञान-गरिमा का अनुभव किया और आपकी जानकारी पर हर्ष प्रकट किया।

स्पष्टवादिता

सुनिश्चित योजनानुसार सोजत में श्रमण-संघ-मन्त्रीमण्डल का सम्मेलन (मीटिंग) हुआ। कई प्रमुख-प्रमुख मुनिराजों का वहाँ पदार्पण हुआ। मन्त्री-मुनि श्री पन्नालाल जी म.सा. के प्रतिनिधि के रूप में मुझे भी वहाँ जाना था। मैं आप-श्री के साथ सोजत गया। भारत-भर के अनेक मूर्धन्य-सन्तों के सम्पर्क में रहने का प्रसंग वहाँ उपस्थित था। कविवर उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के साथ तो अजमेर वृहत् साधु-सम्मेलन के समय से ही आपके घनिष्ठ वात्सल्य एवं निकट-आत्मीयता के सम्बन्ध बन चुके थे। कवि जी महाराज हम से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें देखकर हमारे मन में भी उल्लास के भाव उठना साधारण बात थी। एक दिन कवि जी आपके पास आए और फरमाया उन्होंने कि वर्तमान युग की गतिविधियों, परिस्थितियों एवं वातावरण के रवैये को देखते हुए क्या आप ऐसा सोचते हैं कि आज हम लोगों में, मुनि-समाज में जितनी घनिष्ठता परस्पर बनी हुई है, वैसी भविष्य में हम से जो छोटे मुनिजन हैं या आने वाली जो श्रमण-पीढ़ी है—उनमें भी रह सकेगी ?

आपने विनीत पर स्पष्ट रूप से उत्तर देते हुए फरमाया कि "यदि चारित्रिक स्तर नहीं गिरेगा, साध्वाचार का आगम-मर्यादानुसार पालन होता रहेगा तो हम मारवाड़ी साधुओं का आप पर जैसा आत्मीय भाव है, वैसा भविष्य में भी बना रहेगा। चारित्र में गिरावट आ जाने पर तो आचार की सगाई सीमित होगी ही।"

मैं सुन रहा था आपका यह उत्तर और चकित था आपकी ऐसी स्पष्टवादिता पर।

कल्प-दृढ़ता

श्रमण-संघीय मंत्री-मण्डल-सम्मेलन, सोजत की ही बात है। सम्मेलन की व्यवस्था का एक भी पत्ता खड़कता तो मंत्री-मुनि श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मरुधरकेसरी' के संकेत पर। बाहर से पधारे हुए साधु-साध्वियों को गौचरी के लिए किस मोहल्ले या वास में जाना है, इसका संकेत भी एक पत्र-खण्ड पर लिखित रूप में कोई न कोई श्रावक दे जाता था। प्रथम दिन जब हम सोजत पहुंचे तो प्रातः की गौचरी कर चुके थे (सांडिया गांव में) तथा शाम को गौचरी का विचार नहीं था अतः उस दिन सोजत में आहार नहीं किया। दूसरे दिन गौचरी के समय तक हमें इन लिखित-संकेतों वाली बात का पता लग गया था। आपने इस व्यवस्था में कल्पमर्यादा का दोष पाकर सोजतशहर में गौचरी नहीं ली। आप

भिक्षार्थ शहर से बाहर कुओं-वेरों-ढीमड़ों पर रहने वाले कृषकों की झोंपड़ियों एवं घरों में गए और वहीं से भिक्षा लेकर पधारे। मर्यादा के अनुसार श्रमण-संघ के उपाचार्य श्री को लाई हुई भिक्षा दिखाने गए। उपाचार्य-श्री ने भिक्षा में लाए खाद्य-पदार्थों को देखा तो उन्हें यह आभास मिल गया कि गौचरी शहर से नहीं लाई गई है। आपसे पूछा गया इस सम्बन्ध में तो आपने बताया कि श्रावक के द्वारा लिखित-पत्र-खण्ड में भिक्षार्थ-निर्देश दिलवाना "निमंत्रण दोष" है तथा आज्ञोपरांत अन्य मोहल्लों, वास में जाकर भिक्षा ग्रहण करना 'अदत्तादान दोष" से दूषित जंचता है; यही कारण है कि बाहर कृषक-आवासों से भिक्षा ग्रहण की गई है।" उपाचार्य-श्री ने कल्प में दृढ़ता रखने की बात पर आपको धन्यवाद दिया, साथ ही गौचरी के लिए चल रही उस लिखित पत्र-खण्ड की सांकेतिक व्यवस्था को समाप्त किया।

ज्योतिष–विशेषज्ञ

बात वि. संवत् २००३ की है। इस समय तक आपने ज्योतिष का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। रुचि आपकी प्रारम्भ से ही थी ज्योतिष में। पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज एवं श्री ब्रजलाल जी म. सा. ने मधुकर मुनि श्री मिश्रीमल जी म. सा. की दीक्षा-कुण्डली बताते हुए आपसे पूछा कि "अध्ययन से अर्जित ज्ञान की प्रखरता और तेजी से बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए इसका भविष्य कैसा है ?"

कुण्डली का अवलोकन किया, ग्रह-नक्षत्र आदि का गणितीय एवं फलितीय ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर मनन किया और फरमाया आपने कि योग्यता के अनुरूप ही मुनि जी का प्रसिद्धि-योग है। मेरा अनुमान यही कहता है कि ये चमकेंगे अवश्य पर ।

"पर, पर क्या ?"—मुनिद्वय की उत्कण्ठा देखने योग्य थी।

आपने सहज-स्वर में बात को स्पष्ट करते हुए कहा—"...पर पूर्ण सफलता के संयोगों में किञ्चित् कमी रह सकती है।" बात सही निकली। सम्पूर्ण जैन समाज इस बात से सुपरिचित है कि वे चमकने लगे थे, अच्छी प्रसिद्धि पाने लगे थे और उनकी लोकप्रियता एवं सितारों (Stars) ने उनके लिए युवाचार्य (श्रमण संघ) एवं इससे पूर्व आचार्य (जय-सम्प्रदाय) के गौरवशाली पदों का अभियोजन भी किया पर दोनों ही पदों की सफलता उनकी कुण्डली में नहीं थी अत: एक पद उन्होंने स्वयं त्यागा तो दूसरे पद की पूर्णाहुति से पहले ही अर्थात् आचार्य-पद-प्राप्ति से पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गए।

ज्योतिष से संबंधित ही एक और प्रसंग स्मृति-कोष से उजागर हुआ चाहता है। बात उस समय की है जब भीनासर-साधु-सम्मेलन की तैयारियां चरम सीमा पर थीं। श्रमण-संघ के उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने आपको अपनी दीक्षा-कुण्डली बताई और प्रश्न किया कि सम्मेलन की सफलता कैसी रहेगी ? इसी प्रश्न के साथ श्रमण-संघ की अखण्डता के बारे में भी प्रश्न किया।

पूछे गए दोनों प्रश्नों के तल में छिपे भाव को समझकर कुण्डली का सूक्ष्म अध्ययन किया और बताया आपने—"इस सम्मेलन में श्रमण-संघ कुछ नया कर दिखाएगा, कुछ प्रगति करेगा या कुछ आगे बढ़ेगा; ऐसा सोचना व्यर्थ है। कुण्डली का फलादेश कह रहा है कि सफलता नगण्य ही रहेगी। हाँ श्रमणसंघ की अखंडता को यह सम्मेलन खंडित नहीं होने देगा।"

कहने की जरूरत नहीं कि आपका यह कथन सत्य निकला; जानकार आपके इस कथन की सिद्ध-सत्यता को भली प्रकार जानते हैं। वास्तव में उच्चकोटि का है आपका ज्योतिष-ज्ञान।

हम सब आपके ज्ञान का सुफल प्राप्त करें, आपके साधक-जीवन से प्रेरणा पाकर अपना जीवन विकसित करें उसे संवारें एवं आपके मार्ग-दर्शन में अपने संयम-पथ को प्रशस्त करें तो निश्चय ही आपके दिव्य-व्यक्तित्व का भव्य-अभिनन्दन होगा।

आचार्य-श्री जीतमलजी म सा. और हम सन्त रीयाँ में पूज्य-श्री हस्तीमल जी म.सा. से मिले। सोजत-सम्मेलन की अन्तर्गत नीति की बातें तो हुई ही, कुछ दिन आपके साथ रहने का अवसर भी मिला। रत्नाधिकों के प्रति आत्मीयता के भाव प्रस्फुटित हों, यह स्वाभाविक ही था। "ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की बात" के अनुसार परस्पर ज्ञान-ध्यान के आदान-प्रदान का सुअवसर प्राप्त हुआ। अपने न्यायतीर्थ-परीक्षा के अध्ययन-काल में आचार्य-श्री ने स्याद्वादमंजरी, न्यायदीपिका, प्रमाणमीमांसा, स्याद्वाद-रत्नाकर, प्रमाणनय-तत्त्वालोक आदि अनेक न्याय-ग्रन्थों का ठोस अध्ययन किया था अतः इस विषय में दोनों ज्ञान-गुणियों के परस्पर वार्तालाप हुआ। सहमंत्री जी ने उस समय आपकी ज्ञान-गरिमा का अनुभव किया और आपकी जानकारी पर हर्ष प्रकट किया।

स्पष्टवादिता

सुनिश्चित योजनानुसार सोजत में श्रमण-संघ-मन्त्रीमण्डल का सम्मेलन (मीटिंग) हुआ। कई प्रमुख-प्रमुख मुनिराजों का वहाँ पदार्पण हुआ। मन्त्री-मुनि श्री पन्नालाल जी म.सा. के प्रतिनिधि के रूप में मुझे भी वहाँ जाना था। मैं आप-श्री के साथ सोजत गया। भारत-भर के अनेक मूर्धन्य-सन्तों के सम्पर्क में रहने का प्रसंग वहाँ उपस्थित था। कविवर उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के साथ तो अजमेर वृहत् साधु-सम्मेलन के समय से ही आपके घनिष्ठ वात्सल्य एवं निकट-आत्मीयता के सम्बन्ध बन चुके थे। कवि जी महाराज हम से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें देखकर हमारे मन में भी उल्लास के भाव उठना साधारण बात थी। एक दिन कवि जी आपके पास आए और फरमाया उन्होंने कि वर्तमान युग की गतिविधियों, परिस्थितियों एवं वातावरण के रवैये को देखते हुए क्या आप ऐसा सोचते हैं कि आज हम लोगों में, मुनि-समाज में जितनी घनिष्ठता परस्पर बनी हुई है, वैसी भविष्य में हम से जो छोटे मुनिजन हैं या आने वाली जो श्रमण-पीढ़ी है—उनमें भी रह सकेगी?

आपने विनीत पर स्पष्ट रूप से उत्तर देते हुए फरमाया कि "यदि चारित्रिक स्तर नहीं गिरेगा, साध्वाचार का आगम-मर्यादानुसार पालन होता रहेगा तो हम मारवाड़ी साधुओं का आप पर जैसा आत्मीय भाव है, वैसा भविष्य में भी बना रहेगा। चारित्र में गिरावट आ जाने पर तो आचार की सगाई सीमित होगी ही।"

मैं सुन रहा था आपका यह उत्तर और चकित था आपकी ऐसी स्पष्टवादिता पर।

कल्प-दृढ़ता

श्रमण-संघीय मंत्री-मण्डल-सम्मेलन, सोजत की ही बात है। सम्मेलन की व्यवस्था का एक भी पत्ता खड़कता तो मंत्री-मुनि श्री मिश्रीमल जी म.सा. 'मरुधरकेसरी' के संकेत पर। बाहर से पधारे हुए साधु-साध्वियों को गौचरी के लिए किस मोहल्ले या बास में जाना है, इसका संकेत भी एक पत्र-खण्ड पर लिखित रूप में कोई न कोई श्रावक दे जाता था। प्रथम दिन जब हम सोजत पहुंचे तो प्रातः की गौचरी कर चुके थे (सांडिया गांव में) तथा शाम को गौचरी का विचार नहीं था अतः उस दिन सोजत में आहार नहीं किया। दूसरे दिन गौचरी के समय तक हमें इन लिखित-संकेतों वाली बात का पता लग गया था। आपने इस व्यवस्था में कल्पमर्यादा का दोष पाकर सोजतशहर में गौचरी नहीं ली। आप

भिक्षार्थ शहर से बाहर कुओं-वेरों-ढीमड़ों पर रहने वाले कृषकों की झोंपड़ियों एवं घरों में गए और वहीं से भिक्षा लेकर पधारे। मर्यादा के अनुसार श्रमण-संघ के उपाचार्य श्री को लाई हुई भिक्षा दिखाने गए। उपाचार्य-श्री ने भिक्षा में लाए खाद्य-पदार्थों को देखा तो उन्हें यह आभास मिल गया कि गौचरी शहर से नहीं लाई गई है। आपसे पूछा गया इस सम्बन्ध में तो आपने बताया कि श्रावक के द्वारा लिखित-पत्र-खण्ड में भिक्षार्थ-निर्देश दिलवाना "निमंत्रण दोष" है तथा आज्ञोपरात अन्य मोहल्लों, वास में जाकर भिक्षा ग्रहण करना 'अदत्तादान दोष" से दूषित जंचता है; यही कारण है कि बाहर कृषक-आवासों से भिक्षा ग्रहण की गई है।" उपाचार्य-श्री ने कल्प में दृढ़ता रखने की बात पर आपको धन्यवाद दिया, साथ ही गौचरी के लिए चल रही उस लिखित पत्र-खण्ड की सांकेतिक व्यवस्था को समाप्त किया।

ज्योतिष–विशेषज्ञ

बात वि. संवत् २००३ की है। इस समय तक आपने ज्योतिष का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। रुचि आपकी प्रारम्भ से ही थी ज्योतिष में। पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज एवं श्री ब्रजलाल जी म. सा. ने मधुकर मुनि श्री मिश्रीमल जी म. सा. की दीक्षा-कुण्डली बताते हुए आपसे पूछा कि "अध्ययन से अर्जित ज्ञान की प्रखरता और तेजी से बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए इसका भविष्य कैसा है ?"

कुण्डली का अवलोकन किया, ग्रह-नक्षत्र आदि का गणितीय एवं फलितीय ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर मनन किया और फरमाया आपने कि योग्यता के अनुरूप ही मुनि जी का प्रसिद्धि-योग है। मेरा अनुमान यही कहता है कि ये चमकेंगे अवश्य पर ··· ।

"पर, पर क्या ?"—मुनिद्वय की उत्कण्ठा देखने योग्य थी।

आपने सहज-स्वर में बात को स्पष्ट करते हुए कहा—"···पर पूर्ण सफलता के संयोगों में किञ्चित् कमी रह सकती है।" बात सही निकली। सम्पूर्ण जैन समाज इस बात से सुपरिचित है कि वे चमकने लगे थे, अच्छी प्रसिद्धि पाने लगे थे और उनकी लोकप्रियता एवं सितारों (Stars) ने उनके लिए युवाचार्य (श्रमण संघ) एवं इससे पूर्व आचार्य (जय-सम्प्रदाय) के गौरवशाली पदों का अभियोजन भी किया पर दोनों ही पदों की सफलता उनकी कुण्डली में नहीं थी अतः एक पद उन्होंने स्वयं त्यागा तो दूसरे पद की पूर्णाहुति से पहले ही अर्थात् आचार्य-पद-प्राप्ति से पूर्व ही वे स्वर्गवासी हो गए।

ज्योतिष से संबंधित ही एक और प्रसंग स्मृति-कोष से उजागर हुआ चाहता है। बात उस समय की है जब भीनासर-साधु-सम्मेलन की तैयारियां चरम सीमा पर थीं। श्रमण-संघ के उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. ने आपको अपनी दीक्षा-कुण्डली बताई और प्रश्न किया कि सम्मेलन की सफलता कैसी रहेगी ? इसी प्रश्न के साथ श्रमण-संघ की अखण्डता के बारे में भी प्रश्न किया।

पूछे गए दोनों प्रश्नों के तल में छिपे भाव को समझकर कुण्डली का सूक्ष्म अध्ययन किया और बताया आपने—"इस सम्मेलन में श्रमण-संघ कुछ नया कर दिखाएगा, कुछ प्रगति करेगा या कुछ आगे बढ़ेगा; ऐसा सोचना व्यर्थ है। कुण्डली का फलादेश कह रहा है कि सफलता नगण्य ही रहेगी। हाँ श्रमणसंघ की अखंडता को यह सम्मेलन खंडित नहीं होने देगा।"

कहने की जरूरत नहीं कि आपका यह कथन सत्य निकला; जानकार आपके इस कथन की सिद्ध-सत्यता को भली प्रकार जानते हैं। वास्तव में उच्चकोटि का है आपका ज्योतिष-ज्ञान।

हम सब आपके ज्ञान का सुफल प्राप्त करें, आपके साधक-जीवन से प्रेरणा पाकर अपना जीवन विकसित करें उसे संवारें एवं आपके मार्ग-दर्शन में अपने संयम-पथ को प्रशस्त करें तो निश्चय ही आपके दिव्य-व्यक्तित्व का भव्य-अभिनन्दन होगा।

मेरी नज़र में आचार्य-श्री एक सिद्ध-संत

प्रसन्नचेता स्वामी श्री शुभचंद जी म.सा.

चरणों का प्रताप

आचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी म. सा. अपने विहार-क्रम में रड़ौद गांव से आगे की ओर बढ़ रहे थे। कुंभारा गाँव का एक किसान (जिसका नाम है रुखजी) आचार्य-श्री को पहुँचाने के लिए साथ-साथ चल रहा था। वह किसान जाति से जाट था और रास्ता उसके खेत से होकर जाता था। उसके कुए के पास एक कमरा भी बना हुआ था। जिस समय आचार्य-श्री उसके कुए के पास पहुँचे, उस समय उस जाट ने आचार्य-श्री से करबद्ध निवेदन किया वहाँ कुछ विश्राम करने के लिए। आचार्य-श्री उस जाट की भावना को देखकर कुछ समय रुके और पुन: आगे बढ़ गए। जाट के उस कुए में पानी की बडी कमी रहती थी। आचार्य-श्री ने चलते समय जाट को मांगलिक सुनाई और धर्म के प्रति आस्थावान् बने रहने, जीवों पर दया करने का उपदेश दिया। किसान जाट ने आचार्य-प्रवर के वचन पूर्ण श्रद्धा के साथ सुने। आचार्य-श्री वहाँ से प्रस्थान कर गए। कुछ समय बाद जाट किसान का आश्चर्य तब बढ़ गया जब उसके कुए में अदृश्य रूपेण पानी लबालब भर गया। आज भी कुए में पानी खूब भरा रहता है। उस जाट बन्धु की भावना तब से जैनधर्म के प्रति बढ़ी हुई है और वह आचार्य-श्री का विशेष-श्रद्धालु भक्त बना हुआ है। यह सब महापुरुषों के श्री-चरणों का प्रताप है। कहा भी है—

"जहं-जहं पाँव पड़े सन्तों के, तहं-तह बेड़ा पार।"

वचनों का प्रभाव

बात उस समय की है, जब आचार्य-श्री ब्यावर में अपना (वि.सं. २०३७ का) चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे। उन्हीं दिनों स्थानीय एक लड़के को कुछ असामाजिक तत्त्व पकड़ कर कहीं ले गए। लड़के के माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों आदि ने उसको खोजने के लिए पर्याप्त दौड़-धूप की किंतु उसका कहीं भी पता नहीं चला। एक दिन उस लड़के की माता स्थानक-भवन आचार्य-श्री के दर्शनार्थ आई। दर्शन-वंदन के पश्चात् उस बहन ने अपनी करुण-कहानी आचार्य-श्री को कह सुनाई। अपनी बात कहते-कहते उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। आचार्य-श्री ने पहले तो उस बहन को समझाया। धैर्य धारण करने एवं देव-गुरु-धर्म के प्रति विश्वस्त रहने की प्रेरणा दी। तदनन्तर आपने फरमाया—

"बाई ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। महामंत्र नवकार का जाप निरन्तर जारी रखो। धर्म पर श्रद्धा रखो। देव-गुरु-धर्म के प्रताप से स्वतः अच्छा ही होगा।"

आचार्य-श्री के शब्द सुनकर उस बहन ने अपार शांति का अनुभव किया। श्री-मुख से मंगल-पाठ सुनकर वह अपने घर चली गई। कुछ ही दिनों बाद उस बहन का पुत्र गुण्डों के चंगुल से छूटकर सकुशल लौट आया। बहन आश्चर्य-चकित थी। उसे अनुभव हुआ—यह उसी दिव्यात्मा की कृपा का फल है, उन्हीं वचनों का प्रभाव है। आज वह आचार्य-श्री की परम-भक्त है।

अनुमान सही निकला

बात यह वि. सं. २०१४ की है। एक बहन अपने रुग्ण-पुत्र को लेकर उपस्थित हुई, आचार्य-प्रवर की सेवामें। दर्शन-वंदन के बाद उसने बताया कि उसका यह पुत्र कई दिनों से अस्वस्थ है और पर्याप्त चिकित्सा करवाने के उपरांत भी ठीक नहीं हो रहा है। वार्ता के दौरान उस बहन ने कहा-"भगवन् ! यदि मेरा यह पुत्र स्वस्थ हो गया तो इसे मैं आपकी शरण में दे दूंगी।"

आचार्य-श्री ने वैसे ही उसका मन टटोलने की दृष्टि से कहा—"बहन ! तुम जो कह रही हो, उससे बदलोगी तो नहीं ?"

"नहीं, गुरुदेव ! मै वादा करती हूँ कि यदि यह स्वस्थ हो गया तो मैं इसे आपकी सेवामें अर्पित कर दूंगी।" उस बहन ने दृढ़ता से कहा।

आचार्य-श्री उस बहन के इन शब्दों को सुनकर हलके-से मुस्कराए (शायद भविष्य जान लिया हो)। आपने बालक को देखा और उसे मांगलिक सुना दी। मंगल-पाठ सुन वह बहन अपने पुत्र को लेकर विदा हो गई।

कुछ समय बाद पता चला कि वह बालक एकदम स्वस्थ हो गया है। उस बहन को जब किसी ने उसका वादा याद दिलाया तो वह मौन हो गई। आचार्य-श्री का अनुमान सही निकला। वास्तव में पुत्र को स्वस्थ पाकर उसकी भावना में स्वार्थ छा गया था। किसी ने ठीक ही कहा है कि स्वार्थ के आगे व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है।

आत्मबल का परिणाम

आचार्य-श्री विहार-रत थे। अपने विहार-क्रम में आप-श्री मेड़ता से कुचेरा की ओर पधार रहे थे। सर्दी का मौसम था। प्रातः सूर्योदय के पश्चात् आगे के लिए विहार हुआ। ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। आचार्य-श्री सड़क के किनारे-किनारे चल रहे थे। आप-श्री के पीछे आपका शिष्य-परिवार चल रहा था। चलते-चलते एकाएक आचार्य-श्री का पाँव डगमगाया, संतुलन बिगड़ा और आप गिर पड़े। यह सब अनायास इतनी शीघ्रता में हुआ कि हम हक्के-बक्के रह गए। आचार्य-श्री को सम्हाला। देखा तो पाया कि आप के सिर और घुटनों में चोट आई है। रक्त प्रवाहित हो चला। हम मुनियों ने चोट पर पट्टी बांध दी और कुछ समय विश्राम करने के लिए आग्रह-पूर्ण निवेदन किया।

आचार्य-श्री ने फरमाया—"आराम करने से शरीर अकड़ जाएगा। मैं तो चलूंगा। फिर यहाँ

मेरी नज़र में आचार्य-श्री एक सिद्ध-संत

प्रसन्नचेता स्वामी श्री शुभचंद जी म.सा.

चरणों का प्रताप

आचार्य-प्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी म. सा. अपने विहार-क्रम में रड़ौद गांव से आगे की ओर बढ़ रहे थे। कुंभारा गाँव का एक किसान (जिसका नाम है रुखजी) आचार्य-श्री को पहुँचाने के लिए साथ-साथ चल रहा था। वह किसान जाति से जाट था और रास्ता उसके खेत से होकर जाता था। उसके कुए के पास एक कमरा भी बना हुआ था। जिस समय आचार्य-श्री उसके कुए के पास पहुँचे, उस समय उस जाट ने आचार्य-श्री से करबद्ध निवेदन किया वहाँ कुछ विश्राम करने के लिए। आचार्य-श्री उस जाट की भावना को देखकर कुछ समय रुके और पुनः आगे बढ़ गए। जाट के उस कुए में पानी की बडी कमी रहती थी। आचार्य-श्री ने चलते समय जाट को मांगलिक सुनाई और धर्म के प्रति आस्थावान् बने रहने, जीवों पर दया करने का उपदेश दिया। किसान जाट ने आचार्य-प्रवर के वचन पूर्ण श्रद्धा के साथ सुने। आचार्य-श्री वहाँ से प्रस्थान कर गए। कुछ समय बाद जाट किसान का आश्चर्य तब बढ़ गया जब उसके कुए में अदृश्य रूपेण पानी लबालब भर गया। आज भी कुए में पानी खूब भरा रहता है। उस जाट बन्धु की भावना तब से जैनधर्म के प्रति बढ़ी हुई है और वह आचार्य-श्री का विशेष-श्रद्धालु भक्त बना हुआ है। यह सब महापुरुषों के श्री-चरणों का प्रताप है। कहा भी है—

"जहं-जहं पाँव पड़े सन्तों के, तहं-तह बेड़ा पार।"

वचनों का प्रभाव

बात उस समय की है, जब आचार्य-श्री ब्यावर में अपना (वि.सं. २०३७ का) चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे। उन्हीं दिनों स्थानीय एक लड़के को कुछ असामाजिक तत्त्व पकड़ कर कहीं ले गए। लड़के के माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों आदि ने उसको खोजने के लिए पर्याप्त दौड़-धूप की किंतु उसका कहीं भी पता नहीं चला। एक दिन उस लड़के की माता स्थानक-भवन आचार्य-श्री के दर्शनार्थ आई। दर्शन-वंदन के पश्चात् उस बहन ने अपनी करुण-कहानी आचार्य-श्री को कह सुनाई। अपनी बात कहते-कहते उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। आचार्य-श्री ने पहले तो उस बहन को समझाया। धैर्य धारण करने एवं देव-गुरु-धर्म के प्रति विश्वस्त रहने की प्रेरणा दी। तदनन्तर आपने फरमाया—

"बाई ! तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। महामंत्र नवकार का जाप निरन्तर जारी रखो। धर्म पर श्रद्धा रखो। देव-गुरु-धर्म के प्रताप से स्वतः अच्छा ही होगा।"

आचार्य-श्री के शब्द सुनकर उस बहन ने अपार शांति का अनुभव किया। श्री-मुख से मंगल-पाठ सुनकर वह अपने घर चली गई। कुछ ही दिनों बाद उस बहन का पुत्र गुण्डों के चंगुल से छूटकर सकुशल लौट आया। बहन आश्चर्य-चकित थी। उसे अनुभव हुआ—यह उसी दिव्यात्मा की कृपा का फल है, उन्हीं वचनों का प्रभाव है। आज वह आचार्य-श्री की परम-भक्त है।

अनुमान सही निकला

बात यह वि. सं. २०१४ की है। एक बहन अपने रुग्ण-पुत्र को लेकर उपस्थित हुई, आचार्य-प्रवर की सेवामें। दर्शन-वंदन के बाद उसने बताया कि उसका यह पुत्र कई दिनों से अस्वस्थ है और पर्याप्त चिकित्सा करवाने के उपरांत भी ठीक नहीं हो रहा है। वार्ता के दौरान उस बहन ने कहा-"भगवन् ! यदि मेरा यह पुत्र स्वस्थ हो गया तो इसे मैं आपकी शरण में दे दूंगी।"

आचार्य-श्री ने वैसे ही उसका मन टटोलने की दृष्टि से कहा—"बहन ! तुम जो कह रही हो, उससे बदलोगी तो नहीं ?"

"नहीं, गुरुदेव ! मै वादा करती हूँ कि यदि यह स्वस्थ हो गया तो मैं इसे आपकी सेवामें अर्पित कर दूंगी।" उस बहन ने दृढ़ता से कहा।

आचार्य-श्री उस बहन के इन शब्दों को सुनकर हलके-से मुस्कराए (शायद भविष्य जान लिया हो)। आपने बालक को देखा और उसे मांगलिक सुना दी। मंगल-पाठ सुन वह बहन अपने पुत्र को लेकर विदा हो गई।

कुछ समय बाद पता चला कि वह बालक एकदम स्वस्थ हो गया है। उस बहन को जब किसी ने उसका वादा याद दिलाया तो वह मौन हो गई। आचार्य-श्री का अनुमान सही निकला। वास्तव में पुत्र को स्वस्थ पाकर उसकी भावना में स्वार्थ छा गया था। किसी ने ठीक ही कहा है कि स्वार्थ के आगे व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है।

आत्मबल का परिणाम

आचार्य-श्री विहार-रत थे। अपने विहार-क्रम में आप-श्री मेड़ता से कुचेरा की ओर पधार रहे थे। सर्दी का मौसम था। प्रातः सूर्योदय के पश्चात् आगे के लिए विहार हुआ। ठण्ड कड़ाके की पड़ रही थी। आचार्य-श्री सड़क के किनारे-किनारे चल रहे थे। आप-श्री के पीछे आपका शिष्य-परिवार चल रहा था। चलते-चलते एकाएक आचार्य-श्री का पाँव डगमगाया, संतुलन बिगड़ा और आप गिर पड़े। यह सब अनायास इतनी शीघ्रता में हुआ कि हम हक्के-बक्के रह गए। आचार्य-श्री को सम्हाला। देखा तो पाया कि आप के सिर और घुटनों में चोट आई है। रक्त प्रवाहित हो चला। हम मुनियों ने चोट पर पट्टी बांध दी और कुछ समय विश्राम करने के लिए आग्रह-पूर्ण निवेदन किया।

आचार्य-श्री ने फरमाया—"आराम करने से शरीर अकड़ जाएगा। मैं तो चलूंगा। फिर यहाँ

जंगल में औषधादि के कोई साधन भी उपलब्ध नहीं हैं।" इतना कहकर आचार्य-श्री ध्यान-मग्न हो गए, कुछ इष्ट-स्मरण किया और उठकर आपने अपने कदम आगे के लिए बढ़ा दिए।

आचार्य-श्री का यह साहस/आत्मबल देखकर हम सब आश्चर्य-चकित रह गए। वृद्धावस्था थी, शारीरिक दुर्बलता थी और तिस पर अचानक चोट भी लग गई थी फिर भी आपने नौ किलोमीटर का विहार किया। 'बूटाटी' गाँव पहुँचे। जब वहाँ के श्रावकों को इस बात का पता चला तो सब दौड़े आए और सेवामें उपस्थित हो गए। कुचेरा से डाक्टर को भी बुला कर ले आए। कोई आत्मबली ही ऐसी अवस्था और स्थिति में ऐसा कर सकता है।

लगभग तीस-इकतीस वर्षों से निरन्तर मुझे आपकी चरण-सेवा का अनुपम लाभ मिल रहा है। इस लम्बी अवधि में मैंने महसूस किया है कि वास्तव में आचार्य-प्रवर उच्चकोटि के साधक हैं। आपकी उत्कृष्ट साधना, आराधना एवं उनके सुफलों को देखकर सहसा मेरा मन यह कहे बिना नहीं रहता कि आचार्य-श्री एक सिद्ध-संत हैं।

आचार्य जीत : गुण-गीत

जीत पूज्य रा गुण गावेला, भगति-जोत जगावेला।
अंधकार - अज्ञान मिटेला, मुगति - पथ वो पावेला।।

क्रोध मान छल लोभ जगत में, मोटा 'बाघ' चार है।
पण यां रा मद गालण तांई, बण्या ए 'बाघमार' है।
'वचनमल्ल' रा टाबरिया रा, गुण मन सूं जो गावेला।।

'लूणसरा' में लूण नीपजै, बात न आ विश्वास री।
लूणसरा में हीरो निपज्यो, बात वडी मिठिग्रास री।
हीरा री कीमत समझेला, भूल कदै नीं राळेला।।

—जै. सि. मुनि श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा.
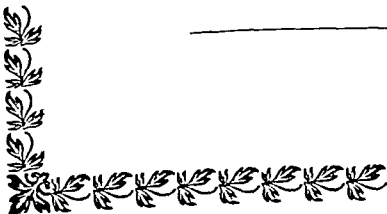
असाधारण व्यक्तित्व के वे क्षण जिन्हें मैंने जीया है

जैनसिद्धांत-शास्त्री श्री पार्श्वचंद्र जी म.सा.

महापुरुषों का जीवन महानताओं से जुड़ा होता है। उनके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रभाव होता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति, जो उनके सम्पर्क में आता है, किसी न किसी प्रकार से प्रभावित हुए विना नहीं रहता। उनमें अनेक विशिष्ट गुण, अनेक विशिष्ट शक्तियाँ होती हैं। अनुकूलताओं में वे फूलते नहीं हैं और प्रतिकूलताओं से घबराते नहीं हैं। विषम परिस्थितियाँ उन्हें झुका नहीं सकतीं, मोड़ नहीं सकतीं, झकझोर नहीं सकतीं। अपनी शक्तियों एवं असाधारण व्यक्तित्व के बल पर महापुरुष उन विषम परिस्थितियों को भी नए मोड़ के सांचे में ढाल कर स्वयं उनसे लाभान्वित हो जाया करते हैं। प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में बदलने की उनकी आत्मशक्ति प्रतिक्षण जागृत रहती है। उनका जीवन स्वचालित यंत्रवत् सदैव नियमित होता है।

स्वनाम-धन्य परम-श्रद्धेय आचार्य-प्रवर गुरुदेव श्री जीतमल जी म. सा. का जीवन भी इसी तरह की अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है। आपका व्यक्तित्व असाधारण एवं आत्मशक्ति अतुलित है। मैंने अपने साधक-जीवन के उनतीस वर्ष आप-श्री के चरणों की सेवा में बिताए हैं और इस बीच आपको अति निकटता से देखा है, परखा है। आपके असाधारण व्यक्तित्व को उजागर करने वाले कुछ क्षणों को, जिन्हें मैंने स्वयं ने जीया है, आपके सम्मुख संस्मरणों के रूप में प्रस्तुत करते हुए हर्ष एवं गर्व का अनुभव हो रहा है।

अन्तर्मुखी

बाह्य जगत् का अपना एक आकर्षण है। संसार के अधिकांश प्राणी इस बाह्य जगत् के आकर्षण को गहरी दिलचस्पी से देखते और भोगते हैं। सारे के सारे सांसारिक सुखों, सुख के साधनों एवं इन्द्रिय-विषय-प्रवृत्तियों को अपने में समाहित करने का निष्फल प्रयास करते हैं। आचार्य-प्रवर की साधक-प्रवृत्ति इससे ठीक विपरीत है। जगत् चाहे जिस राह से चले, आपको उससे कोई दिलचस्पी नहीं। आपके कदम तो आत्म-निर्देशित मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ते जाते हैं। आपका लक्ष्य ही आपकी साधना है, आपकी मंज़िल ही आपकी निष्ठा है। मंज़िल की ओर बढ़ते हुए, संयम की साधना करते हुए, लक्ष्य की आराधना करते हुए आपने कभी ध्यान नहीं दिया कि मेरे आसपास क्या हो रहा है या कौन क्या कर रहा है?

वि. संवत् २०२७ की बात है। आप उस समय माटुंगा (बम्बई) में विराज रहे थे। ज्ञान-साधना एवं स्वाध्याय में लीन रहना आपकी प्रवृत्ति रही है। स्वाध्याय के समय में नवपद जी के भांगों का विस्तार से लेखन-कार्य प्रारम्भ कर रखा था। नवपद जी के कुल भांगे होते हैं—तीन लाख बासठ हजार आठ सौ अस्सी। मेरी उपयोग-दृष्टि जहाँ तक कहती है और मैं जहाँ तक जानकारी रखता हूँ—नवपद जी के सम्पूर्ण भांगों को लिखने का श्रमसाध्य कार्य शायद आपने ही सर्वप्रथम किया था। माटुंगा में इन भांगों के लेखन में आप इतने लीन हो जाते कि कौन आपके पास आया, कौन क्या कह गया या कर गया, आपको पता ही नहीं लगता था। विषय भी तो ऐसा ही था। जैन गणित का अति गहन-गंभीर चिंतन का विषय, जिसमें साधारण मति का व्यक्ति तो प्रवेश ही नहीं पा सकता।

ग्रीष्म ऋतु का तपिश-भरा वातावरण। गगन में सूर्य का प्रचण्ड ताप। अंगारों-सी जलती हुई यह धरा। चारों ओर आग-सी उबल रही थी। हवा जब बंद होती तो दम घुटता और जब चलती तो गर्म-छुरियाँ ही लगतीं जैसे कलेजे के पार। ऐसे भयंकर ग्रीष्म में आचार्य-प्रवर लेखन-कार्य में रत थे कि एक चींटा (मकोड़ा) आपकी देह पर चढ़ गया। धीरे-धीरे रेंगता, चढ़ता वह पूज्य-प्रवर के बांयें हाथ की कलाई पर आया और वहीं चिपट गया। आश्चर्य, दांयें हाथ की गति मंद नहीं हुई। आचार्य-श्री का लेखन-कार्य पूर्ववत् चलता रहा। मस्तिष्क में भी कोई सल नहीं। गणन-कार्य में कोई अन्तर नहीं। कार्यवशात् मैं जब आप-श्री के निकट गया तो मैंने देखा कि उधर वह चींटा रक्त-शोषण में लीन है और इधर आप ज्ञान-साधना में तल्लीन। मैं गुरुवर की ज्ञान-साधना में बाधा पहुंचाना नहीं चाहता था पर वह कीट वहाँ चिमटा रहे, रक्तपान करता रहे—यह भी मुझसे सहन नहीं हो पा रहा था। मैंने हाथ का स्पर्श देकर आपकी ज्ञान-आराधना में कुछ क्षणों का अवरोध पैदा किया, तल्लीनता को भंग किया और उस परीषह के प्रति सजग/सचेत करना चाहा। स्पर्श पाते ही आचार्य-प्रवर चौंके, सिर उठाकर देखा, मुझे खड़ा पाया तो पूछा—"क्या बात है, पारस ?" मैंने मकोड़े की तरफ संकेत किया तो आप गंभीर हो गए। कुछ क्षणों की चुप्पी, कुछ पलों के चिंतन के बाद बोले—"शरीर से चिपटे मकोड़े को विलग करने का काम बड़ा पेचीदा है, अगर सावधानी नहीं बरती जाए तो इस बेचारे चींटे की हिंसा होने की संभावना अधिक है।" नीतिकार ने कहा है—

"मगर मकोड़ो हरियल काठी
तिरिया री गत तिण सुं ही माठी।
के तो आप जाणियो करे
के आप-घात कर मरे॥"

मगर (मच्छ), मकोड़े, ऊंट, स्त्री आदि स्वभाव से ही हठाग्रही होते हैं। ये पकड़ना जानते हैं, छोडना नहीं। परिणाम चाहे कुछ भी निकले पर ये जहां से/जिस बात को पकड़ लेते हैं, छोड़ने का नाम नहीं लेते।

बडे ही यत्न एवं विवेक से चींटे को अलग किया गया!

आगम-मर्मज्ञ

आगम-ग्रंथों का पठन-पाठन करना, उन्हें कण्ठस्थ कर लेना और उनका पारायण करते रहना ही सम्यग्ज्ञान का स्रोत नहीं है। सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है पठित ग्रंथों का मनन एवं चिंतन।

स्वस्थ व गहन चिन्तन के विना तत्त्व का स्पर्श तक नहीं हो पाता । कहावत है—"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ ।" अमूल्य मोतियों की प्राप्ति के लिए गहरे पानी में गोते लगाने ही पड़ते हैं । आगम भी ज्ञान का अथाह समुद्र है । आगम-मर्मज्ञ बनने के लिए तलस्पर्शी अध्ययन अपेक्षित है । गुरुदेव का अध्ययन, मनन व चिंतन वास्तव में उच्चकोटि का है, अतः आप एक अच्छे आगम-मर्मज्ञ हैं ।

संवत् २०२६ का प्रसंग है । पाली के सुराणा मार्केट में आप विराजमान थे । एक जिज्ञासु श्रावक जी आए और विधि-पूर्वक वंदन के पश्चात् लगभग १६-२० प्रश्नों की एक लम्बी सूची आपके सम्मुख रखते हुए बोले—"गुरुवर ! मैंने कई मुनिराजों से भेंट की और उनकी सेवामें इन प्रश्नों को रखा पर संतुष्टि मुझे आज तक नहीं हुई ।" गुरुदेव ने फरमाया –"सबके क्षयोपशम समान नहीं होते । आप अपनी सूची देखिए, क्या प्रश्न हैं, एक-एक करके पूछते जाइए ।"

सभी प्रश्नों का गुरुदेव ने उचित व सतर्क समाधान दिया । श्रावक जी बोले—"जैसा सुना था, वैसा ही पाया आपको । बम्बई में मुझे किसी श्रावक भाई ने कहा था कि इन प्रश्नों के सही समाधान मुझे आपसे मिलेंगे ।" कृतज्ञता प्रकट करते हुए विधि-युत वंदन-नमस्कार-पूर्वक मंगल-पाठ श्रवण कर श्रावक जी प्रस्थान कर गए ।

उदार दृष्टिकोण

सुपात्र, चाहे वह कहीं का हो, किसी का आज्ञानुवर्ती हो, किसी के प्रति आकर्षित हो; ज्ञान का अधिकारी है । गुरुदेव की मान्यता है कि ज्ञान तो बांटने की वस्तु है और जो ज्ञान पाने का अधिकारी है उसे ज्ञान अवश्य मिलना चाहिए ।

तब आप माटुंगा (बम्बई) मे विराज रहे थे । वहाँ के आगम-रसिक श्रावक श्री जसवंतलाल भाई शाह, श्री कांतिभाई और श्री जयंतीलाल भाई मशकारिया (वर्तमान में श्री जयंतीमुनि जी, तपस्वी श्री चम्पालाल जी म.सा. के अंतेवासी) आपके सान्निध्य में आगमिक अध्ययन हेतु नित्य आते थे । इन तीनों ही सुश्रावकों की उस समय निश्चित धारणा थी कि वे बहुश्रुत पं. र. श्री समर्थमल जी म सा. के पास दीक्षित बनेंगे । भावना दीक्षा की थी, मन में वैराग्य था और सीखना चाहते थे ज्ञान । आप-श्री के पास ये तीनों आए । उक्त जानकारी सारी थी आपको, पर आप तो सदा से उदारमना, स्वार्थ-भावना से अति दूर एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों के त्यागी रहे हैं । आपने तीनों ही जिज्ञासु-श्रावकों को बड़े मनोयोग से गांगेय अणगार के भांगों, सप्तभंगी तरंगिणी, सूक्ष्म छत्तीसी आदि गहन विषयों का सहृदयता-पूर्वक अध्ययन कराया और उनकी ज्ञान-पिपासा को शांत किया ।

धारणा-शक्ति

'स्वाध्याय' आपका नित्य-नियम है, आपका अभिन्न जीवनांग है । जिसने अपने जीवन में स्वाध्याय को स्थान दे दिया, उसके जीवन में भला प्रमाद का क्या काम ! आपके जीवन से प्रमाद बहुत दूर है । आपका तो प्रतिपल, प्रतिक्षण मनन-चिंतन में ही व्यतीत होता है । आपके जीवन का आदर्श है—

"क्षण निकमो रहणो नहीं
करणो आतम-काम ।

वि. संवत् २०२७ की बात है। आप उस समय माटुंगा (बम्बई) में विराज रहे थे। ज्ञान-साधना एवं स्वाध्याय में लीन रहना आपकी प्रवृत्ति रही है। स्वाध्याय के समय में नवपद जी के भांगों का विस्तार से लेखन-कार्य प्रारम्भ कर रखा था। नवपद जी के कुल भांगे होते हैं—तीन लाख वासठ हजार आठ सौ अस्सी। मेरी उपयोग-दृष्टि जहाँ तक कहती है और मैं जहाँ तक जानकारी रखता हूँ—नवपद जी के सम्पूर्ण भांगों को लिखने का श्रमसाध्य कार्य शायद आपने ही सर्वप्रथम किया था। माटुंगा में इन भांगों के लेखन में आप इतने लीन हो जाते कि कौन आपके पास आया, कौन क्या कह गया या कर गया, आपको पता ही नहीं लगता था। विषय भी तो ऐसा ही था। जैन गणित का अति गहन-गंभीर चिंतन का विषय, जिसमें साधारण मति का व्यक्ति तो प्रवेश ही नहीं पा सकता।

ग्रीष्म ऋतु का तपिश-भरा वातावरण। गगन में सूर्य का प्रचण्ड ताप। अंगारों-सी जलती हुई यह धरा। चारों ओर आग-सी उबल रही थी। हवा जब बंद होती तो दम घुटता और जब चलती तो गर्म-छुरियाँ ही लगतीं जैसे कलेजे के पार। ऐसे भयंकर ग्रीष्म में आचार्य-प्रवर लेखन-कार्य में रत थे कि एक चींटा (मकोड़ा) आपकी देह पर चढ़ गया। धीरे-धीरे रेंगता, चढ़ता वह पूज्य-प्रवर के बायें हाथ की कलाई पर आया और वहीं चिपट गया। आश्चर्य, दांयें हाथ की गति मंद नहीं हुई। आचार्य-श्री का लेखन-कार्य पूर्ववत् चलता रहा। मस्तिष्क में भी कोई सल नहीं। गणन-कार्य में कोई अन्तर नहीं। कार्यवशात् मैं जब आप-श्री के निकट गया तो मैंने देखा कि उधर वह चींटा रक्त-शोषण में लीन है और इधर आप ज्ञान-साधना में तल्लीन। मैं गुरुवर की ज्ञान-साधना में बाधा पहुंचाना नहीं चाहता था पर वह कीट वहाँ चिमटा रहे, रक्तपान करता रहे—यह भी मुझसे सहन नहीं हो पा रहा था। मैंने हाथ का स्पर्श देकर आपकी ज्ञान-आराधना में कुछ क्षणों का अवरोध पैदा किया, तल्लीनता को भंग किया और उस परीषह के प्रति सजग/सचेत करना चाहा। स्पर्श पाते ही आचार्य-प्रवर चौंके, सिर उठाकर देखा, मुझे खड़ा पाया तो पूछा—"क्या बात है, पारस ?" मैंने मकोड़े की तरफ संकेत किया तो आप गंभीर हो गए। कुछ क्षणों की चुप्पी, कुछ पलों के चिंतन के बाद बोले—"शरीर से चिपटे मकोड़े को विलग करने का काम बड़ा पेचीदा है, अगर सावधानी नहीं बरती जाए तो इस बेचारे चींटे की हिंसा होने की संभावना अधिक है।" नीतिकार ने कहा है—

"मगर मकोड़ो हरियल काठी
तिरिया री गत तिण सुं ही माठी।
के तो आप जाणियो करे
के आप-घात कर मरे॥"

मगर (मच्छ), मकोड़े, ऊंट, स्त्री आदि स्वभाव से ही हठाग्रही होते हैं। ये पकड़ना जानते हैं, छोडना नहीं। परिणाम चाहे कुछ भी निकले पर ये जहां से/जिस बात को पकड़ लेते हैं, छोड़ने का नाम नहीं लेते।

बडे ही यत्न एवं विवेक से चींटे को अलग किया गया!

आगम-मर्मज्ञ

आगम-ग्रंथों का पठन-पाठन करना, उन्हें कण्ठस्थ कर लेना और उनका पारायण करते रहना ही सम्यग्ज्ञान का स्रोत नहीं है। सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है पठित ग्रंथों का मनन एवं चिंतन।

वि. संवत् २०२७ की बात है। आप उस समय माटुंगा (बम्बई) में विराज रहे थे। ज्ञान-साधना एवं स्वाध्याय में लीन रहना आपकी प्रवृत्ति रही है। स्वाध्याय के समय में नवपद जी के भांगों का विस्तार से लेखन-कार्य प्रारम्भ कर रखा था। नवपद जी के कुल भांगे होते हैं—तीन लाख बासठ हजार आठ सौ अस्सी। मेरी उपयोग-दृष्टि जहाँ तक कहती है और मैं जहाँ तक जानकारी रखता हूँ—नवपद जी के सम्पूर्ण भांगों को लिखने का श्रमसाध्य कार्य शायद आपने ही सर्वप्रथम किया था। माटुंगा में इन भांगों के लेखन में आप इतने लीन हो जाते कि कौन आपके पास आया, कौन क्या कह गया या कर गया, आपको पता ही नहीं लगता था। विषय भी तो ऐसा ही था। जैन गणित का अति गहन-गंभीर चिंतन का विषय, जिसमें साधारण मति का व्यक्ति तो प्रवेश ही नहीं पा सकता।

ग्रीष्म ऋतु का तपिश-भरा वातावरण। गगन में सूर्य का प्रचण्ड ताप। अंगारों-सी जलती हुई यह धरा। चारों ओर आग-सी उबल रही थी। हवा जब बंद होती तो दम घुटता और जब चलती तो गर्म-छुरियाँ ही लगतीं जैसे कलेजे के पार। ऐसे भयंकर ग्रीष्म में आचार्य-प्रवर लेखन-कार्य में रत थे कि एक चींटा (मकोड़ा) आपकी देह पर चढ़ गया। धीरे-धीरे रेंगता, चढ़ता वह पूज्य-प्रवर के बायें हाथ की कलाई पर आया और वहीं चिपट गया। आश्चर्य, दायें हाथ की गति मंद नहीं हुई। आचार्य-श्री का लेखन-कार्य पूर्ववत् चलता रहा। मस्तिष्क में भी कोई सल नहीं। गणन-कार्य में कोई अन्तर नहीं। कार्यवशात् मैं जब आप-श्री के निकट गया तो मैंने देखा कि उधर वह चींटा रक्त-शोषण में लीन है और इधर आप ज्ञान-साधना में तल्लीन। मैं गुरुवर की ज्ञान-साधना में बाधा पहुंचाना नहीं चाहता था पर वह कीट वहाँ चिमटा रहे, रक्तपान करता रहे—यह भी मुझसे सहन नहीं हो पा रहा था। मैंने हाथ का स्पर्श देकर आपकी ज्ञान-आराधना में कुछ क्षणों का अवरोध पैदा किया, तल्लीनता को भंग किया और उस परीषह के प्रति सजग/सचेत करना चाहा। स्पर्श पाते ही आचार्य-प्रवर चौंके, सिर उठाकर देखा, मुझे खड़ा पाया तो पूछा—"क्या बात है, पारस ?" मैंने मकोड़े की तरफ संकेत किया तो आप गंभीर हो गए। कुछ क्षणों की चुप्पी, कुछ पलों के चिंतन के बाद बोले—"शरीर से चिपटे मकोड़े को विलग करने का काम बड़ा पेचीदा है, अगर सावधानी नहीं बरती जाए तो इस बेचारे चींटे की हिंसा होने की संभावना अधिक है।" नीतिकार ने कहा है—

> "मगर मकोड़ो हरियल काठी
> तिरिया री गत तिण सुं ही माठी।
> के तो आप जाणियो करे
> के आप-घात कर मरे॥"

मगर (मच्छ), मकोड़े, ऊंट, स्त्री आदि स्वभाव से ही हठाग्रही होते हैं। ये पकड़ना जानते हैं, छोडना नहीं। परिणाम चाहे कुछ भी निकले पर ये जहां से/जिस बात को पकड़ लेते हैं, छोड़ने का नाम नहीं लेते।

बड़े ही यत्न एवं विवेक से चींटे को अलग किया गया!

आगम-मर्मज्ञ

आगम-ग्रंथों का पठन-पाठन करना, उन्हें कण्ठस्थ कर लेना और उनका पारायण करते रहना ही सम्यग्ज्ञान का स्रोत नहीं है। सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है पठित ग्रंथों का मनन एवं चिंतन।

स्वस्थ व गहन चिन्तन के विना तत्त्व का स्पर्श तक नहीं हो पाता। कहावत है—"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।" अमूल्य मोतियों की प्राप्ति के लिए गहरे पानी में गोते लगाने ही पड़ते हैं। आगम भी ज्ञान का अथाह समुद्र है। आगम-मर्मज्ञ वनने के लिए तलस्पर्शी अध्ययन अपेक्षित है। गुरुदेव का अध्ययन, मनन व चिंतन वास्तव में उच्चकोटि का है, अतः आप एक अच्छे आगम-मर्मज्ञ हैं।

संवत् २०२६ का प्रसंग है। पाली के सुराणा मार्केट में आप विराजमान थे। एक जिज्ञासु श्रावक जी आए और विधि-पूर्वक वंदन के पश्चात् लगभग १६-२० प्रश्नों की एक लम्बी सूची आपके सम्मुख रखते हुए वोले—"गुरुवर! मैंने कई मुनिराजों से भेंट की और उनकी सेवामें इन प्रश्नों को रखा पर संतुष्टि मुझे आज तक नहीं हुई।" गुरुदेव ने फरमाया—"सवके क्षयोपशम समान नहीं होते। आप अपनी सूची देखिए, क्या प्रश्न हैं, एक-एक करके पूछते जाइए।"

सभी प्रश्नों का गुरुदेव ने उचित व सतर्क समाधान दिया। श्रावक जी वोले—"जैसा सुना था, वैसा ही पाया आपको। बम्बई में मुझे किसी श्रावक भाई ने कहा था कि इन प्रश्नों के सही समाधान मुझे आपसे मिलेंगे।" कृतज्ञता प्रकट करते हुए विधि-युत वंदन-नमस्कार-पूर्वक मंगल-पाठ श्रवण कर श्रावक जी प्रस्थान कर गए।

उदार दृष्टिकोण

सुपात्र, चाहे वह कहीं का हो, किसी का आज्ञानुवर्ती हो, किसी के प्रति आकर्षित हो; ज्ञान का अधिकारी है। गुरुदेव की मान्यता है कि ज्ञान तो बांटने की वस्तु है और जो ज्ञान पाने का अधिकारी है उसे ज्ञान अवश्य मिलना चाहिए।

तब आप माटुंगा (बम्बई) मे विराज रहे थे। वहाँ के आगम-रसिक श्रावक श्री जसवंतलाल भाई शाह, श्री कांतिभाई और श्री जयंतीलाल भाई मशकारिया (वर्तमान में श्री जयंतीमुनि जी, तपस्वी श्री चम्पालाल जी म.सा. के अंतेवासी) आपके सान्निध्य में आगमिक अध्ययन हेतु नित्य आते थे। इन तीनों ही सुश्रावकों की उस समय निश्चित धारणा थी कि वे वहुश्रुत पं. र. श्री समर्थमल जी म सा. के पास दीक्षित बनेंगे। भावना दीक्षा की थी, मन में वैराग्य था और सीखना चाहते थे ज्ञान। आप-श्री के पास ये तीनों आए। उक्त जानकारी सारी थी आपको, पर आप तो सदा से उदारमना, स्वार्थ-भावना से अति दूर एवं संकीर्ण मनोवृत्तियों के त्यागी रहे हैं। आपने तीनों ही जिज्ञासु-श्रावकों को बड़े मनोयोग से गांगेय अणगार के भांगों, सप्तभंगी तरंगिणी, सूक्ष्म छत्तीसी आदि गहन विषयों का सहृदयता-पूर्वक अध्ययन कराया और उनकी ज्ञान-पिपासा को शांत किया।

धारणा-शक्ति

'स्वाध्याय' आपका नित्य-नियम है, आपका अभिन्न जीवनांग है। जिसने अपने जीवन में स्वाध्याय को स्थान दे दिया, उसके जीवन में भला प्रमाद का क्या काम! आपके जीवन से प्रमाद बहुत दूर है। आपका तो प्रतिपल, प्रतिक्षण मनन-चिंतन में ही व्यतीत होता है। आपके जीवन का आदर्श है—

"क्षण निकमो रहणो नहीं
करणो आतम-काम।

भणनो, गुणनो, सीखणो
रमणो ज्ञान-आराम ।।"

घटना संवत् २०१५ की है। तब आपका वर्षावास कांदावाड़ी (बम्बई) में श्रद्धेय गुरुदेव स्वाध्याय-प्रेमी श्री चाँदमलजी म.सा. के सान्निध्य में था। ज्ञानी जहाँ भी इकट्ठे होंगे, एक जगह बैठेंगे, ज्ञान की ही बात करेंगे। एक दिन प्रसंग-वश चर्चा चल पड़ी—स्मरण-शक्ति व धारणा-शक्ति की। किसी ने कहा—प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति की धारणाशक्ति मन्द पड़ जाती है। आप भी सुन रहे थे। आपका मत कुछ भिन्न था अतः आपने कहा—यह बात कोई सर्वसिद्ध नियम की तरह सभी के लिए समान रूप से लागू हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। अगर व्यक्ति, विश्वास के साथ धारणा/स्मरण-शक्ति का उपयोग अभ्यास-पूर्वक करता रहे तो इस उम्र में भी यह तीक्ष्ण रह सकती है।

आपने अपना मन्तव्य प्रकट किया और बात समाप्त हो गई, ऐसी बात नहीं। कथनी को करनी में बदल कर स्व-कथन की सत्यता अपने ही उदाहरण द्वारा सिद्ध कर आपने अपने कथन की पुष्टि भी कर दी। उसी दिन से उत्तराध्ययन-सूत्र को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया। समय बहुत कम मिल पाता था, बम्बई में तो वैसे ही गौचरी व स्थण्डिल के लिए दूर-दूर जाना पड़ता है; इस पर भी दो माह से कम अवधि में ही उस बृहत् सूत्र को आपने कण्ठस्थ कर सुनाया।

ज्योतिष-विज्ञ

जैन गणित एवं जैन ज्योतिष भी आपकी रुचि का विषय है। आप अपनी रुचि के बल पर बहुत पहले ही जैन-ज्योतिष के ज्ञाता बन गए थे। जैन समाज में संवत्सरी जैसे महान् पर्व की एक सर्वमान्य-तिथि का आज तक कोई निर्णय नहीं हो सका है। जब-जब भी अधिक मास आते हैं, पर्व-तिथि का विवाद और भी प्रबल हो उठता है। सादड़ी एवं भीनासर साधु-सम्मेलनों में आपने इस विवाद को सुलझाने के लिए एक विचार प्रस्तावित किया, सम्मेलन के पटल पर। जैन-ज्योतिष के अनेक पक्षों को उजागर करते हुए आपने कहा कि जैन-ज्योतिष-शास्त्र की मान्यतानुसार तो केवल आषाढ़ और पौष माह ही बढ़ते हैं। यदि सभी इस मान्यता को स्वीकार करलें तो कम से कम 'अधिक मास' का विवाद तो समाप्त हो ही जाएगा। सम्मेलन के मंच पर इस विचार के पक्ष-विपक्ष, गुण-दोष पर चर्चा आरम्भ हुई और निर्णय से पहले ही एक अन्य विचार रख दिया गया कि एक स्वतंत्र जैन पंचांग का निर्माण हो। आपने जैन-पंचांग-निर्माण के लिए अपनी स्वीकृति दे दी और बहुत शीघ्र ही इस श्रमसाध्य कार्य को क्रियान्वित कर दिखाया। आप द्वारा निर्मित जैन-पंचांग जब मंच के पटल पर आया तो जहाँ अनेक विद्वान् संतों ने आपकी सूझ-बूझ का लोहा माना वहीं अनेक ईर्ष्यालु प्रकृति के व्यक्तियों के हृदय पर सांप लौटने लगे और उन्होंने इस पंचांग का घोर विरोध किया। अंत में अत्यधिक श्रम से निर्मित एक विद्वान् ज्योतिषी के इस अद्भुत सृजन को यह कह कर टाल दिया गया कि इस तरह तो हम लौकिक पंचांगों से बिलकुल ही अलग-थलग पड़ जाएंगे।

भविष्य-ज्ञाता

वि. संवत् २०३२ का वर्षावास। जोधपुर का (सिटी पुलिस-स्थित) जैन स्थानक-भवन (पाठ-शाला-भवन)। इसी भवन के एक कक्ष में स्वाध्याय-रत था, मैं। किसी श्रद्धालु-भक्त ने आकर कहा—

"अस्पताल में मेरे अमुक सम्बन्धी भर्ती हैं। अस्वस्थ कुछ ज्यादा ही है। मांगलिक सुनाने अस्पताल चलना है, आपको।" प्रार्थना विचारणीय थी। अपराह्न चार-साढ़े चार बजे चलने का विचार कर मैं पहुचा गुरुदेव के सम्मुख, आज्ञा प्राप्त करने। आप उस समय पंचांगों के गणितीय गणनांकन में लीन थे और कुछ अंकों का फलक मिलान कर रहे थे। मैंने आपसे अपनी बात कही तो आप पूछ बैठे—"क्या इस सामने दीवार पर टंगी घडी का समय सूर्योदय से ठीक-ठीक मिलाया हुआ है?" मैंने कहा—"हाँ, गुरुदेव! आज प्रातः ही समय मिलाया था।" सुनकर फरमाने लगे—"बात यह है कि आज सायं लगभग पांच बजे वर्षा का योग प्रतीत हो रहा है। बारिश भी तेज मूसलाधार होगी, ऐसा अनुमान है। अच्छा यही है कि अस्पताल अभी चले जाओ।"

मैंने घड़ी में देखा। मध्यान्ह के ठीक २ ३० बज रहे थे। बाहर आकाश में झाँक कर देखा तो वह बिल्कुल स्वच्छ था, अपनी वही चिरपरिचित नीलिमा लिए। सूर्य अपनी स्पष्ट किरणें फेंक रहा था। मन तो मेरा भी कुछ शंकित-सा हो गया था, फिर भी गुरुवर का आदेश था अतः उसी समय अस्पताल चला गया। अस्वस्थ, रुग्ण श्रावकजी को मंगल-पाठ सुनाया और पुनः पाठशाला-भवन चला आया।

सायंकाल चार बजे एक दम हवा बन्द हुई। बादल आकाश में मंडराने लगे। साढ़े चार बजे तक तो आकाश बादलों से भर गया। मेघाच्छादित गगन चपला की चमक से आन्दोलित होने लगा। प्रभाकर की प्रभा निस्तेज बन मुंह छिपाने लगी। टन्-टन्....इधर दीवाल घड़ी ने पाँच बजने की सूचना दी, उधर आकाश के हृदय की उमस वर्षा की बौछार बन गई। जम कर वर्षा हुई। दो घंटे तक पानी बरसा। मैं देखता रहा और सोचता रहा—क्या यह पूज्य गुरुदेव के ज्योतिष-ज्ञान की अगाधता है कि वे सही भविष्यवाणी कर सके अथवा गुरुवर को किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त है जिससे उनका कथन सदैव सत्य के निकट रहता है!

मितभाषी

आप मितभाषी हैं। आपका कथन है कि व्यर्थ का भाषण वाक्-शक्ति के प्रभाव को निष्फल बनाता है। हित-मित एवं मधुर भाषण व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाता है, उसकी आत्मा को जागृत करता है। आप आत्म-रमण में लीन रहने वाले साधक हैं। मौन आपकी शक्ति है, साध्य-निमित्त साधन है, साधना जीवन की अमूल्य थाती है/निधि है। जब कभी आपको बोलना पड़ता है तब आप बहुत ही सारगर्भित एवं नपे-तुले शब्दों में अपना आशय प्रकट कर देते हैं। यही कारण है कि आपके फरमाने का, मंगल-पाठ का, प्रवचन का श्रोताओं के हृदय पर तत्काल प्रभाव पड़ता है।

ये तो हुए वे प्रसंग, जो मेरे नयन-पथ से गुजर चुके हैं। अब एक ऐसे विशिष्ट प्रसंग की प्रस्तुति भी अनिवार्य समझता हूँ, जो है तो अनदेखा परन्तु परमाराध्य पूज्य गुरुदेव स्व. स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा. के मुखारविन्द से सुना हुआ अवश्य है।

वि.सं. २००७ में शनिश्चर जी के स्थान (जोधपुर) में आप स्व. श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म.सा. के सान्निध्य में श्रुत-साधना कर रहे थे। उस समय वहाँ विराजित वयोवृद्ध संत श्री पूर्णमलजी महाराज व श्री इन्दरमल जी महाराज के शिष्य श्री लालमुनि जी ने आपके श्रुतज्ञान की प्रशंसा सुनी।

कुछेक स्तोकों पर साधिकार उच्च ज्ञान के लिए भी आपका बहुचर्चित नाम इन तक पहुंच चुका था। ज्ञान-पिपासा तो जागृत थी ही फिर कुआ स्वयं प्यासे के पास आगया था। ज्ञान सीखने की अभिलाषा से आए आपके पास। सीखने वाले के लिए पहली, सबसे पहली शर्त है 'विनय'। स्वयं चलकर सिखाने वाले गुरु के पास जाना, उन्हें वंदन करना और सीखते समय उनसे नीचा आसन बिछाना व विधि-पूर्वक बैठना आदि विनय आवश्यक है। आपके सम्मुख जब मुनि जी उपस्थित हुए तो पूर्ण विनय प्रकट किया। इनका विनय देखकर आप बडे प्रसन्न हुए। यहां भी वही बात संत चाहे किसी के शिष्य हों, किसी भी संप्रदाय के हों, हैं तो ज्ञान-पिपासु। ज्ञान का प्रकाश फैलाने में आपका अटल विश्वास था और अब भी है। ज्ञान-पिपासु उन मुनिजी को आपने सप्तभंगी तरंगिणी व गांगेय अणगार के भंग आदि का प्रशिक्षण देकर बडा अच्छा सहयोग दिया। उनकी जिज्ञासाओं का समाधान कर उन्हें योग्य बनाया।

आपकी साधना-काल के ऐसे कितने ही उदाहरण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि आप वास्तव में उदार-दृष्टिकोण वाले अधिकृत आगम-ज्ञाता हैं।

आपका व्यक्तित्व अत्यन्त गरिमामय है। उसके कितने ही ऐसे उज्ज्वल पक्ष हैं, जिन्हें संकलित कर कलम-बद्ध करना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। स्वयं मैं ही यदि आपके सभी प्रसंगों को यहाँ लिपिबद्ध करूं, सारे ही संस्मरणों को शब्द रूप दूं तो उन्हीं से एक स्वतंत्र ग्रंथ का सृजन हो सकता है। ऐसे महान् व्यक्तित्व की गौरव-पूर्ण गरिमा को उनके जीवन की हीरक-बेला मे मेरा कोटिशः भावाभिनन्दन!

आचार्य-जीत : गुण-गीत

हम आज सभी जन मिल करके, आचार्य जीत-गुण गाएंगे।
गुणियों के गुण अपना करके, जीवन को सफल बनाएंगे॥

गुरु 'लूणसरा' में जनमे थे, पर मिश्री-सम मिठियास लिए।
विचरे हैं गांवों-नगरों में, इनसे हम ज्ञान बढ़ायेंगे........॥

हैं मितभाषी ज्ञानी-ध्यानी और, धीर-वीर गुण-आगर हैं।
स्वीकार करेंगे चरण-शरण, सत्पथ पर कदम बढ़ाएंगे.......॥

—मुनि गुणवन्तकुमार 'गुणी'

मेरे जीवन-सर्जक गुरुदेव

मुनि गुणवंत कुमार 'गुणी'

स्वर्णिम दिवस

विक्रम संवत् २०२६ माघ शुक्ला त्रयोदशी, दिनांक १५ फरवरी १९७३ गुरुवार को मैं अपने जीवन का "स्वर्णिम-दिवस" कह दूं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। स्वर्णिम-दिवस इसलिए कि इसी दिन मुझे एक ऐसी दुर्लभ-वस्तु की प्राप्ति हुई जिसकी चाह विवेकी मानव को तो क्या, स्वर्गस्थ सम्यक्त्वी देवों को भी होती है। यही वह दिन था जिसने मुझे आत्माभिमुखी बनाया, धर्म की ओर झुकने के लिए प्रेरित किया, आत्म-कल्याण के परम-पावन-पथ पर अग्रसर होने की भूमिका तैयार की। इसी स्वर्णिम-दिवस की उज्ज्वल रश्मियों की आभा में मैंने संयम-तेज से तेजोद्दीप्त पूज्य गुरुदेव आचार्य-सम्राट् श्री १००८ श्री जीतमल जी म.सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचन्द जी म.सा. के प्रथम-पावन-दर्शन कर अपने भावी पथ को आलोकित करने के प्रति आशान्वित भावनाओं का स्फुरण अपने हृदय में महसूस किया। निश्चय ही यह एक दुर्लभ-प्राप्ति थी, मेरे जीवन की।

भवति पुण्यतरोः फलमीदृशम्

ज्ञानी-वीतरागियों ने भी उसी प्राप्ति को वास्तविक माना है, जिसके बाद अन्य किसी प्राप्ति की आकांक्षा न रहे। एक के बाद एक–यों प्राप्ति पर प्राप्ति का क्रम चलता रहे और प्राप्ति की कामना भी शान्त न हो पाए, ऐसी भौतिक प्राप्तियों का अंतर्द्रष्टाओं की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। निश्चय-दृष्टि से उपेक्षित ऐसी क्षणिक शांति-प्रदायिनी प्राप्तियों में भी सब का स्तर समान नहीं है। एक वस्तु की प्राप्ति जहाँ व्यक्ति को विकास के पथ पर अग्रसर कर सकती है वहीं दूसरी से उसका ह्रास भी हो सकता है। विकास में सहायक प्राप्ति को हम शुभ-प्राप्ति एवं ह्रास में सहायक प्राप्ति को अशुभ-प्राप्ति की संज्ञा दे सकते हैं। पुण्यार्जन (शुभ-प्रवृत्ति) के फलस्वरूप शुभ-प्राप्ति एवं पापार्जन (अशुभ-प्रवृत्ति) के परिणाम-स्वरूप अशुभ-प्राप्ति होती है। व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ एवं भाग्य का ही इसके पीछे हाथ होता है। संचित पुण्य के आधार पर होने वाली शुभ-प्राप्तियों को सार-संक्षेप रूप में किसी संस्कृतज्ञ कवि ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

कुछेक स्तोकों पर साधिकार उच्च ज्ञान के लिए भी आपका बहुचर्चित नाम इन तक पहुंच चुका था। ज्ञान-पिपासा तो जागृत थी ही फिर कुआ स्वयं प्यासे के पास आगया था। ज्ञान सीखने की अभिलाषा से आए आपके पास। सीखने वाले के लिए पहली, सबसे पहली शर्त है 'विनय'। स्वयं चलकर सिखाने वाले गुरु के पास जाना, उन्हें वंदन करना और सीखते समय उनसे नीचा आसन बिछाना व विधि-पूर्वक बैठना आदि विनय आवश्यक है। आपके सम्मुख जब मुनि जी उपस्थित हुए तो पूर्ण विनय प्रकट किया। इनका विनय देखकर आप बड़े प्रसन्न हुए। यहां भी वही बात संत चाहे किसी के शिष्य हों, किसी भी संप्रदाय के हों, हैं तो ज्ञान-पिपासु। ज्ञान का प्रकाश फैलाने में आपका अटल विश्वास था और अब भी है। ज्ञान-पिपासु उन मुनिजी को आपने सप्तभंगी तरंगिणी व गांगेय अणगार के भंग आदि का प्रशिक्षण देकर बड़ा अच्छा सहयोग दिया। उनकी जिज्ञासाओं का समाधान कर उन्हें योग्य बनाया।

आपकी साधना-काल के ऐसे कितने ही उदाहरण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि आप वास्तव में उदार-दृष्टिकोण वाले अधिकृत आगम-ज्ञाता हैं।

आपका व्यक्तित्व अत्यन्त गरिमामय है। उसके कितने ही ऐसे उज्ज्वल पक्ष हैं, जिन्हें संकलित कर कलम-बद्ध करना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। स्वयं मैं ही यदि आपके सभी प्रसंगों को यहाँ लिपिबद्ध करूं, सारे ही संस्मरणों को शब्द रूप दूं तो उन्हीं से एक स्वतंत्र ग्रंथ का सृजन हो सकता है। ऐसे महान् व्यक्तित्व की गौरव-पूर्ण गरिमा को उनके जीवन की हीरक-वेला में मेरा कोटिशः भावाभिनन्दन!

आचार्य-जीत : गुण-गीत

हम आज सभी जन मिल करके, आचार्य जीत-गुण गाएंगे।
गुणियों के गुण अपना करके, जीवन को सफल बनाएंगे॥

गुरु 'लूणसरा' में जनमे थे, पर मिश्री-सम मिठियास लिए।
विचरे हैं गांवों-नगरों में, इनसे हम ज्ञान बढ़ायेंगे........॥

हैं मितभाषी ज्ञानी-ध्यानी और, धीर-वीर गुण-आगर हैं।
स्वीकार करेंगे चरण-शरण, सत्पथ पर कदम बढ़ाएंगे........॥

—मुनि गुणवन्तकुमार 'गुणी'

मुनि गुणवंत कुमार 'गुणी'

स्वर्णिम दिवस

विक्रम संवत् २०२९ माघ शुक्ला त्रयोदशी, दिनांक १५ फरवरी १९७३ गुरुवार को मैं अपने जीवन का "स्वर्णिम-दिवस" कह दूं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। स्वर्णिम-दिवस इसलिए कि इसी दिन मुझे एक ऐसी दुर्लभ-वस्तु की प्राप्ति हुई जिसकी चाह विवेकी मानव को तो क्या, स्वर्गस्थ सम्यक्त्वी देवों को भी होती है। यही वह दिन था जिसने मुझे आत्माभिमुखी बनाया, धर्म की ओर झुकने के लिए प्रेरित किया, आत्म-कल्याण के परम-पावन-पथ पर अग्रसर होने की भूमिका तैयार की। इसी स्वर्णिम-दिवस की उज्ज्वल रश्मियों की आभा में मैंने संयम-तेज से तेजोद्दीप्त पूज्य गुरुदेव आचार्य-सम्राट् श्री १००८ श्री जीतमल जी म.सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचन्द जी म.सा. के प्रथम-पावन-दर्शन कर अपने भावी पथ को आलोकित करने के प्रति आशान्वित भावनाओं का स्फुरण अपने हृदय में महसूस किया। निश्चय ही यह एक दुर्लभ-प्राप्ति थी, मेरे जीवन की।

भवति पुण्यतरोः फलमीदृशम्

ज्ञानी-वीतरागियों ने भी उसी प्राप्ति को वास्तविक माना है, जिसके बाद अन्य किसी प्राप्ति की आकांक्षा न रहे। एक के बाद एक—यों प्राप्ति पर प्राप्ति का क्रम चलता रहे और प्राप्ति की कामना भी शान्त न हो पाए, ऐसी भौतिक प्राप्तियों का अंतर्द्रष्टाओं की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। निश्चय-दृष्टि से उपेक्षित ऐसी क्षणिक शांति-प्रदायिनी प्राप्तियों में भी सब का स्तर समान नहीं है। एक वस्तु की प्राप्ति जहाँ व्यक्ति को विकास के पथ पर अग्रसर कर सकती है वहीं दूसरी से उसका ह्रास भी हो सकता है। विकास में सहायक प्राप्ति को हम शुभ-प्राप्ति एवं ह्रास में सहायक प्राप्ति को अशुभ-प्राप्ति की संज्ञा दे सकते हैं। पुण्यार्जन (शुभ-प्रवृत्ति) के फलस्वरूप शुभ-प्राप्ति एवं पापार्जन (अशुभ-प्रवृत्ति) के परिणाम-स्वरूप अशुभ-प्राप्ति होती है। व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ एवं भाग्य का ही इसके पीछे हाथ होता है। संचित पुण्य के आधार पर होने वाली शुभ-प्राप्तियों को सार-संक्षेप रूप में किसी संस्कृतज्ञ कवि ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

"सुकुल-जन्म विभूतिरनेकधा
प्रिय-समागम सौख्य-परम्परा ।
नृपकुले गुरुता विमलं यशो
भवति पुण्यतरोः फलमीदृशम् ।।"

—सुभाषितरत्न-भाण्डागार

अर्थात्—"कुलीन-परिवार में जन्म, विविध भाँति की सांसारिक विभूतियों (हीरा-पन्ना-सोना-चांदी आदि धन-वैभव) का सद्भाव, प्रिय-पज्जनों का समागम, भौतिक (भोगोपभोग) सुखों की परम्परा, राजकुल में मान-सम्मान एवं सुयश —इन सब अनुकूल प्राप्तियों को कवि ने पुण्य रूपी वृक्ष के अच्छे फलों का रूपक दिया है।" इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इनके विपरीत अर्थात् असंस्कृत परिवार में जन्म, साँसारिक धन-संपदा का अभाव (दरिद्रता), प्रिय-सज्जनों का विरह एवं अप्रिय-दुर्जनों का समागम, भौतिक सुखों का पूरे जीवन-काल में अदर्शन, राजकुल में अपमान एवं अपयश—ये सब प्रतिकूल प्राप्तियाँ पाप रूपी वृक्ष के कुफल हैं।

दुल्लहाणीह जंतुणो

इन शुभाशुभ (भौतिक) प्राप्तियों से भिन्न जो शुद्ध (आध्यात्मिक) प्राप्ति है, जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व में वास्तविक निखार आता है एवं आत्मशक्ति की अभिवृद्धि होती है, उसी को ज्ञानी-जन दुर्लभ मानते हैं। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है—

"चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ।।"

—उत्तराध्ययन सूत्र ३/१

'मनुष्यत्व, श्रुति (शास्त्र-श्रवण), श्रुति के प्रति श्रद्धा एवं संयम में पराक्रम अर्थात् श्रद्धा के साथ-साथ श्रुति को अपने जीवन में उतारने का सत्पुरुषार्थ—इन चारों प्राप्तियों को चरम और परम बताते हुए भगवान् फरमाते हैं कि ये प्राणिमात्र के लिए दुर्लभ हैं।'

भव-भवान्तरों के सञ्चित पुण्य-पुञ्ज जब प्रकाश में आते हैं तब कहीं मनुष्यत्व प्राप्त होता है। शेष तीनों तो मनुष्यत्व से भी उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। जब तक उचित संयोग या निमित्त प्राप्त न हो और व्यक्ति का सौभाग्य साथ न दे, इनकी प्राप्ति असंभव है। मेरे पारिवारिक जन धर्म-प्रेमी थे अतः ऐसे निमित्त मुझे कई बार मिले, जैन-संतों के मैंने दर्शन भी किए, उनके प्रवचन भी सुने और मेरे हितैषी संरक्षकों ने मुझे धर्म के प्रति झुकाने के प्रयत्न भी किए पर परिणाम शून्य ही रहा। अच्छे परिणाम के लिए समुचित अवसर, उचित संयोग एवं सद्भाग्य का साथ चाहिए था। जिस दिन और जिस समय मुझे जगना था, मेरे हृदय में श्रद्धा का अंकुरण होना था, उस समय मेरे सौभाग्य ने चुपचाप आकर मेरे अंतर-घट के पट खोल दिए। अचानक ही एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया, मेरे जीवन की धारा ही बदल गई। उस परिवर्तन के मूल में था, गुरु-दर्शन का शुभ संयोग, गुरु-वचनामृत-पान का शुभ निमित्त। गुरु-

कृपा के कारण ही तो मैं जिनधर्म के प्रति आकर्षित हुआ, फिर उसी में सुस्थित एवं उसी के प्रति समर्पित हुआ।

गुरु-दर्शन की पावन-भावना

धर्म के प्रति मेरे आकर्षण का श्रेय यदि गुरु-दर्शन एवं गुरु-कृपा को है तो गुरु-दर्शन की चाह के गर्भ में भी कोई न कोई संयोग, कुछ न कुछ निमित्त अवश्य होना चाहिए। विक्रम संवत् २०२९ की ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी, शनिवार (दिनांक २४ जून १९७२) के शुभ दिन मेरे संसार-पक्षीय लघु-भ्राता श्री डालमचन्द[1] ने जैन भागवती दीक्षा स्वीकार करते हुए इन्हीं गुरु-चरणों की शरण ग्रहण की थी। यद्यपि उनकी दीक्षा के शुभावसर पर मैं उपस्थित नहीं हो पाया था फिर भी मेरे मन में एक नाद अवश्य था— नव-दीक्षित मुनि जी के दर्शन का और चित्त में एक चाह थी उन्हें प्रतिबोधित कर पवित्र शरण देने वाले गुरुदेवों के चरण-स्पर्शन की। "जहाँ चाह, वहाँ राह"। मुझे विश्वास था, एक-न-एक दिन मेरी बलवती भावना भी सफल होगी। इसी विश्वास के बल पर धैर्य धारण किए मैं उस पुनीत घड़ी की प्रतीक्षा करता रहा।

गुरु-दर्शन की पावन-भावना ने मन-मंदिर में प्रवेश किया तो अशुभ-चिंतन मुंह छुपा कर भागा। मन अब सुविचार करने लगा, शुभ-चिंतन में डूबने लगा और संप्रेरित होने लगा, अच्छी बातें सोचने के लिए। आंतरिक भावों में बदलाव आया, एक नया मोड़ आया तो बाह्य वातावरण में भी परिवर्तन के संदर्शन होने लगे। पिछले पन्द्रह वर्षों से मैं अज्ञानता एवं नादानी के कारण इस संसार के पाप-पंक में धंसा जा रहा था, मोह-माया के जाल में फंसा जा रहा था पर अब मुझे कलकत्ता से लाडनूं भेजे जाने की योजना बनने लगी। कुचेरा स्थित 'जैन-छात्रावास' में मेरी शिक्षण-व्यवस्था की चर्चा भी होने लगी। मुझे लगा, यह संयोग भी है और सुयोग भी। तब मैं गुनगुनाने लगा—

मानव का उत्थान-पतन सब,
अन्तर्मन पर अवलम्बित है।
निज का पर का हित-अहित सब,
मात्र उसी पर आधारित है॥

—उपा. अमरमुनि जी म. सा.

प्रथम-पावन-दर्शन

कलकत्ता से योजनानुसार मैं लाडनूं पहुंच गया। यहाँ पहुंचते ही मेरा मन यह सोचकर अपूर्व आनन्द-सरिता में डुबकियां लगाने लगा कि अब गुरु-दर्शन दूर नहीं। लाडनूं मुझे कई दिन तक रहना था, छात्रावास की छुट्टियाँ निकट थीं और छुट्टियों के बाद ही वहाँ प्रवेश मिलने वाला था। लाडनूं में तीन-चार दिन ही बिता पाया था कि मन उचट गया। उस समय कुचेरा में वयोवृद्ध स्वामिवर्य पूज्य श्री रावतमल जी

१. दीक्षा-नाम : मुनि श्री नूतनचन्द्रजी म. सा. 'नवरत्न'

म. सा., स्वामी श्री शुभचन्द जी म. सा. एवं श्री नूतनचन्द्र जी म. सा. विराज रहे थे। मैं लाडनूं से कुचेरा चला आया और सीधे जैन-स्थानक पहुंच गया। गुरुदेवों के दर्शन किए, उन्हें वन्दन किया, उनके चरण-स्पर्श कर मैंने अपने आपको धन्य माना। छात्रावास में प्रवेश प्रारम्भ होने तक मैंने वहीं रहने का, गुरु-चरणों में रह कर कुछ ज्ञानाभ्यास करने का निश्चय किया। संयोगवश मेरी आवास-व्यवस्था वहीं एक कमरे में कर दी गई, जिससे अपना सारा समय सन्तों के पवित्र सान्निध्य में बिताने का असुवसर भी मुझे मिल गया। स्वामी श्री शुभचन्द जी म. सा. एवं श्री नूतनमुनि जी म. सा. की प्रेरणा से धर्म के प्रति मेरी रुचि बढ़ती गई। यहीं मुझे कुछ अज्ञात बातें जानने/सुनने का सुअवसर भी मिला, जिन्होंने मेरे भावी जीवन के परिवर्तन में पर्याप्त सहयोग दिया।

अब तक अंखियाँ गुरु-दर्शनों की प्यासी थीं, उन गुरु के दर्शनों की जिन्होंने मेरे लघुभ्राता को प्रभावित किया था, संयम-पथ का राही बनाया था। मैं उनके दिव्य व्यक्तित्व को अपनी आँखों से देखना चाहता था। ऐसा क्या था उनके भीतर, जिसने 'डालम' को 'नूतन' बना दिया, मैं यही जानना चाहता था। प्रातः का समय, भुवन-भास्कर के उदय की पावन वेला। मैं बैठा था स्वामी श्री शुभचन्द जी म. सा. की सेवामें और बैठे-बैठे गुरु-दर्शन के स्वप्नों का आनन्द लेता हुआ कल्पना-लोक में विचरण कर रहा था। अचानक मेरे कानों से ये शब्द टकराए—"अन्नदाता! नागौर जा रहा हूँ, कोई सेवा, कोई सन्देश हो गुरुवर के लिए तो अवश्य फरमाइए।" सहसा कल्पना-लोक से लौट कर मैं यथार्थ के धरातल पर पहुंचा। देखा तो एक श्रावक जी, धर्मप्रेमी श्रीयुत लक्ष्मीचन्द जी श्रीश्रीमाल (नाम मुझे बाद में मालूम हुआ) खड़े थे, स्वामी श्री शुभचन्द जी महाराज की सेवामें। शायद उन्होंने ही कहा था—नागौर जाने का। मैं तब अपने को रोक न सका। अपनी आंतरिक इच्छा को अभिव्यक्ति देते हुए मैंने निवेदन किया—"मेरा मन गुरु-दर्शन का प्यासा है। मैं कई दिनों से गुरुवर के दर्शनों की अभिलाषा अपने भीतर संजोए बैठा हूं। आप गुरुदेव की सेवामें नागौर जा रहे हैं तो एक कृपा करिए, मुझे भी अपने साथ ले चलिए।" मेरी बात सुनकर सहृदय श्रावक जी ने स्वीकृति दे दी। अब तो मेरे हर्ष का कोई पार न रहा।

श्रीश्रीमाल जी के साथ जब मैं जैन पौषधशाला-नागौर पहुंचा तो प्रातः के दस बज चुके थे। प्रवचन-हाल में सैंकड़ों नर-नारी मंत्रमुग्ध-से बने उपाध्याय-प्रवर श्री लालचन्द जी म. सा. की ओजस्वी वाणी का रसास्वादन कर रहे थे। सीधे व्याख्यान में न जाकर हम पहले वहाँ पहुंचे जहाँ गुरुदेव पूज्य आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. स्वाध्यायस्थ विराजमान थे। कुछ क्षणों तक भात्र-विभोर दशा में मैं उन्हें देखता रहा और ढूंढता रहा वह तत्त्व, जिसके कारण अच्छे-अच्छों का संसार में भटकता मन आत्माभिमुखी बन जाता है। सविधि वन्दना की उन्हें और निर्देशानुसार वहीं सेवामें बैठ गया। मन कह रहा था—गुरुवर के प्रथम-पावन-दर्शन पाकर आज मेरा जीवन सफल हो गया।

अद्भुत अन्तर-उद्घाटन-कला

दुबला-पतला शरीर। औसत से कुछ अधिक लम्बे। बहुत ही शांत-गंभीर मुद्रा। चेहरे पर एक निराला तेज, एक विशिष्ट आभा। स्वाध्याय में सतत-निरत निश्चय ही एक दिव्य सन्त। अपने प्रथम

दर्शन से ही दर्शक पर अमिट प्रभाव डालने वाले गुरुदेव स्वाध्याय-निवृत्त हुए तो सहज मुस्कान भरे चेहरे को मेरी ओर घुमाकर बोले —'कहाँ से आए हो ?'

उनका यह प्रथम प्रश्न जिस तरह से उनके श्रीमुख से निःसृत हुआ, मुझे लगा जैसे कथन-शैली में गहन आत्मीयता भरी हुई हो। मैं जानता था—मेरी प्रवृत्ति बडी सकोचशील है, मेरे जानकार मुझे दब्बू प्रकृति वाला कहते थे/मानते थे पर न जाने क्या हुआ कि मैं गुरुदेव के सम्मुख खुलता ही चला गया। वे पूछते गए, मैं बताता गया। निश्चय ही गुरुदेव में किसी व्यक्ति को खोलने की, उनके मनोगत भावों को पढ़ने की अपनी विशिष्ट कला है। अन्तर-उद्घाटन की इस कला के लिए 'आत्मीयता' का होना एक अनिवार्य शर्त है। जिस व्यक्ति को हम खोलना चाहते हैं, जिसके अन्तर को उघाड़ना चाहते हैं; उसे यह विश्वास हो जाना चाहिए कि जिसके समक्ष मैं खुलने जा रहा हूँ/कुछ उघड़ने जा रहा हूँ उसके हृदय में मेरे प्रति गहरी आत्मीयता है, अपनत्व की भावना है, अपनापन है। बिना इस तरह का विश्वास पैदा किए कोई भला किसी को कैसे खोल पाएगा और बिना इस विश्वास की भावना के कोई भला खुल भी कैसे पाएगा ?

गुरुदेव आचार्य-प्रवर की अंतर-उद्घाटन-कला अद्भुत है। मुझ पर उनकी इस कला ने जादू-सा असर किया। सहसा मैं कह बैठा—"गुरुदेव ! क्या बताऊँ ? बडी विचित्र स्थिति है मेरी। किसी कार्य में न तो मेरा मन लगता है और न ही मुझे सफलता मिलती है। भयाक्रान्त-सा रहता हूँ। परिवार वालों ने बडी कोशिश की कि मैं कुछ पढ़ूं/सीखूं, परन्तु माता-पिता के अस्थायित्व एवं उनकी मृत्यु के पश्चात् न तो मैं कुछ पढ़ पाया हूँ और न सीख पाया हूँ।"

गुरुदेव एक अच्छे ज्योतिष-विद् एवं हस्तरेखा-विशेषज्ञ हैं। शारीरिक चिह्नों और लक्षणों के प्रभाव की भी आपको जानकारी है। आपने मेरी अन्तर्पीड़ा को सुना। संकेत से मुझे अपने सन्निकट बुलाया। मेरी हस्त-रेखाओं का बडी सूक्ष्मता से अवलोकन किया और मुझे सान्त्वना देते हुए कहने लगे— "तेरा भविष्य तो उज्ज्वल प्रतीत होता है। निराश होने या घबराने जैसी कोई बात नहीं है। सफलता के क्षण दूर नहीं हैं अतः श्रम करना शुरू कर दो। प्रयत्न के साथ इष्ट-स्मरण भी आवश्यक है। कुत्सित-विचारों एवं चञ्चल-मन की उद्दण्डता पर अंकुश लगाने के लिए इष्ट-स्मरण बहुत ही लाभकारी सिद्ध होगा। नित्य नियमित रूप से महामंत्र नवकार का जाप प्रारम्भ करदो। बडी शक्ति है, महामंत्र नवकार में, जिनवाणी रूपी सरस्वती के सार रूप इस मंत्र में विश्व के उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया गया है, जो वास्तव में नमनीय हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नया ज्ञान सीखने, पढ़ने व सुनने का अभ्यास डालना भी जरूरी है। मानव-जीवन में ज्ञान का बडा महत्त्व है, ज्ञान ही मानव-जीवन का शृंगार है अतः ज्ञान का विकास परम-आवश्यक है। ज्ञानार्जन के क्षेत्र में उसी को विशेष सफलता मिलती है, जो "बूंद-बूंद से घट भरे" की प्रसिद्ध कहावत को अपने जीवन में उतारते हुए ज्ञान-साधना में निरन्तर लगा रहता है।"

गुरुदेव के मुखारविंद से निःसृत इन अनमोल बोलों को मैंने बडे ध्यान से सुना। मुझे पर्याप्त आंतरिक शांति का अनुभव हुआ। आज्ञा शिरोधार्य कर मैं जिज्ञासा-मुद्रा में गुरुवर की प्रशान्त-गंभीर

मुखमुद्रा को निहार रहा था कि मुझे पूज्य उपाध्याय श्री लालचन्द जी म. सा. के दर्शन करने एवं उनकी सेवामें बैठने का निर्देश मिला। मैं गया वहाँ, जहाँ उपाध्याय-श्री विराजमान थे। दर्शन-वन्दन एवं कुछ सामान्य परिचय-वार्ता के पश्चात् उपाध्याय-श्री ने मुझे एक "सामायिक सूत्र" की पुस्तक दी, गुरु-वंदन सूत्र व आलोचना-सूत्र का पाठ उच्चारित करवाया और आज्ञा प्रदान की कि इन्हें याद कर लेना।

अब तो मन हंसा भया

सायंकाल मैं वापिस कुचेरा लौट आया और गुरुवर के आदेशों की अनुपालना में सजगता वरतने का प्रयास करने लगा। कुछ ही दिनों बाद मेरी मानसिक स्थिति में अपेक्षित सुधार होता दिखाई दिया। धीरे-धीरे बौद्धिक क्षमता का विकास भी होने लगा। गुरुदेव के प्रथम पावन-दर्शन, महामंत्र नवकार का नियमित जाप, गुरुदेव की कृपा-दृष्टि, उनकी सहज आत्मीयता एवं उनके द्वारा प्रदत्त आदेशों के पालन का प्रत्यक्ष चमत्कार देख मेरा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ मन अब सद्विचारों की पवित्र गंगा में स्वच्छ से स्वच्छतर बनने लगा। किसी प्राचीन कवि के शब्दों में :

पहले यह मन काग था, करता जीवन-घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुग-चुग खात॥

गुरु की संगति में आने के पूर्व जिस मन की स्थिति पक्षियों में सबसे निकृष्ट एवं हिंसक पक्षी काग (कौआ) सरीखी थी, सद्गुरु-चरणों के प्रताप से वही मन अब सरस्वती-वाहन, पक्षि-श्रेष्ठ उस हंस से उपमित होने की तैयारी करने लगा, जो मानसरोवर के स्वच्छ सलिल में रहता है और एकमात्र मोती ही जिसका आहार होता है।

भौतिक जगत् के प्रति उदासीन-भाव एवं आध्यात्मिक जगत् के प्रति अनुराग-भाव उत्पन्न होने लगे, अब मेरे मन में। धीरे-धीरे मैं इस निश्चय पर पहुंच गया कि मुझे अब जैन छात्रावास-कुचेरा में प्रविष्ट न होकर गुरुवर की परम-पवित्र छत्रछाया में रहना है और उन्हीं के श्री-चरणों में अपने आपको समर्पित करना है। जिस पथ को मेरे लघुभ्राता ने श्रेयस्कर मानकर चुना है, मेरा पथ भी अब वही होगा। आत्म-कल्याण ही अब मेरा लक्ष्य होगा। ज्ञान और चारित्र की आराधना/साधना ही अब मेरे जीवन का उद्देश्य होगा। एक दृढ़ संकल्प ने जन्म लिया मेरे मन में।

गुरुदेव श्री नागौर से कुचेरा पधार गए थे। कुचेरा से पुनः शीघ्र प्रस्थान की भावना भी व्यक्त हो चुकी थी। मेरा दृढ़ संकल्प-शील मन अब क्रियान्विति चाहता था। बिना गुरु-आज्ञा के क्रियान्विति असम्भव थी। मैंने हिम्मत की, गुरुवर की सेवामें पहुंचा और अपने मन की भावना को इस तरह प्रस्तुत कर दिया—"गुरुदेव ! ऊब गया हूँ मैं अब इस संसार से। कोई सार नजर नहीं आया है मुझे संसार में। नागौर में आप द्वारा बताए सन्मार्ग पर चल कर मैंने जो शांति एवं आनन्द की अनुभूति की है, उसी से प्रभावित होकर मेरे अन्तर्मानस ने अपना लक्ष्य निश्चित कर लिया है। सांसारिक सम्बन्धों से विलग हो अब मैं अपनी जीवन-नैया आपके पाद-पद्मों में सौंपना चाहता हूँ। जहाँ, जिस दिशा में आप पधार रहे हैं, मैं भी आपके साथ उधर ही चलने की भावना रखता हूँ।"

विहार संबंधी दुस्सह-परीषहों से अवगत कराते हुए गुरुदेव ने पहले तो मुझे कुछ परखने की/तोलने की कोशिश की और जब संतुष्ट हो गए तो फरमाया—बड़ी अच्छी बात है; तुमने जो निश्चय किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। संयम का साधना-पथ ही व्यक्ति को उसकी शाश्वत-मंजिल तक पहुंचाने में सक्षम है। तुम्हारे इन सुविचारों की शृंखला दृढ़ से दृढ़तर बने और तुम इन विचारों का क्रियान्वयन भी शीघ्र कर सको, यही सत्कामना है।"

गुरुदेव के ये आशीर्वचन मुझे निरन्तर प्रेरणा देते रहे। मेरे भावी जीवन के लिए उनका यही आशीर्वाद, वरदान सिद्ध हुआ। मेरी रुचि अध्यात्म-साधना की ओर बढ़ती रही, मेरा रुझान धर्म-शास्त्रों के पठन-पाठन में गतिमान होता गया, मेरा झुकाव आत्म-कल्याण के पथ की ओर वर्द्धमान रहा। कुचेरा से जब गुरुदेव का विहार हुआ तब मैं भी उनके अनुगमनार्थ प्रस्तुत था। मैं मुमुक्षु बन चुका था और अब 'वैरागी' सम्बोधन से पुकारा जाने लगा था। यह था प्रथम गुरु-दर्शन का मेरे जीवन पर प्रभाव, जिसने मेरे जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर डाला। आज मैं जो भी हूँ, उप प्रथम-पावन-गुरुदर्शन के कारण ही तो हूँ।

गुरु-आज्ञा : सफलता का द्वार

वि. संवत् २०३१, महीना श्रावण का। गुरुदेव का चातुर्मास-स्थल था—सोजतशहर। 'ज्ञानशाला' नामक सोजत के स्थानक-भवन की प्रथम मंजिल (ऊपरी हिस्से) में गुरुदेव विराजमान थे। सामायिक-सूत्र, प्रतिक्रमण-सूत्र, पच्चीस बोल स्तोक; दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन आदि गुरुवर की सत्कृपा से मैं कण्ठस्थ कर चुका था। 'भक्तामर-स्तोत्र' भी अब पूर्णता की ओर था। नित्यप्रति की दिनचर्या के अनुरूप आज भी कण्ठस्थ-पाठ सुनाने एवं नया-पाठ लेने के लिए मैं आचार्य-भगवन् की सेवामें प्रस्तुत हुआ। सविधि वन्दना कर भक्तामर स्तोत्र का अंतिम श्लोक सुनाया और करबद्ध वहीं खड़ा हो गया। मुझे प्रतीक्षा थी आदेश की, अगले पाठ के लिए आदेश अपेक्षित था। मैं उत्सुक था कि अब क्या सीखूंगा? तभी गुरुदेव ने आज्ञा दी—"पंडित सूर्यनारायण जी आए हुए हैं। सन्त व सती-वृन्द को संस्कृत-व्याकरण व साहित्य का अध्ययन करवा रहे हैं। प्रवेशिका- (दसवीं कक्षा) परीक्षा की तैयारी हो रही है। बड़ा अच्छा अवसर है, तुम भी इसमें संलग्न हो जाओ।"

मैं अवाक् हो आचार्य-देव के चेहरे को देखने लगा। हृदय में मेरे उथल-पुथल मच चुकी थी। अतीत के कितने ही पृष्ठ फड़फड़ाकर मेरी आंखों के सामने नृत्य करने लगे थे। मुझे इस तरह खोया-खोया देख गुरुदेव मुस्कराए और बोले-"क्यों क्या विचार कर रहे हो? अपने आपको इतना कमजोर क्यों समझ रहे हो? भूत की ओर क्यों झांक रहे हो? वर्तमान को देखो। अब, जब तुम जीवन के सुनहरे प्रभात में जीने का संकल्प ले चुके हो तो तुम्हें काली-अंधियारी बीती रातों का स्मरण कर अपने सुपथ से विलग नहीं होना चाहिए। कल श्रावणी पूर्णिमा है, रक्षाबन्धन-पर्व का शुभ दिन है, अतः निर्विकल्प हो प्रातः तुम्हें पंडित जी के पास चले जाना है और अध्ययन प्रारंभ कर देना है।"

आज्ञा स्वीकार कर मैं उठ तो गया वहाँ से पर सोचता अवश्य रहा—"कैसे पार होगी मेरी नैया? कैसे पढ़ूंगा मैं संस्कृत? कैसे मिलेगी मुझे सफलता? मैं हूं तो वही न! जो सातवीं-आठवीं कक्षा में

प्रारंभिक संस्कृत व अंग्रेजी से भी बडी परेशानी महसूस करता था। गणित-हिन्दी-वाणिज्य आदि विषयों में तो फिर भी मेरी रुचि थी पर इन दो विषयों को मैं भार रूप समझता था। अन्य विषयों के प्रति भी लगाव तब था, जब माता-पिता आदि सब जीवित थे एवं पारिवारिक स्थिति भी अनुकूल थी। सन् १९६९ से १९७१ के मध्य जब माता-पिता एवं चारों छोटी बहनें कालग्रस्त हो गई तो मानसिक तनाव के कारण पढ़ने मात्र से मुझे चिढ़ हो गई थी। सन् १९७० का वह वर्ष, आठवीं कक्षा का वह परीक्षा-परिणाम भी मुझे याद है, फैल होते-होते बचा था मैं........।''

विकल्पों के इसी अवरोह-क्रम में गुरुवर के प्रति अंतस में छिपी मेरी श्रद्धा भी सक्रिय थी। अवरोह से आरोह की ओर ले जाती हुई वही श्रद्धा प्रेरित कर रही थी मुझे कि तूं क्यों इतनी चिंता किए जा रहा है? श्रद्धेय गुरुवर के पवित्र अंतःकरण से प्रेरित जो आज्ञा मिली है, उसमें इतनी शंकात्मक दृष्टि रखने की क्या आवश्यकता है? उनके वचनों का प्रत्यक्ष चमत्कार तूं कई बार देख चुका है फिर अविश्वास की ओर बढ़ने की चेष्टा क्यों कर रहा है?

विचारों के इस द्वन्द्व में विजय श्रद्धा-प्रेरित सशक्त विचारों की ही हुई। निर्णय यही रहा अंत में कि मुझे "आज्ञा गुरूणामविचारणीया'' के अनुसार गुरु-आज्ञा में किसी प्रकार का विचार-विकल्प न करते हुए सदैव तत्पर रहना है। मैंने पंडितवर्य से यथासमय संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। अध्ययन निर्बाध संपन्न हुआ। ज्यों-ज्यों पढ़ता गया, संस्कृत भाषा के प्रति रुचि भी बढ़ती गई। डेढ़ ही वर्ष में तीन वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा हो गया। सफलता भी आशातीत मिली, पूरे राजस्थान में द्वितीय-स्थान पर रहा। इन सब सफलाताओं का एकमात्र कारण था—"गुरु-वचनों का, उनकी आज्ञा का प्रभाव।''

सिर्फ एक-दो ही नहीं, अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि पूज्य गुरुदेव सरल-हृदय हैं, मित एवं मृदुभाषी हैं, प्रशान्त-चेता हैं, सफल साधक हैं, उत्कृष्ट श्रमण हैं; यही कारण है कि आपकी वाणी द्वारा जो सहज अभिव्यक्ति हो जाती है, उसके अनुरूप अगर कोई कार्य करे तो उसे सफलता अवश्य मिलती है।

गुरु, गुरु ही हैं

आत्मकल्याण का सुपथ बताने वाले धर्मगुरु की सत्कृपा का, उनके अनुपम गुणों का वर्णन जितना भी किया जाए उतना कम ही है; क्योंकि धर्मगुरु का पद लोक का सर्वोत्कृष्ट पद होता है। महामंत्र नवकार में भी ''सिद्ध भगवान्'' की अपेक्षा "अरिहंत-देव" को प्रथम नमस्कार इसीलिए है कि वे जन-साधारण के धर्मगुरु हैं, प्राणी मात्र को प्रतिबोध देने वाले हैं, उन्मार्गियों को सन्मार्ग बताने वाले हैं, सत्कर्म के लिए प्रेरित करने वाले हैं और स्वयं संसार-सागर से तिरते हुए दूसरे भव्यजनों को भी तारने वाले हैं।

जिस प्रकार सूर्य पूरे लोक को आलोकित करता है, संपूर्ण विश्व के अंधकार को अपनी दिव्य रश्मियों के प्रभाव से हरता है एवं संसारस्थ समस्त प्राणियों को स्वस्थ-जीवन का दान देता है ठीक उसी प्रकार धर्मगुरु भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारता है, उसके अंतस में स्थित अज्ञान रूपी अंधकार
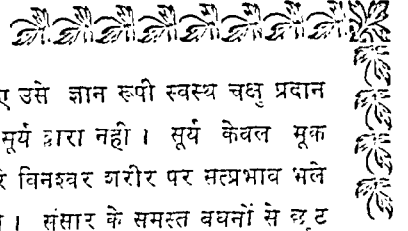
को तिरोहित करता है और उसके विवेक को जागृत करने के लिए उसे ज्ञान रूपी स्वस्थ चक्षु प्रदान करता है। कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो गुरु द्वारा तो हो सकते हैं पर सूर्य द्वारा नहीं। सूर्य केवल मूक प्रेरणा भले ही दे दे पर बोलकर कुछ नहीं कह सकता। सूर्य से हमारे विनश्वर शरीर पर सत्प्रभाव भले पड़ जाए पर शाश्वत आत्मा उससे विशेष प्रभावित नहीं हो सकती। संसार के समस्त बंधनों से छूट कर मुक्ति पाने का अमोघ उपाय भी सूर्य नहीं बता सकता। परन्तु धर्मगुरु इन सभी कृत्यों को करने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। सूर्य क्या है? एक ज्योतिषी देव। देवों का स्थान भोग-दृष्टि से कितना ही ऊंचा क्यों न हो, त्याग की क्षमता उनमें नहीं होती। देव तो स्वयं भी अगर सम्यक्त्वी हैं तो मनुष्य-भव पाने की एवं धर्म-गुरु की उपासना में अपने आपको अर्पित करने की कामना करते रहते हैं। सूर्य से बढ़कर एवं संसार-जलधि से सदा-सर्वदा के लिए मुक्ति प्राप्त प्रभु से भी गुरु की तुलना की गई तो अनुभवियों ने यही पाया कि गुरु से बढ़कर लोकालोक में कोई नहीं है। गुरु, गुरु ही हैं, इनको किसी भी वस्तु से उपमित नहीं किया जा सकता। गुरु-चरणों के प्रति अनन्त-श्रद्धा के साथ स्मृति-पटल पर अंकित एक श्लोक लिखकर लेखनी अब विराम ले रही है :

"तुभ्यं नमो गुरुवराय तमोहराय
तुभ्यं नमस्त्रितय ताप-विनाशकाय।
तुभ्यं नमः सकल-दुःख-निवारकाय
तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय॥"

—गुरु-भक्तामर (उ.प्र. श्री लालचन्द जी म.सा.)

आचार्य-प्रवर का बहुआयामी व्यक्तित्व

☐

आशुकवि पं. मुनीन्द्रकुमार जैन

इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व

देखा है आपने कभी
वर्षाकालीन आसमान के
एक छोर से दूसरे छोर तक छाया हुआ
अनेक रंगों का सम्मिश्रण !
अपने आप में पूर्ण,
सहज-स्वाभाविक,
अकर्त्ता होकर भी कर्तृत्व का प्रतिबिम्ब,
सुविशाल एवं अगाध : यह है इन्द्र-धनुष,
जिसकी मनोहारी झलक हमें वर्षाकाल में
समय-समय पर दिखाई देती है ।
ठीक वैसी ही झलक है,
आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. के एक विध नहीं,
अनेक विध बहुआयामी व्यक्तित्व की;
अद्भुत ! विस्मयकारी!! मुग्धकारी !!!
स्पष्ट किन्तु मननीय
अवाच्य किन्तु सदा-सदा ही
प्रतिपल-प्रतिक्षण कथनीय,
श्रद्धेय एवं उपास्य
गुण-गौरव से मंडित ।
आचार्य भगवन् का आदर्श-जीवन
एवं जीवन्त व्यक्तित्व

अतुल तेजोमय है, अमाप्य है।
जय-विजय के प्रतीक
ऐसे श्री जीत-मुनिवर को
युग के इस युगीन महापुरुष को
श्रद्धा एवं भक्तियुत
सदा-सतत, भावसिञ्चित-अनुगुञ्जित
वन्दना हो।

मृदुनि च कुसुमादपि

संत का संतत्व इसी में है कि उसका हृदय सांसारिक वैभव को मृगतृष्णावत् समझ उसके आभास से भी दूर रहते हुए अपने अपनत्व को सीमित नहीं बनाकर असीम में (अनन्त में) विलीन कर दे। ऐसा संत विश्वबंधुत्व में, विश्वमैत्री के बंधन में बंध जाता है किन्तु वह उसके लिए बंधन नहीं अपितु निर्बन्ध-विमुक्ति रूप बन जाता है। सांसारिक आसक्तियों के प्रति वह "वज्रादपि कठोराणि" बनकर प्राणी मात्र के लिए "मृदुनि च कुसुमादपि" बन जाता है।

आचार्य-श्री का कुसुम-सम सुकोमल हृदय नन्हे-मुन्ने बालकों में—शिविरार्थी बालकों के हृदय में किस प्रकार तरंगायमान होने लगता है, इसकी एक झलक सियाट-सोजत की गली-गली में गूंज उठी थी और वह गुंजायमान गूंज थी—

"शान्त और दान्त हैं
कभी नहीं क्लान्त हैं
फूल सुकुमारा हो, जीत गुरु प्यारा हो।"

ऐसी ही कुछ अन्य पंक्तियाँ, जो जन-जन को आप्लावित करते हुए मस्ती से आबाल-वृद्ध के मुंह से निकलने लगीं, गाई जाने लगीं और यथार्थता के साथ ऐतिहासिक बन गईं—

"नींद नहीं भूख नहीं
हमें कुछ दुःख नहीं
एक ही सहारा हो, जीत गुरु प्यारा हो।"

त्वं नाथ! दुःखिजन-वत्सल! हे शरण्य!

भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की यह पंक्ति न जाने कितने भग्न-हृदयों की आशाओं का अवलम्बन बन जाती है। जब कभी मन में गहरी उदासी लिए, व्यथित-हृदय का रुदन लिए आपके पावन-पाद-पद्मों में पहुंचा हूँ, मेरी भावनाओं की गहराइयों को टटोलते हुए आप-श्री ने अपनी अनुभवशील गंभीर-गिरा से मुझे सहलाया है एवं आश्वस्त कर मेरे हृदय की गहन-गुत्थियों को खोलकर मेरे प्राणों में नव-जीवन का सञ्चार किया है। मुझे तब-तब ऐसा लगा है कि मेरे हृदय पर रखा समस्त भार हट गया हो। आपका वात्सल्य पाकर मैं कृतकृत्य हो उठता हूं। वस्तुतः आप अशरण के लिए शरण रूप हैं, श्रान्त एवं क्लान्त ग्रीष्मकालीन चिलचिलाती धूप में थके-हारे पथिक के लिए शीतल-सुखद छाया रूप हैं।

आशुकवि पं. मुनीन्द्रकुमार जैन

अडोल-अकम्प-मनस्वी

गत वर्ष (मई १६८५) जोधपुर में अकल्पित मार्ग-दुर्घटना में आप वेदना-ग्रस्त हुए एवं असह्य-पीड़ा के वशीभूत होकर एक लम्बे समय तक आपको एक ही स्थान पर एक ही कक्ष में शय्यागत विराजना पड़ा। आपकी पीड़ा को देख अन्य भावुकजन विचलित हो उठते थे किन्तु विस्मयकारी थी आपकी सहिष्णुता कि आप यातना की इन भारप्रद-दुखद घड़ियों में भी सदा सहजभाव में दृश्यमान होते थे—मानों कुछ हुआ ही न हो। जब भी कोई श्रद्धालु-भक्त सुखसाता पूछता—सदैव एक-सी प्रशांत-सौम्य-सुखद-मुखमुद्रा और यही कथन कि "असाता वेदनीय का उदय है धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।" मन में दृढ़-विश्वास कि धूमकेतु उदित हुआ है तो अस्त भी होगा।

करुणा एवं सहृदयता

जवाजा का 'श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण-शिविर'। ग्रीष्मावकाश का समय। प्रातःकाल अनायास आपको जानकारी मिली कि शिविर में आए हुए एक अध्यापक अस्वस्थ हैं. आप अपने अंतेवासी सहित पधारते हैं स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ करते हैं मनोबल दृढ़ करने वाले शब्दों में अध्यापक को धैर्य धारण करने का सन्देश देते हैं एवं मंगलपाठ सुनाते हैं। पराए दुःख में अपने को कम्पित करना, क्या यह महापुरुष की महानता का द्योतक नहीं है? ऐसे परमाराध्य गुरुवर के लिए सहसा हृद्-तंत्री पर गीत की ये पंक्तियाँ झंकृत हो उठती हैं--

"नाम तेरा पूज रहा
घर-घर गूंज रहा
सुयश-नगारा हो, जीत गुरु प्यारा हो।"

जीवन-यात्रा के सम्बल

मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में दीर्घकालीन विचरण-काल में, महाराष्ट्र के भण्डारा शहर में, सुदूरवर्ती सघन-नगर मद्रास में और राजस्थान प्रांत के विभिन्न ग्राम-नगरांचलों में आठ-नव वर्षों से आयोजित हो रहे श्री भू. जै. धा. शि. शिविरों में आपका सान्निध्य प्राप्त होता रहा है, आपसे प्रेरणा-स्फुरणा प्राप्त करता रहा हूँ, नए-नए आयाम बनते गए हैं—सहज समर्पित भाव से। यदि मैं दीपक की लौ हूं तो उस लौ का आधार है आपका स्नेह। आपके सम्पूर्ण 'जयगच्छ'--उपाध्यायप्रवर, पंडित-रत्न श्री लालचन्द जी म.सा.; सौम्यमूर्ति स्वामी श्री शुभचन्दजी म सा., चैतन्य-स्फूर्त श्री पार्श्वचन्द्रजी म.सा., कर्मयोगी श्री गुणवंतमुनि जी म.सा. एवं मेरे गीतों को स्वर प्रदान कर मुखरित करने वाले श्री भद्रेशमुनि जी म.सा. को मैं कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने मुझे सम्बल देकर सबल बनाया। दिवंगत श्री नूतनमुनि जी म.सा. को यहाँ स्मरण न करना कृतघ्नता ही होगी। उनकी ज्ञान-गंभीरता एवं दार्शनिकता ने हम सभी को आकर्षित किया था, पूरे जैन समाज को प्रभावित किया था।

अन्त में मेरा यही अनुनय-विनय है, शासनदेव से कि—

"इन चरणों का दास रहा हूँ, आगे भी मैं बना रहूँ।
अब तक भक्ति मिली जो इनकी, उसी भक्ति में रमा रहूँ।
यही भावना बनी रहे नित, बस गुरुवर की कृपा मिले।
क्षण-क्षण पल-पल इस बगिया में, सदा भक्ति के सुमन खिले॥"

देव-तुल्य गुरुराज की गरिमा

□
वी. लालचन्द मरलेचा

जैनागम-मर्मज्ञ, काव्य-न्याय-तीर्थ, तर्क-मनीषी, महामहिम आचार्य-प्रवर श्री श्री श्री १००८ श्री श्री श्री जीतमल जी महाराज साहब की हीरक-जन्म-जयंती एवं दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती पर उस दिव्य-पुरुष का शत-शत वन्दन, कोटि-कोटि अभिनन्दन। मेरे जीवन का रोम-रोम आपकी कृपा-अनुकम्पा से अनुप्राणित है। पूज्य गुरुदेव से मेरा अतिनिकट सम्पर्क रहा है, सम्पर्क भी दो-चार वर्षों का नहीं, लगभग ५० वर्षों से ऊपर का। आपके दर्शनों से मेरे मन को एक ऐसी शांति मिलती है, जिसकी प्राप्ति अन्य कहीं संभव नहीं। आपकी चरण-सेवा में जब तक रहता हूँ, चिन्ताएँ कहीं बहुत दूर छूट जाती हैं, आत्मा दिव्य-आलोक की रश्मियों के स्पर्श से जगमगाता-सा प्रतीत होता है और शारीरिक-मानसिक बेचैनी का नाम-निशान तक नहीं रहता है।

अपने भक्तों के प्रति राग आजकल अधिकांश सन्त-महात्माओं में देखा जाता है। सही तो यह है कि भक्त उन्हीं गुरुदेवों के दर्शनाकांक्षी रहते हैं, जो उनकी उपस्थिति को महत्त्व देते हैं। आचार्य-प्रवर उन संत-महात्माओं में नहीं हैं। मैं नहीं कहता कि वे अपने भक्तों के प्रति किसी तरह का कोई आकर्षण-भाव नहीं रखते पर उनका आकर्षण-भाव आध्यात्मिक होता है, उनका राग भी भक्त-जीवन को आत्मोन्मुखी बनाने वाला होता है। मैं जब भी आप-श्री के दर्शनार्थ जाता हूं तो पहला प्रश्न मुझ से यही किया जाता है—"धर्म-ध्यान कैसा चल रहा है?" गुरुदेव जब दक्षिण-भारत की पदयात्रा पर थे और मद्रास पधारे थे तो सेवा का अच्छा अवसर मिला था। तब भी आपका सीधा प्रश्न होता था—"सामायिक प्रतिदिन करते हो न? ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय निरन्तर चलते हैं न? अभी नया क्या सीख रहे हो?" यही नहीं मुझे प्रेरणा देते कि अपने घर में धर्मपत्नी व पुत्र-पुत्रियों को भी ज्ञान-ध्यान करते रहने की प्रेरणा दिया करो और अन्यान्य व्यक्ति जो भी सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी धर्मक्रिया के लिए प्रेरित किया करो। ऐसा है आपका ज्ञान-ध्यान के प्रति आग्रह, भक्तों के प्रति आकर्षण का ध्येय।

पूज्य गुरुदेव सरल-स्वभावी हैं, निरभिमानी हैं तथा आत्म-लीन रहने वाले श्रेष्ठ साधक हैं। आपका चातुर्मास जब माटुंगा (बम्बई) में था, तब जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास द्वारा प्रकाशित "जयध्वज" नामक विशाल-ग्रंथ का विमोचन होना था। स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा. तब तक देवलोक-वासी हो

अडोल-अकम्प-मनस्वी

गत वर्ष (मई १९८५) जोधपुर में अकल्पित मार्ग-दुर्घटना में आप वेदना-ग्रस्त हुए एवं असह्य-पीड़ा के वशीभूत होकर एक लम्बे समय तक आपको एक ही स्थान पर एक ही कक्ष में शय्यागत विराजना पड़ा। आपकी पीड़ा को देख अन्य भावुकजन विचलित हो उठते थे किन्तु विस्मयकारी थी आपकी सहिष्णुता कि आप यातना की इन भारप्रद-दुःखद घड़ियों में भी सदा सहजभाव में दृश्यमान होते थे—मानों कुछ हुआ ही न हो। जब भी कोई श्रद्धालु-भक्त सुखसाता पूछता—सदैव एक-सी प्रशांत-सौम्य-सुखद-मुखमुद्रा और यही कथन कि "असाता वेदनीय का उदय है धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।" मन में दृढ़-विश्वास कि धूमकेतु उदित हुआ है तो अस्त भी होगा।

करुणा एवं सहृदयता

जवाजा का 'श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण-शिविर'। ग्रीष्मावकाश का समय। प्रातःकाल अनायास आपको जानकारी मिली कि शिविर में आए हुए एक अध्यापक अस्वस्थ हैं. आप अपने अंतेवासी सहित पधारते हैं स्वास्थ्य के बारे में पूछताछ करते हैं मनोबल दृढ़ करने वाले शब्दों में अध्यापक को धैर्य धारण करने का सन्देश देते हैं एवं मंगलपाठ सुनाते हैं। पराए दुःख में अपने को कम्पित करना, क्या यह महापुरुष की महानता का द्योतक नहीं है? ऐसे परमाराध्य गुरुवर के लिए सहसा हृद्-तंत्री पर गीत की ये पंक्तियाँ झंकृत हो उठती हैं—

"नाम तेरा पूज रहा
घर-घर गूंज रहा
सुयश-नगारा हो, जीत गुरु प्यारा हो।"

जीवन-यात्रा के सम्बल

मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में दीर्घकालीन विचरण-काल में, महाराष्ट्र के भण्डारा शहर में, सुदूरवर्ती सघन-नगर मद्रास में और राजस्थान प्रांत के विभिन्न ग्राम-नगरांचलों में आठ-नव वर्षों से आयोजित हो रहे श्री भू. जै. धा. शि. शिविरों में आपका सान्निध्य प्राप्त होता रहा है, आपसे प्रेरणा-स्फुरणा प्राप्त करता रहा हूँ, नए-नए आयाम बनते गए हैं—सहज समर्पित भाव से। यदि मैं दीपक की लौ हूं तो उस लौ का आधार है आपका स्नेह। आपके सम्पूर्ण 'जयगच्छ'—उपाध्यायप्रवर, पंडित-रत्न श्री लालचन्द जी म.सा.; सौम्यमूर्ति स्वामी श्री शुभचन्दजी म.सा., चैतन्य-स्फूर्त श्री पार्श्वचन्द्रजी म.सा., कर्मयोगी श्री गुणवंतमुनि जी म.सा. एवं मेरे गीतों को स्वर प्रदान कर मुखरित करने वाले श्री भद्रेश-मुनि जी म.सा. को मैं कैसे भूल सकता हूँ जिन्होंने मुझे सम्बल देकर सबल बनाया। दिवंगत श्री नूतन-मुनि जी म.सा. को यहाँ स्मरण न करना कृतघ्नता ही होगी। उनकी ज्ञान-गंभीरता एवं दार्शनिकता ने हम सभी को आकर्षित किया था, पूरे जैन समाज को प्रभावित किया था।

अन्त में मेरा यही अनुनय-विनय है, शासनदेव से कि—

"इन चरणों का दास रहा हूँ, आगे भी मैं बना रहूँ।
अब तक भक्ति मिली जो इनकी, उसी भक्ति में रमा रहूँ।
यही भावना बनी रहे नित, बस गुरुवर की कृपा मिले।
क्षण-क्षण पल-पल इस बगिया में, सदा भक्ति के सुमन खिले॥"

देव-तुल्य गुरुराज की गरिमा

☐

वी. लालचन्द मरलेचा

जैनागम-मर्मज्ञ, काव्य-न्याय-तीर्थ, तर्क-मनीषी, महामहिम आचार्य-प्रवर श्री श्री श्री १००८ श्री श्री श्री जीतमल जी महाराज साहब की हीरक-जन्म-जयंती एवं दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती पर उस दिव्य-पुरुष का शत-शत वन्दन, कोटि-कोटि अभिनन्दन। मेरे जीवन का रोम-रोम आपकी कृपा-अनुकम्पा से अनुप्राणित है। पूज्य गुरुदेव से मेरा अतिनिकट सम्पर्क रहा है, सम्पर्क भी दो-चार वर्षों का नहीं, लगभग ५० वर्षों से ऊपर का। आपके दर्शनों से मेरे मन को एक ऐसी शांति मिलती है, जिसकी प्राप्ति अन्य कहीं संभव नहीं। आपकी चरण-सेवा में जब तक रहता हूँ, चिन्ताएँ कहीं बहुत दूर छूट जाती हैं, आत्मा दिव्य-आलोक की रश्मियों के स्पर्श से जगमगाता-सा प्रतीत होता है और शारीरिक-मानसिक बेचैनी का नाम-निशान तक नहीं रहता है।

अपने भक्तों के प्रति राग आजकल अधिकांश सन्त-महात्माओं में देखा जाता है। सही तो यह है कि भक्त उन्हीं गुरुदेवों के दर्शनाकांक्षी रहते हैं, जो उनकी उपस्थिति को महत्त्व देते हैं। आचार्य-प्रवर उन संत-महात्माओं में नहीं हैं। मैं नहीं कहता कि वे अपने भक्तों के प्रति किसी तरह का कोई आकर्षण-भाव नहीं रखते पर उनका आकर्षण-भाव आध्यात्मिक होता है, उनका राग भी भक्त-जीवन को आत्मोन्मुखी बनाने वाला होता है। मैं जब भी आप-श्री के दर्शनार्थ जाता हूं तो पहला प्रश्न मुझ से यही किया जाता है—"धर्म-ध्यान कैसा चल रहा है?" गुरुदेव जब दक्षिण-भारत की पदयात्रा पर थे और मद्रास पधारे थे तो सेवा का अच्छा अवसर मिला था। तब भी आपका सीधा प्रश्न होता था—"सामायिक प्रतिदिन करते हो न? ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय निरन्तर चलते हैं न? अभी नया क्या सीख रहे हो?" यही नहीं मुझे प्रेरणा देते कि अपने घर में धर्मपत्नी व पुत्र-पुत्रियों को भी ज्ञान-ध्यान करते रहने की प्रेरणा दिया करो और अन्यान्य व्यक्ति जो भी सम्पर्क में आते हैं उन्हें भी धर्मक्रिया के लिए प्रेरित किया करो। ऐसा है आपका ज्ञान-ध्यान के प्रति आग्रह, भक्तों के प्रति आकर्षण का ध्येय।

पूज्य गुरुदेव सरल-स्वभावी हैं, निरभिमानी हैं तथा आत्म-लीन रहने वाले श्रेष्ठ साधक हैं। आपका चातुर्मास जब माटुंगा (बम्बई) में था, तब जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास द्वारा प्रकाशित "जयध्वज" नामक विशाल-ग्रंथ का विमोचन होना था। स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा. तब तक देवलोक-वासी हो

चुके थे। अपने समुदाय में आप ही बडे थे अतः ग्रन्थ, विमोचन के पश्चात् आपके पाणि-पद्मों में समर्पित किया गया। समारोह का आयोजन विशाल-स्तर पर था अतः अत्यधिक जन-समुदाय उपस्थित था, ठाट-बाट भी साधारण नहीं था—विशाल एवं भव्य प्रदर्शन था। शान्तमूर्ति पूज्य गुरुदेव ने इस विमोचन-समारोह, ग्रन्थ-समर्पण आदि को वहुत ही सहज रूप में लिया। हाव-भावों एवं दर्शक-भक्तों से वार्ता आदि में आपका वही सहज-सरल-मना रूप प्रकट हो रहा था। मैं आपकी उस सहज-स्वरूपता सादगी, एवं सरलता से अत्यधिक प्रभावित हुआ।

वि. सं. २०३३ में आपको चतुर्विध संघ ने आचार्य-पद की चद्दर प्रदान की, तब से आप "श्री श्वे. स्था. जयमल जैन संघ" के आचार्य-पद को बडी कुशलता से संभाले हुए हैं। आपके संघ के सभी साधु एवं साध्वी आपके सान्निध्य में रहकर आपकी आज्ञा में विचरण कर रहे हैं। आचार्य का जैसा नियंत्रण होना चाहिए, वैसा नियंत्रण भी है आप-श्री का अपने संत व सती-वृन्द पर। सभी संत व सतियाँ आपके आदेशों का पालन कर अपने आपको धन्य मानते हैं और सानंद धर्माराधन, संयम-साधना में रत रहते हैं। आचार्य-प्रवर की भी अपने श्रमण-श्रमणी-वर्ग पर समदृष्टि है। सबको समान समझना, सब पर समान कृपा-भाव रखना, सभी पर समान नियंत्रण रखना आपके नेतृत्व की विशेषता है। इसी निष्पक्ष-दृष्टि ने आपके आदर-भाव में वृद्धि की है और आज आपके प्रति श्रद्धा-भक्ति की भावना साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ में बढ़ती ही जा रही है।

अस्वस्थ आप कई बार हुए हैं। इस समय भी स्वास्थ्य अनुकूल नहीं है। लगभग एक वर्ष पूर्व (मई-१९८५) कूल्हे में फ्रेक्चर हो गया था, लगातार चिकित्सा एवं शारीरिक अभ्यास से अब कुछ ठीक है। इस बीच जब मैं आपके दर्शनार्थ उपस्थित हुआ तो मैंने यह अनुभव किया कि आपका मनोबल बडा जबर-दस्त है। दृढ़ मनोबल के कारण शारीरिक दुर्बलता का आप पर विशेष प्रभाव नहीं है। साधना की अदम्य इच्छा, शासन-सेवा की हार्दिक कामना, जिनवाणी-प्रसार का दृढ़ संकल्प आदि के कारण अस्वस्थता आप पर हावी नहीं हो पाती। अशुभ-कर्मोदय से अस्वस्थता आती तो है पर आपकी सहनशीलता के आगे टिक नहीं पाती। दो सांड लड़ रहे थे, आप शौचादि से निवृत्ति के लिए बाहर-भूमिका जा रहे थे। आगए बचते-बचते भी उन सांडों की चपेट में। चिकित्सा हुई। इस समय एक 'अभ्यास-दक्ष' व्यक्ति आपको अभ्यास करवाने आता है, अपनी देखरेख में 'वाकर' की सहायता से चलाता है। उस एक्सपर्ट का कहना है—"मैं कई जगह गया हूं और जाता हूं पर ऐसा आत्म-विश्वास, ऐसा दृढ़ मनोबल मुझे कहीं देखने को नहीं मिला। यही कारण है कि महाराज-श्री इतना शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं जबकि ऐसे मामलों में दो-दो, तीन-तीन वर्ष का समय लग जाना तो अति साधारण बात है।

चाहे स्वस्थ हों या अस्वस्थ, आपका ज्ञान-ध्यान, जप-तप निरन्तर चलता ही रहता है। जब भी देखें माला में मगन मिलेंगे या स्वाध्याय में रत। केवल दूसरों को प्रेरणा देना मात्र ही आपका कार्य नहीं है, आप स्वयं भी वैसा ही करते हैं जैसी अन्य को प्रेरणा देते हैं। कथनी-करनी की यह एकरूपता आपके व्यक्तित्व की अन्यतम विशेषता है। विहार हो या चातुर्मास-काल (अथवा सकारण स्थिरता) आपकी ज्ञान-साधना नियमित चलती ही रहती है। क्षणभर भी आलस्य में बैठना, प्रमाद करना आपकी चर्या का अंग नहीं है। आपका क्षण-क्षण, पल-पल आत्म-कल्याणार्थ लगा रहता है।
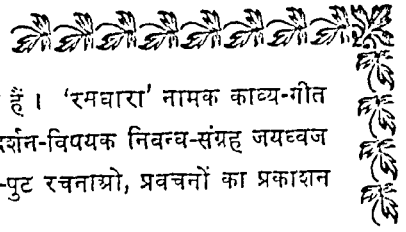
आप एक कुशल-प्रवचनकार हैं, अच्छे लेखक हैं, सहृदय-कवि हैं। 'रसधारा' नामक काव्य-गीत ग्रन्थ एवं "जैनधर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" नामक आपका दर्शन-विषयक निबन्ध-संग्रह जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। सैंकड़ों अन्य छुट-पुट रचनाओं, प्रवचनों का प्रकाशन अभी होना हैं।

कहाँ तक लिखूं, कहाँ तक वर्णन करूं, कहाँ तक आपके गुणों को गिनाऊं ? ऐसी मेरी शक्ति कहाँ कि मैं देव-तुल्य गुरुराज की गरिमा का आकलन कर सकूं। पूज्य आचार्य-प्रवर दीर्घायु हों, हमको उनका सशक्त, आदर्श नेतृत्व मिलता रहे यही मेरी हार्दिक इच्छा है, मेरे पारिवारिक जनों की आंतरिक अभिलाषा है।

—३० एम.एस. कोयल स्ट्रीट
रायपुरम्, मद्रास-१३

आचार्य-जीत : गुण-गीत

धन्य-धन्य आचार्य जीत गुरु, तारण-तिरण-जहाज।
गाएँ उनकी महिमा आज........॥

सूत्र-अर्थ के हैं व्याख्याता, सुनकर हर्ष हिये न समाता।
सत्य-अहिंसा धर्म-प्रदाता, जीवों को पहुंचाते साता।
देकर हित-उपदेश सुधारे, अपना-पर का काज.......॥

ब्रह्मचर्य की महिमा न्यारी, वयोवृद्ध पर उग्रविहारी।
काव्य मधुर ज्यों मधुमय क्यारी, रसास्वाद से बने निहारी।
फैल रहा है सुयश देख लो, दिग्-दिगंत में गाज........॥

महासती श्री शीलप्रभा जी म.

नाम जीत है तो हारें कैसे

पन्नालाल पीचा

रत्नगर्भा भारत भूमि जहाँ एक ओर वीर-प्रसूता है वहीं दूसरी ओर यह त्यागी, वीतरागी संत-महात्माओं की पवित्र-भूमि भी है। इस दिव्य महिमामयी भूमि पर अनेकों ऐसे संत-मुनिराज हो चुके हैं और हैं जिनके कारण इस धर्मधरा की संस्कृति का गौरव अद्यतन अक्षुण्ण बना हुआ है। उन्हीं स्वनाम-धन्य मुनिराजों में एक हैं—आचार्य-प्रवर गुरुवर्य श्री जीतमलजी म.सा.।

हमने आचार्य-प्रवर के प्रथम दर्शन बालाघाट के आसपास किए। आपका विहार तब बालाघाट से 'तुमड़ीबोड़' के लिए हो चुका था। विशेष प्रसन्नता हुई हमें कि गुरुवर हमारे गाँव पधार रहे हैं। हम पलक-पांवडे बिछाए केवल उनकी प्रतीक्षा ही नहीं करते रहे बल्कि गुरुदर्शनार्थ हमने प्रस्थान भी किया। पूज्य पितृवर श्री पृथ्वीराज जी एवं मातु-श्री स्व. तानीबाई भी साथ थीं। लगभग आठ किलोमीटर चलने के बाद 'पंच-परमेश्वर' के दर्शन, चरण-स्पर्शन का सौभाग्य मिला। आठ किलोमीटर तक संत-श्री के साथ पैदल चलना, पंचायत भवन में उनके ठहरने की व्यवस्था (स्थानक के अभाव में) करना और मुनिराजों को स्वयं हमारा भिक्षा बहराना—यह सब हमारे लिए अपूर्व था, ऐसे पुण्य-अवसर की प्राप्ति हमें पहली बार हुई थी। मध्याह्न का अभूतपूर्व प्रेरक प्रवचन हमारे हृदय-पटल पर आज भी ज्यों का त्यों अंकित है। उसी दिन तो ली थी हमने आप-श्री से 'गुरु-आम्नाय' और स्वीकार किए थे जैनी होने के नाते जैनधर्म के कतिपय प्राथमिक नियम। इसके बाद राजनाँदगाँव एवं रायपुर-चातुर्मास में हमने सेवा का लाभ लिया। आप-श्री की चारित्र-साधना, उत्कृष्ट ज्ञान-आराधना एवं दिव्य-व्यक्तित्व का हम पर गहरा असर पड़ा।

आपके मद्रास-प्रवास के बाद लगभग अठारह वर्ष तक हमारे अंतराय कर्मों का उदय रहा, हम गुरुवर के दर्शनों से वंचित रहे। अठारह वर्ष बाद डेह (नागौर) चातुर्मास में प्यासे नयनों ने गुरु-दर्शन किए तो अपार खुशी हुई। तीन दिन की लगातार रेल और बस-यात्रा की दुःखद अनुभूतियां एक ही क्षण में तिरोहित हो गईं। हृदय झूम-झूम उठा। अब तो नियम बना लिया है, प्रतिवर्ष गुरुदेव के दर्शन करने का।

परम-पूज्य आचार्य-भगवन् श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति है। स्वाध्याय आपका नित्य नियम है। अन्य सन्तों के व्यक्तित्व को उजागर करने की चाह आपके मन में सदैव रहती है। एक बार एक तपस्विनी बाई ने ग्यारह की तपस्या की और प्रत्याख्यान के लिए आपके पास पहुंची। आप बोले—"वहां लालमुनि जी हैं, वे कराएंगे प्रत्याख्यान।"—ऐसा है आपका अपने से छोटे सन्तों के प्रति अनन्य-प्रेम। चाहे कितने ही परीषह हों, कैसा ही शारीरिक कष्ट हो, आप नहीं घबराते। हताश होकर हार जाना तो कभी आपने सीखा ही नहीं, नाम भी तो 'जीत' है अतः हारें कैसे? आश्चर्य है कि आज पचहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में शारीरिक कमजोरी के साथ पैर में इतनी तकलीफ होते हुए भी आप पद-विहार की कामना रखते हैं एवं तदनुसार निरन्तर प्रयास कर रहे हैं।

धन्य है ऐसे श्री जीत गुरुवर को, जो आज स्वयं इस भव-सागर से तिरने के लिए कटिबद्ध हैं और हम सब को भी तिरने का पाठ पढ़ा रहे हैं। आप जैसी दिव्य-विभूति के नेतृत्व में धर्म, सम्प्रदाय, समाज निरन्तर प्रगति करता रहे, यही हमारी मंगल-कामना है।

—तुमड़ीबोड़
(राजनांदगांव-म. प्र.)

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जीतमुनि जी ज्ञान-तपस्वी
ज्ञान-साधना करते हैं।
जो पढ़ते अपने जीवन में
भान जगाया करते हैं।
स्वयं तीर्थ हैं काव्य-तीर्थ हैं
आप बड़े विद्वान हैं।
नहीं देह को देखो इनकी
मन से ये बलवान हैं।

दृष्टि लगी रहती है इनकी, जीवन में उत्थान की।
आओ भाई तुम्हें दिखाएँ, झाँकी गुरु भगवान की।

—पं. मुनीन्द्रकुमार जैन

नाम जीत है तो हारें कैसे

पन्नालाल पोचा

रत्नगर्भा भारत भूमि जहाँ एक ओर वीर-प्रसूता है वहीं दूसरी ओर यह त्यागी, वीतरागी संत-महात्माओं की पवित्र-भूमि भी है। इस दिव्य महिमामयी भूमि पर अनेकों ऐसे संत-मुनिराज हो चुके हैं और हैं जिनके कारण इस धर्मधरा की संस्कृति का गौरव अद्यतन अक्षुण्ण बना हुआ है। उन्हीं स्वनाम-धन्य मुनिराजों में एक हैं—आचार्य-प्रवर गुरुवर्य श्री जीतमलजी म.सा.।

हमने आचार्य-प्रवर के प्रथम दर्शन बालाघाट के आसपास किए। आपका विहार तब बालाघाट से 'तुमड़ीबोड़' के लिए हो चुका था। विशेष प्रसन्नता हुई हमें कि गुरुवर हमारे गाँव पधार रहे हैं। हम पलक-पांवडे बिछाए केवल उनकी प्रतीक्षा ही नहीं करते रहे बल्कि गुरुदर्शनार्थ हमने प्रस्थान भी किया। पूज्य पितृवर श्री पृथ्वीराज जी एवं मातु-श्री स्व. तानीबाई भी साथ थीं। लगभग आठ किलोमीटर चलने के बाद 'पंच-परमेश्वर' के दर्शन, चरण-स्पर्शन का सौभाग्य मिला। आठ किलोमीटर तक संत-श्री के साथ पैदल चलना, पंचायत भवन में उनके ठहरने की व्यवस्था (स्थानक के अभाव में) करना और मुनिराजों को स्वयं हमारा भिक्षा बहराना—यह सब हमारे लिए अपूर्व था, ऐसे पुण्य-अवसर की प्राप्ति हमें पहली बार हुई थी। मध्याह्न का अभूतपूर्व प्रेरक प्रवचन हमारे हृदय-पटल पर आज भी ज्यों का त्यों अंकित है। उसी दिन तो ली थी हमने आप-श्री से 'गुरु-आम्नाय' और स्वीकार किए थे जैनी होने के नाते जैनधर्म के कतिपय प्राथमिक नियम। इसके बाद राजनाँदगाँव एवं रायपुर-चातुर्मास में हमने सेवा का लाभ लिया। आप-श्री की चारित्र-साधना, उत्कृष्ट ज्ञान-आराधना एवं दिव्य-व्यक्तित्व का हम पर गहरा असर पड़ा।

आपके मद्रास-प्रवास के बाद लगभग अठारह वर्ष तक हमारे अंतराय कर्मों का उदय रहा, हम गुरुवर के दर्शनों से वंचित रहे। अठारह वर्ष बाद डेह (नागौर) चातुर्मास में प्यासे नयनों ने गुरु-दर्शन किए तो अपार खुशी हुई। तीन दिन की लगातार रेल और बस-यात्रा की दुःखद अनुभूतियां एक ही क्षण में तिरोहित हो गईं। हृदय झूम-झूम उठा। अब तो नियम बना लिया है, प्रतिवर्ष गुरुदेव के दर्शन करने का।

परम-पूज्य आचार्य-भगवन् श्रद्धा की साक्षात् मूर्ति है। स्वाध्याय आपका नित्य नियम है। अन्य सन्तों के व्यक्तित्व को उजागर करने की चाह आपके मन में सदैव रहती है। एक बार एक तपस्विनी बाई ने ग्यारह की तपस्या की और प्रत्याख्यान के लिए आपके पास पहुंची। आप बोले—"वहां लालमुनि जी हैं, वे कराएंगे प्रत्याख्यान।"—ऐसा है आपका अपने से छोटे सन्तों के प्रति अनन्य-प्रेम। चाहे कितने ही परीषह हों, कैसा ही शारीरिक कष्ट हो, आप नहीं घबराते। हताश होकर हार जाना तो कभी आपने सीखा ही नहीं, नाम भी तो 'जीत' है अतः हारें कैसे? आश्चर्य है कि आज पचहत्तर वर्ष की वृद्धावस्था में शारीरिक कमजोरी के साथ पैर में इतनी तकलीफ होते हुए भी आप पद-विहार की कामना रखते हैं एवं तदनुसार निरन्तर प्रयास कर रहे हैं।

धन्य है ऐसे श्री जीत गुरुवर को, जो आज स्वयं इस भव-सागर से तिरने के लिए कटिबद्ध हैं और हम सब को भी तिरने का पाठ पढ़ा रहे हैं। आप जैसी दिव्य-विभूति के नेतृत्व में धर्म, सम्प्रदाय, समाज निरन्तर प्रगति करता रहे, यही हमारी मंगल-कामना है।

—तुमड़ीबोड़
(राजनांदगांव-म. प्र.)

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जीतमुनि जी ज्ञान-तपस्वी
ज्ञान-साधना करते हैं।
जो पढ़ते अपने जीवन में
भान जगाया करते हैं।
स्वयं तीर्थ हैं काव्य-तीर्थ हैं
आप बड़े विद्वान हैं।
नहीं देह को देखो इनकी
मन से ये बलवान हैं।

दृष्टि लगी रहती है इनकी, जीवन में उत्थान की।
आओ भाई तुम्हें दिखाएँ, झाँकी गुरु भगवान की।

—पं. मुनीन्द्रकुमार जैन

आत्म-रोग के विशेषज्ञ

डॉ. दिनेश कोठारी, एम. डी.

एक डॉक्टर क्या करता है ? डॉक्टर का कार्य है—रुग्ण व्यक्ति के रोग की पहचान करना, रोग आगे न बढ़े इसके लिए उपाय बताना और जो रोग है शरीर में—उसे चिकित्सा द्वारा बाहर करना, नष्ट करना और व्यक्ति को स्वस्थ बनाना। हम डॉक्टर शरीर को देखते हैं, शरीर के अंग-प्रत्यंगों की जाँच करते हैं, रक्त-मल-मूत्र-थूक आदि की जाँच करते हैं, इन्हीं जाँच-कार्यों के माध्यम से रुग्ण-व्यक्ति के शरीरस्थ रोग को ढूंढते हैं और चिकित्सा करते हैं। रोग-शोधन के कई वैज्ञानिक साधन हमारे पास हैं, जिनकी सहायता रोग को जानने और उसकी गुणात्मक सत्ता को समझने में ली जाती है। शरीर रोगों का घर है, रोगों की रोकथाम के लिए पूर्व-प्रबन्ध भी किए जा सकते हैं और किए जाते हैं। रोग-निदान के पश्चात् पुनः रोग का आक्रमण न हो, इसके लिए भी विभिन्न उपाय किए जाते हैं।

शरीर के कई अंग हैं और आज तो चिकित्सा-क्षेत्र में अलग-अलग अंगों के रोगों की जाँच उन-उन अंगों के रोग-विशेषज्ञ करते हैं। डॉक्टरी-पथ की मुख्य दो शाखाएँ हैं, जिनमें पहली है मेडिकल-साइन्स व दूसरी है सर्जरी-साइन्स। जहाँ आवश्यक होता है वहाँ शारीरिक चीर-फाड़ (ऑपरेशन) द्वारा भी रोग का इलाज किया जाता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान ने प्रगति की है, चिकित्सा-विज्ञान भी आगे बढ़ा है। आज तो शरीर के विभिन्न-अंगों के साथ मन और मस्तिष्क की विकृति के लिए भी अलग से एक मेडिकल-लाईन स्थापित हो गई है, जिसे मनोरोग-चिकित्सा, मानस-चिकित्सा और मनोविज्ञान-चिकित्सा के नामों से पुकारा जाता है।

जहाँ शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान कार्य करने लगता है, वहाँ यह शरीर गौण हो जाता है और मुख्य स्थान 'आत्मा' ग्रहण कर लेता है। शरीर दृश्यमान है जबकि आत्मा अदृश्य। शरीर के सुख-दुःख, पीड़ा-रुग्णता, टूट-फूट आदि अनुभवगम्य हैं जबकि आत्मिक रोग, आत्मिक शत्रु, आत्मिक दर्द आदि की अनुभूति सहज संभाव्य नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आत्मा रुग्ण है ही नहीं या होती ही नहीं। यदि आत्मा रुग्ण न हो तो मुक्ति हो जाए, जन्म-मरण का चक्कर छूट जाए, भव-भ्रमण का सिलसिला ही मिट जाए।

प्रथम तो शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान को जान पाना ही दुरूह है। जान भी गए तो क्या ? जब तक हमारे ध्यान का ध्रुवीकरण शरीर पर रहेगा, हमारे सभी कार्य शरीर के लिए ही होंगे। और तो और हमारा धर्म भी शरीर-केन्द्रित होगा तो उस जानकारी का कोई लाभ मिलने वाला नहीं। इस भेद-विज्ञान का लाभ प्राप्त करने के लिए चाहिए धर्म की जानकारी, धर्म-तत्त्वों का मौलिक ज्ञान, हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक। यह विवेक, यह ज्ञान मिलता है हमें परम पूज्य गुरुदेवों से। गुरुदेव भी डॉक्टर हैं—शरीर के नहीं, आत्मा के। वे आत्मा की रुग्णता को जाचते हैं, उसमें घुसे हुए कर्म-कीटाणुओं की जांच करते हैं, उन्हें हटाने के लिए आध्यात्मिक चिकित्सा भी करते हैं।

पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. के शरीर की चिकित्सा एवं उनके अनेक सन्त-मुनिराजों की शारीरिक चिकित्सा के सम्बन्ध में मेरा संपर्क आप-श्री से बना और बढ़ता ही गया। आपके दिव्य व्यक्तित्व ने मुझे आकर्षित किया, आपके ज्ञान की चुम्बकीय तरंगों ने मुझे अपनी ओर खींचा। यह सही है कि एक डॉक्टर को इन सब बातों के लिए बहुत कम समय मिल पाता है पर. यह भी सही है कि कई बार थोड़े समय का थोड़ा-सा सम्पर्क भी अपना महत् प्रभाव दिखा जाता है। मैं (शारीरिक-चिकित्सक) आप-श्री की शरीर-सम्बन्धी चिकित्सा करते-करते स्वयं अपनी चिकित्सा करवाने के लिए प्रयत्नशील बनने लगा और आचार्य-प्रवर बने मेरे सुचिकित्सक। आप समझ ही गए होंगे कि मेरी सुप्तात्मा ने करवट ली, रुग्ण-आत्मा रोग को पहचानने लगी और मैं आप-श्री के सम्पर्क से अपनी आत्मा के रोगों को नष्ट करने के लिए उपाय ज्ञात करने में रुचि लेने लगा।

आप-श्री के पास हजारों नर-नारी श्रद्धालु-भक्त आते हैं। मैं समझता था कि उनका आना, दर्शन करना, उपदेश सुनना यह सब एक परम्परा है, लीक है, परिपाटी है अथवा हो सकता है आडम्बर ही हो पर अब मुझे लगा कि ये भी आत्मरोगी हैं और आत्म-रोग के निदान के लिए आते हैं। आचार्य-श्री की उत्कृष्ट ज्ञान-साधना एवं सुदीर्घ संयम-आराधना ही इनकी वह डिग्री है जो इन्हें आत्म-रोग-विशेषज्ञ की उपाधि से विभूषित करती है।

एक डॉक्टर के रूप में आपकी जिस विशेषता को, व्यक्तित्व के जिस विशिष्ट गुण को, लोक-कल्याण की जिस विधा को मैंने आप में पाया, मेरी लेखनी ने उस अनुभव का एक संक्षिप्त विन्दु आपके समक्ष रखा है।

आत्म-कल्याण के पथिकों के लिए आप जैसा महान् आत्म-कल्याणक आत्म-चिकित्सा के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करे, मेरी यही मंगल-कामना है।

—रा. महात्मा गाँधी अस्पताल
जालोरी गेट, जोधपुर

नव-दृष्टि प्रदाता आचार्य-श्री

गौतम कुमार जैन

पूज्य-प्रवर आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. के सांनिध्य में एक लम्वी अवधि व्यतीत करने का सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिल पाया। वैसे वर्ष में दो-चार बार दर्शनार्थ अवश्य जाता रहा हूँ और आपकी गम्भीर वाणी का रसास्वादन भी करता रहा हूं।

गज़ब की है आपकी मौलिक चिन्तन-शैली और शैली को अभिव्यक्ति देने की अलौकिक क्षमता। जब-जब भी व्याख्यान-श्रवण का अवसर आया है, मैंने अपने अन्तर में अपूर्व शांति एवं उल्लास का अनुभव किया है।

सत्य कड़ुवा है, लेकिन व्यक्त करने की आपकी कला सहज ही उस कड़ुए सत्य को भी गले उतार देती है। आचार्य श्री की वक्तृत्व-कला श्रोताओं को अभिभूत कर चिन्तन के लिए मजबूर कर देती है। आपका प्रत्येक व्याख्यान जैन दर्शन-सम्मत होता है। आपकी सादगी, शीतलता, मृदु-भाषिता के कारण ही अन्य धर्मावलम्बी भी आपके प्रशंसक हैं।

प्रभात की वेला! महिलाबाग जैन स्थानक जोधपुर में अपार जन-समुदाय! आँखें अश्रु-पूरित! आचार्य-श्री के परम-शिष्य मुनि श्री नूतनचंद्र जी म. सा. का आकस्मिक निधन! मैं भी अपने दुर्निवार अश्रु नहीं रोक पाया। आचार्य श्री के पास बैठा। सिसकियाँ छिप नहीं सकीं। आचार्य-श्री की मृदुवाणी ने नीरवता भंग की। कहा उन्होंने— "गौतम जी! यह रुदन क्यों?" मैं क्या बोलता? मेरे पास अभि-व्यक्ति के लिए शब्द नहीं थे।

गुरुदेव ने संयत होने की प्रेरणा देते हुए कहा—अरे! होनी को तो होना ही था। आप और हम सब एक दिन इसी राह के पथिक होंगे। मुनि नूतन गया, लेकिन हमें जो प्रकाश दे गया है—युगों-युगों तक आने वाले भविजन को प्रेरणा देता रहेगा। अल्पवय में वह जितना कुछ कर गया है, वास्तव में अनुकरणीय है। विधि को यही मंजूर था, कोई भी शक्ति इस विधि को टाल नहीं सकती—फिर यह रुदन कैसा? दु:ख एवं सुख जीवन के दो पहलू हैं। दोनों में समभाव रखने वाला ही वास्तव मे मानव कहलाने का अधिकारी है। अपनी अन्तश्चेतना को गति दो। सोचो, समझो—क्या हम अनेक
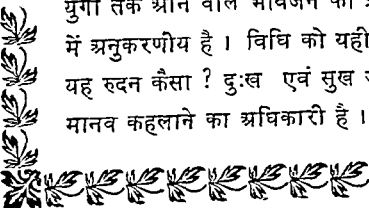
यत्न करने पर भी उन्हें रोक सके ? चिकित्सक, औषधियां या अन्य किसी प्रकार की कोई कमी थी ? नहीं, लेकिन उसे जाना था—चला गया ।

मास्टर जी, अपने आंसुओं को विराम दो और साधक नूतन मुनि द्वारा इंगित ज्ञान के प्रकाश में अपने लक्ष्य व कर्त्तव्य के प्रति सजग रहो । सब शुभ होगा ।

केवल तीन मिनट मे ही विचारों को नई दृष्टि मिल गई थी । समय का अभाव था... मैंने श्रद्धा से सर झुकाया और उस अपार जन-समूह में सम्मिलित हो गया, जो मुनि श्री नूतनचन्द्र जी के अन्तिम-संस्कार हेतु श्मशान-घाट की ओर उमड़ रहा था । अश्रु थम गए थे और मुनि श्री नूतन का पार्थिव शरीर महायात्रा के लिए प्रयाण कर रहा था ।

आज भी जब खाली क्षणों में सोचता हूँ तो पाता हूँ—आचार्य श्री के समान समभावी सद्विचारक, धैर्यवान् एवं आत्मबली सत्पुरुष विरले ही दृष्टिगत होते हैं ।

—प्रधानाध्यापक : रा. उ. प्रा. विद्यालय
कुचेरा (नागौर) राज.

आचार्य जीत : गुण-गीत

आओ झाँकी तुम्हें दिखाएँ, गुणियों के गुणगान की ।
इन चरणों में नमन करो, यहाँ बहती गंगा ज्ञान की ।।
ये प्यारे हैं 'जीतमुनि जी' जीत-पताका फहराते ।
जयमल-गच्छ का सुयश-नगारा, घहर-घहर है घहराते ।
पंचाचारी आठ संपदा, आप लिए आचार्य हैं ।
महामहिम हैं गुण-गरिमा के, सदा कार्य स्वीकार्य हैं ।
गादी आप सुशोभित करते, नौवें गच्छ प्रधान की.... ।।
एक यहाँ आश्चर्य हमें कि तन निर्बल मन सबल बड़ा ।
दृढ़ निश्चय संकल्प अडिग ज्यों, मानो सुमेरु यहाँ खड़ा ।
सागर-सा विस्तार लिए हैं, हृदय बड़ा गंभीर है ।
इरिया-शोधित चलना मानो, बहता मन्द समीर है ।
वज्र हृदय पर फूल सुकोमल, उपमा है उपमान की.... ।।

—पं. मुनीन्द्रकुमार जैन

सुप्रसिद्ध ज्योतिष-विज्ञ आचार्य श्री

जैन साध्वी प्रतिभा जी

वन्दनीय है साधना, वन्दनीय है ज्ञान !
आत्म-साधना से सदा, मानव बना महान !!

हमारा देश आत्म-साधना के साधकों की पवित्र भूमि है, आध्यात्मिक ज्ञानियों के ज्ञान-रूप आलोक से आलोकित ज्योतिर्मान-धरा है, त्यागी-वैरागी सन्त-महात्माओं के तप-त्याग की गौरव-गरिमा-पूर्ण पुण्य-स्थली है। धर्म-प्रचारकों, समाज-सुधारकों, दर्शन-शास्त्र के मनीषी चिन्तकों, अद्वितीय-विद्वानों एवं इसी तरह की अनेक विभूतियों की एक लम्बी श्रृंखला इस देश की धरोहर है, जिनके निर्मल यश की रश्मियाँ जाति, समाज और राष्ट्र के घेरे से निकल कर विश्व के सुदूर राष्ट्रों तक, भूखण्डों तक, दिग्दिगंत में व्याप्त हुई हैं।

वर्तमान युग में एक ऐसे ही दिव्य सन्त हैं—**आचार्य श्री जीतमल म.सा.**, जिनका जीवन अनेकानेक गुणों, विशेषताओं, व्यक्तित्व-विन्दुओं का संगम है। आप समाज-सुधारक हैं, ज्योतिष-विज्ञ हैं, वचन-सिद्ध हैं, मित-मृदु-भाषी हैं, महान् आत्मवली हैं और हैं असाधारण प्रतिभा के धनी।

आपका व्यक्तित्व हिमाच्छादित हिमालय-सा शुभ्र और सुरसरी भागीरथी के समान निर्मल है, सचेतन गुलाव-सा सुगंधित और तरंगित विद्युत-सा कलात्मक है, दिवाकर की रश्मियों-सा दीप्त एवं निशापति सुधांशु-सा शांत-शीतल है। आप ज्ञान के सागर, गुणों के आगर, वाणी के जादूगर एवं सत्य-धर्म के प्रचारक हैं।

आप एक अच्छे वक्ता तो हैं ही, आपकी गायन-कला भी अद्वितीय है। कुचेरा-चातुर्मास (संवत् २०२८) में आपका सुमधुर-कण्ठ से चौपाई-वाचन श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध करने वाला था। अपनी जन्म-दात्री जननी के संग मैं प्रतिदिन आपके सरस-वाचन का रसास्वादन करने जाती थी। कभी किसी कार्यवश नहीं भी जा पाती तो दर्शनार्थ जव भी जाना होता, पूछ लेती आपसे और आप भी सहज-भाव से पुनः दोहरा देते ! कितनी सरलता, कितनी सहजता, कितनी मधुरता !

मुझे अब भी याद है, कुचेरा में जब आप विराज रहे थे, श्रद्धालु-भक्त नित्य दर्शनार्थ एवं प्रवचन-श्रवणार्थ जाते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि स्वयं-मन-मन्दिर के आराध्य गुरु-भगवन् भक्त के द्वार पर चले जाते। यह तब होता जब कोई भक्त नित्य की तरह स्थानक न जा पाता। आप उसकी देहरी पर पहुँच जाते और स्निग्ध-वाणी से सुधारस बरसाते हुए पूछ बैठते—क्या बात है, आज क्यों नहीं आना हुआ ?

आपकी वचन-सिद्धि एवं ज्योतिष-विषयक अधिकाधिक जानकारी के विषय में सम्पूर्ण जैन समाज परिचित है। जब कभी आप से मैं नया पाठ सीखने एवं याद करने के लिए मुहूर्त पूछती तो कभी आप बताते, कभी टाल जाते और कभी सहज भाव से कहते— 'अब तो तुम्हें अपनी दीक्षा का मुहूर्त पूछना चाहिए, बताओ कब निकलवा रही हो दीक्षा का शुभ मुहूर्त ?" मैं तब हंस कर कहती— "अभी नहीं गुरुदेव, फिर कभी। अभी तो ऐसा कोई विचार नहीं बना है।"

पर, आपका दीक्षा के लिए वह सहज रूपेण पूछना वास्तव में यथार्थ बन गया। वचन-सिद्ध पुरुष का वचन भला खाली कैसे जाता ? एक दिन मेरी दीक्षा का मुहूर्त भी निकल ही गया।

ये कुछ जीवन-प्रसंग हैं. मेरी अनुभव-पुस्तिका के; जिनका सीधा सम्बन्ध आपके व्यक्तित्व से है।

अप्रमत्त भाव से साधना-पथ पर सतत गतिशील इस दिव्य विभूति की 'हीरक जन्म-जयन्ती' एवं 'दीक्षा स्वर्ण-जयंती' के समाचार सुनकर मेरा रोम-रोम हर्षोल्लसित है, आनन्दित है, प्रमुदित है। प्रसन्नता से भी परे जो प्रसन्नतातिरेक है वह यह जानकर कि आपके 'अभिनन्दन-समारोह' के पुण्य-आयोजन का सौभाग्य मिला है, मारवाड़ की परम पावन पुण्य-स्थली **'कुचेरा'** को। वही कुचेरा, जहाँ स्वामी जी श्री रावतमल जी म. सा ने सुदीर्घ अवधि तक स्थिरवास कर धर्म की अखण्ड ज्योति जागृत की। वही कुचेरा, जहाँ स्वामी श्री हजारीमल जी म. सा. ने अपने संयम-जीवन के १४ अमूल्य चातुर्मास कर इसे आध्यात्मिक स्थली का रूप प्रदान किया। वही कुचेरा, जहाँ ज्ञान-प्रतिभा के अमर धनी तरुण-मुनि स्व. श्री नूतनचन्द्र जी महाराज ने दीक्षा-ग्रहण की। और अब एक साधारण-सी बात और.............. वही कुचेरा, जहाँ इन पंक्तियों की लेखिका ने यह नश्वर शरीर धारण किया। मैं इस भौतिक शरीर से उस स्वर्णिम अवसर पर उपस्थित नहीं हो पाऊंगी, पर २३ व २४ जून १९८६ की उन घड़ियों में मेरा मन कल्पना के पंखों पर बैठा 'अभिनन्दन-समारोह' के मण्डप के आसपास ही मंडरा रहा होगा।

पूज्य आचार्य-प्रवर के इस हीरक-स्वर्ण से अनन्तगुने महत्त्वपूर्ण अवसर पर अंतस्तल की असीम गहराइयों से प्रेषित कर रही हूं—

विनीत वंदन !

श्रद्धायुत नमन !!

हृदय की समस्त भावनाओं सहित अभिनन्दन, अभिनन्दन !!!

— शिष्य : अ. यो. श्री उमरावकुंवर जी म. सा.

जैन साध्वी प्रतिभा जी
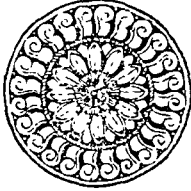
कृश-काया में विराट् व्यक्तित्व

पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल

आचार्य श्री जीतमल जी महाराज के सम्बन्ध में किसी भी लेखक के लिए कुछ लिखना कठिन है, क्योंकि उनकी साधना बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है। अपने दीर्घ साधना-काल में उन्होंने कभी प्रकाश में आने का प्रयास नहीं किया। कीर्ति-ख्याति या प्रसिद्धि प्राप्त करने के हेतु कोई उपक्रम नहीं किया। तथापि सन्त का जीवन ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसकी सहज स्फुरित वाणी और संयत-व्यवहार से अनायास ही लोकहित के अनेकों कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। आचार्य-श्री की इसी कोटि के सन्तों में परिगणना की जा सकती है। आचार्य-पद संघ के प्रति विशिष्ट उत्तरदायित्व का पद है। संघ के संचालन का तथा उसके सभी (चारों) अंग अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र के समुचित विकास की दिशा में अग्रसर होते रहें, इस ओर सावधानी रखने का दायित्व आचार्य पर होता है। इस दायित्व को निभाने के लिए आचार्य अपनी वैयक्तिक साधना में व्यवधान पड़ने पर भी संघ के अभ्युदय के लिए अनेकानेक बाह्य प्रवृत्तियाँ करते हैं, क्योंकि व्यक्तिगत आत्म-साधना के साथ संघ-शासन का उत्कर्ष भी कम महत्त्व की बात नहीं है। इस दायित्व का निर्वाह करते हुए भी आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी महाराज के विषय में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनके जीवन का रुझान मुख्यतः आन्तरिक है। वे बहिर्मुखी कम और अन्तर्मुखी ही अधिक हैं, आपके साधक-जीवन की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है। बाह्य प्रेरणा की अपेक्षा साधक के जीवन-व्यवहार से अनायास जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह कदाचित् अधिक बलवती होती है, अधिक स्थायी और गहरी होती है। वह दिल और दिमाग तक पहुँच कर ही नहीं रह जाती, अपितु अन्तरात्मा को स्पर्श और प्रभावित करती है। यही कारण है कि आचार्य-श्री का सान्निध्य जन-जन को प्रभावित किए बिना नहीं रहता।

अपनी इस अन्तर्मुखी सहज-वृत्ति के कारण ही आप मित-भाषी हैं। सन्त की विशेषताओं में परिमित-भाषण भी एक प्रमुख विशेषता है। आप भक्त-जनों के घेरे में निष्प्रयोजन व्यावहारिक वार्तालाप से प्रायः बचते हैं। जितने भाषण से अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जाए, उतना ही भाषण करते हैं।

परिमित-भाषण की प्रकृति के अतिरिक्त जो गुण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, वह है आपकी स्वाध्याय-निष्ठा। सन्त के लिए आगमों में ध्यान और स्वाध्याय में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने

का विधान है। आचार्य-श्री की साधना का 'स्वाध्याय' एक मुख्य अंग है। व्यावर में अथवा अन्यत्र जब कभी मुझे आपके समक्ष जाने का अवसर प्राप्त हुआ, आपके हाथों में कोई-न-कोई आगम अथवा ग्रन्थ देखने को मिला और आपकी दृष्टि उसमें गड़ी पाई। इस प्रकार आपका अधिकांश समय व्यावहारिक वार्तालाप के बदले स्वाध्याय में व्यतीत होता है।

अपनी आत्म-साधना में सजग रहते हुए भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में आप शासन के उत्कर्ष के प्रति निरपेक्ष नहीं हैं। शासन के उत्कर्ष के लिए आपके मार्गदर्शन में अनेक उपयोगी कार्य हो रहे हैं। आपका विहार-क्षेत्र भी काफी विशाल रहा है।

संक्षेप में, आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज पुरातन परम्परा के प्रतीक सन्त हैं। सौम्य, प्रशान्त, सरल-हृदय, उच्च कोटि की विद्वत्ता से विभूषित, निरहंकारी और क्रियापरायण हैं। अपनी कृश काया में विराट् व्यक्तित्व को समाहित किए हुए हैं।

दीक्षा-अर्द्धशताब्दी के इस पावन अवसर पर हम आप-श्री का शत-शत अभिनन्दन करते हैं और करते हैं आपके दीर्घायुष्य की आन्तरिक कामना।

—व्यावर-३०५९०१

आचार्य जीत : गुण-गीत

रत्नत्रय के आराधक बन. बने आज आराध्य अहो
जीतमुनि आचार्य हमारे, साधक भी हैं साध्य अहो
गुण-रत्नाकर ऐसे हैं जो, जिनके गुण का पार नहीं
पावन धारा जिनवाणी की, बन बैठी साकार यहीं ।।

नील गगन का अंत कहाँ है, वह अनन्त कहलाता है
संत कभी भी क्या सीमा में, सीमित बन रह पाता है
'लूणसरा' में जन्मा बालक, विश्व-पूज्य बन पूजित है
पावन श्रद्धा भक्तजनों की, सादर सदा समर्पित है ।।

—पं. मुनींद्रकुमार जैन

आशावादी और धैर्यवान्

वैद्य संपतराज मेहता 'आयुर्वेदाचार्य'

परम पूज्य आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज वास्तव में एक आशावादी और धैर्यवान् संत हैं। मुझे आपके दर्शन, शारीरिक-स्वास्थ्य-परीक्षण व चिकित्सा का अनेकों बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है। शरीर से कृश होते हुए भी आप में नैतिक बल का अखूट भण्डार है। शरीर में स्वाभाविक रूप से रोग-प्रतिरोध की क्षमता विद्यमान है। वृद्धावस्था के कारण सामान्यरूप से दुर्बलता का होना तथा सामान्य रोग के यदा-कदा लक्षण प्रकट हो जाना कोई बडी बात नहीं है। मानसिक रूप से आप हमेशा क्रियाशील रहते हैं। आपका मन सदैव आत्म-चिन्तन, साहित्य-लेखन, धर्मोपदेश और सन्मार्ग-दर्शन में मगन रहता है। आपका शुभ मन्तव्य है कि चाहे कैसा भी कठिन कार्य हो तथा कैसी भी विपत्ति क्यों न हो, अपने मन से आशा और धैर्य के भाव को नहीं त्यागना चाहिए। आशा व धैर्य के साथ कार्य-रत रहने से सफलता सुनिश्चित है। आपके हर विचार और कार्यों में आशा और धैर्य की झलक मिलती है। कई बार कोई रोग के लक्षण प्रकट होने के बाद मेरे द्वारा समय पर नहीं पहुँचने पर तथा आपको समय पर औषधी न मिलने पर भी आप में किसी प्रकार की घबराहट प्रतीत नहीं हुई है तथा न कभी आपके चेहरे पर क्रोध के भाव प्रकट हुए हैं। रोग को सहन करने की क्षमता आप में विद्यमान है। आयुर्वेदिक-औषधि-चिकित्सा में आपका पूर्ण विश्वास है। आपका कथन है कि जो प्राणी जिस देश में जन्मे हैं उसी देश में उत्पन्न औषधियां उन प्राणियों के लिए अधिक हितकारी हैं। जैसे आयुर्वेदिक या देशी औषधी भारतवासियों के लिए हितकारी है। आपका मानना है कि आवश्यकता पड़ने पर ही एवं उचित मात्रा में ही औषधी का प्रयोग करना चाहिए, जिससे रोग जल्दी ठीक हो जाए। दौर्बल्य और अति मानसिक परिश्रम के कारण आप में यदा-कदा अशक्ति व सामयिक जरा-जन्य रोग के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं, जो आयुर्वेदिक औषधी से तुरन्त ठीक हो जाते हैं। कई बार मैंने यह अनुभव किया है कि अपनी आत्म-शक्ति के प्रभाव से आचार्य श्री स्वतः छुट-पुट रोगों को ठीक कर लेते हैं। मैं अपनी ओर से ईश्वर से कामना करता हूँ कि आपका स्वास्थ्य निरन्तर उत्तम बना रहे और हमें ज्ञान रूपी इस प्रकाश-स्तम्भ से निरन्तर प्रकाश मिलता रहे।

—कोठारी भवन,
चौथी-बी रोड, सरदारपुरा
जोधपुर (राज.)
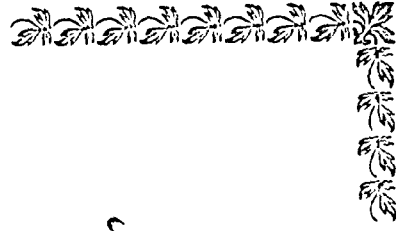
आचार्य-प्रवर एक सच्चे प्रचारक

डॉ. इन्दरमल खीचा

तमनाशी दीपक शिखा, उगले पंक कलंक ।
कलुष रहित तापस सुजन, निर्मल शील निशंक ।।

वस्तुतः सत् पुरुषों का जीवन समग्र मानवता के लिए प्रेरणा-स्रोत होता है । वे स्वयं के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से अपने चहुँमुखी जन-समाज को बहुविध उत्प्रेरित करते रहते हैं । ऐसा व्यक्तित्व सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं सुप्रतिष्ठित होता है जो अपने महामानवों, पूर्वाचार्यों, सर्वज्ञों व युगप्रवर्तकों से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उनके चरण-चिन्हों पर सतत चलने का प्रयास करता है तथा अपने अनुयायियों का भी मार्गदर्शन करता रहता है ।

ऐसे ही एक व्यक्तित्व के अभिनन्दन की यहाँ संक्षिप्त चर्चा है । श्रीमज्जैनाचार्य, पूज्य श्री जयमल्ल जी महाराज के नवम पट्टधर आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा एक मनीषी संत हैं । आप वयोवृद्ध होने के साथ-साथ ज्ञानवृद्ध भी हैं ।

ज्ञान, जीवन का सारभूत एवं उपादेय तत्त्व है । वह प्रचार, प्रसार व विस्तार की अपेक्षा रखता है । ज्ञानी सन्त तमनाशी दीपशिखा की तरह चिन्तनधारा को तथा चिन्तनधारा से प्रभावित जनमानस की प्रवृत्ति को आगे ले जाने का कार्य करते हैं तथा अपने युग की मानवीय एवं आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को स्थायित्व प्रदान करते हैं । ऐसा ही प्रयास अभिनंदन-योग्य आचार्य-प्रवर का है । आपकी प्रेरणा एवं मार्गदर्शन में प्रकाशित होने वाले ग्रंथ यथा "प्रवचन पीयूष-कलश", "पूनम का चाँद", "रसधारा", "जैनधर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" आदि-आदि एवं सतत प्रकाशित होने वाला मासिक-पत्र 'जयगुंजार' इसके जीते-जागते प्रतीक हैं ।

आपकी उद्भावनाओं में एक ओर जहाँ धारण-योग्य 'धर्म' के प्रति अटूट श्रद्धा है तो दूसरी ओर 'घेरे' को 'घर' मानने अथवा 'असीम' को सीमित करने के खतरे के प्रति स्पष्ट शब्दों में सतर्क चेतावनी भी है यथा—

धर्म एक ही जगत में,
तारन - तरनि - समान ।
भव - सागर से पार हो,
धरे धर्म का ध्यान ।।

आचार्य श्री जीतमल जी म. सा.

घेरे को घर समझ के,
क्यों रहते हो आप ।
असीम को सीमित बना,
रखना भी है पाप ।।

उपाध्याय श्री लालचन्द्र जी म. सा.

आज विश्व में जहाँ प्रेम एवं सद्भाव की गंगा सूखी जा रही है, अभय एवं मैत्री का उपवन मुरझा रहा है, छल-प्रपंच-धोखाधड़ी-शक्ति एवं सैन्यबल का निरन्तर विस्तार हो रहा है, भयानक शस्त्रास्त्रों का भंडार अपनी अति पर है, संसार युद्ध एवं विनाश के कगार पर खड़ा है, व्यक्ति-समाज एवं राष्ट्र आज परस्पर अविश्वास-भय एवं आशंकाओं से उत्पीड़ित है—ऐसे समय में आचार्यप्रवर का सन्देश कोटि-कोटि जन-समाज में आशा एवं विश्वास की भावनाओं का संचार करने वाला है तथा सच्चे सहायक के रूप में काम आने वाला है। आपका यह दृढ़ विश्वास है कि प्राप्त परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसका सदुपयोग करने में ही शाश्वत-हित निहित है। मानव-जीवन सुख-दुःख के सदुपयोग के लिए मिला है। सुख का सदुपयोग व्यक्ति की उदारता एवं दुःख का सदुपयोग त्याग की भावना में समाहित है।

संसार में जो दुःख और हाहाकार है, वह इतना प्रकृतिदत्त न होकर मनुष्यकृत अधिक है अर्थात् मनुष्य पर मनुष्य द्वारा ही लादा हुआ है। ऐसी स्थिति में हृदय की उदारता, विशालता, विराटता और अपने पार्श्ववर्ती समाज के प्रति अपनत्व की भावना ही हमारे अपने अस्तित्व को सही एवं सच्चा संरक्षण प्रदान कर सकती है। इसके अभाव में अविश्वास, अशांति एवं विनाश को ही बढ़ावा मिलता है।

श्रमण भगवान् महावीर के ढाई हजार वर्ष पूर्व के इस सन्देश में आचार्य-प्रवर की अटूट एवं असीम श्रद्धा व आस्था है कि—

व्यक्ति को स्वसीमा में सन्तुष्ट रहना चाहिए—पर की सीमा में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए अर्थात् दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना व येन-केन-प्रकारेण उन्हें पाने का दुःसाहस करना—'स्व' से बाहर फैलना है—दूसरे के अधिकारों में अनुचित गति करना है। अपरिग्रहव्रत 'स्व' में सीमित रहने की शिक्षा है। आवश्यकता से अधिक अमर्यादित सुख एवं सामग्री का संग्रह करना जैन संस्कृति में चोरी के समान है। अहिंसा का बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढा जा सकता है। संक्षेप में अहिंसा एवं अपरिग्रह इस दृष्टि से पर्यायवाची कहे जा सकते हैं। मानव की सबसे बडी भूल यह है कि वह (१) दूसरों के कर्त्तव्यों को अपना अधिकार, (२) दूसरों की उदारता को अपना गुण व (३) दूसरों की

निर्बलता को अपना बल मानने लगता है। आवश्यकता दृष्टि-परिवर्तन की है जिसके लिए आचार्य-प्रवर एक सच्चे प्रचारक की भूमिका का निर्वाह करते रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में—

"तनिक भी जिसके नहीं स्वार्थ हो,
सकल कार्य स्वदेश-हितार्थ हो।
स्ववश जो रहता जन नित्य ही,
सच प्रचारक है जग में वही॥"

आचार्यप्रवर के विचारों को पूर्ण रूपेण यहाँ उद्धृत करना इतना सरल नहीं है। स्थान, समय व क्षमता की सीमाएँ सामने हैं।

आचार्य-श्री का स्वास्थ्य लम्बे समय से ठीक नहीं रहता। पैर में फ्रेक्चर के कारण तो चलना-फिरना भी कठिन हो गया है किन्तु आपके आत्मबल व मनोबल में कहीं ह्रास दृष्टिगोचर नहीं होता। श्री नूतनमुनि जी के आकस्मिक एवं असामयिक स्वर्गवास का आघात निःसन्देह असह्य था किन्तु मनोभावों पर उसकी भी अभिव्यक्ति आपने आने नहीं दी। काया कृश, पर आत्मबल कितना दीप्त ! कितना धैर्य, कितनी सहनशक्ति !! तभी तो आपका उत्कृष्ट साधक-जीवन जन-जन के लिए वंदनीय, अभिनन्दनीय बना हुआ है।

—खीचा निवास
१३ सनातन धर्म स्कूल-मार्ग
ब्यावर—३०५९०१

आचार्य-जीत : गुण-गीत

आचार्य-प्रवर श्री जीतमुनि को, भाव-सहित नित वंदन हो।
सद्गुरु को वंदन करने से, तेरे शिथिल सदा भव-बंधन हो॥

गुण-सागर ज्ञान उजागर हैं, और धर्म-दिवाकर यशधारी।
चारित्र प्रवर आचार सबल, प्रतिपल चिंतन इनका भारी।
तपपूत बने अवधूत बने, इस योगी का अभिनंदन हो ·····॥

डॉ. इन्दरमल खीचा

अमोघ शांति के दाता

रिखबराज कर्णावट 'एडवोकेट'

आचार्य श्री १००८ श्री जीतमल जी महाराज यथा नाम तथा गुण के धनी हैं। आपके दर्शन से एक अमोघ शान्ति का अनुभव होता है। आप अत्यन्त सौम्य, शान्त, सरल और निरभिमानी व्यक्ति हैं। वार्तालाप में भी यह प्रकट नहीं होता कि आप एक संघ के आचार्य हैं, अपनी विद्वत्ता की झांकी तक भी वार्तालाप में नहीं आने देते, जबकि संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं। स्थानक-वासी सम्प्रदाय के उन सन्तों में, जो संस्कृत-प्राकृत भाषा के विशेषज्ञ हैं, आपका प्रमुख स्थान है। चतुर्विध संघ के प्रति आदर का भाव रखने वाले आचार्य श्री के प्रति चतुर्विध संघ का भी पूर्ण रूपेण समर्पित श्रद्धा-भाव है। आचार्य-श्री ने शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान को बखूबी हृदयंगम किया है। शरीर की अस्वस्थता, वृद्धावस्था व कूल्हे की हड्डी टूट जाने का उनको गम नहीं है। आप उन सत्पुरुषों में हैं जिनको इस लोक में सुख-सुविधा की वांछा नहीं है, परलोक में स्वर्ग-सुख पाने की इच्छा नहीं है, न इस लोक में जीने की इच्छा है और न मरने की इच्छा। इस तरह से केवल मोक्ष की तरफ लक्ष्य रखने वाले आचार्य-श्री के प्रति शत-शत अभिनन्दन! आपके ज्ञान-ध्यान का प्रकाश दीर्घ काल तक हमें (जन-जन को) मिलता रहे, यही कामना है।

—जोधपुर (राज.)

आचार्य-जीत : गुण-गीत

ये शांत परम हैं दांत सदा, इन्द्रिय के विषय निवारी हैं।
जिनवाणी के उद्गाता और, समता के आप पुजारी हैं।
इनके चरणों में रमने से माटी के पुतले कंचन हो ...... ।।
आचार्य-प्रवर श्री जीतमुनि को, भाव-सहित नित वंदन हो।

संस्कारों की दृढ़ता

जोधराज सुराणा

संस्कार चाहे पूर्व जन्म के हों या वर्तमान के, व्यक्ति के साथ में अवश्य रहते हैं। संस्कारों की यह दुनिया बडी अनूठी है। संस्कारों से ही आदमी बनता है और संस्कारों से ही बिगड़ता है। साधु-सन्तों की सेवा और उनके सान्निध्य के कारण धर्म-संस्कारों में पलता-बढ़ता अब मैं उस अवस्था तक आ पहुँचा हूँ, जिसमें शारीरिक-मानसिक शिथिलता व्यक्ति को आ घेरती है फिर भी मेरे संस्कारों में शिथिलता नहीं आई है और दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी हुई है।

मेरे पूज्य पिताजी धार्मिक वृत्ति के थे, श्रद्धा और भक्ति से उनका जीवन ओतप्रोत था। मुझे धार्मिक संस्कार उनसे ही पैतृक धरोहर के रूप में मिले हैं। बाल्यावस्था में सुप्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमल जी म. सा. के सम्पर्क से मुझे विशेष लाभ प्राप्त हुआ और तभी से मेरे संस्कार सुदृढ़ बनते गए।

आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. एवं अन्यान्य जैनाचार्यो तथा विद्वान् संत-सती-वर्ग के अति निकट सम्पर्क से और उनके साहित्य-स्वाध्याय एवं समता-दर्शन से भी मेरे संस्कारों में सुदृढ़ता आती गई है।

प्रारम्भ से ही मेरा कार्य-क्षेत्र सार्वजनिक रहा है। गृहपति, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता एवं जैन कॉन्फ्रेन्स आदि कुछ संस्थाओं से सम्बन्धित होने के कारण मैंने समाज की कई विचारधाराएँ गहराई से जानी और विशाल दृष्टिकोण से उन्हें समझने का प्रयास किया, जिससे समय-समय पर मुझे अपना अभिमत प्रकट करने का भी अवसर प्राप्त होता रहा।

'जीत-अभिनन्दन-ग्रंथ' के लिए दो शब्द लिखने बैठा हूँ तो ७० वर्षो का स्थानकवासी समाज का इतिहास मेरे मानस-पटल पर उभर आया है। त्यागी-तपस्वी, शान्ति की प्रतिमूर्ति, गम्भीर-मानस के सन्त-रत्न पूज्य श्री चाँदमल जी म. सा. के बैंगलोर (चिकपेट) के संवत् २०२४ के ऐतिहासिक चातुर्मास के मंगल-प्रसंग पर संघ के मन्त्री के नाते मुझे वर्तमान आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. के अति निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय पूज्य श्री जीतमल जी म. सा. और पंडितरत्न श्री

लालचन्द जी म. सा. के सांस्कृतिक और धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त भाषा के साथ शब्दों का तालमेल एवं उनके पाण्डित्य-दर्शन का भी अवसर मिला था।

उसी चातुर्मास के समय पूज्य मुनिराज श्री की प्रेरणा से बेंगलोर में 'श्री सुवाबाई जैनधर्म-प्रचारक-प्रशिक्षण-केन्द्र' की स्थापना हुई थी, जो आज भी उनके स्मृति-चिह्न के रूप में विद्यमान है, गतिमान है।

बेंगलोर-चातुर्मास के अठारह वर्षों बाद १९८४ में मुझे फिर आचार्य श्री जीतमल जी म.सा. के रायपुर (मारवाड़) में दर्शन करने और दो-तीन दिन तक उनकी सेवा करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। उस समय मैंने आचार्य-श्री के गवेषणात्मक आगम-साहित्य को पढ़ा तो सहसा मेरे दिल में यह भावना जागृत हुई कि अगर सभी आचार्य मिल कर एक समाचारी के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करलें एवं स्नेह का स्रोत बहावें तो समाज के एक सूत्र में बंधने का बहुत बडा कार्य सम्पन्न हो सकता है।

'जीत-अभिनन्दन-ग्रन्थ' के अवसर पर मैं अपनी हार्दिक शुभकामना व्यक्त करता हुआ वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि एकता के इस युग में सभी आचार्य मिलकर, एक होकर संघ की सुख-शांति और आगे बढावें तथा मानव-मात्र के हृदय को जीतें।

वर्तमान पीढ़ी अच्छे संस्कार वाली बने और समाज एकता के सूत्र में बंधे—मेरी यही कामना है।

—८७ विक्टोरिया ले आउट
बेंगलोर

आचार्य-प्रवर एक वचन-सिद्ध-संत

☐

डा. तेजसिंह गौड़

महापुरुषों का जीवन बड़ा ही विलक्षण होता है और साथ ही साथ रहस्यमय भी। महापुरुष अपनी साधना के द्वारा अनेक दुर्लभ-सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु सामान्य पुरुष उनकी इन विशिष्ट सिद्धियों और अद्भुत गुणों से अपरिचित ही रहते हैं। ऐसी ही सिद्धियों में वचन-सिद्धि भी एक दुर्लभ-सिद्धि है। जिसे भी यह सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उस महापुरुष द्वारा दिया गया आशीर्वाद सदैव फलीभूत होता है।

ज्ञान-योगी, चारित्र-चूड़ामणि, बाल-ब्रह्मचारी, आगम-मर्मज्ञ, तर्क मनीषी, काव्य-प्रेमी, जिन-शासन-प्रभावक, सरल-हृदय, शांत-स्वभावी, मृदुभाषी, मितभाषी, स्वाध्याय-प्रेमी, सतत-साधनारत श्री-मज्जैनाचार्य श्री १००८ श्री जीतमल जी म.सा. को भी 'वचनसिद्धि' प्राप्त है। आपकी वचन-सिद्धि का प्रमाण मैं स्वयं भी हूँ। बात सन् १९८० की है। उस समय आप-श्री ब्यावर में चातुर्मास व्यतीत कर रहे थे। इसी वर्ष मेरा स्थानान्तर उन्हेल से शाहगंज (जिला : सीहोर) हो गया। कुछ मित्रों के स्नेहिल सहयोग से मेरा स्थानान्तर निरस्त भी हो गया, यह मौखिक सूचना मुझे मिल गई। मैंने राहत की सांस ली। किन्तु लगभग एक माह से भी अधिक समय बीत जाने पर लिखित निरस्ती-आदेश प्राप्त नहीं हुआ। इधर मुझे कार्यमुक्त करने विषयक चर्चा भी चलने लगी। मैंने वरिष्ठ कार्यालय में तलाश करवाया तो पता चला कि वहाँ ऊपर से कोई आदेश नहीं आया है। मेरी बेचैनी और अधिक बढ़ गई। इसी बीच मेरे स्थान पर आने वाला व्यक्ति भी उपस्थित हो गया। अब मेरे पास कोई अन्य उपाय नहीं था। केवल मौखिक सूचना थी कि स्थानान्तर-आदेश निरस्त हो गया है। आदेश आ जाएगा।

अंततः मुझे उन्हेल से कार्यमुक्त कर दिया गया। शाहगंज जाने के लिए ६-७ दिन की अवधि मिली। मैंने इस अवधि में परम-श्रद्धेय आचार्य-श्री की सेवामें ब्यावर जाना श्रेयस्कर समझा और मैं ब्यावर जा पहुँचा। वंदनादि कर मैं आचार्य-श्री की सेवामें कुछ देर बैठा रहा। बातों ही बातों में मैंने अपनी परेशानी भी आप-श्री के सामने रख दी। उस समय आप मौन ही रहे।

दो-तीन दिन रुककर मैं ब्यावर से उज्जैन के लिए रवाना हुआ। रवाना होने के पूर्व आप-श्री की सेवा में वन्दन करने पहुँचा। वन्दन करने के पश्चात् मांगलिक श्रवण का लाभ लिया और तभी आप-श्री

ने फरमाया—"अपने स्थानान्तर आदि के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उज्जैन पहुँचने पर आपको संतोषप्रद सूचना मिल जाएगी, ऐसा प्रतीत होता है।" आप-श्री के ये वचन सुनते ही मुझे ऐसा लगा कि मेरी चिंताएँ समाप्त हो गई हैं। मैं प्रसन्न-मन व्यावर से उज्जैन के लिए रवाना हो गया।

दूसरे दिन प्रातः लगभग ग्यारह बजे मैं अपने घर पहुँचा, मेरी आवाज सुनते ही सबसे छोटा पुत्र स्व. अरविंदसिंह दौड़ कर बाहर आया। मुझे देखते ही कहने लगा—"पापा आ गए। पापा ! आपका आॅर्डर केंसल हो गया है। उन्हेल में भी आॅर्डर आ गया है।" मैंने जब यह शब्द सुने तो मुझे उसी क्षण परम श्रद्धेय आचार्य-श्री के शब्द स्मरण हो आए। मेरा मस्तक आप-श्री के प्रति श्रद्धा से वहीं झुक गया।

—उन्हेल (उज्जैन)

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जिनका मार्ग सदा-सदा ही, गुंजित है जयकारों से।
भूल न सकते कभी भक्तगण, उपकृत जो उपकारों से।
ऐसे जीतमुनि को सब को, भाव-वंदना प्रतिपल हो।
इन चरणों में भक्ति हमारी, अविचल हो और अविकल हो।।

ईर्या-शोधित मंद-गति जो, अप्रतिबद्ध विहारी है।
सुरभित सौरभ मय जो जीवन, निर्मल यश के धारी हैं।
सागर की गहराई का क्या, पार कहीं भी पाओगे।
सब पाओगे जीतमुनि में, विस्मित तुम बन जाओगे।।

—पं. मुनींद्रकुमार जैन

उपचार के लिए अस्पताल ले जाने की बात चली तो आपने फरमाया—"ऐसा हो क्या गया है मुझे, सामान्य उपचार से भी ठीक हो जाएगा, है तो फ्रेक्चर ही। अस्पताल जाने की मेरी इच्छा नहीं है।"

तुरन्त अस्थि-चिकित्सा के अनुभवी जानकार श्रीकिशन जी मोची को बुलाया गया। निदान हुआ, पट्टा बंधा। उपचार की प्रक्रिया हमेशा कष्ट-साध्य होती है, जिसमें भी टूटी-हड्डी की चिकित्सा तो विशेष कष्ट-प्रद है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" की कहावत को चरितार्थ करते हुए कितने ही दर्शनार्थी कितनी ही तरह की बातें करने लगे। एक ने कहा—अस्पताल में किसी विशेषज्ञ डॉक्टर को दिखा दीजिए, कोई कमी रह गई तो शेष उम्र में लंगड़ाते हुए चलना पड़ सकता है। गुरुदेव ने मुस्करा कर कहा कि कोई बात नहीं, इतने वर्ष बिना लंगड़ाए चल लिए, अब लंगड़ा कर ही चल लेंगे। "आप यह क्या फरमा रहे हैं, आपका तो कुछ नहीं पर हमें (आपके भक्तों को) कितना अटपटा लगेगा!"—एक अन्य श्रावक ने कहा। आचार्य-प्रवर के मुख पर वही सहज मुस्कान, बोले—"कुछ दिन देखेंगे फिर देखने के आदि हो जाएंगे तो अटपटाहट भी मिट जाएगी। यह असातावेदनीय कर्म का उदय है, इसे हाय-हाय करके (रो-रो करके) भोगें या हँसते-मुस्कराते-सहन करते; भोगना तो पड़ेगा ही। आर्तध्यान करते हुए भोगने से तो नए कर्म भी उपार्जित होंगे।"

आपका पैर अभी पूर्णतः स्वस्थ, गतिशील नहीं है पर आप-श्री इस अस्वस्थता में भी पूर्ण आत्म-लीन एवं लक्ष्य के प्रति सचेत हैं। आपकी आत्म-रमण-गतिशीलता में कोई ब्रेक (Break), कोई अड़चन, कोई रुकावट नहीं है।

ऐसे आत्मार्थी आचार्य-प्रवर, आत्म-बल ने धनी, जयसंघ के नवम पट्टधर गुरुदेव चिरायु हों, दीर्घायु हों, शत-शत वर्ष जीएँ और आपके मार्गदर्शन में यह जय-संघ, यह जैन समाज आत्मोन्मुखी बने, प्रगति-पथ पर बढ़े, इसी शुभ-भावना के साथ।

—अध्यक्ष

अ. भा. भूधर जैन सांस्कृतिक कला मंच

जोधपुर (राज.)

सागर वर गंभीरा

प्रकाशमल भंसाली

सागर की गहराई का नापना कहाँ संभव है ? ठीक वैसे ही सागर-सम आचार्य-भगवन् के जीवन पर, उनके व्यक्तित्व पर लिखना आसान कहाँ ? मेरा पूज्य-प्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी महाराज साहब के पावन-पवित्र पाद-पद्मों में गत चार वर्षो से विशेष आना-जाना है। इस अवधि में उनकी अनेक घटनाओं से मेरा हृदय प्रभावित भी हुआ है और प्रकाशित भी। सागर विशाल होता है, गहरा होता है और उसकी तरंगें....? वे भी उत्ताल, विशाल (ऊँची) और भयानक गर्जना लिए रहती हैं। इस दृष्टि से आचार्य-भगवन् का जीवन सागर से भी श्रेष्ठ है, ऊँचा है। मैंने आपके जीवन में कोई तरंग, कोई लहर, कोई अशांति, कोई हल-चल नहीं देखी। देखूं भी कैसे ? जो दिव्यात्मा हर-पल, हर-क्षण आत्म-चिन्तन में लीन रहता हो, वहाँ तरंग का क्या काम !

आपकी आत्म-साधना अनुकरणीय है, अद्वितीय है। आपके जीवन में अथाह शांति है, आपका स्वभाव सरलता की प्रतिकृति है। परिस्थितियाँ आपको मोड़ नहीं सकतीं, झुका नहीं सकतीं, वे स्वयं ही झुक जाती हैं, मोड़ खा लेती हैं। लोक-प्रशंसा की चाह आपको कभी नहीं रही। आडम्बर से आप कोसों दूर रहते हैं। आपका सीधा सम्बन्ध तो है—ज्ञान-साधना, संयम-आराधना एवं श्रुत-साधना से।

आप में अतुलित आत्म-विश्वास है और है आत्म-बल। कूल्हे की हड्डी टूट गई। दु:साध्य उपचार प्रारम्भ हुआ पर आप किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए। आपसे हड्डी-टूट के सम्बन्ध में कभी प्रश्न भी करता तो सहज-मुस्कान लाकर कहते—"कर्मो का खेल है। असाता-वेदनीय का उदय है। साहूकारी इसी में है कि शांति एवं समभाव-पूर्वक सहन किया जाए अन्यथा हमारी साहूकारी को आँच आ सकती है। दोनों तरफ की हानि क्यों की जाए ? साहूकारी को भी बट्टा लगाएं और असाता-वेदनीय को भी नहीं हटा सकें।"

आचार्य-श्री का यह कथन आज भी मेरे मन-मानस को झकझोर देता है, आज भी उस कथन को याद कर मेरी आत्मवीणा के तार झनझना उठते हैं। अब तो जब कभी इस शरीर में वेदना उठती है, पीड़ा होती है, अस्वस्थता घेर लेती है तो आचार्य-श्री के वे शब्द आत्म-शक्ति को सहज ही जागृत कर

देते हैं, अन्तर्मन में गून्ज उठता है नाद—"साहूकारी बनाए रखना है। ऐसा न हो कि साहूकारी भी समाप्त हो जाए और वेदना भी ज्यों की त्यों भोगनी पड़े।" परिणाम यह होता है कि मैं बडे-से-बडे दर्द, बडी-से-बडी वेदना को सहज-भाव से सहन कर लेता हूँ।

आत्मबली

कूल्हे में फ्रेक्चर हो गया तो चलने की गति अवरुद्ध हो गई। कुछ ठीक होने लगे तो पैरों को गति देने के लिए पद-पद विचरण के अभ्यास के लिए तत्पर हो गए और 'वाकर' की सहायता से अभ्यास करने लगे। अभ्यास चल रहा था। एक दिन आप 'श्रुताचार्य-भवन' की सीढ़ियां उतर कर गुलाबसागर की ओर मंथर गति से बढ़ रहे थे। मध्याह्न का समय, ऊपर आकाश में सूर्य तप रहा था, नीचे तप रही थी धरती किन्तु आप बिना इस ताप की परवाह किए बढ़े जा रहे थे। कार्यवश मेरा उधर से निकलना हुआ, आप-श्री को इस तरह देखा तो चकित रह गया। निकट जाकर वंदन किया। गुरुवर मुस्कराए, आशीर्वाद दिया। मेरे मुंह से निकल ही गया—'गुरुदेव ! सूर्य का ताप बहुत तीखा है।' आप-श्री ने मेरे चेहरे पर अपनी नज़रें डालीं, फिर सहज भाव से बोले—बिना तीखे ताप के स्वर्ण का मैल कहाँ हटता है ? व्याधि रूपी मैल को हटाने के लिए भी यह ताप जरूरी है। मुझे इस ग्रीष्म-ताप के जलन की उतनी दाह नहीं है, मुझे तो कर्मों के ताप से तप्त आत्मा का ध्यान आता है। जो कर्म मैंने किए हैं अपने पूर्व-भव में, आज उनका फल ही तो सामने है। अन्यथा एक मामूली टक्कर, गिरना भी किसी मंज़िल से नहीं वहीं खड़े-खड़े और इतना बड़ा परिणाम ... ।"

मैं सुन रहा था और सोच रहा था—कितने धैर्यवान् हैं, सहनशील हैं, आत्मबली हैं। धार्मिक शिविरों में धर्म-शास्त्र के पाठों का अध्ययन करते समय कर्मवाद के सिद्धान्त को पढ़ा था परन्तु उसे जब जीवन में इस तरह अमल मे लेते हुए आप-श्री को देखा तो अन्तर्मन श्रद्धावनत हो ही गया।

आप स्वाध्याय-परायण हैं, जब देखो स्वाध्याय में मगन मिलेंगे। शास्त्रीय तत्त्वों का मंथन करते मिलेंगे। साधु-चर्या में तो वैसे भी आलस्य को स्थान नहीं है, जिसमें आप-श्री तो आलस्य को काफी दूर ही रखते हैं। प्रवचन आप कम ही देते हैं पर जब भी देते हैं—बडा ही तात्त्विक, मार्मिक और जन-जन के हृदय को शीघ्र प्रभावित करने वाला, अन्तर्मन को छू देने वाला।

"रसधारा" आपकी प्रकाशित काव्य-पुस्तक है। वस्तुतः यह रस की धारा ही है। पाठक जब इसमें डुबकी लगाता है, आप-श्री द्वारा रचित काव्य-रचनाओं को सस्वर गाता है तो आनन्द-विभोर हो जाता है। आपकी काव्य-सृजन-शक्ति भी अद्भुत प्रभावशाली है।

आप शताधिक वर्ष जीएँ और हमें अध्यात्म-मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहें। आपकी छत्र-छाया में 'जय-संघ' दीर्घकाल तक फलता-फूलता रहे, यही आकांक्षा है।

—मन्त्रीः
अ. भा. भूधर जैन सांस्कृतिक कला मंच
जोधपुर (राज.)

वरदहस्त एवं साधना का प्रत्यक्ष चमत्कार

मुनि श्री भद्रेशकुमार जी 'भद्रंकर'

आश्चर्य : गाँठ स्वतः फूट गई

दिनाँक २३ अप्रेल, १९८६

स्थान—मिश्री भवन, घाड़ीवालों का वास (महामंदिर)

कुछ दिन पहले गले में एक हल्का-सा दर्द उठा था। यही दर्द पिछले ५-६ दिनों में लगातार बढ़ता रहा और आज तो दर्द असह्य हो उठा। गर्मी में इधर-उधर कार्यवश आने-जाने, परीक्षा-कार्य में व्यस्त रहने एवं होने वाले दर्द की किसी प्रकार परवाह न करने का ही सम्भवतः यह परिणाम था। अन्दर ही अन्दर एक गाँठ ने जन्म लिया, गाँठ फली-फूली और बढ़ गई, उसने फोड़े का रूप धारण कर लिया। मैं दर्द से अत्यन्त व्यथित हो गया। न बैठने से चैन मिलता, न सोने से। आसानी से खाना-पीना तो स्वप्न-सा बन गया। जैसे-तैसे किसी पेय-पदार्थ की कुछ बून्दे हिम्मत कर, आँखें-मूंद गले से नीचे उतार लेता। मैंने सोचा—"जरूर यह मेरे पूर्वकृत अशुभ-कर्मों का ही उदय है। जीवन में प्रथम बार इतना तीव्र शारीरिक दर्द भोग रहा था। गले का काम था अतः कई प्रकार की दुष्कल्पनाएँ मेरे मन में जन्म लेने लगीं। विचार आया—क्या यह ध्वनि हमेशा के लिए समाप्त हो जाएगी?"

परम-श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर मेरी इस तीव्र वेदना एवं उससे उद्भूत छटपटाहट को देख रहे थे। आप कुछ देर तक देखते रहे, सोचते रहे। कुछ समय बाद आपने मुझे लक्षित कर कहा—'धैर्य रखो, दो दिन की अवधि और है। तत्पश्चात् सब कुछ ठीक हो जाएगा और तुम पूर्ण स्वस्थ बन जाओगे।'

गुरुदेव के वचनामृत मुझे परम सुखकर लगे। मन को कुछ राहत, कुछ चैन, कुछ शांति मिली। मुझे विश्वास हो गया कि मैं दो दिन में अवश्यमेव स्वस्थ हो जाऊंगा।

(दिनांक २४ अप्रेल, १९८६) कल गुरुदेव के कथन से कुछ चैन मिला पर आज....आज दर्द फिर बढ़ गया! लग रहा था, दो दिन नहीं....दो वर्ष....दो युग बीत जाएंगे तब शांति मिलेगी, दर्द दूर होगा।

एक-एक क्षण जैसे पहाड़ बन गया। डॉ. दिनेश जी कोठारी एवं डॉ. महावीर जी भंसाली ने मेरा निरीक्षण किया, परामर्श दिया और दवा भी दी, लेकिन कुछ भी असर नहीं.... ।

दर्द बढ़ रहा था, अब बुखार भी आने लगा। शरीर का अंग-प्रत्यंग शिथिल पड़ता जा रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे सभी अंग शरीर से अलग हो जाना चाहते हैं, कहीं भाग जाना चाहते हैं। संध्या तक बेचैनी ज्यादा बढ़ गई। डॉ. श्री कोठारी ने निरीक्षण कर परामर्श दिया कि गले में फोड़ा बड़ा हो गया है, उसमें मवाद (रस्सी) भी है अतः अब तो ऑपरेशन ही इसका एक मात्र उपाय है। डॉ. श्री भंसाली ने भी यही कहा। डॉ. श्री अग्रवाल से ऑपरेशन के लिए निवेदन किया गया। उन्होंने अगले दिन अर्थात् २५ अप्रेल को मध्याह्न १२ बजे ऑपरेशन करने की स्वीकृति प्रदान की।

जल में तेल-बिन्दुवत् मेरे ऑपरेशन की बात पूरे महामन्दिर में फैल गई। सभी सोच रहे थे—"गुरुदेव की विचारधारा विहार की है पर अब यह बाधा?" गुरुदेव का मई के अन्तिम सप्ताह में कुचेरा पहुँचना आवश्यक था और इधर मुझे ऑपरेशन के पश्चात् १५ दिन से लेकर २० दिन तक आराम-विश्राम करने को डॉक्टरी परामर्श!

मैं ऑपरेशन की बात से ही घबरा गया था। उधर मन में ऊहा-पोह थी, क्योंकि गुरुवर ने दो दिन में सब कुछ ठीक होने की बात कही थी जबकि दर्द बढ़ता जा रहा था और आसार कुछ और ही बन रहे थे।

डॉ. ने हिदायत दी थी कि ऑपरेशन से पहले कुछ न खाएँ-पीएँ। मैं कल के बारे में सोच रहा था—"कितनी भयंकर गर्मी और पानी भी दोपहर १२ बजे तक बन्द.... ..।"

कभी गले और ध्वनि के बारे में विचार, कभी आचार्य-श्री के मुखारविंद से निकले वचनों पर चिन्तन और कभी भाग्य की विडम्बना पर भावों की लहरों का नाचना! न जाने कब सूर्यास्त हो गया। दर्द ज्यों का त्यों था। गुरुदेव ने दो दिन की बात कही थी और उस दो दिवसीय अवधि के कुछेक घंटे ही शेष रहे थे।

मेरे चिंतन ने मुझे स्फुरणा दी, मुझमें नव-शक्ति का संचरण किया, मैंने अनुभव किया जैसे मेरी खोई हुई शक्ति लौट रही है, दर्द में कमी हो रही है और आँखें स्वतः नींद के बोझ से झुकी जा रही हैं। मैं सो गया। तीन घंटों तक गहरी नींद के वशीभूत रहा। जगा तो मन हल्का था, गले में दर्द कम था। मैंने थूक निगला तो दर्द नहीं हुआ। इसी समय घड़ी ने टन्-टन् की ग्यारह ध्वनियाँ सुनाई। मैंने गले पर हाथ फेरा, फिर थूक निगला, बार-बार गर्दन को इधर-उधर घुमाकर देखा तो गर्दन-गला सब ठीक था। कैसे हुआ यह परिवर्तन! क्या था यह चमत्कार!!

मेरी आस्था के आयाम ठोस हुए। फिर सो गया। प्रातः ठीक चार बजे आँख खुली। दर्द अब बिल्कुल नहीं था।

(२५ अप्रेल, १९८६) प्रातः प्रार्थना हुई। दर्शनार्थी भाई-बहन आए। मेरा प्रसन्न-प्रफुल्लित चेहरा देख सभी प्रसन्न हुए। गले में से ध्वनि निकलने लगी थी। वंदना के प्रत्युत्तर में—'दया पालो' शब्द

मेरे मुँह से सुनकर दर्शनार्थी बंधु आश्चर्यचकित थे। सभी पूछ रहे थे—"कैसे है, आपके?" मैं कह रहा था 'बिल्कुल ठीक है।' तब प्रश्न होता—'यह कैसे हुआ?' मेरा उत्तर था—'गुरुदेव की कृपा से।'

बात पर किसी को विश्वास नहीं हुआ पर प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता कहाँ? फिर भी डॉक्टर को पुनः बुलाकर निरीक्षण करवाया गया। डॉक्टर ने निरीक्षण कर कहा—"आश्चर्य ही है। गाँठ तो अन्दर ही अन्दर फूट चुकी है। ऑपरेशन अब कत्तई आवश्यक नहीं है।" गाँठ का इस तरह फूटना अपने आप में एकदम निराला, अविश्वसनीय घटना-क्रम है। डॉक्टर चला गया, जो श्रावक-श्राविकाएँ आश्चर्य-चकित-से देख-सुन रहे थे, वे भी चले गए।

मैं अब बिल्कुल स्वस्थ हूँ। गुरु-कृपा, गुरु-आशीर्वाद एवं गुरुवर के वरदहस्त का प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर उनके प्रति मेरी आस्था दृढ़ से दृढ़तर बनी है। साधना-सम्पन्न साधकों के वचन कभी असफल नहीं होते.........विकट परिस्थितियों को भी उनके सम्मुख शीश झुकाना पड़ता है, हार माननी पड़ती है। मेरे परम-आराध्य गुरुभगवन् आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म.सा. ऐसे ही साधना-सम्पन्न साधक हैं।

साधना में सिद्धि

गुरुदेव आचार्यप्रवर उस समय नागौर क्षेत्र को अपने पावन-पाद-पद्मों से स्पर्शित कर रहे थे। घटना उस समय की है जब विहार मूंडवा से रोळ की तरफ होना था। दूरी अधिक थी अतः संध्या समय विहार कर हम लोग (आचार्यप्रवर, श्री शुभचंदजी म. सा. तथा मैं) लगभग पाँच किलोमीटर दूर एक प्याऊ पर ठहर गए।

प्याऊ से दूर तक देखने पर छुट-पुट छितरी हुई छोटी-छोटी ढ़ाणियाँ नज़र आ रही थीं। दिनपति अस्त होने की तैयारी कर रहा था। पश्चिम-दिशा में सुनहरी अरुणाभा ने खुशियों के ढ़ेर सारे रंग बिखेर दिए। कुछ ही देर बाद दिनपति अस्त हो गया।

हमने प्रतिलेखन कर लिया था। अपने-अपने शय्यासन लगा लिए थे। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि विधि-विधान पूर्ण कर मैं गुरुदेव को स्तोत्र-पाठ सुनाने लगा।

रात्रि के नौ-साढ़े नौ बजे होंगे। सहसा आग की लपटें दिखाई दीं। आग धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। ऐसा लग रहा था जैसे शेषनाग अपने हजारों फन फैलाकर लाल-लाल जिह्वाएँ निकाल लपलपा रहा हो।

लोगों का भयानक कोलाहल अब हम तक पहुँचने लगा था। मैं स्तंभित था, गुरुदेव की सेवा में उपस्थित एक व्यक्ति भयभीत था। गुरुदेव शांत थे। मैंने गुरुवर से कहा—'कितना भयंकर अग्निकांड है यह, कैसा भयावह दृश्य है? कितने जलेंगे, कितने बेघर हो जाएंगे, कितनी हानि होगी? क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे अग्निदेव का क्रोध शांत हो!'

गुरुदेव बोले तो कुछ नहीं पर मेरा कथन सुनते ही ध्यानस्थ विराजमान हो गए। भक्तामर-स्तोत्र का चालीसवां श्लोक आपके मुखारविंद से उच्चरित होने लगा। जाप निरन्तर चलता रहा।

लगभग आधे घंटे बाद मैंने नेत्र उठाकर देखा तो अग्नि शांत होती जा रही थी। मैं नहीं कहता कि वह सब जाप का ही असर था या गुरुदेव की कृपा-दृष्टि का ही फल ! वह जनता-जनार्दन के पुरुषार्थ का भी परिणाम रहा होगा पर मेरा मन-मयूर हर्ष-विभोर था। बढ़ती हुई अग्नि के रुक जाने से जन-धन की और अधिक हानि से बचाव हो चुका था। मेरा मन कह रहा था—"साधना में सिद्धि है। गुरुदेव की वाणी में शीतलता का दिग्दिगन्त-व्यापी प्रभाव है और भक्तामर के साथ आत्म-विश्वास यदि जागृत है तो वह स्वयं में एक बड़ा चमत्कार है।"

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जीत - गुण गा लेना,
होवे बेड़ा पार, जीत - गुण गा लेना ।।

जीतमुनि आचार्य हमारे, भक्तों की आँखों के तारे ।
जयमल - संघ सरताज, जीत - गुण गा लेना ।।

दर्शन इनके अति मनभावन, सरस सुधारस वाणी पावन ।
जीवन संयम - खान जीत गुण गा लेना ।।

सरल-सौम्य-सुशान्त-यशस्वी, गरिमामय साकार मनस्वी ।
ज्यों जिनवर - अवतार, जीत गुण गा लेना ।।

—पुखराज मुणोत, जोधपुर
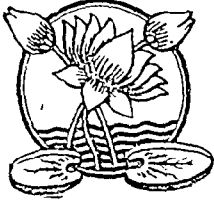
तारण-तिरण-जहाज मेरे गुरुराज

महासती श्री शीलप्रभा जी म.

गुरुवर दीनदयाल ! कृपानिधि तुम करुणा की खान।
मिले परम-शिव-धाम, सदा तुम ऐसा दो वरदान ।।

तिरण और तारण की जहाज, पूज्य गुरुराज ही परम-शिव-धाम की राह दिखाने वाले हैं। जिनके द्वारा किसी प्राणी का अमंगल नहीं होता, जिनकी सदैव सत्-प्रवृत्ति रहती है, वे सज्जन होते हैं। जब उनमें सागर के समान गाम्भीर्य, धरती के तुल्य सहिष्णुता, आकाश के सदृश उदारता आदि गुण प्रकट हो जाते हैं तो वे महापुरुष कहलाते हैं। ऐसे महापुरुष अटूट आत्म-विश्वास के धनी होते हैं और अपने अतुल आत्म-बल के कारण महाबली कहलाते हैं। ऐसे महाबली महापुरुष ही अपने साथ जगत् के अन्यान्य जीवों को तारने में, उनका उद्धार करने में सक्षम होते हैं। प्रातः स्मरणीय, जगत् वन्दनीय गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज साहब भी ऐसे ही महापुरुषों में से एक हैं।

यह भारतभूमि रत्नगर्भा, रत्न-प्रसूता अनेकानेक महान् विभूतियों, महात्माओं, महापुरुषों की उद्भव-स्थली है। रत्नगर्भा से प्राप्त होने वाले (अमूल्य) बहुमूल्य खनिजों के समान ही यहाँ की महामाताओं की रत्नकुक्षि से भी अनेक नर-रत्नों ने जन्म लिया है और अपने साधनामय जीवन से इस धराधाम को पावन किया है। यह धरा मानो इन मानव-तिलकों के आधार से ही स्थिर है। यहाँ का सुख-साम्राज्य इन्हीं परम-पवित्र महापुरुषों की महक से एवं उनके द्वारा संस्पर्शित पावन-पवन से ही फलता-फूलता रहा है।

प्रत्येक संसारस्थ पदार्थ साधार होता है। जीवन-पोषक समस्त तत्त्वों, जिनका समावेश धरा में या प्रकृति में हो जाता है, का आधार धर्म है। धर्म का आधार धर्मात्मा है। धर्म एवं धर्मात्माओं का अन्योन्याश्रित संबंध है। कहा भी है—"न धर्मोधार्मिकैर्बिना।"[1]

---

१. आचार्य समन्तभद्र।

विश्व में जब तक जितनी मात्रा में धर्म का साम्राज्य है, तब तक उतने अंशों में सुख का साम्राज्य भी है। जैसे-जैसे यह घटेगा, सुख-समृद्धि का भी ह्रास होगा। धर्म का सर्वथा अभाव प्रलय को दर्शाएगा। स्थिति प्रत्यक्ष है। दिन-प्रतिदिन प्रकृति का रूप रूक्ष से रूक्षतर होता जा रहा है। शासनेश के फरमान के अनुसार वह दिन भी दूर नहीं, जब प्रकृति सर्वथा प्रदण्डदायिका बन जाएगी।

धर्म शाश्वत तत्त्व है, सनातन है। इसका कभी अभाव नहीं होता। धर्म के अभाव का तात्पर्य है धर्मात्माओं का अभाव। इसे धारण करने वालों के अभाव को ही बोल-चाल की भाषा में धर्म का अभाव कहा गया है। शास्त्रीय भाषा में जिसे 'विच्छेद' की संज्ञा दी गई है।

त्रिविध तापमय संसार में कौन-सा प्राणी सुखी है? आधि, व्याधि एवं उपाधि के दाहचक्र में समस्त संसार संतप्त है। ऐसी स्थिति में जीवों का आश्रय एकमात्र धर्म है, धर्मात्माओं का पुनीत सान्निध्य है।

'चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्दन - चन्द्रयोर्मध्ये, शीतला साधु-संगतिः॥

नीतिकार के इस कथन के अनुसार सत्पुरुषों की संगति शीतलतम है। इन समता-स्वामियों के दर्शन से, उनकी वाणी सुनने से जनसाधारण अनोखी शान्ति का अनुभव करते हैं। आज इस पंचम काल में प्राणी कुछ अंशों में जो सुख की श्वास ले पा रहे हैं, उसका आधार भी संसार में विद्यमान सत्पुरुष ही हैं।

जीवों का परम-सौभाग्य है कि उन्हें प्रलय-काल के निकट जाती हुई इन घड़ियों में भी महायोगी सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त है एवं उनके मार्ग-दर्शन का लाभ मिल रहा है। साधु-पुरुषों के दिव्यगुणों के आलोक में मनुष्य अपना मार्ग खोज सकता है। सत्संगति से जीवों की स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है। भर्तृहरि ने नीति-शतक में बताया है—

"जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम्॥"

सज्जन व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय अपनी सज्जनता नहीं तजते। उनका तो स्वभाव ही प्राणी मात्र के साथ सज्जनता का व्यवहार करना होता है। चन्दन को कितना ही घिसें, वह अपनी गंध नहीं त्यागता और स्वर्ण को कितना ही तपाएँ वह अपना कान्त वर्ण नहीं छोड़ता।

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चंदनं चारु गंधम्।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः, कञ्चनं वर्ण कान्तम्॥

यद्यपि अज्ञानियों द्वारा कई बार इन विश्वहितैषी सत्पुरुषों, महात्माओं को संक्लेश पहुँचाया जाता है, परेशान किया जाता है, पीड़ित किया जाता है पर ये सत्पुरुष सदैव शांत बने रहते हैं। पीड़ाकारी

अज्ञानीजन तो उन सत्पुरुषों की सज्जनता की ओर से भी लाभ ही प्राप्त करते हैं। यथा- चन्दन-वृक्ष को छेदने वाला कुल्हाड़ा सुगन्ध ही प्राप्त करता है—

"छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य।"

नीतिकार सज्जन-व्यक्तियों की और सज्जनता की गरिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां, गुणा नायान्ति विक्रियाम्।
भंगेनापि मृणालानामनुबध्नंति तन्तवः॥

निश्चय ही सज्जन व्यक्ति टूटने पर भी जुड़े रहते हैं। उनमें कभी अलगाव नहीं होता। सज्जन की सज्जनता असीम होती है। असीम को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। गुणग्राम तो अन्ततः सीमित ही हो सकते हैं। सामान्य व्यक्ति में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह सज्जन-पुरुषों की सज्जनता का सर्वथा संस्तव कर सके।

समत्व-साधक, अध्यात्मयोगी, संघ-संचालक पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर उपर्युक्त समस्त प्रशस्त गुणों से विभूषित हैं। आपके दर्शन सर्वप्रथम मैंने 'जवाजा' ग्राम में किए। उस समय मेरी वैराग्य-भावना अस्थिर थी। दिशा भी अनिश्चित-सी थी। पूज्य गुरुदेव के दर्शन एवं अमृत-वाणी-श्रवण के पश्चात् मेरी वैराग्य-भावना को सम्बल मिला। उत्तम पुरुषों के दर्शन से भावों की उत्तम परिणति होने में आश्चर्य ही क्या है?

प्राची दिशा में भुवन-भास्कर जब उदित होता है तो समस्त जन-जीवन कर्त्तव्य के सुपथ पर अग्रसर हो जाता है। निद्रा, प्रमाद, आलस्य को तब वह त्याग देता है। सूर्य कभी चिल्ला कर यह नहीं कहता कि उठो, जागो, कर्त्तव्य में लग जाओ। यह तो उस देवता की प्रभा का चमत्कार है कि प्राणी मात्र में स्वतः स्फूर्ति का संचार हो जाता है, ठीक इसी तरह महापुरुषों के दर्शन से उनके दिव्य गुणों की प्रभा के अलोक में भव्य जीव अपना मार्ग खोजने में स्वतः सफल हो जाते हैं, अन्दर का अन्धेरा मिट जाता है और वे इस संसार की असारता, नश्वरता तथा हेय-ज्ञेय-उपादेय के निर्णय का विवेक-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

महापुरुष लोकोत्तर-सूर्य हैं। ये मानव को आध्यात्मिक पथ दर्शाते हैं, आत्मोत्थान की राह बताते हैं, सत्य-धर्म को प्रकाशित करते हैं। परम पूज्य गुरुदेव के दर्शन एवं उनकी महती कृपा से ही मैं अपना लक्ष्य निर्धारित कर सकी, निश्चित कर सकी। आपने अपने सभी शिष्यों के आत्मोत्थान एवं ज्ञानोन्नति पर सदैव पूरा-पूरा ध्यान रखा। इसी के परिमाण-स्वरूप आपके सभी शिष्य-रत्न ज्ञानवान् एवं प्रज्ञावान् हैं। आप ही के परम विनीत एवं अतिप्रिय शिष्य स्व. पंडित-प्रवर श्री नूतनमुनि जी म. सा. की सद्-भावना व अदृष्ट-पूर्व एवं अश्रुतपूर्व अध्यापन-कला का मेरे साधक-जीवन के विकास एवं आत्मोत्थान में जो सहयोग रहा, उसका वर्णन असंभव है।

पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज साहब आत्मबल के धनी हैं। मानसिक बल एवं चारित्रिक बल के क्षेत्र में भी आप बहुत आगे हैं। आचार्य हैं जयसंघ के अतः चतुर्विध संघ के

विश्व में जब तक जितनी मात्रा में धर्म का साम्राज्य है, तब तक उतने अंशों में सुख का साम्राज्य भी है। जैसे-जैसे यह घटेगा, सुख-समृद्धि का भी ह्रास होगा। धर्म का सर्वथा अभाव प्रलय को दर्शाएगा। स्थिति प्रत्यक्ष है। दिन-प्रतिदिन प्रकृति का रूप रूक्ष से रूक्षतर होता जा रहा है। शासनेश के फरमान के अनुसार वह दिन भी दूर नहीं, जब प्रकृति सर्वथा प्रदण्डदायिका बन जाएगी।

धर्म शाश्वत तत्त्व है, सनातन है। इसका कभी अभाव नहीं होता। धर्म के अभाव का तात्पर्य है *धर्मात्माओं का अभाव। इसे धारण करने वालों के अभाव को ही बोल-चाल की भाषा में धर्म का* अभाव कहा गया है। शास्त्रीय भाषा में जिसे 'विच्छेद' की संज्ञा दी गई है।

त्रिविध तापमय संसार में कौन-सा प्राणी सुखी है? आधि, व्याधि एवं उपाधि के दाहचक्र में समस्त संसार संतप्त है। ऐसी स्थिति में जीवों का आश्रय एकमात्र धर्म है, धर्मात्माओं का पुनीत सान्निध्य है।

'चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमा।
चन्दन - चन्द्रयोर्मध्ये, शीतला साधु-संगतिः ॥

नीतिकार के इस कथन के अनुसार सत्पुरुषों की संगति शीतलतम है। इन समता-स्वामियों के दर्शन से, उनकी वाणी सुनने से जनसाधारण अनोखी शान्ति का अनुभव करते हैं। आज इस पंचम काल में प्राणी कुछ अंशों में जो सुख की श्वास ले पा रहे हैं, उसका आधार भी संसार में विद्यमान सत्पुरुष ही हैं।

जीवों का परम-सौभाग्य है कि उन्हें प्रलय-काल के निकट जाती हुई इन घड़ियों में भी महायोगी सत्पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त है एवं उनके मार्ग-दर्शन का लाभ मिल रहा है। साधु-पुरुषों के दिव्यगुणों के आलोक में मनुष्य अपना मार्ग खोज सकता है। सत्संगति से जीवों की स्थिति में आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है। भर्तृहरि ने नीति-शतक में बताया है—

"जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥"

सज्जन व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय अपनी सज्जनता नहीं तजते। उनका तो स्वभाव ही प्राणी मात्र के साथ सज्जनता का व्यवहार करना होता है। चन्दन को कितना ही घिसें, वह अपनी गंध नहीं त्यागता और स्वर्ण को कितना ही तपाएँ वह अपना कान्त वर्ण नहीं छोड़ता।

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चंदनं चारु गंधम्।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः, कञ्चनं वर्ण कान्तम् ॥

यद्यपि अज्ञानियों द्वारा कई बार इन विश्वहितैषी सत्पुरुषों, महात्माओं को संक्लेश पहुँचाया जाता है, परेशान किया जाता है, पीड़ित किया जाता है पर ये सत्पुरुष सदैव शांत बने रहते हैं। पीड़ाकारी

अज्ञानीजन तो उन सत्पुरुषों की सज्जनता की ओर से भी लाभ ही प्राप्त करते हैं। यथा - चन्दन-वृक्ष को छेदने वाला कुल्हाड़ा सुगन्ध ही प्राप्त करता है—

"छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य।"

नीतिकार सज्जन-व्यक्तियों की और सज्जनता की गरिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां, गुणा नायान्ति विक्रियाम्।
भंगेनापि मृणालानामनुबध्नंति तन्तवः ॥

निश्चय ही सज्जन व्यक्ति टूटने पर भी जुड़े रहते हैं। उनमें कभी अलगाव नहीं होता। सज्जन की सज्जनता असीम होती है। असीम को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। गुणग्राम तो अन्ततः सीमित ही हो सकते हैं। सामान्य व्यक्ति में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह सज्जन-पुरुषों की सज्जनता का सर्वथा संस्तव कर सके।

समत्व-साधक, अध्यात्मयोगी, संघ-संचालक पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर उपर्युक्त समस्त प्रशस्त गुणों से विभूषित हैं। आपके दर्शन सर्वप्रथम मैंने 'जवाजा' ग्राम में किए। उस समय मेरी वैराग्य-भावना अस्थिर थी। दिशा भी अनिश्चित-सी थी। पूज्य गुरुदेव के दर्शन एवं अमृत-वाणी-श्रवण के पश्चात् मेरी वैराग्य-भावना को सम्बल मिला। उत्तम पुरुषों के दर्शन से भावों की उत्तम परिणति होने में आश्चर्य ही क्या है?

प्राची दिशा में भुवन-भास्कर जब उदित होता है तो समस्त जन-जीवन कर्त्तव्य के सुपथ पर अग्रसर हो जाता है। निद्रा, प्रमाद, आलस्य को तब वह त्याग देता है। सूर्य कभी चिल्ला कर यह नहीं कहता कि उठो, जागो, कर्त्तव्य में लग जाओ। यह तो उस देवता की प्रभा का चमत्कार है कि प्राणी मात्र में स्वतः स्फूर्ति का संचार हो जाता है, ठीक इसी तरह महापुरुषों के दर्शन से उनके दिव्य गुणों की प्रभा के अलोक में भव्य जीव अपना मार्ग खोजने में स्वतः सफल हो जाते हैं, अन्दर का अन्धेरा मिट जाता है और वे इस संसार की असारता, नश्वरता तथा हेय-ज्ञेय-उपादेय के निर्णय का विवेक-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

महापुरुष लोकोत्तर-सूर्य हैं। ये मानव को आध्यात्मिक पथ दर्शाते हैं, आत्मोत्थान की राह बताते हैं, सत्य-धर्म को प्रकाशित करते हैं। परम पूज्य गुरुदेव के दर्शन एवं उनकी महती कृपा से ही मैं अपना लक्ष्य निर्धारित कर सकी, निश्चित कर सकी। आपने अपने सभी शिष्यों के आत्मोत्थान एवं ज्ञानोन्नति पर सदैव पूरा-पूरा ध्यान रखा। इसी के परिमाण-स्वरूप आपके सभी शिष्य-रत्न ज्ञानवान् एवं प्रज्ञावान् हैं। आप ही के परम विनीत एवं अतिप्रिय शिष्य स्व. पंडित-प्रवर श्री नूतनमुनि जी म. सा. की सद्-भावना व अदृष्ट-पूर्व एवं अश्रुतपूर्व अध्यापन-कला का मेरे साधक-जीवन के विकास एवं आत्मोत्थान में जो सहयोग रहा, उसका वर्णन असंभव है।

पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज साहब आत्मबल के धनी हैं। मानसिक बल एवं चारित्रिक बल के क्षेत्र में भी आप बहुत आगे हैं। आचार्य हैं जयसंघ के अतः चतुर्विध संघ के

आधार हैं, शास्त्रीय शब्दों में 'अम्मापियरो इव' हैं। आप न्याय एवं अनुशासन-प्रिय हैं, निष्पक्ष एवं दूरदर्शी हैं। एक दशक से आचार्यत्व के गरिमामय पद के गुरुतर उत्तरदायित्वों में भी, स्थिति-परिस्थिति एवं वातावरण की प्रतिकूलता में भी आप-श्री की अद्भुत शांति देखते ही वनती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की कैसी भी अनुकूलता या प्रतिकूलता हो, हर स्थिति में हम आपके सौम्य, शांत, प्रशांत, धीर, गंभीर मुद्रा के ही दर्शन करते हैं।

इस लेखनी की क्या क्षमता कि वह पूज्य गुरुदेव के गुणों का यथातथ्य वर्णन कर सके? सागर के अथाह जल की गहराई को नापना हास्यास्पद चेष्टा ही है। आपकी छत्र-छाया में, आपके असाधारण-अलौकिक गुणों के आलोक में मेरी उस क्षमता में निरन्तर वृद्धि हो, जो मुझे संयम-साधना में सुदृढ़ रखती है एवं आत्मरमण में तत्पर वनाती है। इसी अभिलाषा के साथ कोटिशः अभिवन्दन!

आचार्य-जीत : गुण-गीत

शासन के नायक हैं, महिमा है अपरंपार।
गुरुवर श्री जीतमुनि को, वंदन हो वारम्वार....।।

भक्तों के प्यारे, गुरुराज मेरे।
तप – त्याग – संयम्, इनमें अनेरे।
अशरण की शरण हैं, भक्तों की पतवार गुरु....।।

आगम – अभ्यासी, महातत्त्व – वेत्ता।
मथन सदा है, सजग चित्त चेत्ता।
जयगच्छ के स्वामी हैं, शासन के सणगार .. गुरु ... ।।

—पं. मुनींद्रकुमार जैन

अमिय-रस-धारा-धर मेरे गुरुवर

साध्वी श्री इन्दुप्रभा जी म.

परमाराध्य गुरुदेव ! जैसे नन्हा अबोध-शिशु नीलगगन में टिमटिमाते-झिलमिलाते नक्षत्रों को पकड़ने का सामर्थ्य नहीं रखता, ठीक उसी प्रकार श्रद्धा और भक्ति से प्रेरित मम-मानस के भाव-सुमनों को अक्षर-माला का रूप दे पाना मुझ जैसी अल्पज्ञा के लिए असंभव ही है। क्योंकि भक्ति का सम्बन्ध भावों से है और भावों का क्षेत्र असीमित है। असीमित को सीमित करने का विचार क्या भारी भूल नहीं है ? आप-श्री के विराट् व्यक्तित्व को शब्दों के माध्यम से आंकना समुद्र को कटोरे में भरने के समान असंभव है।

दयासिंधु ! धन्य है वह लूणसरा की भूमि, जिसने आप जैसे महापुरुष को जन्म दिया। निश्चय ही वह भूमि स्वर्ग से भी अधिक भाग्यवती है।

कृपासिंधु ! धन्य हैं वे माता-पिता, जिनके यहाँ आपका अवतरण हुआ और धन्य है वह कुल, जो आपको पाकर स्वयं गौरवान्वित हो उठा।

संयम के दिव्य साधक ! आपके ज्ञान की प्रभा ने सहस्रों संसारात्माओं को पथ-भ्रष्ट होने से बचाया, उन्हें धर्म का सुपथ दिखलाया।

शांतिमूर्ति गुरुवर ! आपका तो जीवन ही कल्पवृक्ष है। संतप्त से संतप्त प्राणी को भी आप-श्री की छत्रछाया में अद्भुत अलौकिक शांति की उपलब्धि होती है।

अमिय-रस-धारा-धर ! आपकी परम-पावन अमृत-वाणी नीरस हृदयों में सरसता का सञ्चारण करने वाली है, मुरझाए हुए धर्मांकुरों को नव-जीवन प्रदान करने वाली है, कर्ममल-लिप्त आत्माओं को उद्बोधन देकर उनका आत्म-कल्याण-पथ प्रशस्त बनाने वाली है।

वह आप-श्री की पतितोद्धारिणी अमृतोपम मधुर-वाणी का ही तो प्रभाव था कि जिसने मुझे आत्मोन्मुखी बनाया और मैं इतनी शीघ्र संयम के इस पुनीत पथ पर अग्रसर हो सकी।

मेरे संसारपक्षीय पिता-श्री मुझे दीक्षा की अनुमति प्रदान करने के लिए तैयार नहीं थे। कई बार प्रयत्न करने पर भी मुझे जब दीक्षा-अनुमति नहीं मिली तो मैं पूज्य गुरुवर, आचार्य भगवन् की सेवा में

उपस्थित हुई। अपनी अन्तर्भावना प्रकट की और 'पिताश्री दीक्षा की अनुमति प्रदान नहीं कर रहे हैं,' यह विनीत निवेदन भी मैंने कर दिया।

आचार्य भगवन् की असीम कृपा! आपने मेरे पिताजी को बुलाया। लगभग एक घंटे तक गुरुदेव पिताश्री को समझाते रहे। यह आपकी वाणी का जादू था कि उस अमृत-माधुरी-वाणी को सुनकर पिता-श्री के हृदय मे नव-ज्योति जागृत हुई। आपने वहीं, उसी समय, आचार्य भगवन् के समक्ष ही मेरी दीक्षा के लिए सहमति प्रदान कर दी। मैं स्वयं आश्चर्य-चकित थी कि यह सब हुआ कैसे? आज जब सोचती हूँ तो अनुभव करती हूँ कि परमपूज्य आचार्यदेव की वाणी का ही चमत्कार था, यह।

आज भी आपकी वाणी का वह चमत्कार बरकरार है। जो भी अशांत-मन आपकी शरण में जाता है, जब लौटता है तो अति शान्त बनकर ··· ··· ।

आप-श्री की दीक्षा-स्वर्ण-जयंती के शुभावसर पर मेरी अन्तर्भावना है कि आपकी छत्रछाया मुझ अबोध पर सदा बनी रहे, मुझे आपका पथ-दर्शन मिलता रहे।

--शिष्या : महासती श्री सुगनकंवर जी म.सा.

आचार्य-जीत : गुण-गीत

हे आगम–मर्मज्ञ! तुम्हारा ज्ञान हिमालय–सा पावन।
जिनवाणी की गंगा निकली, जन-गण-मन को सरसावन॥

तेरी जीवन – धारा बहती, मोक्ष-मार्ग तक जाती है।
तेरे पद - चिन्हों पर जनता, चलती मंज़िल पाती है॥

काव्य-तीर्थ है, न्याय-तीर्थ है, तू साधु आचार्य तीर्थ है।
ज्ञान तुम्हारा परम पुनीत है।
जीत' तुम्हारी सदा जीत है॥

—हीरालाल गांधी

यशस्वी मनस्वी और मनीषी-संत

मिट्ठालाल मुरडिया (सा. र.)

तप, त्याग और साधना के सतत प्रहरी, स्वनाम-धन्य आचार्य-श्री जीतमलजी म. सा. को कौन नहीं जानता ? मरुभूमि के इस ज्योतिर्धर को कौन नहीं पहचानता ? आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. उन महान् सन्तों में से हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन स्फटिक की तरह उज्ज्वल, स्वच्छ और निर्मल है। आपके व्यक्तित्व में तप रूपी हीरों, त्याग रूपी पन्नों और वैराग्य रूपी मोतियों की चमक है। यह अनूठापन ही आपके व्यक्तित्व को महान् बना रहा है। आपके संतत्व का निर्माण ही ज्ञान, ध्यान, चिन्तन-मनन के अनन्त उपादानों से हुआ है।

माता श्रीमती 'भीखीबाई' और पिता श्री 'वचनमल जी' को क्या मालूम था कि उनका यह पुत्र एक दिन 'आचार्य' बनकर लोक में चमत्कृत होगा, जैन जगत् को कृतकृत्य करेगा और चतुर्विध संघ के सम्मुख साधना का नूतन कीर्तिमान स्थापित करेगा।

आपकी गंभीर सुधारस-भीनी जन-हितकारिणी वाणी मरुधरा की प्राचीरों में, किलों की गुम्बजों में, मीनारों में गूंज-गूंज कर सत्य, अहिंसा, मैत्री और सद्भावों का संदेश दे रही है। आचार्य-श्री ने अपनी विचार-तरंगों को धर्म के मंगलसूत्र एवं जैन संस्कृति की धवल मणियों में गूंथ कर चतुर्विध संघ को सहर्ष समर्पित किया है।

आचार्य-श्री का अभिनन्दन करने के लिए समाज ने जो संकल्प लिया है, वह सराहनीय है। जिस महात्मा को न अभिनन्दन का मोह है, न प्रशंसा की भूख है, न यश की कोई कामना है; ऐसे महान् सन्त का समाज द्वारा अभिनन्दन किया जाना निश्चय ही जन-जन के लिए गौरव की बात है।

अपने साधना-काल में आप घोर संघर्ष में तपे हैं, कठिनाइयों की ज्वाला में तप कर आपका संतत्व निखरा है, ज्ञान की गरिमा से आपका यश-सौरभ इस राष्ट्र के कण-कण में बिखरा है। आपके साधक-जीवन में अनेकानेक मुसीबतें आई पर वाह रे प्रतापी संत ! तेने बड़े साहस से, बड़ी निर्भीकता के साथ उन्हें अपने पथ से हटा दिया। धैर्य और विवेक से साधना-काल की सम्पूर्ण मर्यादाओं का जो निर्वहन करते रहे और त्याग-तप की महक लुटाते हुए धर्म-जगत् में साहित्यिक रंगमंच का निर्माण भी करते रहे।

देखते ही देखते साधना की लम्बी मंज़िल तय करके जो कहाँ से कहाँ पहुँच गए, ऐसे दिव्य-साधक का कीर्तन जितना किया जाए, कम ही है।

नई चेतना, नई स्फूर्ति और नया उत्साह पैदाकर इस संत ने जो साहसिक कार्य किए हैं, उन्हें भले ही इस बीसवीं शताब्दी में गरिमा का उच्च पद न मिले किन्तु इक्कीसवीं सदी में उनका अवश्य मूल्यांकन होगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि उनके कार्य, उनकी विचार-धाराएँ, उनकी साधना, उनके विधि-विधान, उनका सहज सौजन्य, उनका वाणी-माधुर्य, उनकी व्यवहार-सरलता और उनकी सदाबहार मुस्कराहट—युग-युग तक अमर रहेंगी, अविस्मरणीय रहेंगी, चिरस्मरणीय बनेंगी।

जिनशासन की शोभा बढ़ाने वाले, समाज को धर्म-दर्शन का ज्ञान कराने वाले, चतुर्विध संघ में क्रांति का जयघोष करने वाले, धीर-वीर-गंभीर प्रकृति के मनस्वी और मनीषी संत ! आपका शत-शत वंदन, सहस्राभिनन्दन !!

—ह. मु. जैन छात्रालय
१६, प्रीमरोज रोड
बेंगलोर—५६००२५

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जय कहो श्री जीतमल महाराज को, जयकार बोलो।
भक्ति विह्वल हो, हृदय के बन्द आज कपाट खोलो।।

तुम खिलाते फूल, हर पथ में बहाते गंध पावन।
तुम चले हो हर मरुस्थल को बनाते पुण्य सावन।।

धन्य है मेरा जनम, ये नेत्र पावन बन गए हैं।
दर्श से पावन तुम्हारे, ग्रीष्म सावन बन गए हैं।।

चरणवत शत-शत हमारा तुम करो स्वीकार वन्दन।
पूर्ण श्रद्धा से समर्पित है स्वयं ही यह अकिंचन।।

—प्रो. लक्ष्मणप्रसाद जैन, सागर

अमिट प्रभावी व्यक्तित्व

☐

सुगालचन्द सिंगवी

त्याग और तप से अपने जीवन को संवारने वाली महान् आत्माओं के दर्शन सौभाग्य से ही मिल पाते हैं। जैन समाज के जाने-पहचाने त्यागी-तपस्वी आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज के नाम से जैन समाज अच्छी तरह परिचित है। उनकी अलौकिक संयम-शक्ति और धार्मिक विचारों का दर्शनार्थ जाने वाले व्यक्ति पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि आचार्य-श्री के दर्शन करने के लिए बार-बार जाने की अभिलाषा बनी रहती है।

आचार्य श्री बहुत अधिक दुबले हैं फिर भी उनके मुख पर त्याग, संयम और तप का ऐसा तेज है, जो प्रायः बहुत कम देखने में आता है। चरित्र-पालन में आप विशेष रूप से सतर्क एवं सावधान रहते हैं, जो दूसरों के लिए एक आदर्श एवं सदैव अनुकरणीय है।

आचार्य-श्री गागर में सागर समेटने वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। नपे-तुले शब्दों में सारगर्भित बात को समझाना आपकी विशेषता है। आचार्य-श्री के प्रवचन में धार्मिक ग्रन्थों और आगमों का ऐसा निचोड़ होता है, जो प्रत्येक श्रोता की समझ में सहज ही आ जाता है।

वर्षों पहले आचार्य-श्री के प्रथम बार दर्शन करने का सौभाग्य मुझे गुडूर में उस समय मिला, जब आपका विहार मद्रास की ओर हुआ। आचार्य-श्री का मुझ पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि मैं अब, जब भी समय और सुविधा मिलती है, आपके दर्शन प्राप्त करना अपना सौभाग्य समझता हूँ। वर्षों पहले आचार्य-श्री के महिलापुर (मद्रास) चातुर्मास में भी समय-समय पर आपके दर्शनार्थ आता-जाता था। अपने समय का आचार्य-श्री पूर्ण रूप से ध्यान रखते हैं। स्वाध्याय में ज्यादा से ज्यादा समय का उपयोग करना आपका स्वभाव है। व्यर्थ बातों में समय बिताना आप पसन्द नहीं करते। धार्मिक प्रचार एवं श्रद्धालु आत्माओं को स्वाध्याय की ओर अधिकाधिक निकट लाना आप अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

सियाट-शिविर के समय जो कुछ मैंने देखा उससे ऐसा लगा कि आचार्य-श्री के श्रद्धालु भक्त तो सेवा में रहते ही हैं पर, प्रकृति भी आपकी सेवा में रहना अपना सौभाग्य समझती है। शिविर-समाप्ति-दिवस पर आस-पास के गाँवों से काफी संख्या में आचार्य-श्री का सारगर्भित प्रवचन सुनने के लिए लोग

आए हुए थे। उस रोज प्रातः करीब ६-३० बजे ही सर्वत्र आकाश में बादल छा गये। भारी वर्षा होने के आसार नज़र आने लगे किन्तु शिविर-समाप्ति-समारोह, आचार्य-श्री का प्रवचन आदि सब कार्य सुन्दर ढंग से निपट गए। स्वधर्मी-सेवा का आयोजन भी हर्षोल्लास के साथ पूर्ण हुआ—इन सभी कार्यक्रमों के पूर्ण होने के बाद लगभग ढ़ाई बजे खूब जोर-शोर से भारी वर्षा हुई। हवा के भयंकर झोंके झुक-झुक कर आचार्य-श्री के चरणों में अपना सिर नमा कर अपनी श्रद्धा अर्पित करने लगे। इस पर उपस्थित लोगों में आश्चर्य होना स्वाभाविक था। आचार्य-श्री की अलौकिक शक्ति के भांति-भांति के प्रभावशाली चमत्कार श्रद्धालु समय-समय पर देखते ही रहते हैं।

मैं आपके दीर्घ-जीवन की कामना करते हुए यह मंगल भावना भाता हूँ कि आपका वरदहस्त पाकर हम, हमारा जय-संघ सदैव प्रगति करता रहे।

—टी. एच. रोड
मद्रास—६०००५

आचार्य-जीत : गुण-गीत

जय कहो श्री जीतमल महाराज की, जयकार बोलो।
भक्ति-विह्वल हो, हृदय के बन्द आज कपाट खोलो।
हो 'प्रशान्त' अशान्त जीवन, दो मुझे वरदान ऐसा।
पुण्य-पथ पर चल बनालूं, मैं स्वय को आप जैसा॥
कर्म-मल को जीतने अपनी कमर कस कर कसी है।
अर्थ की गरिमा स्वयं ही नाम में इनके बसी है॥

—प्रो. लक्ष्मणप्रसाद जैन, सागर

शत शत अभिनंदन

रतनसिंह

भाव-मय एवं चिन्तनशील मुखमण्डल !
विनम्रता एवं धैर्यमय अभिभाषण !!
स्नेहपूरित एवं सरल-हृदय !!!

अहा ! कैसा अद्‌भुत व्यक्तित्व ? कैसा भव्य जीवन ? जो देखे सो निहाल ! एक वार सम्पर्क साधले तो अजब-गजब का प्रभाव ! जो एक वार प्रभावित हो गया उसे तो पुनः श्रीचरणों में आना ही है। जिन चरणों में व्यक्ति चिन्ताओं से घिरा आता तो है पर दर्शन, चरण-स्पर्शन कर; आशीर्वाद रूप मंगलवचन सुन जब जाता है तो सर्वथा चिन्तामुक्त !

ऐसे जन-मन-मंगलकारी गुरुदेव
आचार्य-प्रवर मुनि श्री जीतमल जी
महाराज का शत-शत अभिनन्दन !

* *

जो ज्योतिष-विद्या के पारंगत विद्वान् हैं। नैमित्तिक नहीं, पर गणितीय-अंकों के जादुई फलादेश निकालने में जो सिद्धहस्त हैं। श्रावकजन ही नहीं अपितु अनेक संतजन जिनसे कार्यसिद्धि के लिए शुद्ध एवं शुभ समय का संकेत पा चुके हैं। जीत के स्वप्नों में विचरण करते आज भी कितने ही जिज्ञासु संत-श्रावक जिनसे शुभ-संकेत की अभिलाषा में प्रतीक्षा-रत हैं।

ऐसे जीत-प्रदायक, सिद्धि-दायक
गुरुवर श्री जीत मुनि जी महाराज
का शत-शत अभिनन्दन !!

* *

स्वाध्याय ही जिनकी दिनचर्या है !
स्वाध्याय ही जिनका ध्येय है !!
स्वाध्याय ही जिनकी साधना है !
स्वाध्याय ही जिनका साध्य है !!
स्वाध्याय ही जिनका जीवन है !
स्वाध्याय ही जिनका अवलम्बन है !!
जो ज्ञान का स्वयं अध्ययन करते हैं,
और 'स्व' का ज्ञान जिनके—
अध्ययन का प्रिय विषय है !
ऐसे नित्य स्वाध्याय - निरत मेरे
आराध्य आचार्य-प्रवर श्री जीत मुनि
का शत - शत अभिनन्दन !!

※ ※

जो चिन्तन-शील हैं,
जिनके चिन्तन की मौलिकता अद्वितीय है,
"जैनधर्म की मौलिक उद्भावनाएं" आपका वह ग्रंथ है—
जिसमें आपके मौलिक चिन्तन की सर्वत्र छाप है।
मौलिक, अलौकिक चिन्तन के प्रणेता
ऐसे मेरे ज्ञानी गुरुराज श्री जीत मुनि महाराज का
शत-शत अभिनन्दन !
धैर्य जिनका सहचर है,
दुष्तर प्रतिकूलताओं,
दुस्सह परीषहों,
अटूट वाधाओं,
आपत्तियों या विपत्तियों
के अम्वार में भी
जो अडिग हैं, अडोल हैं, अकम्प हैं।
'नूतन' जव पुरातन बना
तव जिनका हृदय
वज्र-सा वन गया;
रुग्णता, शरीर-कष्ट या
वोन-फ्रेक्चर भी
जिनके मानस को
विचलित नहीं कर पाए।

ऐसे समत्व योगी मेरे हृदयदेव
पूज्य आचार्य-श्री जीत मुनि
महाराज का शत-शत वन्दन !

*　　　*

जिनकी हीरक-जन्म-जयन्ती
जिनकी स्वर्ण-दीक्षा-जयन्ती
पर
प्रकाश्य
'जीत - अभिनन्दन - ग्रन्थ'
की अनेकानेक
रचनाओं को
मुद्रणार्थ प्रेपित करते हुए
जब मैं उनकी
प्रेम-प्रतिलिपि
करता हूँ तो अपने आपको
सौभाग्यशाली मानता हूँ ।
लोंकाशाह ने शास्त्रों की
प्रतिलिपियाँ करते-करते
क्रान्ति का सूत्रपात किया था,
मैंने भी विद्वानों के सृजन
को पुनः लिखते-लिखते
कुछ पंक्तियों का सृजन
कर डाला है ।
आज जिनके सान्निध्य से
मैं कृतार्थ हूँ, कृतज्ञ हूँ ।
उन मेरे गुरुदेव—
बाल ब्रह्मचारी,
चारित्र चूड़ामणि
आगम-मर्मज्ञ
कवि-हृदय, संत-रत्न
आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी
महाराज का
शत-शत अभिनन्दन !

—ब्यावर-३०५९०१

जाने-माने प्रख्यात संत

उपाध्याय-प्रवर श्री पुष्करमुनि जी म.सा.

आचार्य श्री जीतमल जी महाराज स्थानकवासी समाज के एक जाने-माने, ख्याति-प्राप्त संत-रत्न हैं। आपके साथ हमारे सम्बन्ध बहुत पुराने हैं। वर्षों से हमारे पूर्वाचार्य और आपके पूर्वाचार्य साथ-साथ रहे। पय-पानीवत् उनमें परस्पर प्रेम था। एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहयोग की भावना थी। जीवन में कितने ही ऐसे प्रसंग आए हैं जब एक परम्परा वाले संत दूसरी परम्परा वालों को हार्दिक सहयोग देकर अपनेपन की अभिव्यक्ति करते रहे हैं।

श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी महाराज के, मेरे पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचंद जी महाराज के साथ बहुत ही मधुर संबंध थे। अनेकों बार उनके साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ। आप-श्री भी स्वामी जी महाराज की सेवा में रहकर अध्ययन करते थे और मैं भी तब विद्यार्थी था। अतः हम सहयोगी, सहपाठी रहे; घनिष्ठ सम्पर्क रहा उस समय हमारा। मैंने अनुभव किया कि आप-श्री प्रतिभाशाली हैं तथा विषय के तल तक पहुँचने की आप में अपूर्व क्षमता है। आप सदैव एकाग्रचित्त हो अध्ययनरत रहते। वार्तालाप और मनोविनोद से आप सदा दूर रहे। जीवन के एक-एक क्षण का आप सार्थक उपयोग करते थे और कहा करते थे—जीवन के किसी भी अनमोल क्षण को निरर्थक मत जाने दो, व्यर्थ न बीतने दो।

आप संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं के तथा साहित्य के गंभीर अध्येता हैं। आपने दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, ज्योतिष आदि विषयों का गहराई से अध्ययन किया है और अनेक जिज्ञासु श्रमणों को अध्ययन करवाया भी है। आप प्रवचन यदा-कदा करते हैं पर जब करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे सरस्वती-पुत्र की पावन वाग्धारा निःसृत हो रही हो। आगमिक गंभीर रहस्य, आप इस तरह सरल एवं सुगम भाषा में प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं, झूम उठते हैं। अन्तर्हृदय से निकली हुई आवाज अन्तर्हृदय को स्पर्श कर जाती है। आप कवि हैं, लेखक हैं और अन्तर्मुखी साधक हैं।

परम-आह्लाद है कि आप-श्री अपने जीवन के ७५ से भी अधिक वसन्त पार करके साधना की मधुर सौरभ फैलाते हुए निरन्तर गतिशील हैं, आगे बढ़ रहे हैं। आपका जीवन एक यशस्वी जीवन है। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व तेजस्वी है। आपका वरदहस्त समाज पर सदा वरदान के रूप में रहे, यही मेरी हार्दिक मंगल-कामना और भावना है।

एक ज्योतिर्धर आचार्य

□

पूज्य श्री देवेन्द्रमुनि जी म. सा.

"दीव समा आयरिया"—आचार्य दीपक के समान स्वयं प्रकाशित होते हैं तथा दूसरों को भी प्रकाश प्रदान करते हैं। आचार्य का जीवन आचार-निष्ठ होता है। वह स्वयं आचार का उत्कृष्ट रूप से पालन करता है और दूसरों को भी आचार के महामार्ग पर मुस्तैदी के साथ बढ़ने के लिए उत्प्रेरित करता है। स्वयं आगम-साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन करता है और दूसरों को भी आगम के गंभीर रहस्य का परिज्ञान कराता है।

परम-श्रद्धेय महामहिम आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज एक ऐसे ही ज्योतिर्धर आचार्य हैं। आप ज्ञान-योगी, ध्यान-योगी, जप-योगी, एवं स्वाध्याय-योगी सरलात्मा संत-रत्न हैं। मैंने आप-श्री के प्रथम-दर्शन कब किए, यह तिथि तो स्मरण नहीं है पर यदि मेरी स्मृति धोखा नहीं देती है तो मैंने सर्वप्रथम सन् १९५१ में मरुधरा की राजधानी जोधपुर में आपके दर्शन किए। मैंने तब अनुभव किया कि आप शान्ति-प्रिय एवं एकान्त-प्रिय सन्त हैं।

सन् १९६९ में जब आप-श्री अपने सुयोग्य विद्वान् सन्तों के साथ दक्षिण-भारत की धर्म-यात्रा कर पूना पधारे तो गुरुदेव के साथ मैं आपके स्वागतार्थ काफी दूर पहुँचा। मैंने देखा—कृशकाय में एक विराट् आत्मा का निवास है। अन्तर्मुखी साधक एवं गीर्वाण-गिरा के यशस्वी कवि होने पर भी आपमें अहंकार का कोई भाव नहीं। न्याय, दर्शन, व्याकरण और काव्यकला के निष्णात अध्येता होने पर भी मन में अस्मिता का अभाव है। जब भी देखिए, आप या तो स्वाध्याय-लीन मिलेंगे या काव्य-सृजन में अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का उपयोग करते दृष्टिगत होंगे। जब भी आप उनके पास बैठेंगे, वे आपको अपने अनुभव का अमृत बांटते हुए दृग्गोचर होंगे।

पूना के पश्चात् भी कई स्थानों पर लम्बे समय तक आपके साथ रहने का सुनहरा अवसर मिला। तब मैंने बहुत ही निकटता से आप श्री को देखा, परखा। ज्यों-ज्यों मैं आपके निकट होता गया त्यों-त्यों आपके प्रति मेरी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गई। मैंने यह अनुभव किया कि प्रत्येक साधक-सन्त को
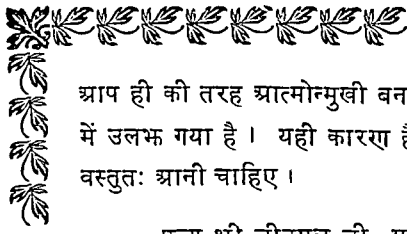
आप ही की तरह आत्मोन्मुखी बनना चाहिए। आज का सन्त स्वदर्शन को भूलकर पर-दर्शन (प्रदर्शन) में उलझ गया है। यही कारण है कि उसकी साधना मे वह तेजस्विता नहीं आ पा रही है, जो कि वस्तुतः आनी चाहिए।

पूज्य श्री जीतमल जी महाराज सदैव स्वाध्याय–निरत रहते हैं। "सज्झाय-झाण-रयोसया" स्वाध्याय और ध्यान के कारण ही आपने अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष किया है और आज आप आचार्य के गौरवपूर्ण पद पर आसीन हैं। आपके कुशल-नेतृत्व में जयमल-सम्प्रदाय विकास के कई सोपान तय कर चुका है और अब भी कर रहा है।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आचार्यप्रवर की दीक्षा-स्वर्ण-जयंती तथा हीरक-जन्म-जयन्ती मनाने का गुणज्ञों ने निर्णय लिया है। इसी पावन प्रसंग पर 'जीत-अभिनन्दन-ग्रन्थ' भी प्रकाशित होने जा रहा है। मैं अपनी अनंत-श्रद्धा के सुमन आचार्यदेव के परम-पवित्र चरणों में समर्पित करता हूँ और यह मंगल-भावना भाता हूँ कि आचार्य-देव पूर्ण स्वस्थ रहकर जिनधर्म की प्रबल प्रभावना करते रहें।

हार्दिक अभिनंदन

परम श्रद्धेय, महामहिम आचार्यप्रवर श्री १००८ श्री जीतमल जी म. सा. जैन समाज के एक महान् श्रमण-रत्न हैं। आप जैन-शास्त्रों के मर्मज्ञ एवं कुशल व्याख्याता हैं। आपकी कृतियाँ मौलिक विचारों का कोष है। आपके प्रवचन जन-जन के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। आपका स्वभाव अत्यन्त सरल व नम्र है। उत्तर से दक्षिण तक भारत का भ्रमण कर अब मारवाड़ में पद-विहार करते हुए जन-जन में जागरण का शंखनाद कर रहे हैं, धार्मिक संस्कारों को पल्लवित-पुष्पित कर रहे हैं और नैतिक-सन्देश का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। आप गुणों के सागर हैं, मैं भला वह क्षमता कहाँ से लाऊँ, जो आपके सभी गुणों का सांगोपांग वर्णन कर सके। ऐसे सद्गुरुदेव का स्मरण, उनके दर्शन एवं उनके चरणों में विधि-युक्त वन्दन बड़े महत्त्व का कार्य है, जो पूर्वार्जित पुण्यपुञ्ज के कारण ही प्राप्त होता है। हमारा पुण्योदय ही समझिए कि ऐसे महान् संत आचार्यप्रवर के चरणारविंद में आज नमन करने, वदन करने का हमें सौभाग्य मिला है। आपकी 'हीरक-जन्म-जयंती' एवं 'दीक्षा-स्वर्ण-जयंती' के शुभावसर पर मैं आपका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ।

—सुखराज जैन, कुचेरा
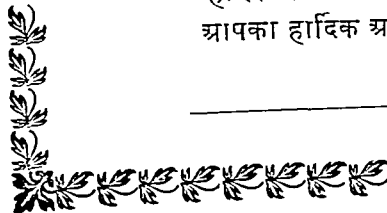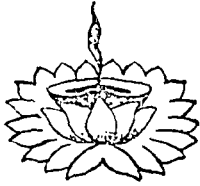
अद्भुत चुम्बकीय आकर्षण

श्री राजेन्द्रमुनि जी शास्त्री

जीवन में कई बार कुछ ऐसे क्षण भी आते हैं, जो अविस्मरणीय होते हैं, अनमोल होते हैं और अनुभव-कोष की धरोहर बन जाते हैं। आचार्य-श्री जीतमलजी महाराज साहब के दर्शनों के परम-पुनीत क्षणों को मैंने इसी कोटि में रखा है। आपके सर्वप्रथम दर्शन सन् १९६९ में पूना में हुए थे। तब मैं विद्यार्थी मुनि था तथा 'काव्य-तीर्थ' का अध्ययन कर रहा था। आप-श्री के असाधारण काव्य-ज्ञान का लाभ मुझे तब अनायास ही मिल गया था।

सन् १९७० में बम्बई-क्षेत्र में कई बार दर्शनों का सौभाग्य मिला। चातुर्मास की सन्निकटता से बार-बार मिलन-सम्मिलन के अवसर आते रहे। कांदावाड़ी में आपके साथ लम्बे समय तक रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय मैंने आपको अति निकटता से देखा। परमशांत, सरल, एकांतप्रिय महात्मा! सदा-सर्वदा स्वाध्याय-रत! आत्मोन्नति के प्रति प्रतिपल जागृत! सामाजिक-चर्चाओं से दूर, भीड़-भाड़ से अलग, यहाँ तक कि प्रवचन-निष्णात होते हुए भी प्रवचन-अभिलाषा नहीं। ये सभी कार्य पंडित-प्रवर, महामनीषी उपाध्याय-श्री लालचंद्र जी महाराज साहब को सुपुर्द। मैंने आप-श्री से इस सम्बन्ध में जब पूछा तो सहज-स्मिति से उत्तर मिला—"यह योग्य सन्तों की योग्यताओं का लाभ है कि मैं आत्मलीन हूँ।" मुझे लगा कि वस्तुतः आप-श्री अन्तर्मुखी साधना के दिव्य साधक हैं।

सन् १९७२ के सांडेराव-सम्मेलन में आप-श्री एवं मेरे पूज्य गुरुदेव एक ही भवन में विराजे। उस समय मैंने आपके साथ तत्त्व-चर्चाओं का दिल खोलकर लाभ उठाया। इतना गहन और विशाल अध्ययन! मेरा जिज्ञासु-मन प्रश्नों की झड़ी लगाता रहा और समाधान पाता रहा। सन् १९७२ में ही आपके पुनः दर्शन हुए जोधपुर में, तब मुझे एक अद्भुत अनुभूति हुई। मुझे लगा इस सन्तात्मा, महापुरुष में एक अद्भुत, चुम्बकीय आकर्षण है, जिसकी शक्ति के बल पर व्यक्ति स्वतः खींचा हुआ आता है आपके पास और वह चुम्बकीय शक्ति है आपका सहज, आत्मीय स्नेह!

स्वर्ण-दीक्षा-जयन्ती के इस पावन-प्रसंग पर मैं आपके दीर्घायु होने की मंगल कामना करता हूँ। आप स्वस्थ एवं सबल बनकर निरन्तर जिन-शासन की सेवा करते रहें, यही मनोभिलाषा है।

—शिष्य : उ. प्र. श्री पुष्करमुनि जी म. सा.

देखता रह गया था मैं

☐

श्री दिनेशमुनि जी म. सा.

※ प्राचीन युग के किसी महर्षि-सा यह संतात्मा कौन ?

※ इसका तप:पूत जीवन जन-जन के लिए प्रेरणा-स्रोत क्यों ?

※ गहन, गंभीर, प्रशान्त चेहरे पर सभी को प्रभावित करने वाला यह दिव्याकर्षण कैसा ?

परम श्रद्धेय गुरुवर उपाध्याय-श्री पुष्करमुनि जी महाराज जिस समय आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज के चरणारविंदों में नतमस्तक थे और आचार्य-श्री पूज्य गुरुदेव पर आशीर्वाद-मुद्रा में हृदयोदगार व्यक्त कर रहे थे तब उपर्युक्त प्रश्न मेरे मन-मानस को उद्वेलित कर रहे थे। आचार्य-श्री के जोधपुर में प्रथम दर्शन किए थे मैंने और उनके दिव्य-साधना-तेज को टकटकी लगाकर देखता रह गया था मैं !

गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी के विहार के समय उनके शिष्य-रत्न श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री अस्वस्थ थे अतः मुझे उनकी सेवा के लिए जोधपुर रहना था। आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी महाराज एवं पण्डित-प्रवर उपाध्याय-श्री लालचन्द जी महाराज अपने शिष्य-समुदाय सहित जहाँ हम ठहरे थे, वहाँ पधारे और हमारी भाव-भीनी प्रार्थना को सम्मान देकर दो दिवस वहीं विराजे। इन्हीं दिनों मैंने अनुभव किया कि 'संत-हृदय नवनीत समाना'—आचार्य-श्री का मानस मक्खन की तरह स्निग्ध है। वृद्धों में धार्मिक चेतना का संचार, युवकों में स्वाध्याय-प्रेरणा और वालकों में अति स्नेह से धार्मिक संस्कारों के बीजों का वपन—ये हैं आपकी स्वाभाविक अभिरुचि के केन्द्र-विन्दु। आपका वह लघु-परिचय मेरे जीवन की अपूर्व थाती वन गया। उन दिनों की आपकी स्मृति कर मेरा हृदय, मेरा मन, मेरा मस्तिष्क स्वत: श्रद्धानत हो जाता है। नम्रता, सरलता, स्नेह एवं सद्भावना की इस जागृत-ज्योति के पावन-चरणों में मेरा कोटि-कोटि नमन ! आपके दीर्घायु की मंगलकामना सहित हृदय से अभिनन्दन !

—शिष्य : उ. प्र. श्री पुष्करमुनि जी म. सा.

स्नेह-सागर पूज्य आचार्य-वर

□

साध्वी श्री पुष्पवती जी म. सा.

सन्त-रत्न आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज के प्रथम पावन-दर्शन मैंने सन् १९४६ में ब्यावर में किए। मध्य भारत से पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज एवं उपाध्याय-श्री पुष्कर-मुनि जी महाराज द्वारा प्रदत्त पत्रादेश की पालना में तब मैं आगम एवं दर्शन के महामनीषी श्रुताचार्य स्वामी जी श्री चौथमल जी महाराज के दर्शनार्थ गई थी। स्वामी जी से विविध जिज्ञासाओं का सटीक समाधान प्राप्त करते हुए आप-श्री के भी परिचयात्मक दर्शन उस समय हुए।

सन् १९८२ में मेरे लघु-भ्राता श्री देवेन्द्रमुनि जी रुग्ण थे और जोधपुर में थे। मैं उन्हीं की सेवा में वहाँ ठहरी हुई थी। उस समय स्नेह-सागर आचार्य-प्रवर, श्री देवेन्द्रमुनि जी की सुखशांति पूछने के लिए पधारे और दो दिन वहीं विराज कर स्नेहामृत-वर्षण करते रहे। आप-श्री के दर्शनों के साथ विचार-चर्चा का भी सुअवसर मुझे तब मिला था। मैंने अनुभव किया कि आचार्य-श्री का आगमिक ज्ञान एवं साहित्यिक अध्ययन अति गहन व विशाल है। विशेषता यह है कि उस ज्ञान या अध्ययन के प्रदर्शन की भावना आप में तनिक भी नहीं। आप एक मननशील गम्भीर चिन्तक हैं, मनीषी सन्त हैं, प्रतिभा के धनी हैं। आपके दर्शनों से आनन्द की जो अनुभूति हुई, आज भी वह स्मृति-पटल पर अंकित है।

मैं अभिनन्दन के इस सुनहरे अवसर पर आप-श्री के चरणों में श्रद्धानत वन्दन करते हुए अपनी ओर से एवं अपनी सभी साध्वियों की ओर से यह मंगल-कामना करती हूँ कि आप पूर्ण स्वस्थ रहकर जिन-शासन की महती प्रभावना करें।

—शिष्या : उ. प्र. श्री पुष्करमुनि जी म. सा.

देखता रह गया था मैं

□

श्री दिनेशमुनि जी म. सा.

※ प्राचीन युग के किसी महर्षि-सा यह संतात्मा कौन ?
※ इसका तप:पूत जीवन जन-जन के लिए प्रेरणा-स्रोत क्यों ?
※ गहन, गंभीर, प्रशान्त चेहरे पर सभी को प्रभावित करने वाला यह दिव्याकर्षण कैसा ?

परम श्रद्धेय गुरुवर उपाध्याय-श्री पुष्करमुनि जी महाराज जिस समय आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी महाराज के चरणारविंदों में नतमस्तक थे और आचार्य-श्री पूज्य गुरुदेव पर आशीर्वाद-मुद्रा में हृदयोदगार व्यक्त कर रहे थे तब उपर्युक्त प्रश्न मेरे मन-मानस को उद्वेलित कर रहे थे। आचार्य-श्री के जोधपुर में प्रथम दर्शन किए थे मैंने और उनके दिव्य-साधना-तेज को टकटकी लगाकर देखता रह गया था मैं !

गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनि जी के विहार के समय उनके शिष्य-रत्न श्री देवेन्द्रमुनि जी शास्त्री अस्वस्थ थे अतः मुझे उनकी सेवा के लिए जोधपुर रहना था। आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी महाराज एवं पण्डित-प्रवर उपाध्याय-श्री लालचन्द जी महाराज अपने शिष्य-समुदाय सहित जहाँ हम ठहरे थे, वहाँ पधारे और हमारी भाव-भीनी प्रार्थना को सम्मान देकर दो दिवस वहीं विराजे। इन्हीं दिनों मैंने अनुभव किया कि 'संत-हृदय नवनीत समाना'—आचार्य-श्री का मानस मक्खन की तरह स्निग्ध है। वृद्धों में धार्मिक चेतना का संचार, युवकों में स्वाध्याय-प्रेरणा और बालकों में अति स्नेह से धार्मिक संस्कारों के बीजों का वपन—ये हैं आपकी स्वाभाविक अभिरुचि के केन्द्र-बिन्दु। आपका वह लघु-परिचय मेरे जीवन की अपूर्व थाती बन गया। उन दिनों की आपकी स्मृति कर मेरा हृदय, मेरा मन, मेरा मस्तिष्क स्वतः श्रद्धानत हो जाता है। नम्रता, सरलता, स्नेह एवं सद्भावना की इस जागृत-ज्योति के पावन-चरणों में मेरा कोटि-कोटि नमन ! आपके दीर्घायु की मंगलकामना सहित हृदय से अभिनन्दन !

—शिष्य : उ. प्र. श्री पुष्करमुनि जी म. सा.

स्नेह-सागर पूज्य आचार्य-वर

□

साध्वी श्री पुष्पवती जी म. सा.

सन्त-रत्न आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज के प्रथम पावन-दर्शन मैंने सन् १६४६ में ब्यावर में किए। मध्य भारत से पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज एवं उपाध्याय-श्री पुष्कर-मुनि जी महाराज द्वारा प्रदत्त पत्रादेश की पालना में तब मैं आगम एवं दर्शन के महामनीषी श्रुताचार्य स्वामी जी श्री चौथमल जी महाराज के दर्शनार्थ गई थी। स्वामी जी से विविध जिज्ञासाओं का सटीक समाधान प्राप्त करते हुए आप-श्री के भी परिचयात्मक दर्शन उस समय हुए।

सन् १६८२ में मेरे लघु-भ्राता श्री देवेन्द्रमुनि जी रुग्ण थे और जोधपुर में थे। मैं उन्हीं की सेवा में वहाँ ठहरी हुई थी। उस समय स्नेह-सागर आचार्य-प्रवर, श्री देवेन्द्रमुनि जी की सुखशांति पूछने के लिए पधारे और दो दिन वहीं विराज कर स्नेहामृत-वर्षण करते रहे। आप-श्री के दर्शनों के साथ विचार-चर्चा का भी सुअवसर मुझे तब मिला था। मैंने अनुभव किया कि आचार्य-श्री का आगमिक ज्ञान एवं साहित्यिक अध्ययन अति गहन व विशाल है। विशेषता यह है कि उस ज्ञान या अध्ययन के प्रदर्शन की भावना आप में तनिक भी नहीं। आप एक मननशील गम्भीर चिन्तक हैं, मनीषी सन्त हैं, प्रतिभा के धनी हैं। आपके दर्शनों से आनन्द की जो अनुभूति हुई, आज भी वह स्मृति-पटल पर अंकित है।

मैं अभिनन्दन के इस सुनहरे अवसर पर आप-श्री के चरणों में श्रद्धानत वन्दन करते हुए अपनी ओर से एवं अपनी सभी साध्वियों की ओर से यह मंगल-कामना करती हूँ कि आप पूर्ण स्वस्थ रहकर जिन-शासन की महती प्रभावना करें।

—शिष्या : उ. प्र. श्री पुष्करमुनि जी म. सा.

जे स भिक्खू

कवि श्री विजयमुनि जी 'विकास'

जैनागम साहित्य-जगत् के महान् तत्त्ववेत्ता, चतुर्विध संघ के विद्वद्वरेण्य, निर्मल संयम-साधना-पथ के सम्यक् पथिक, उद्यम की जीवन्त प्रतिमा, न्याय-व्याकरण-काव्य-कोष-तर्क-ज्योतिष एवं सामुद्रिक शास्त्र के सफल अध्येता और साथ ही आदर्श त्यागी ज्योतिर्धर जैनाचार्य श्री जयमल्ल जी म. सा. की परम्परा के प्रख्यात शासन-प्रभावक आचार्य-श्री जीतमलजी म.सा. की श्रुत-सेवा सुदीर्घ संयम-साधना, जिनशासन की असाधारण प्रभावना से प्रेरित हो श्री व. स्था. जैन श्रावक संघ-कुचेरा द्वारा "हीरक जन्म जयन्ती एवं दीक्षा स्वर्ण जयंती' समारोह आयोजित किया गया है, जो समग्र समाज के लिए प्रशंसनीय व समादरणीय कार्य है।

राजस्थान धरा को अनगिनत सदियों से समाजोपकार (मानव-कल्याण)-कार्यों में जैन श्रमणों का विशेष योगदान रहा है। जैन-श्रमणों के पावन-संदेशों से जन-जागृति के कार्यों में महत्त्वपूर्ण सहयोग मिला है। "मित्ति मे सव्वभूएसू" की सुमधुर झंकार को मानव-मानस में झंकृत करने वाले, मानव को मानवता की सद्राह बताने वाले निस्पृह त्यागी जैन श्रमण ही ऐसे हैं जिनकी कर्मणाशक्ति स्व-पर-कल्याणक होकर उभरी है। जैन श्रमण जब सम्प्रदायवाद, मत-पंथ के हटाग्रही दलदल में उलझ जाते हैं तब उनका विकास अवरुद्ध-सा हो जाता है किन्तु जब वे ही अपनी संयम-जीवन की मर्यादाओं का पालन करते हुए "वसुधैव कुटुम्बकम्" के साथ ही "संति मग्गं च वूहए" का दिव्य उद्घोष दिग्दिगन्त में गुंजित करते हैं, ज्ञान एवं संयम के जगमगाते आलोक से आलोकित होते हैं तब संयम-सूर्य बनकर सम्यक् साधक के रूप में उभरते हैं।

वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनेकांत आदि आस्था-परक संदेश को घर-घर पहुँचाते हैं। धर्म-ध्वज को अभेद-भाव पूर्वक फहराते हैं। भगवान् महावीर की वाणी में—

सम्मदिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु णाणे तव संजमे य।
तवसा धुणइ पुराण पावगं, मण-वय-काय सुसंवुडे जे स भिक्खू ॥[1]

अर्थात्—जो सम्यग्दृष्टि होता है, ज्ञान-तप-संयमादि में अनुरक्त रहता है, मन-वचन-काय तीनों योगों को संवृत करने वाला सफल साधक होता है, पाप-कर्मों को नष्ट करने में संलग्न रहता है; वही भिक्षु है।

वस्तुतः इन्हीं भावनाओं ने जैन श्रमणों के जीवन को गरिमामय जगद्वंद्य पद पर पहुंचाया है। पूज्य जैनाचार्य श्री जीतमल जी म. सा. ने अपना जीवन इसी क्रम में आदर्श से आदर्शतम बनाने का सत्प्रयास किया है तभी तो पूरा समाज नत-मस्तक है, आपके श्री-चरणों में। मैं भी अपनी ओर से शुभकामना-पूर्वक वन्दन-युक्त अभिनन्दन करता हूँ।

—शिष्य : प्र. श्री रमेशमुनि जी म. सा.

(१) दशवैकालिक सूत्र

जिनशासन के गौरव

अ.यो. श्री उमरावकुंवर जी म. 'अर्चना'

धर्मभूमि भारतवर्ष का कण-कण पुण्यमय संतों की पवित्र चरण-रज से सदा जगमगाता रहा है। अतीत से आज तक इन महान् संतों की त्याग और वैराग्य से परिपूर्ण जन-कल्याणी वाणी ने यहाँ सदैव सरसता, समानता, सहिष्णुता, मधुरता एवं उदारता जैसे उच्च आदर्शों को स्थापित कर मानव के आध्यात्मिक चिन्तन को एक नई दिशा और नई चेतना दी है। संतों की इसी पावन-श्रृंखला में प्रतिभा के धनी जैनागम-मर्मज्ञ महामहिम आचार्य श्री १००८ श्री जीतमल जी म. सा. का विशिष्ट स्थान है।

आप-श्री के दर्शनों का लाभ मुझे कई बार प्राप्त हुआ है। आप स्वभाव से सरल, नम्र एवं दयालु हैं। किसी भी दीन-दरिद्र को देखकर आपका हृदय मोम की तरह पिघल जाता है एवं करुणा की हिलोरें आगन्तुक के अनुताप को शान्त कर देती है। जिस तरह कस्तूरी अपनी महक से दुर्गंधयुक्त वातावरण को भी सौरभमय बना देती है उसी प्रकार आप अपने शान्त-सौम्य व्यक्तित्व के प्रभाव से मानव-समाज को सुवासित एवं आलोकित कर रहे हैं।

आपके हृदय की असीम उदारता के कारण हजारों व्यक्ति अपनी समस्याएँ, शिकायतें तथा याचनाएँ लेकर आते हैं जिन्हें आप सदैव आदर-पूर्वक सुनते हैं तथा यथासंभव उनका निराकरण करते हैं।

आपने राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि प्रदेशों में परिभ्रमण करते हुए जिनशासन के गौरव को बढ़ाया है और आज भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की अभिवृद्धि कर रहे हैं। भविष्य में भी आप द्वारा जन-कल्याण के सत्कार्य होते रहें, इसी मंगल-कामना के साथ मैं आपके उज्ज्वल भविष्य एवं दीर्घायु की प्रार्थना करती हूँ।

संघ के आशा-दीप

□

अम्बालाल नाबरिया

कथनी और करनी में एकरूपता के प्रतीक परम-श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. की मुझ पर बचपन से ही कृपा-दृष्टि रही है। आप श्रुताचार्य मरुधरा-प्राण स्वामी श्री चौथमल जी म. सा. के चतुर्थ गुरुभ्राता हैं। स्वामी जी के जीवन-काल में ही मुझे "श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ" की कार्यकारिणी में सम्मिलित कर लिया गया था। बचपन में कृपा-दृष्टि रही, किशोर-वय में धार्मिक ज्ञानार्जन की प्रेरणा रही, युवावस्था में संघ के कार्यो का उत्तरदायित्व रहा; इस प्रकार जीवन के प्रारम्भ से अब तक निरन्तर सम्पर्क स्थिर है, गतिशील भी है।

"श्री अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ" के प्रधानमंत्री के रूप में कितने ही वर्षो तक नीतिगत-निर्णयों, व्यवस्थागत-विचारों एवं अन्य बाह्य-आंतरिक मसलों पर मुझे आपसे समय-समय सलाह-मशविरा करना पड़ा, निर्देश लेने पड़े एवं विनीत आग्रह, निवेदन भी करने पड़े। आप इतने शांत-स्वभावी एवं सरल-मना हैं कि मुझे आपसे वार्ता में आनन्द की अनुभूति होती। आप दूरदर्शी होने के साथ ही त्वरित-बुद्धि भी हैं; तुरन्त निर्णय करना आपका वह गुण है, जिसके कारण जब-जब उलझनें पड़ीं, विवादास्पद मसले आए, आप ही की कृपा से मैं उन्हें सुलझाने में सफल हो सका।

आपकी प्रेरणा में कितनी शक्ति, कितना बल व सम्बल है; इसे संघ की वर्तमान शैक्षणिक एवं साहित्यिक गतिविधियों के माध्यम से निरखा-परखा जा सकता है। जोधपुर, ब्यावर आदि शहरों में श्रावकों के ज्ञान-ध्यान-वृद्धि हेतु संचालित अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों तथा पुस्तकालय, वाचनालय आदि के संचालन की योजना में भी मूल-प्रेरणा-शक्ति आप-श्री की ही है।

प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में शिक्षण शिविरों के आयोजन से इस भौतिकवादी युग में बालकों में नैतिक व धार्मिक संस्कारों का बीजारोपण कर इस राष्ट्र के भावी निर्माण व प्रगति में आप अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर रहे हैं। मुझे प्रसन्नता है कि आपने इन शिविरों के संयोजन का महत्त्वपूर्ण दायित्व मेरे कन्धों पर रखा है। निश्चय ही आपकी कृपा से मैं निरन्तर इनका सफल संयोजन कर सकूंगा, ऐसा विश्वास है।

संघ के आशा-दीप आचार्य भगवन् की मुझ पर कृपा-दृष्टि सदैव बनी रहे और उन्हीं के पावन-सम्बल से मैं संघ-विकास में अपना योगदान करता रहूँ, इसी कामना के साथ....अभिवंदन !

—जवाजा (अजमेर)

दिव्य-गुणों की महक से महकता व्यक्तित्व

मांगीलाल जांगड़ा

जब मैंने पूज्य-प्रवर आचार्य-भगवन् गुरुदेव श्री जीतमल जी म. सा. के प्रथम-दर्शन किए थे, उस समय मैं बहुत छोटा था। जब पन्द्रह वर्ष का हुआ तो राजस्थान को छोड़ कर व्यवसाय-निमित्त बेंगलोर आ गया। आज बावन वर्ष की आयु है। मुझे अब भी ठीक याद है वह चेहरा पूज्य गुरुदेव का. जिसके दर्शन मैंने वि. संवत् २०३३ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ-दिवस पर आचार्य-चद्दर-महोत्सव-आयोजन के मध्य किए थे। आश्चर्य की बात यह है कि इस बीच आज तक जब-जब भी गुरुदेव आचार्य-प्रवर के दर्शनार्थ, वंदनार्थ उनके समक्ष पहुंचा; उनके मुखारविन्द की झलक, उनके चेहरे की रूपरेखा वही थी, जैसी मैंने २०३३ में देखी। उस झलक-उस दीदार और आज के चेहरे में कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया, और तो और चेहरे पर सदाबहार छाई रहने वाली सहज, सुमधुर मुस्कान में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया।

संवत् २०३३ का समय बड़ा विकट था। एक तरफ आपातकाल था तो दूसरी तरफ गुरुदेव को आचार्य-पद दिए जाने के विरोध में कतिपय विपक्षी लोगों द्वारा विवाद की आशंका थी और इतना कुछ होते हुए भी श्रद्धालु-भक्तजनों का आशातीत जमघट था। दर्शनार्थी बन्धुओं का आगमन, जितना सोचा था उससे दुगुनी संख्या में ही हुआ। सभी के मन में कुछ-कुछ घबराहट, कुछ भय, कुछ अनहोनी घटने या गांव की बात जाने का अंदेशा था। यद्यपि आवास-भोजनादि की भरपूर व्यवस्था थी और होती भी क्यों नहीं? व्यवस्थापक थे--मेरे अग्रज कर्मठ एवं सहिष्णु कार्यकर्त्ता श्री चांदमल जी जांगड़ा। मन की शंका/आशंका गुरुदेव के कानों तक पहुंची। गुरुदेव के मुख पर वही सहज-स्मिति, मधुर-मुस्कान! बोले गुरुदेव—"आशंका, भय, घबराहट—सभी यहीं छोड़ दीजिए, किसी बात की राई-रत्ती चिन्ता मत करिए।" इतना कहकर मंगल-पाठ सुना दिया। यह गुरु-कृपा ही थी, उनका आशीर्वचन ही था कि कार्यक्रम सर्वांग सफल रहा।

आज भी उन दिनों की बात याद करता हूँ तो मन का एक किनारा रोमांचित होने लगता है और दूसरा किनारा आह्लाद व प्रसन्नता से भर आता है। मुझे गर्व है कि मैं उनका उपासक हूँ, मेरा पूरा परिवार उनका चरण-भक्त है।

उम्र के पचहत्तर वर्ष की आहुति कर एवं दीक्षा (संयम-साधना) के पैंसठ वर्षों की दीर्घावधि व्यतीत कर आपने वर्तमान जैन समाज को अपने दिव्य-गुणों की महक से महकाया है, इस चमन को सुगन्ध से भर दिया है। ऐसे उस उज्ज्वल व्यक्तित्व को, महापुरुष को, मेरे परमाराध्य को मेरा शत-शत वन्दन!

—एम. आर. पालियम, बेंगलोर-६

संघ के आशा-दीप

☐

अम्बालाल नाबरिया

कथनी और करनी में एकरूपता के प्रतीक परम-श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. की मुझ पर वचपन से ही कृपा-दृष्टि रही है। आप श्रुताचार्य मरुधरा-प्राण स्वामी श्री चौथमल जी म. सा. के चतुर्थ गुरुभ्राता हैं। स्वामी जी के जीवन-काल में ही मुझे "श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ" की कार्यकारिणी में सम्मिलित कर लिया गया था। वचपन में कृपा-दृष्टि रही, किशोर-वय में धार्मिक ज्ञानार्जन की प्रेरणा रही, युवावस्था में संघ के कार्यों का उत्तरदायित्व रहा; इस प्रकार जीवन के प्रारम्भ से अब तक निरन्तर सम्पर्क स्थिर है, गतिशील भी है।

"श्री अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ" के प्रधानमंत्री के रूप में कितने ही वर्षों तक नीतिगत-निर्णयों, व्यवस्थागत-विचारों एवं अन्य वाह्य-आंतरिक मसलों पर मुझे आपसे समय-समय सलाह-मशविरा करना पड़ा, निर्देश लेने पड़े एवं विनीत आग्रह, निवेदन भी करने पड़े। आप इतने शांत-स्वभावी एवं सरल-मना हैं कि मुझे आपसे वार्ता में आनन्द की अनुभूति होती। आप दूरदर्शी होने के साथ ही त्वरित-वुद्धि भी हैं; तुरन्त निर्णय करना आपका वह गुण है, जिसके कारण जव-जव उलझनें पड़ीं, विवादास्पद मसले आए, आप ही की कृपा से मैं उन्हें सुलझाने में सफल हो सका।

आपकी प्रेरणा में कितनी शक्ति, कितना वल व सम्वल है; इसे संघ की वर्तमान शैक्षणिक एवं साहित्यिक गतिविधियों के माध्यम से निरखा-परखा जा सकता है। जोधपुर, व्यावर आदि शहरों में श्रावकों के ज्ञान-ध्यान-वृद्धि हेतु संचालित अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों तथा पुस्तकालय, वाचनालय आदि के संचालन की योजना में भी मूल-प्रेरणा-शक्ति आप-श्री की ही है।

प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में शिक्षण शिविरों के आयोजन से इस भौतिकवादी युग में वालकों में नैतिक व धार्मिक संस्कारों का वीजारोपण कर इस राष्ट्र के भावी निर्माण व प्रगति में आप अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर रहे हैं। मुझे प्रसन्नता है कि आपने इन शिविरों के संयोजन का महत्त्वपूर्ण दायित्व मेरे कन्धों पर रखा है। निश्चय ही आपकी कृपा से मैं निरन्तर इनका सफल संयोजन कर सकूंगा, ऐसा विश्वास है।

संघ के आशा-दीप आचार्य भगवन् की मुझ पर कृपा-दृष्टि सदैव वनी रहे और उन्हीं के पावन-सम्वल से मैं संघ-विकास में अपना योगदान करता रहूँ, इसी कामना के साथ····अभिवंदन !

—जवाजा (अजमेर)

दिव्य-गुणों की महक से महकता व्यक्तित्व

मांगीलाल जांगड़ा

जब मैंने पूज्य-प्रवर आचार्य-भगवन् गुरुदेव श्री जीतमल जी म. सा. के प्रथम-दर्शन किए थे, उस समय मैं बहुत छोटा था। जब पन्द्रह वर्ष का हुआ तो राजस्थान को छोड़ कर व्यवसाय-निमित्त बेंगलोर आ गया। आज बावन वर्ष की आयु है। मुझे अब भी ठीक याद है वह चेहरा पूज्य गुरुदेव का, जिसके दर्शन मैंने वि. संवत् २०३३ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के शुभ-दिवस पर आचार्य-चद्दर-महोत्सव-आयोजन के मध्य किए थे। आश्चर्य की बात यह है कि इस बीच आज तक जब-जब भी गुरुदेव आचार्य-प्रवर के दर्शनार्थ, वंदनार्थ उनके समक्ष पहुंचा; उनके मुखारविन्द की झलक, उनके चेहरे की रूपरेखा वही थी, जैसी मैंने २०३३ में देखी। उस झलक-उस दीदार और आज के चेहरे में कोई अन्तर दिखाई नहीं दिया, और तो और चेहरे पर सदाबहार छाई रहने वाली सहज, सुमधुर मुस्कान में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया।

संवत् २०३३ का समय बड़ा विकट था। एक तरफ आपातकाल था तो दूसरी तरफ गुरुदेव को आचार्य-पद दिए जाने के विरोध में कतिपय विपक्षी लोगों द्वारा विवाद की आशंका थी और इतना कुछ होते हुए भी श्रद्धालु-भक्तजनों का आशातीत जमघट था। दर्शनार्थी बन्धुओं का आगमन, जितना सोचा था उससे दुगुनी संख्या में ही हुआ। सभी के मन में कुछ-कुछ घबराहट, कुछ भय, कुछ अनहोनी घटने या गांव की बात जाने का अंदेशा था। यद्यपि आवास-भोजनादि की भरपूर व्यवस्था थी और होती भी क्यों नहीं? व्यवस्थापक थे--मेरे अग्रज कर्मठ एवं सहिष्णु कार्यकर्त्ता श्री चांदमल जी जांगड़ा। मन की शंका/आशंका गुरुदेव के कानों तक पहुंची। गुरुदेव के मुख पर वही सहज-स्मिति, मधुर-मुस्कान! बोले गुरुदेव—"आशंका, भय, घबराहट—सभी यहीं छोड़ दीजिए, किसी बात की राई-रत्ती चिन्ता मत करिए।" इतना कहकर मंगल-पाठ सुना दिया। यह गुरु-कृपा ही थी, उनका आशीर्वचन ही था कि कार्यक्रम सर्वांग सफल रहा।

आज भी उन दिनों की बात याद करता हूँ तो मन का एक किनारा रोमांचित होने लगता है और दूसरा किनारा आह्लाद व प्रसन्नता से भर आता है। मुझे गर्व है कि मैं उनका उपासक हूँ, मेरा पूरा परिवार उनका चरण-भक्त है।

उम्र के पचहत्तर वर्ष की आहुति कर एवं दीक्षा (संयम-साधना) के पैंसठ वर्षों की दीर्घावधि व्यतीत कर आपने वर्तमान जैन समाज को अपने दिव्य-गुणों की महक से महकाया है, इस चमन को सुगन्ध से भर दिया है। ऐसे उस उज्ज्वल व्यक्तित्व को, महापुरुष को, मेरे परमाराध्य को मेरा शत-शत वन्दन!

—एम. आर. पालियम, बेंगलोर-६

मम जीवन प्रेरक

अमरचंद बांठिया

दीक्षा आना क्या सहज कार्य है ? प्रथम तो दीक्षा के भावों का प्रस्फुटन ही कठिन है। यदि ऐसा कभी निमित्त या संयोग से हो भी जाए तो परिवार वालों की सहमति प्राप्त करना बालू-रेत में से स्निग्ध-तेल निकालना है। वि. संवत् २०२२ के ग्रीष्मकाल की समाप्ति पर पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा. ठाणा पांच से पेरम्बुर, मद्रास पधारे। उन्हीं के साथ थे वर्तमान आचार्य-प्रवर। उस समय आप 'मुनि-श्री जीतमल जी महाराज' के नाम से पुकारे जाते थे। मैं तब युवा था और आपके सहज-सरल स्वभावी एवं मृदुभाषी व्यक्तित्व से प्रभावित हो आप से सम्पर्क बढ़ाने लगा। आपकी सेवामें बैठा रहता और ज्ञान-ध्यान भी करता। आपका उस समय अपने गुरुदेव के प्रति सेवाभाव एवं छोटे सन्तों के प्रति परम-वात्सल्य देखकर मेरा मन आप-श्री के प्रति अधिक आकर्षण का अनुभव करने लगा। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि मैं मुनि बनने के स्वप्न देखने लगा, आप मेरे आदर्श-नायक थे, मैं चाहता था—आपके चरणों की सेवा करना, आपके पाद-पद्मों में अपने जीवन को अर्पित करना। पर जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही संकेत दे दिया है, दीक्षा कोई सहज कार्य नहीं है। मन के ऐसे अच्छे मनोरथ सहसा पूरे हो जाएँ, ऐसा सौभाग्य प्रत्येक प्राणी का कहाँ ? नहीं कह सकता कि परिस्थितियों का चक्कर ही उस समय ऐसा चला था अथवा कि परिस्थिति वैसी जान-बूझ कर पैदा की गई थी, जिससे मुझे किसी दूरस्थ स्थान पर जाना पड़ा और इस तरह वहाँ रहना पड़ा, इतने समय तक रहना पड़ा कि हृदय के किसी भाग में अंकुरित वैराग्य-बीज पुनः मुरझा कर, सूखकर निःस्पन्द हो गया।

आज उस बात को दो दशक व्यतीत हो चुके हैं। मैं भी पारिवारिक उलझनों व परिस्थितियों में इतना आबद्ध हो गया हूँ कि उन दिनों की स्मृति भी स्वप्न बन गई है। इस पर भी कभी-कभी स्मृतियों के घेरे को तोड़कर यादों के पंख पर आरूढ़ वे बातें मेरे मन-मस्तिष्क को आलोड़ित कर बैठती हैं, वे दिन—वे क्षण—वे घटनाचक्र फिर भुलाए नहीं भूलते। आज मेरे जीवन में सामायिक और स्वाध्याय का जो नियमित स्थान है, वह आप-श्री की ही कृपा है, आशीर्वाद है, देन है। पैंसठ वर्ष का सुदीर्घ साधना-काल आपने तय कर लिया है, निरन्तर प्रगति करते हुए आप आचार्य के गरिमामय पद को सुशोभित कर चुके हैं। भविष्य में आपके सफल नेतृत्व, निदर्शन की सारा संघ अभिलाषा रखता है। मैं भी इस शुभ-प्रसंग पर अपने जीवन-प्रेरक के चरणारविन्द में वंदन, नमन करते हुए आपके मंगल आशीर्वाद की चाह रखता हूँ।

मंगल-पाठ बनाम कार्य-सिद्धि

इन्दरचंद सिंघवी

अप्रेल १९७९ में मद्रास से मारवाड़ की मेरी यात्रा सियाट में 'राजकीय विद्यालय भवन'-निर्माण के लिए हुई। भवन-निर्माण-कार्य एक सामाजिक कार्य था। अर्जित धन का सदुपयोग करने की मेरी धुन थी अतः मैंने इस कार्य को स्व-सम्पत्ति से सम्पन्न कराने का निर्णय लिया था। मारवाड़ आने के बाद शिलान्यास के लिए ब्राह्मण से मुहूर्त निकलवाया तदनुसार दिनांक १७ अप्रेल १९७९ को शिलान्यास किया जाना तय हुआ। सियाट ग्राम के सरपंच श्री मिश्रीलाल जी चौधरी, मेरे घनिष्ट मित्र श्री नारायणलाल चौधरी और मेरे चाचा श्री देवीचंद जी सिंघवी के साथ मैं जयपुर पहुंचा। शिलान्यास के लिए कुछ आडम्बर, कुछ प्रदर्शन, कुछ विशेष व्यवस्था चाहता था अतः क्षेत्र के विधानसभा सदस्य श्री माधोसिंह जी दीवान से मिलकर मंत्री महोदय से शिलान्यास हेतु दिनांक व समय की स्वीकृति प्राप्त की। जयपुर से पुनः सियाट आते हुए यात्रा-मार्ग में पूज्य गुरुदेव आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. के दर्शनों की लालसा जागृत हुई। पूर्व जन्म के संस्कार कहिए या पैतृक संस्कारों से संस्कारित मनोभूमि, मेरी कुछ ऐसी दृढ़ धारणा है कि किसी भी नए शुभ-कार्य की शुरूआत से पूर्व गुरुदेव के मुखारविन्द से 'मंगलपाठ' अवश्य सुन लेनां चाहिए। मन में इस दृढ़-श्रद्धा के कारण मुझे कठिन से कठिनतर कार्यों में भी सहज सफलता मिलती रही है।

आचार्य-प्रवर उस समय जवाजा में विराजमान थे। हम सभी ब्यावर से बस द्वारा वहाँ पहुंचे। दर्शन एवं वंदन कर आनंदित हृदय से आचार्य-प्रवर के निकट आसन लेकर बैठ गए। वार्तालाप के मध्य सियाट के विद्यालय-भवन-निर्माण की बात भी चली। आचार्य-प्रवर ने शिलान्यास मुहूर्त की तिथि व समय को सुनकर सहसा आश्चर्य प्रकट किया। कुछ सोच-विचार कर आपने फरमाया कि इस मुहूर्त पर कुछ बाधा की संभावना प्रतीत हो रही है.....। हमने बहुत विनती की आप-श्री से कुछ अधिक बताने की इस सम्बन्ध में पर आपने तो जैसे मौन ही धारण कर लिया।

आचार्य-प्रवर का यह संकेत अचानक मेरे अन्तस्तल तक किसी अज्ञात-शक्ति की तरह पैठ गया। मैंने सोचा—गुरु-दर्शन एवं उनके श्रीमुख से मंगल-पाठ-श्रवण से बढ़कर दूसरा कौनसा शुभ मुहूर्त होगा, अतः सियाट पहुंचते ही कल प्रातः कार्य की शुरूआत करवा देनी चाहिए।

मंगल-पाठ सुन हम शीघ्र सियाट पहुँचे । अगले दिन प्रात. ही ब्राह्मण को बुलाया, कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को इकट्ठा किया और कार्य का शुभारम्भ करवा दिया । अब मैं निश्चित हो गया कि मंगल-पाठ सुना हुआ है अतः कार्य निर्विघ्न ही संपन्न होगा ।

मध्याह्न हम पाली पहुंचे, शिलान्यास-कार्यक्रम हेतु निमंत्रण-पत्रिका छपवाने । वापिस पाली से सियाट लौटे । उसी दिन रात्रि को बारह बजे मद्रास से टेलीफोन पर एक शोक-संदेश मिला । मेरे पिताजी श्री घेवरचंद जी सिंघवी को हार्ट अटेक हुआ और वे स्वर्गवासी हो गए । मुझे उसी दिन अकस्मात् मद्रास के लिए प्रस्थान करना पड़ा । लौकिक रीति-रिवाज में कितने ही दिन लग गए । इधर शिलान्यास आदि कार्यक्रम हुए तो सही पर सब हमारी अनुपस्थिति में, केवल एक रश्म-पूर्ति के लिए ।

लगभग एक साल पश्चात् भवन-निर्माण-कार्य सम्पन्न हुआ । हमारा सौभाग्य कि उसी वर्ष सियाट में श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन आचार्य-प्रवर के सान्निध्य में हुआ । शिविर आयोजन-स्थल भी यह नवनिर्मित विद्यालय भवन ही रहा । शिविर-समापन के ठीक अगले दिन पाली जिलाधीश महोदय के कर-कमलों से वि. स. सदस्य श्री माधोसिंह जी दीवान की अध्यक्षता में विद्यालय-भवन का उद्घाटन हुआ ।

तब से मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ बन गया है कि किसी भी नए शुभ-कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य भगवन् के श्रीमुख से मंगल-पाठ सुन लिया जाय तो निश्चय ही कार्य निर्बाध संपन्न होता है ।

—ट्रिप्लीकेन (मद्रास)

आचार्यप्रवरो जयताज्जगत्याम्

महामहिमा-मंडित, गद्य-पद्य-विद्या-विशारद, आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. जैन-परम्परा के मनीषी साधक और उन्नायक हैं । उनका चिन्तन और कृतित्व कालजयी है । उनके दिव्य कृतित्व और पावन-साधना के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने एवं श्रमण-संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रचार-प्रसार हेतु उन्हें जो 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया जा रहा है, यह सम्पूर्ण जैन-जगत् के लिए गौरवप्रद प्रसंग है ।

मैं आचार्य महाराज साहब की निर्मल संयम-साधना, दिव्य योगदान, प्रोन्नत चारित्र्य-बल, प्रशस्त तथा उदात्त प्रवचन-शैली एवं सम-सामयिक चिन्तनयुक्त कृतित्व से बहुत अधिक प्रभावित हूँ । वे भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन की अभूतपूर्व प्रभावना कर रहे हैं, अतः उनके प्रति श्रद्धाभिभूत हूँ । उनके गुण-स्मरण के प्रसंग पर मैं भ. जिनेन्द्र-देव के शासन से प्रार्थना करता हूँ कि पूज्य महाराज साहब चिरायुष्क प्राप्त कर 'स्व'-साधन के साथ-साथ प्राणिमात्र के कल्याण का सुपथ प्रशस्त करते रहें ।

—डा. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
दमोह—४७०६६१ (म. प्र.)

शांति के सागर

☐
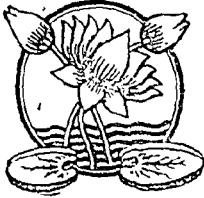
मोतीलाल मेहता

दीक्षा लेना एवं संयम का पालन करना बहुत कठिन कार्य है। साधु का जीवन तो अनिश्चितताओं से घिरा होता है। उनका भोजन, उनका निवास, उनका जीवन-साधन सब कुछ अनिश्चित होता है। मिला तो आहार किया, न मिला (शुद्ध, प्रासुक न मिला) तो भूखे रह लिया। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कहीं बंगले, भव्य-भवन, सुन्दर मकान तो कहीं झोंपड़ी, ढूंढ़ा और कहीं वह भी नहीं, वृक्षतले ही रात्रि-व्यतीत कर ली—ये सभी अनिश्चितताएँ ही तो हैं। संयम का साधक इन अनेक अनिश्चितताओं, कष्टों, बाधाओं के होते हुए भी अपनी साधना में एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है। यह उसका आत्मिक आनन्द है। वह आत्मा में रमण करता है, 'स्व' में रत रहकर चिन्तन-पूर्वक स्वाध्याय-लीन होता है और ज्ञान-गंगा में गोते लगाता है। परम-पुरुषार्थ द्वारा आत्म-कल्याण कर वह अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सफल बनाता है।

हमारे गुरुदेव परम-पूज्य आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. ऐसे ही आत्मिक आनन्द की पल-पल अनुभूति करने वाले एक दिव्य-सन्त हैं। जीवन में आने वाले कष्टों को वे सुख की शय्या मानते हैं, किए हुए कर्मों का भोग मानते हैं। आप स्वभाव से शांत हैं, शांति के सागर हैं, क्रोध तो आपके पास आता हुआ भी डरता है। शरीर से आपको कोई मोह नहीं, तभी तो आप इतने दुर्बल हैं। आपका अमिट आत्मबल एवं ज्ञानातिशय वे गुण हैं जिनके कारण आपने दृढ़ता-पूर्वक सुदीर्घ संयम-साधना का पालन किया और अब भी संयम के पालन में वही दृढ़ता है। आचार्य-पद का विगत एक दशक भी इस बात का द्योतक है कि आप ज्ञान-गुण-भण्डार हैं।

अब मैं उस घटना पर आता हूँ जो आपके जीवन-संयम के, संयम-साधना के प्रभाव को परिलक्षित करती है। हो सकता है वह कोई चमत्कार न हो पर है असाधारण घटना और निश्चय ही भ्राता का इस तरह बच जाना आपके सुदर्शन का ही प्रभाव था, आपके लिए हृदय में जो श्रद्धा है उसी का चमत्कार था।

घटना रायपुर (मारवाड़) की है। जयमल-जयन्ती का आयोजन था तथा पूज्य गुरुदेव वहीं विराजमान थे। मेरे भ्राता श्री केवलमल जी सा मेहता गुरुदेव के दर्शनार्थ गए, मैं भी साथ था। हम

मनीषी-सन्त का अभिनन्दन

जे. रतनचन्द बोहरा

राजस्थान का नागौर जिलान्तर्गत कुचेरा ग्राम मेरा पैतक गाँव है। आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा. मेरे परम-श्रद्धेय गुरुवर हैं। प्रसन्नता का विषय है कि मेरे गुरुवर की हीरक-जन्म व स्वर्ण-दीक्षा जयन्ती कुचेरा में आयोजित की जा रही है।

जैनधर्म अति प्राचीन धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, सहिष्णुता, भ्रातृत्व-भावना जैसे विश्व-कल्याणकारी सिद्धांतों की नींव पर ही इस धर्म के भव्य-महल का निर्माण हुआ है। अनेकान्त व स्याद्‌वाद जैसे मौलिक जैन सिद्धांतों ने विश्व दर्शन को एक नया पथ दिया है, एक नई दिशा दी है। आज के भौतिकवादी युग में प्रेरणादायक एवं अनुकरणीय जैन धर्म के सन्त-सती-वृन्द का जीवन भी अत्यन्त कठोर आत्म-साधनालीन एवं उत्कृष्ट तपश्चर्या-युक्त है। इस धर्म के सिद्धांतों की एवं उन सिद्धांतों के अनुयायियों की तुलना इस युग के किसी भी अन्य धर्म या धर्मावलम्बियों से करना संभव नहीं है। श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य-प्रवर का यह अभिनन्दन, उनकी साधना का यह सम्मान निश्चय ही हम सबके लिए प्रेरणादायक है।

श्री जयमल जैन चतुर्विध संघ के आप नवम पट्टधर आचार्य हैं। प्रातः स्मरणीय युगप्रणेता स्व. आचार्य-सम्राट् श्री जयमल्ल जी म. सा. अपने समय के प्रख्यात-क्रांतिकारी, क्रियोद्धारक, विलक्षण-बुद्धि एवं कौशल के धनी, अत्यधिक प्रतिभा-सम्पन्न सन्त हुए थे। कठिन तपश्चर्यान्तर्गत आपने पचास वर्षों तक शयनासन का त्याग कर दिया था तथा सोलह वर्षों तक एकान्तर उपवास की तपश्चर्या की थी।

इन्हीं की शिष्य-परम्परा में वर्तमान आचार्य-श्री के बडे गुरुभ्राता श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमल जी म. सा. हुए थे, जो एकता व संगठन के प्रवल समर्थक थे। शास्त्रीय प्रवक्ता, उच्चकोटि के समाधान-कर्त्ता, आशुकवि होने के साथ-साथ आप अपने समय के अत्यंत लोकप्रिय सन्त थे। ऐसे सन्त जो सरलता, नम्रता, करुणा व दया की तो मानो साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे।

आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. भी स्वभाव से वडे ही शांत, सौम्य एवं धीर हैं। आगम-मर्मज्ञ होने के साथ-साथ आप ज्योतिप-विद्या के भी पारंगत विद्वान् हैं। विश्व के विभिन्न दर्शनों का आपने गूढ़ अध्ययन किया है। आप संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि कई भाषाओं के उच्चकोटि के ज्ञाता हैं। ऐसे महान् त्यागी, विरागी, मनीषी-संत का अभिनंदन करते हुए हम अपने आपको कृतार्थ व गौरवान्वित अनुभव कर रहे हैं।

मैं इस महान् साधना-शील श्रेष्ठ-सन्त के लिए यही शुभकामना करता हूँ कि ये स्वस्थ व दीर्घ जीवन जीएँ एवं जिनशासन की अधिकाधिक सेवा करें।

—साउकार पेठ (मद्रास)

आत्म-प्रेरणा के प्रबल-स्रोत

अत्यन्त हर्ष एवं प्रसन्नता का विषय है कि आंग्ल दिनांक २३ व २४ जून १९८६ को कुचेरा (जिला : नागौर) राजस्थान में आचार्य-प्रवर श्रमण-श्रेष्ठ पंडित-रत्न महामहिम अनन्त-श्री विभूषित श्री जीतमल जी म. सा. की हीरक-जयन्ती अदम्य उत्साह एवं धूमधाम के साथ मनाई जा रही है। परम-श्रद्धेय महाराज-श्री ने अपने सच्चरित्र, तप:साधना, आध्यात्मिक जीवन-शैली और प्रवलतम दार्शनिक भावनाओं के कारण राजस्थान में इतस्तत: सर्वत्र वडा पावन वातावरण वना रखा है, जिसके फलस्वरूप आबाल-वृद्ध श्रद्धालु अपने जीवन के उद्धार के लिए तन्मयता से सतत निरत रहते हैं। आप-श्री के मन-मानस में आत्मशक्ति का प्रगल्भ साम्राज्य स्थापित है। यही कारण है कि इस वृद्धावस्था में अति-कृशकाय होने पर भी महाराज-श्री ने अस्थि-भंग के दारुण दु:ख को वड़े धैर्य के साथ सहन कर लिया। सामान्यत: वय के उत्तरार्द्ध में अस्थि-भंग का प्रकृतिस्थ हो जाना एक आश्चर्य ही है। निश्चय ही आचार्य-प्रवर की प्रवल सहनशीलता एक अमोघ औषधी सिद्ध हुई है।

इस तप: पूत, यशस्वी, जयसंघाचार्य ने आज अपनी साधना की, सन्त-आश्रम की जाज्वल्यमान ६५ वर्ष की लम्वी अवधि तय कर ली है और आयु के पचहत्तरवें वर्ष को पार कर लिया है। ऐसे परम-पावन साधक की, एक त्यागी-महात्मा के प्रेरक-जीवन की "हीरक जयन्ती" मनाना सर्वथा शोभनीय एवं उपादेय है। मुझे पूरा विश्वास है कि यह पवित्र प्रसंग जन-जन के लिए अजस्र आत्म-प्रेरणा का प्रवल-स्रोत सिद्ध होगा।

—वैद्य रतनलाल परमार
डेलची (बु.) म. प्र.

गुरु-स्मरण का प्रताप

पद्मा जैन

आचार्य-श्री जीत ! यथा नाम तथा गुण ! स्वयं सर्वत्र जय-विजय (जीत) का वरण करने वाले तो आप हैं ही पर नाम का प्रताप भी क्या कहिए ? अहा ! "जो रटे जीत रसना तो मिले जीत कसना ।"[1] कार्य-सिद्धि के लिए अनेक सुधी-जन आपके पावन-दर्शन कर कार्य-क्षेत्र में कदम रखते हैं। मेरे भ्राता श्री जवाहरलाल मारवाड़ गुरुदेव के दर्शनार्थ गए । दर्शन, वन्दन, चरण-स्पर्शन कर मारवाड़ से पुन: बेंगलोर के लिए रवाना हुए । थकान से आंखें बोझिल हो रही थीं अत: टिकट-चैकर (टी. टी.) से कह आए कि मुझे गुंतकल स्टेशन पर उठा देना, जगा देना । गाड़ी गुंतकल पर रात्रि एक बजे पहुंचती है । जवाहर सो गया, गहरी नींद आ गई, गुंतकल स्टेशन निकल गया । किसी यात्री-भाई ने जगाकर कहा—आपका गुंतकल स्टेशन तो निकल गया, लगभग चार-पांच किलोमीटर पीछे छूट गया होगा । अगला स्टेशन आने वाला था पर सिगनल नहीं गिरने से गाड़ी बाहर ही रुक गई । मेरे भ्राता उठे, सामान उठाया और वहीं उतर गए । सिगनल गिरा तो गाड़ी भी चल दी ।

अंधेरी रात, सुनसान जंगल, तेज हवा, गहरी निद्रा से उठने के कारण तीव्र प्यास से बेहद सूखा-सूखा कण्ठ । भय से मन विचलित हो रहा था । उस पर उस बियावान में कभी-कभी जंगली जानवरों की आवाजें, कभी रेंगते हुए सर्पो का एकदम पास से निकलना, कभी नेवले जैसे पशुओं का दौड़ते हुए नजर आना । मन में जब भय समा जाता है तो कल्पनाएँ भी साकार होकर उठने लगती हैं । हाथ में सामान लेकर अब कदम-कदम आगे बढ़ना भी उसके लिए कठिन कार्य बन गया । वह सोचने लगा—"यह क्या हुआ ? मैं तो गुरुवर के पावन-दर्शन करके आ रहा हूँ, फिर यह घटना ? अहो मेरे परम-पूज्य गुरुदेव ! मेरी रक्षा करिए, प्रभो ! मुझे इस संकट से उबारिए ।" गुरुदेव ! गुरुदेव !! कहते हुए उसने महामंत्र का स्मरण प्रारम्भ किया । आपत्ति, विपत्ति एवं दु:ख के समय गुरु, प्रभु एवं चमत्कारिक मंत्र-तन्त्रों की स्मृति कुछ अधिक ही हो आती है । इधर तो मेरे भ्राता ने पूज्य गुरुदेव को स्मरण किया, नमस्कार महामंत्र का जप प्रारम्भ किया; उधर गश्त दे रहे दो सिपाहियों (पुलिस मेन) ने उसे आ दबोचा । भ्राता ने समझा—यह क्या नई मुसीबत? पर मन भीतर से कहीं शांत भी था— चलो अच्छा है, कम से कम इस सुनसान का डर तो नहीं रहेगा ।

---

१. कैसे नहीं

सिपाहियों ने उसे कोई चोर/उचक्का/डाकू समझा और हाथ का सामान छीन कर कहा—"चुपचाप हमारे साथ गुंतकल रेलवे पुलिस चौकी चले चलो। गलत हरकत की तो परिणाम बुरा होगा।" मेरे भ्राता ने सोचा—"अंधे को क्या चाहिए ? दो आंखें ! भगवान ने, गुरुदेव ने इन सिपाहियों को संभवतः मेरी रक्षार्थ ही यहाँ भेजा है। हो सकता है यह महज संयोग हो पर संयोग में निमित्त तो गुरु-कृपा ही है।" गुंतकल स्टेशन आने तक ऐसे ही अनेकानेक विचार उसके मन में उठते रहे, सागर की अनगिनत तरंगों की तरह और वह उन्हीं तरंगों में झूलता-चलता रहा। स्टेशन पर पूछताछ हुई, प्रश्नोत्तर हुए, तहकीकात हुई। पूरे धैर्य के साथ उसने यथार्थ का अथ-इति बयान किया। अपना परिचय दिया, गुरुवर का परिचय दिया। गुंतकल का टिकट निकाला और बतौर साक्षी पेश किया।

आगे उसे बैंगलोर जाना था, यह बताने पर स्टेशन-मास्टर ने कहा—"आपके धर्म-गुरु निश्चय ही कोई पहुंचे हुए औलिया, पीर, सिद्ध-महात्मा हैं। उनके स्मरण से ही आप इस रात्रि में भयानक वन से निकल सके, यहाँ पुलिस की झंझटों से बच सके और प्रसन्नता की बात यह है कि आप के भाग्य ने अब फिर साथ दिया है। सिकन्दराबाद वाली गाड़ी जो अब से डेढ़ घंटे पूर्व निकल जानी चाहिए थी, आज दो घंटे देरी से आ रही है। आप तब तक आराम कर लें, तरोताजा हो जाएँ, जितने गाड़ी आती ही होगी।"

आधे घंटे बाद मेरे भ्राता की वह प्रतीक्षित गाड़ी आई। स्वयं स्टेशन मास्टर ने रिजर्वेशन दिलवा दिया, गाड़ी में सामान रखवा दिया और भ्राता को स्वयं आकर रिजर्व सीट पर बिठा गया। मैंने जब मेरे भ्राता के मुख से पूर्ण विवरण सुना तो बोली—"भैया ! सच ही इस बार तेरे भाग्य ने तुझे अच्छा साथ दिया।"

भैया हंसकर बोला – "बहन! भाग्य ने तो दिया या नहीं, मैं नहीं जानता पर इतना जरूर जानता हूँ कि यह सब गुरु-स्मरण का प्रताप है, गुरुदेव की कृपा है, गुरुवर का पावन–आशीर्वाद है जो मेरा सौभाग्य बन कर मेरे रक्षक के रूप में विपत्तियों में मेरा मददगार रहा। गुरु 'जीत' से ही मुझे 'जीत' की प्राप्ति हुई, मैं आपत्तियों से मुकाबला कर सका।"

मैंने मन ही मन साधना के उस अमर पुजारी को श्रद्धा-पूर्वक नमन किया।

आज भी जब इस प्रसंग का स्मरण हो आता है तो मन-मानस उस सिद्ध अवधूत के प्रति स्वतः श्रद्धार्चन करने लगता है और मस्तिष्क उस संयम-सपूत के चरणारविन्द में श्रद्धावनत हो जाता है।

—अलसूर (बैंगलोर)

गर्व है मुझ को मेरे गुरुवर पर

नवरतनमल लूंकड़

अपने हृदय-देव, श्रद्धेय गुरुदेव के विषय में कुछ लिखना, उनके जीवन-व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना ऐसा ही कार्य है जैसे कोई व्यक्ति किसी चलते-फिरते प्रकाश-स्तम्भ को नन्हें दीपक का धुंधला प्रकाश दिखाए। आपके व्यक्तित्व के इतने रंग हैं कि सभी का सम्मिश्रण-प्रतीक केवल 'श्वेत' ही नजर आता है। व्यक्तित्व के इतने विभिन्न रगों से कुछेक रंग पकड़ पाना अत्यन्त मुश्किल कार्य है, इस पर भी वसन्त के खिलने पर कोकिल-कण्ठ की कुहु-कुहु तो वातावरण को मुखरित कर ही देती है। मैंने अपने गुरुवर को जैसा देखा, मेरी नजर से जैसा उन्हें पाया, वैसा ही शब्दों के माध्यम से उनका चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ:

आज के युग में धर्म-गुरुओं ने राजगुरुओं का बाना धारण कर लिया है। ऐसे गुरुओं के हर छोटे-बडे उत्सव-समारोहों में राजनेताओं की भीड़ इकट्ठी करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया जाता है। धर्म के नाम पर शून्य और श्रद्धा के नाम पर ऋणात्मक श्रेणी के वे नेता हजारों-लाखों लोगों का मूल्यवान अमूल्य समय देर से आकर नष्ट करते हैं, भाषणों में धर्म को धक्का देकर सरकार की नीतियों के प्रचार-प्रसार का उपयुक्त मंच बनाते हैं और अपने वहाँ आने के मुख्य उद्देश्य को भूलकर कुछ का कुछ प्रलाप कर जाते हैं। इस पर भी राजगुरुओं (साधुओं) के संकेतों पर उन नेताओं का असाधारण सत्कार-सम्मान ही नहीं किया जाता, समाज के एकत्रित धन का दुरुपयोग करते हुए उन्हें थैलियाँ भी भेंट में दी जाती हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब ऐसे वातावरण में धर्म के दीवानों, गुरु के श्रद्धावानों, सामायिक और स्वाध्याय में रत श्रावकों को हमारे वे आडम्बर-पसंद गुरु भुला देते हैं, अनदेखा कर देते हैं, उनकी उपेक्षा कर जाते हैं। हम भी तो तब भीड़ के भेड़िये बने रहते हैं। क्या हम उन राजनेताओं की वे टीका-टिप्पणियाँ सुनने वहाँ एकत्रित होते हैं या अपने श्रद्धेय धर्म-गुरुवर की वाणी का रसास्वादन करने ?

आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. इस माहौल, इस वातावरण और इस चहल-पहल, आडम्बर, दिखावे, भीड़-भाड़ से दूर रहने वाले संत-महात्मा हैं। श्रमण संघ से विलग हो जाने के बाद जब सोजत शहर में प्रथम जय-संघीय श्रावक-सम्मेलन का आयोजन किया गया था तब से रायपुर में 'आचार्य-चद्दर-महोत्सव' या फिर झूंठा, रायपुर, कुशालपुर, महामन्दिर, जोधपुर, जवाजा, सियाट आदि के शिविरोत्सव

सिपाहियों ने उसे कोई चोर/उचक्का/डाकू समझा और हाथ का सामान छीन कर कहा—"चुपचाप हमारे साथ गुंतकल रेलवे पुलिस चौकी चले चलो। गलत हरकत की तो परिणाम बुरा होगा।" मेरे भ्राता ने सोचा—"अंधे को क्या चाहिए? दो आंखें! भगवान ने, गुरुदेव ने इन सिपाहियों को संभवतः मेरी रक्षार्थ ही यहाँ भेजा है। हो सकता है यह महज संयोग हो पर संयोग में निमित्त तो गुरु-कृपा ही है।" गुंतकल स्टेशन आने तक ऐसे ही अनेकानेक विचार उसके मन में उठते रहे, सागर की अनगिनत तरंगों की तरह और वह उन्हीं तरंगों में झूलता-चलता रहा। स्टेशन पर पूछताछ हुई, प्रश्नोत्तर हुए, तहकीकात हुई। पूरे धैर्य के साथ उसने यथार्थ का अथ-इति बयान किया। अपना परिचय दिया, गुरुवर का परिचय दिया। गुंतकल का टिकट निकाला और बतौर साक्षी पेश किया।

आगे उसे बैंगलोर जाना था, यह बताने पर स्टेशन-मास्टर ने कहा—"आपके धर्म-गुरु निश्चय ही कोई पहुंचे हुए ओलिया, पीर, सिद्ध-महात्मा हैं। उनके स्मरण से ही आप इस रात्रि में भयानक वन से निकल सके, यहाँ पुलिस की झंझटों से बच सके और प्रसन्नता की बात यह है कि आप के भाग्य ने अब फिर साथ दिया है। सिकन्दराबाद वाली गाड़ी जो अब से डेढ़ घंटे पूर्व निकल जानी चाहिए थी, आज दो घंटे देरी से आ रही है। आप तब तक आराम कर लें, तरोताजा हो जाएँ, जितने गाड़ी आती ही होगी।"

आधे घंटे बाद मेरे भ्राता की वह प्रतीक्षित गाड़ी आई। स्वयं स्टेशन मास्टर ने रिजर्वेशन दिलवा दिया, गाड़ी में सामान रखवा दिया और भ्राता को स्वयं आकर रिजर्व सीट पर बिठा गया। मैंने जब मेरे भ्राता के मुख से पूर्ण विवरण सुना तो बोली—"भैया! सच ही इस बार तेरे भाग्य ने तुझे अच्छा साथ दिया।"

भैया हंसकर बोला—"बहन! भाग्य ने तो दिया या नहीं, मैं नहीं जानता पर इतना जरूर जानता हूँ कि यह सब गुरु-स्मरण का प्रताप है, गुरुदेव की कृपा है, गुरुवर का पावन—आशीर्वाद है जो मेरा सौभाग्य बन कर मेरे रक्षक के रूप में विपत्तियों में मेरा मददगार रहा। गुरु 'जीत' से ही मुझे 'जीत' की प्राप्ति हुई, मैं आपत्तियों से मुकाबला कर सका।"

मैंने मन ही मन साधना के उस अमर पुजारी को श्रद्धा-पूर्वक नमन किया।

आज भी जब इस प्रसंग का स्मरण हो आता है तो मन-मानस उस सिद्ध अवधूत के प्रति स्वतः श्रद्धार्चन करने लगता है और मस्तिष्क उस संयम-सपूत के चरणारविन्द में श्रद्धावनत हो जाता है।

—अलसूर (बैंगलोर)

गर्व है मुझ को मेरे गुरुवर पर

नवरतनमल लूंकड़

अपने हृदय-देव, श्रद्धेय गुरुदेव के विषय में कुछ लिखना, उनके जीवन-व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना ऐसा ही कार्य है जैसे कोई व्यक्ति किसी चलते-फिरते प्रकाश-स्तम्भ को नन्हें दीपक का धुंधला प्रकाश दिखाए। आपके व्यक्तित्व के इतने रंग हैं कि सभी का सम्मिश्रण-प्रतीक केवल 'श्वेत' ही नजर आता है। व्यक्तित्व के इतने विभिन्न रंगों से कुछेक रंग पकड़ पाना अत्यन्त मुश्किल कार्य है, इस पर भी वसन्त के खिलने पर कोकिल-कण्ठ की कुहु-कुहु तो वातावरण को मुखरित कर ही देती है। मैंने अपने गुरुवर को जैसा देखा, मेरी नजर से जैसा उन्हें पाया, वैसा ही शब्दों के माध्यम से उनका चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ :

आज के युग में धर्म-गुरुओं ने राजगुरुओं का बाना धारण कर लिया है। ऐसे गुरुओं के हर छोटे-बडे उत्सव-समारोहों में राजनेताओं की भीड़ इकट्ठी करने का जी-तोड़ प्रयत्न किया जाता है। धर्म के नाम पर शून्य और श्रद्धा के नाम पर ऋणात्मक श्रेणी के वे नेता हजारों-लाखों लोगों का मूल्यवान अमूल्य समय देर से आकर नष्ट करते हैं, भाषणों में धर्म को धक्का देकर सरकार की नीतियों के प्रचार-प्रसार का उपयुक्त मंच बनाते हैं और अपने वहाँ आने के मुख्य उद्देश्य को भूलकर कुछ का कुछ प्रलाप कर जाते हैं। इस पर भी राजगुरुओं (साधुओं) के संकेतों पर उन नेताओं का असाधारण सत्कार-सम्मान ही नहीं किया जाता, समाज के एकत्रित धन का दुरुपयोग करते हुए उन्हें थैलियाँ भी भेंट में दी जाती हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब ऐसे वातावरण में धर्म के दीवानों, गुरु के श्रद्धावानों, सामायिक और स्वाध्याय में रत श्रावकों को हमारे वे आडम्बर-पसंद गुरु भुला देते हैं, अनदेखा कर देते हैं, उनकी उपेक्षा कर जाते हैं। हम भी तो तब भीड़ के भेड़िये बने रहते हैं। क्या हम उन राजनेताओं की वे टीका-टिप्पणियाँ सुनने वहाँ एकत्रित होते हैं या अपने श्रद्धेय धर्म-गुरुवर की वाणी का रसास्वादन करने ?

आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. इस माहौल, इस वातावरण और इस चहल-पहल, आडम्बर, दिखावे, भीड़-भाड़ से दूर रहने वाले संत-महात्मा हैं। श्रमण संघ से विलग हो जाने के बाद जब सोजत शहर में प्रथम जय-संघीय श्रावक-सम्मेलन का आयोजन किया गया था तब से रायपुर में 'आचार्य-चद्दर-महोत्सव' या फिर झूंठा, रायपुर, कुशालपुर, महामन्दिर, जोधपुर, जवाजा, सियाट आदि के शिविरोत्सव

या अन्य उत्सव प्रायः सभी में मुझे सम्मिलित होने का अवसर मिला। सभी उत्सव-महोत्सवों में एक ही विशिष्ट बात नजर आई, वह यह कि "अपने लोग, अपनी बात"। कम समय में अधिक काम की यही कुञ्जी (Key) है।

आचार्य-प्रवर एक अच्छे ज्योतिषविद हैं और भक्तों के लिए भगवान् स्वरूप भी। मेरे पिता स्व. श्री गोरधनदासजी लूंकड़ आप-श्री पर अनन्त-असीम श्रद्धा रखते थे। सभी भाइयों का सम्मिलित व्यवसाय था। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि आपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए अपना गतिमान व्यवसाय छोड़ दिया। व्यवसाय सब का सम्मिलित था पर आपने उस व्यवमाय से कोई राशि, कोई हिस्सा न लिया; न मांगा और न वह आपको मिला ही। आप तब घोर अर्थ-संकट में पड़ गए। चेहरे की प्रफुल्लता नष्ट हो गई, होठों की मुस्कराहटें छिन गईं, आँखों की नींद उड़ गई और हृदय का चैन लुप्त हो गया।

वणिक्-पुत्र थे, खानदानी थे और बाजार में बैठते थे। आपकी व्यावसायिक प्रतिभा से सभी अवगत थे। जहाँ भी चाहते, नौकरी मिल सकती थी पर जो व्यक्ति बाजार का बादशाह था, गद्दी का सेठ था—वही, उसी बाजार में नौकरी कैसे करे? आपके कई व्यावसायिक मित्रों ने नया व्यापार प्रारंभ करने की सलाह भी दी, उसके लिए पूंजी जुटाने को भी वे तैयार हो गए पर पिता-श्री की हिम्मत नहीं हुई।

※ ※ ※ ※

एक दिन आप गुरुदेव वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. के दर्शनार्थ पधारे। धर्म-ध्यान की बातें, संघ और समाज की बातें तो हुईं ही, कुछ घर-परिवार की वार्ता भी सहजतया हो गई। आपने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए अपने मन की झिझक भी बता दी। गुरुवर तो परम-दयालु ठहरे। ग्रह-गोचर का विचार करते हुए ज्योतिष-गणना करने लगे। विचार के बाद फलादेश के रूप में बताया गुरुदेव ने—"प्रतिकूल समय लगभग निकल गया है, हिम्मत रखो, धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखो, सब ठीक होगा। महामंत्र का स्मरण करने के लिए कल रात्रि के १२.३० बजे के शुभ समय का लाभ उठाने से विशेष सफलता भी मिल सकती है।"

पिता-श्री को आचार्य-श्री के वचनों पर अटूट आस्था थी। संकेतानुसार उन्होंने निर्देशित समय का लाभ उठाया। व्यवसाय प्रारंभ किया। देखते ही देखते व्यवसाय जमा, बढ़ा और पहले से भी अधिक प्रतिष्ठा मिलने लगी। आज वे हमारे बीच नहीं हैं पर हम उनके पुत्र उनके द्वारा स्थापित उस व्यवसाय को फलता-फूलता देख रहे हैं। निश्चय ही यह सब गुरुदेव का प्रताप है।

मैंने गुरुदेव में सबसे बड़ी विशेषता जो देखी है, वह यह कि आप हर पल, हर क्षण आत्मलीन रहते हैं, स्वाध्याय-रत रहते हैं। चाहे जैसा प्रतिकूल समय हो, आप अशांत कभी नहीं बनते। समभाव-पूर्वक सब कुछ सह लेते हैं, राग-द्वेष को जीतने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं।

आपके चेहरे की रवन्नक, तरोताजगी सदैव बनी रहे, मैं आपके श्री-चरणों की सेवा का लाभ लेता रहूँ, इसी भावना के साथ शत-शत अभिनन्दन!

—कटला बाजार
जोधपुर (राज.)

□□

सात्त्विक वृत्तियों के धनी

गुलराज मेहता

नव मई 1985 का दुर्भाग्य-पूर्ण दिवस ! आचार्य-प्रवर के जीवन का आकस्मिक पर अविस्मरणीय मोड़ ! चलते-चलते एक प्रचण्ड-सांड की चपेट में आए । कृशकाया भला उस टक्कर को क्या सहती ? गिरे तो कूल्हे की हड्डी चटक गई अर्थात् 'बोन फ्रेक्चर' हो गया । आपके चरणों की गति को पूर्ण ब्रेक लग गया, कुछ समय के लिए आपकी चरैवेति-चरैवेति वाली गति को स्थिरता प्राप्त हुई । दुनिया ने उसे दुर्भाग्य कहा पर आप श्री ने फरमाया —"यह तो मेरे पूर्व-जन्मों के अर्जित कर्मों के क्षय का अवसर है और इस शारीरिक विपदा को सस्मित, सहर्ष स्वीकार कर लिया आपने । यह था कर्मगति के इतिहास का एक पृष्ठ ।

पूरा का पूरा एक वर्ष व्यतीत हो गया । आगई ९ मई १९८६......।

इस तेजस्वी संत के दिव्य एवं दृढ़ मनोबल ने गति को प्रगति देने का मन ही मन संकल्प लिया । कम्पित चरण-युगल ने चुभती स्थितियों में भविष्य के कार्यक्रम की ओर अपना मार्ग प्रशस्त बनाना प्रारंभ कर दिया ।

सादगी की प्रतिमूर्ति

विगत एक वर्ष की अवधि में जब कभी भी आपको देखा; आप निश्चल स्थिति में सोए या बैठे ऐसे प्रतीत होते रहे, मानों हड्डियों के ढांचे में मानवता की एक महान आत्मा मूकवाणी में कह रही हो—"सादगी में ही सर्वस्व का निवास है, जिसके दर्शन सात्त्विक वृत्तियाँ होने पर ही हो सकते हैं।"

समता-मूर्ति

श्रुताचार्य चौथ भवन-जोधपुर के मुख्य हॉल का भीतरी कक्ष । इसी कक्ष में एक काष्ट-पट्ट पर विराजमान साधना की यह दिव्य-मूर्ति ऐसी प्रतीत होती रही, मानों अपनी समस्त मनोवृत्तियों एवं विकारों को जीत कर अपने 'जीत' नाम की सार्थकता सिद्ध कर रही हो । शांति का ऐसा घनीभूत पुञ्ज, जो श्रद्धा-पूर्ण मानस-समुदाय के अन्तस्तल में धर्मभावना बिखेर रहा है । आपके सम्पर्क-लाभ की अमिट-छाप प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर खचित हो ही जाती है ।

वर्तमान अवस्था में आप श्री से अधिक विचार-विमर्श संभव नहीं है और न व्याख्यान की अधिक संभावना है पर आपकी संकेतात्मक वाणी जीवन-रहस्यों को सुलझाने के लिए कुञ्जी स्वरूप है, जिसे सुनकर मानवीय भावनाओं का स्वतः उद्रेक होता है। आपकी विचारधारा एवं साधना के अनुभवों का रसास्वादन भक्तगण उपाध्याय प्रवर श्री लालचंद जी महाराज की ओजस्वी अमृत-वाणी के माध्यम से यदा-कदा करते रहते हैं और जिसका गुञ्जन श्रोताओं के हृदय में निरन्तर होता रहता है।

संयम के उत्प्रेरक

प्रत्येक मिलन, दर्शन और चरण-स्पर्शन के अवसर पर संयम के लिए आपकी जो मान्यता परिलक्षित होती है, वह यह है कि विवेकपूर्ण एवं विनययुक्त सयम-साधना ही साधक-जीवन की आधार-शिला है, जिसके फलस्वरूप दिव्य-आत्मिक गुणों का स्वतः विकास होता है और साधक 'पर' की सीमा को सीमित करता हुआ 'स्व' की सीमा को विस्तार देता जाता है, तब एक दिन वह 'स्व' को स्व-रूप में प्राप्त कर सिद्ध बन जाता है।

समन्वयकर्त्ता

अनुशासन के साथ ही सभी को अपने ढंग से साधना की स्वतंत्रता; इस तरह का उत्कृष्ट सामंजस्य आपने अपने शिष्य-समुदाय के उदाहरण से स्पष्ट किया है। आपकी निश्रा का प्रत्येक सन्त अपनी प्रतिभा का विकास अपनी विशिष्ट रुचियों के परिप्रेक्ष्य में, विशिष्ट क्षेत्र में कर सकने के लिए स्वतंत्र है पर साथ ही एक साधक-शिष्य को जिस तरह का अनुशासन रखना है और जिस समाचारी का पालन करना है, वह भी अनिवार्य है। संपूर्ण समाज के लिए, समाज के हर परिवार के लिए यह दृष्टिकोण अनुकरणीय और प्रेरणास्पद है।

त्यागमूर्ति

तप और त्याग, स्वाध्याय व सेवा, सदाचरण एवं संयम ही जिनके जीवन का मूल मंत्र है। जो साधक-जीवन में निर्लिप्त रहकर समभाव को सर्वोच्च स्थान देते हैं, उन आचार्य भगवन् को मेरा शतशः अभिनंदन। निश्चय ही तप और त्यागमय ऐसा अद्भुत जीवन ही कार्यसिद्धि का संबल है, आत्मशुद्धि का आधार है।

आपका साधक-जीवन एवं दिव्य-व्यक्तित्व आने वाले दीर्घ-समय तक समाज के सभी वर्गों का, मनुज-मात्र का पथ दर्शन करता रहे—यही मंगल कामना है।

—जोधपुर (राज.)

———

संस्मरण (पद्य-विभाग)

आइरिय सिरि जीयमलमुणिणो अहिणंदणं

डॉ. उदयचंद्र जैन

सुरासुर वंदिआणं तिहुवण-हिअ-महुर-विउल-गहीराणं ।
अक्खयणंत-गुणाणं पणमामि जिअ-भवाणं जिणे ।।

आइपुरिसाईसरं अंतिम-उलयर-णाहिराय-पुत्तं ।
णमो पढम-तित्थयरं भुवणे असि-मसि-किसि-वणिज्जं ।।

पुणो सव्व-तित्थयराणं णिद्धूयकलि-राग-दोस-मोहाणं ।
णियाणंद-सहावे वि णमो णिच्चं भव-विणासणं ।।

जम्म-जरा-मरणंतं सायर-वर-गहीर-सव्व-सिद्धाणं ।
णट्ठ-अट्ठ-कम्माणं असरीरी लोगग्ग-ठियाणं ।।

आइरियाणं वंदे संघ-पहाण-जगम्मि सेट्ठम्मि हु ।
विगय-राय-दोसो जो आगम-सुत्त-सिद्धंत-कुसला ।।

तं णमो गुणरत्तं सिद्धंत-सत्थ-समुद्द-तरण-णिउणा ।
अज्झावय-वग्गाणं दंसण-णाण-चरिय-तव-रत्ता ।।

समया-गुण-संपुण्णा पंच-महव्वय-दुवालस-तवजुत्ता ।
गिह-परिवार-विहीणा सव्व-साहूणं णमस्सामि ।।

भरह-वासम्मि देसे मरुहर-राइट्ठाण-पंतम्मि ।
णागोर-मंडलंते **लूणसरा**-पसिद्ध गामो य ।।

विक्कम-संवय-एगसहस्स-णवसय-सडसठम्मि दिवसम्मि ।
सुसीलवालो जाओ सावण-किण्ह-सत्तमीए य ।।

सो पुत्तो पुत्तो ही जेणं जाएणं कुल-विहूसिओ ।
अइदुलहेणं पत्तो सुपुत्त-धम्मपुत्त-लोयम्मि ।।

जत्थ णिवसंति लोया धणधम्म-करण तल्लिच्छा जाया ।
सयलण्ण-गाम-गामा कोउग णायणत्तणं पत्ता ॥

वागयार-गोत्तो सो पिया **वयणमल** माया **भीहीए** ।
अइसय-पमोय-पत्तो वुद्धीए सुर-गुरिच्छ-सारिच्छो ॥

अइधण्णो सा जणणी सयल-कला-णिउण-पुत्तो जाओ ।
जेण चित्तप्पिओ ही धम्मस्स वि अत्थवित्थारो ॥

जह तारयाण चंदो सोम्म-णिम्मल-अमिय-गुणधारीओ ।
तह एव सो सुबालो बाल-विगय-सुधम्म-परिणिट्ठो ॥

अणुदिवहं वड्ढंतं चंदकला इव पुण्णचंदो होइ ।
सयल-कला-णिउणस्स जगदाणंद-कारणं एव ॥

रयणत्तय-सुविसुद्धो विज्जागुरु-गुरुणहमलमुणी तस्स ।
सा विज्जा सुविज्जा वि तओ होइ सुणिप्फला सया ॥

दिवायर-दिव्वतेओ सय-दल-पत्त-पफुल्लिअ कुणइ सया ।
दिवायर-चोहमलो सो दिवायरव्व दिक्खागुरु वि ॥

गुरुभत्तो भवाभीओ आगम-कुसलो राग-दोस-रहिओ ।
धम्मसहावी अप्पा जग-जण-उज्जोअयरो होइ ॥

आइरिय सिरि जीयमुणि भव-भवदुक्खहरण-करण-परमं हि ।
पयं धारेइ सहजं रोचइ ण संसारमग्गं तं ॥

रागग्गी अग्गी इव सव्व-खार-करण-समट्ठो होइ ।
धम्म-परिणयप्पाणं किं दहेउं समट्ठो जाइ ॥

घोरे-अवार-संसारे तरिउं सो जो धम्मधण-विहूसिओ हि ।
संसारतरु-छेयकरं सुगुरु-समीव-जाय-अइधीरो ॥

अइदुल्लह मणुयत्तं वहुदिणे लहइ भवियजण लोयम्मि ।
जो जाणिऊण सव्वं सो एव समणपुत्तो होइ ॥

रागद्दोसमोहा हि अंतरासत्तू होइ भव-जणाणं ।
तं विजए च्चिय सोक्खं दुक्खं ण ताण किंवि अत्थि ॥

रागद्दोसाणुगया जीवा पावेंति विविह दुक्खाणि ।
तम्हा हि हणणट्ठं वि जीयमुणि-धरिअ-रयणत्तयं ॥

अणिच्चं इमं देहं अपवित्त-असुइ-णिवास-घरं वि इह ।
इणमासासयवासं दुक्ख-किलेस-कारणं वि इणं ॥

मं ण इमं इणं देहं इणं तु रुहिर-मंस-मज्जाजुत्तं ।
जलफेणव्व अणिच्चं इणं णेहं कहं कुणेमु हं ॥

जम्म-जरा-वाहीणं आलए इमं रइ-अरइं किं कुणमु ।
जइ सुहफलं इच्छेउ ता वज्जह सुदूरेणं हि ॥

इह भाव-भाविऊणं सिरि जीयमलेणं तेहिं जीओ ।
अप्पाण-तारिऊणं अप्पाण-सत्त-भावम्मि रओ ॥

देहं सव्व-भोगाणं गिहं तु सव्वाइरिएहिं भणिओ ।
ताणं पडिअणुराअं कह किं कोवि गिज्झिहिइ सया ॥

समया सव्वजीवाणं समयाधम्म-मूलकारणं अत्थि ।
समयाए सुगेहम्मि किं वियार-वित्थार-जाओ ॥

रागद्दोसमोहेहिं तुमेव मित्तं तुमेव सत्तू वि ।
समया-संपण्ण-मुणी इणं कया अणुरायं कुणइ ॥

चउकसाया अग्गिव्व तस्स डहेज्ज सुय-सील-तव-गुणेहि ।
सुयधारा गहिऊणं जीयमल-महाजीओ जाओ ॥

पढमं सुय-णाणेणं सुयसद्धाए य दंसणेणं तहा ।
चरित्त-तव-गुणेणं वि खंतीए मुत्तीए पुट्ठो ॥

चउव्विह-समणसंघ-आइरिय-पवरं
जिण-धम्म-पडागा-जिण-जिणेसर-कयं ।
धण-धण्ण-उवक्खर-गवास-मडिकुंडलं
माय-पिय-भाय-भज्जा-पुत्त-दुह-परं ॥

एगमेत्त-सत्त-णिच्च-अप्पप्पं मं
उत्तम-खम-मद्दवज्जवं सच्चं सोचं ।
संजम-तव-चाग-अकिंचण-बह्मचेरं
असार-संसार-णिवारणट्ठ-उत्तमं ॥

कम्मजुत्त-अप्पाणं ण मोक्खो सव्वाणं जणाणं किं अत्थि ।
धम्म-अत्थ-कामेहिं रओ अप्पा भवे भमेइ हि ॥

डॉ. उदयचन्द्र जैन

इमाणि सव्व कम्माणि संसार-परिभमण-कारणं अत्थि ।
ण किंचि सुहं रुवं वि इति जीयमल-मुणिणा चिंतिओ ।।

जह सीहो एगागी विचरइ णिब्भयो णींचितो णिच्चं ।
तह एव रूवं जीओ संजम-तव-चरित्त-धम्मेहिं ।।

जह सीहो आहारं एसणट्ठं सयमेवं विचरेइ ।
तहेव गोयरियट्ठं एगचारी चारित्तसुद्धं ।।

पंच-महव्वय-जुत्तो पंच-समिइ-तिगुत्ति-गुत्तो णिच्चं ।
वाहिरब्भंतर-तवो ममत्त-गारवं चयइ सो ।।

णीममत्तो णिरहंयार-णीसंग-णीगंध-णीलोहो वि ।
तस-थावरेसु समो समयाजुत्तो-मुणी होइ ।।

ण लाहे ण अलाहे ण सुहे ण दुहे जीविए य मरणम्मि ।
ण णिंदा-पसंसासु ण माणावमाण-अप्पमत्थि ।।

चउकसाया कसाया पंचिंदिय-विसय-विसम-विसतुल्ला ।
तवप्पहाण-रहियं तु उत्तम-गइपहाण-धम्मं ण ।।

अणं दुक्ख-विद्धणं ममत्तं बंधणरुवं भयावहं ।
धम्मधुर-अइ उत्तमं सेविओ सिरि जीयमल-मुणिणा ।।

सम्म-भावेण-जुत्तं काम-कोह-मय-लोह-गुणाभावं ।
सम-विसम-रहिय-भावं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

धम्म-सद्धाइ णिच्चं समया-धम्मम्मि रओ मुणिवरो य ।
वीरजिणं अणुमग्गं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

सव्वेसिं भूयाणं तसाणं थावराणं हियजुत्तं ।
णिगंठधम्म-लीणं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

असारे संसारम्मि दुक्ख-विमोएउ ण समिट्ठो को वि ।
इह वियार-गुणजुत्तं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

सव्वं गंथं कलहं परिवसंति सव्व-असार-संसारे ।
तं पासमाणसमणं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

दंसण-णाण-चरित्तं तव-संजम-सच्च-बह्मचेरंतं ।
तीजोग-समाउत्तं वंदामि सिरि जीयमल-मुणिं ।।

जह सप्पेगंत-दिट्ठि तहेव महव्वयीण अणगाराण ।
तेण रूवेण जुत्तं वंदामि सिरि जीयमल-मुणि ॥

जह णक्खत्तेसु चंदो अइ-रमणीओ होइ लोयम्मि ।
तह सीलगुणागारं वंदामि सिरि जीयमल-मुणि ॥

दिव्वतेअ-दिवायरव्व आइरिय-उवज्झाएहिं सुय ।
विण्णाणं वि धारिअं वंदामि सिरि जीयमल-मुणि ॥

जण-सामण्ण-भासाइ महावीरेण उवदेसं कयं ।
तं सम्ममज्झणट्ठं सहल-पयासं कयं णिच्चं ॥

तस्स उवदेस-सारो अद्धमागही-सोरसेणीए हु ।
भासाविण्ण--जर्णेहिं भासा-सत्थेसु पण्णत्ता ॥

आगम-सिद्धंत सुत्त-गंथ-पहुडी-अद्धमागहीए हु ।
तहा सोरसेणीए गंथा जण-मण-उवयारगा ॥

सिरि जीयाइरिएणं जगईए जण-मण-कल्लाणहेउं ।
सुयसम-गंगाधारा भागीरहं विव पवाहिआ ॥

पाइय सहावसिद्धं जण-साहारण-भासा वट्टेइ ।
जीयमल-महामुणिणा धारिओ रणकुसलवीरं विव ॥

पाइयं विव सक्कयं हिंदी-अंगल-उद्दु-भासाओ ।
विहिवय-णाणं किच्चा सु-धारव्व कव्वधारा कओ ॥

वागरण-णाय-कोसं तक्क-जोइसिय-सत्थ-सामुद्दियं ।
गहीर-समुद्द-तरणं जिणवाणी-तरणीए ठिओ ॥

जिण-वयण-तरणीए तु बहु-रिसी-महरिसी-पारं वि गआ ।
तव-झाणे अणुरत्ता णिय-णिय-भवणेसु वि चिट्ठिआ ॥

समभावी-सरल-सहावी-पडिभाए अणुवमधरणी जीओ ।
केवल-आगम-कुसलो ण भव-समुद्द-तरणं सहलो ॥

सज्झाए णिरय-मुणी चंदो विव सोम्मो रवि विव तेओ ।
तहा कामदुहा-धेणुव्व सव्व-जीवाण-उवयारगा ॥

जह बाहूहि समुद्दं तरिउं जणा समट्ठा हवंति णेव ।
तहेवं सत्थोवहिं किं सत्थतत्तट्ठ-विहीणा ॥

डॉ. उदयचन्द्र जैन

सा विज्जा हि फलवई विपदो पडियारा णिरभयत्तं तु ।
ण सोगतत्त-विदजणे तत्तण्णा हि तेण वुहा सिया ।।

तत्त-पवीणो जीओ अंधयार-आकिण्णम्मि पहम्मि ।
णाणदीवं णेऊण संसारावहि-वद्धिणी गओ ।।

जम्म-जिण्णाडवीए जम्मेणं अंधाणं णाणदीवं ।
पज्जलिओ संमग्गे भव-खय-मुत्ति-दाइणी जणे ।।

अपवित्त-असुइ-वीयं देहं जाणिऊणं जीयमल-मुणी ।
तं पडि अइणिम्मोहो स-पर-कल्लाण-पहं गहिओ ।।

विस्स-संति-हेउं अवि केवलण्णाण-पगास-अणेगंतं ।
सियादवाद-भूसणं भूसिओ समनवयप्पयं दिट्ठिकोणं ।।

विज्जा अविज्जमाणा समया-धम्मेण विणा ण फलवई ।
जिण-वयण-फलं वत्तुं विहरिओ देस-देसंतरम्मि ।।

राइट्ठाण-गुजराअ-मरहट्ठ-मज्झपएसम्मि तहा ।
अंधपएस-पदेसे कण्णाडय-तमिलणाडु-देसे ।।

धम्म-पयारहेउं स णयर-उर उवगाव-गामेसु गओ ।
लोए धम्म-दुक्करं अइ-दुक्कर-जिणधम्म-साहणा ।।

—३ पिउ कुञ्ज
अरविन्द नगर, उदयपुर

पूज्य-श्री नवमाचार्य नवकम्

पं. सूर्यनारायण शास्त्री

राजस्थान-सुदेश-मध्य-विलसन् नागौर-नीवृद्-भुवि
ग्रामे लूणसराभिधे मुनि-तिथौ मासेऽसिते श्रावणे ।
वर्षे चाश्व-रस-ग्रहेन्दु-गणिते वैश्योसवंशे शुचौ
लेभे श्री वचनात् पितुर्जित-शिशु-भिख्याख्य-मातुर्जनिम् ।।

बालः पञ्चषवर्षको विधिवशात् पित्रा वियुक्तोऽभवत्
साध्वीनामथ-योगतोऽस्य जननी लोकाद् विरक्ति गता ।
धर्मध्यानरता समाजभविकं दत्वा सुतं चाग्रहीत्
रीयायां यतिमण्डलाय कठिनं संन्यास-दीक्षाव्रतम् ।।

पीपाड़ाभिध-पत्तने वसु-नगाङ्केन्दु-प्रसिद्धेऽब्दके
काले मार्गसिते-द्वितीय-नवमी-सल्लग्न-खेटान्विते ।
शिष्यः सद्गुरु-चौथमल्ल सविधे सर्वात्मना चार्पितः
सत्संस्कार सुशिक्षितो जितमुनिः संदीक्षितोऽभून्मुदा ।।

ज्ञात्वा प्राकृत-संस्कृतादि सहिता भाषाः सलिप्यादिकाः
शब्द न्याय-जिनागमादि विविधाऽनुत्तीर्य शास्त्रार्णवान् ।
राजस्थान सुदूर गुर्जर-महाराष्ट्रादि देशान् भ्रमन्
सार्धं नग्नपदातिभिर्मुनिवरैर् धर्मप्रचारं व्यधात् ।।

भव्यः सत्त्व-समन्वितो निजगुणैः शुभ्रं यशश्चार्जयन्
ख्यात-श्री-जयमल्ल-गच्छ-मुनिपूपाध्याय-पट्टे स्थितः ।
वर्षे वेद-ख-ख-द्वि-विक्रममिते श्री जीतमल्लो मुनिर्
आचार्यस्य पदं तथालमकरोद् वह्नि-लि-शून्य-द्विके ।।

आचार्य-प्रवरस्य संप्रति जनैर्हीराख्य जन्मोत्सवः
 सौभाग्येन मरोरुदार-हृदयैरायोजितः श्रावकैः ।
दीक्षातोऽपि च तप्त-काञ्चन-निभस्यैतत्सुवर्णोत्सवो
 वर्ण्यः किं महिमाऽस्य पुण्य-यशसो दीर्घायुषो वाग्मिनः ।।

यद्गच्छस्य धुरंधृ पण्डितवरः श्री लालचन्द्राभिधः
 ज्ञान-ध्यान-रतः प्रवक्तृ-कुशलः स्वाध्यायशीलो मुनिः ।
मेधावी समलं करोति सुपदं सार्थं ह्युपाध्यायकं
 कस्मान्नो जयतीह तस्य विमलं सौजन्य-जन्यं यशः ।।

एतन्मण्डल-चारिणः सुचरिताः सर्वे गुरौ नैष्ठिका
 भक्ताश्चापि मिथोऽनुशासन-रता विद्याचणा धार्मिकाः ।।
देशे धर्ममये चरन्ति मृगवद् भिक्षाचराः पावना
 लोकस्योपकृतौ निबद्ध-हृदया अद्याप्यहो तापसाः ।।

धर्मः समेधतां नित्यं
कीर्तिर्यातु दिगन्तरम् ।
वंशो विस्तृतिमायातु
जयगच्छस्य शाश्वतम् ।।

—दूधवा (झुंझनु)

मन के जीते जीत हार यदि मन यह हारा

□

पुखराज मुणोत

आ मेरे मन-मीत, गीत बन आज धरा पर ।
यहाँ-वहाँ कर नृत्य कि हर्षित आज चराचर ।
रितु वसन्त की पवन, वनो संगीत सुहाना ।
यश: गान जय-विजय, प्रीत-मन मेरे सदा कर ।
भजो नित्य धर ध्यान, करो मन एकाकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

गर जीवन को सफल, बनाना चाह हमारी ।
वरद-हस्त गुरु-कृपा, प्राप्त करना हितकारी ।
नयन सफल, यदि दर्श गुरुवर के मिल जाएँ ।
पतितोद्धारक चरण-शरण है मंगलकारी ।
रट रसने गुरु-नाम, त्याग मन सकल विकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

पूर्व पुण्य से मनुज-जन्म दुर्लभ यह पाया ।
जन-जन का प्रिय जैनधर्म सबके मन भाया ।
नील गगन-सा विस्तृत, है जो मानव-चिंतन ।
यह चिंतन ही है बन्ध, इसी को मोक्ष बताया ।
महावीर के चिन्तन की यह नूतन धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

हाल सुनो अब मारवाड़ की पुण्य धरा का ।
मधुमय कण-कण वना, एक दिन '**लूणसरा**' का ।
हिलमिल मंगल-गीत, उसी दिन सब ने गाए ।
महिमामय अवतरण अहा ! उस '**वचन**'-लला का ।
आज हृदय में '**भीखो**' माँ के हर्ष अपारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

पुखराज मुणोत

आचार्य-प्रवरस्य संप्रति जनैर्हीराख्य जन्मोत्सवः
सौभाग्येन मरोरुदार-हृदयैरायोजितः श्रावकैः ।
दीक्षातोऽपि च तप्त-काञ्चन-निभस्यैतत्सुवर्णोत्सवो
वर्ण्यः किं महिमाऽस्य पुण्य-यशसो दीर्घायुषो वाग्मिनः ।।

यद्गच्छस्य धुरंधृ पण्डितवरः श्री लालचन्द्राभिधः
ज्ञान-ध्यान-रतः प्रवक्तृ-कुशलः स्वाध्यायशीलो मुनिः ।
मेधावी समलं करोति सुपदं सार्थं ह्युपाध्यायकं
कस्मान्नो जयतीह तस्य विमलं सौजन्य-जन्यं यशः ।।

एतन्मण्डल-चारिणः सुचरिताः सर्वे गुरौ नैष्ठिका
भक्ताश्चापि मिथोऽनुशासन-रता विद्याचणा धार्मिकाः ।।
देशे धर्ममये चरन्ति मृगवद् भिक्षाचराः पावना
लोकस्योपकृतौ निबद्ध-हृदया अद्याप्यहो तापसाः ।।

धर्मः समेधतां नित्यं
कीर्तिर्यातु दिगन्तरम् ।
वंशो विस्तृतिमायातु
जयगच्छस्य शाश्वतम् ।।

—दूधवा (झुंझनु)

मन के जीते जीत हार यदि मन यह हारा

पुखराज मुणोत

आ मेरे मन-मीत, गीत बन आज धरा पर ।
यहाँ-वहाँ कर नृत्य कि हर्षित आज चराचर ।
रितु वसन्त की पवन, बनो संगीत सुहाना ।
यश: गान जय-विजय, प्रीत-मन मेरे सदा कर ।
भजो नित्य धर ध्यान, करो मन एकाकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

गर जीवन को सफल, बनाना चाह हमारी ।
वरद-हस्त गुरु-कृपा, प्राप्त करना हितकारी ।
नयन सफल, यदि दर्श गुरुवर के मिल जाएँ ।
पतितोद्धारक चरण-शरण है मंगलकारी ।
रट रसने गुरु-नाम, त्याग मन सकल विकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

पूर्व पुण्य से मनुज-जन्म दुर्लभ यह पाया ।
जन-जन का प्रिय जैनधर्म सबके मन भाया ।
नील गगन-सा विस्तृत, है जो मानव-चिंतन ।
यह चिंतन ही है बन्ध, इसी को मोक्ष बताया ।
महावीर के चिन्तन की यह नूतन धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

हाल सुनो अब मारवाड़ की पुण्य धरा का ।
मधुमय कण-कण बना, एक दिन '**लूणसरा**' का ।
हिलमिल मंगल-गीत, उसी दिन सब ने गाए ।
महिमामय अवतरण अहा ! उस '**वचन**'-लला का ।
आज हृदय में '**भीखी**' माँ के हर्ष अपारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

गजानन्द गण-ईश शिशु का नाम **'गणेशा'** ।
मगर अमंगल किया विधाता ने यह कैसा ?
ज्ञात किसे था ऐसी, यह महामारी होगी ।
ताण्डव-नर्तन होगा घर-घर मरण-संदेशा ।
काल क्रूर का वार, **'वचन'** तब स्वर्ग सिधारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

व्यथित हृदय थी, सजल-नयन थी भीखी माता ।
तीर कलेजा चीर गया, दुख कहाँ समाता ।
रही वर्ष दो और पुत्रियां दोनों ब्याही ।
थमी पीर तो मिले भाग्य से मुनि श्री **'नाथा'** ।
औरत माता भीखी ने, दीक्षा-व्रत धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

जीवन हो यह सफल, पूत का मात विचारे ।
तप-संयम के मध्य, पले दीक्षा भी धारे ।
ममता नहिं वह हृदय, मात का धर्म-लीन था ।
ललना है वह धन्य पुत्र का जन्म सुधारे ।
जीवन-जल की बदल गई बहती हुई धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

महामुनि नथमल जी भी जब स्वर्ग सिधारे ।
हाल देख यह **'चौथस्वामी'** को निज गुरु धारे ।
राग छोड, वैराग्य आपके मन को भाया ।
जग को वाणी-वीतराग, ही पार उतारे ।
कीच जगत् में कौन, फंसे मन रखना न्यारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

हीरा जन्म अमोल, साधु बन सफल बनाया ।
रहा ठाट पीपाड़, जीत नव नाम सुहाया ।
कल का बालक आज बना षट्कायिक प्यारा ।
जन्म-जन्म के कर्म करूं क्षय लक्ष्य बनाया ।
महाराज कहकर चरण, पूजता अब जग सारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

जब से उर में खड्ग-धारवत् संयम धारा ।
यंत्र-सदृश चर्या में, अपना जीवन उतारा ।
तिरना, बचना जन्म-मरण औ जरा-रोग से ।
औषध है बस एक, 'ज्ञान' पढ़ आगम सारा ।
रहे लीन दिन-रात गुरु ने दिया सहारा ।
मन के जीते जीत हार यदि मन यह हारा ।।

दीप ज्ञान का जला प्रकाश अन्तर में फैला ।
क्षार हुआ निर्मूल रहा मिठियास अकेला ।
सुयश फैला चहुं ओर ख्याति दिश-दिश में छाई ।
वर्ष बहुत बहु ग्राम परीषह दुस्सह झेला ।
रखी एक ही टेक, धर्म का हो विस्तारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

णमो-णमो मुनिराज, जीत-जस कविगण गाया ।
जय-जय गुरुवर जीत, सदा सबके मन भाया ।
यंत्र-मंत्र औ तंत्र, जगत में फैले भारी ।
तिमिर अहो अज्ञान, ज्ञान से उसे भगाया ।
केन्द्र आत्म में बनी, मनन-चिन्तन की धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

शुक्ल-पक्ष शुभ दिवस, त्रयोदशी चेत महीना ।
भल आया दो सहस, साल तेतीसा लीना ।
अमरापुर-सा नगर **'रायपुर'** खूब सजा था ।
वहीं बने आचार्य, महोत्सव भारी कीना ।
सहस-सहस नर-नार, रहे कर जय-जयकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

रहे आपका वरद-हस्त जय-संघ अमर हो ।
पल-पल सुमरे जीत, जीत सबको सुखकर हो ।
रसने ! कह अब जीत-शिष्य के नाम मनोहर ।
हर्ष बढ़े मन, मुदित सभी श्रोता-पाठक हों ।
मान ज्ञान की खान **'लाल'** मुनि' संघ-सितारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

पुखराज मुणोत

गजानन्द गरा-ईश शिशु का नाम '**गणेशा**'।
मगर अमंगल किया विधाता ने यह कैसा ?
ज्ञात किसे था ऐसी, यह महामारी होगी।
ताण्डव-नर्तन होगा घर-घर मरण-संदेशा।
काल क्रूर का वार, '**वचन**' तब स्वर्ग सिधारा।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

व्यथित हृदय थी, सजल-नयन थी भीखी माता।
तीर कलेजा चीर गया, दुख कहाँ समाता।
रही वर्ष दो और पुत्रियां दोनों व्याही।
थमी पीर तो मिले भाग्य से मुनि श्री '**नाथा**'।
औरत माता भीखी ने, दीक्षा-व्रत धारा।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

जीवन हो यह सफल, पूत का मात विचारे।
तप-संयम के मध्य, पले दीक्षा भी धारे।
ममता नहिं वह हृदय, मात का धर्म-लीन था।
ललना है वह धन्य पुत्र का जन्म सुधारे।
जीवन-जल की बदल गई बहती हुई धारा।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

महामुनि नथमल जी भी जब स्वर्ग सिधारे ।
हाल देख यह '**चौथस्वामी**' को निज गुरु धारे।
राग छोड, वैराग्य आपके मन को भाया।
जग को वाणी-वीतराग, ही पार उतारे ।
कीच जगत् में कौन, फंसे मन रखना न्यारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

हीरा जन्म अमोल, साधु बन सफल बनाया ।
रहा ठाट पीपाड़, जीत नव नाम सुहाया ।
कल का बालक आज बना षट्कायिक प्यारा ।
जन्म-जन्म के कर्म करूं क्षय लक्ष्य बनाया ।
महाराज कहकर चरण, पूजता अब जग सारा।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

मन के जीते जीत हार यदि मन यह हारा

जब से उर में खड्ग-धारवत् संयम धारा ।
यंत्र-सदृश चर्या में, अपना जीवन उतारा ।
तिरना, बचना जन्म-मरण औ जरा-रोग से ।
औषध है बस एक, 'ज्ञान' पढ़ आगम सारा ।
रहे लीन दिन-रात गुरु ने दिया सहारा ।
मन के जीते जीत हार यदि मन यह हारा ।।

दीप ज्ञान का जला प्रकाश अन्तर में फैला ।
क्षार हुआ निर्मूल रहा मिठियास अकेला ।
सुयश फैला चहुं ओर ख्याति दिश-दिश में छाई ।
वर्ष बहुत बहु ग्राम परीषह दुस्सह झेला ।
रखी एक ही टेक, धर्म का हो विस्तारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

णमो-णमो मुनिराज, जीत-जस कविगण गाया ।
जय-जय गुरुवर जीत, सदा सबके मन भाया ।
यंत्र-मंत्र औ तंत्र, जगत में फैले भारी ।
तिमिर अहो अज्ञान, ज्ञान से उसे भगाया ।
केन्द्र आतम में बनी, मनन-चिन्तन की धारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

शुक्ल-पक्ष शुभ दिवस, त्रयोदशी चेत महीना ।
भल आया दो सहस, साल तेतीसा लीना ।
अमरापुर-सा नगर **'रायपुर'** खूब सजा था ।
वहीं बने आचार्य, महोत्सव भारी कीना ।
सहस-सहस नर-नार, रहे कर जय-जयकारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

रहे आपका वरद-हस्त जय-संघ अमर हो ।
पल-पल सुमरे जीत, जीत सबको सुखकर हो ।
रसने ! कह अब जीत-शिष्य के नाम मनोहर ।
हर्ष बढ़े मन, मुदित सभी श्रोता-पाठक हों ।
मान ज्ञान की खान **'लाल'** मुनि' संघ-सितारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

पुखराज मुणोत

रात दिवस मुस्कान, यही '**शुभ**' सबको भाते ।
नमन '**पार्श्वमुनि**' चरण, भक्त जहँ दौड़े आते ।
तत्पर रहते सदा, अहा '**गुणवंत**' गुणीवर ।
सिरज रहे नव-गीत नित्य '**भद्रंकर**' गाते ।
रहे नहिं पर '**नूतन**', अब भी कहाँ विसारा ?
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

अधर सुधारस पान, करें तव चरण चूमकर ।
भिक्षु जीत का नाम, जपे मन झूम-झूमकर ।
नंदन-वन-सी महक, सुयश-गुण जिह्वा गाए ।
दर्श करें ये नयन, जीत का जगत भूलकर ।
नमन होवे शत वार, जीत मुझ जन्म-सुधारा ।
मन के जीते जीत, हार यदि मन यह हारा ।।

वंदना कर-कर तुम्हारी

आतमा से परमातमा की डगर पर डग भर रहे ।
वीर से महावीर के सन्मार्ग पर पग धर रहे ।
कर रहे उपकार सब पर कल्याण का उपदेश दे ।
खलते नहीं आचार्य गुरुवर जीत का संदेश दे ।।

ऋण तुम्हारा है कि इतना हम उसे कैसे भूलें ?
वंदना कर-कर तुम्हारी नित्य आनंद में झूलें ।
तव छत्र के चलकर तले फिर धर्मपथ पर बढ़ चलें ।
पा कृपा गुरुराज तेरी आदर्श से ना हम टलें ।।

—महेश भण्डारी, महामंदिर

अभिनन्दन शीतल चन्दन का

□

पं. मुनीन्द्र कुमार जैन

जीतमुनि का अभिनंदन है, संयम-पथ के राही जो।
निर्मल जीवन में निर्मल मन, रहे सतत गुणग्राही जो।
रत्नत्रय के आराधन में, सदा सजग जिसका है ध्यान।
मौन-साधना इस साधक की, अकथ कहानी बनी महान ।।

वंदनीय को शत-शत वन्दन, प्रतिपल प्रशिक्षण करें सभी।
ऐसी पावन घड़ियाँ मिलतीं, बड़े भाग्य से कभी-कभी।
जीवन जिसका आलोकित है, सघन तेज का पुञ्ज बना।
तप्त-दग्ध इस नीरस जग में, हरा-भरा यह कुञ्ज घना ।।

'लूणसरा' में जन्म लिया पर, अमृत-पथ को अपनाया।
पिता **'वचनमल'** माता, **'भीखीबाई'** का यश प्रकटाया।
इस सपूत के महावीर के, महामार्ग पर चरण बढ़े।
जिन क्षेत्रों में चरण पड़े हैं, यश के ध्वज हैं वहां गड़े ।।

स्वामी जी श्री **'चौथमलजी'**, से दीक्षित हैं आप बने।
जग की नश्वरता तज करके, तप-संयम में आप सने।
अस्थिर माया छायावत् यह, सदा बदलने वाली है।
भरते रहो निरन्तर घर को, वह खाली का खाली है ।।

प्रेरित हो **'नथमल जी'** गुरु से, ज्ञान-साधना अपनाई।
इसी साधना ने प्रकटाई, तप-संयम की तरुणाई।
तरुण तपस्वी बना मनस्वी, और यशस्वी घर-घर का।
स्फूर्त सदा जीवन है इनका, नहीं प्रमाद है पलभर का ।।

सरल हृदय है महामनीषी, महिमा-मंडित अविकारी।
इनकी वाणी है कल्याणी, जन-जन को है हितकारी।
साधक-जीवन पावन इनका, उत्तम-मंगलदाता है।
श्रद्धा-युत हो जो चरणों में, एक बार आ जाता है।।

पैंसठ वर्ष किए हैं पूरे, और वर्ष भी बीतेंगे।
कर्म-शत्रुओं से लड़ने में, **'जीतमुनि जी'** जीतेंगे।
'जयमल-गच्छ' की विजयपताका, फहर-फहर कर फहरेगी।
इस गुण-सागर की गुण-गरिमा, लहर-लहर कर लहरेगी।।

अभिनंदन शीतल-चन्दन का, जीतमुनि जी जयकारी।
परम-उपासक सत्य-धर्म के, जीतमुनि जी भयहारी।
निरत सदा स्वाध्याय-ध्यान में, जीतमुनि जी अविकारी।
शत-शत वर्ष हजार जीएं ये, जीतमुनि जी यशधारी।।

जिधर बढ़ेंगे चरण आपके, उधर बढ़ेगा सब संसार।
दिशा-दिशा में प्रसरित होगा, यश-सौरभ लेकर विस्तार।
सभी स्वप्न साकार बनेंगे, हृत्तंत्री की मृदु झंकार।
झंकृत होगा यही तराना, जीतमुनि जी जय-जयकार।।

—सादडी (राजस्थान)

महावीर के सेनानी

□

पारसमल मट्ठा

जैन-जगत् के जयमल-गण के
दीप्तिमान सितारे हैं ।
कविवर श्रुतधर जीत-पूज्यवर
प्रिय आचार्य हमारे हैं ।।

त्याग-तपस्यामय जीवन है
वाणी ज्यों अमृत बरसे ।
हृदय सरल व्यक्तित्व विरल है
कर दर्शन जन-मन सरसे ।।

परम-शांत औ मित-मृदुभाषी
सागरवर गंभीरा हैं ।
ज्ञानी-ध्यानी संयम-साधक
सहनशील अति धीरा हैं ।।

मधुमय मनहर धृतिधर अघहर
प्रिय मनोज्ञ हितकारी हैं ।
मंगलमय उद्बोधन जिनके
पाप-ताप-भयहारी हैं ।।

तेज सूर्य-सम, फिर भी हैं ये
शीतलता में ज्यों शशधर ।
नील गगन-सा व्यापक मानस
धवल-समुज्ज्वल हैं यशधर ।।

ज्योतिर्विद हैं नामी जग में
जन-जन के मन को भाए।
वचनसिद्धि-वरदान जन्म से
वचन-पुत्र ! तुम ले आए।।

अरे मनस्वी ! अरे मनीषी !
महावीर के सनानी !
तुम भक्तों के भक्त तुम्हारे
अकथ कथा किसने जानी ??

पारस सम है स्पर्श तुम्हारा
जब-जब जो-जो पाता है।
कलुषित-कलिमा धुल-धुल जाती
आत्म-ज्ञान धुल जाता है।।

महावीर के बने लाल तुम
क्षमावंत औ गुणवंता।
नित नूतन उपदेश तुम्हारा
धार रहे हैं धुनवंता।।

गुरुवर ! तुम भद्रिक परिणामी
मम वन्दन स्वीकार करो।
कोटि-कोटि करता अभिनंदन
मेरा अब उद्धार करो।।

—सादड़ी (राजस्थान)

जीत गुरु के गीत पर

पं. जसवंतराज खींवसरा

सतत कर साहित्य-सेवा, काव्य रचते हैं कवि ।
ज्ञानियों के जगत् में, चमकते हो ज्यों रवि ।।

प्रपंच रंच नहीं सुहाता, रहते सदा जो दूर हैं ।
आनंदमय जिनका जीवन औ प्रेममय भरपूर है ।।

औदार्य है दिल में भरा, पर-देश कोई है नहीं ।
सर्वत्र है यश आपका, कहिए कहाँ पर है नहीं ।।

वीतरागी धर्म की, प्रीति अपूरव बढ़ रही ।
सब जगह से जैन-जनता दर्शनार्थ है आ रही ।।

उत्सव मनाता है 'कुचेरा', श्रेय पा संसार में ।
सहयोग देता इस तरह, निज-आत्म के उद्धार में ।।

गुरु-वचन का अनुसरण कर, कमजोरियाँ अपनी हरें ।
गुरुवर-कृपा है प्राप्त तो, भीतियों से क्यों डरें ।।

करणी बने कथनी-सदृश, चरण बढ़ें फिर नीत पर ।
एक स्वर होगा तभी, जीत गुरु के गीत पर ।

नियमी बने संसार सब, आदर्श जीवन-नूर हो ।
'जसवंत' जैनी जगत में, सब रूढ़ियाँ काफूर हों ।।

—कुचेरा (नागौर)

———

जग का शत-शत वंदन-प्रणाम

हास्यकवि हजारीलाल जैन 'काका'

जो जीत रहे जग का क्रन्दन, जिनमें जिन की ज्योति ललाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, जग का शत-शत वंदन-प्रणाम ।।

मरुधरा नागौर जिले में, लूणसरा है अभिरामी।
वचनमल्ल जी पिता आपके, खानदान जिनका नामी।
संवत् उन्निस सौ सड़सठ की, सावण कृष्णा सातम आई।
उस दिन माँ भीखीबाई की, गोदी ने अमर-निधि पाई।
तब बंटी बधाई घर-घर में, जन-मन को भारी हर्ष हुआ।
पर बालक के त्यागी मन ने, सांसारिक सुख को नहीं छुआ।
उम्र ग्यारह वर्ष हुई जब, वैराग्य-भावना रस भीनी।
गुरुवर स्वामी नथमल जी थे, दीक्षा चौथ मुनि दीनी।
गुरुजन की सेवा करते थे, निशदिन तन-मन से सुबह-शाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, जग का शत-शत वंदन-प्रणाम ।।

संवत् उन्निस सौ अठहत्तर, अगहन शुक्ला नवमी आई।
पीपाड़शहर में धूमधाम से, छोड़ जगत दीक्षा पाई।
फिर अध्ययन में हुए लीन, प्राकृत-संस्कृत का ज्ञान किया।
व्याकरण-न्याय और तर्कशास्त्र, हिन्दी-उर्दू पर ध्यान दिया।
ज्योतिष-सामुद्रिक शास्त्र पढ़ा, हर विद्याओं में पास हुए।
इस कारण ही दो हजार चार में, उपाध्याय जी आप हुए।
फिर धर्म-ध्यान में तन-मन से, जुट गए बहुत उपदेश दिया।
तब दो हजार तेतीस साल, आचार्य पद को प्राप्त किया।
लिख दिए कई साहित्य-ग्रंथ, दिन-रात नहीं पाया विराम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, शत-शत वंदन शत-शत प्रणाम ।।

बहती है काव्य सरस धारा, जब आप प्रवचन देते हैं।
अपनी मीठी वाणी द्वारा, जन-जन का मन हर लेते हैं।
जो ध्यान लगा सुनता श्रोता, मंत्र-मुग्ध वह हो जाता।
तत्त्वों का सटीक निरूपण पा, अंतर में गोता है खाता।
फिर वह संसार की नश्वरता का मन में अनुभव करता है।
निज-पर का हर भेद समझ, खुद का ही चिंतन करता है।
ये जैनागम के जानकार, मृदुभाषी और दयालु हैं।
समभावी सरल-स्वभावी हैं, अति धैर्यवान् कृपालु हैं।
"काका" ये युग-युग जीएँ विनय, है वीर प्रभु से सुबह-शाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, शत-शत वंदन शत-शत प्रणाम ।।

—सकरार (झाँसी) उ. प्र.

——

जीवन-ज्योति

"जीवन-ज्योति
'जीत' में पाता,
'नूतन' को
कुछ और न भाता।
रही निकटता
मन की
तन तो
दूर पड़ा है;
तन का क्या ?
जब
मन का मनका
पास पड़ा है।"

—स्व. मुनि श्री नूतनचंद्र जी म. सा.
१ जनवरी १९७९ पीपाड़

जग का शत-शत वंदन-प्रणाम

□

हास्यकवि हजारीलाल जैन 'काका'

जो जीत रहे जग का क्रन्दन, जिनमें जिन की ज्योति ललाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, जग का शत-शत वंदन-प्रणाम ।।

मरुधरा नागौर जिले में, लूणसरा है अभिरामी।
वचनमल्ल जी पिता आपके, खानदान जिनका नामी।
संवत् उन्निस सौ सड़सठ की, सावण कृष्णा सातम आई।
उस दिन माँ भीखीबाई की, गोदी ने अमर-निधि पाई।
तब बंटी बधाई घर-घर में, जन-मन को भारी हर्ष हुआ।
पर बालक के त्यागी मन ने, सांसारिक सुख को नहीं छुआ।
उम्र ग्यारह वर्ष हुई जब, वैराग्य-भावना रस भीनी।
गुरुवर स्वामी नथमल जी थे, दीक्षा चौथ मुनि दीनी।
गुरुजन की सेवा करते थे, निशदिन तन-मन से सुबह-शाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, जग का शत-शत वंदन-प्रणाम ।।

संवत् उन्निस सौ अठहत्तर, अगहन शुक्ला नवमी आई।
पीपाड़शहर में धूमधाम से, छोड़ जगत दीक्षा पाई।
फिर अध्ययन में हुए लीन, प्राकृत-संस्कृत का ज्ञान किया।
व्याकरण-न्याय और तर्कशास्त्र, हिन्दी-उर्दू पर ध्यान दिया।
ज्योतिष-सामुद्रिक शास्त्र पढ़ा, हर विद्याओं में पास हुए।
इस कारण ही दो हजार चार में, उपाध्याय जी आप हुए।
फिर धर्म-ध्यान में तन-मन से, जुट गए बहुत उपदेश दिया।
तब दो हजार तेतीस साल, आचार्य पद को प्राप्त किया।
लिख दिए कई साहित्य-ग्रंथ, दिन-रात नहीं पाया विराम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, शत-शत वंदन शत-शत प्रणाम ।।

बहती है काव्य सरस धारा, जब आप प्रवचन देते हैं।
अपनी मीठी वाणी द्वारा, जन-जन का मन हर लेते हैं।
जो ध्यान लगा सुनता श्रोता, मंत्र-मुग्ध वह हो जाता।
तत्त्वों का सटीक निरूपण पा, अंतर में गोता है खाता।
फिर वह संसार की नश्वरता का मन में अनुभव करता है।
निज-पर का हर भेद समझ, खुद का ही चिंतन करता है।
ये जैनागम के जानकार, मृदुभाषी और दयालु हैं।
समभावी सरल-स्वभावी हैं, अति धैर्यवान् कृपालु हैं।
"काका" ये युग-युग जीएँ विनय, है वीर प्रभु से सुबह-शाम।
आचार्य जीतमल मुनिवर को, शत-शत वंदन शत-शत प्रणाम।।

—सकरार (झांसी) उ. प्र.

——

जीवन-ज्योति

"जीवन-ज्योति
'जीत' में पाता,
'नूतन' को
कुछ और न भाता।
रही निकटता
मन की
तन तो
दूर पड़ा है;
तन का क्या ?
जब
मन का मनका
पास पड़ा है।"

—स्व. मुनि श्री नूतनचंद्र जी म. सा.
१ जनवरी १९७९ पीपाड़

मुनिवर का सच्चा अभिनंदन

डॉ. उदयचंद्र जैन

जिसने जन-जन का
उपकार किया
क्या उस
महातपस्वी योगी को
कोई भूलेगा ?

जिसकी छवि में
समता के स्वर गुञ्जित
वह क्या
अमर तत्त्व के
निज-स्वरूप में
विषमय बूंदे घोलेगा ?

जिस धरा पर हो
दिव्य-तेज
दिवाकर का
'जीत' उसे
क्यों नहीं
अपने अन्तस्तल में
धारेगा ?

दिग्दिगन्त में
जय-विजय का

शंखनाद
क्यों नहीं गूंजेगा
धीर-वीर के
गुण गा-गाकर ?

मैं करूं आज प्रणाम
उस जननी को
जिससे
जनित हुआ हो
रत्नत्रय का
वह अवधारी ।

अगम्य आगम को
सहज बोध-स्वरों में
जीवन का अंग
जिसने बनाया
ऐसे सरस्वती-पुत्र
आचार्य-प्रवर श्री जीतमुनि को
कर सकूं
नित-नित नमन
शत-शत वंदन
तभी 'उदय' समझूंगा
अपने भाग्य का
और
मुनिवर का
सच्चा अभिनंदन ।।

—'पिऊ कुञ्ज'
3 अरविंदनगर, उदयपुर

□

ऐसे सत्प्रयत्नों में
आचार्य-देव
सदैव रत रहते हैं ।

इन्हीं सर्व गुणों से सम्पन्न हैं
हमारे प्रेरणा-स्रोत
आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज,
जिनका
नेतृत्व पाकर
श्री जयमल जैन चतुर्विध संघ
अपने आपको
गौरवान्वित अनुभव कर रहा है,
धन्य समझ रहा है ।
गुण-रत्नों की खान
परम-ज्ञानवान्
इन्हीं
श्रद्धेय-गुरुदेव को
मेरा
कोटिशः भावाभिवंदन ।

—रायचूर (कर्णाटक)
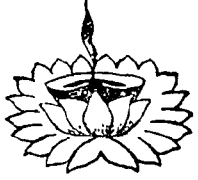
धरती का श्रृंगार

□

सत्यवती जैन

वीर-भूमि लूणसरा में
एक बालक ने
जन्म लिया था—
पचहत्तर वर्ष पहले
भारत माँ ने अपने को
धन्य समझा
जन्मदात्री ने
गोदी में दुलराया
विचारों में चेतना भर
दूध पिलाया
माँ के ऊँचे
चरित्रवान्
विचारों की गन्ध ने
बालक को महका दिया ।

ग्यारह वर्ष की वय में
वह निकल पड़ा—
घर-परिवार का मोह छोड़
कराहती मानवता का
क्लेश हरने
महावीर के संदेश को
गणधर गौतम की
परम्परा को

ऐसे सत्प्रयत्नों में
आचार्य-देव
सदैव रत रहते हैं ।

इन्हीं सर्व गुणों से सम्पन्न हैं
हमारे प्रेरणा-स्रोत
आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज,
जिनका
नेतृत्व पाकर
श्री जयमल जैन चतुर्विध संघ
अपने आपको
गौरवान्वित अनुभव कर रहा है,
धन्य समझ रहा है ।
गुण-रत्नों की खान
परम-ज्ञानवान्
इन्हीं
श्रद्धेय-गुरुदेव को
मेरा
कोटिशः भावाभिवंदन ।

—रायचूर (कर्णाटक)

झुक-झुक कर
तहे-दिल नमन करते हैं;
इस उच्च कोटि के
नमनीय महात्मा
उग्र-तपस्वी, उग्र-विहारी
बाल-ब्रह्मचारी
जन-दुःख-हारी
परम-पूज्य मुनिराज को
मेरी भी
कोटिशः हार्दिक अभिवंदना

—शालीमार बाग, दिल्ली

अभिनंदन है वार हजार

अभिनंदन है जीत आपका
दीक्षा स्वर्ण जयंती पर।
श्रद्धालु-जन हर्षित सारे
हीरक जन्म-जयंती पर॥

समभावी है सरल-स्वभावी
संस्कृत-प्राकृत के ज्ञाता।
काव्य-प्रेमी औ जिन-अनुयायी
चिन्तक आत्म-ज्ञान-प्रदाता॥

अत्भुत प्रतिभा-धनी आप है
सादा जीवन उच्च विचार।
धैर्यवान्, है निश्छल जीवन
अभिनंदन है वार हजार॥

—जी. मानकंवर खींवसरा
कुचेरा (नागौर)

अपने जीवन में ढ़ाल कर,
रत्नगर्भा वसुंधरा को
अपने दो पगों से नापता
भूमि का कोना-कोना छानता,
दीन-जनता का दुःख
अपने तपोबल से
हरण करता,
महावीर के संदेश को
झोली में भर
बाँटता,
धरती माँ का श्रृंगार करता
दिव्य व्यक्तित्व
जो विचर रहा है
वर्तमान में,
वे ही हैं
स्वनाम-धन्य
आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज।

धरती माँ
प्रसन्न हो उठी है
इस महापुरुष को पाकर !
तलवारों के धनी
मार-काट के बल से
अपनी प्रभुता जमा कर
दूसरों का सुख छीन लेते हैं
घिनौनी जिंदगी जी कर
किन्तु
महापुरुष, कर्मठ योगी
दूसरों के सुख के लिए
अपना सुख भी छोड़ देते हैं
और
जिंदगी से हारे-थके लोग
ऐसे ही
महामानव-महायोगी को

झुक-झुक कर
तहे-दिल नमन करते हैं;
इस उच्च कोटि के
नमनीय महात्मा
उग्र-तपस्वी, उग्र-विहारी
बाल-ब्रह्मचारी
जन-दुःख-हारी
परम-पूज्य मुनिराज को
मेरी भी
कोटिशः हार्दिक अभिवंदना

—शालीमार बाग, दिल्ली

अभिनंदन है वार हजार

अभिनंदन है जीत आपका
दीक्षा स्वर्ण जयंती पर।
श्रद्धालु-जन हर्षित सारे
हीरक जन्म-जयंती पर।।

समभावी है सरल-स्वभावी
संस्कृत-प्राकृत के ज्ञाता।
काव्य-प्रेमी औ जिन-अनुयायी
चिन्तक आत्म-ज्ञान-प्रदाता।।

अत्भुत प्रतिभा-धनी आप है
सादा जीवन उच्च विचार।
धैर्यवान्, है निश्छल जीवन
अभिनंदन है वार हजार।।

—जी. मानकंवर खींवसरा
कुचेरा (नागौर)

अपने जीवन में ढ़ाल कर,
रत्नगर्भा वसुंधरा को
अपने दो पगों से नापता
भूमि का कोना-कोना छानता,
दीन-जनता का दुःख
अपने तपोबल से
हरण करता,
महावीर के संदेश को
झोली में भर
बाँटता,
धरती माँ का श्रृंगार करता
दिव्य व्यक्तित्व
जो विचर रहा है
वर्तमान में,
वे ही हैं
स्वनाम-धन्य
आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज।

धरती माँ
प्रसन्न हो उठी है
इस महापुरुष को पाकर।
तलवारों के धनी
मार-काट के बल से
अपनी प्रभुता जमा कर
दूसरों का सुख छीन लेते हैं
घिनौनी जिंदगी जी कर
किन्तु
महापुरुष, कर्मठ योगी
दूसरों के सुख के लिए
अपना सुख भी छोड़ देते हैं
और
जिंदगी से हारे-थके लोग
ऐसे ही
महामानव-महायोगी को

झुक-झुक कर
तहे-दिल नमन करते हैं;
इस उच्च कोटि के
नमनीय महात्मा
उग्र-तपस्वी, उग्र-विहारी
वाल-ब्रह्मचारी
जन-दुःख-हारी
परम-पूज्य मुनिराज को
मेरी भी
कोटिशः हार्दिक अभिवंदना

—शालीमार बाग, दिल्ली

अभिनंदन है वार हजार

अभिनंदन है जीत आपका
दीक्षा स्वर्ण जयंती पर।
श्रद्धालु-जन हर्षित सारे
हीरक जन्म-जयंती पर ।।

समभावी है सरल-स्वभावी
संस्कृत-प्राकृत के ज्ञाता।
काव्य-प्रेमी औ जिन-अनुयायी
चिन्तक आत्म-ज्ञान-प्रदाता ।।

अत्भुत प्रतिभा-धनी आप है
सादा जीवन उच्च विचार।
धैर्यवान्, है निश्छल जीवन
अभिनंदन है वार हजार ।।

—जी. मानकंवर खींवसरा
कुचेरा (नागौर)

चंदन-सा सुरभित है जिनका सुयश

साध्वी श्री चेतना जी म.

जिनका हृदय
नवनीत-सा सुकोमल
जल-प्रवाह-सा तरल
हिमाचल-सा अचल
और
सुधांशु-सा शीतल है,

जिनका सुयश
चंदन-सा सुरभित
दिवाकर-सा दिव्य
गंगा-सा विस्तृत
एवं
अंतहीन आकाश-सा
भव्य है,

जिनका दर्शन
प्रतिदिन जगतीतल का
प्रथम स्पर्श करने वाली
रश्मि-सा
नित्य नूतन है,

जिनकी वाणी में
अमृत
नयनों में

अजस्र स्नेह-धारा
एवं
अंत: करण में
करुणा का अनंत-प्रवाह है,

ऐसे
आत्मबली आचार्य-प्रवर
मेरे
परमाराध्य पूज्य गुरुवर
श्री जीतमल जी मुनिवर
की
पैंसठ वर्षीय दीर्घ-साधना
का
शतशः अभिनंदन !
उनकी
प्रशस्त ज्ञान-आराधना का
कोटिशः अभिवंदन ! !

——शिष्या : महासती श्री सुगनकुंवर जी म.सा.

ऐसे मुझ गुरुदेव

पंच महाव्रत धार विरक्ति है भोग से ।
रग-रग रुचियों रंग रसीला जोग से ।।
क्रोध-मान-मोह-लोभ सतत निर्बल करे ।
सरल विनम्र उदार क्षमा दिल में धरे ।।
समझ्यो आत्म-स्वरूप जगी चिंतन रुची ।
पल नहीं जावे व्यर्थ जिनाज्ञा दृढ़ जंची ।।
राग-द्वेष कर क्षीण साम्य-गुण लीनता ।
छह काया प्रतिपाल मिटी मन दीनता ।।
ऐसे मुझ गुरुदेव जीत संग लाल हैं ।
गुण छत्तीस-पचीस की जोड़ कमाल है ।।

—प्यारेलाल कांकरिया
रायचूर (कर्णाटक)

लाल तूं है वीर का

□

प्रवीणचंद्र लीलाधर

प्रत्यक्ष होकर जीत तुम तो, छुपे मुझसे रह गए।
वीता बहुत अर्सा मिलन में. रहे तुम हमसे नए।।

णकार ज्यों है वाक्य-भूषण, दूषण न तुममें एक भी।
चंचल बना नहिं आपका मन, चल पदार्थों पर कभी।।

द्रष्टा बनो ज्ञाता बनो, शिक्षा यही देते रहे।
लीन हो मुक्तात्म में, वाक्य जब-तब ये कहे।।

लाल तूं है वीर का, कायर कदापि बना नहीं।
धर्म तेने वालपन से, आज तक रक्खा यही।।

रहो तुम निज-धर्म में, सव कर्म-अरि को शमन कर।
की जीत तुमने प्रीत सवसे, गीत तेरे चर-अचर।।

वंक-जन को सरल करके, धर्म-पथ में ढालते।
दक्ष होकर आप तो, महाव्रत हैं पालते।।

नाम तेरा जानते जन, दर्शनार्थ पधारते।
स्वीय क्या परकीय क्या सव, आत्म-हित स्वीकारते।।

कायर वनूं मैं ना कभी, जागतिक संघर्ष में।
रोके न वढ़ते मुझे कोई, हृदय के इस हर्ष में।।

—कलकत्ता (प. वंगाल)
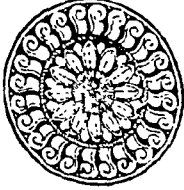
आगम रा दरिया है गुरुवर

□

महासती श्री सुगन कुंवर जी म.

गुरुदेव रे चरणां मांही शीश नमाले रे....।
जीत-गण गाले रे.... ।।

पिता आपरा वचनमल्ल जी, माँ भीखी सुकुमारो रे।
बावचार है गोत्र आपरो, कियो उजियारो रे.... ।।

पीपाड़ शहर में दीक्षा लीनी, गुरु नथमल प्रियकारी रे।
चरण-चिह्नाँ जननी रे चाल्या, बन अणगारी रे.... ।।

बालक-वय में संयम लीनो, ज्ञान-ध्यान बहु कीनो रे।
पाँचूं इंद्रियाँ जीती मनड़ो जीत लीनो रे.... ।।

काम-क्रोध-मद-लोभ-माया ने दिल सूं दूर भगाया रे।
क्षमावान् बणवा रो जग ने पाठ पढ़ाया रे.... ।।

काव्यतीर्थ औ न्यायतीर्थ हैं तर्कमनीषी प्यारा रे।
आगम रा दरिया है गुरुवर तारणहारा रे.... ।।

ज्योतिष रो है ज्ञान आपने बहु भाषा अधिकारी रे।
वचनसिद्ध गुरुवर री महिमा प्रसरी भारी रे.... ।।

शहर नगीने भरी सभा में उपाध्याय-पद दीनो रे।
जयमल-संघ में शंखनाद ओ क्रांति रो कीनो रे.... ।।

राजस्थान महाराष्ट्र आन्ध्र में और प्रान्त गुजराता रे।
तमिलनाडु औ मध्यप्रदेशे विचरचा दाता रे.... ।।

पद शोभित आचार्य रायपुर चादर सब ओढ़ाई रे।
महावीर-जयंती रे दिन खुशियाँ छाई रे.... ।।

शांत दांत गंभीर दयालु करुणानिधि गुणवंता रे।
उपमा किण री देऊं मुनिवर है पुण्यवंता रे.... ।।

उपमा देऊं सूरज री तो वो है ऊष्म-अंगारो रे।
शीतलदायी दर्शन गुरु रा मोहनगारो रे.... ।।

चंद्रमा री उपमा देऊं तो वो है निशि रो स्वामी रे।
दिवस-रात में समान आप हो जग में नामी रे.... ।।

परम-कृपालु पूज्य गुरुवर जी सबने साताकारी रे.... ।
रोग-शोक-भय सब मिट जावे मंगलकारी रे.... ।।

भव्य जीवाँ ने दीक्षा देकर जीवन-नय्या तारी रे।
आप तिरे, तारे औरां ने वंदना म्हारी रे.... ।।

सब जीवां पर करुणा राखे समता-रस ने चाखे रे।
राग-द्वेष नहीं रखणो किण पर गुरुवर भाखे रे.... ।।

महिमा गुरु री सब सूं मोटी केवे सब ही ज्ञानी रे।
जनम-जनम उपकार करे ये जीवनदानी रे.... ।।

जनम-मरण रा फंदा काटे मुक्ति-राह बतावे रे।
मनड़ा रा सब कलुष मेटने भरम भगावे रे... ।।

गुरुदेव रा जो गुण गावे जीत सदा ही पावे रे।
जीत नाम है जय-जयकारी जन-मन भावे रे.... ।।

देश-प्रदेश में विचर-विचर कर धर्मधजा फहराई रे।
जिनवाणी रो ठाट लगाकर गंग वहाई रे.... ।।

दीक्षा री आ स्वर्ण, जनम री, हीरक जयन्ती आई रे।
जन-जन रे हिवड़ा रे मांही, खुशियाँ समाई रे.... ।।

जुग-जुग जीओ आप पूज्य जी, आ ही भावना भाऊं रे।
भाव-सुमन अर्पित करतां मैं, वलि-वलि जाऊं रे.... ।।

गुरु-गुण री सीमा नहीं, म्हासूं लिख्या न जाय।
"सुगन" कहे गुरुवर भजे, सब सुख-संपत पाय।।

वंदना हमारी हो

साध्वी श्री रविप्रभा जी म.

जीत-गुण गाये, मन है हर्षाये .... ।
महिमा न्यारी हो, वंदना हमारी हो ।।

गुरु हैं गुणवंता, वने पुण्यवंता ।
शुद्धाचारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

भीखी के ये बाल हैं, वचनजी के लाल हैं ।
ममता-निवारी हो, वंदना हमारी हो... ।।

लूणसरा ग्राम है, बना पावन धाम है ।
हुआ अवतारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

जाति बाघचार है, हुई जयकार है ।
पर-उपकारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

आए भक्त दौड़-दौड़, जाए कहाँ तुझे छोड़ ।
दर्शनकारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

दुखियों के दु:ख दूर, सुख मिले भरपूर ।
मंगलकारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

रवि ज्यों तेजस्वी, आप हैं ओजस्वी ।
वाल-ब्रह्मचारी हो, वंदना हमारी हो.... ।।

—शिष्या : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

गुणगान गाएँ जीत

□

साध्वी श्री राजीमती जी 'राजुल'

जीत गुरु गुणवान हैं, भक्तों के ये प्राण हैं।
जन-जन प्यारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

सीखा सारा आगम-ज्ञान, ध्याया प्यारा आतम-ध्यान।
विषय-निवारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

भक्तों के उपकारी हैं, जन-जन के हितकारी हैं।
नित्य जयकारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

ध्याएँ जीत पाएँ जीत, गुणगान गाएँ जीत।
मंगलकारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

नगर-शहर गाँव-गाँव, चलते देखो नंगे पाँव।
धर्म प्रसारा हो, नमन हमारा हो... ।।

नैया मेरी मझधार, आप ही हैं खेवनहार।
पार उतारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

गुरु महावीर धीर, भक्तों की ये हरें पीर।
करें उजियारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

'राजुल' का यह अरमान, मिले मुझे आतम-ज्ञान।
गुरु तेरे द्वारा हो, नमन हमारा हो.... ।।

चिर जीएँ आचार्य हमारे

□

बबली एल. सोनी

जयमल-ज्योति जगाने वाले जीतमुनि महाराज....
तुमको शतशः वंदन आज ।
जग-हितकारी पर-उपकारी शासन के सरताज....
तुमको शतशः वंदन आज ।।

सावरण वद सातम जब आई लूरणसरा में खुशियाँ छाई ।
माँ भीखी की कूख सुहाई घर-घर में है बंटी वधाई ।
वचनमल्ल के कुल-उजियारे हनको तुम पर नाज....
तुमको शतशः वंदन आज ।।

काम क्रोध मद लोभ मिटाए अंतः शत्रु मार भगाए ।
राग-द्वेष को दूर हटाए बाघमार कुल-दीप कहाए ।
काया कृश आत्मा तेजस्वी ऐसे श्री गुरुराज...
तुमको शतशः वंदन आज ।।

वालपने में संयम धारा कुटिल जगत् से किया किनारा ।
गुरुवर **'नथमल'** स्वामी प्यारा गुरण छत्तीस का पद है धारा ।
जिनवारणी का अमृत प्याला पिला रहे मुनिराज....
तुमको शतशः वंदन आज ।।

भरा ज्ञान, अज्ञान टला है अमृत-रसमय वचन-कला है ।
विश्वास तुम्हारा सदा फला है दुर्जन का दिल देख जला है ।
मरुधरा की शान पूज्यवर तारण-तिरण-जहाज ..
तुमको शतशः वंदन आज ।।

वबली एल. सोनी

चिर जीएँ आचार्य हमारे जब तक चमकें चाँद-सितारे।
सोनी-परिजन सेवा सारे नमन करे पद जीत पियारे।
'बबली' करती है अभिनंदन हीरक-जयन्ती काज....
तुमको शतशः वंदन आज ॥

—भिलाई नगर (म. प्र.)

जिन-ज्ञान के प्राचार्य हैं

प्रखर है
व्यक्तित्व जिनका
कृतित्व भी उत्कृष्ट है
साधना है दिव्य
और
आराधना विशिष्ट है
प्रख्यात हैं
निज नाम से
भक्तों के
सिर के ताज हैं
गुरुदेव ऐसे हैं मेरे
मुझको
इसी पर नाज है
वंदन मेरा
उनको सदा
जय-संघ के आचार्य हैं
जीतमल जी मुनिवर्य हैं
जिन-ज्ञान के
प्राचार्य हैं।

—गौतम ललवाणी, जोधपुर

जीत गुरु रा चरण में

□

दुलराज रुणीवाल

मम मन ने आनन्ददाय, दर्शन गुरुवर रा ... ।
हाँ ऽऽऽ जीत गुरु रा चरण में, ओ माथो नम-नम जाय.... ।।

छाई शांति-सुधा, नहीं बात मुधा
चेहरे पर बड़ी निराली.... ।
रहणो ज्ञान-मगन, बस एक लगन ।
अमृत सूं भरणी प्याली.... ।
ए ऽऽऽ भगतां रा सिर-मोड़ है, ए त्यागी विषय-कषाय.... ।।

जन्म हीरक सही, स्वर्ण दीक्षा यही
गुरुवर री जयंती आई... ।
जीत-ज्योति लही, धर्म-प्रीति गही
आ जन-मन ने हरसाई.... ।
है ऽऽऽ सब री आ ही कामना, गुरु लम्बी ऊमर पाय.... ।।

काया दुबळी सही, मन निबळो नहीं
अनुभव म्हारो है केवे... ।
जीत होवे सदा, नहीं हार कदा
गुरु-आज्ञा में जो रेवे .... ।
हो ऽऽऽ गुरुवर थांरी सेव सूं म्हारो धन्य जीवन हो जाय.... ।।

—प्र. मंत्री : अ.भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रा. संघ
जवाजा-३०५९२२ (अजमेर-राज.)

लय : हिवड़ा सूं दूर मति जाय....

चिर जीएँ आचार्य हमारे जब तक चमकें चाँद-सितारे ।
सोनी-परिजन सेवा सारे नमन करे पद जीत पियारे ।
'बवली' करती है अभिनंदन हीरक-जयन्ती काज....
तुमको शतशः वंदन आज ।।

—भिलाई नगर (म. प्र.)

जिन-ज्ञान के आचार्य हैं

प्रखर है
व्यक्तित्व जिनका
कृतित्व भी उत्कृष्ट है
साधना है दिव्य
और
आराधना विशिष्ट है
प्रख्यात हैं
निज नाम से
भक्तों के
सिर के ताज हैं
गुरुदेव ऐसे हैं मेरे
मुझको
इसी पर नाज है
वंदन मेरा
उनको सदा
जय-संघ के आचार्य हैं
जीतमल जी मुनिवर्य हैं
जिन-ज्ञान के
आचार्य हैं ।

—गौतम ललवाणी, जोधपुर

जीत गुरु रा चरण में

□

दुलराज रुणीवाल

मम मन ने आनन्ददाय, दर्शन गुरुवर रा... ।
हाँ ऽऽऽ जीत गुरु रा चरण में, ओ माथो नम-नम जाय.... ।।

छाई शांति-सुधा, नहीं बात मुधा
चेहरे पर बड़ी निराली.... ।
रहणो ज्ञान-मगन, बस एक लगन ।
अमृत सूं भरणी प्याली.... ।
ए ऽऽऽ भगतां रा सिर-मोड़ है, ए त्यागी विषय-कषाय.... ।।

जन्म हीरक सही, स्वर्ण दीक्षा यही
गुरुवर री जयंती आई... ।
जीत-ज्योति लही, धर्म-प्रीति गही
आ जन-मन ने हरसाई.... ।
है ऽऽऽ सब री आ ही कामना, गुरु लम्बी ऊमर पाय.... ।।

काया दुबळी सही, मन निबळो नहीं
अनुभव म्हारो है केवे... ।
जीत होवे सदा, नहीं हार कदा
गुरु-आज्ञा में जो रेवे .... ।
हो ऽऽऽ गुरुवर थांरी सेव सूं म्हारो धन्य जीवन हो जाय.... ।।

—प्र. मंत्री : अ.भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रा. संघ
जवाजा-३०५९२२ (अजमेर-राज.)

लय : हिवड़ा सूं दूर मति जाय....

जीत गुरु है नामी

☐

नानालाल मट्टा

धन्य-धन्य अय मुनि जीतमल, गजब तेरी पुण्यवानी।
लक्ष-लक्ष भक्तों में गुञ्जित, तेरी त्याग-कहानी।।

हम सब हैं तेरे ही अनुचर, तू हम सबका स्वामी।
भारत की इस पुण्य धरा पर, तू गुरुवर है नामी।
लाखों ने नव-जीवन पाया, सुधर गई जिन्दगानी।।

अंधकारमय मन-मन्दिर में, तू उजियाला लाता।
ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में, सद्ज्ञान-दीप जलाता।
धन्य कुचेरा की जनता ने, तेरी गरिमा जानी।।

हीरक जन्म जयन्ती आई, मन में हर्ष अपारा।
दीक्षा स्वर्ण जयन्ती उत्सव, गूंज रहा जय-नारा।
दीप्तिमान तव ज्ञान अरे तू, ऐसा अद्भुत ज्ञानी।।

संयममय जीवन से मन की, विकृति-आग बुझाई।
वचन-सिद्धि से जिनशासन की, तुमने शान बढ़ाई।
जीत धर्म की जीत सत्य की, जिनवाणी जयदानी।।

पावन इन चरणों में तेरे, करता नित ही वंदन।
आज हर्ष से प्रमुदित यह मन, करता शत अभिनंदन।
कृपा-दृष्टि हम सब भक्तों पर, रखना हे अवधानी।।

**

कोटि-कोटि तव अभिनंदन

□

हीरालाल गांधी 'निर्मल'

हे धर्म-योगी हे कर्म-योगी।
हे त्याग-मूर्ति वैराग्य-मूर्ति।
कोटि-कोटि तव अभिनंदन।
तुम्हें सहस्रों हैं वंदन।।

हे आगम-मर्मज्ञ तुम्हारा ज्ञान हिमालय-सा पावन।
जिनवाणी की गंगा निकली जन-गण-मन को सरसावन।
तेरी जीवन-धारा बहती मोक्षमार्ग तक जाती है।
तेरे पद-चिन्हों पर जनता चलती मंजिल पाती है।

काव्य-तीर्थ तू न्याय-तीर्थ है।
तू साधु आचार्य तीर्थ है।
तेरे चरणों मेरा वंदन।
कोटि-कोटि तव अभिनंदन।।

लूणसरा से मिश्री बनकर गुरु नथमल के पास चले।
वालक वय में दीक्षा लेने पीपाड़ शहर में जाय मिले।
पिता वचनमल वाघचार कुल का भी उज्ज्वल नाम किया।
धन्य हुई माँ भीखीवाई निर्मल ने प्रणाम किया।

जिनशासन के ज्ञान-प्रचारक।
धर्म-प्रसारक शुद्ध विचारक।
कोटि-कोटि तव अभिनंदन।
तुम्हें सहस्रों हैं वंदन।।

—रेलवे उ. मा. विद्यालय
आबूरोड-307026

मरुधर रा मोटा अणगार

जीतमल चौपड़ा

भारत माँ के पूत सपूत, बन कर महावीर के दूत।
आए जिनमत के अवधूत, पूज्य जीतमल जी ।।

निश्चय यह संसार असार, जग में है स्वार्थ को प्यार।
तज कर के लियो संयमभार, पूज्य जीतमल जी ।।

मन की लीनी ममता मार, तन में लीनी समता धार।
देख्यो आगम को सब सार, पूज्य जीतमल जी ।।

घट में जगी ज्ञान की ज्योत, फिर तो कीनो धर्म-उद्योत।
चमके जिनशासन-खद्योत, पूज्य जीतमल जी ।।

जयमल-सम्प्रदाय गुलजार, ज्यांरा है हिवड़ा रा हार।
मरुधर रा मोटा अणगार, पूज्य जीतमल जी ।।

संगठन में दीनो साज, नियम-मर्यादा के काज।
खुल कर गुंजादी आवाज, पूज्य जीतमल जी ।।

शांत-स्वभावी अति धीर, निर्मल ज्यूँ गंगा को नीर।
मुनिवर सागर जिम गंभीर, पूज्य जीतमल जी ।।

उपाध्याय-प्रवर श्री "लाल", साथे रह्या ज्यूँ बनकर ढाल।
संत, सतियाँ रा प्रतिपाल, पूज्य जीतमल जी ।।

पायो आचार्य पद प्यारो, जो है शासन रो उजियारो।
जो है सबको मोहनगारो, पूज्य जीतमल जी ।।

दीक्षा-स्वर्ण-जयंती प्यारी, जुग-जुग जीओ वर्ष हजारी ।
करते अभिनन्दन नर-नारी, पूज्य जीतमल जी ।।

संवत् तैंयालिस मन भायो, "चौपड़ा जीतमल" हरपायो ।
मैं तो गुणियां रा गुण गायो, पूज्य जीतमल जी ।।

प्र. संपादक : जीत की भेरी
अजमेर (राज.)

धन्य चरण मुनि-जीत

☐ राजकुमार खींवसरा 'कर्नल'

कर्म-शत्रु-विजय जयी संत-हृदय नवनीत ।
धर्म-मार्ग पर पद बढ़े धन्य तुम्हारे जीत ।।

कव्य-न्याय के तीर्थ हो तर्कमनीषी विज्ञ ।
जैनागम-मर्मज्ञ हो सर्व शास्त्र-अभिज्ञ ।।

सच्चिन्तक स्वाध्याय-रत मुख पर चमके नूर ।
समन्वयात्मक दृष्टि से जीवन है भरपूर ।।

हीरक-स्वर्ण जयन्ती पर हर्षित जैन समाज ।
दीर्घायु की कामना करता कर्नल राज ।।

—कलकत्ता (प. बंगाल)

वंदन का चंदन

□

साध्वी श्री चरणप्रभा जी म.

दर्शन कर-कर जीत गुरु के जन-गण-मन हर्षाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।

नगर-नगर से गाँव-गाँव से जनता देखो आय
सुने यश हिय में हर्ष न माय.... ।।

अतिशयोक्ति इसमें है ना साक्षी हैं सब ही के नैना ।
जैन-अजैन हैं पाते चैना नहीं किसी का लेना-देना ।
कर्मों के बन्धन कटने का बतलाते सदुपाय
इन्हो के गुण का पार न पाय.... ।।

संस्कृत-प्राकृत के ये पण्डित महामहिम हैं ये मुद मण्डित ।
सत्य-अहिंसा-ब्रह्म अखण्डित निर्विवाद सदा अवितण्डित ।
दण्डित हैं ना पाँचों इन्द्रिय दृढ़ है मन-वच-काय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

उपाध्याय-श्री अन्तेवासी स्वामी श्री शुभ हैं सुखराशि ।
पार्श्वमुनि जी बुद्धि-प्रकाशी नूतन-भ्राता सुगुण-विकासी ।
भद्रिकमुनि वर-ज्ञानाभ्यासी शिष्य-वृन्द सुखदाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

जन्म-जयन्ती हीरक-हारा संयम स्वर्ण कलश की धारा ।
उन्नत हो जय-संघ हमारा मोक्षमार्ग में रहे सहारा
चरणों में वंदन का चंदन रहे सुगन्ध सवाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

—शिष्या : महासती श्री शीलप्रभा जी म.

जैनाचार्य-पूज्य-गुरुदेवानां श्रीजीतमल्लजिन्महाराजानां संस्कृत-काव्य-कृतयः

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

प्राण्य-प्रणामः

पूज्य श्री 'जय' 'रायचंद्र' यमिनो गच्छाधिपाः सूरिणः
स्वामि श्रीश 'कुशालचंद्र' 'भगवान्' श्री 'सूर्य' वाचंयमाः।
श्रीमन्तो 'नथमल्ल' जित्सुगुरवः श्री 'चौथमल्लर्षयः'
राजन्ते त्रिदिवापवर्ग सुखदाः साक्षाद्धि सप्तर्षयः ।।

समस्या-पूर्तयः

केन वा लंघनीयः

सुदिवि विदित देवाः सन्ति सूर्यादयो ये
भुवि च विजित पृथ्वी चक्रवर्त्यादि भूपाः ।
त इह विगत-गर्वा यस्य दासत्वमाप्ताः
स हि विषय-विकारः केन वा लंघनीयः ।।

न जहाति चेतः

सुजीर्ण वस्त्रा वसुनापि हीना
प्रपीड़िता पत्यवमानिता च ।
रुग्णा सती यास्ति तथापि तस्याः
पत्युः सुसेवां न जहाति चेतः ।।

सारस्वतं वैभवम्

कामी काम मुदारमेव भजते शृंगारिकं वर्णनं
दोषैर्दूषित मानसश्च मनुते निन्दानिधिं दुर्जनः ।
द्रव्योपार्जन-सारतां परमहो जानाति लुब्धोजनः
मन्ये सारमहं जिनस्तवनकं सारस्वतं वैभवम् ।।

वंदन का चंदन

साध्वी श्री चरणप्रभा जी म.

दर्शन कर-कर जीत गुरु के जन-गण-मन हर्षाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।

नगर-नगर से गाँव-गाँव से जनता देखो आय
सुने यश हिय में हर्ष न माय.... ।।

अतिशयोक्ति इसमें है ना साक्षी हैं सब ही के नैना ।
जैन-अजैन हैं पाते चैना नहीं किसी का लेना-देना ।
कर्मों के बन्धन कटने का बतलाते सदुपाय
इन्हो के गुण का पार न पाय.... ।।

संस्कृत-प्राकृत के ये पण्डित महामहिम हैं ये मुद मण्डित ।
सत्य-अहिंसा-ब्रह्म अखण्डित निर्विवाद सदा अवितण्डित ।
दण्डित हैं ना पाँचों इन्द्रिय दृढ़ है मन-वच-काय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

उपाध्याय-श्री अन्तेवासी स्वामी श्री शुभ हैं सुखराशि ।
पार्श्वमुनि जी बुद्धि-प्रकाशी नूतन-भ्राता सुगुण-विकासी ।
भद्रिकमुनि वर-ज्ञानाभ्यासी शिष्य-वृन्द सुखदाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

जन्म-जयन्ती हीरक-हारा संयम स्वर्ण कलश की धारा ।
उन्नत हो जय-संघ हमारा मोक्षमार्ग में रहे सहारा
चरणों में वंदन का चंदन रहे सुगन्ध सवाय
इन्हों के गुण का पार न पाय.... ।।

—शिष्या : महासती श्री शीलप्रभा जी म.

जैनाचार्य-पूज्य-गुरुदेवानां श्रीजीतमल्लजिन्महाराजानां संस्कृत-काव्य-कृतयः

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

प्राण्य-प्रणामः

पूज्य श्री 'जय' 'रायचंद्र' यमिनो गच्छाधिपाः सूरिणः
स्वामि श्रीश 'कुशालचंद्र' 'भगवान्' श्री 'सूर्य' वाचंयमाः।
श्रीमन्तो 'नथमल्ल' जित्सुगुरवः श्री 'चौथमल्लर्षयः'
राजन्ते त्रिदिवापवर्ग सुखदाः साक्षाद्धि सप्तर्षयः ॥

समस्या-पूर्तयः

केन वा लंघनीयः

सुदिवि विदित देवाः सन्ति सूर्यादयो ये
भुवि च विजित पृथ्वी चक्रवर्त्यादि भूपाः।
त इह विगत-गर्वा यस्य दासत्वमाप्ताः
स हि विषय-विकारः केन वा लंघनीयः ॥

न जहाति चेतः

सुजीर्ण वस्त्रा वसुनापि हीना
प्रपीड़िता पत्यवमानिता च।
रुग्णा सती यास्ति तथापि तस्याः
पत्युः सुसेवां न जहाति चेतः ॥

सारस्वतं वैभवम्

कामी काम मुदारमेव भजते शृंगारिकं वर्णनं
दोषैर्दूषित मानसश्च मनुते निन्दानिधिं दुर्जनः।
द्रव्योपार्जन-सारतां परमहो जानाति लुब्धोजनः
मन्ये सारमहं जिनस्तवनकं सारस्वतं वैभवम् ॥

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

शीतरश्मिरिव दृश्यते रविः

ब्रह्मचर्य-वृत-सीमयाश्च्युतः, योऽस्त्यसौ जगति निष्प्रभस्तथा ।
दीप्त दीप्तिरपि कन्यकानुगः, शीतरश्मिरिव दृश्यते रविः ।।

चन्द्रः प्रवालप्रभः

रे रे दुष्ट! समस्त मत्परिजनं विध्वंस्य भासां पते ।
क्वेदानीं शरणं प्रयासि वद मे श्रीशं गिरीशं किमु ।
मन्ये कोप-कृशानु-कील - कलितं कुर्वन्नभः प्राग्भवं
क्रुद्धो यं तमितस्ततो मृगयते चन्द्रः प्रवालप्रभः ।।

प्रणामाञ्जलय :

आसीदशेषस्य शुभस्य राशि, भावारि-वृन्दस्य च यो विनाशी ।
श्री श्री महात्मा नथमल्ल नामा, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

यं सौम्यमूर्ति कथयन्ति सन्तः, सम्यक्त्व-रत्न-प्रभवं च साक्षात् ।
भवन्ति मुक्ता यमुपास्य मर्त्याः, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

सम्मानितं येन सदैव सत्यं, तथापि तेन व्यथितो न कोऽपि ।
नियंत्रिता येन मनः प्रवृत्तिः, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

श्रद्धालवः स्तोत्र परायणश्च, भक्त्वयैकताना विनयेन यस्मै ।
श्रद्धाञ्जलीन् संयतयोऽर्पयन्ति, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

गंभीरतायां जड़धी पयोधी, कल्पद्रुमः कामित पूरणे च ।
मन्ये पराभूतिमवाप यस्मात्, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

शान्ताकृतिर्यस्य निसर्गरम्या, वृत्तं च प्रातः स्मरणीयमास्ते ।
यस्यास्ति कीर्तिर्जगति प्रसिद्धा, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

यस्मिन्सति स्वैरतया विहारी, लोकेऽभवत्प्राणिषु साम्यवादः ।
विद्याप्रचारः किल सद्विचारः, प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै ।।

अगम्य-रूपा गरिमा गुरो ! ते, तथापि मन्देन यथोक्तरीत्या ।
भक्त्या प्रकर्षेण कथंचिदेव, प्रकीर्त्यतेऽनेन प्रणम्यते च ।।

भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा

निकृति-सुकृति-भाजां पुण्य-मुख्यागमानां
मुपि च शमनिचीनां नायके दुर्विधीनाम् ।
कृत-विनय-नयान्ते मान-माया-क्रुधादौ
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ।।

जगति जयि-जिनेशा जेय-कान्ति-प्रकान्त-
प्रणत-सुर-नरेन्द्रा वंद्य पादारविन्दे ।
भविजन-वृजिनौघं हन्ति मूर्घा च तस्मिन्
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ।।

जय-भक्तामर

(१)

वन्देऽ नवद्यं मुनिवृन्द वन्द्यं
श्री सद्गुरोस्त्वच्चरणारविन्दम् ।
शीर्षे कृतो यस्य पवित्रपांशुर्
देवैरशेषैर्मनुजै – र्जगत्याम् ।।

(२)

वापी-विशालतरु-शालिनि 'लाम्बिये' ति
ग्रामे शुभे जनिरभूत् सदयस्य यस्य ।
विख्यातमेव 'जयमल्ल' सुनाम भूमा—
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ।।

(३)

सन्मार्ग - मार्गण - समुद्यत - मानवेभ्यः
प्रादर्शि येन च मुदाकर-मुक्तिमार्गः ।
आसीदशेष - जन - संस्तुत - पुण्यमूर्तिः
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ।।

(४)

सीमन्तिनी-कुल-कला-कुशलां सुशीला—
मेकाकिनीं नववधूं परिहाय हन्त ।
दीक्षां नवेत्र वयसि स्थविरोपसेव्या—
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ।।

(५)

निःशेष सत्त्व-समवृत्तितया प्रतीक्ष्य !
सर्वे भवन्तमवलम्ब्य जनास्तरन्ति ।
संसार - सिंधु - तरणे तरणि-र्यतस्त्वं
को वा तरीतुमल-मम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ।।

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

(६)

यद् भक्तवृन्द-मुदतारि भवाब्धितः किं
तेन त्वया ह्युपकृता भवितव्यमीश ।
आर्तस्य वत्सलनिधे ! जनतापि तावत्
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥

(७)

निन्दन्ति ये जड़धियः समदर्शिनं त्वां
प्राबल्य - मस्त्यशुभकर्मण एव तेषाम् ।
यत्कामुकेषु वसति स्मरता वसन्ते
तच्चाम्रचारु कलिका - निकरैकहेतुः ॥

(८)

सत्यं हि ते सदुपदेशलया मुनीश !
निःसार संसृति-नितान्त-निबद्ध-मूलम् ।
मिथ्यात्वमाशु विलयं भविनामुपैति
सूर्यांशु - भिन्नमिव शार्वर - मन्धकारम् ॥

(९)

मर्त्या अनन्यमनसा तव सेवया च
सद्यः सुरश्रिय उदार-विलास-भाजः ।
योगिन्! भवन्ति नलिनी-दल वर्तमानो
मुक्ताफल - द्युतिमुपैति ननूदबिन्दुः ॥

(१०)

नूनं विधुद्युमणि - चंक्रमणं वृथैव
लोके स्थितेन यशसा तव तेजसा च ।
विष्वग् भवन्ति नहि किं कुमुदानि देव !
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥

(११)

यस्ते वचोऽमृतरसं परिपीयते स
प्राप्नोति नन्वमर - सम्पद - मार्यवर्य !
धन्यः स एव जगती-तल इद्धकीर्तिः
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥

(१२)

शान्त्यादि-सद्गुण-गणः समसुध्युपास्यं
मत्वा भवन्तमिह चेतसि ते न्यवात्सीत् ।
सौभाग्य-लभ्यमवधीर्य सुधारसं यत् ।
क्षारं जलं जलनिधेरसितुं क इच्छेत् ॥

(१३)

मिथ्या-प्रपंचमनिशं प्रतिवादिनो ये
कुर्वन्ति तान् सुवचनैः परितोषयन्ति ।
कुप्यन्ति किंतु किल नेति किमत्र चित्र
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

(१४)

एकस्त्वमेव भगवन्नसि सौम्यमूर्तिः
कामं वियोगि-जन-दुःखद-मिंदुबिम्बम् ।
सौम्यं वदन्ति सुधियः खलु तन्मृषैव
यद्वासरे भवति पाण्डु-पलाश-कल्पम् ॥

(१५)

नाना नितान्त-नरकादिक-दुःखराशि
ये देहिने ददति पंच महाप्रमादाः ।
त्वामन्तरेण नितरां नियमेषु निष्ठं
कस्तान् निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥

(१६)

हा हा ! असह्य-मुपसर्गमदु-र्विमूढाः
मिथ्यात्विनस् तवकृतेऽतिशयं तपस्विन् ।
क्षुब्धं तथापि न मनो हि किमत्र चित्रं
किं मन्दराद्रि-शिखरं चलितं कदाचिद् ॥

(१७)

श्रीमज्जिनागम-निगूढ - पदार्थ - भासी
षड्वर्ग - संतमस संतति मूल - नाशी ।
हे पूज्य ! भक्तजन-मानस-सद्विकासी
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥

(१८)

मेऽघाऽपहृत् सदुदयी जलता-विरोधी
नित्यं विकासयसि भव्यमनोऽम्बुजानि ।
किञ्चित् कथंचिदपि नो जनतापकारी
सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥

(१९)

योगिन्नतीव विशदीकृत भूमिभागं
निःसीम-विस्तृत विशुद्ध विकासशालि ।
वाचामगोचर मुदं विदधद्यशस्ते
विद्योतयज् जगदपूर्व शशांक-बिम्बम् ॥

(२०)

दुर्नीति - केसरि - मुखेऽपि गतांगभाजां
संरक्षके त्वयि सतीतर रक्षकैः किम् ।
लब्धे यथा सुरमणौ कृषिकारकाणां
कार्यं कियज्जलधरैर् जलभारनम्रैः ॥

(२१)

संदर्शने सति सकृत्तव सौम्यमूर्तेर्
यादृक् सुखं भवति नान्यजने च दृष्टे ।
हर्षप्रकर्ष इह यादृगमूल्य-रत्ने
नैवन्तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥

(२२)

हे भक्तवत्सल यमीश ! तवात्र येन
प्राप्तांघ्रि - पंकज - पवित्र - परागसेवा ।
किं तस्य किञ्चन कथंचन वा कदाचित्
कश्चिन् मनो हरति नाथ ! भवांतरेऽपि ॥

(२३)

एकस्तु संसृति-रतिर् व्रतिपो हि चान्य
आसीदितीश ! नहि दूषणमत्र मातुः ।
चन्द्रं कलंक - सहितं विकलंकमर्कं
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

(२४)

दोपाकरो हिमकरस् तपनोऽपि तापी
संहारकश्च जगत: किल शंकरोऽपि ।
सत्यं यतो विदितमस्ति विना भवन्तं
नान्य: शिव: शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्था ॥

(२५)

ज्ञानेन विश्व-जड़तातिशयं निवार्य
पूज्य ! त्वया समधिया सदबोधि सर्वम् ।
हृद्यानवद्य-वचनं मतिमन्नतस्त्वां
ज्ञान-स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्त: ॥

(२६)

मोहान्धकार-तरणिस् तरणिर् भवाब्धौ
पुष्पेपु सामजसृणि: सरणिर् विमुक्ते: ।
नि:शेष-संयमि-मणी रमणीय यस्मात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

(२७)

स्वर्गापवर्ग - सुख - संतति - सम्प्रदाय
काषाय - कर्दम - कलङ्क - निरंकिताय ।
ध्यानाग्नि-दग्ध - दुरितेन्धन - संचयाय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि-शोषणाय ॥

(२८)

श्रुत्वा भवादृश-रिपु प्रवलं स्मरेण
दग्धस्य चेत्कथमपि प्रति जीवितस्य ।
रक्षा कथ मम भवेदिति शोकभाजा
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

(२९)

श्यामातिसान्द्र - सुषमालय-केशपाश-
सान्निध्य-वासमलिकं न्वधिकं तवेह ।
स्वामिन् विभाति खलु भूरि विकासशालि
विम्वं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥

(१८)

मेऽधाऽपहृत् सदुदयी जलता-विरोधी
नित्यं विकासयसि भव्यमनोऽम्बुजानि ।
किञ्चित् कथंचिदपि नो जनतापकारी
सूर्यातिशायि महिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥

(१९)

योगिन्नतीव विशदीकृत भूमिभागं
निःसीम-विस्तृत विशुद्ध विकासशालि ।
वाचामगोचर मुदं विदधद्यशस्ते
विद्योतयज् जगदपूर्व शशांक-बिम्बम् ॥

(२०)

दुर्नीति - केसरि - मुखेऽपि गतांगभाजां
संरक्षके त्वयि सतीतर रक्षकैः किम् ।
लब्धे यथा सुरमणौ कृषिकारकाणां
कार्यं कियज्जलधरैर् जलभारनम्रैः ॥

(२१)

संदर्शने सति सकृत्तव सौम्यमूर्तेर्
यादृक् सुखं भवति नान्यजने च दृष्टे ।
हर्षप्रकर्ष इह यादृगमूल्य-रत्ने
नैवन्तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥

(२२)

हे भक्तवत्सल यमीश ! तवात्र येन
प्राप्तांघ्रि - पंकज - पवित्र - परागसेवा ।
किं तस्य किञ्चन कथंचन वा कदाचित्
कश्चिन् मनो हरति नाथ ! भवांतरेऽपि ॥

(२३)

एकस्तु संसृति-रतिर् व्रतिपो हि चान्य
आसीदितीश ! नहि दूषणमत्र मातुः ।
चन्द्रं कलंक - सहितं विकलंकमर्क
प्राच्येव दिग् जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

(२४)

दोपाकरो हिमकरस् तपनोऽपि तापी
संहारकश्च जगतः किल शंकरोऽपि ।
सत्यं यतो विदितमस्ति विना भवन्तं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्था ॥

(२५)

ज्ञानेन विश्व-जड़ताऽतिशयं निवार्य
पूज्य ! त्वया समधिया सदबोधि सर्वम् ।
हृद्यानवद्य-वचनं मतिमन्नतस्त्वां
ज्ञान-स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

(२६)

मोहान्धकार-तरणिस् तरणिर् भवाब्धौ
पुष्पेषु सामजसृणिः सरणिर् विमुक्तेः ।
निःशेष-संयमि-मणी रमणीय यस्मात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

(२७)

स्वर्गापवर्ग - सुख - संतति - सम्प्रदाय
काषाय - कर्दम - कलङ्क - निरंकिताय ।
ध्यानाग्नि-दग्ध - दुरितेन्धन - संचयाय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि-शोषणाय ॥

(२८)

श्रुत्वा भवादृश-रिपु प्रबलं स्मरेण
दग्धस्य चेत्कथमपि प्रति जीवितस्य ।
रक्षा कथं मम भवेदिति शोकभाजा
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

(२९)

श्यामातिसान्द्र - सुषमालय-केशपाश-
सान्निध्य-वासमलिकं न्वधिकं तवेह ।
स्वामिन् विभाति खलु भूरि विकासशालि
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥

(३०)

विद्योतितातितनु - विश्वपदार्थ - सार्थः
दोषानुषंग - रहितोऽन्यहितार्थ - गामी ।
किं विम्बवन्न मनुजैरखिलैस् त्वमर्च्यः
तुंगोदयाद्रि-शिरसीव सहस्र-रश्मेः ॥

(३१)

विभ्राजसे त्वमिह तीर्थ-चतुष्टये वै
पूर्णः कलानिधि-रिवोडु-समूह-मध्ये ।
शस्त्रेषु वज्रमिव शैलतटान्तरेक-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥

(३२)

नक्तं दिवं शुभवतः सुयशः समन्तात्
मन्ये परिभ्रमति ते भुवनत्रये तत् ।
नाम्नेति संहृति महेश्वर ईश्वरत्वम्
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

(३३)

श्रीमल्ल-सत्पदयुगस्य यमीश ! तस्य
ध्याने भवान् भगवतः किल तन्मयोऽभूत् ।
पादौ च यस्य ननु यत्र पदानि धत्त :
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

(३४)

लोके हिते विभवदा भवदात्म-शक्ति :
नैतादृशी जगति दृश्यत एव कस्मिन् ।
धाराधरै - रनवरुद्ध - रवेः प्रकाशः
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ॥

(३५)

क्रीडत् कराल कलि केतन कृष्णकायं
प्राणि-प्रणाशनपरं च यमावतारम् ।
प्रोन्मत्त-राक्षसगणं परितः परीतं
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

(३६)

नूनं समुद्धत-तरोऽतनु तीक्ष्ण-दन्तैः
कामं कृताश्ममय-भूमिविभाग-भेदः ।
स्वस्यान्तिकं गतमपीह जनं वराह :
नाक्रामति क्रमयुगाचल-संश्रितं ते ॥

(३७)

दुःसह्य दुःख - दरदोद्गत - हेति-वृन्दं
संसार-दाव-दहनं विततं समन्तात् ।
प्रोत्सृष्ट-वैषयिक-सौख्य! मुनीश ! सद्यः
त्वन्नाम-कीर्तन-जलं शमयत्यशेषम् ॥

(३८)

नाना कलत्र तनयादिक भोग-भोगी
विद्वेष-राग - युतया शित-दंष्ट्रया तं ।
दष्टुं किमु प्रभवति स्मय-ताडितोऽपि
त्वन्नाम नागदमनी हृदि यस्य पुंसः ॥

(३९)

हिंसा-प्रसक्त सदसन्मति-शून्यचेता
कान्तार दुर्गवसति-प्रतिरोधिवर्गः ।
नीरन्ध्र-नील-निलयं रवि-रश्मि-विद्धं
त्वत्कीर्तनात् तम इवाशु भिदामुपैति ।

(४०)

दौर्गत्य दुर्गम वने विनिपात-हेतुं
पाप-द्रुमोद्भव-मनल्प-विकल्प-जालम् ।
मुक्त्वा, विमुक्ति-रमणी-रमणीय भोगान्
त्वत्पाद - पंकजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥

(४१)

अत्युग्र सान्द्र जलभृद् रसितानुकारि-
कण्ठीरवारव - समाकुल - सर्वसत्त्वे ।
किं काननेऽपि पतिता न जना यथेष्टं
त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् व्रजन्ति ॥

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

(४२)

ये तन्मयेन मनसा परमोपकारि
त्वन्नाम-मंत्रममलं यदि वा जपेयुः ।
सन्तोऽपि ते च विकृताकृतयः कठोरा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज तुल्य रूपाः ॥

(४३)

धर्मोपदेश-मवधार्य जनाश्च शुद्धा-
माराधयन्ति भुवि ये व्रतिवर्य्य वृत्तिम् ।
तेऽनन्त शर्म निधि सिद्धि-पदं व्रजन्तः
सद्यः स्वयं विगत बन्धभया भवन्ति ॥

(४४)

संवर्धते स लभते सुयशः प्रमोदं
संविन्दते विजयते जगतीतले च ।
गीर्वाण लोकमयते सुषमां विधत्ते
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥

(४५)

हे जीवित-प्रियतम ! स्फुटमुल्लसन्तं
सद्वर्ण दिव्यमणिभिः ग्रथितं मनोज्ञम् ।
कण्ठे दधाति तव यस्स्तवनैकहारं
तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥

(४६)

शान्तो नितान्त-निरतो नियमे यमे च
शुद्धाशयः सुभग-संयमि-'चौथमल्ल': ।
आस्ते हि तस्य लवमात्र-दया-वशान्मे
निस्तीर्णता मतिरगाद् रचनार्णवस्य ॥

(४७)

चंद्र-ग्रहाङ्क - वसुधामित[१] विक्रमाब्दे
ज्येष्ठार्जुनाऽऽशुगदिने स्तववृत्तमालाम् ।
प्रेम्णा परं व्यरचयन् 'मुनि जीतमल्लः'
भव्याय सा भवतु भक्तिमतां नितान्तम् ॥

---

१. वि. सं. १९९१

षोडश-सती-स्तोत्रम्

श्री 'ब्राह्मीं' प्रथमं वन्दे, धर्मप्राणां 'प्रभावतीम्' ।
'पद्मावतीं' महाप्रज्ञां, 'द्रौपदीं' द्रुपदात्मजाम् ॥

'दमयन्तीं' महोत्साहां, सुशीलां 'सुलसां' ततः ।
'मृगावतीं' मनःपूतां, 'सुभद्रां' सुखदां सदा ॥

'सीतां' च सत्यशीलाभां, 'कुन्तीं' भुवन-विश्रुताम् ।
सोमसौम्यां 'शिवादेवीं', 'कौशल्यां' राममातरम् ॥

'पुष्पचूलां' जगत्पूज्यां, चारुवृत्तां च 'चन्दनाम्' ।
'राजीमतीं' विनिर्मुक्तां, 'सुन्दरीं' सुन्दरीं सतीम् ॥

चतुस्त्रिंशत् समुत्पन्नं, यन्त्रं[1] यस्यान्तिके भवेत् ।
विघ्नाः प्रयान्ति विलयं, क्षणेनैव क्षणप्रभाः ॥

स्तोत्रं ग्रथितमेतच्च, सती षोडश नामभिः ।
भक्त्या स्मरति यश्चित्ते, पातकं तस्य नश्यति ॥

जीवनं तस्य साफल्यं, तथा भवति निर्मलम् ।
मंगल - मयमैश्वर्यो - ल्लसत्सर्वं - सुखप्रदम् ॥

मैलापुर (मद्रास) २७-७-१९६५

पंचषष्ठी-स्तोत्रम्

आदौ श्रीसुव्रतं वन्दे, द्वितीयमभिनन्दनम् ।
क्रियायां सद्गुरुश्चैव - मनन्तमजितं प्रभुम् ॥

चन्द्रप्रभं प्रभाकोषं, सुपार्श्वमधिनायकम् ।
नमिनाथं सुरैः पूज्यं, श्रेयांसं परमेश्वरम् ॥

अरनाथं निराकारं, शीतलं सौख्य-कारकम् ।
कुन्थुनाथं सदाधारं, निर्मलं विमलं विभुम् ॥

---

(१) यन्त्रः—

१	१४	१५	४
१२	७	६	९
८	११	१०	५
१३	२	३	१६

सुविधिं शान्तिनाथं च, संभवं भव-नाशनम् ।
धर्मनाथं त्रिलोकेशं, सुमतिं शेमुषी-पतिम् ॥

मल्लिनाथं च निष्कामं, श्री पार्श्वं करुणाकरम् ।
वर्द्धमानं शासनेशं, श्रीनेमिं सर्वदर्शिनम् ॥

धर्मावतारमादीशं, वासुपूज्यं जिनेश्वरम् ।
पद्मप्रभं सुनेतारं, ज्ञान - विज्ञान - सागरम् ॥

तीर्थकृन्नामभिर् वद्धं, सर्वाभीष्टार्थ - पूरकम् ।
पंच-षष्ठ्यात्मकं[1] स्तोत्रं, भयविघ्न-विनाशकम् ॥

सप्तवारं प ेन्नित्यम्, ॐ ह्रीँ श्रीमर्हंमादिमम् ।
स्वाहान्तं चैव विज्ञेयं, तेषां कल्याण-कारकम् ॥

'मुनिना जीतमल्लेन', कृतं सद्भक्ति-पूर्वकम् ।
हितायेदं च सर्वेषां, बोभूयेत निरन्तरम् ॥

श्री अजित-जिन-स्तवः

कलिमल - कदनं गत - मद - मदनं
सम-गुण - सदनं शुभमति - ददनम् ।
विलसित-वदनं सुललित - रदनम्
अयि भज सुमनोऽजित-जिनमनिशम् ॥

भवदव-शमनं मद-कल-गमनं
शम-दम-सहितं सुर-नर-महितम् ।
विधु-सम विमलं वर-पद-कमलम्
अयि भज सुमनोऽजित-जिनमनिशम् ॥

---

(१) पंच-षष्ठ्यात्मकं यंत्रः—

२०	४	२५	१४	२
८	७	२१	११	१८
१०	१७	१३	९	१६
३	१५	५	१९	२३
२४	२२	१	१२	६

अशरण - शरणं नय - सृति - सरणं
प्रमद-विहरणं भव-भय-हरणम् ।
कृति-कुल-भरणं भवि-हित-करणम्
अयि भज सुमनोऽजित-जिनमनिशम् ।।

सुरभित - वपुषं प्रगुणित - पुरुषं
स्मर-बल-जयिनं प्रणत कुनयिनम् ।
व्रति-वरि-वसितं स्मित-मुख-मुदितम्
अयि भज सुमनोऽजित-जिनमनिशम् ।।

तपसि सुनिरतं भव-वन-विरतं
सदय सुहृदयं परिहृत-विषयम् ।
समधिक - यशसं मधुर - सुवचसम्
अयि भज सुमनोऽजित-जिनमनिशम् ।।

चतुर्विंशति जिन-स्तुतिः (विविध-वृत्त-कलिता)

(१)

श्रीमन्नाभि - सुतं युगादिमं
कारुण्याम्बु - निधिं सुरैर्नतम् ।
भव्याम्भोज - विकासिनं जिनं
वन्दे ज्ञान - प्रभाकरं मुदा ।।

(२)

जेतुं समर्थः किल यं न कोऽपि
देवाधिदेवं भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
अन्वर्थ - नामानमहं नुवामी-
शन्तं प्रशान्तं विजया - तनूजम् ।।

(३)

प्रणौति तं सम्भव - देव देवं
समार्थ - सिद्धि - प्रददं सुसेवम् ।
प्रकाम-काम-द्रु-लता - लवोऽपि
नृणां रतिं यः स्मरतां तनोति ।।

(४)

समस्त - कामदोऽप्यस्त
कामरागो नवारुण: ।
मयाऽभिवन्द्यते नित्यं
प्रातरेवाऽ भिनन्दन: ।।

(५)

अनन्त[1]-कल्याण-निधेर् विधातुर्
धातुर् यथार्थामल-दृष्टि-सृष्टे: ।
शक्र-स्तुतस्याऽपि च मेघसूतेर्
सदा स्तुते गोचरता जिनस्य ।।

(६)

श्रीधर[2] - भूपति-वंश-दिनेश !
शान्त-सुधारस-सार जिनेश !
पद्मरुचेऽसुमतां अमितानां
मोह-तमोहर ! मोह-हतानाम् ।।

(७)

पृथ्वी-प्रतिष्ठ-तनुजो तनुजोपमान:
शान्तोऽप्यशान्त - हृदय: सपरोऽपरोऽपि ।
प्रास्ताविं भक्ति-सरसेन मया सुपार्श्व:
प्रोल्लासवद् भविजनो विजनोऽसुपार्श्व: ।।

(८)

मधुरति विषवल्ली गेहति स्तेन-पल्ली
दिवसति तिमिराली पुष्पतीषूग्र-पाली ।
घनरसति दवोल्का नाम-जापेन यस्य
नव-नव-नुतिभि: सा स्मर्यते चन्द्ररोचि: ।।

(९)

भवाब्धौ भव्यानामवति पततां य: समूह —
मगाध-ध्वान्तारी रविरिव प्रकाशी सद्गुह: ।
महा - मोहोन्मत्त - द्विरद-वर-सिंहो गतेह:
सुर-स्तुत्य: स्वामी सुविधि-जिनपो वन्द्यतेह ।।

---

१. क्रियागुप्तम्

२. क्रियागुप्तम्

(१०)

अशेषज्ञो योऽस्ति प्रणमति मुदा यं सुरपतिः
शिव श्रीर्येनापि स्पृहयति हि यस्मै शुभ मतिः ।
न कोऽप्यन्यो यस्माद् विलसति महान् यस्य सुगुणः
क्षमावासो यस्मिन् स जयतु सदा शीतलजिनः ।।

(११)

निर्दोपं सुकला-कलाप-कलितं चन्द्रं परं निर्मलम्
उद्भ्रान्तासुमते प्रकाश-प्रददं सर्वैर्नयै-र्भासितम् ।
द्वैताद्वैतमयं गतामयमलं ज्ञानैक - गम्यं विभुं
श्री श्रेयांस-जिनं नमामि नितरां श्रेयोनिधेः स्वामिनम् ।।

(१२)

कीर्ति-स्फूर्ति-स्मृति-धृति-मते-र्दिव्य-देव-स्वरूप
भावारीणां प्रबलदलभिदं ज्ञान-विज्ञान-रूपम् ।
सर्वाधारं परमपुरुषं दोष-दोषा-दिनेशं
तोस्तूयेऽहं सकल-सुखदं वासुपूज्यं जिनेशम् ।।

(१३)

सुविमला विमलाधिप ! दीयतां
स्तवकृते तव भक्तिमते मतिः ।
सदमितं दमितं जगतः पते !
प्रणमतेऽसुमते सुमते ! यते ! ।।

(१४)

बुधजन वन्दितं विभुमनन्त - चतुष्टय - चक्रचारिणं
परमुपकारिणं विनिहताऽखिल-भीषण-भाव-वैरिणम् ।
नरपति - सिंहसेन - कुल-पद्म - प्रकाशन - भास्करोदयं
सदयमिहैक - मप्यह - मनन्त - मनन्तजिनं सदा स्तुवे ।।

(१५)

सूर्य - चन्द्र - देव - दानवाऽसकृत् कृतानते !
सौत्रधी - घनाधरी - कृतेन्द्र शेमुषी-पते !
धर्मनाथ देव ! सर्वसौख्य - दायकाय ते
धर्ममूर्तये नमोनमोऽस्तु मे शुभायते ! ।।

(१६)

राजवृन्द - सेव्यमान विश्वसेन - भूपजात !
रोग - शोक - ताप - तप्त देहभाक् प्रदत्त सात !
त्वामहं दयानिधान ! मोक्षमार्ग - सार्थवाह !
विश्व - वन्दनीय - वृत्त ! शान्तिनाथ नो नवीमि ।।

(१७)

कुन्थुजिनेशो व्रतिषु विशेषो
दीन-दयालो ! परम-कृपालो !
सार्तिजनानां त्वमशरणानां
रक्षक एकः प्रभवसि नाथ ! ।।

(१८)

सुधाधारा[1] धारा प्रचुर-रुचिरा-वाणी-सुमधुरा
जरा-जन्म-ज्वालानल-जलधरा प्राणि-क्लमहरा ।
सुरेन्द्रैरभ्यर्च्या सकल-सुखदादोषा सुविनतान्
सदाऽपायात्पायादर जिनपतेरन्ते भविजनान् ।।

(१९)

कुंभोद्भूते ! मुने ! हे जलरति-विरते ! क्षीणाऽतनुरुचे !
कल्याणाब्धे ! प्रभाप्ते ! भव-भय-तरणे ! ऽनौपम्यतरणे !
प्राप्ताशेषार्थ सिद्धे ! मघवकृत नते प्रास्ताशुभतते !
भक्त्या मोमुद्यतेय विपुलमतिमते मल्ले नमति ते ।।

(२०)

मुनिसुव्रत सुव्रत तीर्थपते !
ऽशनिना शनिना शनिशाद्रि कृते
भवता भवताप-भिदा पतिता
जनता जनतार समुद्ध्रियताम् ।।

(२१)

सर्वज्ञः सर्वदर्शी परिमिति-रहिताऽऽनन्दभाक् स्वस्थ एव
मव्यावाधाऽवगाहोऽतनुरगुरुलघुर् वीतसामात्मवीर्यः ।
देव ! त्वं पूज्य-पूज्यो विजयनृपतिजो मोह-मायामहृद्यः
श्रीलः प्रख्यातनामा नमिरपि भगवान् वंद्यसे सोऽनमीशः ।।

१. संबोधनगुप्तं

(२२)

मोह - तमोहत देहि विकाशद !
काम - निकाम - निकन्दनक !
राग - पराग - परागत - कार्मण
वारण - वारण - पञ्चमुख ! ।
देव ! सदैव सतां तनुतां मुद-
माधिप माधिप निर्मदमा-
योऽजनि योऽजनिरत्र शिवा-
तनुजोऽपि शिवाधिपतिस् सुभवान् ॥

(२३)

भवार्थ[1] सार्थाय सुखाय नाशिने
किमूह्यते मानस ! मुह्यते मुधा ।
मुदा सदा पार्श्वजिनस्य सौख्यदा
सुचिन्मयामा चरण-द्वयीयताम् ॥

(२४)

क्षितिभृत सुरासुराणां हृदय-हृदयवान् योऽतिभेदान् विभेद
विनिवारिता च हिंसा सकल-सुखकरो येन धर्मोपदिष्टः ।
स्व-गिरा सुधाभिवृष्ट्या त्रिजगदुपकृतं विश्वचेतो व्यथाहा
त्रिशलात्मजं भजेहं नत-जन-निवहं तं सदाचार-देहम् ॥

(२५)

किं नैव जीतमुनिनाऽपि निसर्गरम्याऽ
गम्या चतुर्गुणित षड्जिन-देव-सेवा ।
लोके सुखाय पठतां जपतां जयाय
बोभूयतामतनुसा भवतां चिराय ॥

---

१. करणगुप्तम्

विविध-वृत्त-परिचयः

१. शुद्ध-विराड् वृत्तम् — ऽऽऽ ।।ऽ ऽ।ऽ
२. इन्द्रवज्रा वृत्तम् — ऽऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ
३. उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् — ।ऽ। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ
४. अनुष्टुप वृत्तम् —
५. उपजाति वृत्तम् —

पर्युषण-पर्व-प्रशस्तिः

शान्ति तनोति निखिलं दुरितं निहन्ति
कान्ति तपोतिशय संजनितां विधत्ते ।
तत्सर्व - पर्व - महितं निज नाम धन्यं
मान्यं तु पर्युषण-पर्व न कस्य रम्यम् ॥

स्रक् चन्दनादि विषय - ग्रह - दुर्ग पार—
संसार - सिन्धु - तरणे तरणीयमानम् ।
कामं कषाय - रिपु - संहरणे प्रवीणं
मान्यं तु पर्युषण-पर्व न कस्य रम्यम् ॥

कल्पद्रुमातिशयितं खलु यन्महत्त्वं
पारत्रिकैहिक सुखादि विधानदक्षम् ।
कक्षी कृताखिल गुणं जिनधाम दन्तत्
मान्यं तु पर्युषण-पर्व न कस्य रम्यम् ॥

---

६. दोघक वृत्तम् — SII SII SII SS
७. वसन्त-तिलका वृत्तम् — SSI SII ISI ISI SS
८. मालिनी वृत्तम् — III III SSS ISS ISS
९. प्रवरललित वृत्तम् — ISS SSS III IIS SIS S
१०. शिखरिणी वृत्तम् — ISS SSS' III IIS SII IS
११. शार्दूल-विक्रीडित वृत्तम् — SSS IIS ISI IIS' SSI SSI S
१२. मन्दाक्रान्ता वृत्तम् — SSS S'II III S' SI SSI SS
१३. द्रुत-विलंबित वृत्तम् — III SII SII SIS
१४. सरसी वृत्तम् — III ISI SII ISI ISI ISI SIS
१५. तूणक वृत्तम् — SIS ISI SIS ISI SIS
१६. चित्रसंज्ञ वृत्तम् — SIS ISI SIS ISI SIS I
१७. अनुकूला वृत्तम् — SII SSI III SS
१८. सुधा वृत्तम् — ISS SSS' III IIS' SSI IIS
१९. सुवदना वृत्तम् — SSS SIS S' II III IS'S SII IS
२०. तोटक वृत्तम् — IIS IIS IIS IIS
२१. स्रग्धरा वृत्तम् — SSS SIS S'II III IS'S ISS ISS
२२. मदिरा वृत्तम् — SII SII SII SII SII SII SII S
२३. वंशस्थ वृत्तम् — ISI SSI ISI SIS
२४. महास्रग्धरा वृत्तम् — IIS ISI SS'I III IIS' SIS SIS S
२५. वसन्ततिलका — SSI SII ISI ISI SS

पापापहारि जन-संहति तापहारि
विश्वप्रचारि तपसापगतातिचारि ।
आनन्द - कन्दलममन्द - शुभन्दमेतत्
मान्यं तु पर्युषण-पर्व न कस्य रम्यम् ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र भणितागम-तत्त्व-विज्ञः
श्री चौथमल्ल - मुनिरस्ति गुण प्रशस्तः ।
तत्पाद-पंकज लमन्मकरन्द-सेवी
पद्यान्यमून्यरचयन् मुनि - जीतमल्लः ॥

विभाति रम्या नव-दीपमाला

स्वस्येतरस्यास्मि विकासशीला
तथैव चाज्ञान तमोऽवधूय ।
भवन्तु विज्ञा इति शंसमाना
विभाति रम्या नव दीपमाला ॥

श्री वीर-निर्वाण-दिनं विदित्वा
भक्त्या समाकृष्ट-मनाः सुधांशुः ।
दीपावली व्याजतया स्वरश्मीन्
विस्तार्य भूमाववतीर्ण एव ॥

विध्वंस्य पक्षं दिवसेश्वरो मे
गतोऽधुना क्वेति सरोप नेत्रः ।
नाम्नापि साम्यं ज्वलयन् हिमांशु-
रन्विष्यतीति प्रतिवेश्म मन्ये ॥

स्नेहस्य नाशः किल नो विनाशो
विलोकयन्तोऽपि भवन्त एवम् ।
किं कुर्वते स्नेहमयं मनो न
संसूचयन्तीति प्रदीपमाला ॥

पूर्वानुरूपा अपरा भवन्ति
प्रदीपकानां कलिका यथैव ।
श्री वीर-तुल्याः सुधियो भवन्तु
निवेदयन्तीति प्रदीपमाला ॥

रत्नाकरोऽयं खलु रत्नराशिं
विक्रेतुमिच्छु समगादिहाद्य ।
गृहे-गृहे येन विलोक्यते सा
संस्थापिता दीपमिषेण मन्ये ॥

कुर्वन्ति संगीतमिहाद्य केचिन्
नृत्यन्ति केचिच्च हसन्ति केचित् ।
दीपावलीयं नव - दृश्य - युक्ता
हर्ष-प्रकर्ष तनुते न कस्य ॥
सौम्यस्य यस्य सुयशः समसद्गुणेषु
प्रीणात्यलं सहृदयस्य न कस्य चित्तम् ।
तच्चौथमल्ल-यमिनोङ्घ्रि-प्रयोज-सेवी
पद्यान्यरं व्यरचयन् "मुनि जीतमल्लः" ॥

साधु-समाज-षट्कं

श्री शासनेश भगवन् ! किल साधु-संघः
स्वस्यापरस्य च समुद्धरणे समर्थः ।
सोऽयं कषाय - वशतो विपरीत - मार्गं
हा हा ! प्रयाति जगदीश ! विचित्रमेतत् ॥

त्यक्त्वा समं परिजनं जगृहे च दीक्षां
तत्याज नैव निजमानस - दुष्प्रवृत्तीः ।
चेतो विमुह्यति सदा निज - शिष्य - वर्गे
हा हन्त - हन्त न समाज-समुन्नतौ च ॥

लोके यथा कथमपि स्व यशोऽस्तु नित्यं
लक्ष्यं समस्ति न परोपकृतौ हि कस्य ।
आस्तां तदा पर - सुधारक - वृत्तिरत्र
दोषावलोकन - विचार - परम्पराऽद्य ॥

अंगीकृते प्रयतते पथि नो प्रयातुं
त्याज्येऽपि च प्रसरतीतर मार्ग एतुम् ।
हा निर्गुणेऽपि गुणयुक्त इति प्रतीति–
रन्येषु सद्गुण - युतेष्वपि चागुणीति ॥

उपदेश एव जनभेद - विभेदनाय
कार्यं त्वशेषमपि याति च वैपरीत्यम् ।
विज्ञापयामि पुरतस्तव देव ! किं - किं
जाताः किलेतर - प्रतारण साधवोऽपि ॥

हे वीर शासनपते ! करुणावतार !
स्वामिन्नितीह दयनीय दशां समीक्ष्य ।
सद्यः समुद्धर समाजमिमं मुनीनां
संपूर्य्यतामिति विनम्र - निवेदनं मे ॥

विद्यागुरु-श्रद्धाञ्जलिः

नितान्तमच्छे जयमल्ल - गच्छे
विख्यातनामा सुसमाधिनाऽमा ।
यश्चौथमल्लो गुरुवर्य्य आसी–
च्छ्रद्धांजलि-र्मे विनतस्य तस्मै ॥

क्रूरोऽपि कोपो न कदापि किंचित्
स्प्रष्टुं शमीशं यमभूत्समर्थः ।
मानस्तु यं द्रष्टुमपीह नालं
श्रद्धांजलि - र्मे विनतस्य तस्मै ॥

यस्मै सुशान्ताकृतये वुधाय
विरोधभावं हि विहाय सर्वे ।
भक्त्यात्म-शुद्ध्यै स्पृहयन्ति भव्याः
श्रद्धांजलि-र्मे विनतस्य तस्मै ॥

गांभीर्य-मब्धिः क्षमतां क्षितिश्च
सौम्यं च सोमो मृदुतां सुमं च ।
नैर्मल्य - मम्भोविजगे च यस्माच्
छ्रद्धांजलि र्मे विनतस्य तस्मै ॥

श्लाघ्या सदा यस्य विशुद्धवृत्तिर्
यस्याऽप्रमादे नितरां प्रवृत्तिः ।
मुख्यानिशं यस्य जिनागमोक्तिः
श्रद्धांजलि र्मे विनतस्य तस्मै ॥

यस्मिन् प्रयाते त्रिदिवं मुनीशे
वर्षा-नदी - व्याजतयाश्रु - धारा ।
व्योमाचलाभ्यामपि किं न मुक्ता
श्रद्धांजलि र्मे विनतस्य तस्मै ॥

येनोपलब्धं भव - सिन्धु - कूलं
कृताश्च नूनं रिपवोऽनुकूलम् ।
येनात्मनो मंगल-साधितश्च
श्रद्धांजलि र्मे विनतस्य तस्मै ॥

कारुण्य-सिन्धो ! जगदेक-वन्धो!
साफल्य लब्धे ! कवितामृताब्धे !
हे सद्गुरो ! सद्गत चौथमल्ल !
स्वान्ते मम स्यात् सततं स्मृतिस्ते ॥

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

प्राधान्यं लभते यथा समुचितं तत्कारकं व्याकृतौ
ज्योतिः शास्त्रमपीद-मेव मनुते नित्यं दशा-चक्रके।
हे श्री चौथगुरो तथा त्वमभवो मज्जीवने कारकः
तस्मात् कारक पूर्वकाण्यकरवं वृत्तानि जीतो मुनिः ॥

गुरु-स्तुतिः[१]

वभूव त्यक्त-मुक्तोऽपि मुक्ताराधन तत्परः।
पूर्णावयव देहोऽपि सर्वथा गतविग्रहः ॥

धृतार्हतैक धर्मोऽपि सर्वधर्म-क्रियापरः।
क्षमाधरोऽपिनैकत्र कदाचित् स्थिरवासकृत् ॥

सात्त्विकैक स्वभावोऽपि तमोभाव-विमिश्रितः।
साधु-समाज-पूज्योऽपि विश्वधूर्त कलाधरः ॥

विद्वद्-वृन्द वरेण्योऽपि प्राऽज्ञ-व्यूह-शिरोमणिः।
सर्व-दारानुरक्तोऽपि विरक्तो विषयैः परम् ॥

सर्वत्र भ्रान्ति-शीलोऽपि कृत तत्त्वार्थ-निर्णयः।
सदातप इवाप्तोऽपि शीतांशुरिव शीतलः ॥

सुमनोगण-सेव्योऽपि दिवि दुर्लभ-दर्शनः।
सर्व गुणोद्भव-स्थानोऽप्यनन्त-गुण हानिभाक् ॥

समाधिभाव-निष्ठोऽपि, समग्राधितयोज्झितः।
मुक्ताहार-विमुक्तोऽपि मुक्ताहार-विराजितः ॥

पूज्य श्री जयगच्छीय श्री नथमल्ल-जिद्गुरुः।
महर्षिश्चौथमल्लश्च यशसा प्रथते भुवि ॥

हे पूज्यवर्य्य गुरुदेव ! दयां विधाय
तद् गृह्यतां गुणगण-स्मृति पूर्वकं यत्।
श्लोकाष्टकं व्यतनवं मुनि-जीतमल्लः
त्वत् पाद-पंकज-पवित्र-पराग-रागी ॥

चंद्र-संस्मरणांजलिः

(१)

धन्वैक देशे धन - धान्य - पूर्णे
ग्रामे वरे पीपलियेति संज्ञे।
अभूज्जनि - र्यस्य सुयोगयोगे
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

(१) विरोधाभासालंकाराष्टकम्

(२)

पिता प्रसिद्धो जगमाल - नामा
माता च पारी-त्यभिधाऽभिरामा ।
महाशया बन्धु - जनाश्च यस्य
स्मराम्यहं चन्द्र-मुनीश्वरन्तम् ।।

(३)

यो वैक्रमेऽब्दे शरषण्णवेन्दौ
दीक्षां सुशिक्षा - मुररीचकार ।
आचार्य - वर्यस्य - जयस्य गच्छे
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(४)

लब्ध - प्रतिष्ठो विदुषां वरिष्ठो
वक्ता महात्मा नथमल्ल-नामा ।
आसीद् गुरुर्यस्य सुशील-शाली
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(५)

साहित्य-शब्दादि विशिष्ट बोध—
मध्यात्म-शास्त्रं च समध्यगीष्ट ।
यस्तत्त्व - चर्चा - चतुरोल्लसंश्च
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(६)

स्वाध्याय - सारस्य रसाभिलाषी
सज्ज्ञान - चारित्र - तपोविलासी ।
सुदूर देशेऽतिविहार - शील:
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(७)

योगी परं यो गतकोपमानो
धीरो - गभीरो विगतोपमान: ।
यश्चेन्दुरासीदपि वर्द्धमान:
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

संकलको : मुनिर्गुणवन्त:

(८)

दोषाकरोऽप्यस्त समस्त - दोषो
दयावतारोऽपि च धीवरो यः ।
व्रतैकनिष्ठो विबुधस्तथापि
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(९)

छायेव नित्यं व्यमुचन्न शान्तिर्
मन्ये विजिग्ये यमवाप्य दान्तिः ।
यमेत्य नीतिर् मुमुदेऽप्यनन्तं
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(१०)

भव्या नितान्तं समुपासते यं
विनम्र-भावेन निजात्म-शुद्ध्यै ।
सौख्यप्रदं दुष्कृत - दुर्दिनान्तं
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(११)

येनेह धैर्ये न समः सुमेरुः
सर्वंसहा नैव समा क्षमायाम् ।
वचोविलासे न समा सुधापि
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(१२)

स्वाख्या-कृता किं न कृता-कृतार्था
व्याख्या-श्रुता किं न जिनागमानाम् ।
आज्ञा-धृता किं च गुरोर्न येन
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(१३)

आचार-धर्मस्य प्ररूपकाय
सम्यक्त्व-पद्मस्य विकासकाय ।
यस्मै नमस्यन्ति विरोधिनोऽपि
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ।।

(१४)

असाधुता दूरतरं प्रयाति
भ्रान्तिर् नितान्तञ्च बिभेति यस्मात् ।
रुष्टेव याताऽसमिति-विदूरे
स्मराम्यहं चन्द्र-मुनीश्वरन्तम् ॥

(१५)

मनोविलीनं जिनपाद - पद्मे
वचोऽनुरक्तं सुगुरु - स्तुतौ च ।
गात्रं च सत्कर्मणि यस्य लग्नं
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

(१६)

श्रोत्रं पवित्रं श्रुत - संश्रुतेन
सिद्ध - स्तवेन प्रयता रसज्ञा ।
यस्याऽसवोऽर्हत् स्मरणेन पूताः
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

(१७)

नासीत् कदाचिन् मलिना न यस्य[१]
कदापि काले स्खलिता वृतिर्न ।
तृष्णाऽग्नि-दग्धा न च चित्तवृत्तिः
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

(१८)

यस्मिन् क्षमा मोदयुता समासीत्
सिद्धिश्च यस्मिन् नभवद् विलुब्धा ।
औदार्य-वृत्तिः सहजा च यस्मिन्
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

(१९)

यस्मिन्नजस्रं सुयशो निवासो
यस्मिन् सदाचार - समाश्रयश्च ।
यस्मिन् विरामो नितरां कलानां
स्मराम्यहं चन्द्र - मुनीश्वरन्तम् ॥

---

(१) कर्तृ-गुप्त

(२०)

साम्यैकसिन्धो ! जगदेकबन्धो !
कारुण्यकासार ! समुद्गतेन्दो !
भव्याम्बुज - व्रात - विकासि-भानो !
स्वामिन् शरण्योऽसुमतां त्वमेव ।।

(२१)

मेरौ नमेरौ सुरभूरुहेऽपि
काम्ये नृलोके त्रिदशालयेऽपि ।
पूज्य ! त्वदीयात्तहृदां नृणां नो
मनोऽभिरेमे क्वचिदल्प - मात्रम् ।।

(२२)

अपास्य सर्वान् समुपासकान्नः
किं कारणं स्वर्गमितो गतो यत् ।
तत्राऽपराधोऽविनयस्तथा वा–
ऽकल्पोऽनिदेशोऽभवदस्मदीयः ।।

(२३)

खिन्ना तितिक्षा धृतिरप्यधीरा
प्रमा निरालम्बतया विपन्ना ।
स्फूर्ति-विदूना समताऽप्यनाथा
सत्कार-शून्या च कृतज्ञताऽपि ।।

(२४)

जाता समुच्छृङ्खलता सहर्षा
निन्दाऽनरीनृत्यत नर्तकीव ।
ईर्ष्या सवीर्या विकृतिः प्रसन्ना
स्वर्गे त्वयीते भुवि वैपरीत्यम् ।।

(२५)

भक्त्या विभक्त्या मुनि जीतमल्ले–
नाऽतायि ते संस्मरणाञ्जलीष्टम् ।
यत्पद्यचक्रं श्रुतिसार रम्यं
समर्पितं ते विनयेन पूज्य ! ।।

श्रद्धार्पणम्

दुःखाब्धौ विनिमज्जता-मसुमता-मेकान्ततः प्रीतये
संजातो जगतीतले यतिवरः श्री तारकस्तारकः ।
अन्ये चाप्यनुविश्रुता क्षितितले संख्यातिगास्तारका
नाम्ना तत्र विराजितापरमहो किन्त्वर्थ-शून्याः परम् ।।

यो मोक्षैक विलास-लालसमतिः शीतांशु सौम्याकृतिस्
तत्त्वातत्त्व-विचारचारचतुरो योगात्मनिष्ठो भवत् ।
तस्मै कीर्तिमते सते शुभवते मोहेभ सिंहाय ते
ताराचन्द्र-मुनीश्वराय भवतात् श्रद्धाञ्जलेरर्पणम् ।।

श्रद्धांजलि-सप्तकम्

आचार्यवर्यो हि सदा"ऽऽत्मरामः"
पाञ्चालदेशं किल पुण्यभूमिम् ।
स्व-जन्मना यो विशदी चकार
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

नवाग्नि - रन्ध्रात्मक विक्रमाब्दः
परां प्रसिद्धि नितरामवाप ।
धर्मैकमूर्ति यमवाप्य नूनं
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

सम्मान-योग्यः शुभनाम राहो —
ग्रामः कृतो येन सदाशयेन ।
देशे-विदेशे निखिले स्थले च
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

सुरासुरा दानवमानवाश्च
यस्मै नितान्तं स्पृहयन्ति नित्यम् ।
कारुण्य - रत्नाकर संयताय
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

श्रामण्य संघोऽतिशयं सतृष्णः
जग्राह यस्मात् पथ-दर्शनं च ।
सदा सदाचार - विचार - दक्षात्
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

संकलको : मुनिर्गुणवन्तः

या स्नेहपूर्णा सुलभा सुशिक्षा
सा दुर्लभा सम्प्रति यस्य जाता ।
विद्वद्वरेण्यस्य मुनीश्वरस्य
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

ज्ञानं प्रसन्नं ननु दर्शनं च
चारित्रमासीत् विमलं सदैव ।
यस्मिन् सतीशे श्रमणेश्वराणां
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ।।

श्री रत्न-श्रद्धांजलिः

पंचाचार - परायणः सुगुणवान् संयत्नवान् यो मुनिर्
यं भव्याः समुपाश्रिता शिवरमा सौन्दर्य-सौख्याय च ।
दग्धं येन समग्र-दुर्नयवनं मोहारि-मल्लो जितो
यस्मै च स्मरणाञ्जलि सुविधिना सन्तोर्पयन्ति प्रगे ।।

यस्माद् भीतमिवाऽखिलेन्द्रिय-दलं दीनं प्रलीनं कुतः
यस्याऽऽदेययशः सुधां हि सरसां पीत्वा प्रतृप्ताः बुधाः ।
यस्मिन् सत्यपि वादिभिर् न च कदा लब्धा जयश्रीः क्वचित्
तस्मै श्रीयुत रत्नचन्द्रमुनये श्रद्धाञ्जलिर् मे सदा ।।

रागोरगाशीविष - वारणाय
जानन्ति केचिद् विषहारि-रत्नम् ।
भव्यैक वाञ्छा - परिपूरणार्हम्
परे तु चिन्तामणि-रत्न-संज्ञम् ।।

दुःसह्य माया-मल-शोधनार्थम्
मन्ये जनाः स्फाटिक रत्नमेव ।
प्रगाढमज्ञान-तमो निहन्तु —
मालोकशीलं मणिरत्नकं च ।।

अध्यात्म-कोषस्य नवं मनोज्ञ—
ममूल्य-रत्नं च यमामनन्ति ।
भवन्तमप्येक-मनेक रूपं
नमाम्यहन्तं मुनिरत्न-रत्नम् ।।

जीयाच्चिरं रत्नमुनीन्द्र कीर्तिस्
तपोऽमरेन्द्र व्रति सत्प्रयत्नः ।
महोत्सवोऽप्येष शताब्दकस्यो—
ल्लसत् स्थितौ पूर्णतया सहैव ॥

मंगल-कामना[1]

प्रज्ञापराजित विपक्षिजनः प्रकाम—
माचार्यवर्य मुनिपुंगव मोतिरामः ।
यः सद्गतः सदुपदेशितया सदाऽत्र
पंचापगादि - विषयेषु प्रमाद - दाश्रः ॥

प्राज्यं व्यधात् सदुपकार-मवर्णनीयं
स्वर्गापवर्ग-सुखदं भविनां तदीयम् ।
नामादसीय - पदरेणु पवित्र - भूमौ
जानाति कः सुहृदयो न च पुण्यभूमौ ॥

आजीवनं विदधतोऽपि गतातिचारं
श्री वर्द्धमान-जिनशासन-सत्प्रचारम् ।
मन्ये न तस्य हृदये परितोष आसीत्
कर्तुं प्रसारमधिकं दिवमित्ययासीत् ॥

तद्भारमाप्तु-मचला सुसहा न सौम्या
व्यक्तिर् नितान्तमिह काचिदपेक्षितासीत् ।
प्रीतिः परायदुररीकृतवांस्तमेषः
सार्थाभिधोऽग्रिय बुधो मुनि पृथ्विचन्द्रः ॥

पृथ्वी स्थिरा यदवधिः स्थिर एष चन्द्रः
क्षान्त्यायुतः कलुषपंक विनाशिचन्द्रः ।
आह्लादयन् जनमनः कुमुदान्यतन्द्रः
सार्थद्वयो जयतु संयमि पृथ्विचन्द्रः ॥

रात्रि-दिवं परम-पूज्य-पदोत्सवोय —
मानन्दकृद् भवतु तीर्थ-चतुष्टयस्य ।
सत्कामनेति मनसा-वचसा-क्रियातः
श्री जीतमल्ल-मुनिना क्रियते विनीत्या ॥

१. आचार्य-पद-महोत्सवे

या स्नेहपूर्णा सुलभा सुशिक्षा
सा दुर्लभा सम्प्रति यस्य जाता ।
विद्वद्वरेण्यस्य मुनीश्वरस्य
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ॥

ज्ञानं प्रसन्नं ननु दर्शनं च
चारित्रमासीत् विमलं सदैव ।
यस्मिन् सतीशे श्रमणेश्वराणां
श्रद्धाञ्जलिः स्याद् यतये च तस्मै ॥

श्री रत्न-श्रद्धांजलिः

पंचाचार - परायणः सुगुणवान् संयत्नवान् यो मुनिर्
यं भव्याः समुपाश्रिता शिवरमा सौन्दर्य-सौख्याय च ।
दग्धं येन समग्र-दुर्नयवनं मोहारि-मल्लो जितो
यस्मै च स्मरणाञ्जलिं सुविधिना सन्तोर्पयन्ति प्रगे ॥

यस्माद् भीतमिवाऽखिलेन्द्रिय-दलं दीनं प्रलीनं कुतः
यस्याऽऽदेययशः सुधां हि सरसां पीत्वा प्रतृप्ताः बुधाः ।
यस्मिन् सत्यपि वादिभिर् न च कदा लब्धा जयश्रीः क्वचित्
तस्मै श्रीयुत रत्नचन्द्रमुनये श्रद्धाञ्जलिर् मे सदा ॥

रागोरगाशीविष - वारणाय
जानन्ति केचिद् विषहारि-रत्नम् ।
भव्यैक वाञ्छा - परिपूरणार्हम्
परे तु चिन्तामणि-रत्न-संज्ञम् ॥

दुःसह्य माया-मल-शोधनार्थम्
मन्ये जनाः स्फाटिक रत्नमेव ।
प्रगाढ़मज्ञान-तमो निहन्तु —
मालोकशीलं मणिरत्नकं च ॥

अध्यात्म-कोषस्य नवं मनोज्ञ—
ममूल्य-रत्नं च यमामनन्ति ।
भवन्तमप्येक-मनेक रूपं
नमाम्यहन्तं मुनिरत्न-रत्नम् ॥

जीयाच्चिरं रत्नमुनीन्द्र कीर्तिस्
तपोऽमरेन्द्र व्रति सत्प्रयत्नः ।
महोत्सवोऽप्येष शताब्दकस्यो—
ल्लसत् स्थितौ पूर्णतया सहैव ॥

मंगल-कामना[1]

प्रज्ञापराजित विपक्षिजनः प्रकाम—
माचार्यवर्य मुनिपुंगव मोतिरामः ।
यः सद्गतः सदुपदेशितया सदाऽत्र
पंचापगादि - विषयेषु प्रमाद - दात्रः ॥

प्राज्यं व्यधात् सदुपकार-मवर्णनीयं
स्वर्गापवर्ग-सुखदं भविनां तदीयम् ।
नामादसीय - पदरेणु पवित्र - भूमौ
जानाति कः सुहृदयो न च पुण्यभूमौ ॥

आजीवनं विदधतोऽपि गतातिचारं
श्री वर्द्धमान-जिनशासन-सत्प्रचारम् ।
मन्ये न तस्य हृदये परितोष आसीत्
कर्तुं प्रसारमधिकं दिवमित्ययासीत् ॥

तद्भारमाप्तु-मचला सुसहा न सौम्या
व्यक्तिर् नितान्तमिह काचिदपेक्षितासीत् ।
प्रीतिः परायदुररीकृतवांस्तमेषः
सार्थाभिधोऽग्रिय बुधो मुनि पृथ्विचन्द्रः ॥

पृथ्वी स्थिरा यदवधिः स्थिर एष चन्द्रः
क्षान्त्यायुतः कलुषपंक विनाशिचन्द्रः ।
आह्लादयन् जनमनः कुमुदान्यतन्द्रः
सार्थद्वयो जयतु संयमि पृथ्विचन्द्रः ॥

रात्रि-दिवं परम-पूज्य-पदोत्सवोय —
मानन्दकृद् भवतु तीर्थ-चतुष्टयस्य ।
सत्कामनेति मनसा-वचसा-क्रियातः
श्री जीतमल्ल-मुनिना क्रियते विनीत्या ॥

---

१. आचार्य-पद-महोत्सवे

स्वागताष्टकम्[1]

निःशेष सत्त्व नवजीवन-सौख्यदायि
तेजस्वि - पंचनद - केसरि - सिंह-नादम् ।
श्रुत्वेव तत्खलु कषाय-कुरंग-संघाः
रात्रौ श्रृगाल-कपटेन वने रुदन्ति ॥

भक्त्या युते विरहिते सम चित्तवृत्ते !
वैराग्यवन् - निखिल - वन्द्य-मुनि-प्रवृत्ते !
भक्तैक वत्सल हतोद्धत-दोषरक्षः
श्री मज्जिनेन्द्र-चरणोपचितौ हि दक्षः ॥

गांभीर्य-शौर्य-यम - धैर्य - धराग्रगण्य !
कारुण्य-पुण्य-जलधे ! व्रतिनां वरेण्य ।
विद्याब्जिनी-वन-विलास-विभाकरौज !
ध्यानाग्नि-दग्ध-दुरितेन्धन-सद्गुणौघ ! ॥

मात्सर्य-दम्भ-सुम-भेद-फल-प्रफुल्ल —
मोहैक - पादप - समुद्धरणे द्विपेन्द्र !
संसार-ताप-परितप्त-मनो जनांश्च
संसूक्तिभिर् जित-सुधाभिरिवाभिषिञ्चन् ॥

निःसीम मार्दव वशादवलेप-लोप !
शान्त्या कदर्थित-कराल-कृतान्त कोप !
वाक्काय-हृत्सरलता कृत - दम्भरोध !
विध्वस्त - दुस्तरण - लोभ-पयोधिरोध ! ॥

सौहार्द - सौरभभरेण विशेष - शालिन् !
मिथ्या-वितर्क तिमिरालि-मरीचिमालिन् !
प्रज्ञावतां मृदुल - मानस - सञ्चरिष्णो !
षड्वर्ग-शत्रु-सम-सैन्य - समष्टि-जिष्णो ! ॥

प्रेक्षा - चमत्कृति चमत्कृत - विश्वचेतः
स्वान्तेन शुद्ध परकीय गुणान्विचेत !
निःसार संसृति - रते विरतेषु धन्य !
नित्यं परोपकृति - कारि-जनेषु मान्य ! ॥

---

१ अजमेर-सम्मेलने

विष्वग्-विनाशि मतभेद - विनाशशील !
श्लाघ्य-क्षमा-दम-तपः शुचि साधुशील !
भोः श्रील!पञ्चनद-संगमि-संघ ! तावत्
स्यात् स्वागतं शुभवतो भवतो नितान्तम् ! ।।

आचार्यवर्य - जयमल्ल - मुनीश - गच्छे ।
श्री चौथमल्ल - मुनिरागम-तत्त्व-विज्ञः ।
तत्पाद-पंकज नतेन मया कृतं यत्
भूयात् तदष्टकमिदं बुध - संमदाय ।।

शोकोच्छ्वासः[1]

श्री पूज्य सोहनगणि - मुनिवृन्द - वंद्यो
व्याप्तोरु-कीर्तिरखिला-जगती-तले च ।
आस्तेस्म यो निखिल-शास्त्र-रहस्य-वेत्ता
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ।।

भक्त्या भवार्ति-शमनाय-यमाश्रयन्ति
स्वप्नेऽपि यं गुणिजना न च विस्मरन्ति ।
दूरे त्यजन्ति यमनैक्य निकृष्ट-भावास्
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ।।

येन प्रदर्शित विशुद्ध - नयात्ममार्गः
प्रज्ञा - बलेन विजिताः प्रतिवादिनश्च ।
वृष्टिः कृता सरस-साम्य-सुधारसस्य
तस्यार्चनीय पद - पंकजयोः प्रणामः ।।

यस्मै समुत्सुकमना जनता नितान्तं
स्थातुं च सद्भिरखिलैः स्वमनः प्रदत्तम् ।
यस्मै च कुप्यति कषाय-निषाद-संघः
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ।।

भीतः स्मरो ननु निराकृतिमेति यस्मात्
सौम्योऽप्यनादृत विधुर् नभसं च यस्मात् ।
सप्तर्षिरूर्ध्वं मयते विरतो च यस्मात्
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ।।

---
१ रचनाकाल : नवंबर १९३५

शान्तस्य यस्य पुरतः सरुषोऽपि शान्ता
यस्याऽत्र च स्थिततया पृथिवी पवित्रा ।
सर्वे वशा बुधजना गुणिनश्च यस्य
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ॥

हा दैव दुर्विलसितेन विनिर्दयेन
नीतः स संयमि-मणिः स्मरणावशेषम् ।
यस्मै कृते प्रणय-पूर्वकमेव सायं
प्रातः सदा भवतु मे स्मरणाञ्जलीयम् ॥

केचिन् मनोज्ञ ललितै-रनवद्य-पद्यैः
श्रद्धाञ्जलीन् विनत-संयम-पाणिपद्मा ।
यस्मै गुणज्ञ - जनवृन्द - जुषेऽर्पयन्ति
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ॥

वीर-स्तवः[1]

आनन्द - कन्दल - चितं चरणारविन्दं
सर्वाङ्गिणां सकल कामद काम-कुम्भम् ।
देवार्चितस्य विदितामित - वस्तुनस्ते
श्री वर्द्धमान जिनराज ! मुदाभिनौमि ॥

काव्यः स्वयं सुरगुरुश्च सुरासुरेन्द्रः
शक्तो गुणान् गणयितुं नहि ते गुणाब्धे ।
तत्रान्तरे कथमहं प्रभवामि बालो
भक्तिस् तवैवमिह मां मुखरीकरोति ॥

भास्वानिवाऽखिल-धरातल - भासमानो
लोके सुधास्रुतिकरोऽभिनवः सुधांशुः ।
अत्युग्रतस् तपसि भूतनयानुभूतिः
सौम्यः श्रुतः सतत सूक्त्यतिशायिमूर्तिः ॥

सद्ज्ञानिनां गुणवतां च गुरुस्त्वमेव
प्रत्यक्षरं तव च काव्यमतो हि काव्यः ।
वैराग्य-कारकतया शनिरेव दृष्ट
एवंविध - ग्रहमयो भगवन् ! नमस्ते ॥

---

(१) रचना-काल : दिनांक २१-४-१६७८

द्वेषैकवैरि - विजयाय धनंजयस्त्वं
रागाटवी निरसनाय धनञ्जयस्त्वम् ।
नि:शेष जीव - परिरक्षण - रक्षकस्त्वं
संस्तूयसे धवल - कार्ति-जयध्वजस्त्वम् ॥

योगेषु सातिशय शैव समाधि-निष्ठस्
तत्त्वेषु चिन्तनपर: परमाणु - विज्ञ: ।
आस्ते भवानिव भवान् भुवनत्रयज्ञ:
स्तुत्यो न मे जगति कोऽपि भवादृशोऽन्य: ॥

नाहं गुणी न गुणिनामनुगोऽतिनीचो-
ऽसत्कर्म - शाद-कलित: त्रुटित-व्रतश्च ।
भ्रान्तोऽस्म्यनन्त-भवतो भवपंकतो वा
भक्तिस्तथापि तव मां तु समुद्धरेत ॥

नाना भवे भ्रमणमेव कृतं कथंचिद्
लब्धो न वा क्वचन शान्तिलव: कदाचिद् ।
त्वत् - पाद-पंकज-पराग - परानुरक्त्या
वीर!स्तवो व्यरचि ते च मयात्म-शान्त्यै ॥

पंचषष्ठी-स्तोत्रम्[1]

धर्म-शांति-जिनारिष्ट-नेमिनाथान् जिनेश्वरान् ।
सम्भवं सुविधिं भक्त्याऽजितं चन्द्रप्रभं प्रभुम् ॥

अनन्तं सुव्रतं देवं नमिं मल्लीं मुदा गुरुम् ।
नाभेयं श्रीसुपार्श्वं च विमलं सुषमात्मजम् ॥

---

(१) सर्ववर्णोपयोगी—

पञ्च	षष्ठी	ॐ	य	न्त्र
१५	१६	२२	३	९
२	८	१४	२०	२१
१९	२५	१	७	१३
६	१२	१८	२४	५
२३	४	१०	११	१७

शान्तस्य यस्य पुरतः सरुषोऽपि शान्ता
यस्याऽत्र च स्थिततया पृथिवी पवित्रा ।
सर्वे वशा बुधजना गुणिनश्च यस्य
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ॥

हा दैव दुर्विलसितेन विनिर्दयेन
नीतः स संयमि-मणिः स्मरणावशेषम् ।
यस्मै कृते प्रणय-पूर्वकमेव सायं
प्रातः सदा भवतु मे स्मरणाञ्जलीयम् ॥

केचिन् मनोज्ञ ललितै-रनवद्य-पद्यैः
श्रद्धाञ्जलीन् विनत-संयम-पाणिपद्मा ।
यस्मै गुणज्ञ - जनवृन्द - जुषेऽर्पयन्ति
तस्यार्चनीय पद-पंकजयोः प्रणामः ॥

वीर-स्तवः[1]

आनन्द - कन्दल - चितं चरणारविन्दं
सर्वाङ्गिणां सकल कामद काम-कुम्भम् ।
देवार्चितस्य विदितामित - वस्तुनस्ते
श्री वर्द्धमान जिनराज ! मुदाभिनौमि ॥

काव्यः स्वयं सुरगुरुश्च सुरासुरेन्द्रः
शक्तो गुणान् गणयितुं नहि ते गुणाब्धे ।
तत्रान्तरे कथमहं प्रभवामि बालो
भक्तिस् तवैवमिह मां मुखरीकरोति ॥

भास्वानिवाऽखिल-धरातल - भासमानो
लोके सुधास्रुतिकरोऽभिनवः सुधांशुः ।
अत्युग्रतस् तपसि भूतनयानुभूतिः
सौम्यः श्रुतः सतत सूक्त्यतिशायिमूर्तिः ॥

सद्ज्ञानिनां गुणवतां च गुरुस्त्वमेव
प्रत्यक्षरं तव च काव्यमतो हि काव्यः ।
वैराग्य-कारकतया शनिरेव दृष्ट
एवंविध - ग्रहमयो भगवन् ! नमस्ते ॥

(१) रचना-काल : दिनांक २१-४-१६७८

द्वेषैकवैरि - विजयाय धनंजयस्त्वं
रागाटवी निरसनाय धनञ्जयस्त्वम् ।
निःशेष जीव - परिरक्षण - रक्षकस्त्वं
संस्तूयसे धवल - कांति-जयध्वजस्त्वम् ॥

योगेषु सातिशय शैव समाधि-निष्ठस्
तत्त्वेषु चिन्तनपरः परमाणु - विज्ञः ।
आस्ते भवानिव भवान् भुवनत्रयज्ञः
स्तुत्यो न मे जगति कोऽपि भवादृशोऽन्यः ॥

नाहं गुणी न गुणिनामनुगोऽतिनीचो-
ऽसत्कर्म - शाद-कलितः त्रुटित-व्रतश्च ।
भ्रान्तोऽस्म्यनन्त-भवतो भवपंकतो वा
भक्तिस्तथापि तव मां तु समुद्धरेत ॥

नाना भवे भ्रमणमेव कृतं कथंचिद्
लब्धो न वा क्वचन शान्तिलवः कदाचिद् ।
त्वत् - पाद-पंकज-पराग - परानुरक्त्या
वीर! स्तवो व्यरचि ते च मयात्म-शान्त्यै ॥

पंचषष्ठी-स्तोत्रम्[1]

धर्म-शांति-जिनारिष्ट-नेमिनाथान् जिनेश्वरान् ।
सम्भवं सुविधिं भक्त्याऽजितं चन्द्रप्रभं प्रभुम् ॥

अनन्तं सुव्रतं देवं नमिं मल्लीं मुदा गुरुम् ।
नाभेयं श्रीसुपार्श्वं च विमलं सुषमात्मजम् ॥

---

(१) सर्ववर्णोपयोगी —

पञ्च	षष्ठी	*	य	न्त्र
१५	१६	२२	३	९
२	८	१४	२०	२१
१९	२५	१	७	१३
६	१२	१८	२४	५
२३	४	१०	११	१७

वासुपूज्यमरं नाथं श्रीवीरं सुमतिं जिनम् ।
पार्श्वाऽभिनन्दनौ पूज्यौ शीतलं परमेश्वरम् ।।
श्रेयांसं कुन्थुमित्येवं भजन्ति भावतश्च ये ।
सफलाः सर्व-कार्येषु पुण्यभाजो भवन्ति ते ।।

श्री चौथ-नमस्कृतिः[1]

नाम्ना चतुर्थोऽपि सदा द्वितीय-
श्चन्द्रो यथासे जड़तापहारी ।
आह्लादकस्त्वं सुहृदां समेषां
मुदा मयैवं मुनिनाथ ! वन्द्यः ।।

भावे तिथौ शीतकरेऽर्णवांकस्
तिरस्कृतस् तेऽप्यभिधाश्रितः सन् ।
मन्ये समस्ताऽशुभता समस्ता
स्थानं ततो मोक्षपथि-प्रपन्नः ।।

न राहुगम्यः सततोदयी वा-
ऽदोषाकरश्चाऽकुटिलोऽ कलंकः ।
भवानपूर्वः प्रतिभाति चन्द्रो
जगत्त्रयी द्योतकरो मुनीन्दो ! ।।

सर्वेषु धीमत्सु सभासु सत्सु
प्रेयान् गरीयान् मतिमान् वरीयान् ।
लोके त्वमासीः सकला-कलासु
चैकः कलावान् मुनि-राजहंसः ।।

क्षुब्धः समुद्रः क्षितिरेव पृथ्वी
ग्रावा तु शैलो गगनं खमेव ।
केनोपमीयेत भवान्न जाने
प्राज्ञः सहिष्णुः श्रुतिमान् सुधीरः ।।

सन्मार्ग-नेता नय-तत्त्व-वेत्ता
सत्शास्त्र - वक्ता प्रतिपक्ष - जेता ।
तमोपनेता कविता-प्रणेता
श्री चौथमल्लो जयतात् सुचेता ।।

आसीन् मनोरम-फिरोजपुरा-निवासः
पुण्योदयी सहृदयी हरचन्द तातः ।
माता परं गुणवती कुमरेति यस्य
श्री चौथमल्ल-महाराज ! कृते नमस्ते ।।

---

(१) रचना—दिनांक ७-९-१९७८ खांगटा

हिन्दी के सुभाषित

□

रचयिता : आचार्यप्रवर श्री जीतमलजी म.सा.

संकलक : मुनि गुणवंतकुमार 'गुणी'

(१)

अरिहंत सिद्ध आचार्य औ, उपाध्याय मुनिराज ।
इन पाँचों की प्रणति से सकल मिले सुखसाज ।।

(२)

निष्ठा उसमें चाहिए, जो हो श्रद्धा-केन्द्र ।
आत्मशक्ति केन्द्रित बने, पूजे चरण सुरेन्द्र ।।

(३)

भगवन् ! सच्चे रूप में, तुमको परखा नांय ।
यदि परखा होता, नहीं, स्थान-स्थान पर जाय ।।

(४)

इस जन को यदि समझ हो, तेरे गुण की ईश ।
नहीं भटकता, अन्य को, नहीं नमाता शीश ।।

(५)

आशाओं का केन्द्र है, भरा ज्ञान-भण्डार ।
सकल सौख्य-दाता गुरु-चरण सदा जयकार ।।

(६)

सच्चा सुख का आसरा, गुरु-चरणों की धूल ।
सुखाभास सब ओर है, निराधार निर्मूल ।।

(७)

सुखी बने संसार में, सीख गुरु की धार।
लाभ आप ले लीजिये, जीवन का यह सार॥

(८)

इस दुनियाँ में है कहाँ देखो सच्चा स्नेह।
गुरु-चरण-सेवा बिना, सभी जगह संदेह॥

(९)

हंसना-रोना जगत् का, सब कर्मों का खेल।
आत्मा सबसे अलग है, हरी-भरी सुख-वेल॥

(१०)

कर्म-विपाक विचित्र यह, चढ़ा शिखर पर ठेट।
गड्ढे में देता गिरा, बरबस मोह लपेट॥

(११)

कर्म-कीच में फिसलना, लगे सलोना आप।
पर अंतिम परिणाम पर, पश्चात्ताप अमाप॥

(१२)

दिवस बडे सुहावने, सुख के सीमित भ्रात।
किन्तु हाय विषाद की, लम्बी काली रात॥

(१३)

दुःख न कोई जगत् में, दुःख पाप-संचार।
करे धर्म निष्कपट, तो, हो सुखमय संसार॥

(१४)

इस जीवन-व्यवहार में, कदम-कदम पर मोड़।
धर्म स्नेह चातुर्य से, चले अभय सब ठोड़॥

(१५)

धर्म एक ही जगत में, तारन, तरनि-समान।
भव-सागर से पार हो, धारे धर्म का ध्यान॥

(१६)

आलस से अलगाव कर, ध्यान धर्म का धार।
निंदा-नींद निवार के, कर अपना उद्धार॥

(१७)

विद्या विनय-विवेक से, पढ़े बढ़े सब ओर ।
नहिं तो घृत-विन्दु यथा, पड़ा रहे इक ठोर ॥

(१८)

सत्य स्नेह संयम यही, सद्गुण जीवन-सार ।
मृषा मोह स्वच्छंदता, जीवन भरा विकार ॥

(१९)

शान्त सुशीतल जो रहे, शत्रु न उसके होत ।
सकल जगत अपना करे, शशि-सम कर उद्योत ॥

(२०)

शत्रु-भाव जिसका नहीं, कभी किसी के साथ ।
ज्ञानी वह गुरु-तुल्य है, नमे उसे सुरनाथ ॥

(२१)

मीठा जल तालाब का, छोड खबूच्या जाय ।
अच्छा तो वह है नहीं, बक छीलर-जल भाय ॥

(२२)

भौतिक भोगों के लिए, क्यों तरसावे जीव ।
आतम-गुण में रमण कर, आनन्द मिले अतीव ॥

(२३)

निर्मल धर्म-प्रभावना, राग-रंग मत राच ।
आत्मानन्द अमूल्य मणि, तज क्यों गहता काच ॥

(२४)

संयम-सुख के सामने, तुच्छ जगत के भोग ।
चाह न रख, ना वासना, मिले सकल शुभयोग ॥

(२५)

सांसारिक सुख-भोग की, लगी वड़ी है भूख ।
संयम-ज्ञान-वैराग्य ही, मेटन दवा अचूक ॥

(२६)

वाह्य देह का रोग है, अन्तर सदा निरोग ।
ममता से मिलता सदा, आत्मानन्द सुयोग ॥

(२७)

बाहर क्यों भटके वृथा, सुखाभास सर्वत्र ।
सच्चा सुख रत्नत्रयी, दर्शन-ज्ञान चरित्र ।।

(२८)

रमण करे निज में सदा, पर परिणति कर शेष ।
सो ही ज्ञानी आतमा, अवर अज्ञ अशेष ।।

(२९)

कोउ न अपना है यहाँ, अपना आतम-स्वभाव ।
पर - परिणति पर है सदा, जड़ का खूब जमाव ।।

(३०)

निज-गुण में अनुराग रख, पर प्रीति को छोड़ ।
सत्य प्रीति निज-रमण में, लगा इसी में होड़ ।।

(३१)

दृढ़ श्रद्धा निज में रहे, विचलित होत कदा न ।
कोई न उसकी कर सके, रतिमात्र भी हान ।।

(३२)

सागर से उत्पन्न हो, मीठी सुधा कहाय ।
सागर-जल खारा रहे, गुण-अवगुण निज मांय ।।

(३३)

गुण-अवगुण ना ज्ञात हो, निज का निज को कोय ।
मधुर सुधा औ' कटुक जल, सुर-नर जाने सोय ।।

(३४)

हीरा वह अनमोल है, कसवट उतरे पार ।
त्यों ही विचार आचरण, आए होत सुधार ।।

(३५)

निश्चय में निज आतमा, शक्ति से सम्पन्न ।
लगे न दाव पर-शक्ति का, मन फिर हो न विपन्न ।।

(३६)

चंचलता सब दूर कर, निज में रहो समाय ।
आतम-शान्ति अनन्त है, सागर-सम लहराय ।।

(३७)

चेत - चेत तूं चेत जा, यह सब रंग कुरंग ।
चेतन का कर संग तू, रहना सदा सुरंग ॥

(३८)

सत्संगत करता रहे, हो नहीं चिन्ता अंग ।
निर्मल रहना है तुझे, तज दुर्जन का संग ॥

(३९)

सज्जन-संगत से कभी, गुन नहिं प्रगटे अंग ।
किन्तु दुर्गुन-राशि में, वृद्धि का न प्रसंग ॥

(४०)

गुण-समृद्ध आतमा बने, सत्संगत में आय ।
असत्संग के रंग से, गुण हो वह भी जाय ॥

(४१)

साता हो सत्संग से, आतमा होत विशुद्ध ।
सद्गुरु-सेवा से बढ़े, और चौगुनी वुद्ध ॥

(४२)

आतमा शुद्ध विशुद्ध हो, सत्संगत में आय ।
दुर्गुण-वृद्धि अनन्त हो, कुसंगत को पाय ॥

(४३)

शिथिल हुई सब संधियाँ, कोई न देवे साथ ।
फिर भी मन माने नहीं, भरे गगन को बाथ ॥

(४४)

रे जंजाली जीव ! तू, मेट सकल जंजाल ।
जाना यहाँ से एक दिन, होगा तव वेहाल ॥

(४५)

जा हित जीवन हारियो, स्व-हित कियो न विचार ।
साथ निभायो एक ना, भयो अन्त वेकार ॥

(४६)

अज्ञानी, संसार में, स्वार्थ जानता सार ।
ज्ञानी, विन परमार्थ के, सर्व पदार्थ असार ॥

(४७)

आत्मा के हैं अनन्त गुण, सत्संगत विकसन्त ।
असत्संग - प्रसंग तो, सद्गुण - हानि करन्त ।।

(४८)

आत्म - गुणों को लक्ष्य कर, पुद्गल - संग निवार ।
क्षणध्वंसी पुद्गल अहो, गुण वे नित्य विचार ।।

(४९)

देह मोह का त्याग कर, गुण से करिये प्यार ।
गुणी बनो गुण - संग से, अवगुण दोष विसार ।।

(५०)

पुद्गल के पीछे बना, क्यों तूं पागल मीत ।
समझ सयाने कीजिए, उत्तम चेतन प्रीत ।।

(५१)

वृद्धि बढ़े सद्गुण बढ़े, दुर्गुण घटि - घटि जाय ।
अनुभव - प्यालो ज्ञान को, पीतां आनन्द आय ।।

(५२)

ज्ञान बिना जाने नहीं, कोई मन की बात ।
ऊपर धोली दीखती, बगुला की ज्यों जात ।।

(५३)

झूठा लफड़ा जगत् का, तज, कर ज्ञानाभ्यास ।
सच्चा सुख जिससे मिले, सफल फले सब आस ।।

(५४)

विषम विषय दुर्वासना, संगति करे असन्त ।
वमन वस्तु ज्यों घृणित है, सार न जानै सन्त ।।

(५५)

विषय-पिपासा है बुरी, बुझे न तृप्ति पाय ।
लगी वनाग्नि पवन से, घटत न कोटि उपाय ।।

(५६)

विषय - वासना - भाव से, बढे कर्म का रोग ।
निर्विषयी सुस्थिर रहो, भूल विषय का भोग ।।

(५७)

सुख पाना संसार में, शील-धर्म को धार।
मनुज - जन्म का लाभ यह, जीवन हो सुखकार ॥

(५८)

सदाचार की वृत्ति से, हो निर्मूल विकार।
अहो स्वस्थता देह की, अनुदिन बढ़े अपार ॥

(५९)

यह संसार असार है, संयम जीवन - सार।
स्वर्ग और अपवर्ग का, आनन्द मिले अपार ॥

(६०)

कथनी - करनी एक हो, कठिन आज का काम।
चले हृदय में कतरनी, मुंह से रटते राम ॥

(६१)

समझे जो संतोष धन, छोड़ प्रपंच समस्त।
सहजानन्द स्वरूप में, सदा रहे अलमस्त ॥

(६२)

सागर लक्ष्मीवास है, तृप्तिवास है नांय।
धनिक, द्रव्य को इसलिए, बहुरि निगलता जाय ॥

(६३)

कदर सदा उस दास की, फल - इच्छा नहीं कीन।
अगर मगर मन में नहीं, जो आज्ञा में लीन ॥

(६४)

सुजन तजे ना सुजनता, पा विपदा विन पार।
ताड़न - तापन से तजे, कनक न मृदुताचार ॥

(६५)

मृदुता और सुगन्ध का, सब को दे उपहार।
जीवन - पुष्प खिले जहाँ, साधुवाद शतवार ॥

(६६)

चतुर उसे ही मानिए, अन्तर की ले थाह।
ऊपर के मिठियास की, करे न जो परवाह ॥

(६७)

जो नहिं आवे बोलना, तो भल रखना मौन ।
भेद न पावे दूसरा, शक्ति भी व्यय हो न ।।

(६८)

दुर्जन - चित्त विचित्र है, समझे नहीं सुजान ।
पर के सुख में दुख रहे, दुख में सुख असमान ।।

(६९)

कलियों-सा कोमल सदा, मानस स्वच्छ उदार ।
प्रभु समर्पण सर्वथा, जीवन है वह सार ।।

(७०)

सरल स्वच्छ सत्स्नेहमय, जीवन लीला नित्य ।
अर्पित कर प्रभु-चरण में, तभी बने कृतकृत्य ।।

(७१)

कई बार इस हृदय में, आते हैं सुविचार ।
पर, स्थिरता पाए बिना, हो कैसे उद्धार ? ।।

(७२)

शांति राख हिय में सदा, सद्‌गुण से कर प्यार ।
देख-देख, निज दोष का, कर झटपट परिहार ।।

(७३)

सत्य - परख बिन, चित्त की, चंचलता नहीं जाय ।
सत्य - परख हो जाय जब, मानस थिर हो जाय ।।

(७४)

राग-द्वेष घटता रहे, विषयाशा हो क्षीण ।
अन्तर-ज्योति ज्ञान की, प्रगटे परम प्रवीण ।।

(७५)

अर्ध निशा सर्दी कड़क, गहरी निद्रा होय ।
फिर भी तत्पर जो रहे, सेवाभावी सोय ।।

(७६)

कोई रुचिकर काम में, कैसा भी हो व्यस्त ।
काम छोड़ सेवा करे, सेवा है वह मस्त ।।

(७७)

विना कहे ही वस्तु को, जो लौटा दे आप ।
नैतिकता में जानिए, उत्तम उसकी छाप ॥

(७८)

कहने पर जो तुरत ही, लौटा दे विन ताप ।
नैतिकता में जानिए, मध्यम उसकी छाप ॥

(७९)

आश्वासन देता रहे, करे न जो नर काम ।
क्या समझाएँ आपको, जाने लोग तमाम ॥

(८०)

मन्द-बुद्धि अति आलसी, बोलन में कड़वास ।
फिर भी पइसो पास में, सेवा करे पचास ॥

(८१)

स्वार्थ जहाँ लवलेश नहीं, ऐसे विरले सन्त ।
पृथ्वी सर्व पवित्र हो, जिनके पाँव पडन्त ॥

(८२)

स्वार्थपूर्ण इस जगत में, कहीं न आदर-भाव ।
स्वार्थ जहाँ जिसका सधे, वहीं न ! आदर-भाव ॥

(८३)

कर-कर ज्यादा पाप जब, जीव नरक में जाय ।
पापों का फल भोगते, आडा कोई न आय ॥

(८४)

प्रीति दुःख का मूल है, दुःख जनमता द्वेष ।
द्वेष, प्रीति-दोनों तजो, चाहो सौख्य अशेष ॥

(८५)

सुख अक्षय चाहे सदा, यह है बात विचित्र ।
मोह-दशा छूटे विना, मुक्ति न पावे मित्र ॥

(८६)

सच्चे सुख का नाश हो, करता ऐसे काम ।
फिर भी देखो जगत यह, चाहे सुख अविराम ॥

(८७)

रे मन ! पापों में पड़ा, भूला अपना मान ।
दुख ही को सुख मानता, होता जान अजान ॥

(८८)

रे मन ! रह वैराग्य में. तज पुदगल का नेह ।
काचो सुख साचो नहीं, भ्रम भोग सब जेह ॥

(८९)

रे मन ! तेरा ज्ञान-घन, और चरित निज शुद्ध ।
शेष सभी संसार का, नाशवान् है मुग्ध ॥

(९०)

मन सीसक-सम टूटते, पलक न लगती वार ।
चातुर तो चेता रहे, गाफिल रहे गंवार ॥

(९१)

मन है कच्चे सूत-सम, कहना मिथ्या बात ।
सूत सँधे क्षणवार में, मन टूटा न सँघात ॥

(९२)

रे मन ! एकीकरण कर, माया में मत भूल ।
माया मिथ्यावाद है, दुःख-द्वन्द्व का मूल ॥

(९३)

तृष्णा तो बढ़ती रहे, आयु घटे हमेश ।
मन चाहे तो मेट दे, दोनों का संक्लेश ॥

(९४)

रहे सदा निश्चित जो, इच्छा करे न कोय ।
तुष्ट रहे बस प्राप्त में, वही सुखी नर होय ॥

(९५)

मुनि-धर्म सबमें सीरे, प्रवल प्रजालन पाप ।
परम-सुखद इस पथ पे, चले मिटे संताप ॥

(९६)

समझे जो संकेत में, सुज्ञ जानिए सोय ।
बोली में समझे नहीं, अज्ञ जानिए सोय ॥

(९७)

ठोकर लगते एक ही, समझे चतुर सुजान ।
ठोकर पर ठोकर लगे, मूर्ख न पावे ज्ञान ।।

(९८)

पौरुष नहीं जिस पुरुष में, नारी-सम पहचान ।
नारी होकर नर-सदृश, है वह पुरुष प्रधान ।।

(९९)

तात-मात परिवार-जन, सभी स्वार्थ-संयोग ।
तो पण वल्लभ लागता, मोह-उदय के योग ।।

(१००)

चेतन ज्ञान-प्रभाव यह, करे मोह का अन्त ।
ममता तज समता रखे, पाए सौख्य अनन्त ।।

(१०१)

चेतन आतमा से लगा, पुद्गल का जो प्यार ।
प्यार-तार टूटे तभी, उतरे भवजल-पार ।।

(१०२)

चेतन अपने आप में, आनन्द का नहिं पार ।
पुद्गल के परभाव-वश, पर का करे विचार ।।

(१०३)

समता में साता घणी, दुःख विषमता मांह ।
ममता तज समता भजो, जो तिरने की चाह ।।

(१०४)

सुख-दुख तुझको जो मिले, वह है असद् विभाव ।
रे आतम सद्ज्ञान ही, तेरा एक स्वभाव ।।

(१०५)

मात - तात - भाई सभी, सांसारिक सम्बन्ध ।
फँसा मोह - वश जीव यह, करे कर्म - संबंध ।।

(१०६)

दुःख सार संसार में, आता है वैराग्य ।
सुख न सार, बांधे करम, बिगड़े फिर आरोग्य ।।

(८७)

रे मन ! पापों में पड़ा, भूला अपना मान ।
दुख ही को सुख मानता, होता जान अजान ।।

(८८)

रे मन ! रह वैराग्य में. तज पुदगल का नेह ।
काचो सुख साचो नहीं, भ्रम भोग सब जेह ।।

(८९)

रे मन ! तेरा ज्ञान-घन, और चरित निज शुद्ध ।
शेष सभी संसार का, नाशवान् है मुग्ध ।।

(९०)

मन सीसक-सम टूटते, पलक न लगती वार ।
चातुर तो चेता रहे, गाफिल रहे गंवार ।।

(९१)

मन है कच्चे सूत-सम, कहना मिथ्या बात ।
सूत सँधे क्षणवार में, मन टूटा न सँधात ।।

(९२)

रे मन ! एकीकरण कर, माया में मत भूल ।
माया मिथ्यावाद है, दुःख-द्वन्द्व का मूल ।।

(९३)

तृष्णा तो बढ़ती रहे, आयु घटे हमेश ।
मन चाहे तो मेट दे, दोनों का संक्लेश ।।

(९४)

रहे सदा निश्चिंत जो, इच्छा करे न कोय ।
तुष्ट रहे बस प्राप्त में, वही सुखी नर होय ।।

(९५)

मुनि-धर्म सबमें सीरे, प्रबल प्रजालन पाप ।
परम-सुखद इस पथ पे, चले मिटे संताप ।।

(९६)

समझे जो संकेत में, सुज्ञ जानिए सोय ।
बोली में समझे नहीं, अज्ञ जानिए सोय ।।

(९७)

ठोकर लगते एक ही, समझे चतुर सुजान ।
ठोकर पर ठोकर लगे, मूर्ख न पावे ज्ञान ।।

(९८)

पौरुष नहीं जिस पुरुष में, नारी-सम पहचान ।
नारी होकर नर-सदृश, है वह पुरुष प्रधान ।।

(९९)

तात-मात परिवार-जन, सभी स्वार्थ-संयोग ।
तो पण वल्लभ लागता, मोह-उदय के योग ।।

(१००)

चेतन ज्ञान-प्रभाव यह, करे मोह का अन्त ।
ममता तज समता रखे, पाए सौख्य अनन्त ।।

(१०१)

चेतन आतमा से लगा, पुद्गल का जो प्यार ।
प्यार-तार टूटे तभी, उतरे भवजल-पार ।।

(१०२)

चेतन अपने आप में, आनन्द का नहि पार ।
पुद्गल के परभाव-वश, पर का करे विचार ।।

(१०३)

समता में साता घणी, दुःख विषमता मांह ।
ममता तज समता भजो, जो तिरने की चाह ।।

(१०४)

सुख-दुख तुझको जो मिले, वह है असद् विभाव ।
रे आतम सद्ज्ञान ही, तेरा एक स्वभाव ।।

(१०५)

मात - तात - भाई सभी, सांसारिक सम्बन्ध ।
फँसा मोह - वश जीव यह, करे कर्म - संबंध ।।

(१०६)

दुःख सार संसार में, आता है वैराग्य ।
सुख न सार, बांधे करम, बिगड़े फिर आरोग्य ।।

(१०७)

देह स्वस्थ तो स्वस्थ - मन, सुदृढ़ होय विचार ।
सब विधि साधन सिद्धि का, सुन्दर फल सहकार ॥

(१०८)

बदली स्थितियाँ देह की, नहीं बदली मन -राह ।
सरस सलोनी संस्मृति, करती नित आगाह ॥

(१०९)

उदासीन हो मूर्ख - जन, जरा न सोचे चित्त ।
अपना अपने पास है, तो क्यों चंचल चित्त ॥

(११०)

दुनिया तेरी है नहीं, तूं दुनिया का है न ।
सोच - समझ कर जानलो, यह ज्ञानी का वैन ॥

(१११)

कोई किसका भी नहीं, जग है स्वप्न - समान ।
अपना इसमें मानना, ही है मिथ्या - ज्ञान ॥

(११२)

जो धन साथ चले नहीं, यहीं पड़ा रह जाय ।
रोना - धोना भी पड़े, फिर भी तजा न जाय ॥

(११३)

भौतिक सुख की लालसा, रखने से दुख होय ।
तीव्रेच्छा रख मोक्ष की, प्राप्ति करे सुख होय ॥

(११४)

असली तो है ज्ञान - धन, जो अविभाज्य अनन्त ।
सज्जन - मन धारे नहीं, आखिर जिसका अन्त ॥

(११५)

बुद्धि की विपरीतता, देती दुख में डाल ।
तब कुछ वश चलता नहीं, निकट नाश का काल ॥

(११६)

आलस अवगुण पाप है, पुरुपारथ गुण पुण्य ।
पुरुपारथ पूरक सकल, आलस केवल शून्य ॥

(११७)

कमल - पत्र जल ऊपरे, जड़ है कीच अथाह ।
पता न कोई पा सके, ज्यों यह मोह-प्रवाह ॥

(११८)

आज राज के काल में, न्याय - अन्याय सब तुल्य ।
तुला - फलक - सम जाणिए, नहिवत् मूल्य अमूल्य ॥

(११९)

वजनदार नीचो रहे, खाली चढ़े आकाश ।
अद्भुत नीति - न्याय की, तुला ! तिहारे पास ॥

(१२०)

खरे - खोटे में देखिए, अन्तर है दिन - रात ।
लगी मुलम्मा वस्तु है, अथवा है साक्षात् ॥

(१२१)

सज्जन - प्रीति पराग - सम, दश दिशि में महकन्त ।
दुर्जन - दिल मुरदार हो, सहृदय जन हर्षन्त ॥

(१२२)

स्नेह न उससे कीजिए, जो न निभे दिन चार ।
वटतां - वटतां टूटजा, वे धागा बेकार ॥

(१२३)

समझ विना जाने सदा, असत्य को ही सत्य ।
पीतल कंचन जो कहीं, होत अनित्य न नित्य ॥

(१२४)

ज्ञानी के वह ज्ञान में, अघ जो गुप्त अनन्त ।
बुरी - भली हो मुखाकृति, दर्पण ज्यों दर्शन्त ॥

(१२५)

समता आतम - धर्म है, तामस है पर - धर्म ।
अच्छा अपने आप में, रहना समझो मर्म ॥

(१२६)

समता स्व - स्वभाव है, तामस विषम विभाव ।
सोच - समझ कर खेलिए, जीत - हार का दाव ॥

चेतना का एक गूढ़ और प्रबल आवेग होता है, अनुभूति इसी आवेग की यथार्थ व साकार प्रतिमा होती है। (अभिव्यक्ति की क्षमता वाली) अपनी अनुभूतियों को कवि अपने हृदय-रस में सराबोर कर, शब्द व अर्थ के द्वारा (साहित्य रूप में) व्यक्त करता है। उक्त अनुभूति सहृदय-व्यक्ति के लिए संवेद्य हो जाती है, फलतः सहृदय-व्यक्ति की रस-चेतना जागृत होती है और उसे आनन्द की उपलब्धि होती है। उक्त अनुभूति को व्यक्त करते हुए कवि को भी अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अस्तु,

यहाँ प्रश्न है—जैन धर्म व दर्शन राग-द्वेष को उच्छिन्न करने का बारम्बार उद्घोष करता है।[११] मुमुक्षु के लिए आत्मा के अलावा सभी वस्तुओं को अनुपादेय माना गया है,[१२] अतः आत्मा, परमात्मा या संयम-मार्ग को छोड़कर अन्य किसी के साथ सम्बन्ध रखना त्याज्य बताया गया है।[१३] ऐसी स्थिति में, अनात्म-पदार्थों के साथ स्थापित रागादि सम्बन्ध पर आधारित अनुभूति या उससे उद्गत काव्य-रचना का जैन मुनि के लिए किस प्रकार औचित्य हो सकता है?

जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है—यह सत्य है कि जैन धर्म का लक्ष्य पूर्ण 'निवृत्ति' है। किन्तु इसमें 'प्रवृत्ति' को कोई स्थान नहीं—यह समझना भी भूल होगी। वास्तव में, जैन-साधना समीचीन 'प्रवृत्ति' मार्ग से ही निवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर होने की एक कला है। सर्वप्रथम जैन साधक असत्प्रवृत्तियों से निवृत्ति (विरति) कर सत्प्रवृत्तियों (शुभोपयोगी क्रियाओं) में तत्पर होता है,[१४] उसकी प्रवृत्तियाँ तब आत्मकल्याण के साथ-साथ पर-कल्याणकारी भी होती हैं। तदनन्तर, साधक उक्त सत्प्रवृत्तियों को भी वैराग्य व अनासक्ति के धरातल पर क्रमशः बढते हुए, इस प्रकार नियोजित करता है ताकि बहिर्मुखता में क्रमशः कमी तथा अन्तर्मुखता में वृद्धि होती जाए, और अन्तर्मुखता को ध्यान व समाधि में परिणत करते हुए शुद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त कर ले।[१५] अन्तर्मुखी साधक (मुनि) अनगार होकर तपस्या का जीवन जीता है, उसकी दिनचर्या में ध्यान व स्वाध्याय का सुन्दर समन्वय रहता है।[१६] वह यथाशक्ति आत्म-साधना में लीन रहता है, किन्तु ध्यान न हो सकने की स्थिति में ध्यानोपयोगी एकाग्रता की साधना के लिए 'स्वाध्याय' करता है।[१७] शास्त्र-व्यसन के कारण सभी विषयादि के व्यसन स्वतः बाधित हो जाते हैं।[१८] 'स्वाध्याय' के अन्तर्गत ही वह धर्मकथा, धर्मोपदेश आदि कार्य करता है।[१९] विषय-विरक्त मुनि सांसारिक प्रवृत्तियाँ करता हुआ दृष्टिगोचर हो तो भी उसे 'निवृत्ति-धर्म' का अनुगामी ही समझा जाता है।[२०] सामान्यतः निकाचित कर्म के उदय से उसे बाह्य कार्यों में रति, और सातावेदनीय कर्म के उदय से बाह्य पदार्थों में प्रीति होती है।[२०] राग के पूर्ण क्षय न हो सकने के कारण, वह अपने अनुराग को अपने से गुणाधिक जनों (गुरु अर्हद् आदि) के प्रति लगाता है,[२१] तथा धर्म-चर्चा, परोपदेश, व सन्मार्ग-दर्शन आदि परोपकार में एवं गुरु-सेवा, संघ-कल्याण आदि प्रशस्त कर्मों (शुभोपयोगी क्रियाओं) में अनुरक्त रहता है।[२२] जैनाचार्यों के मत में उक्त क्रियाएँ मुनि के लिये 'सच्चेष्टा' रूप हैं,[२३] और ये (शुद्धोपयोग) ध्यान रूपी कूप को सतत भरने वाली जल-स्रोतसिका का काम करती हैं।[२४] उपयोगिता की दृष्टि से उक्त 'प्रवृत्ति' भी निवृत्ति की तरह कल्याणकारी होती है।[२५]

जैन मुनि आत्म-कल्याण तो करता ही है, यथाशक्ति परोपकार करने का भी प्रयत्न करता है।[२६] वह अपरिग्रही या अल्प-परिग्रही रहता है, इसलिए वह धन-दौलत देकर तो किसी का उपकार

कर नहीं सकता। उसके पास तो ज्ञान-निधि रहती है, उसी को देकर वह परोपकार करता है। वास्तव में, सन्मार्ग-दर्शन से बढ़कर कोई परोपकार हो भी नहीं सकता।[२७] जैन मुनि में निसर्गतः जिनोपदिष्ट आगमों व उनमें प्रतिपादित कल्याणकारी मार्ग के प्रति अनुराग (प्रवचन-भक्ति) रहता है, वही शुभोपयोगात्मक क्रिया—परोपदेश के रूप में व्यक्त होता है।[२८]

कवि-हृदय मुनि पंच परमेष्ठी (तीर्थंकर, आचार्य, गुरु आदि) के प्रति भक्ति-भाव के साथ अपने उद्‌गार प्रकट करता है तो वे स्तुति, स्तोत्र आदि के रूप में जन-जन के लिए गेय व पठनीय हो जाते हैं। इन स्तुतियों का पाठ कर सामान्य जन भी स्वकल्याण करते हैं।

मुनि, भक्ति-रस से अतिरिक्त अन्य रसों वाले काव्यों की रचना भी करता है, किन्तु उस रचना में भी उसका उद्देश्य अध्यात्म-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना निहित होता है। सामान्यतः मुनि की भाषा (भाषा-समिति के अनुरूप) पर-हितकारिणी ही होती है। यही कारण है कि शृंगार-प्रधान जैन काव्यों में भी कर्म-सिद्धान्त के साथ-साथ, काम-भोगों की निस्सारता तथा अन्ततः आत्म-साधना की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गई है। सामान्य जन को तात्त्विक ज्ञान की रूखी व कड़वी औषध काव्यात्मक सरसता में लपेट कर सहजतया ग्राह्य कराई जा सकती है। सदुपदेशात्मक क्रिया से उपदेशक व श्रोता—दोनों के शुभाध्यवसायों में वृद्धि, शुद्धोपयोग (ध्यानादि) की सिद्धि में सहायता[३०] और अशुभ-निवृत्ति होती है[३१]। इस दृष्टि से, कवि-हृदयी मुनि अपेक्षाकृत अधिक परोपकारी एवं शासन-प्रभावक सिद्ध होता है। उक्त पर-हितकारी (जिनादि-भक्ति, शासन-प्रभावना आदि) क्रियाओं से रागादि मल का क्षय, पुण्योपचय व पाप-क्षय होता है जो परम्परा या मुक्ति प्राप्त कराने में भी सहायक होती हैं।[३२]

आचार्यश्री का अध्यात्ममय कवित्व

जैन मुनि काव्य रच देता है। अन्य लोग उस काव्य को सराहें—ऐसी इच्छा उसकी नहीं होती।[३३] अपनी अनुभूति में जो विचार आए, उन्हें दम्भ रहित होकर[३४] उसने काव्य रूप में उतार दिया है। उक्त काव्य के गुणों का ख्यापन गुणग्राही सज्जनों द्वारा किया जाता है। किसी कवि ने यथार्थ ही कहा है—'सूतेऽम्भः कमलानि, तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत्' अर्थात् जल तो सिर्फ कमल पैदा करता है, यह तो हवा है जो उन कमलों की सुगन्ध को चतुर्दिक् फैलाती है (अलंकार चिन्तामणि-१/६)। कहना न होगा कि पूज्य आचार्य श्री जीतमल्ल जी महाराज ने जो काव्य-रचना की है, उसमें उक्त शुभोपयोगी प्रवृत्ति ने ही पृष्ठभूमि का कार्य किया है।

आचार्यश्री की सभी रचनाएँ अध्यात्म व भक्ति से पूरित हैं। योगी मुनि को अध्यात्म-रस-पेशल पद्यों के निर्माण व अनुशीलन में रुचि होती है।[३५] आचार्यश्री द्वारा रचित स्तुतियाँ वीतरागी व संयमी व्यक्तित्व पर ही केन्द्रित हैं। आराध्य में हृदय को लीन करने की सहज प्रवृत्ति से उनका उद्भव हुआ है। ये रचनाएँ श्रोता या पाठक के मन में भी शुभ भाव की वृद्धि करती हैं। धार्मिकता व अध्यात्म-रस से ओतप्रोत ऐसी कविताएँ ही मानव-कल्याणकारी होने से यथार्थतया प्रशंसा की पात्र होती हैं।[३६] जैनाचार्यों ने ऐसी ही उपदेशात्मक कविता के निर्माण की प्रेरणा दी है।[३७] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कविता-निर्माण में भी प्रशस्त ध्यान समाधि (चित्त की एकाग्रता) की अहंभूमिका

जागरूक सन्त हैं। उनका साहित्यक व्यक्तित्व निर्झर-युक्त पर्वत है जिसमें एक ओर मस्तिक का ज्ञान-गांभीर्य है, तो दूसरी ओर हृदय की ओजस्विनी भावुकता है।

पद्य-साहित्य की तरह उनका गद्य-साहित्य भी (जो हिन्दी में है) बहुत सुन्दर व मौलिक चिन्तन से पूर्ण है। उनके चिन्तन की शत-शत धाराएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूती हुई बही हैं। उनकी ओजस्विनी वाणी ने हजारों-लाखों भक्तों के लिए प्रेरणा-स्रोतस्विनी बहाई है। 'जनमानस को स्पंदित करता हुआ उनके स्वरों का लय जब उठता है तो अनुभवों की परतों के नीचे छिपी हुई संस्कारों की ऊष्मा जागृत हो उठती है। सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक, धार्मिक आदि प्रत्येक विषय पर उनके चिन्तन की धारा प्रवाहित हुई है। आध्यात्मिकता के पोषक होने से वे सुकवि की कोटि में परिगणित होने योग्य हैं।[४१]

आचार्य श्री धर्मसंघ और समाज के उन्नयन का भार अपने कन्धों पर लिए चल रहे हैं, विविध उत्तरदायित्वों, नैतिक जागरण की प्रवृत्तियों की व्यस्तताओं के बीच समय निकाल कर साहित्य-जगत को अपनी नई-नई कला-कृतियाँ समर्पित करते रहें—यही हमारी भावना है।

शान्त-रसिका कविता-वनिता के लीला-वन
(काव्य के विविध आयाम)

जैन आगमों में काव्य के चार प्रकार बताए गए हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, (३) कथ्य, और (४) गेय।[४२] जैनाचार्य श्री अजितसेन ने काव्य के ३ भेद माने हैं—(१) पद्य, (२) गद्य और (३) मिश्रित।[४३] आचार्य श्री जीतमल जी महाराज द्वारा कृत-कृतियाँ पद्यात्मक काव्य की कोटि में आती हैं।

जैनाचार्य अजितसेन (ई. १३ वीं शती का उत्तरार्द्ध) के मत में कवि लोकोपकारी काव्य का रचयिता होता है।[४४] आचार्य जिनसेन (९ वीं शती ई.) के अनुसार धर्मानुबन्धिनी कविता ही प्रशस्त होती है।[४५] इसलिए जैन शास्त्रों में धर्मोपदेशात्मक काव्य की ही रचना हेतु प्रेरणा दी गई है।[४६]

किसी काव्य की धर्मोपदेश-परकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह पढ़े जाने के बाद पाठक पर क्या प्रभाव छोड़ता है; या किस ध्येय के लिए प्रेरित करता है। अगर वह लोकोत्तर धर्म की ओर रुचि जागृत करता है, पाठक में उत्तम संस्कार (वितृष्णा, वैराग्य, निष्परिग्रहता आदि)[४७] जागृत करता है तो वह वस्तुतः लोकोपकारी है।

काव्य की आत्मा 'रस' होती है। सब रसों में, लोकोत्तर धर्म-साधना की दृष्टि से शान्त-रस का वैशिष्ट्य सर्वविदित है। जैन-आचार्यों के मत में शृंगारादि रस (शान्त को छोड़कर) वास्तव में लोगों को व्यामोह व दुःख उत्पन्न करते हैं।[४८] जैन मुनि 'अरतिवाक्' (शब्दादि विषयों में अरति-उत्पादक) तथा 'सम्यग्दर्शनवाक्' (सम्यग्मार्ग का उपदेशक वाक्य) बोलता है,[४९] अतः उसके द्वारा शृंगारादि रसों के काव्य के निर्माण में रुचि नहीं होती। शान्त-रस का आधार है—शम या निर्वेद रूप का प्रकर्ष।[५०] उसका सम्बन्ध निवृत्ति-धर्म मे है।[५१] शम या निर्वेद ही शान्त-रस का स्थायीभाव है।[५२] शान्त-रस के आलम्बन

हैं—जिनेन्द्र या आचार्यादि परमेष्ठी। विभाव है—शास्त्रानुशीलन आदि। अनुभाव हैं—समता भाव। व्यभिचारी (संचारी) भाव हैं—निर्वेद (वैराग्य) आदि।[५३]

जैन दर्शनानुसार ज्ञानावरण व वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से इन्द्रिय व मन के द्वारा प्राणी को संवेदन या इन्द्रिय-ज्ञान होता है। संवेदन में वेदनीय कर्म के कारण सुखमय या दुःखमय होने की क्षमता होती है। अतः उक्त संवेदन वेदनीय-सहकृत मोहनीय कर्म के कारण हर्ष, विषादादि से जुड़ कर विविध चिद्वृत्ति रूप आत्म-पर्यायों को उत्पन्न करते हैं। इन पर्यायों को ही रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम—इन नौ मूल स्थायीभावों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। उक्त स्थायी-भावों से ही विविध शृंगार आदि रसों की उत्पत्ति होती है।

उक्त प्रशम भाव जैन मुनि के स्वभाव में स्वतः निहित होता है, क्योंकि प्रशम 'सम्यक्त्व' का चिन्ह है,[५४] और इसी का उत्कृष्ट रूप ज्ञानगर्भित प्रशम होता है।[५५] उक्त उपशम या शम को श्रमणत्व का सार माना गया है।[५६] प्रशम, वैराग्य, मध्यस्थता — ये एकार्थक हैं।[५७] प्रशम का अर्थ है—चित्तप्रसन्नता,[५८] या रागादि दोषों की शान्ति।[५९] शम या वैराग्य-भावना एक नदी है,[६०] जिसके जल-प्रवाह से पाप धुल जाते हैं।[६१] प्रशम का आलम्बन लेकर मन को अधीन करता हुआ विषयविरक्त मुनि धर्मध्यान का ध्याता[६२] होता है और सुख का अनुभव करता है।[६३]

प्रशम-निधि के धनी आचार्य श्री ने विविध विषयों पर अपनी भावानुभूति को काव्य रूप दिया है। आचार्य श्री द्वारा रचित स्फुट संस्कृत-कविताएँ २० से ऊपर शीर्षकों में विभाजित हैं। समस्त पद्यों की संख्या २२८ है। उन सब में प्रायः शान्त-रस छलछला रहा है। उन सब को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

(१) **परमेष्ठी-भक्तिपरक** (कुल-१२५ पद्य)

- (अ) तीर्थंकर (कुल ५१ पद्य)
  - (१) चतुर्विंशति जिनस्तुति[1]
  - (२) 'तीर्थंकर-विशेष'-स्तुति[2]
- (आ) आचार्य/मुनि/गुरु—स्तुति एवं श्रद्धाञ्जलि[3] (कुल ७४ पद्य)
- (इ) महासती-स्तुति[4] (कुल ८ पद्य)

---

१. (अ) चतुर्विंशति तीर्थंकर-स्तुति (९ पद्यों में)।
(आ) चतुर्विंशति जिन-स्तुति (२५ पद्यों में)।
(इ) चतुर्विंशति जिन-स्तुति (४ पद्यों में)।

२. (अ) अजितजिन-स्तुति (५ पद्यों में)।
(आ) वीर-स्तव (८ पद्यों में)।

३. (अ) प्रणामांजलय (८ पद्यों में) गुरुदेव स्वामी श्री नथमलजी म. के प्रति।
(आ) कारक श्रद्धांजलि (९ पद्यों में) श्रुताचार्य मुनि (गुरु) चौथमल जी म. (वि. सं. १९४७-२००९) के प्रति।

जागरूक सन्त हैं। उनका साहित्यक व्यक्तित्व निर्भर-युक्त पर्वत है जिसमें एक ओर मस्तिक का ज्ञान-गांभीर्य है, तो दूसरी ओर हृदय की ओजस्विनी भावुकता है।

पद्य-साहित्य की तरह उनका गद्य-साहित्य भी (जो हिन्दी में है) बहुत सुन्दर व मौलिक चिन्तन से पूर्ण है। उनके चिन्तन की शत-शत धाराएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूती हुई बही हैं। उनकी ओजस्विनी वाणी ने हजारों-लाखों भक्तों के लिए प्रेरणा-स्रोतस्विनी बहाई है। जनमानस को स्पंदित करता हुआ उनके स्वरों का लय जब उठता है तो अनुभवों की परतों के नीचे छिपी हुई संस्कारों की ऊष्मा जागृत हो उठती है। सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक, धार्मिक आदि प्रत्येक विषय पर उनके चिन्तन की धारा प्रवाहित हुई है। आध्यात्मिकता के पोषक होने से वे सुकवि की कोटि में परिगणित होने योग्य हैं।[४१]

आचार्य श्री धर्मसंघ और समाज के उन्नयन का भार अपने कन्धों पर लिए चल रहे हैं, विविध उत्तरदायित्वों, नैतिक जागरण की प्रवृत्तियों की व्यस्तताओं के बीच समय निकाल कर साहित्य-जगत को अपनी नई-नई कला-कृतियाँ समर्पित करते रहें—यही हमारी भावना है।

शान्त-रसिका कविता-वनिता के लीला-वन
(काव्य के विविध आयाम)

जैन आगमों में काव्य के चार प्रकार बताए गए हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, (३) कथ्य, और (४) गेय।[४२] जैनाचार्य श्री अजितसेन ने काव्य के ३ भेद माने हैं—(१) पद्य, (२) गद्य और (३) मिश्रित।[४३] आचार्य श्री जीतमल जी महाराज द्वारा कृत-कृतियाँ पद्यात्मक काव्य की कोटि में आती हैं।

जैनाचार्य अजितसेन (ई. १३ वीं शती का उत्तरार्द्ध) के मत में कवि लोकोपकारी काव्य का रचयिता होता है।[४४] आचार्य जिनसेन (९ वीं शती ई.) के अनुसार धर्मानुबन्धिनी कविता ही प्रशस्त होती है।[४५] इसलिए जैन शास्त्रों में धर्मोपदेशात्मक काव्य की ही रचना हेतु प्रेरणा दी गई है।[४६]

किसी काव्य की धर्मोपदेश-परकता इस बात पर निर्भर करती है कि वह पढ़े जाने के बाद पाठक पर क्या प्रभाव छोड़ता है; या किस ध्येय के लिए प्रेरित करता है। अगर वह लोकोत्तर धर्म की ओर रुचि जागृत करता है, पाठक में उत्तम संस्कार (वितृष्णा, वैराग्य, निष्परिग्रहता आदि)[४७] जागृत करता है तो वह वस्तुतः लोकोपकारी है।

काव्य की आत्मा 'रस' होती है। सब रसों में, लोकोत्तर धर्म-साधना की दृष्टि से शान्त-रस का वैशिष्ट्य सर्वविदित है। जैन-आचार्यों के मत में शृंगारादि रस (शान्त को छोड़कर) वास्तव में लोगों को व्यामोह व दुःख उत्पन्न करते हैं।[४८] जैन मुनि 'अरतिवाक्' (शब्दादि विषयों में अरति-उत्पादक) तथा 'सम्यग्दर्शनवाक्' (सम्यग्मार्ग का उपदेशक वाक्य) बोलता है,[४९] अतः उसके द्वारा शृंगारादि रसों के काव्य के निर्माण में रुचि नहीं होती। शान्त-रस का आधार है—शम या निर्वेद रूप का प्रकर्ष।[५०] उसका सम्बन्ध निवृत्ति-धर्म मे है।[५१] शम या निर्वेद ही शान्त-रस का स्थायीभाव है।[५२] शान्त-रस के आलम्बन

(२) **सामयिक अनुभूतिपरक** (कुल ४२ पद्य)

(अ) हर्षात्मक[५] (कुल १९ पद्य)

(आ) शोक प्रदर्शन[६] (कुल ८ पद्य)

(इ) तटस्थ-समीक्षण[७] (कुल १५ पद्य)

(३) **काव्य विलासात्मक** (कुल ५३ पद्य)

(अ) समस्या-पूर्ति[८] (कुल ७ पद्य)

(आ) पाद-पूर्ति[९] (कुल ४६ पद्य)

(इ) विरोधाभासालंकाराष्टकम् (९ पद्यों में) गुरुदेव स्वा. नथमल जी तथा श्रुताचार्य गुरुवर्य श्री चौथमल जी म. के प्रति।

(ई) चन्द्रस्वामि स्मरणांजलि (२५ पद्यों में) गुरुभ्राता श्री चांदमल जी म (मृत्यु २९-१०-६८ ई.) के प्रति।

(उ) महास्थविर श्री ताराचन्द्रमुनिसंस्मरण (२ पद्यों में)

(ऊ) श्रद्धांजलिसप्तक (७ पद्यों में) जैनागममहोदधि के प्रकांड व्याख्याता आ. श्री आत्माराम जी म. (वि. सं. १९३९-२०१८) के प्रति।

(ऋ) गुरु स्तुति (७ पद्यों में) स्वामी चौथमल जी म. सा. के प्रति।

(ए) श्री रत्न श्रद्धांजलि (६ पद्यों में) पूज्य श्री रत्नचन्द्र जी म. के प्रति।

(ऐ) मंगलाचरण (१ पद्य में) जयगच्छीय पूर्वाचार्य-नमस्कार।

४. (अ) षोडशसती स्तोत्र (७ पद्य)। सोलह सतियों की स्तुति।

५. (अ) दीपावली पर्व (८ पद्यों में)।

(आ) पर्युषण पर्व (५ पद्यों में)।

(इ) आचार्यपदमहोत्सव-मंगलकामना (६ पद्यों में) पूज्यश्री पृथ्वीचन्द्र जी म. के आचार्य-पदारोहण के अवसर पर।

६. शोकोच्छ्वासः (८ पद्यों में) पूज्य श्री सोहनलाल जी म. के अवसान पर।

७. (अ) साधु-समाज (६ पद्यों में)।

(आ) स्वागताष्टकम् (९ पद्यों में) अजमेर सम्मेलन में साधु-समाज का स्वागत।

८. (अ) केन वा लंघनीयः (१ पद्य)।

(आ) न जहाति चेतः (१ पद्य)।

(इ) सारस्वतं वैभवम् (१ पद्य)।

(ई) शीतरश्मिरिव दृश्यते रविः (१ पद्य)।

(उ) चन्द्रः प्रवालप्रभः (१ पद्य)।

(ऊ) शेमुषी भक्तिरूपा (२ पद्य)।

९. जय भक्तामर (४६ पद्यों में) भक्तामर स्तोत्र के पाद की पूर्ति (आचार्य श्री जयमल जी म. की स्तुति)।

(१) भक्तिपरक कृतियाँ

भक्तिपरक कृतियों में १३ रचनाएँ कुल हैं जिनमें कुल पद्यों की संख्या १२५ है। इनमें अपने आराध्य तीर्थंकर देवों तथा श्रद्धेय पूर्वज गुण-गरिष्ठों. गुरुजनों के प्रति आदर व भक्ति-भाव से पूरित उद्गार हैं।

(अ) तीर्थंकरादि भक्ति—गुरूपासना व स्तुति को गृहस्थ व मुनि—दोनों के लिए निर्धारित[६४] षडावश्यकों में परिगणित किया गया है। मुनियों के लिए वन्दना व चतुर्विंशतिस्तव के रूप में[६५], तथा श्रावक के लिए गुरु-उपासना के रूप में[६६] इनकी आवश्यकता प्रतिपादित की गई है। श्रमण-वन्दना से दीर्घायुष्य-वन्ध होना शास्त्रों में वर्णित है।[६७]

भक्ति का अर्थ है—आराध्य के प्रति अपने आपको समग्रता से, अन्तर्हृदय की भावना से, समर्पित कर देना। भक्ति रागानुगा है, पर यह राग प्रशस्त है। भक्ति के माध्यम से आराधक अपने राग को वीतराग व्यक्तित्व में समाहित कर देता है। भक्ति वीतरागता की प्राप्ति में प्रथम चरण है। यह कार्य वैसा ही है जैसे कोई किसी नदी की धारा को विशाल मरुस्थल की ओर प्रवाहित कर जल को ही सुखा दे।

भक्ति में अनुराग के साथ भाव-विशुद्धि का होना अपेक्षित है।[६८] भक्ति व प्रीति में भी अन्तर है। आ. हरिभद्र के अनुसार आराध्य को पत्नीवत् मान कर (सूफी संतों की तरह) किया अनुराग 'प्रीति' होता है और मातृवत् मानकर किया गया अनुराग 'भक्ति' है।[६९]

भक्त स्तुति या स्तव के माध्यम से अपने आराध्य के गुणों की प्रशंसा करता हुआ अपनी प्रणति व्यक्त करता है[७०], और ज्ञानदर्शन-चारित्र का बोधिलाभ करता है।[७१] उसका चंचल चित्त स्थिर या एकाग्र होता है और वह चित्त की निर्मलता[७२], शुभ भावों में वृद्धि[७३] तथा दर्शन-विशुद्धि[७४] भी प्राप्त करता है।

भक्ति अपने चरम-प्रकर्ष में ध्यान रूप परिणत होती हुई[७५] मोक्ष-प्राप्ति तक कराने में समर्थ है।[७६]

आ. श्री जीतमलजी म. ने भक्ति के महत्त्व को अपने काव्य में भी व्यक्त किया है—

> भ्रान्तोऽस्म्यनन्तभवतो भवपंकतो वा,
> भक्तिस्तथापि तव मां तु समुद्धरेत। (वीर स्तव, ७)

—हे जिनेन्द्र ! मैं अनन्त भवों में भ्रमण कर चुका हूँ। इस संसार-पंक से आपकी भक्ति ही मेरा उद्धार कर सकती है।

कवि-हृदय अपने सम्पूर्ण ज्ञान-वैभव की सार्थकता भगवान् की स्तुति में ही समझता है—

> मन्ये सारमहं जिनस्तवनकं सारस्वतं वैभवम्।
> (समस्यापूर्ति-सारस्वतं वैभवम्)

कवि अपनी प्रतिभा व बुद्धि-कौशल को जिन-भक्तिपरक बनाने की अभिलाषा भी प्रकट करता है —

जयति जयि जिनेशाजेय कान्तिप्रकान्त--
प्रणत सुर नरेन्द्रावन्द्य पादारविन्दे ।
भविजनवृजिनौघं हन्ति मूर्धा च तस्मिन् ,
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ।।
(समस्यापूर्ति-'शेमुषी भक्तिरूपा')

(आ) गुरु–भक्ति

शास्त्रों में गुरु की भूरि-भूरि महत्ता प्रतिपादित की गई है। गुरु के बिना इस संसार-सागर को पार करना सम्भव नहीं होता।[७७] अज्ञान का नाश तथा गुणों का विकास गुरु के ऊपर निर्भर है।[७८] गुरु अनुशास्ता होता है।[७९] उसका कार्य होता है—शिष्य की अज्ञान रूपी गहरी नींद में सोई आत्मा को, उसके व्यक्तित्व को जगा देना, सम्बल देना और मंगलमय अन्तर्यात्रा की ओर ले चलना। जैनागमों के अनुसार शिष्य भी पुत्रवत् माना गया है।[८०] इसीलिए माता-पिता की तरह ही गुरु भी आदरणीय होता है। किसी भी व्यक्ति के उपकार को भूलना सज्जन के लिए उचित नहीं होता,[८१] फिर सन्मार्ग-दर्शक गुरु का तो उपकार प्रतीकार्य नहीं है।[८२] आगमों के अनुसार भी माता, पिता, धर्माचार्य 'दु:प्रतीकार्य' हैं।[८३] इन सब में भी, आ. उमास्वामी के अनुसार गुरु की महत्ता (माता-पिता से भी) कहीं बढ़ कर है, क्योंकि गुरु का उपकार न इस लोक में और न परलोक में ही प्रतीकार्य है।[८४] गुरु-कृपा से कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहता।[८५] गुरु के प्रति विनय 'संवर' का साधन माना गया है।[८६] आचार्यादि के सद्भूत गुणों को उजागर करने से सुलभ बोधिकारक कर्म उपार्जित होता है।[८७] गुरु-विनय की महत्ता शास्त्रों में अनेक स्थलों में प्रतिपादित की गई है।[८८]

दो-चार अक्षर पढ़ाने वाले गुरु को भी आदर देना उचित है,[८९] तो समस्त/विविध शास्त्रों के मर्म को हृदयंगम कराने वाले तथा मुक्तिदायिनी प्रव्रज्या देने वाले गुरु के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त न करना अत्यन्त अनुचित या अकृतज्ञता[९०] कहा जाएगा।

आ. श्री जीतमल जी म. उन विशिष्ट पुरुषों में हैं जो स्वयं भी गुरु-जनों का सम्मान व सत्कार करते हैं, और दूसरों से भी वैसा करवाते हैं (प्रेरित करते हैं)।[९१] आचार्य श्री ने अपने दीक्षा व शिक्षा के गुरुओं (स्वामी श्री नथमल जी तथा श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म) के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है। उनका यह कार्य जिनस्तुति ही है, क्योंकि जैन साधु को जिनेन्द्र का लघुनन्दन' कहा जाता है,[९२] और शास्त्रों में भी मुनि/साधु की उपासना व भक्ति को जिन-उपासना भक्ति के तुल्य माना गया है।[९३]

आचार्य-श्री ने गुरु की गरिमा को स्वयं अगम्य बताया है : —

अगम्यरूपो गरिमा गुरो ते ।
('प्रणामांजलय:' का ८वां पद्य)

उन्होंने अपने पूर्वज आचार्य-गुरुजनों को (प्रारम्भिक मंगलाचरण में) 'त्रिदिवापवर्गसुखद' (स्वर्ग व मुक्ति के सुख को प्राप्त कराने वाले) कह कर अपने आदर को व्यक्त किया है। विनयावनत कविहृदय ने स्वतन्त्र स्तोत्रों के अलावा 'अर्हत्स्तुति' में भी यत्र-तत्र अपने गुरुजनों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

कवि अपनी प्रतिभा व बुद्धि-कौशल को जिन-भक्तिपरक बनाने की अभिलाषा भी प्रकट करता है —

जयति जयि जिनेशाजेय कान्तिप्रकान्त —
प्रणत सुर नरेन्द्रावन्द्य पादारविन्दे ।
भविजनवृजिनौघं हन्ति मूर्वा च तस्मिन् ,
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥
(समस्यापूर्ति-'शेमुषी भक्तिरूपा',

(आ) गुरु-भक्ति

शास्त्रों में गुरु की भूरि-भूरि महत्ता प्रतिपादित की गई है। गुरु के बिना इस संसार-सागर को पार करना सम्भव नहीं होता।[७७] अज्ञान का नाश तथा गुणों का विकास गुरु के ऊपर निर्भर है।[७८] गुरु अनुशास्ता होता है।[७९] उसका कार्य होता है—शिष्य की अज्ञान रूपी गहरी नींद में सोई आत्मा को, उसके व्यक्तित्व को जगा देना, सम्बल देना और मंगलमय अन्तर्यात्रा की ओर ले चलना। जैनागमों के अनुसार शिष्य भी पुत्रवत् माना गया है।[८०] इसीलिए माता-पिता की तरह ही गुरु भी आदरणीय होता है। किसी भी व्यक्ति के उपकार को भूलना सज्जन के लिए उचित नहीं होता.[८१] फिर सन्मार्ग-दर्शक गुरु का तो उपकार प्रतीकार्य नहीं है।[८२] आगमों के अनुसार भी माता, पिता, धर्माचार्य 'दु:प्रतीकार्य' हैं।[८३] इन सब में भी, आ. उमास्वामी के अनुसार गुरु की महत्ता (माता-पिता से भी) कहीं बढ़ कर है, क्योंकि गुरु का उपकार न इस लोक में और न परलोक में ही प्रतीकार्य है।[८४] गुरु-कृपा से कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहता।[८५] गुरु के प्रति विनय 'संवर' का साधन माना गया है।[८६] आचार्यादि के सद्भूत गुणों को उजागर करने से सुलभ बोधिकारक कर्म उपार्जित होता है।[८७] गुरु-विनय की महत्ता शास्त्रों में अनेक स्थलों में प्रतिपादित की गई है।[८८]

दो-चार अक्षर पढ़ाने वाले गुरु को भी आदर देना उचित है,[८९] तो समस्त/विविध शास्त्रों के मर्म को हृदयंगम कराने वाले तथा मुक्तिदायिनी प्रव्रज्या देने वाले गुरु के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त न करना अत्यन्त अनुचित या अकृतज्ञता[९०] कहा जाएगा।

आ. श्री जीतमल जी म. उन विशिष्ट पुरुषों में हैं जो स्वयं भी गुरु-जनों का सम्मान व सत्कार करते हैं, और दूसरों से भी वैसा करवाते हैं (प्रेरित करते हैं)।[९१] आचार्य श्री ने अपने दीक्षा व शिक्षा के गुरुओं (स्वामी श्री नथमल जी तथा श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म) के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है। उनका यह कार्य जिनस्तुति ही है, क्योंकि जैन साधु को जिनेन्द्र का लघुनन्दन' कहा जाता है,[९२] और शास्त्रों में भी मुनि/साधु की उपासना व भक्ति को जिन-उपासना भक्ति के तुल्य माना गया है।[९३]

आचार्य-श्री ने गुरु की गरिमा को स्वयं अगम्य बताया है : —

अगम्यरूपो गरिमा गुरो ते।
('प्रणामांजलय:' का ८वां पद्य)

उन्होंने अपने पूर्वज आचार्य-गुरुजनों को (प्रारम्भिक मंगलाचरण में) 'त्रिदिवापवर्गसुखद' (स्वर्ग व मुक्ति के सुख को प्राप्त कराने वाले) कह कर अपने आदर को व्यक्त किया है। विनयावनत कविहृदय ने स्वतन्त्र स्तोत्रों के अलावा 'अर्हत्स्तुति' में भी यत्र-तत्र अपने गुरुजनों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

अपने गुरुजनों—स्वामी श्री नथमलजी म. तथा शिक्षा-दीक्षागुरु मुनि श्री चौथमलजी म.* के प्रति उन्होंने स्वतन्त्र स्तुतियां लिखी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी उन्होंने प्रसंगोचित अपने गुरुजनों का स्मरण किया है। जैसे— स्वामी श्री नथमल जी म. का—'प्रणामांजलयः' के प्रथम पद्य में, तथा श्रुताचार्य मुनि श्री चौथमल जी म. का (i) 'जय भक्तामर' के ४५वें पद्य मे, (ii) 'पर्युषण पर्व' के ५वें पद्य में, (iii) 'दीपावली पर्व' के ८ वें पद्य में श्रद्धासहित स्मरण किया गया है।

अपने गुरु श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. को 'शुद्धाशय', 'सुभग-संयमी', 'नियम व यम आदि में निरत शान्त' ('जय भक्तामर' के ४५वें पद्य में), 'आगमतत्त्वविज्ञ' ('पर्युषणपर्व' के पद्य-सं. ५ में) बताते हुए उनकी गरिमा व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, जिससे कवि के ज्ञान-विनय[६४], कृतज्ञता[६५], तथा 'वर्णजननता'[६६] या 'वर्णसंज्वलनता'[६७] का समर्थन होता है।

इस सन्दर्भ में गुरुभ्राता श्री चाँदमल जी म. की स्मृति में 'श्री चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि' तथा जैनागम-मर्मज्ञ आ. आत्मारामजी म. के प्रति 'श्रद्धांजलि-सप्तक', एवं महास्थविर[६८] ताराचन्दजी म. के प्रति 'संस्मरण' — उनके द्वारा विरचित आलोच्य कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्यश्री ने अपनी गच्छ-परम्परा के प्रवर्तक पूज्य श्री जयमल्ल जी महाराज (वि. सं. १७६५-१८५३) तथा उनके द्वारा प्रवर्तित गच्छ-परम्परा के गौरव को भी 'नितान्त अच्छ' (निर्मल, सुन्दर) कह कर व्यक्त किया है —

(१) आचार्यवर्यस्य जयस्य गच्छे (श्री चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि, पद्य - ३)

(२) नितान्तमच्छे जयमल्ल-गच्छे (कारक श्रद्धांजलि, पद्य - १)

अपने पूर्वज गुरुजनों को 'सप्तर्षि'[६९] की उपमा देकर ('साक्षाद्धि सप्तर्षयः'—प्रथम मंगलाचरण) उन्होंने श्रमण-नभोमण्डल में उनके विशिष्ट स्थान को सूचित किया है।

(इ) षोडशसती स्तोत्र

आचार्यश्री की भारतीय नारी के प्रति आदर की भावना उच्चकोटि की है। इस बात की पुष्टि 'न जहाति चेतः' की समस्यापूर्ति में उनके द्वारा व्यक्त किए उद्गार से होती है —

सुजीर्णवस्त्रा वसुनापि हीना,
प्रपीडिता पत्यवमानिता च।
रुग्णा सती यास्ति तथापि तस्याः,
पत्युः सुसेवां न जहाति चेतः॥

—अर्थात् (भारतीय) नारी पति की सेवा के अलावा अन्यत्र कहीं अपना मन अनुरक्त नहीं करती, भले हीं पति उसे अपमानित/प्रताड़ित/पीड़ित करे, पहनने को जीर्ण-शीर्ण कपड़े दे, पैसा भी

* इन्हें दीक्षा श्रुताचार्य श्री चौथमलजी द्वारा दी गई थी, किन्तु उन्होंने अपने गुरु श्री नथमलजी म. के नाम पर ही शिष्यता घोषित की थी। (द्र. जय गुंजार, जुलाई-१९७८, पृ. १४)। शिष्यों के प्रकार हेतु देखें—स्थानांग-४-३/४२४-२५

कवि अपनी प्रतिभा व बुद्धि-कौशल को जिन-भक्तिपरक बनाने की अभिलाषा भी प्रकट करता है —

जयति जयि जिनेशाजेय कान्तिप्रकान्त --
प्रणत सुर नरेन्द्रावन्द्य पादारविन्दे ।
भविजनवृजिनौघं हन्ति मूर्धा च तस्मिन् ,
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥
(समस्यापूर्ति-'शेमुषी भक्तिरूपा')

(आ) गुरु–भक्ति

शास्त्रों में गुरु की भूरि-भूरि महत्ता प्रतिपादित की गई है। गुरु के बिना इस संसार-सागर को पार करना सम्भव नहीं होता।[७७] अज्ञान का नाश तथा गुणों का विकास गुरु के ऊपर निर्भर है।[७८] गुरु अनुशास्ता होता है।[७९] उसका कार्य होता है—शिष्य की अज्ञान रूपी गहरी नींद में सोई आत्मा को, उसके व्यक्तित्व को जगा देना, सम्बल देना और मंगलमय अन्तर्यात्रा की ओर ले चलना। जैनागमों के अनुसार शिष्य भी पुत्रवत् माना गया है।[८०] इसीलिए माता-पिता की तरह ही गुरु भी आदरणीय होता है। किसी भी व्यक्ति के उपकार को भूलना सज्जन के लिए उचित नहीं होता,[८१] फिर सन्मार्ग-दर्शक गुरु का तो उपकार प्रतीकार्य नही है।[८२] आगमों के अनुसार भी माता, पिता, धर्माचार्य 'दुःप्रतीकार्य' हैं।[८३] इन सब में भी, आ उमास्वामी के अनुसार गुरु की महत्ता (माता-पिता से भी) कहीं बढ़ कर है, क्योंकि गुरु का उपकार न इस लोक में और न परलोक में ही प्रतीकार्य है।[८४] गुरु-कृपा से कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहता।[८५] गुरु के प्रति विनय 'संवर' का साधन माना गया है।[८६] आचार्यादि के सद्भूत गुणों को उजागर करने से सुलभ बोधिकारक कर्म उपार्जित होता है।[८७] गुरु-विनय की महत्ता शास्त्रों में अनेक स्थलों में प्रतिपादित की गई है।[८८]

दो-चार अक्षर पढ़ाने वाले गुरु को भी आदर देना उचित है,[८९] तो समस्त/विविध शास्त्रों के मर्म को हृदयंगम कराने वाले तथा मुक्तिदायिनी प्रव्रज्या देने वाले गुरु के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त न करना अत्यन्त अनुचित या अकृतज्ञता[९०] कहा जाएगा।

आ. श्री जीतमल जी म. उन विशिष्ट पुरुषों में हैं जो स्वयं भी गुरु-जनों का सम्मान व सत्कार करते हैं, और दूसरों से भी वैसा करवाते हैं (प्रेरित करते हैं)।[९१] आचार्य श्री ने अपने दीक्षा व शिक्षा के गुरुओं (स्वामी श्री नथमल जी तथा श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म) के प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है। उनका यह कार्य जिनस्तुति ही है, क्योंकि जैन साधु को जिनेन्द्र का लघुनन्दन' कहा जाता है,[९२] और शास्त्रों में भी मुनि/साधु की उपासना व भक्ति को जिन-उपासना भक्ति के तुल्य माना गया है।[९३]

आचार्य-श्री ने गुरु की गरिमा को स्वयं अगम्य बताया है : —

अगम्यरूपो गरिमा गुरो ते ।
('प्रणामांजलयः' का ८वां पद्य)

उन्होंने अपने पूर्वज आचार्य-गुरुजनों को (प्रारम्भिक मंगलाचरण में) 'त्रिदिवापवर्गसुखद' (स्वर्ग व मुक्ति के सुख को प्राप्त कराने वाले) कह कर अपने आदर को व्यक्त किया है। विनयावनत कविहृदय ने स्वतन्त्र स्तोत्रों के अलावा 'अर्हत्स्तुति' में भी यत्र-तत्र अपने गुरुजनों का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

अपने गुरुजनों—स्वामी श्री नथमलजी म. तथा शिक्षा-दीक्षागुरु मुनि श्री चौथमलजी म.* के प्रति उन्होंने स्वतन्त्र स्तुतियां लिखी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी उन्होंने प्रसंगोचित अपने गुरुजनों का स्मरण किया है। जैसे – स्वामी श्री नथमल जी म. का—'प्रणामांजलय:' के प्रथम पद्य में, तथा श्रुताचार्य मुनि श्री चौथमल जी म. का (i) 'जय भक्तामर' के ४५वें पद्य मे, (ii) 'पर्युषण पर्व' के ५वें पद्य में, (iii) 'दीपावली पर्व' के ८ वें पद्य में श्रद्धासहित स्मरण किया गया है।

अपने गुरु श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. को 'शुद्धाशय'. 'सुभग-संयमी', 'नियम व यम आदि में निरत शान्त' ('जय भक्तामर' के ४५वें पद्य में), 'आगमतत्त्वविज्ञ' ('पर्युषणपर्व' के पद्य-सं. ५ में) बताते हुए उनकी गरिमा व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, जिससे कवि के ज्ञान-विनय[६४], कृतज्ञता[६५], तथा 'वर्णजननता'[६६] या 'वर्णसंज्वलनता'[६७] का समर्थन होता है।

इस सन्दर्भ में गुरुभ्राता श्री चाँदमल जी म. की स्मृति में 'श्री चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि' तथा जैनागम-मर्मज्ञ आ. आत्मारामजी म. के प्रति 'श्रद्धांजलि-सप्तक', एवं महास्थविर[६८] ताराचन्दजी म. के प्रति संस्मरण' — उनके द्वारा विरचित आलोच्य कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं।

आचार्यश्री ने अपनी गच्छ-परम्परा के प्रवर्तक पूज्य श्री जयमल्ल जी महाराज (वि. सं. १७६५-१८५३) तथा उनके द्वारा प्रवर्तित गच्छ-परम्परा के गौरव को भी 'नितान्त अच्छ' (निर्मल, सुन्दर) कह कर व्यक्त किया है —

(१) आचार्यवर्यस्य जयस्य गच्छे (श्री चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि, पद्य - ३)

(२) नितान्तमच्छे जयमल्ल-गच्छे (कारक श्रद्धांजलि, पद्य - १)

अपने पूर्वज गुरुजनों को 'सप्तर्षि'[६९] की उपमा देकर ('साक्षाद्धि सप्तर्षय:'—प्रथम मंगलाचरण) उन्होंने श्रमण-नभोमण्डल में उनके विशिष्ट स्थान को सूचित किया है।

(इ) षोडशसती स्तोत्र

आचार्यश्री की भारतीय नारी के प्रति आदर की भावना उच्चकोटि की है। इस बात की पुष्टि 'न जहाति चेत:' की समस्यापूर्ति में उनके द्वारा व्यक्त किए उद्गार से होती है —

सुजीर्णवस्त्रा वसुनापि हीना,
प्रपीडिता पत्यवमानिता च।
रुग्णा सती यास्ति तथापि तस्या:,
पत्यु: सुसेवां न जहाति चेत: ॥

—अर्थात् (भारतीय) नारी पति की सेवा के अलावा अन्यत्र कहीं अपना मन अनुरक्त नहीं करती, भले ही पति उसे अपमानित/प्रताड़ित/पीड़ित करे, पहनने को जीर्ण-शीर्ण कपड़े दे, पैसा भी

* इन्हें दीक्षा श्रुताचार्य श्री चौथमलजी द्वारा दी गई थी, किन्तु उन्होंने अपने गुरु श्री नथमलजी म. के नाम पर ही शिष्यता घोषित की थी। (द्र. जय गुंजार, जुलाई-१९७८, पृ. १४)। शिष्यों के प्रकार हेतु देखें—स्थानांग-४-३/४२४-२५

न दे। इतना ही नहीं, वह (नारी) स्वयं रोग-ग्रस्त हो तो भी वह पति-सेवा से विरक्त नहीं होती।

भारतीय इतिहास में उक्त सद्‌गुण-मण्डिता नारियों के अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। जैन आचार्य जिनसेन ने सज्ज्ञानी नारी को सृष्टि में श्रेष्ठ पद प्रदान किया है।[१००] उन अगनित सती नारियों में कुछ ने अपने धर्माराधना द्वारा पूजनीय स्थान प्राप्त किया है, उनमें सोलह सतियाँ उल्लेखनीय हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में 'आदौ सती सुभद्रा च' आदिक (७ पद्यों में) स्तोत्र (चौतीसा यन्त्र के साथ) प्रसिद्ध है। आचार्य श्री जीतमल जी म. ने भी यह ८ पद्यों में 'षोडशसती स्तोत्र' रच कर अपना श्रद्धाभाव व्यक्त किया है। उन्होंने इस रचना में प्रथम स्थान 'ब्राह्मी' को दिया है जब कि पूर्व प्रचलित स्तोत्र में 'सुभद्रा' का नाम प्रथम है। महाराज श्री द्वारा प्रस्तुत चौतीसा यन्त्र भी पुराने यन्त्र से भिन्न है।

(उ) समस्यापूर्ति व पाद-पूर्ति

समस्यापूर्ति की विधा काव्य-परम्परा की तरह प्राचीन काल से चली आ रही प्रतीत होती है। आचार्यों ने प्रतिभा-विकास के अन्यान्य साधनों के साथ समस्यापूर्ति को भी एक प्रधान साधन माना है। इसी दृष्टि से इसे चौसठ कलाओं में स्थान मिला है।[१०१] कवि 'राजशेखर' ने कवि-चर्या में काव्य-समस्याधारण को स्थान दिया है।[१०२] वाग्भट (द्वितीय) ने काव्यानुशासन ग्रन्थ में समस्यापूर्ति के अनेक प्रकारों की चर्चा करते हुए पाद, पादद्वय, पादत्रय, पद-परिवृत्ति आदि अनेक प्रकारों पर प्रकाश डाला है।

समस्यापूर्ति में कवि दूसरे के द्वारा रचित/प्रस्तुत वाक्य या पद की पूर्ति कर पूर्ण श्लोक की रचना करता है। दूसरे के अभिप्राय को जानने तथा उसके अनुरूप अपनी भाषा/शैली में उद्‌गार व्यक्त करने में कुशल कवि अपनी कवित्व-शक्ति का इसमें प्रदर्शन करता है। यद्यपि इसमें कवि दूसरे के द्वारा प्रस्तुत काव्य (भले ही एक चरण या पद क्यों न हो) का आश्रय लेता है, किन्तु इसे 'चोरी' या दोषपूर्ण नहीं माना जाता।[१०३]

आचार्यश्री ने छह समस्या-पूर्ति की है और कुल सात पद्यों का निर्माण किया है। इसके अतिरिक्त पाद-पूर्ति के रूप में भी 'जय भक्तामर' स्तोत्र की (४६ पद्यों में) रचना की है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कविश्री ने समस्यापूर्ति में भी कहीं अश्लीलता को छूने नहीं दिया है, अपितु अध्यात्म, तटस्थचित्रण, तथा भक्ति—इन्हें मौलिक रूप में सुरक्षित रखा है। इन्हीं समस्याओं की पूर्ति यदि कोई चाहे तो श्रृंगारपरक पद्यों में भी कर सकता है। कहना न होगा कि मुनिश्री ने अपने मौलिक अन्तरंग व्यक्तित्व की छाप इन पद्यों में स्पष्ट अंकित की है, जो अनुकरणीय है।

पादपूर्ति—पाद-पूर्ति की परम्परा भी काफी प्राचीन है। कालिदास के 'मेघदूत' के श्लोकों को लेकर ई. नौवीं शती में आ. जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना की थी। मेघदूत के पद्यों पर ही और भी काव्यों (पादपूर्ति) की रचना हुई है जिनमें शीलदूत (आ. चारित्र-सुन्दर गणि-वि. १५ वीं शती) तथा नेमिदूत (विक्रम कवि, समय १३ वीं शती से १७ वीं शती के मध्य) प्रसिद्ध हैं।

नैषध महाकाव्य के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों की पादपूर्ति/समस्यापूर्ति के रूप मे शान्तिनाथ चरित की रचना उपा. मेघविजय (ई. १७ वीं शती) ने की है। उन्होंने माघ काव्य के श्लोक के चरणों

को लेकर भी 'देवानन्दाभ्युदय' काव्य की रचना की है। अस्तु, नौवीं शती से समस्यापूर्ति या पादपूर्ति की विधा चली आ रही है।

भक्तामर स्तोत्र पाद-पूर्ति—जैनों में भक्तामर स्तोत्र काफी प्रसिद्ध है। इसके पद्यों को लेकर भी (समस्या-पूर्ति के रूप में) कई रचनाएँ प्रकाश में आई हैं जिनमें महोपाध्याय समयसुन्दर (वि. १७वीं शती) कृत 'ऋषभ भक्तामर', लक्ष्मीविमल-कृत शान्ति भक्तामर, रत्नसिंह सूरि कृत नेमिभक्तामर, धर्मवर्धनगणि कृत वीरभक्तामर, धर्मसिंह सूरि कृत सरस्वती भक्तामर आदि-आदि उल्लेखनीय हैं। वर्तमान शती में तेरापन्थ सम्प्रदाय में भी कई कृतियां हैं जिनमें 'कालू भक्तामर' (एक मुनि श्री सोहनलाल जी द्वारा, दूसरा मुनि श्री कानमल जी द्वारा) उल्लेखनीय है। आ. श्री जीतमल जी म. ने भी उसी परम्परा में 'जय-भक्तामर' स्तोत्र की रचना की है जिसमें जैनाचार्य श्री जयमल जी म. सा. की स्तुति की गई है।

(ऊ) सामयिक अनुभूतिपरक

साधु-सम्मेलन की महत्ता शास्त्रों में प्रचुरतया प्रतिपादित है। साधु-समागम से कल्याण व आनन्द की प्राप्ति सुकर हो जाती है।[१०३] यह भी माना गया है कि साधु-समागम से सभी (अच्छी) बातें सुलभ हैं।[१०४] दशवैकालिक सूत्र में तो स्पष्ट निर्देश दिया है कि 'साधुओं से सम्पर्क करते रहना चाहिए'।[१०५] इसी दृष्टि से भारत में यदा-कदा साधु-सम्मेलन आयोजित होते रहे हैं और होते रहते हैं। आगमों की वाचनाए विशिष्ट साधु-सम्मेलनों में ही हुई थीं। इन आयोजित साधु-सम्मेलनों में सामयिक समस्याओं का समाधान तथा परस्पर-विचार-प्रदान आदि उद्देश्य निहित होता है। इसी दृष्टि से अजमेर में (संभवतः वि. सं. १९९० में) एक साधु-सम्मेलन आयोजित हुआ था। इसमें समागत साधुओं के स्वागत में 'स्वागताष्टकम्' की रचना की गई है जिससे कवि का निरभिमानी व्यक्तित्व प्रकट होता है।

एक साधु दूसरे साधु से मिलकर परस्पर 'साधुवाद' व 'स्वागत'-कथन करते ही हैं। आगम में हम पढ़ते हैं कि जब गणधर गौतम तथा परिव्राजक स्कन्दक मिलते हैं तो गौतम जैसे सम्यग्ज्ञानी साधु-रत्न भी स्कन्दक को देखते ही 'स्वागतम्-स्वागतम्' कह कर[१०७] ('सागयं खंदया, सुस्सागयं खंदया) अपना हर्ष व्यक्त करते हैं। आचार्य श्री ने 'सुस्वागताष्टकम्' की रचना कर उसी प्राचीन परम्परा को पुनर्जीवित कर दिया है।

(ए) साधु-समाज का तटस्थ चित्रण

कवि की तटस्थता का यह अर्थ नहीं कि वह दोषों को भी आँख से ओझल कर दे। 'साधु-समाज' शीर्षक रचना में कवि का हृदय वर्तमान साधु समाज में फैली कुरीति, अज्ञान या आर्षमार्ग-प्रतिकूलता पर तरस खाता हुआ शासनदेव से प्रार्थना करता है कि वह इस समाज का उद्धार करें—

हे वीर शासनपते ! करुणावतार !
स्वाभिन्नितीह दयनीय-दशां समीक्ष्य ।
सद्यः समुद्धर समाजमिमं मुनीनाम्,
संपूर्यतामिति विनम्र-निवेदनं मे ॥

(पद्य सं. ६, साधुसमाजः)

कवि की विनम्रता यहाँ भी सुप्त नहीं हुई है। अपनी वेदना को भी कितने संयत तथा विनीत शब्दों में व्यक्त कर कवि ने अपनी तटस्थता व निष्पक्षता को प्रकट किया है। साधु-समाज की यह दशा आंशिक रूप से पहले भी रही है जिसे तत्कालीन जैन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में निर्दिष्ट भी किया है।[१०७]

कवि ने साधु-समाज के जो भी दोष 'साधु-समाज' में वर्णित किए हैं, वे सभी दोष 'परमात्मप्रकाश' के कर्ता जोइन्दु (योगीन्दु) (६ वीं शती) ने अज्ञानी मुनि के स्वरूप के माध्यम से वर्णित कर दिया है।[१०८]

आ. हरिभद्र (ई. ८ वीं शती) ने भी तत्कालीन साधु-समाज में व्याप्त शिथिलाचार को लक्ष्य कर अपने उद्‌गारों को काव्य रूप प्रदान किया था, जिन्हें उनके ग्रन्थ 'सम्बोध प्रकरण' (प्राकृत पद्यात्मक) में देखा जा सकता है। आ. गुणभद्र (८ वीं शती ई. उत्तरार्ध) अपने समय के साधुओं की कुत्सित चर्या पर दुःख प्रकट करने से अपने आपको रोक नहीं सके थे, और उन्होंने उसका संकेत कर, उन साधुओं से दूर रहने का परामर्श दिया है।[१०९]

(ए) शोकाश्रुपूरित हृदय

कवि का हृदय कोमल व संवेदनशील होता है। उसके हृदय में भी इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग पर दुःख की, तथा इष्ट संयोग व अनिष्ट-वियोग पर सुख व हर्ष की अनुभूति हो सकती है। जैन मुनि का हृदय भले ही साधारण अज्ञानी गृहस्थ की तरह रागी-द्वेषी न हो, किन्तु राग से सर्वथा अस्पृष्ट तो वह नहीं रह सकता। यह बात और है कि साधना-क्रम में उत्तरोत्तर रागादि की सूक्ष्मता व निर्बलता बढ़ती जाती है। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम (गणधर) जैसे असाधारण ज्ञान-सम्पदा के धनी, द्वादशांगी के रचयिता, विशिष्ट ऋद्धि के स्वामी को भी भ. महावीर के परिनिर्वाण पर गहरी मानसिक मोहदशा (चारित्र-मोहनीय) या स्तब्धता ने आ घेरा था। उन्होंने अपनी मनोव्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया—"हे भगवन्! आपके चले जाने पर मैं अब किसके चरण-कमलों पर अपना मस्तक रख कर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करूंगा। मुझे अब प्रगाढ स्नेह से कौन सम्बोधित करेगा? मुझे अपने जीवन की अन्तिम बेला में अपने से क्यों दूर कर दिया" आदि आदि (द्रष्टव्य-'कल्पसुबोधिका')। किन्तु गौतम गणधर तो कैवल्य-प्राप्ति के मार्ग को बहुत सीमा तक पार कर चुके थे। उनका एकाएक मोह-भंग हुआ, उनके अन्तर में विचार-धारा ने करवट ली और वे तत्क्षण ध्यान की उच्च सीमाओं को पार करते हुए केवली, सर्वज्ञ हो गए। अस्तु,

आ. जीतमलजी म. ने पूज्य श्री सोहनलालजी म. के देहावसान (ई. १९३४) पर 'शोकोच्छ्‌वास' शीर्षक कृति में (८ पद्यों में) अपने शोक को बिखेरा है।

इसी तरह, 'श्री चन्द्रस्वामी स्मरणांजलि' में स्वामी श्री चांदमल जी म. के अभाव से हुई अपूरणीय क्षति पर अपना दुःख इस प्रकार व्यक्त किया है—

अपास्य सर्वान् समुपासकान् नः,
किं कारणं स्वर्गमितो गतो यत्।
तत्रापराधो ऽविनयस्तथा वा ऽ-
कल्पो ऽनिदेशो ऽभवदस्मदीयः॥ (पद्य सं. २२)

—हे मुनिवर्य ! क्या कारण है कि हम जैसे (नजदीकी) उपासकों को छोड़ कर आप स्वर्ग चले गए। ऐसा तो नहीं कि हमारा कोई अपराध हो गया हो, या कोई अविनय की घटना घटी हो, कहीं आपकी किसी आज्ञा का उल्लघन तो नहीं हुआ या फिर कोई अकल्प (शास्त्रोक्त अनाचरणीय) कर्म तो हमसे नहीं हो गया ?

(ऐ) मंगल-कामना

'मंगल-कामना' शीर्षक कविता में कवि ने, आ. श्री मोतीलाल जी म. के स्वर्गप्रयाण के अनन्तर आ. पृथ्वीचन्द्र जी म. के आचार्य-पदारोहण के अवसर पर (६ पद्यों में) अपनी मंगल-कामना व्यक्त की है।

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य व अन्त में मंगलाचरण करना अपेक्षित समझा जाता है। मंगलाचरण से श्रेयोमार्ग की सिद्धि में आने वाले पाप रूप विघ्नों का विनाश, विद्या का लाभ, सुख-प्राप्ति आदि कार्य सुकर होते हैं।[११०] 'मंगल' की व्युत्पत्ति है—'मंग' यानी सुख को 'ल' यानी लाने वाला (मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा)।[१११] मंगलाचरण का उद्देश्य शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार भी बताया गया है (द्र. आप्त परीक्षा - विद्यानन्दि, पृ. १०-११)। ग्रन्थ-रचना की तरह, सभी लौकिक व धार्मिक कार्यों के प्रारम्भ में भी 'मंगलाचरण' का विधान किया जाता है।

आचार्य-पदारोहण भी संघीय दायित्व के जीवन का प्रारम्भ है, इसलिए इस अवसर पर कवि द्वारा की गई मंगल-कामना नितान्त उचित ही है।

(ओ) उल्लासमय क्षणों में

वर्ष में कुछ ऐसी तिथियां 'पर्व' के रूप में मान्य हैं जो किसी अतीत की महत्वपूर्ण घटना को स्मरण कराती हैं। दीपावली, पर्युषण, महावीर जयन्ती आदि ऐसी ही तिथियां हैं जिनमें विशिष्ट धार्मिक उल्लास का वातावरण बन जाता है। इन पर्वों से लोगों में सदाचार की प्रेरणा का संचार होता है और आत्मालोचन का अवसर भी मिलता है।

दीपावली का सम्बन्ध भ. महावीर की निर्वाण-तिथि से है। पर्युषण आत्माराधना का पर्व है जिसमें विशेष रूप से धर्माराधना की जाती है। आचार्यश्री ने उक्त दोनों पर्वों पर होने वाले उत्सव व समारोह को अपनी काव्य-प्रतिभा का पुट देकर रसमयी वाक्यावली में अंकित किया है। एक ओर पर्युषण पर्व के गौरव को वे व्यक्त करते हैं, दूसरी ओर घर-घर में जगमगाती दीप-मालाओं को लक्ष्य कर अनेक रम्य कल्पनाओं की उड़ान भरने का प्रयास करते हैं।

पर्युषण पर्व की सभी पर्वों में श्रेष्ठता बताते हुए इसकी महत्ता में कवि अपना भाव इस प्रकार व्यक्त करता है —

शान्तिं तनोति निखिलं दुरितं निहन्ति,
कान्तिं तपोऽतिशय संजनितां विधत्ते।
तत्सर्व पर्वमहितं निजनाम धन्यम्,
मान्यं तु पर्युषण-पर्व न कस्य रम्यम्॥

(पर्युषण पर्व, पद्य - १)

—"यह पर्व सभी पर्वों में श्रेष्ठ है। ऐसा कोई नहीं जो इसमें सम्मिलित न होता हो। 'पर्युषण' इस नाम (परि-पूर्ण रूप से, उषण-आत्मा के समीप रहना, सांसारिक वासनाओं से हट कर आत्माराधना में संलग्न रहना)—के कारण ही इसकी धन्यता प्रकट है। यह पर्व हम सब में शान्ति उपजाता है, पापों को मार भगाता है विशिष्ट तप के कारण कमनीयता पैदा करता है।"

दीपावली पर्व का वर्णन कितना स्वाभाविक हुआ है —

कुर्वन्ति संगीतमिहाद्य केचिद्,
नृत्यन्ति केचिच्च हसन्ति केचित्।
दीपावलीयं नव दृश्ययुक्ता,
हर्ष - प्रकर्ष तनुते न कस्य ॥
(दीपावली पर्व, पद्य - ७)

—"दीपावली में सभी वस्तुएं नवीन-नवीन दिखाई पड़ती हैं। ऐसा कौन होगा जिसे इस त्यौहार से खुशी न होती हो। (देखो !) कहीं संगीत का, तो कहीं नृत्य का कार्यक्रम है, कहीं हंसी-खुशी का माहौल है।"

(औ) आचार्यश्री का शास्त्रीय पाण्डित्य

आचार्यश्री की सभी रचनाओं में उनकी विदग्धता और काव्यप्रतिभा—दोनों का समन्वय दृष्टि-गोचर होता है। उनकी कविता में जैन शास्त्रों का तथा अन्य शास्त्रों का पाण्डित्य स्पष्ट, पदे-पदे झलकता है।

(१) ज्योतिष शास्त्रीय पाण्डित्य—कविश्री का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान उच्च कोटि का है। इस सन्दर्भ में 'शीत रश्मिरिव दृश्यते रविः' समस्या-पूर्ति यहाँ द्रष्टव्य व मननीय है —

ब्रह्मचर्य व्रत सीमया च्युतः,
योऽत्यसौ जगति निष्प्रभस्तथा।
दीप्तदीप्तिरपि कन्यकानुगः,
शीतरश्मिरिव दृश्यते रविः ॥

कोई व्यक्ति भले ही कितने चमकते-दमकते आकर्षक व्यक्तित्व वाला हो, यदि वह किसी कन्या के पीछे (प्रेम में) पड़ कर ब्रह्मचर्य व्रत की सीमा का उल्लंघन कर दे (अनियमित काम-विषय-सेवन करने लग पड़े) तो वह उसी प्रकार कान्ति-विहीन व निष्प्रभ हो जाएगा जैसे महान् तेजस्वी सूर्य कन्या राशि में पहुँच कर (अपनी गर्मी की ऋतु वाली तेजस्विता खो कर) शीत-रश्मि-जैसा (गर्मी व उष्णता विहीन चन्द्र) हो जाता है।

यहाँ 'कन्यका' पद के दो अर्थ हैं—(१) कन्या राशि, और (२) कन्या। इससे श्लेषोपमा अलंकार की स्थिति बन गई है। उपर्युक्त पद्य में आलंकारिक छटा तो दर्शनीय है ही, ज्योतिष-शास्त्रीय पाण्डित्य भी हृदयावर्जक है। कन्या राशि में जब सूर्य जाता है तब भयंकर गर्मी व वर्षा ऋतु समाप्त हो जाती है,
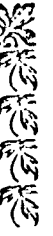
उस समय शरद् ऋतु का आरम्भ होता है, और सूर्य का पुराना उग्र प्रताप क्षीणता की ओर अग्रसर होने लगता है। ब्रह्मचर्य-व्रत के नियमों का उल्लंघन करने वाला या व्यभिचार-ग्रस्त व्यक्ति समाज में कितनी ही मान-प्रतिष्ठा वाला हो, धीरे-धीरे अपनी प्रतिष्ठा तथा शारीरिक शक्ति-दोनों से हाथ धो बैठता है।

आइये, अब जरा दार्शनिक धरातल पर भी इसकी समीक्षा की जाए।

'ब्रह्मचर्य' व्रत की महिमा जैन आगमों में कई जगह वर्णित है।[११२] प्रश्नव्याकरण सूत्र में तो इसे चन्द्र, समुद्र ३२ उपमाओं से विभूषित कर इसके स्वरूप व महत्त्व को स्पष्ट किया है।[११३] 'ब्रह्मचर्यव्रत-सीमा' पद अपने अन्दर अर्थ गाम्भीर्य समेटे हुए है। यह आगमों में वर्णित ब्रह्मचर्य-समाधि स्थानों को संकेतित कर रहा है। ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने के लिए कुछ नियम शास्त्रों में बताए गए हैं, उनकी संख्या स्थानांग[११४] में नौ, दशवैकालिक,[११५] उत्तराध्ययन,[११६] तथा अनगार धर्मामृत में (पं. आशाधर कृत)[११७] दश निर्दिष्ट/संकेतित की गई है। 'ब्रह्मचर्य-सीमा' (यानी शील की बाड़) से इन्हीं नियमों का संकेत कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है।

उपर्युक्त पद्य के सम्पूर्ण कथ्य के पीछे 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में प्रदत्त ब्रह्मचर्य का विशेषण—'पंचमह-व्वयसुव्वयमूल' (पांच महाव्रतों की जड़), तथा निम्नलिखित वाक्य प्रेरक रूप में रहा प्रतीत होता है—

"जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्गं"।[११८]

(अर्थात् जिस ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सभी गुण या व्रत भग्न हो जाते हैं।)

कवि का ज्योतिष सम्बन्धी पाण्डित्य अन्य कृतियों में भी प्रकट होता है। 'वीर स्तव' (के पद्य सं. ३-४) में भ. महावीर को सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि—इन सात ग्रहों से उपमित किया गया है। इसके अतिरिक्त, 'वैराग्यकारकतया शनिरेव दृष्टः' (पद्य सं. ४) वाक्य में भ. महावीर को वैराग्यकारक होने से 'शनि' रूप बताया गया है। ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से 'शनि' की जन्मपत्र में स्थिति के आधार पर जातक की मोक्ष-प्राप्ति, योगाभ्यास आदि का विचार किया जाता है। शनि को काल-पुरुष का 'दुःख' रूप माना गया है, इसलिए भी वह वैराग्यकारक माना जा सकता है।

इसी तरह, ज्योतिष शास्त्र में द्वादश भावों के पृथक्-पृथक् कारक माने गए हैं और उनके आधार पर ग्रह-दशा सम्बन्धी शुभाशुभ फल का कथन किया जाता है। इस तथ्य को 'कारक श्रद्धांजलि' (पद्य सं. ६) में व्यक्त किया गया है —

प्राधान्यं लभते यथा समुचितम्,
तत्कारकं व्याकृतौ।
ज्योतिःशास्त्रमपीदमेव मनुते
नित्यं दशा-चक्रके॥

(२) व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी पाण्डित्य

'कारक श्रद्धांजलि' के माध्यम से कवि ने अपने व्याकरण शास्त्र व जैन आगम-पाण्डित्य दोनों की विचक्षणता प्रदर्शित की है। स्थानांग में[११९] वचन-विभक्तियों की संख्या आठ बताई गई है।

प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, सम्बोधन (अष्टमी विभक्ति)— इन विभक्तियों का वहां नामोल्लेख किया गया है। व्याकरण शास्त्र में भी ६ कारक तथा आठ विभक्तियां मानी गई हैं। उन्हीं आठों विभक्तियों को 'कारक श्रद्धांजलि' कृति में प्रयुक्त करने का प्रयास किया गया है, और श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. के प्रति श्रद्धांजलि भी व्यक्त की गई है। संस्कृत साहित्य में भट्टिकाव्य में कवि ने काव्य के माध्यम से संस्कृत व्याकरण के शब्द प्रयोगों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। उसी दिशा में आचार्य श्री जीतमल जी म. का प्रस्तुत (लघु व प्रतीकात्मक) प्रयास समझना चाहिए। बचपन में हमें एक श्लोक याद कराया गया था—"रामो राजमणिः सदा विजयते, रामं रमेशं भजे। रामेणाभिहता निशाचर-चमू रामाय तस्मै नमः। रामान्नास्ति परात्परं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहम्, रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम ! मामुद्धर ॥" इस श्लोक में 'राम' शब्द के सभी विभक्तियों के (रामः, रामं, रामेण आदि) एकवचनात्मक रूप प्रयुक्त करते हुए भगवान् राम के प्रति अपने श्रद्धाभाव व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। उसी तरह का प्रयास कवि मुनिश्री ने 'कारक श्रद्धांजलि' में किया है। प्रत्येक पद्य के तीन चरणों में एक-एक विभक्ति का प्रयोग (निदर्शनात्मक) विशेष रूप से किया गया है।

कविश्री ने 'चतुर्विंशति जिन स्तुति' में 'संबोधनगुप्त' (पद्य सं. १८ में), (पद्य सं. २३ में) 'करणगुप्त', (पद्य सं. ५ व ६ में) 'क्रियागुप्त', एवं 'श्री चन्द्रस्वामीस्मरणांजलि' के (पद्य सं. १७) में 'कर्तृगुप्त' पद्यों की रचना कर कवि-प्रतिभा तथा व्याकरण विषयक पूर्ण दक्षता का परिचय दिया है। उक्त पद्यों में पाठक को गुप्त कारकों को खोजने में कुछ श्रम (दिमागी) करना पड़ता हैं।

(औ) जैन-आगम मर्मज्ञता

कविश्री की जैनागम-मर्मज्ञता की पुष्टि प्रसंगानुसार पहले भी इस लेख (समीक्षा) में की जा चुकी है। किन्तु सारी रचनाओं में स्थल-स्थल पर जो अनुभूति व्यक्त की गई है, उसकी पृष्ठ भूमि में जैन आगम का कोई न कोई वाक्य/प्रसंग या स्थल रहा है। कुछ थोड़े से उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त (स्थालीपुलाकन्याय से) होंगे —

'केन वा लंघनीयः'—समस्या की पूर्ति कवि ने इस प्रकार की है—

सुदिवि विदितदेवाः सन्ति सूर्योदयो ये,
भुवि च विजितपृथ्वीचक्रवर्त्यादिभूपाः ।
त इह विगतगर्वा यस्य दासत्वमाप्ताः,
स हि विषयविकारः केन वा लंघनीयः ॥

(अर्थात्) आकाश में सूर्य आदि प्रसिद्ध देव हैं, पृथ्वी पर भी चक्रवर्ती आदि राजा होते हैं जो समस्त पृथ्वी पर अधिपत्य प्राप्त करते हैं। वे सभी जिसके समक्ष गर्वहीन होकर दासता स्वीकार कर लेते हैं, इस विषय-विकार (कामदेव) को कौन लांघ (जीत) सकता है ?

भारतीय साहित्य में 'कामदेव' के उक्त प्रताप का भूरि-भूरि वर्णन किया गया है। वैदिक साहित्य से 'काम' को सृष्टि का आद्य (प्रथम) तत्त्व बताया गया है।[१२०] जैन आगम 'उत्तराध्ययन' सूत्र में[१२१]

देवताओं तक को कामासक्ति से ग्रस्त बताया गया है। जैन ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव' कामदेव की 'सर्वप्रभुता' का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में करता है—

एक एव स्मरो वीरः, सचैकोऽचिन्त्यविक्रमः।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत्॥[१२२]

हरिहरपितामहाद्याः बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वांकान्नारीं न मुंचन्ति॥[१२३]

जैन साहित्य में सूर्य आदि ज्योतिष देव माने गए हैं, 'देवयोनि' में वे उत्पन्न हैं, चमकते हुए सूर्यादि-बिम्ब उन-उन देवों के विमान (निवासादि स्थान) हैं जहां (जन्म-मरण-चक्र के अन्तर्गत) देवों का आना-जाना होता रहता है। उक्त समस्या-पूर्ति में जैनागम-सम्मत भावों को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, कामासक्ति पर विजय प्राप्त करने वाले तीर्थंकर, अर्हन्त, विशिष्ट श्रमण-साधु जनों की देवों और चक्रवर्ती आदि की अपेक्षा श्रेष्ठता भी व्यञ्जित की गई है (क्योंकि जिनेन्द्र के मार्ग पर चलना 'काम-विरक्ति' ही है।)[१२४]

'साधु समाज' शीर्षक कृति में आगमोक्त साधु-समाजोचित व्यवहारों को दृष्टिगत रखकर तत्कालीन साधु-समाज द्वारा उनके प्रति की जा रही उपेक्षा को उजागर किया गया है।

'साधु-समाज' के प्रथम पद्य में कहा गया है कि यद्यपि मुनि-समाज स्वपर-कल्याण में समर्थ है, फिर भी आज कषायवशीभूत हो विपरीत दिशा को जा रहा है—यह कैसी विचित्र स्थिति है :--

श्रीशासनेश ! भगवन् किल साधुसंघः,
स्वस्यापरस्य च समुद्धरणे समर्थः।
सोऽयं कषाय-वशतो विपरीतमार्गम्,
हा ! हा ! प्रयाति जगदीश विचित्रमेतत्॥

(पद्य सं. १)

'सूत्रकृतांग' में[१२५] साधु को 'अलमप्पणो होति अलं परेसिं' कहा गया है, जिससे मुनि के लिए स्व-परकल्याणसमर्थता अपेक्षित है— यह स्पष्ट इंगित होता है। स्थानांग सूत्र में[१२६] पुरुषों के कई प्रकार बताए गए हैं, उनमें स्वपरकल्याण-समर्थ व्यक्ति का भी वर्ग बताया गया है।

आगामों में साधु की कषाय-वशता की निन्दा अनेक स्थलों में की गई देखी जा सकती है।[१२७] साधु के लिए कषाय-रहित होना पूर्णतः अपेक्षित ही है।[१२८] उक्त परिप्रेक्ष्य में मुनि-समाज की कषाय-वशता को देखकर कवि-हृदय को दुःख व आश्चर्य होना नितान्त स्वाभाविक ही है।

'साधु-समाज' के दूसरे पद्य में वर्णित है—"जिस मुनि ने समस्त परिजनों को छोड़कर मुनि-दीक्षा ली, किन्तु उसकी मानसिक दुष्प्रवृत्तियाँ छूटी नहीं। (सांसारिक गृहस्थों की तरह) उसका अपने शिष्य-वर्ग में मोह (स्नेह) बना हुआ है। खेद की बात है कि समाज की उन्नति का उसको कोई ध्यान नहीं है। जिस (वीतराग) मार्ग का आश्रयण किया, उस पर न चलकर, त्यक्त मार्ग को पुनः अपनाने की प्रवृत्ति मुनियों में दृष्टिगोचर हो रही है"—

त्यक्त्वा समं परिजनं जगृहे च दीक्षाम्,
तत्याज नैव निजमानसदुष्प्रवृत्तीः ।
चेतो विमुह्यति सदा निजशिष्य-वर्गे,
हा हन्त हन्त न समाज-समुन्नतौ च ।। (पद्य सं. २)

अंगीकृते प्रयतते पथि नो प्रयातुम्,
त्याज्येऽपि च प्रसरतीतरमार्ग एतुम् ।। (पद्य सं. ४)

उक्त पद्यों में कवि की हार्दिक व्यथा की पृष्ठभूमि में आगमोक्त शिक्षा ही है। मुनि-प्रव्रज्या का अर्थ ही है—सांसारिक परिजनों के संग (मोह) का त्याग।[१२९] यदि सांसारिक विषयों में आसक्ति रहे तो 'श्रामण्य' निभ नहीं सकता।[१३०] प्रव्रजित साधु के लिए पूर्वभुक्त कामभोगों का तथा सांसारिक गृहस्थों की (सावद्य) क्रियाओं का पूर्णतः त्याग आवश्यक होता है।[१३१] किन्तु प्रव्रज्या धर्म का आचरण अयोग्य व्यक्ति के लिए दुष्कर हो जाता है, क्योंकि वह वीरों का धर्म है, कायरों का नहीं। श्रमण-धर्म असि-धारा के समान है।[१३२] संयम की साधना लोहे के चने चवाने जैसी कठिन होती ही है।[१३३] *वास्तव में वर्तमान साधु-समाज की प्रव्रज्या प्रायः 'इहलोकप्रतिबद्धा' व 'परलोकप्रतिबद्धता' या 'उभय-लोकप्रतिबद्धा' होती जा रही है*[१३४]*—जिसका संकेत मुनिश्री ने उपर्युक्त पद्यों में किया है।*

आगमों में ऐसे कुछ कुसाधुओं का संकेत भी है जो प्रव्रजित होते समय की श्रद्धा या भावना को स्थायी नहीं रख पाते,[१३५] और वे दुःखशय्या का आश्रवण लेकर[१३६], उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य बन जाते हैं।[१३७]

जो साधु अपनी सुख-सुविधा के लिए शिष्य-वर्ग का परिग्रह करते हैं, वे प्रतिकूल कार्य करते हैं।[१३८] शिष्यसमूह में रागादि के कारण मुनि के सिद्धान्त प्रतिकूल आचरण को जिन-शासन की विडम्बना कहा गया है।[१३९] लाड-प्यार में शिष्यवर्ग को सन्मार्ग की शिक्षा न देने वाला गुरु 'गुरु' नहीं, अपितु 'शत्रु' है।[१४०]

'साधु-समाज' के दूसरे पद्य में कवि ने कहा है कि वर्तसान साधु-समाज की हालत यह है कि वह निर्गुण निस्सार वस्तु को महत्ता दे रहा है, और सारभूत वस्तु के प्रति निःस्सारता की भावना रखकर उसे छोड़ रहा है, उसकी उपेक्षा कर रहा है—

हा ! निर्गुणेऽपि गुणयुक्त इति प्रतीतिः, ।
अन्येषु सद्‌गुणयुतेष्वपि चागुणीति ।।
(पद्य सं. ४)

श्रमण प्राज्ञ व हेयोपादियविशेषज्ञ होता है[१४१] (उसके लिए तो शुद्ध आत्म-तत्त्व ही उपादेय होता है,[१४२] शेष वस्तु निस्सार होती है। किन्तु इसके विपरीत स्थिति अज्ञानुसार मिथ्यात्व-पोषक ही है। इसलिए कवि का खेद प्रकट करना उचित ही है। स्थानांग में[१४३] तथा आ. यशोविजयकृत अध्यात्मसार में[१४४] इसे 'मिथ्यात्व' कहा गया है। साधु के लिए तो उचित है कि वह न तो भय से और न लोभ से ही असाधु को साधु कहे।[१४५]

आगे कवि कहता है—

उपदेश एष जनभेदविभेदनाय। (पद्य सं. ५)

—अर्थात् साधुओं का उपदेश विग्रहकारी, फूट डालने वाला हो रहा है।

आगमों में 'भाषा-समिति' की जो शिक्षा दी गई है,[१४६] उससे उक्त कार्य नितान्त प्रतिकूल है। इसलिए कवि का उक्त उद्वेग उचित ही है।

साधु-वर्ग में व्याप्त 'यशोलिप्सा' पर भी कवि ने खेद प्रकट किया है—

लोके यथा कथमपि स्वयशोऽस्तु नित्यम्।
लक्ष्यं समस्ति, न परोपकृतौ हि कस्य॥
(पद्य सं. ३)

अर्थात्—जिस किसी तरह भी हो, हमारा यश फैले, यही एकमात्र लक्ष्य (मुनियों का) रह गया है, परोपकार में तो किसी का ध्यान ही नहीं है।

शास्त्रों में यशोलिप्सा को साधु के लिए पूर्णतः वर्ज्य बताया है।[१४७] यह तो 'लोकैषणा' है जिससे पाप-प्रवृत्ति बढ़ती है।[१४८]

कवि श्री ने छोटे से छोटे वाक्यों में भी आगमों के भाव रूपी पुष्पों को बिखेर दिया है। नीचे कुछ उदाहरण ही उक्त तथ्य की पुष्टि हेतु पर्याप्त होंगे—

'प्रणामाँजलयः' में कवि ने आ. नथमल जी को 'भावारिवृन्दस्य विनाशी' (पद्य सं. १)—अर्थात् भाव शत्रुओं को नष्ट करने वाले, 'चतुर्विंशति जिन-स्तुति' में (पद्य सं. १२ में) जिनेन्द्र को 'भावारीणां प्रबल दलभिदं' भाव शत्रुओं को प्रबल रूप से खण्ड-खण्ड करने वाले, तथा (पद्य सं. १४ में) 'विनिहताखिल-भीषणभाववैरिणम्'—भीषण भावरूपी समस्त वैरियों को मार गिरा देने वाले—वर्णित किया है।

उत्तराध्ययन सूत्र[१४९] में 'भाव' पद से क्रोधादि मनो-विकारों का उल्लेख किया गया है। समय सार में[१५०] भाव और (अशुभ) अध्यवसाय की एकार्थकता बताई गई है। अध्यवसाय से रागादि कषाय अर्थ अभिप्रेत होता है।[१५१] मुनि तत्त्वज्ञानी होता है। वह भेदविज्ञान के माध्यम से सभी भावों को अपने से पृथक् समझता है।[१५२] भावों के प्रति ममत्वभाव छोड़कर वह भावरहित हो जाता है। इसलिए समताभावी या बहिर्भावत्यागी मुनि व वीतरागी जिनेन्द्र का उक्त विशेषण सर्वथा युक्तियुक्त ही है। इसी दृष्टि से एक आचार्य ने जिनेन्द्र को 'सर्वभावान्तरच्छिदे' (सभी भावों का नाशक)[१५३] कहा है। एक बात और, अर्हत्-अवस्था में भावातीत (वस्तुतः विभावातीत) अवस्था प्राप्त हो जाती है, वहां सभी शुभाशुभ भावों का निरोध हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अनिर्वचनीय स्थिति में[१५४] पहुंच जाता है, इस दृष्टि से भी वह भावातीत हो जाती है। सम्भवतः भावशत्रुओं के विनाश से उसी भावातीत अवस्था को संकेतित किया गया है। इसीलिए कविश्री ने जिनेन्द्र को 'द्वैताद्वैतमय' (चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य सं. ११) बताते हुए, उसी अनिर्वचनीय अवस्था का संकेत किया है जिसका निरूपण आगमों में बहुशः सहज उपलब्ध हो सकता है।[१५५]

त्यक्त्वा समं परिजनं जगृहे च दीक्षाम्,
तत्याज नैव निजमानसदुष्प्रवृत्तीः ।
चेतो विमुह्यति सदा निजशिष्य-वर्गे,
हा हन्त हन्त न समाज-समुन्नतौ च ।। (पद्य सं. २)

अंगीकृते प्रयतते पथि नो प्रयातुम्,
त्याज्येऽपि च प्रसरतीतरमार्ग एतुम् ।। (पद्य सं. ४)

उक्त पद्यों में कवि की हार्दिक व्यथा की पृष्ठभूमि में आगमोक्त शिक्षा ही है। मुनि-प्रव्रज्या का अर्थ ही है—सांसारिक परिजनों के संग (मोह) का त्याग।[१२९] यदि सांसारिक विषयों में आसक्ति रहे तो 'श्रामण्य' निभ नहीं सकता।[१३०] प्रव्रजित साधु के लिए पूर्वभुक्त कामभोगों का तथा सांसारिक गृहस्थों की (सावद्य) क्रियाओं का पूर्णतः त्याग आवश्यक होता है।[१३१] किन्तु प्रव्रज्या धर्म का आचरण अयोग्य व्यक्ति के लिए दुष्कर हो जाता है, क्योंकि वह वीरों का धर्म है, कायरों का नहीं। श्रमण-धर्म असि-धारा के समान है।[१३२] संयम की साधना लोहे के चने चबाने जैसी कठिन होती ही है।[१३३] वास्तव में वर्तमान साधु-समाज की प्रव्रज्या प्रायः 'इहलोकप्रतिवद्धा' व 'परलोकप्रतिवद्धता' या 'उभय-लोकप्रतिवद्धा' होती जा रही है[१३४]—जिसका संकेत मुनिश्री ने उपर्युक्त पद्यों में किया है।

आगमों में ऐसे कुछ कुसाधुओं का संकेत भी है जो प्रव्रजित होते समय की श्रद्धा या भावना को स्थायी नहीं रख पाते,[१३५] और वे दुःखशय्या का आश्रवण लेकर[१३६], उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य बन जाते हैं।[१३७]

जो साधु अपनी सुख-सुविधा के लिए शिष्य-वर्ग का परिग्रह करते हैं, वे प्रतिकूल कार्य करते हैं।[१३८] शिष्यसमूह में रागादि के कारण मुनि के सिद्धान्त प्रतिकूल आचरण को जिन-शासन की विडम्बना कहा गया है।[१३९] लाड-प्यार में शिष्यवर्ग को सन्मार्ग की शिक्षा न देने वाला गुरु 'गुरु' नहीं, अपितु 'शत्रु' है।[१४०]

'साधु-समाज' के दूसरे पद्य में कवि ने कहा है कि वर्तसान साधु-समाज की हालत यह है कि वह निर्गुण निस्सार वस्तु को महत्ता दे रहा है, और सारभूत वस्तु के प्रति निःस्सारता की भावना रखकर उसे छोड़ रहा है, उसकी उपेक्षा कर रहा है—

हा ! निर्गुणेऽपि गुणयुक्त इति प्रतीतिः, ।
अन्येपु सद्गुणयुतेष्वपि चागुणीति ।।
(पद्य सं. ४)

श्रमण प्राज्ञ व हेयोपादियविशेपज्ञ होता है[१४१] (उसके लिए तो शुद्ध आत्म-तत्त्व ही उपादेय होता है,[१४२] शेष वस्तु निस्सार होता है। किन्तु इसके विपरीत स्थिति आज्ञानुसार मिथ्यात्व-पोषक ही है। इसलिए कवि का खेद प्रकट करना उचित ही है। स्थानांग में[१४३] तथा आ. यशोविजयकृत अध्यात्मसार में[१४४] इसे 'मिथ्यात्व' कहा गया है। साधु के लिए तो उचित है कि वह न तो भय से और न लोभ से ही असाधु को साधु कहे।[१४५]

आगे कवि कहता है—

उपदेश एष जनभेदविभेदनाय। (पद्य सं. ५)

—अर्थात् साधुओं का उपदेश विग्रहकारी, फूट डालने वाला हो रहा है।

आगमों में 'भाषा-समिति' की जो शिक्षा दी गई है,[१४६] उससे उक्त कार्य नितान्त प्रतिकूल है। इसलिए कवि का उक्त उद्वेग उचित ही है।

साधु-वर्ग में व्याप्त 'यशोलिप्सा' पर भी कवि ने खेद प्रकट किया है—

लोके यथा कथमपि स्वयशोऽस्तु नित्यम्।
लक्ष्यं समस्ति, न परोपकृतौ हि कस्य॥
(पद्य सं. ३)

अर्थात्—जिस किसी तरह भी हो, हमारा यश फैले, यही एकमात्र लक्ष्य (मुनियों का) रह गया है, परोपकार में तो किसी का ध्यान ही नहीं है।

शास्त्रों में यशोलिप्सा को साधु के लिए पूर्णतः वर्ज्य बताया है।[१४७] यह तो 'लोकैषणा' है जिससे पाप-प्रवृत्ति बढ़ती है।[१४८]

कवि श्री ने छोटे से छोटे वाक्यों में भी आगमों के भाव रूपी पुष्पों को बिखेर दिया है। नीचे कुछ उदाहरण ही उक्त तथ्य की पुष्टि हेतु पर्याप्त होंगे—

'प्रणामाँजलयः' में कवि ने आ. नथमल जी को 'भावारिवृन्दस्य विनाशी' (पद्य सं. १)—अर्थात् भाव शत्रुओं को नष्ट करने वाले, 'चतुर्विंशति जिन-स्तुति' में (पद्य सं. १२ में) जिनेन्द्र को 'भावारीणां प्रबल दलभिदं' भाव शत्रुओं को प्रबल रूप से खण्ड-खण्ड करने वाले, तथा (पद्य सं. १४ में) 'विनिहताखिल-भीपणभाववैरिणम्'—भीषण भावरूपी समस्त वैरियों को मार गिरा देने वाले—वर्णित किया है।

उत्तराध्ययन सूत्र[१४९] में 'भाव' पद से क्रोधादि मनो-विकारों का उल्लेख किया गया है। समय सार में[१५०] भाव और (अशुभ) अध्यवसाय की एकार्थकता बताई गई है। अध्यवसाय से रागादि कषाय अर्थ अभिप्रेत होता है।[१५१] मुनि तत्त्वज्ञानी होता है। वह भेदविज्ञान के माध्यम से सभी भावों को अपने से पृथक् समझता है।[१५२] भावों के प्रति ममत्वभाव छोड़कर वह भावरहित हो जाता है। इसलिए समताभावी या बहिर्भावत्यागी मुनि व वीतरागी जिनेन्द्र का उक्त विशेषण सर्वथा युक्तियुक्त ही है। इसी दृष्टि से एक आचार्य ने जिनेन्द्र को 'सर्वभावान्तरच्छिदे' (सभी भावों का नाशक)[१५३] कहा है। एक बात और, अर्हत्-अवस्था में भावातीत (वस्तुतः विभावातीत) अवस्था प्राप्त हो जाती है, वहां सभी शुभाशुभ भावों का निरोध हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अनिर्वचनीय स्थिति में[१५४] पहुंच जाता है, इस दृष्टि से भी वह भावातीत हो जाती है। सम्भवतः भावशत्रुओं के विनाश से उसी भावातीत अवस्था को संकेतित किया गया है। इसीलिए कविश्री ने जिनेन्द्र को 'द्वैताद्वैतमय' (चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य सं. ११) बताते हुए, उसी अनिर्वचनीय अवस्था का संकेत किया है जिसका निरूपण आगमों में बहुशः सहज उपलब्ध हो सकता है।[१५५]

इसी तरह, 'जय भक्तामर' स्तोत्र (के पद्य सं. १४) में प्रमादों की संख्या पांच लिखी है और उन्हें नरकादि दुर्गति-दायक भी बताया है:—

नानानितान्तनरकादिक - दुःख - राशिम् ।
ये देहिने ददति पञ्च महाप्रमादाः ॥

संसार-वर्द्धक प्रमाद[१५६] से बचने की प्रेरणा जैन शास्त्रों में बार-बार दी गई है।[१५७] सामान्यतः (साधना में बाधक) प्रमादों की संख्या स्थानांग में[१५८] छः, तथा पंचसंग्रह व गोम्मटसार[१५९] में पन्द्रह बताई गई है। राजवार्तिक में[१६०] प्रमाद के अनेक भेद बताए गए हैं। भगवती आराधना की टीका में[१६१] प्रमाद के पन्द्रह भेद निर्दिष्ट हैं। कहीं इसके ३७५०० भेद भी गिनाए गए हैं।[१६२]

उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में उक्त सभी विभेदों को पांच में समेट कर निर्दिष्ट किया गया है। वे ५ प्रमाद हैं—मदिरा, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। देखा जाय तो पांच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति ही वास्तव में 'प्रमाद' है। इन्हीं पांच प्रमादों को लक्ष्य कर कविश्री ने इन्हें महाप्रमाद के नाम से निर्दिष्ट किया है।

(क) काव्य में रूपक और आगम-पाण्डित्य

कविश्री का आगम-पाण्डित्य काव्य में प्रयुक्त उपमाओं में भी स्पष्ट व्यक्त होता है। सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना स्वरूपमात्र का बोध कराने के लिए नहीं, अपितु उपमेय भाव का उद्बुद्ध कराने के लिए की गई है। स्वरूपमात्र सादृश्य में उपमान द्वारा केवल उपमेय की आकृति या रंग का बोध हो सकता है, किन्तु प्रस्तुत के समान ही आकृति वाले अप्रस्तुत की योजना कर देने मात्र से तज्जन्य भाव का उदय सम्भव नहीं है। इसीलिए 'गो-सदृशो गवयः', के समान सादृश्य-बोधक वाक्यों में अलंकार नहीं हो सकता। जब तक अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के रूप या गुण में सौन्दर्य या उत्कर्ष नहीं पहुंचता है, तब तक अर्थालंकार नहीं माना जाता। अतः जिस अप्रस्तुत योजना से भावानुभूति में वृद्धि हो, वही वास्तव में आलंकारिक रमणीयता होती है।

कविश्री द्वारा जिन उपमानों का चयन हुआ है, वे सभी जैन शास्त्रों में व्यवहृत होते रहे हैं और अपने में विशिष्ट चारित्रबोध जागृत करते हैं।

(१) साम्य-सुधा ('शोकोच्छ्वासः' कविता के तीसरे पद्य में)

साम्य को सुधा कहना न्यायसंगत है क्योंकि रागादि रूपी अग्नि को[१६३] शान्त करने हेतु यह 'समता' ही सुधा का काम करती है। ज्ञानार्णव-ग्रन्थकार के अनुसार समत्वयोगी के साम्य-प्रभाव से क्रूर प्राणी भी अपना पारस्परिक वैर-भाव भूल जाते हैं और उनकी उग्रता शान्त हो जाती है.[१६४] वास्तव में समता मोहक्षोभ को शांत करती है।[१६५] जिनवाणी के अनुसार, जैसे अमृत से तृष्णा मिट जाती है, वैसे समता-रूपी अमृत से तृष्णा क्षीण हो जाती है।[१६६]

(२) कोप-कृशानु ('चन्द्रः प्रवालप्रभः' की समस्या-पूर्ति)

कोप को अग्नि बताना सारगर्भित है। क्रोध मनुष्य को आग की तरह जलाता है।[१६७]

द्वीपायन मुनि के कोप से द्वारका दहन होना प्रसिद्ध ही है । जैन शास्त्रों में 'क्रोधाग्नि' पद कई जगह प्रयुक्त हुआ है।[१६८]

(३) अज्ञानतम ('दीपावली-पर्व' पद्य सं. १)

अज्ञान हमारा आन्तरिक अन्धकार है[१६९], जिसका निराकरण सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश से होता है और तब वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध/अनुभव व्यक्ति को हो पाता है । 'ज्ञान' स्वपर-प्रकाशक है।[१७०] आवश्यकनिर्युक्ति में भी ज्ञान को 'प्रकाशक' बताया गया है।[१७१] भगवती आराधना में [१७२] इसे 'उद्योत' तथा 'व्यवहार भाष्य' में[१७३] संसार-प्रकाशक के रूप में निर्दिष्ट किया गया है । इसके विपरीत तिलोयपण्णति मे[१७४] अज्ञान का घोर तिमिर के रूप में वर्णन है । इन सब शास्त्रोक्तियों के परिप्रेक्ष्य में 'अज्ञानतम' यह रूपक सर्वथा संगत है ।

(४) मोहान्धकार ('जय भक्तामर' स्तोत्र के पद्य सं. २४ में)

मोह को अन्धकार कहा गया है । इस संसार को 'मोहान्धकारित' माना गया है[१७५] मोह (दर्शनमोहनीय व ज्ञानमोहनीय)[१७६] एक महानिद्रा है[१७७] जिसमें व्यक्ति की सद्विवेक की आंखें मूंद जाती हैं जिससे वह सदसद-विवेक का निर्णय नहीं कर पाता ।[१७८]

मोह और विज्ञान (सम्यग्ज्ञान) ये दोनों विरोधी हैं।[१७९] सम्यग्ज्ञान के अभाव में अनन्तमोह के कारण मोक्षमार्ग को देखता हुआ भी व्यक्ति नहीं देख पाता है।[१८०] इस मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को सम्यक्त्वरूपी दीप ही नष्ट कर पाता है।[१८१] ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रभावकारी व महत्वपूर्ण है।[१८२]

कवि ने 'मोह' को अन्य कई रूपकों से अलंकृत किया है । जैसे (श्री रत्नमुनिश्रद्धांजलि, पद्य सं. १ में) 'मोहारिमल्ल' (मोह रूपी पहलवान शत्रु)' (महास्थविर श्री ताराचन्द्र मुनि संस्मरण के पद्य स. १ में) 'मोहेभ' (मोह रूपी हाथी), एवं (चतुर्विंशति जिन-स्तुति के पद्य सं. ६ में) 'महामोहोन्मत्तद्विर-दवर' (महामोह रूपी उन्मत्त हाथी) । मोहनीय कर्म की अध्यात्म-साधना में विघ्नसाधक के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है । साधना में विघ्न पैदा करने वाले रागादि दुर्गुणों का सेनापति 'मोहनीय' ही है,[१८३] जिसके मारे जाने पर सभी रागद्वेषादि-सेना भाग खड़ी होती है ।[१८४] 'मोह' व्यक्ति को अपनी रागादि सेना के व्यूह में फंसा लेता है,[१८५] और जन्म-मरण की परिधि से बाहर निकलने नहीं देता है।[१८६]

'ज्ञानार्णव' में स्पष्ट निर्देश दिया है कि यदि कल्याण चाहते हो तो 'मोह-मल्ल' को पहले पछाड़ो।[१८७] भगवती आराधना की टीका में 'मोह' को 'हाथी' से उपमा दी गई है।[१८८]

(५) विमुक्तिरमणी ('जय भक्तामर' के पद्य सं. ३९ में)

विमुक्ति को रमणी के रूप में जैन शास्त्रों में कई जगह वर्णित किया गया है।[१८९] मनोविकारों पर पूर्णतः विजय पा लेने वाले ही 'मुक्ति-कान्ता' से पाणिग्रहण कर सकते हैं।[१९०] आचार्य अमृतचन्द्र सैकड़ों बार मुक्ति को परमरमणी के रूप में वर्णित करते हैं।[१९१]

(६) भव्याम्बुजव्रातविकासिभानु (श्री चन्द्रस्वामि स्मरणांजलि के पद्य सं. २० में)—

मुनि को 'भव्याम्बुजव्रातविकासिभानु' यानी 'भव्य रूपी कमलों को विकसित करने वाला सूर्य'

बताया है। इसी तरह अन्यत्र (चतुर्विंशति जिन-स्तुति के पद्य सं. ६ में) 'रविरिव प्रकाशी' तथा 'भव्याम्भोजविकासी' (वही, पद्य सं. १ में) विशेषण भी जिनेन्द्र के लिए प्रयुक्त किया गया है। उक्त सभी विशेषण शास्त्रों के आलोक में सर्वथा संगत होते हैं।

जैन शास्त्रों में 'केवलज्ञान' को केवली तीर्थंकर एवं सिद्धात्मा को सूर्यवत् बताया गया है।[१६२] नन्दी सूत्र में[१६३] श्रमण-संघ को एक पद्म (कमल) की उपमा देकर, तीर्थंकर को सूर्य की उपमा दी गई है। इसी तरह 'षट्खण्डागम' में भी प्रारम्भिक मंगलाचरण में (पद्य सं. ३) संघ को 'कमल' तथा गणधर देवों को सूर्य बताया गया है। ज्ञानार्णव में तीर्थंकर को 'भुवनाम्भोजमार्तण्ड' कहा गया है।[१६४] भगवती आराधना में [१६५] शिष्य मुनि के मुख को कमल तथा आचार्य को सूर्य बताया गया है।

कविश्री की आलोच्य काव्य-कृतियों में ऐसे अनेक रूपक हैं जिनका प्रयोग जैन ग्रंथों में पारम्परिक रूप से होता रहा है, जैसे—अंघ्रि पंकज, दुर्गतिवन, पापद्रुम, संसार-दाव, दुर्नयवन आदि। विस्तार-भय से इस प्रकरण को यहीं समाप्त कर रहा हूँ।

(ख) श्री परमेष्ठीमन्त्र-आराधना

श्री चतुर्विंशति जिन-स्तुति (६ पद्यों वाली) में कवि ने लोक-कल्याण हेतु एक — 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं स्वाहा' मन्त्र का निर्देश किया है जिसका सात बार पाठ कर कल्याण-साधन किया जा सकता है। हेमचन्द्र आचार्य ने योग शास्त्र में तथा प. आशाधर ने ज्ञानार्णव में, तथा रामसेन ने तत्त्वानुशासन में ध्यान के प्रकरण में कुछ मन्त्रों का निर्देश किया है।[१६६] 'जय भक्तामर' कृति में (पद्य सं. ४१) कवि ने भगवान के नाम का मंत्र जपने से अभीष्ट की प्राप्ति इंगित भी की है।

मंत्र आराधना कविता की तरह एक कला मानी गयी है। जैन परम्परा में सर्वोत्कृष्ट मंत्र भगवान् के नाम ही हैं।[१६७] भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म भी 'मंत्र' है जिसकी आराधना से सम्पूर्ण जगत् वशीभूत किया जा सकता है।[१६८] आचार्य हेमचन्द्र आदि ने परमेष्ठी मन्त्र/नमस्कार मन्त्र को सर्वाधिक मान व आदर दिया है।[१६९] उक्त मन्त्र से अभीष्ट-सिद्धि होना शास्त्र-सम्मत तथ्य है। इसे 'सर्वपाप-प्रनाशन, तथा सभी मंगलों में उत्कृष्ट (प्रथम) बताया गया है।[२००] उक्त दृष्टि से कविश्री द्वारा पठित उक्त मन्त्र (बीजाक्षर-युक्त) निःसन्देह हम सब के लिए कल्याण-साधक हो सकता है।

कविता-कामिनी की कमनीयता

मानव में अलंकरण की प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही रही है। अलंकरण के प्रकार भी अनेक रहे। स्थानांग में अलंकार के चार भेद बताए गए हैं—(१) केश, (२) वस्त्र, (३) माल्य, (४) आभरण।[२०१] इनमें से प्रत्येक के भी अनेक प्रकार रहे—जिनका परिचय प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास तथा उसके आधारभूत ग्रन्थों से ज्ञात किया जा सकता है। अस्तु,

कवि भी एक सामाजिक प्राणी था। अलंकरण की प्रवृत्ति से वह भी प्रभावित हुआ और उसने भी कविता-वनिता को अलंकरणों/आभरणों से सुसज्जित कर प्रस्तुत करने का प्रयास प्रारम्भ किया। काव्य-शास्त्र के आचार्यों द्वारा भी यथासमय अलंकारों की उपयोगिता प्रतिपादित की जाती रही।

आचार्य रुद्रट ने स्पष्ट परामर्श दिया कि कवि उन्हीं शब्दों की सर्जना करे जिनसे काव्य में रमणीयता आ सके।[२०२] हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य केशव ने भी, नारी की तरह कविता के लिए भी अलंकारों की आवश्यकता प्रतिपादित की—"भूसण विना न सोहइ, कविता वनिता मित्त"।[२०३]

जैन आचार्य जिनसेन को अलंकृत व निर्दोष काव्य ही अभीष्ट है।[२०४] उनके मत में सौन्दर्य-हीन काव्य कर्णकटु होने से काव्य की कोटि में ही नहीं आता, जबकि सौन्दर्य-सम्पन्न काव्य सरस्वती के मुख की समानता करता है।[२०५] सुन्दर व अलंकृत काव्य की रचना पुण्य से ही हो पाती है।[२०६]

काव्य में रमणीयता लाने वाले अनेक कारण माने गये हैं—अलंकार, लक्षणा, व्यजना आदि। यथासम्भव आचार्यों द्वारा अलंकारों के विविध प्रकारों एवं उनके स्वरूपादि का विस्तृत विवरण काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रस्तुत किया जाता रहा और कविता-वनिता को अलंकृत का मार्ग प्रशस्त होता गया।

सौन्दर्य-प्रिय कवि अपनी रुचि के अनुरूप काव्य में अलंकारों का प्रयोग कर उसे शाब्दिक व भावगत चारुता/रमणीयता से सम्पन्न बनाता है। अलंकार के अभाव में रचना में मनोज्ञता व सहृदय-संवेद्यता कठिन है। अलंकारों को रस के उत्कर्षक एवं सौन्दर्य के परिवर्द्धन करने वाले आवश्यक उपादानों के रूप में माना गया है। अलंकारों से काव्य तो अलंकृत होता ही है, वस्तु या व्यक्ति में निहित मनो-वैज्ञानिक सौन्दर्य भी उजागर होता है। अलंकारों के पीछे कवि का उत्साह व 'ओज' गुण प्रवर्तक होता है। अलंकार वाणी की सजावट भी करते हैं, और भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम भी होते हैं। अलंकारों द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता एवं प्रेषणीयता, तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। संक्षेप में, अलंकार काव्य के बाह्य धर्म मात्र न होकर आन्तरिक उक्ति के साथ मन से निकले भाषाई रत्न हैं जिसमें कल्पना का रमणीय पुट होता है।

अलंकारों को दो रूपों में वर्गीकृत किया जाता है—(१) शब्द, और (२) अर्थ। केवल भाव-योजना हो तो अर्थालंकार, और भावानुकूल वर्णादि योजना हो तो शब्दालंकार माना गया है। भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए विशेष रूप से चार बातें उपयोगी हैं—(१) वर्ण/अक्षर (स्वर-व्यंजन), (२) शब्द, (३) पद व वाक्य की व्यवस्था एवं सुसज्जित विन्यास (पद-योजना, समास संगुम्फन), (४) अर्थ-सौन्दर्य या चमत्कार। इनमें से प्रथम तीन का समावेश शब्दालंकार में होता है। जैनाचार्य जिनसेन के अनुसार काव्य की चारुता के लिए शब्द व अर्थ—दोनों की सुन्दरता अपेक्षित होती है।[२०७]

आचार्य श्री जीतमल जी म. की कविता में शब्दों की सुसज्जा, अर्थानुकूल प्रयोग, तथा अन्त:स्पर्शी ध्वन्यात्मकता का सहज दर्शन होता है। अलंकारों के सहज प्रयोग ने कविता-कामिनी की नैसर्गिक सुषमा में चार चांद लगा दिए हैं।

इनकी कविता में अलंकारों के बोझिल प्रयोग से न तो गति की मन्दता है, तथा अलंकार-हीनता से न ही कान्ति की अल्पता है। कविता में उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कर भावों को हृदयस्पर्शी बनाया है। बाह्य जगत के पदार्थों को आपने अपने अन्त:करण में ले जाकर उन्हें अपने भावों से अनुरंजित किया है, और विधायक कल्पना द्वारा प्रतिपाद्य विषय की सुन्दर अभिव्यंजना की है। रूप-योजना के लिए अलंकृत और सुन्दर पदों के प्रयोग से कविता में भावप्रवणता आई है।

आचार्यश्री की कविता में प्रयुक्त अलंकारों का संक्षिप्त निदर्शन कराना यहां प्रसंगोचित होगा ।

(क) शब्दालंकार

कवि ने शब्दों को चमत्कृत करने के साथ-साथ भावों की तीव्रता प्रदान करने हेतु शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि की योजना की है ।

[अनुप्रास]—समान वर्णों (अक्षरों) की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं । कविता में अनुप्रास की योजना बीसों पद्यों में की गई है, तथापि कुछ विशिष्ट उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

कलिमलकदनं गतमदमदनं
समगुणसदनं शुभमति-ददनम् ।
विलसितवदनं सुललित-रदनम्,
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।

भवदवशमनं मदकलगमनं
शम-दम-सहितं सुरनरमहितम् ।
विधुसमविमलं वरपदकमलम्,
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।

(अजितजिनस्तव, पद्य - १-२)

उक्त पद्यों में क, ल, म, द, न, स, ज आदि वर्णों के बार-बार आवृत्ति के कारण अनुप्रास की छटा निखर उठी है । साथ ही संगीत की मधुर लय भी संयोजित हो गई है । श्री अजित जिनस्तव तो सारा का सारा अनुप्रास व प्रसाद गुण का सुन्दर उदाहरण बन पड़ा है ।

'ल' व 'ति' का अनुप्रास निम्नलिखित पद्य में कितना मनोहारी है —

मधुरति विषवल्ली, गेहति स्तेनपल्ली,
दिवसति तिमिराली, पुष्पतीषूग्रपाली ।
घनरसति दवोल्का, नामजापेन यस्य,
सुरनुतमभिवन्दे देवचन्द्रप्रभुन्तम् ।।

इसी प्रकार ल, ण, रि, प्र, क, भ आदि वर्णों का अनुप्रास द्रष्टव्य है —

क्रीडत्करालकलिकेतनकृष्णकायम्,
प्राणिप्रणाशनपरं च यमावतारम् ।
प्रोन्मत्तराक्षसगणं परितः परीतम् ,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ।।

('जय भक्तामर' का पद्य सं. ३४)

'निन्दाऽनरीनृत्यत नर्तकीव' (चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि, का पद्य सं. २४) में 'न' का अनुप्रास भी हृदयाकर्षक है ।

[यमक—] एक या अनेक पदों की आवृत्ति हो, अर्थात् वर्णसंघात (स्वर-व्यंजनसमुदाय) की जहाँ आवृत्ति हो, वहां 'यमक' अलंकार होता है। एक-से पदों की आवृत्ति की स्थिति में उनका परस्पर समानार्थक होना निषिद्ध है।

कविश्री के काव्य में 'यमक' अलंकार का प्रयोग कई स्थलों में हुआ है, जिनमें से कुछ उदाहरण यहां निदर्शन हेतु द्रष्टव्य हैं :—

सुविमला विमलाधिप दीयताम्
स्तवकृते तव भक्तिमते मतिः।
सदमितं दमितं जगतः पते !
प्रणमतेऽसुमते सुमते यते ॥
(चतुर्विंशति जिनस्तुति, पद्य-१३)

उपर्युक्त पद्य में 'विमला', 'सुमते', 'दमितं'—इन पदों की आवृत्ति से यमक अलंकार की मनोहरता साकार हो उठी है।

एक और उदाहरण पर दृष्टिपात करें—

मुनि सुव्रत सुव्रततीर्थपतेऽ
शनिनाशनिनाशनिशाद्रि कृते।
भवता भवतापभिदा पतिता,
जनता जनतार समुद्ध्रियताम् ॥
(चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य-२०)

उक्त पद्य में 'सुव्रत', 'भवता', 'जनता'— पदों की आवृत्ति ने रमणीयता उत्पन्न कर दी है।

चतुर्विंशति जिन स्तुति के निम्नलिखित पद्य (सं. २२) में अनुप्रास व यमक का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है—

मोहतमोहतदेहिप्रकाशद
कामनिकामनिकन्दनक ।
रागपरागपरागतकार्मण
वारणवारणपञ्चमुख ।
देव सदैव सतां तनुतां मुद-
माधिप माधिप निर्मदमा-
योऽजनि योऽजनिरत्र शिवा-
तनुजोऽपिशिवाधिपतिस्सुभवान् ॥

इसी प्रकार, 'येनोपलब्धं भवसिन्धुकूलम्, कृताश्च नूनं रिपवोऽनुकूलम्' (कारक श्रद्धांजलि, पद्य सं. ३), 'योगी परं यो गतकोपमानः, धीरो गभीरो विगतोपमानः। यश्चेन्दु-रासीदपि वर्द्धमानः' (चन्द्र-स्वामि-स्मरणांजलि, पद्य सं. ७), 'मेरो नमेरो सुरभूरुहेऽपि', (चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि, पद्य सं. २१),

'बभूव त्यक्तमुक्तोऽपि मुक्ताराधनतत्पर:' (विरोधाभासालंकारश्लोकाष्टक, पद्य-१), 'मुक्ताहार विमुक्तोऽपि मुक्ताहार-विराजित:' (वही पद्य सं. ७), 'सदा सदाचारविचारदक्षात्' (श्रद्धांजलिसप्तक, पद्य सं. ५), 'स्यात्स्वागतं शुभवतां भवतां नितान्तम्' (स्वागताष्टक का पद्य सं. ८), 'सदाऽपायात्पायादर जिनपतेरन्ते-भविजनान्' (चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य सं. १८) आदि-आदि उदाहरणों में 'यमक' अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

[गूढचित्रालंकार—] शब्दालंकारों में चित्रालंकार के अन्तर्गत, 'कारकगूढचित्र' अलंकार परिगणित है। आचार्य रुद्रट ने चित्रालंकार का वर्णन करते हुए, कर्ता आदि कारकों के गुप्त रहने पर 'कारकगूढ' चित्र नामक अलंकार वताया है।[२०८]

आचार्य श्री ने 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' में सम्बोधनगुप्त, करणगुप्त, तथा चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि—(पद्य सं. १७) में कर्तृगुप्त पद्यों की रचना कर 'गूढचित्रालंकार' का प्रयोग किया है।

[श्लेष—] अनेक अर्थों का अभिधान करने वाले शब्दों की योजना से श्लेषालंकार होता है। 'जय भक्तामर' (के पद्य सं. १७) में 'जड़ता-विरोधी' पद सूर्य व तीर्थंकर—दोनों का विशेषण है। सूर्य जल का विरोधी है, तीर्थंकर जड़ता के विरोधी हैं। (श्लेष में 'ल' व 'ड़' का भेद नहीं माना जाता, अतः 'जड़ता-विरोधी, तथा जलता-विरोधी' में भेद नहीं हैं।) इस प्रकार, अनेकार्थक 'जड़ता' शब्द को प्रयुक्त कर काव्य-चमत्कार का सृजन किया है।

विरोधाभास (अर्थालंकार) के साथ 'श्लेष' का प्रयोग कविश्री की कविता 'विरोधाभासालंकार-अष्टक' में दर्शनीय है।

(ख) अर्थालंकार

अर्थालंकार के विना काव्य-सरस्वती 'विधवा' की तरह कान्तिहीन कही जाती है।[२०९] अर्थालंकारों में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोध आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

[उपमा—] सादृश्यमूलक अलंकारों में 'उपमा' एक प्रसिद्धतम अलंकार है। कवि द्वारा किसी वस्तु की रूप-गुण सम्बन्धी विशेषता को स्पष्ट करने के लिए, तथा तन्मूलक भावों को चमत्कृत करने के लिए इस अलंकार की योजना की जाती है। कवि द्वारा निम्नलिखित पद्य में ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति के स्वरूप को सूर्य-उपमान द्वारा चित्रित किया गया है जो चमत्कारपूर्ण बन पड़ा है, साथ ही वहां श्लेष व उपमा (श्लेषोपमा) की सुन्दर योजना हुई है—

ब्रह्मचर्यव्रतसीमयाश्च्युत:,
योऽस्त्यसौ जगति निष्प्रभस्तथा।
दीप्तदीप्तिरपि कन्यकानुग:,
शीतरश्मिरिव दृश्यते रवि:॥

(समस्या-पूर्ति)

—भले ही कोई विशिष्ट कान्ति वाला व्यक्ति हो, किसी कन्या का अनुगामी बन कर ब्रह्मचर्य-व्रत की सीमा/मर्यादा से पतित होकर संसार में उसी प्रकार प्रभाहीन हो जाता है, जिस प्रकार विशिष्ट

दीप्ति (तेज) से युक्त सूर्य भी कन्या-राशि में पहुंच कर ठण्डी किरणों वाले (चांद) की तरह (तेजोहीन) हो जाता है।

उपमा अलंकार की योजना में कवि की कल्पना ने भी काफी योगदान दिया है। अति गाढे काले बालों से युक्त भगवान के तेजस्वी मस्तक की उपमा मेघ-पटल के पार्श्ववर्ती सूर्य-विम्ब से दी गई है:—

श्यामातिसान्द्र सुपमालय केशपाश-
सान्निध्य वासमलिकं न्वधिक तवेह।
स्वामिन् ! विभाति खलु भूरिविकाश शालि,
विम्वं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥

('जय भक्तामर', पद्य सं. २८)

इसी प्रकार, 'भास्वानिवाखिल धरातल भासमानः' (वीरस्तव, पद्य सं. ३) में श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को लोक-प्रकाशक सूर्य की उपमा देकर उनकी सर्वज्ञता व लोक-कल्याण-कारिता को व्यक्त किया गया है।

एक अन्य पद्य 'अगाधध्वान्तारी रविरिव प्रकाशी' (चतुर्विंशति जिन-स्तुति, पद्य-९) में सुविधिनाथ जी को अगाध अन्धकार के विनाशक सूर्य से उपमित करके, उनकी अनन्त-ज्ञानवत्ता व प्रवोधकता को उजागर किया गया है।

शीतलता के लिए चन्द्र की उपमा भी 'शीतांशुरिव शीतलः' (विरोधाभासालंकार-श्लोकाष्टक, पद्य सं. ५) दर्शनीय हैं।

[अर्थान्तर न्यास—] जय भक्तामर के अधिकांश छन्दों में यह अलंकार नियोजित हुआ है।

[उत्प्रेक्षा—] किसी नई सूझ या कल्पना का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए उत्प्रेक्षा-अलंकार का सबसे अधिक आश्रय लिया जाता है। सादृश्य के आधार पर उपमेय का प्रस्तुत वस्तु की अनेक (एक के बाद दूसरे) अप्रस्तुत या उत्कृष्ट उपमानों के रूप में संभावना कर चमत्कार का सृजन करना कल्पना-कुशल कवियों का उद्देश्य रहता है। आचार्य श्री जीतमल जी म. द्वारा रचित 'दीपावली पर्व' शीर्षक कविता उत्प्रेक्षा की सुषमा से जगमगा रही है। आचार्य श्री की कल्पना के कुछ नमूनों पर दृष्टिपात करें :

श्री वीर निर्वाण-दिनं विदित्वा,
भक्त्या समाकृष्टमनाः सुधांशुः।
दीपावली व्याजतया स्वरश्मीन्,
विस्तार्य भूमाववतीर्ण एव ॥

(दीपावली पर्व, पद्य सं. २)

श्री महावीर स्वामी का निर्वाण-दिवस आज है—ऐसा जान कर, भक्ति-भावना से (मर्त्यलोक में अवतरित होने के लिए) आकृष्ट चन्द्रमा मानों दीपावली के वहाने से अपनी किरणों को फैलाता हुआ इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है।

'बभूव त्यक्तमुक्तोऽपि मुक्ताराधनतत्पर:' (विरोधाभासालंकारश्लोकाष्टक, पद्य-१), 'मुक्ताहार विमुक्तोऽपि मुक्ताहार-विराजित:' (वही पद्य सं. ७), 'सदा सदाचारविचारदक्षात्' (श्रद्धांजलिसप्तक, पद्य सं. ५), 'स्यात्स्वागतं शुभवतां भवतां नितान्तम्' (स्वागताष्टक का पद्य सं. ८), 'सदाऽपायात्पायादर जिनपतेरन्ते-भविजनान्' (चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य सं. १८) आदि-आदि उदाहरणों में 'यमक' अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

[गूढचित्रालंकार—] शब्दालंकारों में चित्रालंकार के अन्तर्गत, 'कारकगूढचित्र' अलंकार परिगणित है। आचार्य रुद्रट ने चित्रालंकार का वर्णन करते हुए, कर्ता आदि कारकों के गुप्त रहने पर 'कारकगूढ' चित्र नामक अलंकार बताया है।[२०८]

आचार्य श्री ने 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' में सम्बोधनगुप्त, करणगुप्त, तथा चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि—(पद्य सं. १७) में कर्तृगुप्त पद्यों की रचना कर 'गूढचित्रालंकार' का प्रयोग किया है।

[श्लेष—] अनेक अर्थों का अभिधान करने वाले शब्दों की योजना से श्लेषालंकार होता है। 'जय भक्तामर' (के पद्य सं. १७) में 'जड़ता-विरोधी' पद सूर्य व तीर्थंकर—दोनों का विशेषण है। सूर्य जल का विरोधी है, तीर्थंकर जड़ता के विरोधी हैं। (श्लेष में 'ल' व 'ड़' का भेद नहीं माना जाता, अतः 'जड़ता-विरोधी, तथा जलता-विरोधी' में भेद नहीं हैं।) इस प्रकार, अनेकार्थक 'जड़ता' शब्द को प्रयुक्त कर काव्य-चमत्कार का सृजन किया है।

विरोधाभास (अर्थालंकार) के साथ 'श्लेष' का प्रयोग कविश्री की कविता 'विरोधाभासालंकार-अष्टक' में दर्शनीय है।

(ख) अर्थालंकार

अर्थालंकार के बिना काव्य-सरस्वती 'विधवा' की तरह कान्तिहीन कही जाती है।[२०९] अर्थालंकारों में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोध आदि अलंकारों का प्रयोग किया है।

[उपमा—] सादृश्यमूलक अलंकारों में 'उपमा' एक प्रसिद्धतम अलंकार है। कवि द्वारा किसी वस्तु की रूप-गुण सम्बन्धी विशेषता को स्पष्ट करने के लिए, तथा तन्मूलक भावों को चमत्कृत करने के लिए इस अलंकार की योजना की जाती है। कवि द्वारा निम्नलिखित पद्य में ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति के स्वरूप को सूर्य-उपमान द्वारा चित्रित किया गया है जो चमत्कारपूर्ण बन पड़ा है, साथ ही वहां श्लेष व उपमा (श्लेषोपमा) की सुन्दर योजना हुई है—

ब्रह्मचर्यव्रतसीमयाश्च्युत:,
योऽस्त्यसौ जगति निष्प्रभस्तथा।
दीप्तदीप्तिरपि कन्यकानुग:,
शीतरश्मिरिव दृश्यते रवि:॥

(समस्या-पूर्ति)

—भले ही कोई विशिष्ट कान्ति वाला व्यक्ति हो, किसी कन्या का अनुगामी बन कर ब्रह्मचर्य-व्रत की सीमा/मर्यादा से पतित होकर संसार में उसी प्रकार प्रभाहीन हो जाता है, जिस प्रकार विशिष्ट

दीप्ति (तेज) से युक्त सूर्य भी कन्या-राशि में पहुंच कर ठण्डी किरणों वाले (चांद) की तरह (तेजोहीन) हो जाता है।

उपमा अलंकार की योजना में कवि की कल्पना ने भी काफी योगदान दिया है। अति गाढे काले बालों से युक्त भगवान के तेजस्वी मस्तक की उपमा मेघ-पटल के पार्श्ववर्ती सूर्य-बिम्ब से दी गई है:—

श्यामातिसान्द्र सुपमालय केशपाश-
सान्निध्य वासमलिकं त्वधिक तवेह।
स्वामिन्! विभाति खलु भूरिविकाश शालि,
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥

('जय भक्तामर', पद्य सं. २८)

इसी प्रकार, 'भास्वानिवाखिल धरातल भासमानः' (वीरस्तव, पद्य सं. ३) में श्री वर्द्धमान तीर्थंकर को लोक-प्रकाशक सूर्य की उपमा देकर उनकी सर्वज्ञता व लोक-कल्याण-कारिता को व्यक्त किया गया है।

एक अन्य पद्य 'अगाधध्वान्तारी रविरिव प्रकाशी' (चतुर्विंशति जिन-स्तुति, पद्य-९) में सुविधिनाथ जी को अगाध अन्धकार के विनाशक सूर्य से उपमित करके, उनकी अनन्त-ज्ञानवत्ता व प्रबोधकता को उजागर किया गया है।

शीतलता के लिए चन्द्र की उपमा भी 'शीतांशुरिव शीतलः' (विरोधाभासालंकार-श्लोकाष्टक, पद्य सं. ५) दर्शनीय हैं।

[अर्थान्तर न्यास—] जय भक्तामर के अधिकांश छन्दों में यह अलंकार नियोजित हुआ है।

[उत्प्रेक्षा—] किसी नई सूझ या कल्पना का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए उत्प्रेक्षा-अलंकार का सबसे अधिक आश्रय लिया जाता है। सादृश्य के आधार पर उपमेय का प्रस्तुत वस्तु की अनेक (एक के बाद दूसरे) अप्रस्तुत या उत्कृष्ट उपमानों के रूप में संभावना कर चमत्कार का सृजन करना कल्पना-कुशल कवियों का उद्देश्य रहता है। आचार्य श्री जीतमल जी म. द्वारा रचित 'दीपावली पर्व' शीर्षक कविता उत्प्रेक्षा की सुषमा से जगमगा रही है। आचार्य श्री की कल्पना के कुछ नमूनों पर दृष्टिपात करें :

श्री वीर निर्वाण-दिनं विदित्वा,
भक्त्या समाकृष्टमनाः सुधांशुः।
दीपावली व्याजतया स्वरश्मीन्,
विस्तार्य भूमाववतीर्ण एव ॥

(दीपावली पर्व, पद्य सं. २)

श्री महावीर स्वामी का निर्वाण-दिवस आज है—ऐसा जान कर, भक्ति-भावना से (मर्त्यलोक में अवतरित होने के लिए) आकृष्ट चन्द्रमा मानों दीपावली के बहाने से अपनी किरणों को फैलाता हुआ इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ है।

कवि ने जगमगाती दीपों की पंक्ति में चन्द्रमा की किरणों का आरोप किया है। असत्य को सत्य रूप से उद्‌भावित किया गया है। प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से अन्य अप्रस्तुत अर्थ की सम्भावना की गई है—अतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार की योजना सम्भव हुई है।

कवि-कल्पना के नए आयाम निम्नलिखित पद्यों में दर्शनीय हैं—

स्नेहस्य नाशः किल नो विनाशः,
विलोकयन्तोऽपि भवन्त एवम्।
किं कुर्वते स्नेहमयं मनो न,
संसूचयन्तीति प्रदीपमाला॥
(दीपावली पर्व, पद्य सं. ४)

जगमगाती दीप-माला मानों लोगों को यह बता रही है—देखो! (स्नेह के सहारे ही हम प्रकाश फैला पाती हैं,) ज्योंही स्नेह (तैल) खत्म हुआ, त्योंही हमारा विनाश हुआ। आप हमारी स्थिति को प्रत्यक्ष देखते हैं, फिर भी अपने मन में स्नेह (प्रेम) क्यों नहीं सुरक्षित रखते हैं? (स्नेह खो कर आप लोग निर्जीव क्यों होते जा रहे हैं?)

रत्नाकरोऽयं खलु रत्नराशिम्,
विक्रेतुमिच्छुः समगादिहाद्य।
गृहे-गृहे येन विलोक्यते सा,
संस्थापिता दीपमिषेण मन्ये॥
(दीपावली पर्व, पद्य सं. ६)

मानो रत्नाकर (समुद्र) ही अपनी रत्न-राशि को बेचने की इच्छा से यहाँ आ गया हो, और उसने अपनी बिक्री के माल (रत्न-समूह) को दीपों के बहाने से प्रत्येक घर में रख दिया हो।

'कारक श्रद्धांजलि' में श्रुताचार्य श्री चौथमल जी म. के देहावसान पर कारुण्य-रससिक्त कवि-हृदय वर्षा और नदी को आकाश व पर्वतों की अश्रुधारा के रूप में देखता है:–

यस्मिन् प्रयाते त्रिदिवं मुनीशे
वर्षा नदी व्याजतयाऽश्रुधारा।
व्योमाचलाभ्यामपि किं न मुक्ता,
श्रद्धांजलिर्मे विनतस्य तस्मै॥
(पद्य सं. ७)

इसी तरह आचार्य श्री मोतीराम जी म. के देहावसान को लक्ष्य कर की गई कवि की कल्पना दर्शनीय है–

आजीवनं विदधतोऽपि गतातिचारम्,
श्री वर्द्धमान जिनशासन-सत्प्रचारम्।
मन्ये न तस्य हृदये परितोष आसीद्,
कर्तुं प्रसारमधिकं दिवमित्ययासीत्॥
(मंगल-कामना, पद्य-३)

—आजीवन भ. महावीर प्रभु के शासन की निरतिचार प्रभावना व धर्म-प्रचार करते हुए भी मानों जिसे सन्तोष नहीं हुआ, इसीलिए वे अधिक धर्म-प्रभावना के उद्देश्य से स्वर्ग-लोक सिधार गए हैं।

'स्वागताष्टकम्' (पद्य स. १) में कवि रात्रि में रोने वाले सियारों को लक्ष्य कर कल्पना करता है कि पंजाब केशरी युवाचार्य श्री रूपी सिंह की दहाड़ सुन कर कषाय ही मानों (सियार रूप में) रोदन कर रहे हों—

निःशेषसत्त्वनवजीवन सौख्यदायि,
तेजस्वि पचनदकेसरिसिंहनादम् ।
श्रुत्वेव तत्खलु कषाय - कुरंगसंघाः,
रात्रौ शृगालकपटेन वने रुदन्ति ॥

यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा का सुन्दर उदाहरण बन पड़ा है।

[रूपक—] उपमान व उपमेय को एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न वर्णित किया जाय, वहाँ रूपक अलंकार होता है।

'रूपक' के कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

द्वेषैकवैरिविजयाय धनञ्जयस्त्वम्,
रागाटवी-निरसनाय धनञ्जयस्त्वम्, ।
निः शेष जीवपरिरक्षण-रक्षकस्त्वम्,
संस्तूयसे धवलकीर्ति जयध्वजस्त्वम् ॥
(वीरस्तव पद्य सं. ५)

—हे भगवान् ! द्वेष रूपी प्रमुख शत्रु को जीतने के लिए आप साक्षात् धनंजय (अर्जुन), राग-रूपी वन को नष्ट करने के लिए धनञ्जय (अग्नि), समस्त जीवों के रक्षक तथा धवल कीर्ति की जय पताका रूप हैं—इस प्रकार आपकी स्तुति वारंवार लोग करते हैं।

यहाँ 'हेतुरूपक' का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। द्वेष में वैरी का, राग में वन का तथा भगवान में अर्जुन व अग्नि का आरोप किया गया है।

उक्त पद्य में अर्थ-छटा तो है ही, 'यमक' की शाब्दिक छटा भी हृदयावर्जक है। प्रथम व द्वितीय चरण के अन्त में 'धनंजयस्त्वम्' की व्यवधान पूर्वक आवृत्ति होने से यहां 'प्रथम-द्वितीय पादान्तव्यपेत यमक' अलंकार की योजना हुई है।

अपने आराध्य व पूज्य व्यक्तित्व में भव्य जन रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य का आरोप कर 'रूपक' अलंकार का प्रयोग निम्नलिखित पद्यों में द्रष्टव्य है—

(१) भव्याम्भोज-विकासिनं जिनम्,
वन्दे ज्ञान-प्रभाकरं मुदा,
(चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य सं. १)

(२) भव्याम्बुजव्रात-विकासि भानो !
(चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि, पद्य सं. २०)

पंजाब से आए साधु-समाज के स्वागत में रचे 'स्वागताष्टकम्' में एक स्थल पर कवि-संघ को मिथ्या-वितर्क रूपी अन्धकार के लिए 'सूर्य' के रूप में, तथा विद्या रूपी कमलिनी के लिए सूर्य-तेज के रूप में वर्णित किया गया है—

(१) मिथ्यावितर्क-तिमिरालि-मरीचिमालिन्

(स्वागताष्टकम्, पद्य सं. ६)

(२) विद्याब्जिनी-वन विलास-विभाकरौजः

(वही, पद्य सं. ३)

आचार्य श्री पृथ्वीचन्द्र को जन-मन रूपी कुमुदों को विकसित करने वाला चन्द्र बता कर 'यथा नाम तथा गुणः' की उक्ति की सार्थकता प्रतिपादित की गई है—

आल्हादयन् जनमनः कुमुदान्यतन्द्रः ।
सार्थद्वयो जयतु संयमि-पृथ्विचन्द्रः ।।

(मंगलकामना, पद्य सं. ५)

एक स्थल पर कवि ने अपने श्रद्धेय व्यक्तित्व को कारुण्य रूपी सरोवर से उद्‌गत चन्द्र 'कारुण्य-कासारसमुद्‌गतेन्दो' (चन्द्र स्वामि स्मरणांजलि, पद्य सं. २०) कह कर उनकी करुणा व लोकोपकारी सौम्यभाव को इंगित किया है।

[विरोधाभास व श्लेष—] जहां वास्तव में विरोध न रहने पर भी दो वस्तुओं में परस्पर-विरोध प्रतीत हो, वहां विरोध या विरोधाभास अलंकार होता है। इस अलंकार में असत्य प्रतीति के कारण पहले विरोध प्रतीत होता है, किन्तु बाद में उसका परिहार कर दिया जाता है। विरोध का उक्त आभास कई प्रकार का होता है:—कहीं जाति का जाति, गुण, द्रव्य व क्रिया के साथ, कहीं गुण का क्रिया व द्रव्य के साथ, कहीं क्रिया का क्रिया व द्रव्य के साथ, कहीं द्रव्य का द्रव्य के साथ। उक्त विरोधाभास का परिहार श्लेष के सहायता से अर्थात् शब्द का अन्यार्थ करते हुए किया जाता है।

आचार्य श्री ने विरोधाभास अलंकार की योजना के लिए आठ श्लोकों की एक माला बना कर अपने गुरुवर्यों के प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पित की है, जिसका शीर्षक है—विरोधाभासालंकार-श्लोकाष्टक। उक्त पूरे काव्य में श्लेष व विरोधाभास अलंकार की सुन्दर छटा मुखरित हो उठी है—

बभूव त्यक्तमुक्तोऽपि मुक्ताराधनतत्परः ।
पूर्णावियवदेहोऽपि, सर्वथा गतविग्रहः ।।

(पद्य सं. १)

जो त्यक्तमुक्त (मुक्ता/मोती को छोड़ चुकने वाले) होकर भी मुक्ताराधनतत्पर (मुक्ता के आराधन में संलग्न), थे, पूर्णावियवदेह वाले हो कर भी, गत-विग्रह (शरीर-रहित) थे।

यहाँ 'विरोध' स्पष्ट है। उक्त विरोध का परिहार—'मुक्त+आराधन'—ऐसा विग्रह कर तथा 'विग्रह' पद का युद्ध/संग्राम अर्थ कर किया जाता है। विरोधरहित अर्थ होगा—जो मुक्ता को छोड़ने वाले,

मुक्त आत्माओं की आराधना में तत्पर, पूर्ण-अवयव युक्त देह के धारक तथा युद्ध आदि क्रियाओं से रहित थे।

धृतार्हतैकधर्मोऽपि सर्वधर्मक्रियापरः ।
क्षमाधरोऽपि नैकत्र, कदाचित्-स्थिरवासकृत् ॥
(पद्य सं. ३)

एकमात्र आर्हत धर्म को स्वीकार करने पर भी, सभी धर्मों की क्रिया में तत्पर रहते थे, क्षमा-पृथ्वी के धारक होते हुए भी कहीं एक जगह स्थिर रूप से नहीं रहते थे।

यहां 'क्षमा' का सहिष्णुता/तितिक्षा अर्थ करते हुए, तथा 'सर्वधर्मक्रियापर' का 'सभी धार्मिक क्रियाओं (आवश्यकादि) को करने वाले' अर्थ करते हुए विरोध का परिहार सम्भव है। विरोधहीन अर्थ होगा—वे एकमात्र आर्हतधर्म (जैन) के आश्रित थे, सभी धार्मिक क्रियाओं में संलग्न रहते थे; क्षमावान् थे और कहीं भी स्थिरवास नहीं करते थे।

विद्वद्वृन्दवरेण्योऽपि, प्राज्ञव्यूहशिरोमणिः ।
सर्वदारानुरक्तोऽपि, विरक्तो विषयैः परम् ॥
(पद्य सं. ४)

जो विद्वानों के समूह में श्रेष्ठ रहते हुए भी प्राज्ञ (अधिक मूर्खों के समूह में शिरोमणि थे। सभी दारा (स्त्रियों) में अनुरक्त होते हुए भी, विषयों से पूर्णतया विरक्त थे।

यहां विरोध-परिहार हेतु 'प्राज्ञ' का अर्थ विद्वान, तथा 'सर्वदारानुरक्त' का (सर्वदा + अर + अनुरक्त) 'हमेशा तीर्थकर अरनाथ में अनुरक्त—इस प्रकार ('सभंगश्लेष' के माध्यम से) अर्थ कर किया जाएगा।

सर्वत्र भ्रान्तिशीलोऽपि, कृततत्त्वार्थनिर्णयः ।
सदातप इवाप्तोऽपि, शीतांशुरिव शीतलः ।
(पद्य सं. ५)

—सभी विषयों में भ्रान्ति (भ्रम, संशयादि) से युक्त होने पर भी, जिन्होंने पदार्थों की यथार्थता का निर्णय कर लिया था, और जो सदा आतप (तेज धूप) जैसे होने पर भी चन्द्र की तरह शीतल थे।

यहाँ विरोध के परिहार हेतु 'भ्रान्ति' का अर्थ 'भ्रमण' तथा 'सदातप' का अर्थ 'सर्वदा तपश्चर्या-रत' करना अपेक्षित है।

'चन्द्रस्वामि स्मरणांजलि' में एक पद्य विरोधाभास अलंकार का सुन्दर उदाहरण है—

दोषाकरोऽप्यस्त समस्त दोषः,
दयावतारोऽपि च धीवरो यः ।
व्रतैकनिष्ठो विवुधस्तथापि,
स्मराम्यहं चन्द्रमुनीश्वरं तम् ॥
(पद्य – ८)

—दोषों की खान (दोपाकर) होते हुए भी, सभी दोषों से रहित थे। दया के अवतार होते हुए भी, शिकारी (धीवर) थे। व्रतों के पालन में तत्पर होते हुए भी जो विबुध (देव) थे।

यहां दोषों की खान होना तथा दोषरहित होना– दोनों विरुद्ध कथन प्रतीत होते हैं। इसी तरह, (स्वर्गस्थ देवता व्रती नहीं होते—यह मान्य जैन सिद्धांत है, अतः) देवता होना तथा व्रती होना—यह भी विरुद्ध कथन लगता है। इन विरोधों का परिहार करने हेतु 'दोषाकर' का अर्थ "जिसकी 'दोषा' यानी भुजाएं 'आकर' यानी खान हैं"—ऐसा करना होगा। इसी तरह 'धीवर' का अर्थ 'बुद्धि के कारण श्रेष्ठ', एवं 'विबुध' का अर्थ 'पण्डित' कर विरोध का परिहार सम्भव है।

[परिणाम अलंकार—] जहां आरोप्य (उपमेय) पर किये जाने वाले आरोप की उपयोगिता प्रतिपादित हो, वहां 'परिणाम' अलंकार होता है। उक्त उपयोगिता सामानाधिकरण्य से या वैयधिकरण्य से प्रकट की जा सकती है। 'श्री रत्न श्रद्धाञ्जलि' (के पद्य सं. २) में इस अलंकार की योजना हुई है—

यस्यादेय यशः सुधां हि सरसां पीत्वा प्रतृप्ताः बुधाः।

—जिसकी उपादेय कीर्ति रूपी सरस सुधा को पीकर देवता लोग अच्छी तरह तृप्त हो जाते थे।

यहां कीर्ति में सुधा का आरोप ही नहीं हुआ है, सामानाधिकरण्य से उसकी उपादेयता—देवताओं द्वारा पीकर तृप्त हो जाना—भी प्रतिपादित हुई है।

[व्यतिरेक अलंकार—] जहां उपमान की अपेक्षा 'उपमेय' के गुणाधिक्य का वर्णन हो कर उसका उत्कर्ष दिखाया गया हो, वहां 'व्यतिरेक' अलंकार होता है। इस का सुन्दर उदाहरण 'प्रणामाञ्जलयः' शीर्षक कविता का पांचवां पद्य है –

गम्भीरतायां जडधीः पयोधिः,
कल्पद्रुमः कामितपूरणे च।
मन्ये पराभूतिमवाप यस्मात्,
प्रातः प्रणामाञ्जलयो हि तस्मै॥

उक्त पद्य में गुरुवर्य श्री नथमल जी म. को उपमानों—समुद्र व कल्पवृक्ष—से भी उत्कृष्ट बताया गया है।

इसी प्रकार 'श्री चन्द्रस्वामिस्मरणांजलि' (के पद्य सं ११) में भी व्यतिरेकालंकार की योजना हुई है—

येनेह धैर्ये न समः सुमेरुः,
सर्वंसहा नैव समा क्षमायाम्।
वचोविलासे न सुधा समापि,
स्मराम्यहं चन्द्रमुनीश्वरं तम्॥

उक्त पद्य में उपमेय श्री चाँदमल जी म. को सुमेरु, पृथ्वी, एवं सुधा (अमृत) से भी उत्कृष्ट (गुणों में) बताया गया है, अतः व्यतिरेक अलंकार है।

(ग) काव्य-सौष्ठव

(१) भाषा एवं छन्द

भाषा काव्य का शरीर होती है। भाषा पर काव्य की शारीरिक सुघड़ता निर्भर है। भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।[२१०] यदि भाषा नहीं होती तो कवि अपने भावों का सम्प्रेषण किसके द्वारा करते। भाषा का शाब्दिक रूप एक ज्योति है जिसके सहारे 'ज्ञान' रूप प्रकाश का विस्तार किया जा सकता है।[२११]

जैसे एक कुशल शिल्पकार अपनी कल्पना से सुन्दर शिल्प के द्वारा, और एक कुशल चित्रकार अपने मानसिक भावों को सुन्दर चित्रों के द्वारा व्यक्त करता है, वैसे ही प्रत्येक सहृदय कवि अपने भावों को सुनिश्चित भाषा को अपना कर, काव्य को विविधरंगी शाब्दिक रूप प्रदान करता है।

कवि श्री (आ. श्री जीतमलजी म.) ने अपने काव्य के लिए संस्कृत भाषा को अपनाया है। संस्कृत की दिव्य वीणा में जो आध्यात्मिक संगीत की परिपूर्णता है, वह संसार की अन्य शब्द-तंत्रियों में नहीं प्राप्त होती। संस्कृत का संगीत एक हिल्लोलाकार में प्रवाहित होता है। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल-झंकारों का छेकानुप्रास है। संस्कृत के शब्द नपे-तुले, कटे-छंटे (डायमंड कट के) होते हैं। प्रत्येक शब्द अपने सहवर्ती शब्दों के साथ पग से पग मिला कर चलता हुआ अनुशासित सैनिक की तरह प्रतीत होता है।

कवि श्री ने संस्कृत के अतिरिक्त, हिन्दी में भी कई रचनाएं प्रस्तुत की हैं। पद्य के अतिरिक्त, गद्य में भी लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें किसी भाषा-विशेष से एकान्त आग्रह नहीं है।

कवियों की भिन्न-भिन्न रुचि होती है। कोई शब्द की सुन्दरता का हिमायती है तो कोई भावों में रमणीयता का पक्षधर है। कोई सरल रचना को पसन्द करते हैं तो किसी को कठिन रचना अच्छी लगती है।[२१२] वास्तव में कवि अपनी अपनी रुचि व स्वभाव के अनुसार काव्य-रचना करने के लिए स्वतन्त्र है। समर्थ कवि प्रसंगानुरूप सरलता व कठिनता—दोनों का आश्रय लेकर काव्य-रचना करते हैं। कविश्री की भाषा प्रायः सरल है। उनकी भाषा ऐसी है जिसे सब कोई सहज में समझ लेते हैं, और हृदयंगम कर सकते हैं। पद्य पढते ही उसका अर्थ बुद्धिगम्य हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त हो जाता है। कालिदास भवभूति और तुलसीदास के काव्य की तरह कवि श्री की कविता सरलता की आकर है। हाँ, कुछ स्थलों, में, प्रसंगोचित पाण्डित्य का भी प्रदर्शन हुआ है, वहां भाषा प्रौढ़ व पण्डित-जन-भोग्या बन गई है।

आचार्यों के मत में सहज भाषा के लिए कठिन साधना अपेक्षित होती है। स्वयं सहज व्यक्तित्व द्वारा ही सहजतया सहज भाषा का प्रयोग सम्भव है। व्याकरण व भाषा शास्त्र के आधार पर सहज भाषा नहीं बनाई जा सकती। कोशों में प्रयुक्त शब्दों के अनुपात पर इसे गढ़ा नहीं जा सकता। सहज भाषा, सहज ही महान बना देने वाली भाषा वह है, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अन्ध-संस्कार और परमुखापेक्षिता से उबार सके। इसमें सन्देह नहीं कि कविश्री ने समता-धर्म की साधना करके स्वयं सहज व्यक्तित्व पाया है और उनकी भाषा में भी 'सहजता' प्रत्यक्ष अनुभव में आती है।

[छन्द : प्रयोग—] कविता व छन्द के बीच घनिष्ठ सम्बंध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत

है तो छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार, नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, वैसे ही छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन व वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। छंद से राग की असम्बद्ध झंकारों को एक वृत्त में बोध दिया जाता है। छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युतधारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन पड़ा होता है, भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के लिए कोई एक आदर्श सांचा तैयार नहीं किया जा सकता। जितने प्रकार की अभिव्यक्तियां लय के सामंजस्य के साथ हो सकती थीं, उनका विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है। संस्कृत के छन्दों का विधान नाद-सौन्दर्य की विशेषता पर आधारित है। जैसे, समय-विशेष में राग-विशेष के गाये जाने से चित्र अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द आता है। काव्य के मर्मज्ञ कवि को वर्णनानुरूप प्रभावी छन्द को चयन करने की निपुणता प्राप्त होती है।

आचार्य श्री ने निम्नलिखित अनेक छन्दों का प्रयोग किया है जिससे वर्णन में अधिक शोभा/प्रभावपूर्णता आई है—अनुष्टुप, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा शार्दूलविक्रीडत, वसन्त-तिलका, प्रहरण-कलिता, शुद्ध विराड्, दोधक, मालिनी, प्रवर ललित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, सरसी, तूणक, चित्रसंज्ञ, अनुकूला, सुधी, सुवदना, तोटक स्रग्धरा, महास्रग्धरा, मदिरा, वंशस्थ। स्पष्ट है कि कविश्री किसी एक छन्द के प्रति आबद्ध नहीं प्रतीत होते।

काव्य या महाकाव्य की रचना की अपेक्षा छोटे-छोटे मुक्तक पद्यों के निर्माण के पीछे कविश्री की भावना यह रही होगी कि अल्प समय में ही पाठक को रसानुभूति कराई जा सके, क्योंकि बड़े-बड़े ग्रन्थों के पढ़ने से लोग घबराते हैं। 'वीर' कवि (जंबूसामिचरिउ के रचयिता) (ई. ११ वीं शती) ने भी उक्त मत का समर्थन करते हुए लघु किन्तु सरस काव्य की रचना का औचित्य ठहराया है।[२१३]

(२) माधुर्य व प्रसाद गुण

कवि-कर्म का विशेष गुण वाच्यार्थ की स्पष्टता है। शान्तरसोचित कविता के लिए प्रसाद गुण ही उपादेय माना गया है। वैदर्भी रीति की प्रशंसा कवियों ने की है।

बोधगम्यता कविता का एक सौष्ठव है। शब्द व अर्थ की प्रसिद्धि तथा झटिति अर्थ को समझा देने की क्षमता प्रसाद गुण में होती है। कविश्री ने प्रसाद-मधुरा वाणी के द्वारा संस्कृत काव्य की रस-सरिता प्रवाहित की है।

उनकी रचनाओं में प्रायः अल्पसमास या समास रहित पदों का व्यवहार देखा जाता है। ट-वर्गीय वर्णो का राहित्य तथा श्रुतिमधुर शब्दावली (ट, ण, लघु वर्ण आदि से युक्त) का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इन सबसे सरलता, स्वाभाविकता व प्रसादमयता—ये तीनों गुण उनकी कविता में समाहित हो गए हैं।

पदलालित्य, माधुर्य व प्रसाद गुण के लिए निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं—

कलिमलकदनं गतमदमदनम्,
समगुणसदनं शुभमतिददनम् ।
विलमितवदनं सुललितरदनम्,
अयि भज सुमनोऽजित जिनमनिशम् ।।
भवदवशमनं मदकलगमनम्,
शम-दमसहितं सुरनरमहितम् ।
विधुसमविमलं वरपदकमलम्
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।
अशरण-शरणं नयसृतिसरणम्,
प्रमदविहरणं भवभयहरणम् ।
कृतिकुलभरणं भविहितकरणम्,
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।

(अजितजिनस्तव, पद्य सं. १ - ३)

'प्रहरणकलिका' नामक छन्द में रचित उक्त पद्यों में जिस रूप में काव्य-सौष्ठव निखरा है, वह सहज ही हृदयस्पर्शी है । उक्त पद्यों में जो संगीतवद्धता है, वह पुरातन जैन कवि श्री शीलरत्न द्वारा रचित श्री चतुर्विंशति जिन स्तुति-संग्रह के निम्नलिखित पद्यों का स्मरण करा देती है—

दधतं सततं सुमहानवमं विगलन्मलजालमिहानवमम् ।
सदनं परमप्रशमं नवमं जिनमंचत भव्यजना नवमम् ।।
पुरुहूतपरम्परया महितम्, समधामहितं सुखधामहितम् ।
विदलन्तमघं भविनाम हितम्, सुविधिं स्मर भव्यकलामहितम् ।।

(सुविधिजिन स्तुति, पद्य-सं. ३ व ४)

भाषा में सहज प्रवाह तथा संगीतमयता के कुछ और उदाहरण दर्शनीय हैं—

मधुरति विषवल्ली, गेहति स्तेनपल्ली,
दिवसति तिमिराली, पुष्पतीषूग्रपाली ।
धनरसति दवोल्का नामजापेन यस्य,
सुरनुतमभिवन्दे देवचन्द्रप्रभुं तम् ।।

(चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य-८)

सुविमला विमलाधिप दीयताम्,
स्तवकृते तव भक्तिमते मतिः ।
सदमितं दमितं जगतः पते,
प्रणमतेऽसुमते - सुमते यते ।।

(वही, पद्य सं. १३)

है तो छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार, नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, वैसे ही छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन व वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। छंद से राग की असम्बद्ध झंकारों को एक वृत्त में बोध दिया जाता है। छन्दबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युतधारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन पड़ा होता है, भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अभिव्यक्तियों के लिए कोई एक आदर्श सांचा तैयार नहीं किया जा सकता। जितने प्रकार की अभिव्यक्तियां लय के सामंजस्य के साथ हों सकती थीं, उनका विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है। संस्कृत के छन्दों का विधान नाद-सौन्दर्य की विशेषता पर आधारित है। जैसे, समय-विशेष में राग-विशेष के गाये जाने से चित्र अधिक चमत्कृत होता है, वैसे ही वर्णन के अनुकूल वृत्त-प्रयोग करने से कविता का आस्वादन करने वालों को अधिक आनन्द आता है। काव्य के मर्मज्ञ कवि को वर्णनानुरूप प्रभावी छन्द को चयन करने की निपुणता प्राप्त होती है।

आचार्य श्री ने निम्नलिखित अनेक छन्दों का प्रयोग किया है जिससे वर्णन में अधिक शोभा/प्रभावपूर्णता आई है—अनुष्टुप, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा शार्दूलविक्रीडत, वसन्त-तिलका, प्रहरण-कलिता, शुद्ध विराड्, दोधक, मालिनी, प्रवर ललित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, सरसी, तूणक, चित्रसंज्ञ, अनुकूला, सुधी, सुवदना, तोटक स्रग्धरा, महास्रग्धरा, मदिरा, वंशस्थ। स्पष्ट है कि कविश्री किसी एक छन्द के प्रति आबद्ध नहीं प्रतीत होते।

काव्य या महाकाव्य की रचना की अपेक्षा छोटे-छोटे मुक्तक पद्यों के निर्माण के पीछे कविश्री की भावना यह रही होगी कि अल्प समय में ही पाठक को रसानुभूति कराई जा सके, क्योंकि बड़े-बड़े ग्रन्थों के पढ़ने से लोग घबराते हैं। 'वीर' कवि (जंबूसामिचरिउ के रचयिता) (ई. ११ वीं शती) ने भी उक्त मत का समर्थन करते हुए लघु किन्तु सरस काव्य की रचना का औचित्य ठहराया है। [२१३]

(२) माधुर्य व प्रसाद गुण

कवि-कर्म का विशेष गुण वाच्यार्थ की स्पष्टता है। शान्तरसोचित कविता के लिए प्रसाद गुण ही उपादेय माना गया है। वैदर्भी रीति की प्रशंसा कवियों ने की है।

बोधगम्यता कविता का एक सौष्ठव है। शब्द व अर्थ की प्रसिद्धि तथा झटिति अर्थ को समझा देने की क्षमता प्रसाद गुण में होती है। कविश्री ने प्रसाद-मधुरा वाणी के द्वारा संस्कृत काव्य की रस-सरिता प्रवाहित की है।

उनकी रचनाओं में प्रायः अल्पसमास या समास रहित पदों का व्यवहार देखा जाता है। ट-वर्गीय वर्णों का राहित्य तथा श्रुतिमधुर शब्दावली (ट, ण, लघु वर्ण आदि से युक्त) का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। इन सबसे सरलता, स्वाभाविकता व प्रसादमयता—ये तीनों गुण उनकी कविता में समाहित हो गए हैं।

पदलालित्य, माधुर्य व प्रसाद गुण के लिए निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

कलिमलकदनं गतमदमदनम्,
समगुणसदनं शुभमतिददनम् ।
विलसितवदनं सुललितरदनम्,
अयि भज सुमनोऽजित जिनमनिशम् ।।
भवदवशमनं मदकलगमनम्,
शम-दमसहितं सुरनरमहितम् ।
विधुसमविमलं वरपदकमलम्
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।
अशरण-शरणं नयसृतिसरणम्,
प्रमदविहरणं भवभयहरणम् ।
कृतिकुलभरणं भविहितकरणम्,
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।

(अजितजिनस्तव, पद्य सं. १ - ३)

'प्रहरणकलिका' नामक छन्द में रचित उक्त पद्यों में जिस रूप में काव्य-सौष्ठव निखरा है, वह सहज ही हृदयस्पर्शी है । उक्त पद्यों में जो संगीतबद्धता है, वह पुरातन जैन कवि श्री शीलरत्न द्वारा रचित श्री चतुर्विंशति जिन स्तुति-संग्रह के निम्नलिखित पद्यों का स्मरण करा देती है—

दधतं सततं सुमहानवमं विगलन्मलजालमिहानवमम् ।
सदनं परमप्रशमं नवमं जिनमंचत भव्यजना नवमम् ।।
पुरुहूतपरम्परया महितम्, समधामहितं सुखधामहितम् ।
विदलन्तमघं भविनाम हितम्, सुविधिं स्मर भव्यकलामहितम् ।।

(सुविधिजिन स्तुति, पद्य-सं. ३ व ४)

भाषा में सहज प्रवाह तथा संगीतमयता के कुछ और उदाहरण दर्शनीय हैं—

मधुरति विषवल्ली, गेहति स्तेनपल्ली,
दिवसति तिमिराली, पुष्पतीपूग्रपाली ।
धनरसति दवोल्का नामजापेन यस्य,
सुरनुतमभिवन्दे देवचन्द्रप्रभुं तम् ।।

(चतुर्विंशति जिन स्तुति, पद्य-८)

सुविमला विमलाधिप दीयताम्,
स्तवकृते तव भक्तिमते मतिः ।
सदमितं दमितं जगतः पते,
प्रणमतेऽसुमते - सुमते यते ।।

(वही, पद्य सं. १३)

(३) कल्पना-प्रयोग

कवि श्री ने प्रस्तुत के प्रति अनुभूति उत्पन्न करने के लिए जिस अप्रस्तुत की योजना की है, वह स्वाभाविक एवं हृदयावर्जक है, साथ ही प्रस्तुत की भांति भावोद्रेक करने में सक्षम भी। कविश्री ने अपनी कल्पना के बल से प्रस्तुत प्रसंग के मेल में अनुरंजक अप्रस्तुत की योजना कर आत्माभिव्यंजना में सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः कवि ने चर्म-चक्षुओं से देखे गये पदार्थों का अनुभव कर कल्पना द्वारा एक ऐसा नया रूप दिया है जिससे बाह्य जगत् और अन्तर्जगत का सुन्दर समन्वय हुआ है। जगत् के पदार्थों को अपने अन्तः करण में ले जाकर उन्हें अपने भावों से अनुरंजित किया है और विधायक कल्पना द्वारा प्रतिपाद्य विषय की सुन्दर अभिव्यंजना भी की है।

उत्प्रेक्षा व उपमा आदि अलंकारों की योजना में कल्पना की मनोरम उड़ाने देखते ही बनती हैं। 'जय भक्तामर' (के पद्य सं. 22) में (प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशु-जालम्' की समस्यापूर्ति/पादपूर्ति) कवि की कल्पना का सुन्दर रूप देखिए—

एकस्तु संसृतिरतिर्व्रतिपो हि चान्यः,
आसीदितीश नहि दूषणमत्र मातुः।
चन्द्रं कलंकसहितं विकलंकमर्कम्।
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥

—एक ही माता के दो बेटे किन्तु उनमें एक सांसारिक रुचि वाला है और दूसरा विरक्त व व्रती जनों में मूर्धन्य। इसमें माता का भला क्या दोष? एक ही प्राची (पूर्व) दिशा है, जहाँ से निष्कलंक व चारों ओर प्रकाश बिखेरता तेजस्वी सूर्य भी उदित होता है और कलंकी चन्द्र भी।

उक्त पद्य में भक्तामर स्तोत्र (मानतुंग कृत) की अपेक्षा अधिक मनोहर कल्पना का प्रयोग हुआ है।

(४) भाव साम्य

कवि श्री की 'जय भक्तामर' शीर्षक रचना मानतुंगाचार्य के प्रसिद्ध स्तोत्र 'भक्तामर स्तोत्र' के पद्यों के अंतिम चरण की पूर्ति के रूप में रचित है।

काव्य-जगत् में पूर्ववर्ती कवियों की कृति से लाभान्वित होना कोई दोष नहीं है। परन्तु उसमें कवि की अपनी प्रतिभा का योग नितान्त अपेक्षित है। अपने से पूर्ववर्ती कवि के भवन से जो ईंट उसने निकाली है, उसे नूतन भवन में कम से कम वैसे ही कौशल से लगानी चाहिए जिस कौशल से पूर्ववर्ती कवि द्वारा लगाई गई थी। विशेषता तो तब है, जब पूर्ववर्ती कवि की अपेक्षा और भी अधिक सफाई व सुन्दरता से उस ईंट को बैठाया जाय। इस तरह पूर्ववर्ती कवि के भावों की चोरी का दोष नहीं लगेगा। एक आचार्य ने कहा है—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्,
सुकविरुपनिबध्नन् निन्द्यतां नोपयाति॥[२१४]

—जिस कविता में सहृदय भावुक को यह दिखाई दे कि इसमें कुछ नवीनता है तो वह कविता चमत्कार पूर्ण कही जाएगी, भले ही उसमें पूर्ववर्ती कवि के भावों की छाया ही क्यों न हो। वस्तुतः भाव अपनाने में कोई दोष नहीं है। यदि उस काव्य के निर्माता ने पुरानी छाया पर ही सही, नूतन भाव दिए हैं तो वह निन्दनीय नहीं है।

किन्तु इसके विपरीत, मात्र शब्द-परिवर्तन कर पुराने भावों को ही पुनः उपस्थापित करने वाला कवि 'चोर' ही कहा जाएगा।[२१५]

कविश्री ने 'जय भक्तामर' में पूर्ववर्ती कवि आ. मानतुंग द्वारा रचित 'भक्तामर स्तोत्र' के कुछ भावों को लिया भी है तो उसे अधिकांशतः नवीन कल्पना से, विशिष्ट चिन्तन-शक्ति से, संवारा-सजाया है और नवीन रूप प्रदान किया है। दोनों स्तोत्रों को साथ-साथ सामने रखकर उक्त तथ्य को हृदयंगम किया जा सकता है। उदाहरणार्थ कुछ पद्यों पर मनन-चिन्तन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

आ. मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र के पद्य सं. ४१ तथा कविश्री के 'जय भक्तामर' स्तोत्र के पद्य सं. ३७ की तुलना करें। भक्तामर स्तोत्र में भाव है कि भगवान् के नाम की 'नागदमनी' (जड़ी-बूटी) जिसके पास है, वह क्रोधी भयानक सर्प को भी निःशंक होकर लांघ जाता है। 'जय भक्तामर' में सामान्य सर्प की जगह तीक्ष्ण-दंष्ट्र पारिवारिक सुख-भोग रूपी सर्प से अप्रभावित/अपीड़ित रहने का भाव वर्णित है।

यहां कवि-श्री की कल्पना अधिक संगत व औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है। कारण स्पष्ट है—सांसारिक सर्प को तो अन्य उपायों से भी वश में किया जा सकता है, पर भावात्मक सर्प जो अधिक भयंकर है, भगवत्स्मरण व भगवद्भक्ति के सिवा अन्य किसी उपाय से निग्रह-योग्य नहीं है।

इसी तरह, भक्तामर स्तोत्र के पद्य सं. ४३ में उल्लेख है कि भगवान् के चरण-कमल का आश्रय लेने वाले भयंकर से भयंकर युद्ध में भी विजय प्राप्त करते हैं। 'जय भक्तामर' स्तोत्र में पद्य सं. ३९ में युद्ध-जय के स्थान पर विमुक्ति-रमणी की प्राप्ति बताई गई है। नि.सन्देह, भक्ति से सांसारिक वस्तुओं के लाभ की अपेक्षा मोक्ष की प्राप्ति बताना अधिक यथार्थ व उचित प्रतीत होता है।

इसी तरह, भक्तामर स्तोत्र के पद्य सं. १५ में वर्णन है—"अप्सराओं द्वारा भगवान् के मन में किसी प्रकार का भी विकार पैदा नहीं किया जा सका। ठीक भी है, कहीं मन्दराचल भी विचलित किया जा सका है?" 'जय भक्तामर' स्तोत्र के पद्य सं. १५ में अप्सराओं के स्थान पर मिथ्यादृष्टियों को रखा गया है। अप्सरा आदि द्वारा संभावित उपसर्गों की अपेक्षा मिथ्यादृष्टियों की ओर से पैदा किए उपसर्गों को अधिमान देना अधिक यथार्थ व व्यावहारिक है। देवादिकृत उपसर्ग तो हम सब के लिए अप्रत्यक्ष हैं, पर मिथ्यादृष्टि-कृत उपसर्गों को हम आज भी अनुभव कर सकते हैं।

कवि-श्री की कविता में निहित भावों का साम्य अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी देखा जा सकता है।

श्री अजितजिन-स्तव के पद्य सं.२ तथा 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के (२०/७) पद्य में भाव-साम्य देखिए—
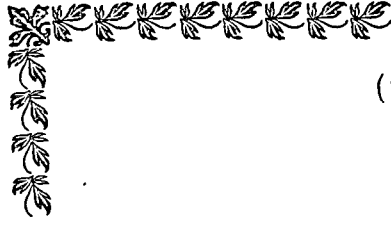
(१) भवदवशमनं मदकलगमनम्,
शमदमसहितं सुरनरमहितम् ।
विधुसमविमल वरपदकमलम्,
अयि भज सुमनोऽजितजिनमनिशम् ।।
(अजित जिनस्तव)

(२) तव जिन ! चरणाब्जयुगं,
करुणामृतसंग शीतलं यावत् ।
संसारातपतप्तः,
करोमि हृदि तावदेव सुखी ।।
(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

इसी तरह, 'जय भक्तामर' स्तोत्र के पद्य सं. ३० में निहित भाव को दशवैकालिक सूत्र (९/१/१५) तथा सूत्रकृतांग (१/६, गाथा-१९) में खोजा जा सकता है—

(१) विभ्राजसे त्वमिह तीर्थचतुष्टये वै,
पूर्णः कलानिधिरिवोडुसमूहमध्ये ।
शस्त्रेषु वज्रमिव शैलतटान्तरेकम्,
उच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ।।
(जय भक्तामर)

(२) जहा ससी कोमुई जोगजुत्तो,
नक्खत्ततारागण परिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ।।
(दशवैकालिक)

(३) थणियं व सद्दाण अणुत्तरे तु,
चंदो व ताराण महाणुभागे ।
गंधेसु या चंदणमाहु सेट्ठे,
सेट्ठं मुणीणं अपडिण्णमाहु ।।
(सूत्रकृतांग)

(उपसंहार) कविश्री के समूचे काव्य की सर्वांशतः समीक्षा करना सूर्य के सामने दीपक जलाने जैसा होगा । फिर भी, यथाशक्ति, उनके काव्य की समीक्षा यहाँ की गई है ।

आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज रससिद्ध कवि हैं । उनका यश रूपी शरीर अजर-अमर होकर हम सभी के लिए दिव्य प्रेरणा-स्रोत बने—यही शासन-देव से प्रार्थना है ।

।। सन्दर्भ-स्थल ।।

१. द्र. सन्मतितर्क-२/१६. राजवार्तिक-१/२६/४, विशेपावश्यक भाष्य-१०/६४/६५, १४०-१४२, आवश्यक निर्युक्ति-८९-९०, द्वादशार नयचक्र (चतुर्थ अर)-पृ ५, पद्मपुराण-१०५/१०७, उग्रादित्य कृत कल्याणकारक-१/४६, पृ. १६, षट्खण्डागम-धवला-पु. १२, पृ. १७१ ।

२. अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः । मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यास लक्षणः (योग दृष्टि समुच्चय-आ. हरिभद्र-११) ॥ कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् (समयसार-कलश, आ. अमृतचन्द्र, ४/१०३) ।

३. अकिरिया किंफला ? सिद्धिपज्जवमाणफला पण्णत्ता गोयमा । गाहासवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हये तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी (भगवती सू. २/५/८) । निष्कर्मत्वं सुखाय विदितं तु (योग शास्त्र हेमचन्द्र-१२/५०) । अकम्मुणा कम्म खवेंति वीरा (सूत्रकृतांग-१/१२/१५) ।

४- निवृत्ति भावयेत् नित्यम् (आत्मानुशासन-गुणभद्र, २३६) । प्रवृत्तिलक्षण - धर्मसंन्यासायाः प्रव्रज्यायाः (योगदृष्टि. १० पर स्वोपज्ञ व्याख्या) । निःशेष-कर्मफल संन्यसनान्ममैव सर्वक्रियान्तर-विहार-निवृत्तवृत्तेः (समयसार कलश आ. अमृतचन्द्र-२३१) । संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना (समयसार कलश-१०९) । पंचास्तिकाय-१६९.

५. द्र. प्रशमरति प्रकरण (आ. उमास्वामी)-५३-५७, ३०-३१,४३; उत्तराध्ययन सूत्र-३२/७, ३१/३, मूलाचार (आ. वट्टकेर) २४७, इष्टोपदेश (पूज्य-पाद)-११, अध्यात्मसार-१८/११०, आदि-पुराण-२१/२४ ।

६. प्रवचनसार (आ. कुन्द कुन्द)-१/८१,८४,८८, उत्तराध्ययन सू. ३१/३, परिणिव्वुतो णाम राग-द्दोस-विमुक्के (उत्त. चू. १०) । आराधना-सार (देवसेन)-६८, आदि पुराण (जिनसेन)-३८/१६०

७. उत्तराध्ययन सूत्र-२५/३०, ३१,२९/४६, ३१/३, ३२/१९, स्थानांग-तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि । सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि (पचास्तिकाय-१७२) ॥ योगशास्त्र (हेम.) ६/१३ ।

८. उत्त. सू. ३२/७, पंचास्तिकाय (आ. कुन्दकुन्द)-१२८ ।

९. प्रवचनसार-२/८३-८४, पंचास्ति. १२९ ।

१०. उत्तरा. सू. ९/६२, ७/२५-२६, पंचास्तिकाय-१५५-५६, आत्मानुशासन-२३७, मूलाचार-१०/५,१०, इसिभासियाइं-१६/२, आराधनासार (देवसेन)-७१,६७, मोक्षप्राभृत (कुन्दकुन्द)-३१, भगवती आराधना (शिवार्य)-१२६२-६३, समाधिशतक (पूज्यपाद)-४७-४८,७२,१०५, ज्ञानार्णव-२२/३ ।

११. उत्तरा. सू. २१/१९, ३०/१, ३२/२, ६, दशवैकालिक सू. २/५, शील-प्राभृत (कुन्दकुन्द -२७ आराधनासार-६८, योगशास्त्र (हेम.) ४/४६, पद्मपुराण-१२३/७४-७५ ।

१२. मोक्षप्राभृत-१६, आचारांग सू. १/३/६२, सूत्र प्राभृत-१५, इसिभासियाइं ३५/१४, द्वादशानुप्रेक्षा (कुन्दकुन्द)-३१, नियमसार (कुन्दकुन्द)-३८, तत्त्वार्थसार (अमृतचंद्र) १/७, पद्मपुराण १२३/१७९ ।

१३. समयसार-१०/१०५, मूलाचार-४८-४६, ८६६, योगशास्त्र (हेम.)-१२/६-११, पद्मनन्दि-पंचविंशतिका-४/७५,६/२७, समाधिशतक-५०, ५७, मोक्षप्राभृत-७१,१२-२०, उत्तराध्ययन-३२/१०१-१०३।

१४. योग-शास्त्र (हेम.) १/१८, अध्यात्मसार (उपा. यशोविजय)-११/१५-१७, सूत्रकृतांग-१/१०/२०-२१, उत्तरा. सू. ३१/२-३, अनगारधर्मा. ३/२२।

१५. क. पद्मनन्दि पंचविंशतिका-२३/१६, ५/२, नियमसार कलश-११४, समाधिशतक-६०, ३०, २७, १७, ज्ञानार्णव (शुभचंद्र) २६/२२।

ख. अध्यात्मसार-११/१८-२२, समाधिशतक-८६,६८-६६, मोक्षप्राभृत-४-७, योगशतक (हरिभद्र)-८५,इष्टोपदेश-४७,

१६. मोक्षप्राभृत-३३, १०२, उत्तरा. सू. २६/१२-२१, २६/१६-२६ सूत्र, ३२/३, षोडशक प्रकरण (हरिभद्र) १३/१, अध्यात्मसार-२०/३२, योगबिन्दु (हरिभद्र)-५०८-६, योगशतक (हरिभद्र)-३३-३५, बोधप्राभृत-५७, ४४, रयणसार (कुन्दकुन्द)-१०, ६६, अनगार धर्मा. ६/२-३, ७, स्थानांग सू. ४/२/२५८, मोक्षप्राभृत-१०२, रत्नकरण्डश्रावकाचार-१/१०, दशवैका. ८/६२।

१७. क. स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्। ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्यां, परमात्मा प्रकाशते (तत्त्वानुशासन रामसेन-८१)। एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (दशवैका. ६/२)। सज्झाओ झाणसिद्धियरो (कार्तिकेयानुप्रेक्षा-१२/४६१)।

ख. मूलाचार-५/४१०, तत्त्वानुशासन-७६, अनगारधर्मा. ६/१, तथा ६/७ पर संस्कृत टीका, भगवती आराधना – १८६६, १०३, समवायांग सू. ३२/२०६।

१८. शास्त्रव्यसनमन्येषां व्यसनानां हि बाधकम् (हरिवंश पुराण-जिनसेन, २१/३६)।

१६. तत्त्वार्थसूत्र-६/२५, स्थानांग-२/४/२४६-५०, ४/१/६७, ५/३/२२०, औपपातिक सू. १६, आचारांग-१/६/५/१६६, १३/५७५, मूलाचार-३६३, उत्तरा. सू. २६/२०, २४, ३०/३४, अनगार-धर्मामृत-७/८२-८८, आदि पुराण-१/१४४, १/१०८-११६, मूलाचार-२६४।

२०. क. अनगार धर्मामृत-८/३, अध्यात्मसार-१८/१०६, समयसार-३/२५, ७/१६६-१६७ उत्तरा. सू. ३२/६६, अनगारधर्मा-४/२५, भगवती आरा.११०२।

ख. भवेच्छा यस्य विच्छिन्ना, प्रवृत्तिः कर्मभावजा। रतिस्तस्य विरक्तस्य सर्वत्र शुभवेद्यतः (अध्यात्मसार-५/१४)॥ यथा मरुन्नरेन्द्र श्रीस्त्वया नाथोपभुज्यते। यत्र तत्र रतिर्नाम विरक्तत्वं तदापि ते (वही-५/१३)॥ विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव (समय. १६३ पर आत्मख्याति टीका)।

२१. पूज्या गुणगरिमाढ्याः, धार्यो रागो गुणलवोऽपि (अध्यात्मसार- २०/३६)॥ गुणिषु प्रमोदम् (परमात्मषट्त्रिंशिका-१, अमितगति-द्वात्रिंशिका-१)। तु. उत्तरा. सू. १७/४, २१, सेव्या धर्माचार्याः (अध्यात्मसार-२०/४१)। स्थैर्यं वृद्धानुवृत्त्या च (अध्यात्मसार-२०/४४)। अनगार धर्मा. ८/५०, मोक्षप्राभृत-५२, भावप्राभृत-६१, समवायांग-३०/१६६ (२४ गाथा)। भगवती आरा. १३३, उपासकाध्ययन-६१, पृ. २५,

२२. प्रवचनसार (कुन्दकुन्द)-३/४६-४६, आदिपुराण-१/१८८, ४७/१६६, अध्यात्मसार-२०/३२, ४१,४३, योगदृष्टिसमुच्चय-२३, भगवती आराधना-१२८४-८७, ७३६,

[तुलना – पीतीसुण्णो पिसुणो (निशीथ-भाष्य-६२१२)–प्रीतिशून्यता पिशुनता है।]
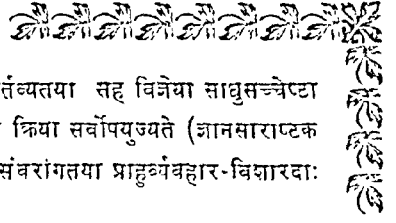
२३. गुरुविनयः स्वाध्यायो योगाभ्यासः परार्थकरणं च। इतिकर्तव्यतया सह विज्ञेया साधुसच्चेष्टा (आ. हरिभद्रकृत षोडशक प्रकरण-१३/१)। निर्लेपज्ञानमग्नस्य क्रिया सर्वोपयुज्यते (ज्ञानसाराष्टक ११/४)। शास्त्रं गुरोस्तु विनयं क्रियामावश्यकानि च। संवरांगतया प्राहुर्व्यवहार-विशारदाः (अध्यात्मसार-१८/१४१)।

२४. सप्लुतोदक इवान्धुजलानां सर्वः सकलकर्मफलानाम्। सिद्धिरस्ति खलु यत्र तदुच्चैः ध्यानमेव परमार्थनिदानम् (अध्यात्मसार-१७/४)।

२५. बहुदोषनिरोधार्थम् अनिवृत्तिरपि क्वचित्। निवृत्तिरिव नो दुष्टा योगानुभवशालिनाम् (अध्यात्म-सार-५/२२)। जा चिट्ठा सा सव्वा संजमहेउं ति होति समणाणं (निशीथ भाष्य-२६४)। नाणी नवं न बन्धइ (दशवैकालिक निर्युक्ति-३१६)। समयसार-७/१६३, भावसंग्रह (आ. देवसेन)-६१०, सज्ञानं यदनुष्ठानं न लिप्तं दोषपंकतः (ज्ञानसाराष्टक-आ यशोविजय-११-८)। अनगारधर्मा. ८/४, आत्मानुशासन-१८० ।

२६. सूत्रकृतांग सू. १/१२/१६, परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद् भान्त्वहर्निशम् (अनगारधर्मा. १/११)। स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ (अनगार धर्मा.६/२०)।

२७. न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदर्शनात् (आदि पुराण-१/७६)। हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारंगतर्पकाः (ज्ञानार्णव-५/१६)। उत्तर पुराण-७४/४१६, न च हितोपदेशात्परः पारमार्थिकः परार्थः (स्याद्वादमंजरी, श्लोक ३ पर, पृ. १२)।

२८. श्रेयोर्थिना हि जिन शासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः (वरांग चरित-३/१३)। आदपरसमुद्धारो आणा वच्छलदीवणा भत्ती। होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स (भगवती आराधना-११०)। प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च। सम्यक्तत्त्वोपदेशाय, सतां सूक्तिः प्रवर्तते (ज्ञानार्णव-१/८)।

२९. उत्तरपुराण-७०/३२५, पद्मनन्दि पंचविंशतिका-१/६१, ज्ञानार्णव-६/३-६, १८/८-९, पद्म-पुराण-५/३४१, योगशास्त्र (हेमचन्द्र)-१/३७, स्थानांग-६/१००, ७/१३२-३३, दशवैकालिक-७/११, ५६, ८/४७, उत्तरा. सू. १/२५, १६/२७, नियमसार-६२, सूत्रकृतांग-१/६/२५, अनगार धर्मा. ४/१६५-६६, समवायांग-३५/२२२, भगवती आराधना-८१७, ८२३-२६, मूला-चार-३७७-७८, आचारांग-२/४/१/५२०-५३२, आदि पुराण -१८/१२३ ।

३०. समयसार-३/७४ पर तात्पर्यवृत्ति टीका।

३१. इत्थं सदुपदेशादेः तन्निवृत्तिरपि स्फुटा। सोपक्रमस्य पापस्य नाशात् स्वाशयवृद्धितः (अध्यात्मसार-१२/४४)।

३२. तपस्वी जिनभक्त्या च शासनोद्भावनोत्थया। पुण्यं बध्नाति बहुलं मुच्यते तु गतस्पृहः (अध्यात्म-सार-१८/१६०)। रागादयो मलाः खल्वागमसद्योगतो विगम एषाम्। तदयं क्रियात एव हि पुष्टिः शुद्धिश्च चित्तस्य। पुष्टिः पुण्योपचयः शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता। अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन् क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया (षोडशक प्रकरण-३/३-४)।

३३. सूत्रकृतांग-१/१०/२३, १/६/२२, १/१३/२२, अध्यात्मसार-११/२, उत्तरा. सू. ३५/१८, ज्ञानार्णव-४/३४, रयणसार (कुन्दकुन्द)-१२२।

३४. द्र. अध्यात्मसार-३/२०-२२।

३५. अध्यात्मसार-१/८, ७/११,

३६. त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः । येषां धर्मकथांगत्वं भारती प्रतिपद्यते । धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते । शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते (आदिपुराण-१/६२-६३) ।

३७. धर्म्यं शस्यं यशस्यं च काव्यं कुर्वन्तु धीधनाः (आदि पुराण-१/७४) । अनगारधर्मा. ४/४३,

३८. काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते—इति श्यामदेवः । मनस एकाग्रता समाधिः । समाहितं चित्तमर्थान् पश्यति । ....समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः । ... सा केवलं काव्ये हेतुः – इति यायावरीयः (राजशेखर कृत काव्यमीमांसा-पृ. २६-२७) ।

३९. को कल्लाणं निच्छइ (वृहत्कल्प भाष्य-२४७) ।

४०. काव्यनिर्माण को ७२ कलाओं में परिगणित किया गया है—द्र. समवायांग-७२/३५६, ज्ञाताधर्मकथा-१/६९. राजप्रश्नीय सूत्र-२११, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-वक्षस्कार-२ में शान्तिचन्द्राचार्यकृत वृत्ति (पत्र सं. १३६-१३७), कुवलयमाला-२१/२६,

औपपातिक सूत्र ४० (पत्र सं. ३४०) में 'आशुकवित्व' को ७२ कलाओं में परिगणित किया गया है ।

महिलाओं की ६४ कलाओं में भी 'काव्य-शक्ति' का परिगणन है (द्र. जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति-वक्षस्कार २ में शान्तिचंद्राचार्यकृत वृत्ति, पत्र सं. १३९-१४०) ।

वात्स्यायन कृत कामसूत्र में (विद्यासमुद्देश प्रकरण) ६४ कलाओं में 'काव्यसमस्यापूर्ति' का नाम उल्लिखित है ।

४१. असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः । सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवंचकाः (ज्ञानार्णव-१/२६) ।

[तुलना – ज्ञानार्णव-९/८]

४२. स्थानांग सू.४/४/६४४ ।

४३. अलंकार-चिन्तामणि-१/९७ ।

४४. अलंकार चिन्तामणि-१/७ ।

४५. आदि पुराण-१/६३ ।

४६. आदि पुराण-१/७४ ।

४७. आदि पुराण-१०/१५, ५/२२-२३ ।

४८. पद्मनन्दि पंचविंशतिका-१/१११-१२, शृंगारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च (वही-१/११२) अनुयोगद्वार सूत्र-१२९-१३५ पर हरिभद्रीय वृत्ति ।

४९. राजवार्तिक (अकलंक)-१/२०/१२ ।

५०. शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता (धनंजयकृत दशरूपक-४/४५) । रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः (दशरूपक पर धनिक कवि कृत व्याख्या-४/४५) । शान्तस्य शमसाध्यत्वात् (पंडितराज जगन्नाथ कृत रसगंगाधर) ।

५१. निवृत्तौ यथा शान्तो रसः, तथा प्रवृत्तौ मायारसः इति प्रतिभाति (आ. भानुदत्त का मत, द्र. रस-सिद्धान्त – डा. नगेन्द्र—संस्कृत-अनुवाद, पृ. २११) ।

५२ शमः पुष्टो विभावाद्यैरेव शान्तरसो यथा (अलंकार-चिन्तामणि-५/१२६)।

५३. अलंकार-चिन्तामणि-५/१२७-१२९ ।

५४. हेमयोगशास्त्र-२/१५, सर्वार्थसिद्धि-१/२, तत्त्वार्थ-भाष्य-१/२, राजवार्तिक-१/२/३०, अनगार-धर्मामृत-२/५१, अध्यात्मसार-१२/५८, ज्ञानार्णव-६/४, आदिपुराण-२१/९७, तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक-१/२ सू. पर श्लोक-१२ (पुस्तक सं. २, पृ. २९-३४), श्रावक प्रज्ञप्ति-५३-६२ ।

५५. इनके स्वरूप हेतु देखें – अध्यात्मसार-६/१६-१९ ।

५६. उवसमसारं खु सामण्णं (बृहत्कल्पभाष्य-१/३५) (कल्पसूत्र-२८६)। तुलना – शमोपदेशं शरणं प्रपद्ये (स्वयम्भू स्तोत्र – आ. समन्तभद्र-१३४) ।

५७. प्रशमरतिप्रकरण-१७, तत्त्वानुशासन-१३९ ।

५८. महाभारत-वनपर्व-३१३/९० ।

५९. यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम् । तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् (यशस्तिलक-आ. ६, ३२३)॥ प्रशमो रागादीनामनुद्रेकः (राजवार्तिक-१/२/३०)। प्रशमो रागादीनां विगमोऽनंतानुबन्धिनाम् (अनगार धर्मा. २/५२)। तत्रानन्तानुबन्धिनां रागादीनां मिथ्यात्व-सम्यग्-मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेकः प्रशमः (तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक-१/२ पर, पुस्तक सं. २, पृ. ३०)।

६०. अध्यात्मसार-६/४ ।

६१. शमजलनिधिपूरक्षालितांहः-कलंकः (नियमसार कलश-११०)।
तुलना – शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम् (ज्ञानार्णव-१८/१०९)। मतिनदी सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति, पापाय धर्माय च (नीतिवाक्यामृत-३०/७८ धर्मसमुद्देश)।

६२. श्वेता. मत में सातवें गुणस्थान में, दिगम्बर मत में चौथे से सातवें गुणस्थान में धर्मध्यान सम्भव है ।

६३. प्रशमरतिप्रकरण-१२७-१२८, (तुलना-'यमप्रशमिनः कालः कदा यास्यति'-पद्मनन्दि पंच. ५/६)।

६४. अनुयोगद्वार सूत्र, सू. २८/गाथा-२, पृ. १७८, तथा आवश्यक वृत्ति-गाथा-३ ।

६५. मूलाचार-५१६, अनगार धर्मा. ८/१७, राजवार्तिक-६/२४/११, आचारसार-१/३३-३९ ।
(तुलना—आदि पुराण-११/७५, तत्त्वार्थसूत्र-१/२० भाष्य, आवश्यक-निर्युक्ति गाथा-११०३, पृ. ४९२ आदि)
अनुयोगद्वार सूत्र (सू. ५९, पृ. २४१) में चतुर्विंशतिस्तव के स्थान पर 'उत्कीर्तन', तथा वन्दना के स्थान पर 'गुणवत्प्रतिपत्ति' नाम हैं ।

६६. पद्मनन्दि पंचविंशतिका-६/७ ।

६७. स्थानांग-३/१/२० ।

६८. राजवार्तिक-६/२४/१० ।

६९. अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद् हिता च जननीति । तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञात स्यात्प्रीतिभक्तिमान् (षोडशक प्रकरण-आ. हरिभद्र-१०/५)। प्रीत्या पत्न्याः क्रियते, भक्त्या मातुः इति इयान् विशेषः (आ. यशोविजय कृत टीका, वही) ।

७०. मूलाचार-१/२४ ।

७१. उत्तराध्ययन सू. २९/१५।
७२. स्वयम्भूस्तोत्र-२१/१ (११६), १२/२ (५७)।
७३. षोडशक प्रकरण-९/८।
७४. उत्तराध्ययन-२९/१४।
७५. अध्यात्मसार-१८/१२३।
७६. भगवती आराधना-७४४-७४६, षोडशक प्रकरण-१०/२, आवश्यक निर्युक्ति-९१७, ९८३।
७७. न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः। नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः (आदि पु. ९/१७५)।
दशवैका. ९/१/१७।
७८. आदि पुराण-९/१७३, हेम. योगशास्त्र-१२/१५-१६, पद्मनन्दि पंच. ६/१८।
७९. दशभक्ति-६/२-३, दशवैका. ९/१/१३।
८०. स्थानांग १०/१३७, मनुस्मृति-२/१४७-१४८, १५०-१५२, १७१।
८१. उत्तर पुराण-६३/२२२।
८२. उपदेशमाला-धर्मदासगणि, २६९।
८३. स्थानांग-३/१/८७।
८४. प्रशमरति प्रकरण-७१, मनुस्मृति-२/१४६।
८५. हरिवंश पुराण-९/१३१।
८६. अध्यात्मसार-१८/१४१।
८७. स्थानांग-५/२/१३४।
८८. द्र. षोडशक प्रकरण-१३/१, पद्मनन्दि पंच. ६/१९, दशवैका. ९/१/११-१२, ९/२/१२, २२-२३, सूत्रकृतांग-१/९/३३, उत्तरा. सू. १/१/७, ४५, स्थानांग-७/१३०, भगवती सू. २५/७/२१९-२३४, सागारधर्मा. २/४५-४७, हरिवंश पुराण-६४/३८।
८९. हरिवंशपुराण-२१/१५६ (अक्षरस्यापि चैकस्य पुंसः प्रत्युपकारतः। कृतित्वमुपकार्यस्य नान्यथेति विदो विदुः)। तुलना—मनुस्मृति—२/१४९।
९०. स्थानांग-४/४/६२१।
९१. द्र. स्थानांग-४/१/११३-११४।
९२. द्र. समयसार-नाटक, पद्य-६।
९३. उपासकाध्ययन-८१३, सागार धर्मा. २/६४ पृ. १००, धवला (षट्खण्डागम)-सू. १/१/१ (पु. १, पृ. ५३-५४)।
९४. स्थानांग-७/१३०।
९५. स्थानांग-४/४/६२१।
९६. द्र. जैनलक्षणावली. पृ. ९८३ (भाग-३)।
९७. भगवती सूत्र-२५/३/२२३ (देखें-दर्शन विनय के अन्तर्गत 'अनाशातना' का भेद)।
९८. ऋषि, मुनि आदि एकार्थक हैं (द्र. मूलाचार-७/२११), सूत्रकृतांग-१६/२२।

९९. स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम् (आदि पुराण-१६/९८) ।

१००. वात्स्यायन-कामसूत्र, विद्यासमुद्देशप्रकरण ।

१०१. काव्यमीमांसा, अ. १० ।

१०२. अन्यकाव्यसुशब्दार्थ-च्छायां नो रचयेत् कविः । स्वकाव्ये सोऽन्यथा लोके पश्यतोहरतामरेत् ।। समस्या-पूरणं कुर्यात् परशब्दार्थगोचरम् । पराभिप्रायवेदित्वात् न कविर्दोषमृच्छति ।। (अलंकार चिन्तामणि–१/९८-९९) ।।

१०३. आदि पुराण-९/१६०-१६१ ।

१०४. साधोः संगमनाल्लोके न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत् (पद्म पुराण-१०१/१३) ।

१०५. दशवैकालिक-८/५३ ।

१०६. भगवती सूत्र-२/१/२० ।

१०७. भगवती आराधना-१३१९-२७ भद्रबाहु चरित-४/११९-२०, सागारधर्मामृत-१/७ ।

१०८. परमात्मप्रकाश-२/८८-९३ ।

१०९. आत्मानुशासन-१४९-१५०, १९७ ।

११०. तिलोयपण्णत्ति-१/२९ ।

१११. तिलोयपण्णत्ति-१/१५ ।

११२. सूत्रकृतांग-१/६/२३, दशवैकालिक-८ अ., उत्तराध्ययन-१६ वां तथा ३२वां अध्ययन ।

११३. प्रश्नव्याकरण, नवम संवरद्वार-ब्रह्मचर्य अध्ययन ।

११४. स्थानांग-९/३ ।

११५. दशवैकालिक-४/६१ ।

११६. अध्ययन १६ ।

११७. अनगारधर्मामृत-४/६१ ।

११८. प्रश्नव्याकरण सूत्र, नवम संवरद्वार-ब्रह्मचर्य अध्ययन ।

११९. स्थानांग-८/२४, अनुयोगद्वार-१२८/१३३ तथा उस पर हरिभद्रीय वृत्ति ।

१२०. कामस्तदग्रे समवर्ततावधि (ऋग्वेद-१०/२९/४) ।

१२१. उत्तराध्ययन सूत्र-३२/१९, प्रवचनसार-१/६३-६४, भगवती सूत्र-१४/६/६-९ ।

१२२. ज्ञानार्णव-११/१८ ।

१२३. ज्ञानार्णव-११/४६ ।

१२४. कामगुणविरक्तिरेव जिनेन्द्रमार्गप्रतिपत्तिः (उत्तराध्ययन-१४/४ पर बृहद् वृत्ति, पत्र-३९७) ।

१२५. सूत्रकृतांग-१/१२/५५३(१९) ।

१२६. स्थानांग-४/३/४५४, ४/२/२६१, ४/४/५५८ ।

१२७. उत्तराध्ययन-९/५४, २३/५३, ३२/२०, दशवैकालिक-८/३९, सूत्रकृतांग-१/६/२६, आवश्यक निर्युक्ति-३००-३०१, निशीथ भाष्य-२७९३, बृहत्कल्पभाष्य-२७१२ ।

१२८. दशवैकालिक-८/३६-३९, ९/३/४, ११, सूत्रकृतांग-१/६/२६, उत्तराध्ययन-२३/११, ३२/१०७,

१२९. पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता (बोध प्राभृत-२५, विमोचिदो गुरुकलत्त पुत्तेहि (प्रवचनसार-३/२) । द्र. सूत्रकृतांग-१/१२/२२, प्रवचनसार-३/४, ३/७९, ९०, ९२ ।

डॉ. दामोदर शास्त्री

१३०. दशवैकालिक-२/२/१, पंचवस्तुक (हरिभद्र)-१६७६, १६८३ ।

१३१. उत्तराध्ययन-१०/२६, ६/६, दशवैकालिक-१०/१, ८/७, सूत्रकृताग-२/१/६६६-७१, पंचवस्तुक-५, ३६/४१, अष्टप्रकरण (हरिभद्र)-४/६ ।

१३२. असिधाराव्व संचरियव्वं (ज्ञाताधर्मकथा-प्रथमाध्ययन) । स्थानांग-५/१/३२, उत्तराध्ययन-३/१० १६/३८, आचारांग-१/१/३/२१ ।

१३३. उत्तराध्ययन-१६/३७ ।

१३४. स्थानांग-३/२/१८२ ।

१३५. स्थानांग-४/३/४२१, दशवैका. ८/६० ।

१३६. स्थानांग-४/३/४५० ।

१३७. दशवैकालिक चूलिका-१ ।

१३८. उत्तराध्ययन सूत्र-३२/१०४, दशवैका. ६/१६ ।

१३६. सन्मति तर्क (सिद्धसेन)-३/६६, उत्तराध्ययन-१०/३३, दशवैकालिक निर्युक्ति-३००/३०१ ।

१४०. बालाण जो उ सीसाणं जीहाए उवलिंपए । न सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरी जाण वेरियो (गच्छाचार प्रकीर्णक-१७) ॥

१४१. प्राज्ञः हेयोपादेयबुद्धिमान् (उत्तराध्ययन-१५/२ पर शान्त्याचार्यकृत बृहद्वृत्ति, पत्र सं. ४१४) । मूलाचार-५/७०-७१ ।

१४२. आचारांग-१/३/३/१२५-१२६, बारस अणुवेक्खा-२०, पद्मनन्दि पंच. १/१२६, भगवती आरा. १/६, मोक्षप्राभृत-१०२, आदि पुराण-२०/१५६-१५७, समयसार कलश-१८५, शीलप्राभृत-२३, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-५, २०५, नियमसार-६६ ।

१४३. स्थानांग-४/४/६२१-६२२, १०/७४६ ।

१४४. अध्यात्मसार-६/१२-१५ ।

१४५. दशवैकालिक-७/४८ ।

१४६. द्र. पद्मपुराण-५/३४१, स्थानांग-६/१००, मूलाचार-३७७-७८, सूत्रकृतांग-१/६/२५, १/१४/१८-२१, दशवैकालिक-७/११, उत्तराध्ययन-१/२५, हरिवंश पुराण-२/१२३, राजवार्तिक-६/५/५, योगदृष्टि समु.- १४२ ।

१४७. सूत्रकृतांग-१/७/२७, १/१०/२३, १/६/२२, ज्ञानार्णव-४/३४, प्रवचनसार-३/२६, आचारांग-चूलिका-१६/७, अध्यात्मसार-११/२, उत्तराध्ययन-३५/१८, रयणसार-१२२ ।

१४८. आचारांग-१/४/१/१३३ ।

१४६. उत्तराध्ययन-३२/१०२ ।

१५०. समयसार-८/२७१ ।

१५१. अभिधान राजेन्द्र कोष-२३२ ।

१५२. समयसार-६/२६७ ।

१५३. समयसार की टीका—आत्मख्याति (आ. अमृतचन्द्र कृत) का मंगलाचरण ।

१५४. आचारांग-१/५/६/१७६ ।

१५५. ज्ञानार्णव-५/१३, आत्मानुशासन-२३५, पद्मनन्दि पंच, ४/५८, १५, ८/१३, २२/१, १/१५७, आदि पुराण-२६/८७, समयसार-३/७४, ७६।

१५६. उत्तराध्ययन-४/५।

१५७. उत्तराध्ययन-१०/१-३६।

१५८. स्थानांग-६/४४।

१५९. पंचसंग्रह-१/१५।

१६०. राजवार्तिक-८/१/३०।

१६१. भगवती आराधना ६१३ की विजयोदया टीका।

१६२. गोम्मटसार-जीव काण्ड-३५।

१६३. ज्ञानार्णव-२०/१।

१६४. ज्ञानार्णव-२२/२०, २२।

१६५. प्रवचनसार-१/७।

१६६. उत्तराध्ययन-३२/१०७।

१६७. ज्ञानार्णव-१८/४३, हेम. योगशास्त्र-४/१०।

१६८. ज्ञानार्णव-१८/६०, ३६, ४२, हेम. योगशास्त्र-४/११, भगवती आराधना-१३६१, (द्वीपायन मुनि कथा हेतु देखें- हरिवंश पु. ६१/१०८)।

१६९. षट्खण्डागम-४/४-५।

१७०. नियमसार-१६४, १६५।

१७१. आवश्यक निर्युक्ति-१०३।

१७२. भगवती आराधना-७७०।

१७३. व्यवहार भाष्य-७/२१६।

१७४. तिलोय पण्णत्ति-१/४।

१७५. ज्ञानार्णव-७/२३, योगविन्दु-२८५, हरिवंश पुराण-४३/१३३।

१७६. स्थानांग-२/४/४२२।

१७७. ज्ञानार्णव-३/१८।

१७८. उपासकाध्ययन-३५/५०८।

१७९. मोहो विण्णाण-विवच्चासो-(निशीथ चूर्णि-२६)।

१८०. अनगारधर्मामृत-१/१५, उत्तराध्ययन-४/५।

१८१. रयणसार-५३।

१८२. भगवती आराधना-७६७।

१८३. ज्ञानार्णव-२१/३७। १८४. दशाश्रुतस्कन्ध-५/१२।

१८५. तत्त्वानुशासन-१६।

१८६. आचारांग-१/५/१/१४८।

१८७. मोहमल्लो निवार्यताम् (ज्ञानार्णव-२१/३५)।

१३०. दशवैकालिक-२/२/१, पंचवस्तुक (हरिभद्र)-१६७६, १६८३।

१३१. उत्तराध्ययन-१०/२६, ६/६, दशवैकालिक-१०/१, २/७, सूत्रकृताग-२/१/६६६-७१, पंचवस्तुक-५, ३६/४१, अष्टप्रकरण (हरिभद्र)-४/६।

१३२. असिधाराव्व संचरियव्वं (ज्ञाताधर्मकथा-प्रथमाध्ययन)। स्थानांग-५/१/३२, उत्तराध्ययन-३/१० १६/३८, आचारांग-१/१/३/२१।

१३३. उत्तराध्ययन-१६/३७।

१३४. स्थानांग-३/२/१८२।

१३५. स्थानांग-४/३/४२१, दशवैका. ८/६०।

१३६. स्थानांग-४/३/४५०।

१३७. दशवैकालिक चूलिका-१।

१३८. उत्तराध्ययन सूत्र-३२/१०४, दशवैका. ६/१६।

१३९. सन्मति तर्क (सिद्धसेन)-३/६६, उत्तराध्ययन-१०/३३, दशवैकालिक निर्युक्ति-३००/३०१।

१४०. बालाण जो उ सीसाणं जीहाए उवलिंपए। न सम्ममग्गं गाहेइ, सो सूरी जाण वेरियो (गच्छाचार प्रकीर्णक-१७)॥

१४१. प्राज्ञः हेयोपादेयबुद्धिमान् (उत्तराध्ययन-१५/२ पर शान्त्याचार्यकृत बृहद्वृत्ति, पत्र सं. ४१४)। मूलाचार-५/७०-७१।

१४२. आचारांग-१/३/३/१२५-१२६, बारस अणुवेक्खा-२०, पद्मनन्दि पंच. १/१२६, भगवती आरा. १/६, मोक्षप्राभृत-१०२, आदि पुराण-२०/१५६-१५७, समयसार कलश-१८५, शीलप्राभृत-२३, कार्तिकेयानुप्रेक्षा-५, २०५, नियमसार-६६।

१४३. स्थानांग-४/४/६२१-६२२, १०/७४६।

१४४. अध्यात्मसार-६/१२-१५।

१४५. दशवैकालिक-७/४८।

१४६. द्र. पद्मपुराण-५/३४१, स्थानांग-६/१००, मूलाचार-३७७-७८, सूत्रकृतांग-१/६/२५, १/१४/१८-२१, दशवैकालिक-७/११, उत्तराध्ययन-१/२५, हरिवंश पुराण-२/१२३, राजवार्तिक-६/५/५, योगदृष्टि समु.- १४२।

१४७. सूत्रकृतांग-१/७/२७, १/१०/२३, १/६/२२, ज्ञानार्णव-४/३४, प्रवचनसार-३/२६, आचारांग-चूलिका-१६/७, अध्यात्मसार-११/२, उत्तराध्ययन-३५/१८, रयणसार-१२२।

१४८. आचारांग-१/४/१/१३३।

१४९. उत्तराध्ययन-३२/१०२।

१५०. समयसार-८/२७१।

१५१. अभिधान राजेन्द्र कोष-२३२।

१५२. समयसार-६/२६७।

१५३. समयसार की टीका—आत्मख्याति (आ. अमृतचन्द्र कृत) का मंगलाचरण।

१५४. आचारांग-१/५/६/१७६।

१५५. ज्ञानार्णव-५/१३, आत्मानुशासन-२३५, पद्मनन्दि पंच, ४/५८, १५, ८/१३, २२/१, १/१५७, आदि पुराण-२६/८७, समयसार-३/७४, ७६।
१५६. उत्तराध्ययन-४/५।
१५७. उत्तराध्ययन-१०/१-३६।
१५८. स्थानांग-६/४४।
१५९. पंचसंग्रह-१/१५।
१६०. राजवार्तिक-८/१/३०।
१६१. भगवती आराधना ६१३ की विजयोदया टीका।
१६२. गोम्मटसार-जीव काण्ड-३५।
१६३. ज्ञानार्णव-२०/१।
१६४. ज्ञानार्णव-२२/२०, २२।
१६५. प्रवचनसार-१/७।
१६६. उत्तराध्ययन-३२/१०७।
१६७. ज्ञानार्णव-१८/४३, हेम. योगशास्त्र-४/१०।
१६८. ज्ञानार्णव-१८/६०, ३६, ४२, हेम. योगशास्त्र-४/११, भगवती आराधना-१३६१, (द्वीपायन मुनि कथा हेतु देखें- हरिवंश पु. ६१/१०८)।
१६९. षट्खण्डागम-४/४-५।
१७०. नियमसार-१६४, १६५।
१७१. आवश्यक निर्युक्ति-१०३।
१७२. भगवती आराधना-७७०।
१७३. व्यवहार भाष्य-७/२१६।
१७४. तिलोय पण्णत्ति-१/४।
१७५. ज्ञानार्णव-७/२३, योगविन्दु-२८५, हरिवंश पुराण-४३/१३३।
१७६. स्थानांग-२/४/४२२।
१७७. ज्ञानार्णव-३/१८।
१७८. उपासकाध्ययन-३५/५०८।
१७९. मोहो विण्णाण-विवच्चासो-(निशीथ चूर्णि-२६)।
१८०. अनगारधर्मामृत-१/१५, उत्तराध्ययन-४/५।
१८१. रयणसार-५३।
१८२. भगवती आराधना-७६७।
१८३. ज्ञानार्णव-२१/३७। १८४. दशाश्रुतस्कन्ध-५/१२।
१८५. तत्त्वानुशासन-१६।
१८६. आचारांग-१/५/१/१४८।
१८७. मोहमल्लो निवार्यताम् (ज्ञानार्णव-२१/३५)।

१८८. मोहमहावनवारणेन हन्यते (भगवती आराधना-१३१६ पर विजयोदया टीका)।

१८९. आदि पुराण ३५/२४१, ज्ञानार्णव-२२/४, ४/२२, ४३/१०५, उत्तरपुराण-५०/६८।

१९०. ज्ञानार्णव-२०/७। १९१. नियमसार कलश-८६, १४१-१४२, २२८-२२६ आदि।

१९२. आवश्यक निर्युक्ति-१०६६, प्रवचनसार-१/६८, आदि पुराण-४१/६, धवला पु. १, पृ. ५५, हरिवंश पुराण-२/१५१।

१९३. नन्दीसूत्र-७, ८ गाथा। १९४. ज्ञानार्णव-१/२, आदि पुराण-२/७।

१९५. भगवती आराधना-१४७२।

१९६. द्र. तत्त्वानुशासन-१०१-१०८, १८३-१८७, ज्ञानार्णव-३४-३५ प्रकरण, हेम.योगशास्त्र-७-८ प्रकरण।

१९७. विषापहार स्तोत्र (धनंजय कवि-८वीं-९वीं शती कृत)-१४।

१९८. धर्मो जगत्-त्रयवशीकरणैकमन्त्रः (पद्मनन्दि पंच. २/१६)।

१९९. हेम. योगशास्त्र- ८/३२, ज्ञानार्णव-३८/४१।

२००. मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं (आवश्यक सूत्र)। २०१. स्थानांग-४/४/६३६।

२०२. रचयेद् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् (काव्यालंकार-२/६)।

२०३. कविप्रिया (ग्रंथ)। २०४. आदि पुराण-१/६४।

२०५. आदि पुराण-१/६६-६७। २०६. आदि पुराण-२०/१३४।

२०७. आदि पुराण-१/६५ (केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्। वाचामलंक्रियां प्राहुः तद्द्वयं नो मतं मतम्)॥

२०८. काव्यालंकार-५/२६।

२०९. अर्थालंकार-रहिता विधवेव सरस्वती (अग्नि पुराण-३४४/२)।

२०१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वाक्यपदीय-भर्तृहरि, १/१)।

२११. इदमन्धन्तमं कृत्स्नं जायेन भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः आ संसारान्न दीप्यते॥ (काव्यादर्श-१/४)।

२१२. केचित्सौशब्द्यमिच्छन्ति, केचिदर्थस्य संपदम्। केचित्समासभूय-स्त्वं परे व्यस्तां पदावलीम्॥ मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धैषिणः परे। मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते (अलंकार चिन्तामणि-१/१०४-१०५, तथा आदि पुराण-१/७८-७९)।

२१३. जंबूसामिचरिउ-१/५/११; १/१८/ सं. पद्य-२-३।

२१४. ध्वन्यालोक-४/१६।

२१५. जंबूसामिचरिउ-(१/२/१४-१५)।

—उपाचार्य एवं अध्यक्ष : जैन दर्शन विभाग
श्री ला. ब. शास्त्री के. सं. विद्यापीठ
(शिक्षा मंत्रालय : भारत सरकार)
कटवारिया सराय
नई दिल्ली - ११००१६

एक सफल हिन्दी निबन्धकार आचार्य-श्री जीतमल जी महाराज

डॉ. दामोदर शास्त्री

आ. श्री जीतमल्ल जी महाराज श्रमण-संघ के युगद्रष्टा आचार्य, गम्भीर श्रुत-आराधक तथा आगम-परम्परा के महान् व्याख्याता होने के साथ-साथ उच्च कोटि के स्वतन्त्र चिन्तक व समर्थ कवि हैं। उनकी लेखनी से संस्कृत, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में रचना प्रसूत हुई हैं।

'जीत' का अर्थ है—मर्यादा, व्यवस्था, सूत्र।[1] उसके लिए 'मल्ल' यानी प्रवल पक्षधर, रक्षक। अपने नाम के अनुरूप ही आचार्यश्री श्रमण-मर्यादा के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं। संयमी जीवन के वे मन-वचन-काय से समर्थक, पोषक एवं सजग प्रहरी हैं। वे आचार्य-पदोचित सूत्र-सम्पदा के अनुरूप स्वसमय-परसमयज्ञता से सम्पन्न हैं,[2] वचन-सम्पदा के अनुरूप प्रभावशाली वक्तृत्व-शक्ति के धनी हैं, तथा वाचना-सम्पदा के अनुरूप उनमें जिन-वाणी के प्रचार-प्रसार हेतु मार्मिक शास्त्रीय विवेचना की निपुणता भी विद्यमान है। उनमें वाग्वैदुष्य के साथ-साथ लेखन-वैदुष्य भी है जिससे उनके व्यक्तित्व को चार चांद लग गए हैं, साथ ही लोक-मानस में सदाचार की प्रतिष्ठा भी हुई है।[3]

---

१. सूत्रम्, जीतं मर्यादा व्यवस्था स्थितिः कल्प इति पर्यायाः (नन्दी सूत्र, गाथा-२६ पर हारिभद्रीय वृत्ति)।

२. रयणसार १४४, प्राकृत आचार्य-भक्ति–२, जैन न्यायखण्ड खाद्य (यशोविजय) पद्य–८४, अध्यात्मसार–६/१७, दशाश्रुत स्कन्ध (चतुर्थ दशा–सू. ७९-८६)।
(तुलना—ज्ञेयः परसिद्धान्तः स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् (आ. सिद्धसेन कृत द्वात्रिंशिका–८/६) स्वसमयपरसमयवित्-सुखं परमताक्षेपमुखेन स्वसमयं प्ररूपयति (दशवैकालिक-प्रथमाध्ययन-हारिभद्रीयवृत्ति, उपोद्घात, पृ. ४)।

३. आचार्या यत्सदाचारं चरन्त्याचारयन्ति च (पद्मपुराण-जैन, १०९/८९)।
(तुलना—आचिनोति च शास्त्रार्थम्, आचारे स्थापयन्त्यपि। स्वयमाचरते यस्माद् आचार्यस्तेन चोच्यते (वायुपुराण-५९/३०, उद्धृत-योगसूत्र-२/२४ पर वाचस्पतिकृत टीका)।

संसार में दो प्रकार के विद्वान् व मनीषी होते हैं। एक तो वे जो स्वयं विद्वान् होते हैं और सन्देह आदि से रहित होते हैं, किन्तु वे दूसरों को समझाने के कौशल की कमी के कारण अपने ज्ञान को दूसरों में संक्रान्त नहीं कर पाते।[४] दूसरे प्रकार के वे विद्वान् होते हैं जिनमे (स्वयं कम भी जानते हों, पर) दूसरों को समझाने का कौशल अच्छा होता है, जिससे वे अपने ज्ञान को, उसी रूप में, या कभी-कभी अधिक स्पष्टता से दूसरों में संक्रान्त करने में सफल होते हैं। महाकवि कालिदास के मन में वह विद्वान् अधिक आदरणीय है जिसमें दोनों प्रकार की विशेषताएं हैं, अर्थात् जो स्वयं भी प्रखर पाण्डित्य वाला हो और दूसरों को शिक्षित करने में भी पटु हो।[५]

आचार्यश्री की गणना उन पुण्य-पुरुषों में की जा सकती है जिनमें ज्ञान-राशि निरन्तर समृद्ध होती रहती है।[६] आचार्यश्री के उर्वर मस्तिष्क रूप सीप में ज्ञान-जल स्वतः 'मुक्ता' रूप धारण करता रहता है।[७]

आचार्यश्री जीतमल जी महाराज स्वयं तो आगम-मर्मज्ञ हैं ही, उनकी व्याख्यान-शैली भी श्रोताओं के हृदय पर चमत्कारी प्रभाव डालने वाली है। उन विशिष्ट व्याख्याता का स्वरूप लेखनी के माध्यम से उनकी रचनाओं में भी झांकता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

साहित्य के माध्यम से साहित्यकार के विचारों व व्यक्तित्व की युगपत् अभिव्यक्ति होती है। सर्वाधिक जीवन्त रचना वही कहलाती है जिसे पढ़ने से प्रतीत हो कि ग्रन्थकार अपने अन्तस् से सब कुछ बाहर फूल की भांति खिला रहा है। जो साहित्य अपने पाठक में तन्मयता पैदा न कर सके, उसके चिन्तन को झकझोर न सके, उस साहित्य को निर्जीव/निष्प्रभावी समझना चाहिए। आचार्यश्री के साहित्य में वह जीवन्तता है जो पाठक में आत्मचिन्तन-मनन की प्रेरणा पैदा कर, उसे व्यक्तित्व-उन्नयन की दिशा में अग्रसर बना सके।

उनके साहित्य में आम जनता के हृदय को भावाभिभूत करने की अजेय शक्ति है, प्रौढ़ विद्वानों के मस्तिष्क को छूने की प्रज्ञा शक्ति भी है। गूढ़ से गूढ़ विषय को भी थोड़े से शब्दों में हृदयग्राही बनाने की क्षमता उनमें है, तो साधारण विषय को भी आगमिक पाण्डित्य व शास्त्रीय वैदुष्य के माध्यम से गम्भीर

---

४. आ. हरिभद्र के मत में (योग्य) शिष्य यदि समझ न सके तो यह आचार्य की ही कमी कही जाएगी (आचार्यस्यैव तज्जाड्यं यच्छिष्यो नावबुध्यते --लोकतत्त्वनिर्णय, ५)।

५. शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था, संक्रान्तिरन्यस्य विशेषरूपा।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एक॥
(मालविकाग्निमित्र-१/१६)

६. द्र. पद्मपुराण (जैन २५/५६)।
पात्रता के भेद से ज्ञान-जल का विविध रूपों में परिणमन होता है (दृष्टव्यलोकतत्त्वनिर्णय ६-१२)।

७. मुक्ताफलतयादानात् परिषद्भिः कृतिः स्फुरेत्। जलात्मापि विशुद्धाभिस्तोयधैरिव शुक्तिभिः (हरिवंशपुराण जैन, १/४५)।

बना देने की अद्भुत दक्षता भी है। यही कारण है कि उनके साहित्य को पढ़ कर आम जनता व बुद्धिजीवी—दोनों वर्ग समान रूप से लाभान्वित होते हैं।

आचार्यश्री की हिन्दी रचनाएं

पदार्थ-निरूपण का माध्यम 'भाषा' होती है।[8] आचार्यश्री का अधिकार अनेक भाषाओं पर है। अतः उन्होंने जहां संस्कृत में रचनाएं रचीं, वहां लोकभाषा हिन्दी में भी अनेक रचनाएं प्रस्तुत की हैं। पद्य व गद्य—दोनों तरह की रचनाओं में उनकी दक्षता है।

गद्य साहित्य : स्वरूप-विश्लेषण

साहित्य के गद्य, पद्य आदि अनेक भेद होते हैं।[9] इन सभी प्रकार की साहित्य-रचना में महाकाव्य, वाक्य, पद (शब्द), वर्ण—ये उत्तरोत्तर घटक तत्त्व माने गये हैं।[10] किसी भी रचना का प्रासाद अनेक सार्थक वाक्यों की ईंटों पर निर्मित होता है। वाक्यों की रचना भी विविध शब्दों व पदों के समूह से होती है।[11] विविध वर्णसमूहों से निर्मित सार्थक व्यञ्जनान्त या स्वरान्त पद[12] ही शब्द हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार, चाहे पद्य हो या गद्य, रुचिकर पदयोजना द्वारा अपनी रचना को प्रभावोत्पादक बनाता है।[13] गद्य व पद्य—दोनों प्रकार की रचना 'भावपदों' पर आधारित है। जैन शास्त्र भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार 'भाव-पदों' का एक भेद 'नो अपराधपद' होता है, जिसका एक भेद 'नोमातृकापद' है। 'नोमातृकापद' के दो भेद हैं—ग्रथित व प्रकीर्णक। 'ग्रथित' के चार भेद हैं—गद्य, पद्य, गेय, चौर्ण (अर्थबहुलाक्षरता आदि विशेषणों से युक्त)।[14]

---

८. भाषाभिधेया अर्थाः (नन्दीसूत्र-४१ पर हरिभद्रीय वृत्ति)।

९. काव्यालंकार (रुद्रट, १/१६ के अनुसार काव्य के दो भेद—गद्य व पद्य हैं। स्थानांग सूत्र (४/४/६४४) में गद्य, पद्य, कथ्य, गेय—ये चार भेद वर्णित हैं। अलंकार-चिन्तामणि (१/९७) के मत में तीन भेद हैं—गद्य, पद्य, मिश्रित।

१०. पय-वक्क-महावक्करथम् (उपदेशपद—आ. हरिभद्रकृत-८५९)।

११. व्यंजनान्तं स्वरान्तं वा, किंचिन्नामेह कीर्तितम्। अर्थस्य वाचकः शब्दः, शब्दो वाक्यमिति स्थितम् (पद्मपुराण-१२३/१८५)॥ एकार्थप्रतिपादकानि पदानि, वाक्यं पदार्थचालनारूपं, वाक्यान्येव विशिष्टतरैकार्थचालितार्थ-प्रत्यवस्थानरूपं महावाक्यम् (उपदेशपद-८५९ पर मुनिचन्द्रसूरिकृत टीका)। भाषा द्रव्यतया उत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिः (नन्दीसूत्र-६० पर हरिभद्र वृत्ति, पृ. ५९), पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम् (अष्टशती-१०३, न्याय-कुसुमांजलि-७२)। अर्थ—प्रतिपादकं पदसमूहात्मकं वाक्यम् (सूत्र-कृतांग-शीलांकाचार्य-वृत्ति, २/४/६३)।

१२. वर्णसमूहात्मकैः पदैः (हेमचन्द्रकृत प्रमाणमीमांसा-उपोद्घात)। वर्ण समुदायः पदम् (तत्त्वार्थ भाष्य सिद्धसेन वृत्ति-५/२४)। वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् (न्यायकुसुमांजलि-६५)। [द्र. जैन लक्षणावली, २/पृ. ६५९]

१३. केचिदर्थमपि प्राप्य तद्योगपदयोजनैः (आदिपुराण-१/७०)।

१४. भावपयं पि दुविहं अवराहपयं च नोयअवराहं। नोअवराहं दुविहं माउग-नोमाउगं चेव॥ नोमाउगंपि दुविहं गहियं च पइन्नयं च बोद्धव्वं। गहियं चउप्पयारं पइन्नगं होइऽणेगविहं॥ गज्जं पज्जं गेयं चुण्णं च चउव्विहं तु गहिमपयं (दशवैकालिक निर्युक्ति-१६८-१७०)।

यद्यपि गद्य व पद्य—इन दोनों के घटक तत्त्वों में समानता है, तथापि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—उक्ति के अनुसार गद्य को कवियों की योग्यता को परखने की एक कसौटी माना गया है। जैन शास्त्रों के अनुसार गद्य काव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ मानी गई हैं—

(अ) मधुरता
(आ) सयुक्तिकता (हेतुयुक्तता)
(इ) पादवर्जित (छन्दोबद्ध न होना)
(ई) यथापेक्षित विरामयुक्तता,
(उ) (पद्यापेक्षया) आकार में बड़ा (अवसाने वृहद्)
(ऊ) आनुपूर्वी-ग्रथित।[१५]

गद्य-रचनाओं में भी निबन्ध-विद्या को कवि या चिन्तक के लिए अपने भावों को स्वच्छन्द/निर्मुक्त व समुचित रूप से अभिव्यक्त कर सकने का एक सशक्त माध्यम माना गया है। आ. रामचन्द्र शुक्ल जैसे हिन्दी जगत् के प्रख्यातनामा आचार्य ने निबन्ध को गद्य काव्य की कसौटी कहा है। इस प्रकार निबन्ध-रचना की उपादेयता/महत्ता स्वतः प्रतिपादित हो जाती है।

आ. श्री जीतमलजी म. ने अपने प्रेरणादायी विचारों तथा मौलिक चिन्तन को गद्यात्मक निबन्धों में उतारने का सफल प्रयास किया है।

मेरे समक्ष, आचार्यश्री द्वारा लिखे गए १० निबन्ध हैं, जिनके शीर्षक निम्नलिखित हैं—

१. सन्त कवि आचार्यश्री जयमल्ल : एक सफल काव्य-साधक
२. तप, संयम, सहनशीलता और ब्रह्मचर्य का माहात्म्य
३. तीर्थंकर की सोपान पर
४. जैनाचार्य श्री भूधरजी के प्रवचनों से एक पीयूष कण
५. शिक्षा; शिक्षक और शिक्षार्थी
६. थंभा प्रतिबन्ध
७. शिक्षा और क्रोध
८. रोग और आलस्य का प्रतिबन्ध
९. शिक्षा में अहसनशीलता का स्थान
१०. 'सया दंते' : विश्लेषण

लोक भाषा के प्रति प्रेम

आचार्यश्री ने उक्त सभी निबन्ध हिन्दी में लिखे हैं। जन-साधारण के उपयुक्त लोकभाषा हिन्दी को उनके द्वारा अधिमान दिया जाना नितान्त उचित प्रतीत होता है। जैनाचार्यों ने भी प्राचीन काल में

१५. महुरं हेउनिजुत्तं गहियमपायं विरामसंजुत्तं। अपरिमियं चऽवसाणे कव्वं गज्जं ति नायव्वं (दशवैकालिकनियुक्ति-१७१)॥

लोकभाषा को आबाल-स्त्री उपादेय घोषित किया है।[१६] इस प्रसंग में आचार्य श्री के पूर्वज श्रद्धेय श्री जयमल्लजी म. का भी अनायास स्मरण हो आता है जिन्होंने अपने गुरुभ्राता मुनिश्री नारायणदास जी की भावना का समर्थन करते हुए लोक भाषा के प्रयोग को बहुमान दिया था।[१७] उन्हीं की परम्परा में विद्यमान आ. श्री जीतमल्ल जी म. का लोक भाषा के प्रति प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक ही है। जैनेतर शास्त्रों में यह निर्देश दिया गया दृष्टिगोचर होता है कि गुरु या शिक्षक संस्कृत के अलावा प्राकृत व देश भाषा में भी उपदेशादि दे सकते हैं।[१८]

भाषा-सौष्ठव

आचार्य श्री ने प्रसंगानुरूप भाषा की कठिनता व सरलता को कायम रखा है। कहीं-कहीं तो भाषा नैसर्गिक सुषमा व सौष्ठव के कारण मनोहर हो गई है। एक उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा—

"उनकी कविता में निर्झरणी का प्रवाह था गंगा की शीतलता और पवित्रता थी, श्वास-प्रश्वास की सी सरलता थी, भावों की सजीवता थी, वर्णों की शालीनता थी, ज्ञान की गरिमा थी, तपश्चर्या की सुगन्धि थी, जीवन की वास्तविकता थी, मानवता की महनीय मान्यता थी, सकल प्राणी-जगत् की कल्याण-कामना थी, अहिंसा की पावन प्रेरणा थी...."।

('सन्त कवि आचार्य श्री जयमल्ल : एक सफल काव्य-साधक' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत)

विषय-वस्तु

(१) 'सन्त कवि आ. श्री जयमल्ल : एक सफल काव्य-साधक, शीर्षक निबन्ध में आचार्य श्री के श्रद्धापूरित हृदय तथा समीक्षा-प्रधान मस्तिष्क—दोनों का परिचय मिलता है। उक्त निबन्ध में आ. श्री जयमल्ल जी के काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को उजागर करने का प्रयास पूर्णतः सफल हुआ है।

(२) 'जैनाचार्य श्री भूधर जी के प्रवचनों से एक पीयूष-कण' निबन्ध आ. श्री भूधर जी म. के प्रवचन-विशेष को आधार बनाकर लिखी गई एक संस्मरणात्मक रचना है। इस निबन्ध में आगमानुरूप मानव-जीवन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[१९] 'सया दंते : विश्लेषण' शीर्षक निबन्ध में भी इसका समर्थन किया गया है।

वास्तव में, भारतीय संस्कृति की दोनों धाराओं—जैन व वैदिक में मानव-जीवन की श्रेष्ठता के गुण गाये गए हैं।[२०] मानव जीवन में भी वीतराग-वाणी के श्रवण करने का सौभाग्य कुछ को ही मिल पाता है।

---

१६. बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः (हरिभद्रकृत धर्म बिन्दु प्रकरण-३३, तथा दशवैकालिक वृत्ति, तृतीयाध्ययन, उपोद्घात)।।

१७. द्र. जयगुंजार पत्रिका, जयमल्ल विशेषांक, २/१-२

१८. संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः (सु) शिष्यमनुरूपतः। देश भाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरुः स्मृतः (वीरमित्रोदय द्वारा उद्धृत विष्णु धर्मसूत्र)।।

१९. स्थानांग सूत्र-३/३।

२०. (क) भागवत पुराण ११/९/२५-३१, महाभारत, शांतिपर्व-३०३/३२, २१६/२, २९७/३२, १८०/८।

(ख) प्रशमरति प्रकरण-६४, उत्त. सू. १०/४, पद्मपुराण-११४/१५, १४/१५३ २/१६७-६८, ज्ञानार्णव-५/२१५,

मिलता भी है तो उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है। श्रद्धा भी हो जाए तो संयम-मार्ग पर चलने की भावना व शक्ति होना सर्वाधिक दुर्लभ वस्तु है।[21] किन्तु कषायों के कारण मानव अपने को कर्मों के बन्धन में जकड़ता ही जाता है, ऐसा कर वह मानव-जीवन जैसे अमूल्य रत्न को पाकर भी दरिद्र का दरिद्र व दुर्गति-धारक बना रहता है। अतः संयम-गुण को धारण कर मनुष्य-जन्म की सफलता सिद्ध करना मानव-मात्र का कर्तव्य है—यह निबन्ध का सार है। लेख में क्रोध नामक कषाय के दुष्परिणाम को प्रदर्शित करने हेतु एक लघु कथा भी दी गई है।

(३) 'तप, संयम, सहनशीलता और ब्रह्मचर्य का माहात्म्य' शीर्षक निबन्ध में सहनशीलता आदि सद्गुणों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है, प्रसंगानुसार कृष्ण-अर्जुन की एक कथा को प्रस्तुत कर लेख को अधिक रोचक बनाया गया है।

(४) 'तीर्थंकर की सोपान पर' शीर्षक लेख में भग. महावीर के तीर्थंकरत्व-प्राप्ति की घटना वर्णित की गई है, साथ ही तीर्थंकरत्व-प्राप्ति के बाद, उनके धर्मोपदेश के कारण तत्कालीन समाज में हुई जागृति पर भी प्रकाश डाला गया है। 'याज्ञिकी हिंसा' की समाप्ति, समता की प्रतिष्ठापना, तथा नारी-समाज का उत्थान आदि कार्य उनके धर्मोपदेश के फल थे।

(५) मनु का वचन है—विद्ययाऽमृतमश्नुते'[22] (विद्या से अमृतत्व प्राप्त होता है)। विद्या की प्राप्ति के लिए तपस्या करनी अपेक्षित है। 'शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी' शीर्षक निबन्ध में, (तथा 'थंभा प्रतिबन्ध' शीर्षक निबन्ध में भी) आचार्यश्री ने जैनागम (उत्तराध्ययन सूत्र ११/३) का उद्धरण देते हुए विद्यार्थी के लिए शिक्षा-प्राप्ति हेतु मान, क्रोध, प्रमाद, आलस्य व रोग से रहित होना आवश्यक बताया है।

(६) 'शिक्षा और क्रोध' शीर्षक निबन्ध में क्रोध के दुष्प्रभावों का निरूपण करते हुए उसे शिक्षा में विशेष रूप से बाधक बताया है।

(७) 'रोग और आलस्य' शीर्षक निबन्ध के माध्यम से स्वास्थ्य का महत्त्व बताते हुए ज्ञानाराधना में उसकी आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

पद्मपुराण (रविषेण) के अनुसार स्थिरचित्तता तथा शारीरिक सामर्थ्य भी शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है।[23] विद्यार्थी किन-किन सद्गुणों के सहारे सरलतया व सम्यक्तया शिक्षा प्राप्त कर सकता है—इसका निर्देश भी आगमों में[24] प्राप्त होता है। वे सद्गुण आठ हैं—व्यर्थ न हंसना, सदा दान्त सम्यक्तया इन्द्रिय-दमनशीलता) रहना, विशील (दोषयुक्त व्रत-चारित्रवाला) न होना, रसलोलुप न होना, क्षमाशील होना, सत्य में अनुरक्त होना।

(८) 'सया दंते : विश्लेषण' शीर्षक निबन्ध में विद्यार्थी की इन्द्रिय-लोलुपता को शिक्षा-प्राप्ति में बाधक बताते हुए इन्द्रिय-दमन हेतु 'मन' को साधना जरूरी है, क्योंकि जिन परिवर्तनशील शुभाशुभ भावों

२१. उत्तराध्ययन सूत्र-१३/१, ९-१०।
२२. मनुस्मृति-१२/१०४।
२३. पद्मपुराण-२६/७०, १००/५०, [तुलना-नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—मुंडकोपनिषद्, ३/२/४]
२४. उत्तराध्ययन सूत्र-११/४-५।

के कारण साधक बैठे-बैठे कभी सातवीं नरक की आयु बांध लेता है तो कभी उत्तरोत्तर ऊर्ध्वारोहण करने में समर्थ होता है।[२५] इन सब भावों का अधिष्ठान 'मन' ही है। मानसिक संकल्प-विकल्पों की शुभता-अशुभता के ऊपर ही व्यक्ति की बन्धन-मुक्ति, सुख-दुःख, उच्च-नीच स्थिति निर्भर है।[२६] इन सब दृष्टियों से मनःसिद्धि की महत्ता शिक्षा-ग्रहण की दृष्टि से भी स्वतः प्रतिपादित हो जाती है।

जैन व अजैन ग्रन्थों में विद्यार्थी-जीवन में संयम की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।[२७] शिक्षार्थी को ब्रह्मचर्य-व्रत व तपस्वी जीवन का पालन करने वाला कहा गया है। अतः विद्याध्ययन में इन्द्रिय-संयम की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

नयी शिक्षा-पद्धति की चर्चा आजकल जोरों पर है। इस सन्दर्भ में जैन आगमों में प्रतिपादित शिक्षा सम्बन्धी उक्त तथ्यों की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। निःसन्देह, जैन आगमों में प्रतिपादित नियमों पर आज का विद्यार्थी या शिक्षक एवं शिक्षा अधिकारी ध्यान दें तो शिक्षा का प्रचार-प्रसार सम्यक्तया हो सकता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन आगमों में प्रतिपादित उक्त नियमों को हिन्दू ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र आत्मसात् किया गया है।

(९) 'शिक्षा में असहन-शीलता का स्थान' शीर्षक निबन्ध में रोचक कथा द्वारा, विद्यार्थी के लिए ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यर्थ हंसने के स्वभाव को अनेक अनर्थों का कारण बताया गया है।

हिन्दू शास्त्रों में भी मनोविकारों व दुर्बलताओं को विद्या-प्राप्ति में बाधक बताया गया है। महाभारत में[२८] आलस्य, मद, मोह, अभिमान आदि को विद्यार्थियों के लिए वर्ज्य (दोष) रूप में परिगणित किया गया है। मनु ने भी निरालस्य, अप्रमाद, क्षमा (अक्रोध), निरभिमानता आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की है।[२९] चाणक्य ने अधिक निद्रा (आलस्य), कामक्रोधादि को विद्यार्थी के लिए वर्ज्य बताया है।[३०] आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार विद्यार्थी के लिए अनावश्यक हंसना वर्ज्य है।[३१]

---

२५. द्र. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा (त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित-१०/९/२८-५०)।

२६. (क) उत्तराध्ययन सू. २३/५८/, २९/५३, धर्मबिन्दु प्रकरण-३९, आराधनासार-६५, ज्ञानार्णव-२२/१४, इष्टोपदेश-२६, आदि पुराण-२४/२१, पंचास्तिकाय-१२९-३०, तत्त्वानुशासन-७६, आचारांग-१/४/२/१३४।

(ख) मैत्रायणी उप. ६/३४, ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-२-४।

२७. अथर्व वेद ५/१/७, ११/३/२, ऐतरेय ब्राह्मण-३/४२, छान्दोग्य उप. ८/५/२, कठोप-१/२/१५।

२८. आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च। स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च॥ एते वै सप्त दोषाः स्युः, सदा विद्यार्थिनां मताः (महाभारत-उद्योग पर्व, ४० अध्याय, विदुरनीति)।

(तुलना—द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा, नाटकासक्तिरेव च। स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्या-विघ्नकराणिषट्। (स्मृतिचन्द्रिका-भा. १, पृ. ५२ में उद्धृत नारदवचन, द्र. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. १, पृ. २४२)।

२९. मनुस्मृति २/११५, ४/१६, ४/१४७, १६३।

३०. कामं क्रोधं तथा लोभं स्वादु श्रृंगार-कौतुके। अतिनिद्रातिसेवे च, विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत् (वृद्ध चाणक्य, ११/८६)॥

३१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/१/२/२६।

शिक्षार्थी की योग्यता व पात्रता का विशेष परिज्ञान मनुस्मृति आदि ग्रंथों से किया जा सकता है, जहाँ जैन आगमों की भांति ही शिक्षार्थी में कुछ सद्‌गुणों का होना आवश्यक बताया गया है।[३२]

आचार्यश्री जीतमल जी म. ने अपने उक्त निबन्धों में यत्र-तत्र रोचक कथाएं भी प्रस्तुत की हैं, जिनसे पाठक के मन पर कथ्य पूरी तरह अंकित हो जाता है और पाठक की भाव-भूमि या मानस-धरातल का उदात्तीकरण हो जाता है। जो भी कथाएं निबन्धों में हैं, वे सब न तो अधिक विस्तृत हैं और न अधिक संक्षिप्त सूत्र रूप ही। इस तरह वे आ. हरिभद्र के निर्देश[३३] 'कथा का अर्थ/भाव तो महान् हो, किन्तु इतनी विस्तृत न हो कि पाठक को अधिक क्लेश/श्रम करना पड़े' का पालन करते दीख पड़ते हैं।

आचार्यश्री ने जो भी बात इन निबन्धों में प्रतिपादित की है, वह सभी धर्मों/सम्प्रदायों में आदृत हैं। इस तरह उन्होंने सार्वजनीन तथ्य/सत्य को ही अभिव्यक्त/समर्थित करने का प्रयास किया है। एक जैनाचार्य ने सत्य ही कहा है कि जैन धर्म सार्वजनीन है, किसी वर्ग-विशेष के लिए ही सीमित नहीं है।[३४] जैन धर्म तो सर्वोदय-तीर्थ है।[३५] इसका साधक तो सम्पूर्ण जगत् तथा उसमें रहने वाले प्राणि-मात्र के लिए कल्याण की कामना करता है।[३६] भ. महावीर के शासन-काल में आज भी श्रमण मुनियों की, आचार्यों की परम्परा वर्तमान है। आगे भी हजारों वर्षों तक इसके चलते रहने की आशा है।[३७] इसी परम्परा को आ. श्री जीतमल जी म. आज भी जीवित रख रहे हैं। अपने अमृतोपम भाषणों, उपदेशों तथा साहित्यिक रचनाओं से वे जैन धर्म की पताका फहरा रहे हैं। जिन-शासन देव से मेरी कामना है कि इनकी दीर्घायु हो और जैन-धर्म की प्रभावना निरन्तर होती रहे, जिससे सभी भव्यों का कल्याण हो सके।

---

३२. द्र. मनुस्मृति-२/१०९, ११२, ११४-११५, याज्ञवल्क्य स्मृति-१/२८, आपस्तम्ब धर्मसूत्र-१/१/२/१७, १९, निरुक्त-२/४, गौतम धर्मसूत्र-२/१३, १४, १८-१९, २२-२५।

३३. महार्थाऽपि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या (दशवैकालिक-हरिभद्रीय वृत्ति, तृतीयाध्ययन-उपोद्‌घात, पृ. ७७)।

३४. उच्चावचजनप्राय समयोऽयं जिनेशिनाम्। नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेत् एकस्तम्भ इवालयः (यशस्तिलक-चम्पू, आश्वास-८)। चतुर्वर्णसमाश्रया (हरिवंश पु. ५८/३)।

३५. सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव (युक्त्यनुशासन, ६१)।

३६. सर्वे भवन्तु सुखिनः सन्तु सर्वे निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित-दुःखमाप्नुयात् (यशस्तिलक, उत्तरार्ध)। इसी तरह का भाव द्रष्टव्य-धर्मबिन्दुप्रकरण (हरिभद्र)-७२, महाभारत-शांतिपर्व-३२८/४८, गरुड पुराण-२/३५/५२,
हरिवंश पु. ६६/५१, शान्ति भक्ति-६, १५, प्रतिष्ठा-तिलक (नेमिचन्द्र)-२/१७, परमात्मषट्‌त्रिंशिका-१, अमितगति द्वात्रिंशिका-१, नियमसार-१७४, उत्तरा. सू. ६/२।

३७. इक्कीस हजार वर्ष तक साधु परम्परा चलती रहेगी (द्र. भगवती सूत्र-२०/६/१२)।

अन्त में, मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करता हुआ उन्हें त्रिकरण से वन्दना करता हूं—

है तपोमय साधना, गम्भीर है चिन्तन-मनन,
भक्त-जन-कल्याणकारक, आपके अमृत-वचन।
आचार्यवर श्री जीतमल जी ! आपको शत-शत नमन,
ऐसा सदा उपदेश दें, छूटे जो भव - गमनागमन ॥
अध्यात्म-तरुवर से सुशोभित आपका जीवन-चमन,
ज्ञान-रवि से है प्रकाशित, साधना रूपी गगन।
साधना के मार्ग में रथ आपका इन्द्रिय-दमन,
है पहुंचना आपको, है मुक्ति का जो शुभ सदन।
आचार्यवर श्री जीतमल जी ! आपको शत-शत नमन,
ऐसा सदा उपदेश दें, छूटे जो भव - गमनागमन ॥

—उपाचार्य एवं अध्यक्ष : जैन दर्शन विभाग
श्री ला. ब. शास्त्री के. सं. विद्यापीठ
(शिक्षा मंत्रालय : भारत सरकार)
कटवारिया सराय
नई दिल्ली–११००१६

आचार्य-श्री की हिन्दी-काव्य-साधना

डॉ. नरेन्द्र भानावत

भारतीय जीवन और समाज में ऋषि-महर्षियों और सन्त-महात्माओं का जो श्रद्धापूर्ण विशेष आदर और सम्मान रहा है, इसके मूल में उनकी त्यागवृत्ति, लोककल्याण के लिए समर्पित जीवन-दृष्टि और सदाचरण ही है। वे सांसारिक भोग-वृत्तियों से अपने को अलग कर अहिंसापूर्ण जीवन जीते हुए तप और संयम की साधना में तपकर, आत्मानुभूतियों का साक्षात्कार कर, सांसारिक दुःखों से संतप्त मानवों को जीवन के सच्चे सुख का स्वरूप और मार्ग प्रदर्शित करते रहे हैं। जीव और जगत् का जो ऋत है, सत्य है, उसका साक्षात्कार करने के कारण ही वे ऋषि और सन्त कहलाते हैं। बाहरी तूफान और हलचल चाहे जितनी ही उग्र हो, वे अन्तर्मानस में स्थिर और शांत बने रहते हैं। ऐसे ही ऋषि और संतों की परम्परा में आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. का उल्लेखनीय स्थान और महत्त्व है।

मुझे आचार्य-श्री के तीन-चार बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और जब आपका चातुर्मास जयपुर में था, तब कई बार आपके सत्संग का लाभ मिला। मैं यह बराबर महसूस करता रहा कि इस लम्बी-दुर्बल काया में एक विशिष्ट आत्मशक्ति का निवास है, जो ज्ञान की व्यापकता और चारित्र की गहराई लिए हुए है। चित्त की निर्मलता और हृदय का सारल्य आपके मुख-मंडल पर प्रतिबिम्बित है।

ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था में दीक्षा लेकर आपने अपनी मेधाशक्ति द्वारा जैन एवं जैनेतर दर्शनों के साथ आगम, पुराण, इतिहास, दर्शन-शास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करने के साथ संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, गुजराती, कन्नड़, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया। राजस्थान के नागौर जिले में जन्म लेकर और पीपाड़सिटी में दीक्षा लेकर आप राजस्थान-स्तर तक ही सीमित नहीं रहे वरन् मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक, और तमिलनाडु तक की पद-यात्राएँ की और शास्त्र और लोक—दोनों माध्यमों से ज्ञान प्राप्त कर, अपने अनुभव को तरासा/पकाया।

आचार्य-श्री प्रमुखतः आत्मलीन साधक हैं। यथा नाम तथा गुण के अनुसार आप आत्म-जय की साधना में ही दत्तचित्त रहते हैं। फिर भी अपने चिन्तन और अनुभव को गद्य और पद्य दोनों विधाओं में अभिव्यक्त करने का आपका प्रयत्न रहा है। "जैन धर्म की मौलिक उद्भावनाएँ" पुस्तक में आपने अन्य दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन की तात्त्विक मौलिकताओं को स्पष्ट किया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम, सम्यग्ज्ञान, कर्मसिद्धान्त, लेश्या, दान, सृष्टि-सृजन, साम्ययोग, रत्नत्रय
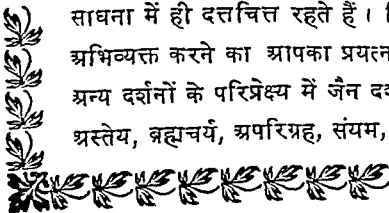
और मोक्ष-मार्ग के विवेचन में आपने तुलनात्मक शास्त्रीय दृष्टि को प्रधानता दी है। आपकी विशेषता यह रही है कि आप शब्द के मूल को पकड़ कर उसके अर्थ-विवेचना की गहराई में जाते हैं और शास्त्रीय विश्लेषण के साथ उसके ऐतिहासिक विकास पर भी प्रकाश डालते हैं। 'लेश्या-विश्लेषण' इस दृष्टि से उल्लेख्य है।

आचार्य-श्री का कवि-रूप 'रसधारा' में प्रकट हुआ है। इसमें १११ गीतिकाएँ संकलित हैं। इन गीतिकाओं में राग-द्वेष आदि विकारों को जीतने वाले महापुरुषों, अरिहंतों, तीर्थंकरों आदि की भावपूर्वक स्तवना-वंदना की गई है। स्तवना करते समय कवि सांसारिक वैभव और विषय को ठुकराकर, उनके बताए हुए मार्ग का पथिक बनकर, आत्म-स्वभाव में रमण करने की भावना व्यक्त करता है। उसे जन्म-मरण से मुक्त होने की चाह है। वह विषय-विमुख होकर आत्म-सम्मुख होने के लिए व्यग्र है। उसे प्रभु-स्तवन में उस आनन्द की प्राप्ति होती है जो न नन्दनवन में है और न अमरापुर में। उसका तन, मन, प्रभु-सेवा में, गुरुभक्ति में लीन है। वह निष्काम-भाव से प्रभु-सेवा में समर्पित है। उसके जीवन का लक्ष्य है—

"बढ़ता जाए मेरा नित्य ज्ञान-दर्शन।
चरित्र के लिए हो यह तन अर्पण॥"

उपदेशात्मक गीतिकाओं में कवि ने संसार की निस्सारता और मानव-जीवन की दुर्लभता का संकेत करते हुए सदाचरण, इन्द्रिय-निग्रह और ज्ञानाराधना पर बल दिया है। ज्ञान की आराधना को कवि ने अहिंसा, मैत्री, प्रेम और सत्य के साक्षात्कार की आराधना माना है। जो अपने क्षण के प्रति अर्थात् वर्तमान के प्रति जागरूक रहता है वही ज्ञानी है और त्यागी है। सत्य का प्रचारक वही है, जिसने अपने पर संयम और नियंत्रण कर लिया है और जिसके ज्ञान और आचरण में द्वैत नहीं है—

"तनिक भी जिसके नहिं स्वार्थ हो।
सकल कार्य स्वदेश-हितार्थ हो।
स्ववश जो रहता जन नित्य ही।
सच प्रचारक है जग में वही॥"

ऐसे सत्य-प्रचारक को देवता भी शत-शत बार नमस्कार करते हैं। आचार्य-श्री ने चित्रकाव्य की भी रचना की है। छत्रबंध, व्योमबंध, चक्रबंध, नागपाशबंध, धनुर्बंध, तरुबंध, समुद्र-बंध और कमल-बंध। इन चित्रों में छप्पय, शार्दूलविक्रीड़ित, घनाक्षरी, दोहा और दुर्मिल छन्दों को चित्रित कर काव्य में चित्र-संयोजना का कौशल प्रकट किया है। कवि छन्दशास्त्र का ज्ञाता होने के साथ-साथ आधुनिक जीवन में लोकप्रिय सिने-तर्जों से भी परिचित है। इसलिए तोटक, द्रुतविलम्बित, कवित्त, हरिगीतिका, इन्द्रवज्रा, आदि छन्दों का एकाध जगह प्रयोग कर अधिकांश गीत सिने-तर्जों में लिखे हैं। प्रमुख तर्जे हैं—पंछी बावरिया, तेरे द्वार खड़ा इक जोगी, सच्चा भक्त बन जाऊँ, तुम्हीं मेरे मंदिर तुम्हीं मेरी पूजा, अँखियां मिलाके, मन डोले मेरा तन डोले, पपैया काहे मचावत शोर, छोटे से बलमा मोरे, अपने पिया की मैं तो, ले के पहला-पहला प्यार, आ लौट के आजा मेरे मीत, नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे आदि।

पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संस्कृत छन्द-शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता होकर भी आचार्यश्री ने सिने-तर्जों को क्यों प्रमुखता दी ? मुझे लगता है कवि के मन में अपनी आत्मानुभूति को सामान्य लोकानुभूति बनाने की ललक ही उसे इस ओर खींच ले गई। गीतिकाओं का शरीर फिल्मी तर्जों पर है, पर इनमें जो इल्म उतारा गया है वह आध्यात्मिक है। कवि की यह भावना रही है कि लोग संगीत में विषय-वासनाओं को न उभारें वरन् आत्मिक स्वरों को निनादित करें।

भारतीय दृष्टि में काव्य-रचना आध्यात्मिक अनुभूति, आत्मिक साधना का अंग रही है। इसी दृष्टि से काव्य के आस्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। सभी आध्यात्मिक संतों/पुरुषों ने अपनी आत्मिक अनुभूतियों को दोहा-छन्द में अभिव्यक्त किया है। आचार्यश्री ने भी कई दोहे लिखे हैं—जिनमें गुरु की महत्ता बताते हुए आत्म-स्वरूप, मनोनिग्रह, सत्संग, ज्ञान, सेवा. नैतिकता, समता, संत-स्वभाव आदि का विवेचन किया है। संस्कृत के पंडित होते हुए दोहे अत्यन्त सरल, सुबोध और अनुभूति प्रवण हैं। साधक की आत्मा संसार में रहते हुए भी सांसारिक प्रपंच से अलग स्वसुख में लीन रहती है—

हंसना रोना जगत का, सब कर्मों का खेल।
आत्मा सबसे अलग है, हरी-भरी सुख बेल॥

मन चंचल है। इस पर निग्रह करना बडा कठिन है। कच्चे सूत के साथ उसकी तुलना करते हुए कवि ने कहा है—

मन है कच्चे सूत-सम, कहना मिथ्या बात।
सूत संधे क्षण-वार में, मन टूटा न संधात॥

ज्ञानी की आत्मा शुद्ध, निर्मल दर्पणवत् होती है। वह अच्छे-बुरे सबको द्रष्टा-भाव से देखता है—

ज्ञानी के वह ज्ञान में, अघ जो गुप्त अनंत।
बुरी-भली हो मुखाकृति, दर्पण ज्यों दर्शन्त॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यश्री अपनी काव्य-सृजना में, कथ्य और शिल्प में अपने आचार्यत्व का आरोपण नहीं करते। उनकी अभिव्यक्ति सीधी और सरल है। अनुभूति का प्रवाह अलंकरण की ओर नहीं, संसार-संतरण में है। उनके काव्य का संदेश है—ममता से समता की ओर बढ़ना। वस्तुतः उनकी काव्यधारा में रसधारा कम, आत्मधारा अधिक है।

—सी-२३५-ए, दयानंद मार्ग
तिलक नगर, जयपुर-४

* * *

बोधामृत

आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा.

अहंकार

जो व्यक्ति कठोर-हृदय हो, पत्थर की तरह कर्कश हो, अपने ही अहं में चूर-चूर रहने वाला हो, जो अटूट हो, जिसमें नम्रता और विनयशीलता का सर्वथा अभाव हो, जो अपने हठपूर्ण-मन्तव्य में टस-से-मस होनेवाला न हो, उसको शास्त्रकार स्तम्भ के समान मानते हैं। स्तम्भ टूट जाता है किन्तु झुकता नहीं, मुड़ता नहीं, नमता नहीं — ठीक ऐसे ही अहंकारी व्यक्ति हर बात पर स्तम्भ की तरह अड़ जाता है, अकड़ जाता है, मिट जाता है परन्तु अपनी उचित-अनुचित किसी भी बात को छोड़ता नहीं और सदाग्रह को मानता नहीं। अहं का त्याग उसकी प्रकृति के प्रतिकूल होता है। उस हठी व्यक्ति के समान यदि ज्ञानार्थी/विद्यार्थी स्तम्भवत् बन जाएंगे, अहंभाव को ग्रहण कर मानी-हठी-जिद्दी और दुराग्रही बन जाएंगे तो ज्ञान-ग्रहण एवं विद्याराधन उनके लिए संभव नहीं हो पाएंगे। ज्ञानाभ्यास के लिए तो 'अहंकार' प्रबल विरोधी तत्त्व है।

स्वास्थ्य

विद्यार्थी-जीवन में स्वास्थ्य का सर्वाधिक महत्त्व है। रोगी-विद्यार्थी भला क्या शिक्षा ग्रहण करेगा? यदि रट-रटा कर कुछ सीख भी लेगा तो उसका परिणाम क्या होगा? रुग्णावस्था में अधिक श्रम करने के कारण उसकी शारीरिक दशा और भी सोचनीय हो जाएगी। आंखों की निर्बलता उसे चश्मा चढ़ाने के लिए बाध्य करेगी। प्राचीन काल में जब ऋषियों और महर्षियों के आश्रमों में शिक्षण का कार्य चलता था तब विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था। उनके पाठ्यक्रम में शारीरिक व्यायाम का बड़ा महत्त्व था। योग और व्यायाम तो निरन्तर चलते ही थे किन्तु उनके साथ-साथ बागवानी, खेती और गौएं चराना आदि कितने ही श्रमसाध्य काम विद्यार्थियों को करने पड़ते थे। आधुनिक शिक्षा में व्यायाम के उक्त प्रकार गौण बनकर रह गए हैं। दिखावे के लिए तो विद्यालयों, उच्चविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में व्यायाम कराने वाले शिक्षकों की नियुक्ति भी होती है, डाक्टर भी छात्रों के स्वास्थ्य-परीक्षण हेतु आते हैं, किन्तु वह सारी की सारी कागजी कार्यवाही होती है। यदि उसमें कुछ सत्यता होती तो आज के विद्यार्थी शारीरिक दृष्टि से निर्बल और अशक्त क्यों पाए जाते? आज के शिक्षा-शास्त्रियों को विद्यार्थियों के शारीरिक श्रम पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

ज्ञान की महत्ता

यह लोक, यह संसार एक चौराहे के समान है। यहाँ चार गतियाँ, चार प्रकार के मार्गों से प्राप्तव्य हैं। ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे सब ओर मार्ग का अनुसरण करके कौन-सी गति में पहुंचा

पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संस्कृत छन्द-शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता होकर भी आचार्यश्री ने सिने-तर्जों को क्यों प्रमुखता दी ? मुझे लगता है कवि के मन में अपनी आत्मानुभूति को सामान्य लोकानुभूति बनाने की ललक ही उसे इस ओर खींच ले गई। गीतिकाओं का शरीर फिल्मी तर्जों पर है, पर इनमें जो इल्म उतारा गया है वह आध्यात्मिक है। कवि की यह भावना रही है कि लोग संगीत में विषय-वासनाओं को न उभारें वरन् आत्मिक स्वरों को निनादित करें।

भारतीय दृष्टि में काव्य-रचना आध्यात्मिक अनुभूति, आत्मिक साधना का अंग रही है। इसी दृष्टि से काव्य के आस्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। सभी आध्यात्मिक संतों/पुरुषों ने अपनी आत्मिक अनुभूतियों को दोहा-छन्द में अभिव्यक्त किया है। आचार्यश्री ने भी कई दोहे लिखे हैं—जिनमें गुरु की महत्ता बताते हुए आत्म-स्वरूप, मनोनिग्रह, सत्संग, ज्ञान, सेवा. नैतिकता, समता, संत-स्वभाव आदि का विवेचन किया है। संस्कृत के पंडित होते हुए दोहे अत्यन्त सरल, सुबोध और अनुभूति प्रवण हैं। साधक की आत्मा संसार में रहते हुए भी सांसारिक प्रपंच से अलग स्वसुख में लीन रहती है—

हंसना रोना जगत का, सब कर्मों का खेल।
आत्मा सबसे अलग है, हरी-भरी सुख वेल ।।

मन चंचल है। इस पर निग्रह करना बडा कठिन है। कच्चे सूत के साथ उसकी तुलना करते हुए कवि ने कहा है—

मन है कच्चे सूत-सम, कहना मिथ्या बात।
सूत संधे क्षण-वार में, मन टूटा न संधात ।।

ज्ञानी की आत्मा शुद्ध, निर्मल दर्पणवत् होती है। वह अच्छे-बुरे सबको द्रष्टा-भाव से देखता है—

ज्ञानी के वह ज्ञान में, अघ जो गुप्त अनंत।
बुरी-भली हो मुखाकृति, दर्पण ज्यों दर्शन्त ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्यश्री अपनी काव्य-सृजना में, कथ्य और शिल्प में अपने आचार्यत्व का आरोपण नहीं करते। उनकी अभिव्यक्ति सीधी और सरल है। अनुभूति का प्रवाह अलंकरण की ओर नहीं, संसार-संतरण में है। उनके काव्य का संदेश है—ममता से समता की ओर बढ़ना। वस्तुतः उनकी काव्यधारा में रसधारा कम, आत्मधारा अधिक है।

—सी-२३५-ए, दयानंद मार्ग
तिलक नगर, जयपुर-४

* * *

जीत
अभिनन्दन
ग्रन्थ

द्वितीय खण्ड

जैन दर्शन एवं साहित्य

जा सकता है। सही मार्ग का निर्देश करने वाला ज्ञान है। बिना ज्ञान की दौड़, हमको चौरासी के चक्कर में भटकाती रहेगी, रुलाती रहेगी; ठीक वैसे ही जैसे बिना राह जाने सारथी अश्वों को तीव्र गति से दौड़ा कर उनको भटकाया करता है।

अहसनशील

हसन का अर्थ है 'हंसना'। निषेधात्मक 'अ' लगने से 'हसन' अहसन बन गया, जिसका अर्थ है हंसने का निषेध। 'शील' शब्द स्वभाव को व्यक्त करता है अतः पूरे शब्द का अर्थ होगा 'हंसने का स्वभाव न होना'। शिक्षार्थी को अधिक हंसने वाला नहीं होना चाहिए। जो ज्ञान-पिपासु छात्र, बात-बात पर हंसता है, समय-असमय दांत निकालता रहता है वह शिक्षा ग्रहण करने के योग्य नहीं माना जाता। शिक्षा उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाती। विद्यार्थी के लिए तो अधिक हंसना हानिकारक है ही किन्तु जन-साधारण के लिए भी हसनशील-प्रकृति हितकर नहीं होती। हंसने की प्रवृत्ति क्षण भर के लिए हंसाकर फिर जीवन-भर रुलाती, तड़पाती और कष्ट देती रहती है।

गम्भीरता

विद्या तो कठिन अध्यवसाय, सतत पठन-पाठन और गभीर चिंतन-मनन द्वारा ही संभाव्य है। मात्र विद्या-प्राप्ति ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता के लिए गंभीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है। जो व्यक्ति जीवन के गंभीर विषयों के चिन्तन-मनन के समय भी व्यर्थ ही हंसते रहते हैं और समय की गंभीरता की तरफ तनिक भी ध्यान नहीं देते, उनको परिणाम में पश्चात्ताप करना पड़ता है।

ज्ञान का विकास

पठन-पाठन और श्रवण के माध्यम से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनन और चिन्तन से प्राप्त ज्ञान को विस्तार मिलता है। आत्मिक विवेक-शक्ति, ज्ञान को ग्रहण करती है। ज्ञान का ग्रहण ही ज्ञान की चरम परिणति है।

विद्यार्थी-परीक्षार्थी

आज के विद्यार्थी न तो कुछ सीखने की अभिलाषा रखते हैं और न ही जीवन में शिक्षा को उतारने की। वे वास्तव में विद्यार्थी न होकर मात्र परीक्षार्थी हैं। रट-रटाकर परीक्षा पास कर लेना ही उनके जीवन का लक्ष्य रहता है। ऐसे ही प्रायः अध्यापक भी हैं जिनका उद्देश्य छात्रों को शिक्षा देना नहीं किन्तु मात्र अपनी आजीविका चलाना है। उसी का यह परिणाम है कि आज के छात्र, जैसा कि आपको विदित ही है—कितने अनुशासनहीन, दिशा-हीन और विवेक-हीन बनते जा रहे हैं। उनका उद्देश्य शिक्षा को ग्रहण कर जीवन में उतारना नहीं किन्तु येनकेन-प्रकारेण परीक्षा पास करना है।

क्रोध

क्रोध, एक प्रकार की अग्नि है जिसका स्वभाव ही जलाकर नष्ट करना होता है। जिस शरीर में क्रोध का निवास होता है, वह प्रतिक्षण जलता हुआ अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। क्रोधी व्यक्ति कभी भी अपने शरीर का विकास नहीं कर सकता। क्रोधाग्नि से रक्त का शोषण हो जाता है और हड्डियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं। क्रोध से खून में उबाल भी आने लगता है और कई बार तो क्रोधी व्यक्ति का क्रोध से काँपता हुआ शरीर दर्शकों की हंसी का पात्र बन जाता है; अतः शारीरिक शक्ति की सुरक्षार्थ भी क्रोध का परित्याग अनिवार्य है।

अभिमान

जो व्यक्ति मानी या अभिमानी होता है उसकी आँखें पृथ्वी की ओर नहीं अपितु आकाश की ओर लगी रहती हैं। अपनी अहंकार-पूर्ण प्रकृति के कारण वह अनेक व्यक्तियों की आलोचना का पात्र बन जाता है। अहंकार-वश वह अपने समक्ष किसी को कुछ भी नहीं समझता और परिणाम यह होता है कि वह अपने परिवार, समाज और जाति के लोगों की नजरों में गिर जाता है जो उसका बहुत बड़ा पतन है।

श्रावक का सामायिक व्रत

डॉ. सुभाष कोठारी

आचार और विचार मानव-जीवन के आधार हैं। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है तो विचार उसका सैद्धान्तिक पक्ष। इस सर्वमान्य सत्य को ध्यान में रखकर ही जैनाचार्यों, दार्शनिकों व मनीषियों ने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ आचार-क्रिया पर भी प्रकाश डाला है।

जैन-आचार में श्रमण व श्रावक दोनों के आचार का विशद विवेचन हुआ है। सामायिक दोनों ही चारित्रों की पूर्ण पराकाष्ठा है। इसकी गणना श्रमण के पांच चारित्रों में प्रथम व श्रावक के शिक्षा-व्रतों में भी प्रथम शिक्षाव्रत में की जाती है। अतः सामायिक की साधना दोनों ही आचार-पालकों के लिए परमावश्यक है।[1] इसीलिए पांचवें से चौदहवें गुणस्थान तक एक मात्र सामायिक की ही साधना की जाती है।

अर्थ—सामायिक शब्द सम + आय से मिलकर 'इक' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न है। जिसका सामान्य अर्थ प्रत्येक प्राणी के प्रति समभाव रखना है।[2] सामायिक को 'शम' अर्थात् उपशमन करने वाला भी अर्थ किया जाता है अर्थात् अपने शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशमन करना। **श्रावक की सामायिक का स्वरूप**—श्रावक के शिक्षाव्रतों में पहला स्थान पाने के कारण इसका अपना महत्व है। शिक्षा का अर्थ अभ्यास से है। शिक्षाव्रत श्रावक को बार-बार अभ्यास हेतु ग्रहण करने पड़ते हैं। सामायिक देशावकाशिक, पौषधोपवास व अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत माने जाते हैं।

सामायिक वस्तुतः आत्मा में मन-वचन-काया द्वारा रमण करने का सकारात्मक पहलू है। श्रावकाचार के प्रमुख सूत्र उपासकदशांग में सामायिक के स्वरूप के बारे में कहीं वर्णन प्राप्त नहीं होता है फिर भी पूर्व में श्रावकों द्वारा बारह व्रतों के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा का जो वर्णन आता है उससे अप्रत्यक्षरूप में इसके अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है। श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में नौवें सामायिकव्रत

१. 'आगार सामाइए चेव अणगार सामाइए चेव' —स्थानांग सूत्र
२. जिनवाणी—वर्ष-२२ अंक ४ पृ. ३५

श्रावक का सामायिक व्रत

□

डॉ. सुभाष कोठारी

आचार और विचार मानव-जीवन के आधार हैं। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है तो विचार उसका सैद्धान्तिक पक्ष। इस सर्वमान्य सत्य को ध्यान में रखकर ही जैनाचार्यों, दार्शनिकों व मनीषियों ने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ आचार-क्रिया पर भी प्रकाश डाला है।

जैन-आचार में श्रमरा व श्रावक दोनों के आचार का विशद विवेचन हुआ है। सामायिक दोनों ही चारित्रों की पूर्ण पराकाष्ठा है। इसकी गणना श्रमण के पांच चारित्रों में प्रथम व श्रावक के शिक्षाव्रतों में भी प्रथम शिक्षाव्रत में की जाती है। अतः सामायिक की साधना दोनों ही आचार-पालकों के लिए परमावश्यक है।[1] इसीलिए पांचवें से चौदहवें गुणस्थान तक एक मात्र सामायिक की ही साधना की जाती है।

अर्थ—सामायिक शब्द सम + आय से मिलकर 'इक' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न है। जिसका सामान्य अर्थ प्रत्येक प्राणी के प्रति समभाव रखना है।[2] सामायिक को 'शम' अर्थात् उपशमन करने वाला भी अर्थ किया जाता है अर्थात् अपने शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभ का उपशमन करना। **श्रावक की सामायिक का स्वरूप**—श्रावक के शिक्षाव्रतों में पहला स्थान पाने के कारण इसका अपना महत्व है। शिक्षा का अर्थ अभ्यास से है। शिक्षाव्रत श्रावक को बार-बार अभ्यास हेतु ग्रहण करने पड़ते हैं। सामायिक देशावकाशिक, पौषधोपवास व अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत माने जाते हैं।

सामायिक वस्तुतः आत्मा में मन-वचन-काया द्वारा रमण करने का सकारात्मक पहलू है। श्रावकाचार के प्रमुख सूत्र उपासकदशांग में सामायिक के स्वरूप के बारे में कहीं वर्णन प्राप्त नहीं होता है फिर भी पूर्व में श्रावकों द्वारा बारह व्रतों के ग्रहण करने की प्रतिज्ञा का जो वर्णन आता है उससे अप्रत्यक्षरूप में इसके अस्तित्व को स्वीकारा जा सकता है। श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में नौवें सामायिकव्रत

१. 'आगार सामाइए चेव अणगार सामाइए चेव' —स्थानांग सूत्र
२. जिनवाणी—वर्ष-२२ अंक ४ पृ. ३५

में समस्त सावद्ययोग का जितने समय तक नियम लिया है, उतने समय के लिए त्याग करने को सामायिक माना गया है। उसका यह त्याग दो करण व तीन योग से होता है।[1] रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि ग्रथों में एक निश्चित समय तक हिंसादि पांचों पापों का तीन करण एवं तीन योग से त्याग ही सामायिक व्रत है।[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पर्यक आसन को बांधकर या उस पर सीधा खड़ा होकर, निश्चित समय तक इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर मन को एकाग्र कर, काया को संकोच कर, हाथ की अंजलि बांध लेने व आत्मस्वरूप में लीन होकर सर्वसावद्य-योग को छोड़ने को सामायिक कहा गया है।[3] उपासकाध्ययन में जिनेन्द्रदेव की पूजा का जो उपदेश है उस समय और उसमें उसके इच्छुकजनों के जो-जो काम वतलाये गये हैं, उन्हें सामायिक कहा है।[4] अमितगति आदि ने आर्त व रौद्र ध्यान को छोड़कर निर्मल धर्म-ध्यान से युक्त होकर भक्ति-पूर्वक किए गए कार्य को सामायिक माना है।[5] सागारधर्मामृत में पं. आशाधर ने केशवन्ध, मुष्ठिवन्ध और वस्त्रवन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण राग-द्वेष और हिंसादिक पापों का परित्याग कर आत्मा के ध्यान को सामायिक माना है।[6] लाटी-संहिता में शुद्ध आत्मा का साक्षात् चिन्तन करने को सामायिक कहा है।[7]

सामायिक का काल—कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न तीनों को सामायिक का काल कहा है।[8] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इसकी अनिवार्यता प्रातःकाल व संध्या के समय बताई है, फिर भी अन्य समय में की हुई सामायिक को दोषपूर्ण नहीं माना है।[9] अमितगतिश्रावकाचार में भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की तरह तीन वार सामायिक का विधान किया गया है।[10]

सामायिक का स्थान—रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न नहीं हो, ऐसे एकान्त स्थान—वन, वसतिका, चैत्यालय आदि में प्रसन्नचित्त हो सामायिक करनी चाहिए।[11]

सामायिक के भेद—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक के छः प्रकार बताए हैं—

१. नाम सामायिक—जो शुभ व अशुभ के भेदों को सुनकर रागद्वेष को त्यागता है, वह नाम सामायिक है।[12]

२. स्थापना सामायिक—जो शुभ व अशुभ, चेतन तथा जड़ पदार्थों को देखकर रागद्वेषादि का त्याग करता है, उसको स्थापना-सामायिक माना है।[13]

---

१. 'सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मनसा वयसा कायसा"
—श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र

२. क. रत्नकरण्डश्रावकाचार-९७, ख. श्रावकप्रज्ञप्ति, २९३

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ५४-५६ ४. उपासकाध्ययन, ८/२

५. क. अमितगतिश्रावकाचार, ६/८६ ख. योगशास्त्र, ३/८२

६. सागारधर्मामृत, ५/२८ ७. लाटीसंहिता, ५/१५२

८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ५३ ९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४९

१०. अमितगतिश्रावकाचार, ६/८७ ११. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ९९

१२. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/२४ १३. वही, १८/२५

३. द्रव्य सामायिक—जो सोने व मिट्टी आदि में समान भाव रखता है, वह द्रव्य सामायिक है।[१]

४. क्षेत्र सामायिक—जो शुभ देश में सुख पाकर व अशुभ देश में दुःख पाकर राग-द्वेष का त्याग कर देता है, वह क्षेत्र सामायिक है।[२]

५. काल सामायिक—जो शीतकाल में एवं उष्णकाल में समता धारण करते हैं, उसको काल सामायिक माना गया है।[३]

६. भाव सामायिक—जो मित्र शत्रु आदि मे राग-द्वेष न रखकर अपने को समस्त पापों से रहित बना लेता है, उसके भाव सामायिक होती है।[४]

अतिचार

प्रायः सभी ग्रन्थों में सामायिक के पांच अतिचार माने हैं। उपासकदशांग आदि में मनोदुष्प्रणिधान, वचोदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक की समयावधि का ध्यान नहीं रखना व सामायिक अवस्थित रूप से न करना, ये पाँच अतिचार स्वीकार किए हैं।[५]

१. **मनोदुष्प्रणिधान**—तत्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति में क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या और कार्य की व्यस्तता से उत्पन्न क्षोभ, मन को जो दुष्प्रवृत्त करता है उसे मन-दुष्प्रणिधान कहा है।[६] चारित्रसार में सामायिक करने में मन को न लगाने को मनुदुष्प्रणिधान बताया है।[७] लाटीसंहिता के अनुसार आत्मा के स्वरूप के चिन्तन के सिवाय अन्य पदार्थों का चिन्तन करना इस अतिचार में आता है।[८]

२. **वचनदुष्प्रणिधान**—तत्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति में मनोदुष्प्रणिधान की जगह वचनदुष्प्रणिधान कर दिया है। चारित्रसार में शब्दों के उच्चारण में और उसके भावरूप अर्थ में अजानकारी और चपलता रखना वाग्दुष्प्राणिधान नामक अतिचार माना है।[९] श्रावकप्रज्ञप्ति टीका में सामायिक में उद्यत व्यक्ति को पूर्व में बुद्धि से विचार कर निर्दोष भाषण न करने को वचन दुष्प्रणिधान कहा है।[१०]

३. **कायदुष्प्रणिधान**—चारित्रसार में शरीर से हस्तपाद आदि अंगों को स्थिर नहीं रखना काय-दुष्प्रणिधान माना है।[११] लाटीसंहिता में शरीर को स्थिर रखकर हाथ, अंगुली, माथा, आँख, भौंह

१. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १८/२६
२. वही, १८/२७
३. वही, १८/२८
४. वही, १८/२९
५. क. "पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा-मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, काय-दुप्पणिहाणे, सामाइयस्ससइअकरणाए सामाइस्स अणवट्ठियस्सकरणया"
—उवासगदसाओ. 1/53

ख. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र
ग. तत्वार्थसूत्र, ७/२८
घ. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १०५
ङ. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १९१
६. तत्वार्थभाष्यसिद्धवृत्ति, ७/२८
७. चारित्रसार, २४६
८. लाटीसंहिता, ५/१८९
९. चारित्रसार, २४६
१०. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, ३१४
११. चारित्रसार २४६

जैन हिन्दी काव्य में 'गुणस्थान'

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'
(एम.ए. (स्वर्णपदक प्राप्त), पी-एच.डी)

गुण्यते मंत्र्यते इति गुणः। गुणमंत्रणे धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर गुण शब्द सिद्ध हुआ तथा स्थान के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर गुणस्य स्थानं गुणस्थानं शब्द बनता है। आत्मा के स्वभाव अथवा परिणाम को गुण कहते हैं। गुणों अथवा आत्मशक्तियों के स्थानों को अर्थात् विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। वस्तुतः जीव के गुणों की तारतम्य रूप अवस्था विशेष को 'गुणस्थान' कहते हैं। ये संसारी जीवों की श्रेणियां हैं, जो मोह और मन-वच-काय के योग के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में होने वाले प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव के फलस्वरूप होती हैं।[1]

मनुष्य के अष्टकर्म[2] ही भवबन्धन के कारण होते हैं। इन अष्टकर्मों में से मोहनीय कर्म सर्वाधिक प्रबल और निकृष्ट होता है। यह जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देता। इसी मोहनीय कर्म के अन्तर्गत चारों कषाय(क्रोध, मान, माया, लोभ)आते हैं जिससे रागद्वेष का बंध होता है। इस मोहनीय कर्म का आवरण ज्यों-ज्यों हटता जाता है, त्यों-त्यों आत्मस्वरूप प्रकट होता जाता है।

जैनदर्शन में आत्मा के विभिन्न परिणामों के अनुसार ही चौदह 'गुणस्थान' माने गए हैं। यथा -- मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशांत कषाय, क्षीणकषाय, सयोगीकेवली, अयोगी केवली।[3] यहाँ प्रत्येक गुणस्थान का अभिप्राय अभिव्यञ्जित करना असंगत न होगा।

मिथ्यात्व—संसार के अधिकतर जीव इसी गुणस्थान में रहते हैं। ये लोग आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ मिथ्यामति जीव होते हैं, देव और कुदेव में उनके लिए कोई अन्तर नहीं होता, दोनों की समान रूप से सेवा करते हैं।

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, नेमिचन्द्राचार्य, जीवराज जैन शास्त्रमाला, आगास, २०२८, गाथांक ३, पृष्ठांक ४।
२. अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्यप्रचण्डिया 'दीति' परामर्श (हिन्दी), खण्ड ५ अंक ४, सितम्बर १९८४, पुणे- पृष्ठांक ३२४।
३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथांक ९-१०, पृष्ठांक ८।

सासादन—इसे सासादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं। जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है किन्तु कषाय के तीव्र हो जाने से सम्यग्दर्शन से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर गिरने लगता है तो दोनों के वीच का स्थान सासादन सम्यग्दृष्टि है।

मिश्र—यह 'सम्यक् मिथ्यात्व' संज्ञा से भी अभिहित है। इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिश्रित भाव रहते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टि—जिस जीव की श्रद्धा समीचीन होती है वह सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु संयम का पालन नहीं करता, अतः वह असंयत या अव्रत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इस गुणस्थान से गिरने पर तो प्राणी तीसरे दूसरे गुणस्थान से होता हुआ प्रथम मिथ्यात्व तक पहुंच जाता है और ऊपर चढ़ता है तो पंचम और सप्तम गुणस्थान तक पहुंच पाने में सक्षम होता है।

संयतासंयत—जो श्रावक के पंच अणुव्रतों—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह का पालन करते हैं तथा इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रखते हैं वे संयतासंयत गुणस्थान के धनी होते हैं। गृहस्थ का चारित्र्य पालन करने वाले सभी मनुष्य इस गुणस्थान के अन्तर्गत आते हैं।

प्रमत्तसंयत—पूर्ण संयम का पालन करते हुए भी प्रमाद के कारण जिनसे कभी-कभी कुछ असावधानी हो जाती है, ऐसे साधक (मुनि) प्रमत्त संयत कहलाते हैं। यहाँ से स्खलित/च्युत होने पर भी जीव पंचम-चतुर्थ आदि गुणस्थान से होता हुआ प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व तक पहुंच सकता है तथा उन्नति करने पर सप्तम गुणस्थान में पहुंच जाता है।

अप्रमत्त संयत—जो मुनि प्रमाद और असावधानी से विरत रहकर दृढ़तापूर्वक संयम का पालन करते हैं वे अप्रमत्त संयत कहलाते हैं। इस गुणस्थान से यदि मुनि/साधक स्खलित हो जाए तो छठे गुणस्थान में पहुँचता है।

अपूर्वकरण—करण से तात्पर्य परिणाम होता है। जब मुनि के चित्त में अपूर्व शुद्ध भाव आने लगते हैं तब वह अष्टम गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

अनिवृत्तिकरण—यहाँ आकर पूर्व संचित कर्म क्षीण होने लगते हैं।

सूक्ष्म साम्पराय—इसमें मुनि अपनी कषायों (साम्पराय) को अत्यन्त सूक्ष्म कर डालते हैं।

उपशांत कषाय—कर्म-प्रकृतियों को शांत कर देने से परिणाम अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं किन्तु मोह, कषाय आदि जल से भरे हुए पात्र में नीचे वैठे हुए मल के समान रहते हैं, अतः मुनि इनको उदय में लाकर नष्ट करता है।

क्षीणकषाय—जो साधक मोह आदि को शनैः शनैः क्षीण करते हुए सर्वथा निर्मूल कर देते हैं वे क्षीण-कषाय वीतरागी कहलाते है।

सयोगी केवली—अष्टकर्मों में सर्वाधिक प्रवल मोहनीय कर्म होता है। वारहवें गुणस्थान तक वह नष्ट हो जाता है। उसके नष्ट होते ही अन्य कर्मो की शक्ति स्वतः क्षीण हो जाती है और 'केवल ज्ञान' प्रकट हो जाता है। अतः वे सयोगी केवली हो जाते हैं। आत्मा के शत्रु कर्मों को जीत लेने के कारण ये ही जिन तथा अरिहंत (अरि + हंत) कहलाते हैं। वे भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर उपदेश देते हैं, प्राणी मात्र को संसार से पार उतरने का मार्ग वताते हैं, इसलिए ये ही तीर्थंकर कहलाते हैं। तेरहवें गुण स्थान तक जीव जगवासी कहलाता है।

अयोगी केवली—जब केवल ज्ञानी ध्यान-मग्न होकर मन, वच, काय के सब व्यापार बन्द कर देते हैं तब वे अयोग केवली कहलाते हैं। इसका काल बहुत थोड़ा होता है। तत्पश्चात् ये ध्यान रूपी अग्नि से शेष चार अघाती कर्मों—आयु, नाम, वेदनी, गोत्र को भी नष्ट करके शरीर और जीवन से मुक्त होकर सिद्ध हो जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है। पातञ्जल योग दर्शन में ऐसी आध्यात्मिक भूमिकाओं का मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा नाम से उल्लेख किया है।[1] योगवासिष्ठ में अज्ञान की सात और ज्ञान की सात इस तरह चौदह चित्तभूमिकाओं का विचार आध्यात्मिक विकास के आधार पर बहुत विस्तार से किया है।[2] जैन पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने गुण-स्थानों को 'आध्यात्मिक उत्थान और पतन के चार्ट' के समान बताया है।[3] डॉ० हीरालाल जैन ने 'चौदह आध्यात्मिक भूमिकाएँ' कहा है।[4] पण्डित सुखलाल संघवी ने 'आध्यात्मिक विकास की परिमापक रेखाएँ' कहा है।[5] श्री रतनलाल जैन ने 'आत्मा के उत्तरोत्तर विकास के चौदह स्तर या श्रेणियाँ' स्वीकारा है।[6] श्रीदेवेन्द्र मुनि शास्त्री ने 'चारित्रिक विकास की सीढियाँ' कहा है।[7]

संस्कृत, प्राकृत, जैन वाङ्मय में व्यवहृत' 'गुणस्थान' शब्द हिन्दी जैन काव्य कृतियों में भी गृहीत है। कविवर बनारसीदास द्वारा प्रणीत 'समयसार नाटक' के 'चतुर्दशगुणस्थानाधिकार' में गुणस्थानों पर शास्त्र सम्मत व्यापक चर्चा लगभग चालीस पृष्ठों में हुई है। कविवर भैया भगवतीदास ने गुणस्थान सम्बन्धी दो कृतियों की रचना की है—

१. एकादश गुणस्थान पर्यन्त पंथ वर्णन
२. चौदह गुणस्थानवर्ति जीव संख्या वर्णन

प्रथम रचना में गुणस्थानों के नाम-परिगणन शैली को ही मुख्य रूप से अपनाया गया है। दूसरी रचना में कवि की दृष्टि भिन्न गुणस्थानों के नाम बताकर उनमें रहने वाले जीवों की संख्या संकेत पर ही केन्द्रित रही है। दोनों ही रचनाओं में कवि ने मानसिक भावों के उतार-चढ़ाव और परिवर्तन का सूक्ष्मता से चित्रण नहीं किया है। गोम्मटसार में इसका विशद विवेचन है। कवि ने स्वयं भी प्रथम रचना के अन्त में इसका उल्लेख किया है यथा—

ऐसे भेद जिनागम माहिं।
गोम्मठसार ग्रंथ की छाहिं॥
(एकदाश गुणस्थानपर्यन्त पंथ वर्णन, छंद २०)

---

१. पातञ्जल योग दर्शन, पाद १ सूत्र ३६- पाद ३ सूत्र ४८-४६ का भाष्य, पाद १ सूत्र १ की टीका।
२. योग वासिष्ठ, उत्पत्ति प्रकरण-सर्ग ११७-११८-१२६, निर्वाण १२०-१२६।
३. जैन धर्म पृष्ठांक २२१। ४. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृष्ठांक २७४।
५. दर्शन और चिन्तन, पृष्ठांक २५३। ६. जैन धर्म, पृष्ठांक १०८।
७. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठांक १४१।

दौलतराम कवि ने 'अध्यात्म बारहखड़ी' रचना में इस शब्द का इसी अर्थव्यञ्जना में व्यवहार किया है—

अष्टम गुणथानक से श्रेणी।
उपशम क्षायक रूप सुख देनी।।
(अध्यात्म बारहखड़ी छंदांक १३३)

कवि भूधरदास द्वारा प्रणीत 'पार्श्वपुराण' रचना में 'गुणस्थानों' का उल्लेख द्रष्टव्य है—

अष्टम समुद्घात यह मान।
मुनि के होहि छ े गुणस्थान।।
(पार्श्वपुराण, अधिकार संख्या ६, पृष्ठ १४६)

१६ वीं शती की रचनाओं में 'गुणस्थान' शब्द इसी अर्थस्थापना के लिए अवतरित हुआ है। कवि नैनानंद द्वारा रचित 'नयन सुख विलास' कृति में 'गुणस्थान' शब्द दृष्टिगत है। यथा—

मोह लहर जिया की सुधि हरे।
ग्यारह गुणस्थानक चढ़ गिरे।।
(नैन सुखविलास, छंदांक १८, पृष्ठांक ४८)

कवि बख्तराम ने 'बुद्धि विलास' ग्रंथ में 'गुणस्थान' का व्यवहार बखूबी किया है—

दशमों गुणस्थान यह भाष्यौ।
सूक्ष्म संपराय अभिलाष्यौ।।
(बुद्धिविलास चौपाई संख्या १४८८, पृष्ठांक १७०)

२० वीं शती की कृतियों में भी गुणस्थान' शब्द बिना किसी अर्थ परिवर्तन के अभिव्यक्त है। कवि लक्ष्मीचन्द की 'लक्ष्मीविलास' रचना में गुणस्थान' शब्द अपने इसी अर्थ को समेटे हुए व्यक्त हुआ है यथा—

सुर रत्नाकर वर्षे अपार अतिशय निहार जन हर्ष थार।
तप सुरघर धर्मध्यान कर, गुणस्थान चढ़ि श्रेणि धरं।।
(लक्ष्मीविलास, छंद २२, पृष्ठ ४०)

कवि मुख्यतारसिंह 'रचित' 'द्रव्य संग्रह हिन्दी टीका' रचना में इस शब्द का व्यवहार परिलक्षित है। यथा—

मार्गणा गुणस्थान से चौदह चौदह रूप।
तदपि शुद्ध नय से कह्यो आतमशुद्ध अनूप।।
(द्रव्य संग्रह हिन्दी दोहा, छंदांक १६, पृष्ठांक २०)

इसी शती की अन्य रचना 'योगमार दोहा' (पद्यानुवाद) में यह शब्द दृष्टिगोचर है। यथा—

गुणस्थान वा मार्गणा कहत दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतमज्ञान ही परमेष्ठी पदकार।।
(योगसार दोहा काव्यानुवाद; छंद १७, पृष्ठ ६)

इस प्रकार कह सकते हैं कि जैन हिन्दी काव्य में जैन दर्शन-ग्रंथों के अनुसार ही गुणस्थानों का वर्णन हुआ है। यद्यपि उन्होंने प्रत्येक गुणस्थान वर्ती जीवों का स्वभावगत वर्णन नहीं किया तथापि यह साधना कितनी कठिन है, जीव बार-बार ऊपर चढ़ने का प्रयास करता है और नीचे गिर जाता है; यदि अपने को संभाल नहीं पाता तो गिरता ही चला जाता है, इसका कवियों ने बार-बार संकेत किया है। जैनदर्शन के अनुसार इस संसार के सब जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकास के अनुसार गुणस्थानों में विभाजित हैं।

३६४, सर्वोदयनगर, आगरारोड़, अलीगढ़-२०२००१

'गणितसार संग्रह' की कुछ परिभाषाएं और गणितीय नियम

☐

डा. वीरेन्द्र शेखावत

मुनिश्री महावीराचार्य (८५० ई.) का गणितसार संग्रह[1] अंक गणित व रेखा गणित का प्रसिद्ध ग्रंथ है। गणित के स्वतन्त्र ग्रन्थों में यह प्रमुख है यद्यपि इससे पूर्व आर्यभट्ट प्रथम (५१० ई.) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई.) ने भी स्वतन्त्र गणित ग्रंथों की रचना की थी। आर्यभट्ट से पूर्व स्वतंत्र गणित-शास्त्र उपलब्ध नहीं होते जिससे यह अनुमान उचित प्रतीत होता है कि भारत में गणित, ज्योतिष के एक उपांग के रूप में ही उत्पन्न हुआ। और इसका विकास अन्य क्षेत्रों में इसकी अनुप्रयुक्ति के कारण ही हुआ न कि शुद्ध गणितीय विज्ञान के अनुसंधान के कारण। यवनी संस्कृति में यह स्थिति नहीं है। वहाँ हमें ईसा से ३०० वर्ष पूर्व युक्लिड का 'तत्त्व'[2] नामक स्वतंत्र गणित-ग्रंथ उपलब्ध होता है जिसमें रेखा गणित प्रधान और अंक गणित गौण है। वहाँ शुद्ध गणितीय विज्ञान-साधना की एक परम्परा बनी जो इस पर निर्भर नहीं थी कि गणित की व्यवहार में अनुप्रयुक्ति हो सकती है या नहीं। गणित के प्रति इन दो भिन्न दृष्टिकोणों के कारण हमें भारतीय व यवनी गणितीय पद्धतियों में एक मूलभूत अन्तर मिलता है : जहाँ प्रथम में गणितीय निष्कर्ष अनुभव-सिद्धि के आधार पर मान्य हुए वहाँ दूसरी में गणितीय उपपत्ति या सिद्धि की पद्धति ने जन्म लिया। इस उपपत्ति की तर्कीय पद्धति के कारण यवनी गणित-शास्त्र एक युक्तियुक्त और सुगठित तंत्र के रूप में विकसित हो सका जो अन्य विज्ञानों के लिए एक आदर्श के रूप में उपस्थित था। भारतीय संस्कृति में इस प्रकार का तार्किक आदर्श दर्शनों में उपलब्ध होता है, जिनमें भी 'प्रमाण मीमाँसा' विशेष है।

१. 'गणितसार संग्रह' अंक गणित प्रधान ग्रन्थ है और नौ अध्यायों में विभाजित है। ये संज्ञा, परिकर्म व्यवहार. कला सवर्ण व्यवहार, प्रकीर्णक व्यवहार, त्रैराशिक व्यवहार, मिश्रक व्यवहार,

---

१. लक्ष्मीचंद्र जैन (संपा.), **महावीराचार्य कृत गणितसार संग्रह**, सोलापुर: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, १९६३.

२. युक्लिड, **एलिमेन्ट्स**, अनु. टी. एलहीथ, ग्रेट बुक्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, Vol ११, आर. एम. हचिन्स (संपा.); लन्दन, एन्साइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका, १९५२.

क्षेत्रगणित व्यवहार, खात व्यवहार तथा छाया व्यवहार हैं और इनमें अन्तिम तीन रेखा गणितीय है। प्रथम दो अध्यायों में, परिभाषाएँ और नियम प्रस्तुत किए गए हैं जिन पर यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे। गणित-शास्त्र के अधिकतर भारतीय ग्रन्थ इसी प्रकार परिभाषाओं और नियमों के प्रस्तुतीकरण से आरम्भ होते हैं। उदाहरण के लिए भास्कराचार्य (ई. १०३६) के 'लीलावती'[3] जो अंक गणित का ग्रन्थ है और 'बीज गणित'[4] नामक बीज गणित का ग्रन्थ। भास्कराचार्य अंकगणित और बीज गणित में यह भेद करते हैं कि जहाँ दूसरा बीज रूपी अव्यक्त का गणित है वहां प्रथम अंक रूपी व्यक्त का गणित है। इससे स्पष्ट होता है कि अंक या संख्या व्यक्त मूल है और इसका ज्ञान ही व्यक्त के मूल स्वरूप का ज्ञान है जबकि अव्यक्त गणित या बीज गणित से अव्यक्त के स्वरूप व लक्षणों का ज्ञान होता है। महावीराचार्य ने यद्यपि गणित को सब का आश्रय रूप (**सर्वे ते गणिताश्रयाः**) कहा है लेकिन उन्होंने संख्या या अंक की कोई परिभाषा उपलब्ध ग्रंथ में नहीं दी। वह क्षेत्र परिभाषा से आरम्भ करते हैं। क्षेत्र की इकाई की वह निम्नलिखित परिभाषा देते हैं—'पुद्गल का वह सूक्ष्म भाग जो जल, अग्नि आदि से नष्ट नहीं होता परमाणु है, ऐसे अनन्त परमाणुओं द्वारा उत्पन्न एक अणु प्रथम क्षेत्र-माप है।' क्योंकि यह माप प्रत्यक्ष नहीं होता अतः अणु से आठ गुणा त्रसरेणु, त्रसरेणु से आठ गुणा रथरेणु, रथरेणु से आठ गुणा बाल माप होता है जो प्रत्यक्ष है। यहां महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्रथम अणुक्षेत्र के माप की परिभाषा में ही अनन्त का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है। लेकिन यहां प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमाणु-क्षेत्र की परिभाषा कैसे दी जाए? यदि परमाणु, क्षेत्र विहीन है तो अक्षेत्र से क्षेत्र कैसे उत्पन्न होता है? यहां पर कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो युक्लिड की बिन्दु की परिभाषा से होती है यद्यपि वहां अनन्त के प्रत्यय को प्रयुक्त नहीं किया गया है। युक्लिड के अनुसार 'बिन्दु वह है जिसका कोई अवयव नहीं होता।' संभवतया महावीराचार्य का परमाणु भी ऐसी ही वस्तु है जो अनश्वर और निरवयव है यद्यपि यह दूसरा लक्षण उनकी परमाणु की परिभाषा में नहीं कहा गया है। लेकिन यहां यही बात केन्द्रीय है कि जहां तक अभ्यास का प्रश्न है, सूक्ष्म से सूक्ष्म यथार्थ माप भी अनंत परमाणुओं के संघात से ही संभव हो सकता है अतः सभी यथार्थ प्रत्यक्ष अनंत आश्रित है।

काल की सूक्ष्म इकाई की परिभाषा भी परमाणु आश्रित है। 'वह काल जिसमें एक अणु व्यतिक्रम करता है, समय कहा जाता है। असंख्य समय मिलकर एक आवलि बनती है।' यहां यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि अणु के व्यतिक्रम के बारे में कहा गया है न कि परमाणु के व्यतिक्रम के बारे में। क्योंकि परमाणु क्षेत्र परिभाषित नहीं है अतः उसके व्यतिक्रम, अर्थात् अपने क्षेत्र जितनी ही दूरी तय करने, के बारे में नहीं कहा जा सकता लेकिन अणु क्षेत्र के बारे में ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि काल की यह परिभाषा गति पर आधारित है। अणु गति मौलिक और स्वाभाविक है। अतः गति से काल उत्पन्न होता है न कि काल से गति। अणुओं की यह गति भी निश्चित और अपरिवर्तनशील होनी चाहिए अन्यथा काल की अनेक सूक्ष्म इकाइयां हो जाएंगी, यद्यपि श्री महावीराचार्य इस विषय में कुछ नहीं कहते। क्षेत्र की तरह ही काल प्रत्यक्ष भी अनन्त आश्रित है क्योंकि असंख्य समयों के संघात से ही आवलि बनती है जो संभवतया पलक झपकने जितने समय को कहते हैं।

३ श्री लषणलाल झा (व्याख्याकार); **भास्कराचार्यकृत लीलावती**; वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, १९७९

४. देवचन्द्र झा (व्याख्याकार); **भास्कराचार्यकृत बीज गणितम्**; वाराणसी: कृष्णदास अकादमी, १९८३

महावीराचार्य की क्षेत्र और काल की इकाइयों की परिभाषा युक्लिड की 'इकाई' और 'अंक' की परिभाषा से मिलती-जुलती है यद्यपि वह स्पष्टतया उनका स्वतन्त्र अन्वेषण है। युक्लिड के अनुसार "इकाई वह है जिससे हर एक अस्तित्ववान वस्तु को एक कहा जाता है।" और "अंक इकाइयों के संघात से मिलकर बनता है।" यहां युक्लिड अंक की परिभाषा इकाई प्रत्यय पर आधारित करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे श्रीमहावीराचार्य अपने सूक्ष्म क्षेत्र और काल की परिभाषा परमाणुओं पर। यद्यपि युक्लिड की परिभाषा इन्द्रियानुभवगत वस्तुओं पर आधारित है जबकि महावीराचार्य की परिभाषा इन्द्रियातीत परमाणुओं पर।

२. युक्लिड के अंक गणित में परिभाषाओं का आरम्भ इकाई से होता है न कि शून्य से। वहां 'अभाव' का दार्शनिक प्रत्यय उपलब्ध न होने से यवनी लोग शून्य अंक से अनभिज्ञ थे यद्यपि 'अनन्त' के प्रत्यय को हम रेखा गणित में उपस्थित पाते हैं। भारत मे यद्यपि शून्य और अनन्त वेदांग ज्योतिष जितने ही या उससे भी प्राचीन हैं, लेकिन इनके विशेष लक्षणों का अन्वेषण बाद का है। गणितसार संग्रह में शून्य राशि (**ख राशि**) तथा धन और ऋण राशियों से संबंधित सामान्य नियम निम्नलिखित हैं—

१. "कोई भी संख्या शून्य से, गुणित होने पर शून्य हो जाती है और वह चाहे शून्य के द्वारा विभाजित की जावे या शून्य द्वारा घटाई जावे या शून्य से जोड़ी जावे, बदलती नहीं है। गुणा तथा अन्य कर्म शून्य के संबंध में शून्य की उत्पत्ति करते है और योग की क्रिया में शून्य वही संख्या हो जाता है जिसमें वह जोड़ा जाता है।"

२. "दो ऋणात्मक या धनात्मक राशियां एक दूसरी से गुणित करने पर या भाजित होने पर धनात्मक राशि उत्पन्न करती हैं. परन्तु दो राशियां जिनमें एक धनात्मक तथा दूसरी ऋणात्मक है एक दूसरे से गुणित अथवा भाजित होने पर ऋणात्मक राशि उत्पन्न करती हैं। धनात्मक और ऋणात्मक राशि जोड़ने पर प्राप्त फल उनका अन्तर होता है।"

३. "दो ऋणात्मक या धनात्मक राशियों का योग क्रमशः ऋणात्मक और धनात्मक राशि होता है। किसी दी हुई संख्या में से धनात्मक राशि घटाने के लिए उसे ऋणात्मक कर देते हैं और ऋणात्मक राशि घटाने के लिए उसे धनात्मक कर देते हैं।"

४. "धनात्मक तथा ऋणात्मक राशि का वर्ग धनात्मक होता है और उस वर्ग राशि के वर्गमूल क्रमशः धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं। चूंकि स्वरूपतः ऋण राशि वर्गात्मक नहीं होती अतः उसका कोई वर्गमूल नहीं होता।"

लेकिन प्रश्न उठता है कि ये सामान्य नियम कहाँ से आए और इनकी उत्पत्ति क्या है? महावीराचार्य इस संबंध में कुछ नहीं बताते और न ही अन्य भारतीय गणितज्ञ कुछ कहते हैं। यद्यपि जहां तक शून्य का प्रश्न है, हम महावीराचार्य और भास्कराचार्य के गणितों में स्पष्ट अन्तर पाते हैं। महावीराचार्य को यह सामान्य नियम स्वीकार्य है कि किसी भी संख्या को ख या शून्य से विभाजित करने पर वह संख्या अविकारी रहती है जबकि भास्कराचार्य के अनुसार शून्य द्वारा विभाजन से राशि खहर या अनन्त हो जाती है। "किसी भी राशि में शून्य के योग या वियोग करने से धनर्ण यथावत या अविकारी रहता है। यदि शून्य में से ही किसी को घटाया जाए तो धनर्ण चिन्ह का व्यत्यास हो जाता है। शून्य के

वधादि शून्य होते हैं। शून्य से किसी में भाग देने पर वह राशि खहर कहलाती है और यह खहर राशि अनन्त समझी जाती है। प्रलय एवं सृष्टि के समय अनन्त अच्युत में समस्त प्राणियों के लीन एवं निर्गत होने पर जैसे उनमें कोई विकार नहीं होता वैसे ही इस खहर राशि में किन्हीं भी राशियों के जोड़ने या घटाने से कोई विकार नहीं होता है।" यहाँ हम शून्य और अनन्त संख्याओं के लक्षणों की स्पष्ट व्याख्या पाते हैं और उनका भेद भी स्पष्ट है यद्यपि भास्कराचार्य भी ऐसे कोई हेतु प्रस्तुत नहीं करते हैं जिनके आधार पर इन नियमों को सिद्ध व प्रामाणिक माना जाए। जहां तक ऋण और धन राशियों के योग, वर्गमूल, आदि के नियमों का प्रश्न है महावीराचार्य और भास्कराचार्य एकमत हैं और दोनों ही ऐसा कोई हेतु नहीं प्रस्तुत करते जिससे यह स्पष्ट हो सके कि ऋण राशियां क्यों स्वरूपतः वर्गात्मक नहीं होती ?

जहाँ महावीराचार्य अनन्त या असंख्य का प्रत्यय अपनी परिभाषाओं में ऐसी महत संख्या के रूप में करते प्रतीत होते हैं जिसकी गणना मानव-क्षमता से परे है, वहां भास्कराचार्य इसे उस अनन्त व अच्युत सत्ता का प्रतीक मानते हैं जो सदैव अविकारी है और यह अविकारत्व का लक्षण ही इसे परिभाषित करता है। दूसरी ओर दोनों ही आचार्यों का शून्य से तात्पर्य उस आकाश या अन्तरिक्ष (ख लोक) से है जो सर्ववस्तुविहीन है और जिसके जोड़ने-घटाने से संख्या में कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुणरहित होना शून्य का लक्षण है अतः संख्याओं के साथ गुणपरिकर्म से वह उन्हें भी गुणरहित अर्थात् शून्य ही बना देता है। भाग के संबंध में भास्कराचार्य का नियम ही अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योंकि भाग परिकर्म का फल गुणपरिकर्म के विरुद्ध होता है और इसीलिए यदि गुणन से शून्य अन्य संख्याओं को शून्य बना देता है तो भाग से विरुद्ध फल अर्थात् अनन्त उपलब्ध होना चाहिए जैसा कि भास्कराचार्य का नियम है। यदि यह कहा जाए कि भाग से तात्पर्य बांटने से है और यदि एक वस्तु को तीन या चार से भाग दिया जाए तो वह तीन या चार भागों में बंट जाती है, लेकिन क्यों कि शून्य कुछ भी नहीं है अतः शून्य भाग से वस्तु वही रहेगी, तो यह युक्ति ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि ज्यों-ज्यों हम बड़ी संख्या से भाग देते हैं तो वस्तु छोटी होती जाती है और क्योंकि एक से भाग देने पर वह वही रहती है अतः शून्य भाग से वह महत ही होनी चाहिए।

3. गणित के अष्ट परिकर्म जो गुणकार, भागहार कृति (वर्ग), वर्गमूल, घन, घनमूल, चिति (योग या संकलित), और व्युत्कलित (या शेष) हैं, महावीराचार्य के गणितसार संग्रह के दूसरे अध्याय में स्पष्ट किए गए हैं जिसे 'परिकर्म व्यवहार' नाम दिया गया है। इनके बारे में जो नियम हैं उन्हें 'करणसूत्र' कहा गया है। इन नियमों के बारे में महावीराचार्य और भास्कराचार्य एकमत हैं। यद्यपि आज ये परिकर्म इतने सामान्य हो गए हैं कि हर पाठशाला में इन्हें आरम्भ में ही सिखा दिया जाता है। लेकिन इनका अन्वेषण एक महान उपलब्धि है और महत संख्याओं के क्षेत्र में आज भी ये अनुसंधान के विषय हैं क्योंकि वहां संख्याओं के नए लक्षण प्रगट होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इन परिकर्मों की उत्पत्ति के बारे में भी ग्रंथकार कुछ नहीं कहते। वे केवल इन क्रियाओं को करने की विधि बताते हैं अर्थात् यह स्पष्ट करते हैं कि इन परिकर्मों के करने से संख्याएं किस तरह व्यवहार करती हैं। उदाहरण के लिए गणित सारसंग्रह का भागहार परिकर्म लीजिए—"भाज्य को लिख कर उसे साधारण गुणनखंडों को अलग करने की रीति के अनुसार भाजक द्वारा भाजित करो। भाजक को भाज्य के नीचे रखो और

तब परिणामी भजनफल को प्राप्त करो।' स्पष्ट है कि यहां भागहार की विधि बताई गई है जो एक नियम भी है। जिज्ञासा होती है कि इस विधि का अनुसंधान कैसे किया गया ? और इसके उत्तर में दोनों ही आचार्य मौन हैं।

सामान्यतया हम परिभाषाएं तो बिना किसी हेतु के ही बता सकते हैं यद्यपि उन्हें सरल और स्पष्ट होना चाहिए। लेकिन कोई भी गणितीय नियम या व्यवहार युक्ति या उपपत्ति के आधार के बिना तर्कतः क्षीण रह जाता है। यह कमी हमें युक्लिड के रेखा गणित में नहीं मिलती। वहां परि-भाषाओं और समान्य प्रत्ययों के अलावा हर प्रतिज्ञा युक्ति और प्रमाण पर आधारित है। भारतीय रेखा गणित में भी हम वही कमी पाते हैं जो अंक गणित में है। वहां क्षेत्र व्यवहार के अन्तर्गत ज्यामितीय आकृतियों के अनेक लक्षण स्पष्ट किए गए हैं लेकिन वे किसी युक्ति पर आधारित नहीं हैं। ज्योतिष में उनका उपयोग और अनुभव में सिद्धि ही उनका औचित्य है।

४. निष्कर्षतः यहां यह कहा जा सकता है कि जहां भारतीय गणित में औपनिषदिकों और जैनों ने महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किए वहाँ बौद्ध इस विषय पर बिल्कुल मौन हैं। भारतीय गणितज्ञों का मौलिक योगदान संख्या गणित और बीज गणित में है जहाँ उन्होंने मूल नियमों और परिकर्म-विधियों की स्थापना की। इसके अन्तर्गत उन्होंने संख्या के अन्तर्गत शून्य और अनन्त संख्याओं एवं उनके लक्षणों का भी सर्व प्रथम प्रतिपादन किया। क्योंकि संख्या बीज गणित प्रमुखतया ज्योतिष विज्ञान के एक साधन के रूप में प्रयुक्त हुआ हम ईसा से पूर्व कोई भी स्वतन्त्र गणित-ग्रंथों की भारत में रचना होते हुए नहीं पाते। इसके विपरीत यवनी गणितज्ञों ने भूमिति शास्त्र को मिश्र से ग्रहण किया और ईसा से ३०० वर्ष पूर्व उसे पूरी तरह युक्ति आधारित और प्रमाण बद्ध करने में सफल हुए। उनका ज्योतिष विज्ञान और यांत्रिकी भी भूमिति गणित से बहुत अधिक प्रभावित थे यहाँ तक कि उनका आरंभिक अंकगणित भी रेखा गणित पर आधारित था। रेखागणित के स्वतंत्र शास्त्र के रूप में स्थापित होने से वहाँ गणितीय प्रमाण और सिद्धि या उपपत्ति की महत्त्वपूर्ण पद्धति का विकास हो सका जो भविष्य में प्रकृति दर्शन में प्रयुक्त हुई और जिससे गेलीलियो और न्यूटन के गणितीय नियमों पर आधारित प्रकृति दर्शन की उत्पत्ति संभव हुई। इसके विपरीत भारतीय प्रकृति दर्शन गणित से आज भी अछूते ही हैं।

—दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज.)

जैनधर्म इक्कीसवीं सदी में

डॉ. नेमीचन्द जैन

तर्क की कसौटी पर यह वहुत स्पष्ट है कि कोई भी वाद की स्थिति अपनी पूर्ववर्ती स्थिति का परिणाम होती है ।

जो वस्तु या स्थिति किसी वस्तु या स्थिति का स्थान ग्रहण करती है, वह स्वतन्त्र कुछ नहीं होती वरन् अपनी पूर्वस्थितियों का महायोग होती है ।

वह धर्म जो भगवान ऋषभजिन द्वारा प्रवर्तित हुआ, इसी प्रक्रिया में वहा चला आ रहा है ।

नहीं कहा जा सकता यह कि जैनधर्म की जो अस्मिता/स्वरूप भगवान् ऋषभजिन के समय था वही तीर्थकर अजितजिन के समय में था और वही भगवान् पार्श्वजिन के युग में यथावत वना रहा ।

यह कहना भी कठिन ही होगा कि भगवान् पार्श्वजिन के युग का जैनधर्म भगवान् महावीर के समकालीन जैनधर्म की शतप्रतिशत प्रतिकृति था ।

वक्त तमाम चेहरे बदल देता है । मौलिकताएँ/बुनियादें बनी रहती हैं, किन्तु आच्छद बदल जाते हैं ।

विकास की प्रक्रिया वहुत प्रखर और अचूक होती है; उसे चुनौती देना वहुत मुश्किल होता है ।

विकास की इस निर्मम प्रक्रिया के भी दो रूप सामने आते हैं। विकास एक वह जिस पर प्रकृति का नियन्त्रण होता है; विकास एक वह जो मनुष्य की बुद्धि करती है । वह प्रकृति के रहस्यों पर से पर्दा उठाती है और मनुष्य की सुख-सुविधाओं के अनुरूप इन रहस्यपूर्ण शक्तियों का उपयोग करती है । यद्यपि कई वार इससे प्रकृति का संतुलन गड़वड़ाता है तथापि स्थितियां वदलती हैं और तदनुसार कुछ संकट, कुछ वरदान सामने आते हैं ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । जैसे-जैसे समय बीतता गया उसके समाज की बनावट जटिल होती गई । अर्थ, राज्य, परम्परा और परस्पर-सम्वन्ध उलझते गए और उनकी नयी कसौटियाँ उभरती गई । इन स्थितियों ने मनुष्य को वाहर से, भीतर से वदला; इसीलिए आज वह वह नहीं है, जो भगवान् महावीर के युग में था । उसकी चिन्तन-प्रक्रिया पर भी इन सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव हुआ है । उसकी फजा में विज्ञान के नये रोशनदान भी खुले हैं । विज्ञान की सभी शाखाओं ने उसके समाज की

बुनावट को प्रभावित किया है । इन शाखाओं ने उसके परम्परित चिन्तन और उसकी परम्परित धारणाओं को चुनौती दी है; फलतः उसकी सामाजिक मर्यादाएँ टूटी हैं और उसे नये मूल्यों की स्थापना के लिए तैयार होना पड़ा है ।

जहां एक ओर उसके द्वारा निर्मित सामाजिक कृत्रिमताएँ टूटने को हुई हैं, वहीं दूसरी ओर विज्ञान के प्रभाव ने उसके भीतर बैठी तृष्णाओं और वांछाओं को नवतरुणाई दी है । विज्ञान ने जहां एक ओर सुख-सुविधायें प्रदान की हैं वहीं दूसरी ओर उसने मनुष्य के भीतर जागरूक आध्यात्मिकता को सघन नुकसान पहुंचाया है ।

धर्म अपना चेहरा एकदम कभी नहीं बदलता; बदलता वह है; किन्तु आकस्मिक वहाँ कुछ नहीं होता । बेशक जैनधर्म की मुखछवि भी बदली है । जैनधर्म का चेहरा आज वह नहीं है जो कभी भगवान् महावीर के जमाने में था । वह बदल गया है । उसके सिद्धांत और आचार में एक चौड़ी दरार पड़ गई है । इस दरार के बनने से कई उलझनें खड़ी हो गई हैं । पंजर हमारे सामने पुराना है; किन्तु उसकी धड़कनों की लय बदलने लगी है ।

आचार-संहिताएँ नई परिस्थितियों के बीच नए सिरे से परिभाषित होने के लिए गर्दन उठाए खड़ी हैं । स्थितियां बदलेंगी—बदलती हैं—अतः हमें ऐसी मानसिक तैयारी रखनी चाहिये कि इन बदलती हुई स्थितियों में अपने बुनियादी उसूलों को तो बनाये रखें; किन्तु जिन परिवर्तनों ने हमारे दरवाजे खटखटा दिए हैं उनकी अनदेखी न करें । यदि वे उपयोगी हैं तो उनका स्वागत करें और नवागत परिवर्तनों के लिए स्वागत-द्वार बनायें ।

तय है कि आने वाली सदी के आरम्भिक सिरे पर पहुंचते-पहुंचते हमारे सम्मुख कई नयी स्थितियां बनेंगी ।

समाज, उसके अवयव; श्रावक, साधु, मन्दिर, उपाश्रय, शास्त्र, खानपान, रहन-सहन, औषधियां, सड़कें, धर्म, दर्शन, भाषा, यातायात और संवहन के साधन, यात्राओं के तौरतरीके, मार्ग की व्यवस्थाएँ इत्यादि काफी बदलेंगे (बदल चुके हैं) । यदि इस शताब्दी के आरम्भ में कोई महावीरकालीन श्रमण/श्रावक आ खड़ा हो तो उसे काफी अटपटा लगेगा । उसे आश्चर्य होगा कि साधुओं ने अपने जीवन में उन सब वस्तुओं को क्रमशः प्रवेश दे दिया है, जिन्हें किसी वक्त अपावन और अस्पृश्य माना जाता था । हाथलिखे शास्त्र किसी समय प्रामाणिक और पवित्र माने जाते थे; किन्तु अब उनके प्रति हमारा नज़रिया काफी बदल गया है । अब तो यह देख पाना ही कठिन हो गया है कि हम धर्म-शास्त्रों के लिए कौन-सी मुद्रण या जिल्दबन्दी-विधि अपना रहे हैं ? विवेक का कहीं-कोई प्रश्न ही नहीं है ।

कोई ईमारत यदि बन रही है तो उसमें कौन-सी सामग्री प्रयुक्त होगी/हो रही है इसकी जाँच-पड़ताल का अवकाश हमारे पास नहीं है (परस्पर जूझने का है) । साधु हो या श्रावक अब पवित्रता और प्रामाणिकता की उन धारणाओं को वह भुला चुका है, जिन्हें वह कभी प्राणपण से निभाया करता था ।

हम जानते हैं कि एक ऐसा समाज हमारे सामने आज आ खड़ा हुआ है, जिसमें कागज़ का उपभोग लगातार घटता जा रहा है । आगे के दशकों में लिखने की ज़रूरत शायद नहीं होगी । बोला

हुआ शब्द कम्प्यूटर की स्मृति में चला जाएगा और मांगने पर वह तुरन्त परोस दिया जाएगा। जिसे हम प्रमाद कहते हैं, उसे भी पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता हम महसूस करेंगे। कम्प्यूटर (संगणक) के जिम्मे श्रमण/श्रावक दोनों बहुत सारे दायित्व छोड़ देंगे।

आहार और गोचरी की स्थिति क्या होगी आगामी कल इस पर भी हमें शान्तिपूर्वक विचार कर लेना होगा। पूजा-उपासनाएँ बहुत आसानी से 'रोबोट' के जिम्मे की जा सकेंगी। पुराने पुजारी/पण्डित में और 'रोबोट पण्डित' में कोई खास फर्क नहीं दिखाई देगा वरन् 'रोबोट पण्डित' अधिक कुशलता और होशियारी से पूजा-उपासनाएँ निबटा सकेगा। निश्चय ही हम बहुत सारे धार्मिक कर्त्तव्य-कर्म रोबोट के जिम्मे कर सकेंगे।

विश्व के बड़े-बड़े नगरों में जब कृत्रिम सूर्य लगाये जाएँगे तब एक नई समस्या उत्पन्न होगी। ये सूर्य दिनकर की तरह ही समर्थ और दीप्तिमंत होंगे तथा इन्हें आकाश में 3-4 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थिर कर दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में हमारी रात्रि-भोजन की धारणा का क्या होगा? ऐसी कई उलझनें खड़ी होंगी जिनसे निबटने के लिए हमें तर्कसंगत होने की आवश्यकता होगी।

समाज की बुनावट काफी बदल जाएगी। अब तक हम भारतीय ढाँचे में सोचते रहे हैं; किन्तु अब वैश्विक (ग्लोबल)/ ब्रह्माण्डीय (कॉस्मिक) ढाँचे में सोचने पर विवश होंगे। अन्तरिक्ष में जो कॉलोनियाँ डाली जाएँगी, उनमें जैन भी जाएँगे/बसेंगे।

जब आज कुछ जैन साधु समुद्र-पार उड़ रहे हैं और आधुनिकतम आविष्कारों का खुल कर उपयोग कर रहे हैं तब आने वाली शताब्दी में उनकी अन्तरिक्ष यात्राओं पर कोई बंदिश लगायी जा सके, यह संभव नहीं होगा। अन्तरिक्षयान कुछ दशकों बाद यातायात के अत्यन्त निर्विघ्न साधन होंगे और आने वाली सदी में जब आकाश में काफी फासले पर जाना/उड़ना/ठहरना संभव हो जाएगा तब हमारे साँस्कृतिक और सामाजिक, धार्मिक और नैतिक रिश्तों का क्या होगा?

जब आज मूल्यगत परिवर्तनों से हमारे तमाम रिश्ते प्रभावित हुए हैं, तब आने वाली सदी में होने वाले वैज्ञानिक परिवर्तनों का प्रभाव उन पर न हो यह कैसे संभव है? अतः हमें सहज ही और तुरन्त ही इन बदलते सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिए तैयार हो जाना होगा।

इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ का श्रावक कैसा होगा; इसका अन्दाज़ हम इस तथ्य से ही लगा सकेंगे कि 1901 में जो श्रावक था वह 1950 में कैसा था और जो श्रावक या श्रमण 1951 में था उसकी स्थिति 1986 में क्या है?

बहुत स्पष्ट है कि इस बीच श्रावक/श्रमण का चेहरा काफी बदला है।

1901 का श्रावक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों में डूबा कोई धर्मभीरु व्यक्ति था; किन्तु 1950 के उसके संस्करण को विज्ञान/समाज के परिवर्तनों ने काफी प्रभावित किया है। आज वह इतना आग्रही/भीरु नहीं है, जितना पहले कभी था। अनाग्रही होने के कारण उसके खानपान और रहन-सहन में काफी लचीलापन आ गया है; सहज ही जिसमें कुछ बुरा है, कुछ खरा है।

1986 तक आते-आते वह एक नववैश्विकता से जुड़ गया है और बद-किस्मती से वह अपनी बुनियाद से लगातार कटता गया है। जो धार्मिकता उसे विरासत में मिली थी वह अब एक कोरमकोर औपचारिकता के रूप में बच रही है; शेष कुछ नहीं है। धर्म को लेकर अब वह काफी औपचारिक और

व्यवहार-कुशल हो गया है। धर्म में वह कर्मकाण्ड (रिच्युअल्स) से इसलिए जुड़ता जा रहा है चूंकि उसके पास धर्म की मौलिकताओं को जानने/समझने के साधन-स्रोत कम हो गए हैं। वस्तुतः यदि धर्म को मनुष्य और उसकी चिन्तन-प्रक्रिया से जुड़ा हम रखना चाहते हैं तो यह बहुत जरूरी है कि हम उसे नए साधनों में संयोजित/समायोजित करें और जो पुराने साधन नितान्त जीर्णशीर्ण हो गए हैं उन्हें रद्द करें। निर्विवाद है कि नवश्रावक को आधुनिकतम साधन-सुविधाओं के बीच धर्म के साथ जोड़ने का तर्कसंगत प्रयत्न हमें करना चाहिए। यह तभी संभव होगा, जब हम उपस्थित परिस्थितियों को समझने का संतुलित प्रयास करेंगे और तदनुसार अपनी दिशा स्पष्ट करेंगे।

इक्कीसवीं सदी में साधु का क्या होगा ? उसकी परम्परित चर्या का क्या होगा ? क्या हमारा यह निष्कर्ष ठीक नहीं है कि जैन मुनि/साधु की चर्या में/आचार-संहिता में आधुनिक साधन-सुविधाओं की छाया में अनजाने काफी परिवर्तन हो गए हैं ? बिजली, पंखे, औषध, यातायात के साधन, कैस्सेट्स, मुद्रण, वस्त्र, प्लास्टिक-निर्मित सामग्री इत्यादि ने मुनि-जीवन में घुसपैठ की है और वे कामयाब हुए हैं। उनके रहन-सहन/पठन-पाठन के साधनों पर भी आधुनिकता का प्रभाव हुआ है। सुमरणी के मनके बदल गए हैं।

क्या हमारा यह निष्कर्ष गलत है कि पुराकालीन साधु और आज के साधु के चेहरे में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है ? क्या 'नवमूलाचार' या 'नवदशवैकालिक' की जरूरत आज हम/हमारा पूज्य साधुवर्ग महसूस नहीं कर रहा है ? कई साधुओं ने तो अपने वर्ग-समूह की सुविधा के लिए आचार-संहिता में खुद-ब-खुद परिवर्तन कर लिये हैं, फिर कोई कारण नहीं है कि हम संपूर्ण आचार-संहिता को मिल-बैठ कर जैनधर्म के मूलसिद्धान्तों की लय में नए सिरे से न फेंट लें।

अभी तक जो परिवर्तन हुए हैं उन्हें हम स्वयंभू परिवर्तनों की संज्ञा दे सकते हैं; किन्तु क्या अब हम अपनी सहजमति का उपयोग करते हुए एक व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर ऐसे परिवर्तनों को अंगीकार नहीं कर सकते जो हमें मृत्युंजयी/कालजयी बनाते हों ?

तय है कि जो औद्योगिक उत्पादन हमारे सामने आ रहे हैं, हम उनका उपयोग निःसंकोच कर रहे हैं। कौन पूछ रहा है आज कि जिस प्लास्टिक का इस्तेमाल हम अपने शास्त्र या अन्य उपकरणों के निमित्त कर रहे हैं उसके उत्पादन में कितनी हिंसा होती है ? उसके मलबे से जमीन बंजड़ हो जाती है और लाखों-लाख मछलियां तड़प-तड़प कर अपनी सांस तोड़ देती हैं। हजारों-हजार सूक्ष्म जीव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

तय है, जो भी सामग्री हम बड़े पैमाने पर संचालित उद्योगों से प्राप्त करेंगे, उनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसाएँ होंगी। सीमेंट के उत्पादन में हिंसा-अहिंसा का विवेक कौन रख पायेगा ? मंदिरों और स्थानकों के निर्माण में अब यह बिलकुल आवश्यक नहीं रह गया है कि हिंसा-अहिंसा के विवेक को ध्यान में रखा जाए। धर्मग्रन्थों के मुद्रण में और साधु जिन वस्त्रों को धारण करते हैं उनमें भी कहाँ, कौन से विवेक को ध्यान में रखा जाता है ? आज जो वस्त्र मिलों से बनकर आते हैं, क्या उन पर हिंसा/शोषण के दाग नहीं रहते ? क्या खादी का उपयोग आज संभव है ? क्या साधुवर्ग अपने लिए खादी का उत्पादन नहीं कर सकता ? दवाइयां—एलोपैथी की—कैसे बनती हैं, इसे अलग से बताने की आवश्यकता शायद नहीं है; हम पूछते हैं कि क्या हमारा श्रावक-साधु वहां कोई विवेक रख पा रहा है ?

हुआ शब्द कम्प्यूटर की स्मृति में चला जाएगा और मांगने पर वह तुरन्त परोस दिया जाएगा। जिसे हम प्रमाद कहते हैं, उसे भी पुनः परिभाषित करने की आवश्यकता हम महसूस करेंगे। कम्प्यूटर (संगणक) के जिम्मे श्रमण/श्रावक दोनों बहुत सारे दायित्व छोड़ देंगे।

आहार और गोचरी की स्थिति क्या होगी आगामी कल इस पर भी हमें शान्तिपूर्वक विचार कर लेना होगा। पूजा-उपासनाएँ बहुत आसानी से 'रोवोट' के जिम्मे की जा सकेंगी। पुराने पुजारी/पण्डित में और 'रोवोट पण्डित' में कोई खास फर्क नहीं दिखाई देगा वरन् 'रोवोट पण्डित' अधिक कुशलता और होशियारी से पूजा-उपासनाएँ निवटा सकेगा। निश्चय ही हम बहुत सारे धार्मिक कर्त्तव्य-कर्म रोवोट के जिम्मे कर सकेंगे।

विश्व के बड़े-बड़े नगरों में जब कृत्रिम सूर्य लगाये जाएँगे तब एक नई समस्या उत्पन्न होगी। ये सूर्य दिनकर की तरह ही समर्थ और दीप्तिमंत होंगे तथा इन्हें आकाश में 3-4 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थिर कर दिया जाएगा। ऐसी स्थिति में हमारी रात्रि-भोजन की धारणा का क्या होगा? ऐसी कई उलझनें खड़ी होंगी जिनसे निवटने के लिए हमें तर्कसंगत होने की आवश्यकता होगी।

समाज की बुनावट काफी बदल जाएगी। अब तक हम भारतीय ढाँचे में सोचते रहे हैं; किन्तु अब वैश्विक (ग्लोबल)/ ब्रह्माण्डीय (कॉस्मिक) ढाँचे में सोचने पर विवश होंगे। अन्तरिक्ष में जो कॉलोनियाँ डाली जाएँगी, उनमें जैन भी जाएँगे/वसेंगे।

जब आज कुछ जैन साधु समुद्र-पार उड़ रहे हैं और आधुनिकतम आविष्कारों का खुल कर उपयोग कर रहे हैं तब आने वाली शताब्दी में उनकी अन्तरिक्ष यात्राओं पर कोई बंदिश लगायी जा सके, यह संभव नहीं होगा। अन्तरिक्षयान कुछ दशकों वाद यातायात के अत्यन्त निर्विघ्न साधन होंगे और आने वाली सदी में जब आकाश में काफी फासले पर जाना/उड़ना/ठहरना संभव हो जाएगा तब हमारे साँस्कृतिक और सामाजिक, धार्मिक और नैतिक रिश्तों का क्या होगा?

जब आज मूल्यगत परिवर्तनों से हमारे तमाम रिश्ते प्रभावित हुए हैं, तब आने वाली सदी में होने वाले वैज्ञानिक परिवर्तनों का प्रभाव उन पर न हो यह कैसे संभव है? अतः हमें सहज ही और तुरन्त ही इन वदलते सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिए तैयार हो जाना होगा।

इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ का श्रावक कैसा होगा; इसका अन्दाज़ हम इस तथ्य से ही लगा सकेंगे कि 1901 में जो श्रावक था वह 1950 में कैसा था और जो श्रावक या श्रमण 1951 में था उसकी स्थिति 1986 में क्या है?

बहुत स्पष्ट है कि इस वीच श्रावक/श्रमण का चेहरा काफी वदला है।

1901 का श्रावक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों में डूबा कोई धर्मभीरु व्यक्ति था; किन्तु 1950 के उसके संस्करण को विज्ञान/समाज के परिवर्तनों ने काफी प्रभावित किया है। आज वह इतना आग्रही/भीरु नहीं है, जितना पहले कभी था। अनाग्रही होने के कारण उसके खानपान और रहन-सहन में काफी लचीलापन आ गया है; सहज ही जिसमें कुछ वुरा है, कुछ खरा है।

1986 तक आते-आते वह एक नववैश्विकता से जुड़ गया है और वद-किस्मती से वह अपनी वुनियाद से लगातार कटता गया है। जो धार्मिकता उसे विरासत में मिली थी वह अब एक कोरमकोर औपचारिकता के रूप में वच रही है; शेप कुछ नहीं है। धर्म को लेकर अब वह काफी औपचारिक और

व्यवहार-कुशल हो गया है। धर्म में वह कर्मकाण्ड (रिच्युअल्स) से इसलिए जुड़ता जा रहा है चूंकि उसके पास धर्म की मौलिकताओं को जानने/समझने के साधन-स्रोत कम हो गए हैं। वस्तुतः यदि धर्म को मनुष्य और उसकी चिन्तन-प्रक्रिया से जुड़ा हम रखना चाहते हैं तो यह बहुत जरूरी है कि हम उसे नए साधनों में संयोजित/समायोजित करें और जो पुराने साधन नितान्त जीर्णशीर्ण हो गए हैं उन्हें रद्द करें। निर्विवाद है कि नवश्रावक को आधुनिकतम साधन-सुविधाओं के बीच धर्म के साथ जोड़ने का तर्कसंगत प्रयत्न हमें करना चाहिए। यह तभी संभव होगा, जब हम उपस्थित परिस्थितियों को समझने का संतुलित प्रयास करेंगे और तदनुसार अपनी दिशा स्पष्ट करेंगे।

इक्कीसवीं सदी में साधु का क्या होगा ? उसकी परम्परित चर्या का क्या होगा ? क्या हमारा यह निष्कर्ष ठीक नहीं है कि जैन मुनि/साधु की चर्या में/आचार-संहिता में आधुनिक साधन-सुविधाओं की छाया में अनजाने काफी परिवर्तन हो गए हैं ? बिजली, पंखे, औषध, यातायात के साधन, कैस्सेट्स, मुद्रण, वस्त्र, प्लास्टिक-निर्मित सामग्री इत्यादि ने मुनि-जीवन में घुसपैठ की है और वे कामयाब हुए हैं। उनके रहन-सहन/पठन-पाठन के साधनों पर भी आधुनिकता का प्रभाव हुआ है। सुमरणी के मनके बदल गए हैं।

क्या हमारा यह निष्कर्ष गलत है कि पुराकालीन साधु और आज के साधु के चेहरे में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है ? क्या 'नवमूलाचार' या 'नवदशवैकालिक' की जरूरत आज हम/हमारा पूज्य साधुवर्ग महसूस नहीं कर रहा है ? कई साधुओं ने तो अपने वर्ग-समूह की सुविधा के लिए आचार-संहिता में खुद-ब-खुद परिवर्तन कर लिये हैं, फिर कोई कारण नहीं है कि हम संपूर्ण आचार-संहिता को मिल-बैठ कर जैनधर्म के मूलसिद्धान्तों की लय में नए सिरे से न फेंट लें।

अभी तक जो परिवर्तन हुए हैं उन्हें हम स्वयंभू परिवर्तनों की संज्ञा दे सकते हैं; किन्तु क्या अब हम अपनी सहजमति का उपयोग करते हुए एक व्यापक सर्वेक्षण के आधार पर ऐसे परिवर्तनों को अंगीकार नहीं कर सकते जो हमें मृत्युंजयी/कालजयी बनाते हों ?

तय है कि जो औद्योगिक उत्पादन हमारे सामने आ रहे हैं, हम उनका उपयोग निःसंकोच कर रहे हैं। कौन पूछ रहा है आज कि जिस प्लास्टिक का इस्तेमाल हम अपने शास्त्र या अन्य उपकरणों के निमित्त कर रहे हैं उसके उत्पादन में कितनी हिंसा होती है ? उसके मलबे से जमीन बंजड़ हो जाती है और लाखों-लाख मछलियां तड़प-तड़प कर अपनी सांस तोड़ देती हैं। हजारों-हजार सूक्ष्म जीव अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

तय है, जो भी सामग्री हम बड़े पैमाने पर संचालित उद्योगों से प्राप्त करेंगे, उनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसाएँ होंगी। सीमेंट के उत्पादन में हिंसा-अहिंसा का विवेक कौन रख पायेगा ? मंदिरों और स्थानकों के निर्माण में अब यह बिल्कुल आवश्यक नहीं रह गया है कि हिंसा-अहिंसा के विवेक को ध्यान में रखा जाए। धर्मग्रन्थों के मुद्रण में और साधु जिन वस्त्रों को धारण करते हैं उनमें भी कहाँ, कौन से विवेक को ध्यान में रखा जाता है ? आज जो वस्त्र मिलों से बनकर आते हैं, क्या उन पर हिंसा/शोषण के दाग नहीं रहते ? क्या खादी का उपयोग आज संभव है ? क्या साधुवर्ग अपने लिए खादी का उत्पादन नहीं कर सकता ? दवाइयां—एलोपैथी की—कैसे बनती है, इसे अलग से बताने की आवश्यकता शायद नहीं है; हम पूछते हैं कि क्या हमारा श्रावक-साधु वहां कोई विवेक रख पा रहा है ?

पूजा-विधि यद्यपि आज किंचित् परम्परित है; किन्तु यह तय है कि जल्दी ही प्लास्टिक का प्रवेश वहाँ हो जाएगा। आगे चलकर जहां एक ओर प्लास्टिक के कमण्डलु दिखायी देने लगेंगे, वहां और-और उपकरण भी वनने लगेंगे। दिखावे के लिए यदि प्लास्टिक की मूर्तियां ढाली जा सकती हैं तो कल यही सुविधा अनिवार्यता के रूप में अटल हो जाएगी। कैस्सेट्स का उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है; रोशनी के लिए हम अत्याधुनिक उपकरणों का उपयोग करने लगे हैं। कहीं-कहीं तो यह सब अति की ओर आ गया है। प्लास्टिक युग में हम इन तमाम चीजों से बच पायें यह अब असंभव है; किन्तु इतना ध्यान हम अवश्य रख सकते है कि हमारे मूलभूत सिद्धांत अक्षत बने रहें; न सही अक्षत, अल्पक्षत वे अवश्य बने रहें।

यातायात, नगरों की बसावट, अन्तरिक्ष - यात्रा, रासायनिकी के अभिनव प्रयोग, जैविकी/वानस्पतिकी के क्षेत्र में होने वाले प्रयोगों/अनुसंधानों के कारण भी हमारे सोचने में काफी अन्तर आएगा। आने वाली/समकालीन पीढ़ी बहुत तर्क-सम्मत होगी। वह कोई भी बात बिना किसी ठोस तर्क के स्वीकार नही कर पाएगी। ऐसी स्थिति में हमें जैन धर्म / दर्शन को तर्क से सीधे जोड़ कर ही प्रस्तुत करना होगा। यह तभी संभव होगा जब हम आधुनिक विज्ञान और धर्म के परम्परित ढांचे को तुलनात्मक पटल पर रखेंगे और उस पर विचार करेंगे। क्या ऐसा हम कभी कर पायेंगे ?

भौतिकी ने परमाणु के गठन पर इन दिनों जो चिन्तन किया है, वह अभूतपूर्व है। उसकी तकनीकी जानकारी हमारे विद्वानों को मिलनी चाहिए। वस्तुतः सारा जैन धर्म पुद्गल और आत्मा के पृथक्करण पर टिका हुआ है। जिस पुद्गल / परमाणु-विज्ञान की चर्चा हम रोज-दर-रोज करते हैं, उस पर हम विस्तार से चर्चा करने के लिए शायद आज तैयार नहीं हैं। आज जबकि पेड़-पौधों की संकर किस्मों में पुद्गल की पुनर्व्यवस्था से काफी परिवर्तन किए जा रहे हैं, हम पुद्गल का जो स्वरूप जैन धर्म में वर्णित है, उसे ही नई भाषा शैली में प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं।

पुद्गल वह है जिसका पूरण और गलन होता है। परमाणु वह है जिसका आदि वह स्वयं है, मध्य वह स्वयं है, अन्त वह स्वयं है; वह अविभागी है। उसका विखण्डन संभव नहीं है। यहां आकर जैन धर्म और भौतिकी में किंचित् मतभेद की संभावना है; किन्तु आधुनिक भौतिकी अभी परमाणु की अस्मिता के संबंध में पूरी तरह निश्चित नहीं है।

हमारा तप क्या है ? प्रतिकूल/बाधक परमाणुओं का विरेचन और अनुकूल/साधक परमाणुओं का समन्वयन। आठों कर्म पौद्गलिक हैं। तप पुद्गल के चयापचय से संबन्धित है। ध्यान में हम क्या करते हैं ? अपनी पौद्गलिक स्थिति का लेखाजोखा करते हैं। विचार करते हैं कि शुभ/अशुभ/शुद्ध क्या है ? जैन धर्म में रसायनशास्त्र को अत्यधिक सूक्ष्मता की ओर ले जाया गया है। क्षमा, क्रोध, मान, आकिंचन्य, माया, अपरिग्रह, लोभ, त्याग के परमाणु हैं; जो आत्मसंपृक्ति में संचित हैं; क्या हम इनका नियमन नहीं कर सकते ? तप इनके नियमन का नाम ही है।

तत्त्व सात हैं : जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। ये सारे परमाणुविज्ञान के अन्तर्गत आ जाते हैं। कार्मण वर्गणा की समीचीन समीक्षा से संपूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यदि टेप पर शब्दांकन होता है और हम चुम्बकीय प्रभाव से उसका विरेचन/क्षरण कर सकते हैं तो क्या कार्मण वर्गणा की स्थिति ऐसी नहीं है ?

जैन साधकों ने पुद्‌गल के सूक्ष्मतम व्यक्तित्व को गहराई में खोजा है। हमारे तीर्थकरों और आचार्यों ने रसायन और भौतिकी के तल पर उसकी स्पष्ट व्याख्याएँ की हैं। इस मायने में हम तीर्थ-करों को परमाणु-विज्ञानी कह सकते हैं। वस्तुत: उन्होंने आत्मा को इतना अनावरित कर लिया था कि वे मूर्त-अमूर्त तमाम पदार्थों को युगपत् देख सकते थे या कहें उन्हें ये सब आपोआप दिखाई देने लगे थे। समूचा जैनागम परमाणु-विज्ञान से भरा पड़ा है; आवश्यकता मात्र इस बात की है कि हम उन बारीकियों को विज्ञान की शब्दावली में दुनिया के सामने प्रस्तुत करें। आने वाली शताब्दी में अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए हमें जैनदर्शन के इस पक्ष को बहुत स्पष्टता से सामने लाना/रखना चाहिए।

इसी तरह जैन जैविकी को भी दुनिया के सामने अधुनातन शब्दावली में प्रस्तुत करने की आव-श्यकता है। जैविकी की दो शाखाएँ हैं—प्राणिकी, वानस्पतिकी। वानस्पतिकी पर जैनागम में काफी गहराई से विचार हुआ है। इस क्षेत्र में प्रगत विज्ञान ने भी काफी खोज की है। उसने कोशिकाओं और गुणसूत्र (क्रामोसम्स) इत्यादि को ले कर जो प्रयोग किये हैं, उन पर जैन दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। ऐसे विद्वानों को जो जैन धर्म/दर्शन के मर्मज्ञ हैं, इस क्षेत्र में तुरन्त लाना चाहिए ताकि आधुनिक साधनों के माध्यम से हम जैनदर्शन और विज्ञान के तथ्यों को तुलनात्मक दृष्टि से विश्व के सामने रख सकें।

इधर विज्ञान ने कुछ और-और संभावनाएँ भी खड़ी की हैं। वह मनुष्य की उम्र बढ़ाने के प्रयोग भी कर रहा है। उम्र/आयु का मतलब अब सिर्फ गिनी हुई साँसें या वर्ष नहीं है; उसका और अर्थ भी है। कहा जाता है कि मनुष्य अपनी उम्र के एक तिहाई भाग को नींद में काट देता है; किन्तु यदि क्षति-ग्रस्त कोशिकाओं की मरम्मत नींद के अलावा किसी और स्थिति में की जा सके तो उसका यह एक तिहाई वक्त या इसका कोई भाग बचाया जा सकता है। यदि इस हिस्से का उपयोग वह अधिक काम करने में करता है तो निश्चय ही यह माना जाएगा कि उसकी उम्र में वृद्धि हुई है। यदि आज कोई व्यक्ति दो सौ वर्षों का काम ७० वर्षों में संपन्न कर लेता हो तो यद्यपि उसकी पार्थिव उम्र ७० वर्ष होगी; किन्तु विचार की दुनिया में उसे २०० वर्ष माना जाएगा। जो आदमी ७० वर्ष जी कर आस्रव-बंध कर रहा था वही आदमी यदि अधिक घूमता या जागता है या काम करता है तो जो आस्रव-बन्ध दो सौ वर्षों में करता था, उतना/सब वह ७० वर्षों में ही कर लेगा। निर्जरा पर भी संभवतया यही स्थिति लागू होगी। वस्तुत: संदर्भ जितने बढ़ेंगे, जटिलताएँ भी उतनी ही बढ़ जाएँगी; हमें इसी रफ्तार से अधिक प्रखर और सामयिक होने की आवश्यकता होगी।

क्या हम आने वाली शताब्दी में इन सारी स्थितियों पर विचार करने के बाद ही पांव रखना पसंद नहीं करेंगे, या फिर समय जिस तरह हमें विवश करेगा लगातार वैसा करते चले जाएँगे ?

संपादक : तीर्थंकर
इन्दौर (म. प्र.)

भू-भ्रमण भ्रान्ति और उसका समाधान

राजीव प्रचंडिया 'एडवोकेट'

आज के तार्किक तथा वैज्ञानिक युग में 'धर्म' की एक सुदीर्घ परम्परा, उसकी समस्त मान्यताएँ क्रियाएँ तभी स्थिर रह सकती हैं जब व्यक्ति अथवा उसका प्रतिविम्ब अर्थात् समाज, धर्म में व्यञ्जित मूल आत्मा को अपनी ज्ञान-तर्कणा शक्ति के माध्यम से समझने का प्रयास करे। जैन धर्म की मान्यताओं, सिद्धान्तों व क्रियाओं का सम्यक् अध्ययन कर लेने के उपरान्त यह सहज में ही कहा जा सकता है कि यह धर्म परम वैज्ञानिक, स्पष्ट, व्यावहारिक, जीवनोपयोगी तथा प्रकृति-अनुरूप है, अस्तु चिरन्तन व शाश्वत है।

जैन धर्म से अनुप्राणित समस्त साहित्य वस्तुतः 'आगम' कहलाता है। आगमों में जहां धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, कला, विज्ञान आदि का तलस्पर्शी विवेचन है. वहाँ भूगोल, खगोल, ज्योतिष सम्वन्धी वहुविध किन्तु महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ भी निरूपित हैं। यह कहना अतिशययुक्त न होगा कि इस विश्व में ऐसा कोई भी विषय नहीं है जो जैनागमों में वर्णित न हो। इसका मूल कारण है कि आगम जिनेन्द्रवाणी द्वारा दिव्यध्वनि के माध्यम से निःसृत होकर मति-श्रुति-अवधि-मनः पर्ययज्ञान के धारक गणधरों द्वारा संकलित हैं।

प्रस्तुत निवन्ध में जैन भूगोल पर आधारित 'भू-भ्रमण भ्रान्ति और उसका समाधान' नामक वहुचर्चित किन्तु सामयिक एवं उपयोगी विषय पर चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

प्रस्तुत निबन्ध में दो पक्ष स्थिर किये गए हैं—पहले पक्ष का कथन है कि पृथ्वी स्थिर है, अचल है जब कि दूसरा पक्ष सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को परिभ्रमण करते हुए मानता है। पहला पक्ष जैनागम अर्थात् जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र, त्रैलोक्य प्रगुप्ति, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक तथा भगवती-वृत्ति शतक द्वारा विवेचित है जिसकी पुष्टि वेद, कुरान-शरीफ, वाईविल आदि जैनेतर आर्ष-ग्रन्थों द्वारा भी की गई है। 'जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थराज में पृथ्वी को स्थिर वताकर उसे रचना धरित्री वताया गया है। इसके साथ ही उसे अचला, अचल, स्थिरा, निश्चला आदि पर्यायों में गिनाया है।[1] तथा 'सूर्य-प्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थराज में स्पष्ट वर्णन है कि सूर्य एक सौ तिरासी प्रकार की चालों से घूमता है जिससे दिन-रात का होना और दक्षिणायन-उत्तरायन के होने से दिन-रात का घटना-

बढ़ना एवं समय, ऋतु आदि का परिवर्तन होना होता है।[२] 'भगवती वृत्ति' में सूर्य की गति को इस प्रकार बताया गया है कि जैसे-जैसे सूर्य आगे बढ़ता है, पिछले देशों में रात्रि होती जाती है और आगे वाले देशों में दिन। इस प्रकार देश-भेद के कारण उदयास्त का काल-भेद होता है।[३] इसी प्रकार तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिककार भी पृथ्वी के भ्रमण की अपेक्षा उसकी स्थिरता पर ही बल देता है।[४] आगम की पुष्टि करते हुए ऋगवेद[५], यजुर्वेद,[६] अथर्ववेद[७] में स्पष्ट घोषणा है कि पृथ्वी दृढ़ है, स्थिर है और 'सूर्य' चलायमान अर्थात् परिभ्रमणकारी[८]। सायणभाष्य,[९] पातञ्जलि-महाभाष्य, शतपथ ब्राह्मण[१०] तथा योगदर्शन[११] में भी पृथ्वी को सर्वतोभाव से स्थिर तथा सूर्य को गतिशील बताया गया है। इसी प्रकार कुरान-शरीफ में पृथ्वी को स्थिर, समस्थल निरूपित किया है।[१२] बाईबिल में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चलता हुआ बताया गया है।[१३] इनके अतिरिक्त वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, पौराणिक अर्थात् अठारह पुराणों को मानने वालों का कथन भी यही है कि पृथ्वी स्थिर है और ज्योतिष-चक्र चलता है। भारतीय मनीषी सम्पूर्णानन्द जी की मान्यतानुसार सूर्यचक्र परिवार सहित उल्य लायरा की ओर एक सैकिण्ड में ग्यारह मील चलता है।[१४] पृथ्वी के संदर्भ में प्राचीन एवं नवीन पाश्चात्य मान्यताओं की समीक्षा करते हुए आगम के परम मनीषी मुनि नगराज जी की तर्कणा भी पृथ्वी की स्थिरता को संकेत करती है। प्रसिद्ध गणितज्ञ श्रीपति मिश्र भी अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त-शिरोमणि' में पृथ्वी की स्थिरता को मानते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—"यदि पृथ्वी तीव्र वेग से घूमती होती तो उस पृथ्वी पर इतनी प्रचण्ड वायु चलती कि जिससे प्रासाद, पर्वत की चोटियां आदि कुछ भी पदार्थ नहीं ठहर सकते और समस्त ध्वजाएँ सदा के लिए पच्छिमगामिनी होती।"[१६] वराहमिहिर,[१७] लल्लाचार्य[१८] आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य भी पृथ्वी को स्थिर तथा सूर्य को परिभ्रमणकारी मानते हैं। इसके अतिरिक्त पहले के पश्चिमी विद्वान—अरस्तू, टालमी आदि भी ईसामसीह के जन्म से चौदह सौ वर्ष तक पृथ्वी को स्थिर मानते थे।[१९] इस प्रकार इस पक्ष के पक्षधर एक स्वर से यही कहते हैं कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य-मण्डल परिभ्रमण करता है। दूसरे पक्ष का समर्थन अर्थात् पूर्व पक्ष का खण्डन पाश्चात्य परवर्ती आचार्यों तथा कतिपय भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया है। सोलहवीं शती के पाश्चात्य विद्वान कोपरनिकस, गेलेलियो आदि विभिन्न प्रमाणों के माध्यम से पृथ्वी को चर तथा सूर्य को स्थिर सिद्ध करते हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान आर्डनवुड की मान्यता है कि पृथ्वी ध्रुवों की तरफ करीब चपटी, नारंगी के आकार की घूमती हुई है।[२०] आपने यह भी कहा कि जैसे चन्द्रमा पृथ्वी के सर्व ओर घूमता है वैसे सूर्य के सर्व ओर पृथ्वी घूमती है।[२१] इसके साथ ही आपने यह भी सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा में प्रति सैकिण्ड १८½ मील दौड़ती है और तीन सौ सवा पैंसठ दिन में प्रदक्षिणा करती है।[२२] एक अन्य पाश्चात्य आचार्य जौन मार्डच भी आर्डनवुड का समर्थन करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी की परिधि चौबीस हजार नौ सौ मील चौबीस घन्टे में अर्थात् एक हजार सैंतीस मील एक घंटे में तथा प्रति मिनट सतरह मील पृथ्वी घूमती है।[२३] इसके साथ ही जौन माडर्च साहब ने यह भी उल्लेख किया है कि पृथ्वी की घूम की सतह साढ़े छियासठ डिग्री का कोण बनाती है और उत्तरायन-दक्षिणायन साढ़े तेईस डिग्री से अधिक नहीं झुकती।[२४] इनके अतिरिक्त कुछेक भारतीय विद्वान जैसे आर्यभट्ट,[२५] अभयचरन मुकर्जी,[२६] तथा एस.ए. हिल साहब[२७] की भी यही मान्यता है कि सूर्य की प्रदक्षिणा पृथ्वी गोलाकार रूप में नहीं, अण्डाकार में देती है। इस प्रकार इस पक्ष का समर्थन करने वाले विद्वान पृथ्वी को घूमती हुई तथा सूर्य को स्थिर मानते हैं।

उपर्यङ्कित पक्षों पर संक्षिप्त अध्ययन करने के उपरान्त मस्तिष्क में यह प्रश्न उठना अनिवार्य हो जाता है कि जहां दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी प्रामाणिकता प्रस्तुत करते हों, वहाँ कौन-सा पक्ष सार्थक, उपयुक्त एवं ग्राह्य है ? तर्क विवेचना के धरातल पर तटस्थता के दर्पण में झाँककर इस पर यदि सम्यक् अध्ययन-मनन किया जाय तो यह कहना आश्चर्यजनक न होगा कि पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से जिसका समर्थन किया अर्थात् पृथ्वी सूर्य के चारों ओर निरन्तर परिक्रमण कर रही है, वह भ्रमपूर्ण एवं अनुपयुक्त ठहरता है।

प्रस्तुत निबन्ध के दूसरे पक्ष के मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने कथन की जो पुष्टियां की हैं, वे किस प्रकार से अग्राह्य एवं अनुपयुक्त ठहरती हैं, उनका अति संक्षिप्त तर्क पूर्ण वर्णन हम जैनागम के माध्यम से यहाँ प्रस्तुत करेंगे।

पाश्चात्य विद्वान आर्डनवुड पृथ्वी को गोल, दोनों तरफ सिरों पर चपटी, नारंगी के आकार की घूमती हुई मानते हैं जैसाकि उपर्युक्त विवेचित है किन्तु ऐसा वास्तविक रूप है नहीं, क्योंकि गोलाकार पर पानी समस्थल रूप (Level) में नहीं ठहर सकता। कारण—गोलाकार में परिधि में ऊंचा-नीचा पाया जाता है। आर्डनवुड का कथन है कि पानी गोलाकार पर ही समस्थल रह सकता है क्योंकि वह केन्द्र(Centre) के सब ओर समान लम्बी रेखाओं से विनिर्मित है, उसमें ऊँचा-नीचापन नहीं है अस्तु गोल पर ही पानी समस्थल रहता है। फिर प्रश्न उठता है कि यदि गोलाकार पर पानी समस्थल रहता है, ऊँचा-नीचा रहता है तो पानी में किसी जगह गड्ढे नहीं होने चाहिए। इस पर उनका कहना है कि पृथ्वी तो गोल ही है और पानी भी गोलाकार ही ठहरता है। परन्तु पृथ्वी जो घूमती है इस कारण घूमने से दोनों ओर गड्ढे पड़ने से चपटी हो गयी है। उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि जैसे एक पानी भरा लोटा घुमाया जाय तो घूमती बार उसके पानी में गड्ढा पड़ जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी में भी गड्ढा पड़ गया है। प्रस्तुत उदाहरण उपयुक्त नहीं ठहरता क्योंकि लोटा की घूम तो ऊर्ध्व-अधो है। पृथ्वी की घूम इस प्रकार नहीं मानी गयी है। यदि ऊर्ध्व-अधो ही मान ली जाय तो ऊर्ध्व-अधो के समुद्रों में गड्ढे पड़ने चाहिये, सो ऐसा नहीं है। और यदि बिना पानी के ही गड्ढा माना जाय तो यह भी असंभव है क्योंकि पत्थर या मिट्टी या काष्ठ का गोला जो पृथ्वी रूप हो, कैसा ही घूमता क्यों न हो उसमें गड्ढा नहीं पड़ सकता, यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इस कारण यह मानना कि पृथ्वी नारंगी की भांति गोल घूमती है, मिथ्या भ्रांति रूप है। यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी गोलाकार में घूमती है तो कुरुक्षेत्र की भूमि जो एक गोलाकार के मध्यस्थान में है, वहाँ से गंगा पूर्व-गामिनी होकर कलकत्ते के समुद्र से नौ सौ मील चलकर न मिलती, इसी प्रकार पश्चिम-गामिनी सिन्धु गंगा के विरुद्धगामिनी नौ सौ मील जाकर करांची के समुद्र में न मिलती। यह तो पृथ्वी के घूमने पर प्रत्यक्ष दोष है, अस्तु पृथ्वी न गोल है, न घूमती है, वह तो समस्थल और स्थिर है किन्तु विद्वानों ने इस पर तर्क दिया कि पृथ्वी गोलाकार साफ खराद की-सी उतरी हुई नहीं है। उसमें कहीं पहाड़ व जमीन के ऊँचे टीले और कहीं समुद्र व झील नीचे हैं। इस कारण कुरुक्षत्र की भूमि कलकत्ते और कराँची के समुद्र से करीब नौ सौ फीट ऊँची है। वहां से गंगा को पूर्व की ओर का रास्ता निचला ढाल का मिला और सिन्धु को पच्छिमी ओर नीचा मिला, इस कारण जहां समुद्र मिला वहां ये नदियाँ मिल गई। इस पर आगमकार कहते हैं कि यदि पृथ्वी गोलाकार घूमती है तो जिधर ढाल होता है, उधर ऊँचा और जिधर

ऊँचा होता है उधर नीचा हो जाता है, अस्तु यह प्रत्यक्ष असत्यार्थ भ्रांति रूप है। फिर विद्वानों का यह कहना कि पृथ्वी नारंगी की भाँति गोल पूर्व दिशा को घूमती हुई है, तो यह कथन भी भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि यदि पृथ्वी गोल पूर्व को घूमती हुई होती तो सदैव पूर्वी हवायें चलतीं, ध्वजायें पच्छिम को उड़तीं, पक्षी कभी अपने घौंसलों पर न आते तथा तीर आदि सभी पश्चिम दिशा को जाते। इस पर भूभ्रमणवादी कहते हैं कि पृथ्वी के ऊपर ४५ मील ऊँचे तक वायुमण्डल (Atmosphere) है, वह पृथ्वी के ऊपर आकाशी पदार्थों को पृथ्वी के साथ ही घुमाता है, इस कारण पदार्थ पृथ्वी के साथ ही घूमते रहते हैं। यह कथन वायुमण्डल के हेतु पक्ष का साधन करने वाला नहीं है क्योंकि जिस वायुमण्डल को हेतु बताया उसका स्वभाव, बल तथा चाल कोई नियत रूप नहीं है। पृथ्वी के ऊपर वायु का स्वभाव है कि वह आकाश में सर्वत्र सूक्ष्म रूप से वहती है और जब किसी दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध पाती है तब बादर (स्थूल) रूप होकर वहने लगती है और मनुष्यादि के दौड़ने से या दौड़ने वाली गाड़ी में बैठने वाले के सम्मुख से टकराने लगती है। यह सर्वजन प्रसिद्ध है, ऐसे स्वभाव वाली वायु घूमती हुई या दौड़ती हुई एक मिनट में १११० मील पर तिष्ठते आदमी को नहीं टकराती है। इसलिए वायु का स्वभाव देखने से पृथ्वी के साथ पदार्थों का घूमना असत् संकल्प है और बल का भी नियतपना असम्भव नहीं है क्योंकि तोप का गोला बड़ा भारी, बड़े बल से चलता हुआ जो १५ मील पर जाकर निशान तोड़ेगा, ऐसे बलशाली गोले को तो वायुमण्डल पृथ्वी के साथ पूर्व को घूमा ले जाता है यदि न ले जाय तो निशाने को कैसे तोड़े और आक का फफूद जो किंचित् वायु के बल से उड़ जाय, पश्चिम जाते हुए ऐसे फफूद को वायुमण्डल पूर्व दिशा में ले जाने को एक अंगुल मात्र भी भी समर्थ नहीं है। वायुमण्डल की चाल पदार्थों को पूर्व की ओर ले जाने के कारण पूर्व को मानी है। यदि उसकी वायु पूर्व को जाती है और पृथ्वी से ऊपर तक के पदार्थों को साथ ले जाती है तो पूर्व को जाने वाली रेल का धुआँ पच्छिम को, पच्छिम को जाने वाली रेल का धुआँ पूर्व को, उत्तर की ओर जाने वाली का दक्षिण और दक्षिण का उत्तर को क्यों जाता है? वायुमण्डल के बल से पूर्व को क्यों नहीं गया? इससे लगता है कि वायुमण्डल के बल का भी नियतपना नहीं है। इससे यह निराधार होता है कि वायुमण्डल वायुरूप है किन्तु वह पूर्व को नहीं जाता और न उसके साथ पदार्थ जाते हैं। वह वायु जो आकाश स्थित सूक्ष्मरूप होती है, पदार्थों के सम्बन्ध से जहां जैसा सयोग मिलता है वैसे ही सम्बन्ध से उधर को चलने लगती है। वायुमंडल के पूर्व की ओर जाने की कल्पना असत्य है। वायुमंडल का ४५ मील ऊँचे तक का कहना भी उचित नहीं है क्योंकि ४५ मील तक की वायु पूर्व को जाती है इससे ४५ मील से ऊँचे पर वायु का संचार है, नहीं तो उल्का जाति के तारे जो पृथ्वी से बहुत ऊँचाई पर हैं, वे टूटते हुए एवं प्रकाश रूप कतार को लिये हुए भूमि पर क्यों पड़ते हैं और सर्व दिशाओं को जाते क्यों दिखाई देते हैं सर्व भू के पूर्व की ओर घूमनें से पच्छिम को जाते हुए दीखने चाहिये सो दृष्टि क्यों नहीं पड़ते। इससे मालूम होता है कि वायु का संचार जैसा वहां है वैसा ही आकाश-खंड में है, इसलिये जैसा वायु का संचार उनको मिलता है उधर को जाते हुए दृष्टि पड़ते हैं। इस कारण वायुमण्डल का ४५ मील ऊँचे तक का कहना असत् रूप है। यदि सत्य होता तो उसके ऊँचाई के कथन में ही अन्तर न होता। जैसा कि विद्वान हिल साहब ने कहा कि वायुमण्डल सर्व तरफ २०० मील तक ऊँचा है।[२८] इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने और भी ऊँचे तक वायुमण्डल माना है। इसी कथन से पृथ्वी का घूमना भी सत्य नहीं ठहरता।

राजीव प्रचण्डिया

भूगोल भ्रमणवादियों ने तत्पश्चात् यह तर्क प्रस्तुत किया कि पूर्वार्द्ध में यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ किन्तु उत्तरार्द्ध में बड़े-बड़े तेज दूरदर्शीयन्त्र (Telescop), फोटोग्राफ तथा आकाशी जहाज आदि नये-नये यन्त्र ईज़ाद कर लिये गये हैं जो भूभ्रमण की पुष्टि करते हैं। यह उनका भ्रम है क्योंकि इन्हीं यन्त्रों द्वारा ही पृथ्वी का स्थिरपना सिद्ध होता है। दूरवीन में देखने वाले के नेत्र दूरवीन के नीचे शीशे में केन्द्र रूप स्थिर और उसके ऊपर का शीशा दूरवीन में स्थिर, जिसके स्थिर के प्रमाण करने को मकान की खिड़की भी स्थिर जिसके द्वारा ध्रुवतारे को देखा जाता है। तारे का प्रकाश दूरवीन के ऊपर के शीशे में प्रवेश करके नीचे के शीशे में देखने वाले के नेत्र की पुतली केन्द्र स्थान वनकर परिधि पर तारे को दृष्टि करती है और तब देखने वाला सर्व प्रकार से स्थिररूप में तारे को देखता है तो उसकी दूरी आदि का ज्ञान कर सकता है। यदि पृथ्वी घूम जाय तो देखने वाले मनुष्य के नेत्र की पुतली जो केन्द्र में है वह तारे को उस समय जिस डिग्री पर देखता है, वह सैकिण्डों में ही बहुत दूर हो जायेगा क्योंकि वह परिधि पर है। इसी प्रकार फोटोग्राफ भी स्थिर होकर पृथ्वी की तस्वीर लेता है। पृथ्वी घूमने पर वह तारे की तस्वीर नहीं ले सकता। इसी प्रकार आकाश-स्थित वायुयान में स्थित पुरुष कहता है कि पृथ्वी स्थिर है, जीव-जन्तु चल रहे हैं, नदी का पानी वह रहा है, वृक्ष-पहाड़ स्थिर हैं। इससे वायुयान भी यही सिद्धि करता है कि पृथ्वी स्थिर है, ऐसे ही जो वड़े भारी यन्त्र हैं, वे सभी पृथ्वी को स्थिर ही सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार तर्क श्रृंखला में और आगे वढ़ा जाय और एक बारगी पृथ्वी को नारंगी के आकार गोल घूमती हुई मान लिया जाय तो ध्रुवतारा और सूर्य दोनों कैसे स्थिर हो सकते हैं ? क्योंकि कि सूर्य तो पृथ्वी के घूमने के कारण प्रतिदिन पच्छिम को जाता दिखता है वैसे ही ध्रुवतारा भी दिखना चाहिये, सो दिखता नहीं। वह एक ही स्थान पर स्थिर दिखता है। यदि यह कहा जाए कि सूर्य 9 करोड़ 30 लाख मील दूरी पर है किन्तु वह ध्रुवतारा तो असंख्य मील दूरी पर है, अतः एक ही स्थल पर दृष्टिगोचर है। अथवा सूर्य तो पूर्व दिशा में स्थिर पृथ्वी के घूमने से पच्छिम की ओर जाता दिखाई देता है, वैसे ध्रुवतारा नहीं है। ध्रुवतारा तो एक पृथ्वी के बीचो-बीच में उत्तर की ओर बड़ी दूरी पर है जिससे समस्त पृथ्वी वालों को एक ही स्थल पर दिखता है। यह कहना भी सन्तोपजनक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि पृथ्वी एक समस्थल थाली के आकार घूमती होती तो समस्त पृथ्वी निवासियों को ध्रुवतारा एक स्थल पर दिखना सम्भव होता। जबकि पृथ्वी तो नारंगी के समान घूमती मानी गई है, उस पर भी साढ़े तैईस डिग्री घूमती मानी है फिर तिरछी घूमती पृथ्वी पर तारा कितनी दूरी पर ही क्यों न हो, एक स्थल पर स्थिर नहीं दिख सकता और पृथ्वी की तिरछी घूम यहां तक है कि छह महीने में उल्टी दक्षिणी ओर से उत्तर दिशा को ही जाती है। इसी कारण उत्तरी दक्षिणी पोलों में छह-छह महीने की रात्रि मानी गयी है। ऐसी तिरछी घूमने से ध्रुवतारा सारी रात एक ही स्थल पर दिखता हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी घूमती नहीं है जिस प्रकार ध्रुवतारा स्थिर है, उसी प्रकार पृथ्वी भी स्थिर है। जो ध्रुवतारा असंख्य मील दूर होने पर एक स्थान पर दीखता है तो एक प्रश्न उठता है कि ध्रुवतारा सूर्य के परिवार (Solar System) में है या नहीं ? यदि है तो सूर्य जो आधे घण्टे में लिरा की ओर दस हजार मील दौड़ा जा रहा है[२६] वह भी दौड़ेगा, फिर उसका ध्रुव नाम कहना और एक स्थान पर स्थिर बताना भ्रान्ति है। यदि वह स्थिर नहीं है तो सूर्य के साथ पृथ्वी जो सूर्य के परिवार में है, उसके साथ दौड़ती जाएगी फिर उस ध्रुवतारे का पृथ्वी से, एक स्थान से दिखना असम्भव है।[३०]

उपर्यङ्कित अति संक्षिप्त कथ्यसार के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पृथ्वी न गोल है, न चलती है, न दौड़ती है और न घूमती ही है। वह स्थिर, अचला है जो जैनागमानुकूल तो है ही साथ ही परम वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत भी है। पर, आज आवश्यकता है और अधिक आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान की ताकि इस भू-भ्रमण : भ्रान्ति की समस्या का निराकरण हो सके।

सन्दर्भित ग्रन्थ-सूची :

१–पी. एल. ज्यौगरफी, भाग २, पृष्ठ ८, सम्पादक—पं. प्यारेलाल जैन सन् १९२०।

२–सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र, पहला पाहुडा, सूत्र ९-१०।

३–भगवती वृत्ति शतक ५, उ. १, "जह-जह समये पुर ओ—नियमा : ११"

४–'नहि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमण निर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात्।"
—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय ४, आचार्य विद्यानन्दि।

५–(क) पृथ्वी वितस्थे—ऋग्वेद, १-७२-९
(ख) ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः—ऋग्वेद, १-५०-९,

६–(क) 'येनद्यौरुग्रापृथ्वी च दृढ़ायेनस्वः
—यजुर्वेद, ३२ वाँ अध्याय, मन्त्र ६,
(ख) 'यन्क्रन्दसी अवसातस्तभोन अभ्यैक्षेता मनसारेजमाने।'
—यजुर्वेद, ३२ वाँ अध्याय, मन्त्र ७,
(ग) 'ध्रुवा, स्थिरा, धरित्री'
यजुर्वेद, १४ वाँ अध्याय, मन्त्र २२,
(घ) 'हिरण्मयेन सवितारथेन देवोयाति भुवनानि पश्यन्।'
—यजुर्वेद, ३३ वाँ अध्याय, मन्त्र ४३,

७–(क)'पृथ्वी ध्रुवा'
—अथर्ववेद, ६-८९-९।
(ख) स्कम्भेनेमे विष्भते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
—अथर्ववेद, १०-८-२,

८–'ध्रुवामि धरित्री ध्रुवास्थिरासति धरित्री भूमिरूपा चासिसति।'
—सायणभाष्य।

९–पातञ्जलि महाभाष्य, १-२-१२३!

१०–शतपथ ब्राह्मण, ६-५, २-४!

११–योगदर्शन, ३-११ सूत्र!

१२–कुरान शरीफ, सफा ५९०, सीपारा अम्येयता सालून (तीसवां) २, अखीरी।

१३–ज्योति. पत्र १७९ से १८१ तक।

१४–ज्योतिर्विनोद, सम्पूर्णानन्द, १९१७, वनारस, पृष्ठ १३४-१३५,

राजीव प्रचण्डिया

भूगोल भ्रमणवादियों ने तत्पश्चात् यह तर्क प्रस्तुत किया कि पूर्वार्द्ध में यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ किन्तु उत्तरार्द्ध में बड़े-बड़े तेज दूरदर्शीयन्त्र (Telescop), फोटोग्राफ तथा आकाशी जहाज आदि नये-नये यन्त्र ईजाद कर लिये गये हैं जो भूभ्रमण की पुष्टि करते है। यह उनका भ्रम है क्योंकि इन्हीं यन्त्रों द्वारा ही पृथ्वी का स्थिरपना सिद्ध होता है। दूरवीन में देखने वाले के नेत्र दूरवीन के नीचे शीशे में केन्द्र रूप स्थिर और उसके ऊपर का शीशा दूरवीन में स्थिर, जिसके स्थिर के प्रमाण करने को मकान की खिड़की भी स्थिर जिसके द्वारा ध्रुवतारे को देखा जाता है। तारे का प्रकाश दूरवीन के ऊपर के शीशे में प्रवेश करके नीचे के शीशे में देखने वाले के नेत्र की पुतली केन्द्र स्थान बनकर परिधि पर तारे को दृष्टि करती है और तब देखने वाला सर्व प्रकार से स्थिररूप में तारे को देखता है तो उसकी दूरी आदि का ज्ञान कर सकता है। यदि पृथ्वी घूम जाय तो देखने वाले मनुष्य के नेत्र की पुतली जो केन्द्र में है वह तारे को उस समय जिस डिग्री पर देखता है, वह सैकिण्डों में ही बहुत दूर हो जायेगा क्योंकि वह परिधि पर है। इसी प्रकार फोटोग्राफ भी स्थिर होकर पृथ्वी की तस्वीर लेता है। पृथ्वी घूमने पर वह तारे की तस्वीर नहीं ले सकता। इसी प्रकार आकाश-स्थित वायुयान में स्थित पुरुष कहता है कि पृथ्वी स्थिर है, जीव-जन्तु चल रहे हैं, नदी का पानी बह रहा है, वृक्ष-पहाड़ स्थिर हैं। इससे वायुयान भी यही सिद्धि करता है कि पृथ्वी स्थिर है, ऐसे ही जो बड़े भारी यन्त्र हैं, वे सभी पृथ्वी को स्थिर ही सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार तर्क शृंखला में और आगे बढ़ा जाय और एक बारगी पृथ्वी को नारंगी के आकार गोल घूमती हुई मान लिया जाय तो ध्रुवतारा और सूर्य दोनों कैसे स्थिर हो सकते हैं ? क्योंकि कि सूर्य तो पृथ्वी के घूमने के कारण प्रतिदिन पच्छिम को जाता दिखता है वैसे ही ध्रुवतारा भी दिखना चाहिये, सो दिखता नहीं। वह एक ही स्थान पर स्थिर दिखता है। यदि यह कहा जाए कि सूर्य 9 करोड़ 30 लाख मील दूरी पर है किन्तु वह ध्रुवतारा तो असंख्य मील दूरी पर है, अतः एक ही स्थल पर दृष्टिगोचर है। अथवा सूर्य तो पूर्व दिशा में स्थिर पृथ्वी के घूमने से पच्छिम की ओर जाता दिखाई देता है, वैसे ध्रुवतारा नहीं है। ध्रुवतारा तो एक पृथ्वी के बीचो-बीच में उत्तर की ओर बड़ी दूरी पर है जिससे समस्त पृथ्वी वालों को एक ही स्थल पर दिखता है। यह कहना भी सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि पृथ्वी एक समस्थल थाली के आकार घूमती होती तो समस्त पृथ्वी निवासियों को ध्रुवतारा एक स्थल पर दिखना सम्भव होता। जबकि पृथ्वी तो नारंगी के समान घूमती मानी गई है, उस पर भी साढ़े तैईस डिग्री घूमती मानी है फिर तिरछी घूमती पृथ्वी पर तारा कितनी दूरी पर ही क्यों न हो, एक स्थल पर स्थिर नहीं दिख सकता और पृथ्वी की तिरछी घूम यहां तक है कि छह महीने में उल्टी दक्षिणी ओर से उत्तर दिशा को ही जाती है। इसी कारण उत्तरी दक्षिणी पोलों में छह-छह महीने की रात्रि मानी गयी है। ऐसी तिरछी घूमने से ध्रुवतारा सारी रात एक ही स्थल पर दिखता हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी घूमती नहीं है जिस प्रकार ध्रुवतारा स्थिर है, उसी प्रकार पृथ्वी भी स्थिर है। जो ध्रुवतारा असंख्य मील दूर होने पर एक स्थान पर दीखता है तो एक प्रश्न उठता है कि ध्रुवतारा सूर्य के परिवार (Solar System) में है या नहीं ? यदि है तो सूर्य जो आधे घण्टे में लिरा की ओर दस हजार मील दौड़ा जा रहा है[२९] वह भी दौड़ेगा, फिर उसका ध्रुव नाम कहना और एक स्थान पर स्थिर बताना भ्रान्ति है। यदि वह स्थिर नहीं है तो सूर्य के साथ पृथ्वी जो सूर्य के परिवार में है, उसके साथ दौड़ती जाएगी फिर उस ध्रुवतारे का पृथ्वी से, एक स्थान से दिखना असम्भव है।[३०]

उपर्यङ्कित अति संक्षिप्त कथ्यसार के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पृथ्वी न गोल है, न चलती है, न दौड़ती है और न घूमती ही है। वह स्थिर, अचला है जो जैनागमानुकूल तो है ही साथ ही परम वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत भी है। पर, आज आवश्यकता है और अधिक आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान की ताकि इस भू-भ्रमण : भ्रान्ति की समस्या का निराकरण हो सके।

सन्दर्भित ग्रन्थ-सूची :

१–पी. एल. ज्यौगरफी, भाग २, पृष्ठ ८, सम्पादक—पं. प्यारेलाल जैन सन् १९२० ।

२–सूर्य-प्रज्ञप्ति सूत्र, पहला पाहुडा, सूत्र ९-१० ।

३–भगवती वृत्ति शतक ५, उ. १, "जह-जह समये पुर ओ – नियमा : ११"

४–'नहि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमण निर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् ।"

—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, अध्याय ४, आचार्य विद्यानन्दि ।

५–(क) पृथ्वी वितस्थे—ऋग्वेद, १-७२-९

(ख) ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः – ऋग्वेद, १-५०-९,

६–(क) 'येनद्यौरुग्रापृथ्वी च दृढ़ायेनस्व:

—यजुर्वेद, ३२ वाँ अध्याय, मन्त्र ६,

(ख) 'यन्क्रन्दसी अवसातस्तभोन अभ्यैक्षेता मनसारेजमाने ।'

—यजुर्वेद, ३२ वाँ अध्याय, मन्त्र ७,

(ग) 'ध्रुवा, स्थिरा, धरित्री'

यजुर्वेद, १४ वाँ अध्याय, मन्त्र २२,

(घ) 'हिरण्मयेन सवितारथेन देवोयाति भुवनानि पश्यन् ।'

—यजुर्वेद, ३३ वाँ अध्याय, मन्त्र ४३,

७–(क)'पृथ्वी ध्रुवा'

—अथर्ववेद, ६-८९-९ ।

(ख) स्कम्भेनेमे विष्भते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।

—अथर्ववेद, १०-८-२,

८–'ध्रुवामि धरित्री ध्रुवास्थिरासति धरित्री भूमिरूपा चासिसति ।'

—सायणभाष्य ।

९–पातञ्जलि महाभाष्य, १-२-१२३ !

१०–शतपथ ब्राह्मण, ६-५, २-४ !

११–योगदर्शन, ३-११ सूत्र !

१२–कुरान शरीफ, सफा ५९०, सीपारा अम्येयता सालून (तीसवां) २, अखीरी ।

१३–ज्योति. पत्र १७९ से १८१ तक ।

१४–ज्योतिर्विनोद, सम्पूर्णानन्द, १९१७, वनारस, पृष्ठ १३४-१३५,

राजीव प्रचण्डिया

१५–'जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान,' लेखक—मुनि श्री नगराज, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६, पृष्ठ १०५-१२० ।

१६–सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्याय, श्लोक ५,

१७–पंच० सि०, अ० १२, श्लोक ६,

१८–'यदि च भ्रमति—परिभ्रमः ।"

—शि० वृ० गोलाध्याय, ४२-४३ !

१९—The Story of the Heavens

– Sir Roberts Ball, 1911, पृष्ठ ८,

लन्दन, न्यूयार्क टोरन्टो, मेलबोर्न ।

२०–Ardenwood Geography

—आर्डनवुड, १९१४, पृष्ठ १०, लन्दन ।

२१–वही, पृष्ठ ३५,

२२–वही, पृष्ठ ६–७,

२३–Manual Geography

—John Murdoch, 1913, पृष्ठ ८, लन्दन ।

२४–वही, पृष्ठ ६,

२५–जन्म वि. सं. ५३३, (सन् ४७६)

२६–Matriculation Geography

—अभयचरन मुकर्जी, १९११, पृष्ठ १४, इलाहाबाद ।

२७–The first book of Geography

—एस. ए. हिल साहिब, १९१०, पृष्ठ १०८ इलाहाबाद ।

२८–Elementary Geography

—एम. बी. हिल, पृष्ठ ३९ ।

२९–The Story of the Heavens

—सर राबर्टस बॉल, १९११, पृष्ठ ४५६-४५७ लन्दन ।

३०–पी. एल. ज्योगरफी, भाग ३, सम्पादक—पं. प्यारेलाल जैन पृष्ठ ५-२८, सन् १९२० ।

—आगरा रोड,
अलीगढ़ (उ. प्र.)
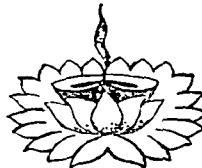
जैन दर्शन में सत्ता का स्वरूप एवं महत्व

□

डा. हरीन्द्र भूषण जैन

जैनदर्शन सुस्पष्ट रूप से सत्तावादी दर्शन है। उसमें तत्त्वनिरूपण, सत्प्ररूपणा, स्याद्वाद एवं सप्तभङ्गी, पंचास्तिकाय तथा द्रव्यलक्षण—इन पांच प्रकरणों में सत्ता की स्वीकृति असंदिग्ध रूप से परिलक्षित है।

तत्त्वनिरूपण

मोक्ष-मार्ग के रूप में सम्यग्दर्शन का निरूपण करते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'।[1] अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थ की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"तत्त्व शब्दो भावसामान्यवाची। कथम्? तदिति सर्वनाम पदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्यभवनम् इत्यर्थ। अर्य्यते इत्यर्थो निश्चीयते इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादिः।"[2]

यहां तत्त्व शब्द से सत्ता की प्रतीति होती है। जिस पदार्थ की सत्ता जिस रूप में है उसका उसी रूप में अवस्थित रहना तत्त्व है। इन तत्त्वों की संख्या सात है—

"जीवाजीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।"[3]

अर्थात्—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं।

"चेतनालक्षणो जीवः, तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः, शुभाशुभ कर्मागमद्वाररूप आस्रवः, आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः, आस्रव-निरोधलक्षणः संवरः, एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा, कृत्स्न-कर्मवियोगलक्षणो मोक्षः।"[4]

1. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, १/२
2. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र क्रमांक १-२ की टीका
3. तत्त्वार्थसूत्र-१/४
4. सर्वार्थसिद्धिः, १/४ सूत्र की टीका।

इन सात तत्त्वों में, जीव एवं अजीव—ये दो तत्त्व तो द्रव्यात्मक हैं। शेष पांच—आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष—ये भावनात्मक हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जैन दर्शन में द्रव्यात्मक सत्ता एवं मानसिक सत्ता, इस प्रकार दो सत्ताएँ स्वीकार की गई हैं।

सत्प्ररूपणा

जैनदर्शन में 'सत्प्ररूपणा' नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है। जीवाजीवादि सात तत्त्वों के स्वरूप को जानने के साधन तीन प्रकार के हैं—प्रथम–प्रमाण और नय, द्वितीय–निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा तृतीय–सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एवं अल्पबहुत्व। तत्त्वार्थसूत्र में इनका निरूपण करने वाले तीन सूत्र है—

१. प्रमाणनयैरधिगमः'[१] २. 'निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः'[२] तथा ३. सत्संख्या-क्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च'[3]।

पूज्यपादाचार्य सत् की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'सदित्यस्तित्वनिर्देशः। स प्रशंसादिषु वर्तमानो नेह गृह्यते।....... न तु निर्देशादेव सद्ग्रहणं सिद्धम्.. .... इतरेषां किमर्थं ग्रहणमिति। सत्यं सिद्धम्। विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः। केचित् संक्षेपरुचयः केचित् विस्ताररुचयः।

तत्र जीवमधिकृत्य सदाद्यनुयोगद्वारनिरूपणं क्रियते। जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः (प्रभृतयः चतुर्दश गुणस्थानाः)। एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दशमार्गणास्थानानि ज्ञेयानि। गतीन्द्रियकाययोग (प्रभृतीनि)।

तत्र सत्प्ररूपणा द्विविधा सामान्येन विशेषेण च। सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टि-रित्येवमादि विशेषेण गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु आद्यानि चत्वारि गुणस्थानानि सन्ति। तिर्यग्गतौ तान्येव संयतासंयतस्थानाधिकानि सन्ति। मनुष्यगतौ चतुदर्शापि सन्ति। देवगतौ नारकवत्।........ इत्यादि, सिद्धाःपरमेष्ठिनः अतीतगुणस्थानाः। उक्ता सत्प्ररूपणा।"[४]

सत्प्ररूपणा का अभिप्राय है—जीव द्रव्य का सामान्य और विशेष 'सत्' अर्थात् अस्तित्व को लेकर मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के माध्यम से, गति-इन्द्रिय-काय आदि चौदह मार्गणाओं में निरूपण करना। जीव के आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से क्रमशः चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। ये हैं—१. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि ४. असंयतसम्यग्दृष्टि, ५. संयतासंयत, ६. प्रमत्तसंयत. ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, ९. अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक १०. सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानवर्ती उपशमक और क्षपक, ११. उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ, १२. क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ, १३. सयोगकेवली और १४. अयोगकेवली।

१. तत्त्वार्थसूत्र, १, ६
२. वही, १, ७
३. वही, १, ८
४. सर्वार्थसिद्धि - तत्त्वार्थसूत्र के १, ८ सूत्र की टीका।

इन चौदह जीवसमासों के निरूपण के लिए चौदह मार्गणास्थान जानना चाहिए। यथा—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहारक।

इनमें से सामान्य और विशेष की अपेक्षा सत्प्ररूपणा दो प्रकार की है। मिथ्यादृष्टि है, सासादन सम्यग्दृष्टि है इत्यादिरूप से कथन करना सामान्य की अपेक्षा सत्प्ररूपणा है।

विशेष की अपेक्षा मार्गणा के अनुवाद से नरकगति में सब पृथिवियों में प्रारम्भ के चार गुणस्थान हैं। तिर्यञ्चगति में वे ही चार गुणस्थान हैं किन्तु संयतासंयत एक गुणस्थान और है। मनुष्य गति में चौदह ही गुणस्थान हैं और देवगति में नारकियों के समान चार गुणस्थान हैं। इसी प्रकार शेष मार्गणाओं—इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि को लेकर चौदह गुणस्थानों का निर्धारण सत्प्ररूपणा में किया जाता है। इस सत्प्ररूपणा का समापन इस प्रकार किया गया है—सिद्धपरमेष्ठी गुणस्थानातीत है, इस प्रकार सत्प्ररूपणा का कथन समाप्त हुआ।

स्याद्वाद एवं सप्तभङ्गी

प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण-पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि सन्तान-स्थिति की दृष्टि से नित्य है। साथ ही उसकी पर्याय प्रतिक्षण बदल रही है। उसके गुणधर्मों में भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। हमारा स्वल्प ज्ञानतत्त्व इनमें से एक-एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है। महावीर ने बताया कि वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक धर्मात्मक है।

स्याद्वाद एक निर्दोष भाषा शैली

"स्यात्" अस् धातु के विधिलिङ् का रूप होते हुए भी यहां निपात (तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय) के रूप में प्रयुक्त है। स्याद्वाद, स्यात् और वाद इन दो शब्दों से बना है। यहां स्यात् का अर्थ है 'कथञ्चित्' अर्थात् किसी विशेष दृष्टि से। हिन्दी में यह 'शायद' अर्थ में प्रचलित है, वह अर्थ यहां अभीप्सित नहीं है। वाद का अर्थ है कथन या भाषा शैली। अतः स्याद्वाद का अर्थ हुआ वह भाषा शैली जो वस्तु के एक धर्म का मुख्य रूप से निरूपण करते हुए गौणरूप से अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन करता है।

स्याद्वाद की उद्भूति

जैनदर्शन सामान्यरूप से यावत् "सत्" को परिणामी नित्य मानता है। प्रत्येक सत् अनन्तपर्यायात्मक है। उसका पूर्णरूप, वचनों के अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नहीं जो वस्तु के पूरे रूप को स्पर्श करता हो। "सत्" शब्द भी वस्तु के अस्तित्व धर्म को कहता है, शेष नास्तित्वादि धर्मों को नहीं। इस विराट् को जानने और दूसरों को समझाने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इन दोनों आवश्यकताओं ने अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद को जन्म दिया।

सप्तभङ्गी

वस्तु की अनेकान्तात्मकता और भाषा के निर्दोष प्रकार—स्याद्वाद को समझ लेने के पश्चात् सप्तभङ्गी का स्वरूप समझने में आसानी हो जाती है। अनेकान्त का प्रयोजन "प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी

धर्म के साथ वस्तु में रहता है" यह प्रतिपादन करना है। एक पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हलका-भारी, सत्त्व, एकत्व आदि अनेक धर्म गिनाए जा सकते है। परन्तु "सत्", "असत्" का अविनाभावी है और एक, अनेक का अविनाभावी है, यह स्थापित करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है। इसी विशेष हेतु से प्रमाणाविरोधी विधिप्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।

इस भारत भूमि में विश्व के संबंध में सत् असत्, उभय और अनुभय—ये चार पक्ष, वैदिककाल से ही विचारकोटी में रहे हैं। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य ६/२) 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य, ३/१९/१) इत्यादि वाक्य जगत के सम्बन्ध में सत्, असत् रूप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं। तो वहीं सत् और असत् इस उभयरूपता का तथा इन सबसे परे वचनागोचर तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले पक्ष भी मौजूद हैं। बुद्ध के अव्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन चार पक्षों के दर्शन होते है।

महावीर ने अपनी विशाल और उदार तत्त्वदृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को देखा और बताया कि वस्तु के अनन्तधर्ममय स्वरूप-सागर में चार कोटियां तो क्या, ऐसी अनन्त कोटियां लहरा रही हैं।

सप्तभंगी के मूल भंग तीन हैं—सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणित के नियमानुसार तीन के अपुनरुक्त सात विकल्प ही हो सकते हैं, अधिक नहीं।

सत् विषयक सप्तभंगी में प्रथम भंग (१) 'स्यादस्ति घटः' है। दूसरा इसका प्रतिपक्षी (२) 'स्यान्नास्तिघटः' है। तीसरा भंग युगपत् कहने की असामर्थ्य होने से (३) 'स्याद् अवक्तव्योघटः' है। चौथा भंग क्रम से प्रथम और द्वितीय की विवक्षा होने पर (४) 'स्यादुभयोघटः' है। पांचवाँ प्रथम समय में अस्ति की और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (५) 'स्यादस्ति अवक्तव्यो घटः' है। छठवां प्रथम समय में नास्ति और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (६) 'स्यान्नास्ति अवक्तव्यो घटः' है। सातवां, प्रथम समय में अस्ति, द्वितीय समय में नास्ति और तृतीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (७) 'स्यादस्तिनास्ति-अवक्तव्यो घटः' है। इस प्रकार सात भंग होते हैं।

इस सप्तभंगी में 'सत्ता' की स्थिति सुस्पष्ट दर्शनीय है।

पञ्चास्तिकाय

पञ्चास्तिकाय प्रकरण से भी सत्ता पर प्रकाश पड़ता है। जैनदर्शन में छह द्रव्य हैं—एक जीव-द्रव्य तथा पांच अजीव द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों में केवल पांच द्रव्य ही अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अभिप्राय है जिनमें काय अर्थात् प्रदेशों का समूह रहता है। 'प्रदेशप्रचयोहि कायः स एषामस्ति ते अस्तिकायाः जीवादयः' (तत्त्वार्थवार्तिक ४,१४,५)

पञ्चास्तिकाय में अस्तिकाय की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

जेसिं अत्थिसहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं॥

(पञ्चास्तिकायः ५)

अर्थात् जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्तित्स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय हैं। छह द्रव्यों में कालद्रव्य अस्तिकाय न होने से जैन दर्शन में पञ्चास्तिकाय माने गए हैं।

द्रव्य-लक्षण

जैनदर्शन का यह प्रकरण 'सत्ता' के ऊपर अच्छा प्रकाश डालता है। तत्त्वार्थसूत्र (५-२९) मे द्रव्य का लक्षण करते हुए लिखा है—'सद् द्रव्यलक्षणम्,' अर्थात् द्रव्य का लक्षण 'सत्' है। आगे 'सत्' की परिभाषा करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं–'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (५-३०), अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त है, वह 'सत्' है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—'चेतनस्याचेतनस्यवा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः। मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। अनादिपारणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पाद-व्ययध्रौव्यमुक्तं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।'

अर्थात्–द्रव्य दो हैं, चेतन और अचेतन। वे अपनी जाति को तो नहीं छोड़ते, फिर भी उनमें अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रतिसमय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। पूर्व-अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकार का त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिमाणिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता, किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिये उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पञ्चास्तिकाय' में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

> भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
> गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ १५ ॥

अर्थात् भाव का कभी नाश नहीं होता और अभाव का कभी उत्पाद नहीं होता। द्रव्य तो अपने गुण-पर्यायों में ही उत्पाद-व्यय करते हैं और द्रव्य रूप से ध्रुव रहते हैं।

वस्तु की त्रयात्मकता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा में कहा है—

> घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादव्ययस्थितिम्।
> शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥

अर्थात् घट, मुकुट और सुवर्ण के अभिलाषी तीन पुरुष सोने के घड़े से मुकुट का निर्माण किए जाने पर सहेतुक रूप से क्रमशः शोक, प्रमोद और मध्यस्थ-भाव को प्राप्त होते हैं।

धर्म के साथ वस्तु में रहता है" यह प्रतिपादन करना है। एक पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हलका-भारी, सत्त्व, एकत्व आदि अनेक धर्म गिनाए जा सकते हैं। परन्तु "सत्", "असत्" का अविनाभावी है और एक, अनेक का अविनाभावी है, यह स्थापित करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है। इसी विशेष हेतु से प्रमाणाविरोधी विधिप्रतिषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।

इस भारत भूमि में विश्व के संबंध में सत् असत्, उभय और अनुभय—ये चार पक्ष, वैदिककाल से ही विचारकोटी में रहे हैं। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य ६/२) 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छान्दोग्य, ३/१६/१) इत्यादि वाक्य जगत के सम्बन्ध में सत्, असत् रूप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं। तो वहीं सत् और असत् इस उभयरूपता का तथा इन सबसे परे वचनागोचर तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले पक्ष भी मौजूद हैं। बुद्ध के अव्याकृतवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन चार पक्षों के दर्शन होते हैं।

महावीर ने अपनी विशाल और उदार तत्त्वदृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को देखा और बताया कि वस्तु के अनन्तधर्ममय स्वरूप-सागर में चार कोटियां तो क्या, ऐसी अनन्त कोटियां लहरा रही हैं।

सप्तभंगी के मूल भंग तीन हैं—सत् , असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणित के नियमानुसार तीन के अपुनरुक्त सात विकल्प ही हो सकते हैं, अधिक नहीं।

सत् विषयक सप्तभंगी में प्रथम भंग (१) 'स्यादस्ति घटः' है। दूसरा इसका प्रतिपक्षी (२) 'स्यान्नास्तिघटः' है। तीसरा भंग युगपत् कहने की असामर्थ्य होने से (३) 'स्याद् अवक्तव्योघटः' है। चौथा भंग क्रम से प्रथम और द्वितीय की विवक्षा होने पर (४) 'स्यादुभयोघटः' है। पांचवाँ प्रथम समय में अस्ति की और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (५) 'स्यादस्ति अवक्तव्यो घटः' है। छठवां प्रथम समय में नास्ति और द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (६) 'स्यान्नास्ति अवक्तव्यो घटः' है। सातवां, प्रथम समय में अस्ति, द्वितीय समय में नास्ति और तृतीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा होने पर (७) 'स्यादस्तिनास्ति-अवक्तव्यो घटः' है। इस प्रकार सात भंग होते हैं। इस सप्तभंगी में 'सत्ता' की स्थिति सुस्पष्ट दर्शनीय है।

पञ्चास्तिकाय

पञ्चास्तिकाय प्रकरण से भी सत्ता पर प्रकाश पड़ता है। जैनदर्शन में छह द्रव्य हैं—एक जीव-द्रव्य तथा पांच अजीव द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छह द्रव्यों में केवल पांच द्रव्य ही अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अभिप्राय है जिनमें काय अर्थात् प्रदेशों का समूह रहता है। 'प्रदेशप्रचयोहि कायः स एषामस्ति ते अस्तिकायाः जीवादयः' (तत्त्वार्थवार्तिक ४,१४,५)

पञ्चास्तिकाय में अस्तिकाय की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

जेसिं अत्थिसहावो गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं॥

(पञ्चास्तिकायः ५)

अर्थात् जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्तित्स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय हैं। छह द्रव्यों में कालद्रव्य अस्तिकाय न होने से जैन दर्शन में पञ्चास्तिकाय माने गए हैं।

द्रव्य-लक्षण

जैनदर्शन का यह प्रकरण 'सत्ता' के ऊपर अच्छा प्रकाश डालता है। तत्त्वार्थसूत्र (५-२९) में द्रव्य का लक्षण करते हुए लिखा है—'सद् द्रव्यलक्षणम्,' अर्थात् द्रव्य का लक्षण 'सत्' है। आगे 'सत्' की परिभाषा करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार कहते हैं—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (५-३०), अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त है, वह 'सत्' है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—'चेतनस्याचेतनस्यवा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः। मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। पूर्वभावविगमनं व्ययः। यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः। अनादिपारणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। यथा मृत्पिण्डाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयः। तैरुत्पाद-व्ययध्रौव्यमुक्तं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।'

अर्थात्–द्रव्य दो हैं, चेतन और अचेतन। वे अपनी जाति को तो नहीं छोड़ते, फिर भी उनमें अन्तरंग और वहिरंग निमित्त के वश से प्रतिसमय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। पूर्व-अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकार का त्याग तथा जो अनादिकालीन पारिमाणिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता, किन्तु वह 'ध्रुवति' अर्थात् स्थिर रहता है इसलिये उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय वना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'पञ्चास्तिकाय' में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

भावस्स गत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति॥ १५॥

अर्थात् भाव का कभी नाश नहीं होता और अभाव का कभी उत्पाद नहीं होता। द्रव्य तो अपने गुण-पर्यायों में ही उत्पाद-व्यय करते हैं और द्रव्य रूप से ध्रुव रहते हैं।

वस्तु की त्रयात्मकता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा में कहा है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादव्ययस्थितिम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ ५९॥

अर्थात् घट, मुकुट और सुवर्ण के अभिलापी तीन पुरुष सोने के घड़े से मुकुट का निर्माण किए जाने पर सहेतुक रूप से क्रमशः शोक, प्रमोद और मध्यस्थ-भाव को प्राप्त होते हैं।

पुनः आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।। ६६ ।।

अर्थात् जो पयोव्रती है वह दधि नहीं खाता, दूध पीता है और जो दधिव्रती है वह दूध नहीं पीता, दधि खाता है। किन्तु जो अगोरसव्रती है वह न दूध पीता है और न दधि खाता है। इससे वस्तु की त्रयात्मकता सिद्ध है। अर्थात् दूध, दूध है, दधि नहीं है। इसी प्रकार दधि, दधि है, दूध नहीं है, किन्तु दोनों गोरस हैं। अर्थात् गोरस, द्रव्य-दृष्टि है और दूध-दधि पर्यायदृष्टि है। दूध और दधि गोरस की ही क्रमिक पर्याय हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक 'सत्' ही द्रव्य का लक्षण, जैनदर्शन में माना गया है। यही जैनदर्शन में सुस्पष्ट रूप से सत्ता की स्वीकृति है।

इस प्रकार जैनधर्म—द्रव्यों के रूप में, नव-तत्त्वों की विविधता में, पञ्चास्तिकाय के स्वरूप में, सप्तभंगी के प्रकारों में और सत्प्ररूपणा के निरूपण में—'सत्ता' को स्पष्टतः स्वीकार करता है।

अनेकान्त शोधपीठ (बाहुबली—उज्जैन)
१५, एम. आई. जी; मुनिनगर,
पो. उज्जैन (म. प्र.) ४५६०१०

जीत-चिन्तन

मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य है—शाश्वत शान्ति। शाश्वत-शान्ति, सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र के बिना संभव नहीं है। सम्यग्ज्ञानादि की उपलब्धि भी शुद्ध-बोध के बिना सँभव नहीं और शुद्ध-बोध के लिए अनेकान्त-दृष्टि अनिवार्य है।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

कालिदास अकादमी, उज्जैन द्वारा १६ मार्च से २४ मार्च १६८५ तक आयोजित 'सत्ता-स्वरूप पर शास्त्रविचार' संगोष्ठी में पठित निबन्ध।
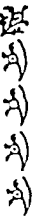
जैन दर्शन का अविच्छेद्य अंग कर्मवाद

जैन साध्वी श्री सुप्रभाकुमारी जी 'सुधा'

दार्शनिक चिन्तन की पुण्यभूमि भारतवर्ष में अनादिकाल से आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष-बन्ध आदि तत्त्वों पर चिंतन-मनन होता आया है। इसके साथ ही आत्मा के साथ संलग्न कर्म और कर्म-सम्बन्धी फल के विषय में भी गहन चिन्तन हुआ है। यही चिन्तन भारतीय अध्यात्म-विद्या का मेरुदण्ड है।

भारतीय दर्शन में एक लोकायत दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन कर्मवाद को मानते हैं। सुख-दुःख एवं सांसारिक वैविध्य के कारणों को खोजकर भारतीय चिन्तकों ने कर्म के अद्‌भुत-सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। भारत के ऋषि-महर्षियों ने चिंतन-मनन के पश्चात् एक विशाल प्रज्ञा-मन्दिर का निर्माण किया, जिसका स्वर्ण-कलश यदि मुक्ति है तो उसकी आधार-शिला कर्मवाद है। इस प्रकार भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला और विज्ञान आदि पर कर्मवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। कर्म ही जन्म एवं मृत्यु की जड़ है। जीव अनादिकाल से कर्म के वशीभूत हो विविध भवों में भ्रमण कर रहा है। सुख अथवा दुःख स्वकृत कर्म के अलावा और कुछ नहीं है।

> ण तस्स दुक्खं विभयंति णाइओ
> ण मित्तवग्गा ण सुया ण बंधवा।
> इक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं
> कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥[1]

कर्त्ता को ही कर्मो का फल भोगना पड़ता है। उसके दुःख को न जाति वाले बंटा सकते हैं, न मित्र-मंडली और न पुत्र एवं बन्धु ही। वह स्वयं अकेला ही अपने सारे दुःख भोगता है, क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है।

अभिप्राय यह है कि एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्म-फल का अधिकारी नहीं होता। जीव अपने शुभ एवं अशुभ कर्मो के साथ पर-भव जाता है। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्व-सम्बद्ध होता है, पर-सम्बद्ध नहीं। इसी बात को मनीषी विद्वानों ने इस प्रकार कहा है—

१. उत्तराध्ययन सूत्र १३/२३

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्म-सूत्र-ग्रथितो हि लोकः ।।[1]

बात बहुत ही प्रशस्त है। सुख और दुःख को देने वाला दूसरा कोई नहीं है। कोई अन्य सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं ही करता हूँ—यह वृथाभिमान है क्योंकि संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के धागों से आबद्ध हैं।

जैनाचार्यों ने जिस ढंग से कर्मवाद का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्य है। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आचार-परम्परा का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। जैन दर्शन एवं जैन आचार की समस्त महत्वपूर्ण मान्यताएँ तथा धारणाएँ कर्मवाद पर ही अवलम्बित हैं।[2]

जैन आगमानुसार जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे फल मिलता है।

तेणे जहा संधि-मुहे गहिए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पयापेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ।।[3]

जिस प्रकार संधि-मुख पर सेंध लगाते हुए पकड़ा गया पापात्मा चोर अपने ही किए हुए कर्मों से दुःख पाता है, उसी प्रकार जीव इस लोक और परलोक में अपने किये हुए अशुभ कर्मों से दुःख पाते हैं; क्योंकि फल भोगे विना किये हुए कर्मों से छुटकारा नहीं होता। कहा भी है—

As you sow, so you reap.

जैसी करणी, वैसी भरणी।

और भी—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।[4]

अर्थात्—कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य एवं शूद्र होता है।

काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ आदि के विषय में अनेकान्त अर्थात् सापेक्ष दृष्टि रखनी चाहिए। इस सिद्धांत को भारतीय आस्तिक दर्शनों के साथ बौद्ध दर्शन जैसे अनात्मवादियों ने भी स्वीकार किया है।

---

१. अध्यात्मरामायण—(अयोध्या काण्ड)
२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ. ५
३. उत्तराध्ययन सू. ४/३
४. ,, ३/३

राजा मलिन्द, स्थविर नागसेन से पूछता है—"भन्ते ! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते ? कोई प्रभावशाली तो कोई प्रभावहीन, कोई कम आयुवाला तो कोई दीर्घायु, कोई रोगी तो कोई नीरोगी, कोई अमीर तो कोई गरीब, कोई राजा तो कोई रंक, कोई सबल तो कोई निर्बल, कोई मूर्ख तो कोई विद्वान् होता है, ऐसा क्यों ?

स्थविर नागसेन ने कहा—"मैं तुम्हें पूछता हूँ—राजन् ! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं है। कोई खट्टी तो कोई मीठी, कोई तीखी तो कोई कड़वी क्यों होती है ?"

मलिन्द ने कहा—"भन्ते ! मैं समझता हूँ कि बीजों की भिन्नता होने से वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती है।"

नागसेन ने कहा—"राजन् ! जीवों की विविधता-विषमता एवं अनेकता का कारण भी उनका अपना-अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही नाना गति-योनियों में उत्पन्न होते हैं।"

राजा मलिन्द और नागसेन के इस संवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करते हैं। आचार्य देवेन्द्र सूरि ने स्पष्ट कहा है—

क्ष्मा भृद्रंककयोर्मनीषि-जडयोः सद्रूप-नीरूपयोः,
श्रीमद्-दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोग-रोगार्त्तयोः।
सौभाग्याऽसुभगत्व संगमजुषोस्तुल्येऽति नृत्वेऽन्तरं,
यत्तत्कर्म-निबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ॥[2]

राजा-रंक, बुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सबल-निर्बल, रोगी-नीरोगी, भाग्यशाली-अभागा—इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सब कर्मकृत है और वह कर्म जीव के बिना हो नहीं सकता।

कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

कुछ दर्शन, जिनमें मुख्य-रूप से नास्तिक, चार्वाक आदि हैं, उनका कहना है कि—"कर्म सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है, इसी लोक में पांचभूतों के संयोग से अच्छा-बुरा जो कुछ मिलता है, मिल जाता है; इससे आगे कुछ नहीं होता, शरीर जलकर यहीं खाक हो जाता है, फिर कहीं आना है, न जाना है।" परन्तु चार्वाक के इस कथन का खण्डन यहीं हो जाता है कि एक जैसी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाए जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुए भी अन्तर क्यों दिखाई देता है ? इसी प्रकार एक ही माता-पिता के एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में साधन और पंचभूत एक-से होने पर भी उनकी बुद्धि, शक्ति आदि में अन्तर पाया जाता है, इस अन्तर का कारण कर्म को—पूर्वकृत कर्म को माने बिना कोई चारा नहीं। यही बात जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक-भाष्य में बताई है—

१. मलिन्द प्रश्न—बौद्ध ग्रन्थ।
२. प्रथम कर्मग्रन्थ, टीका।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।
अहं करोमीति वृथाभिमानः,
स्वकर्म-सूत्र-ग्रथितो हि लोकः ॥[1]

बात बहुत ही प्रशस्त है। सुख और दुःख को देने वाला दूसरा कोई नहीं है। कोई अन्य सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं ही करता हूँ—यह वृथाभिमान है क्योंकि संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के धागों से आवद्ध हैं।

जैनाचार्यों ने जिस ढंग से कर्मवाद का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्य है। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आचार-परम्परा का एक अविच्छेद्य अंग हो गया है। जैन दर्शन एवं जैन आचार की समस्त महत्त्वपूर्ण मान्यताएँ तथा धारणाएँ कर्मवाद पर ही अवलम्बित हैं।[2]

जैन आगमानुसार जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे फल मिलता है।

तेणे जहा संधि-मुहे गहिए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पयापेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ॥[3]

जिस प्रकार संधि-मुख पर सेंध लगाते हुए पकड़ा गया पापात्मा चोर अपने ही किए हुए कर्मों से दुःख पाता है, उसी प्रकार जीव इस लोक और परलोक में अपने किये हुए अशुभ कर्मों से दुःख पाते हैं; क्योंकि फल भोगे विना किये हुए कर्मों से छुटकारा नहीं होता। कहा भी है—

As you sow, so you reap.

जैसी करणी, वैसी भरणी।

और भी—

कम्मुणा वंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥[4]

अर्थात्—कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य एवं शूद्र होता है।

काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ आदि के विषय में अनेकान्त अर्थात् सापेक्ष दृष्टि रखनी चाहिए। इस सिद्धांत को भारतीय आस्तिक दर्शनों के साथ वौद्ध दर्शन जैसे अनात्मवादियों ने भी स्वीकार किया है।

१. अध्यात्मरामायण—(अयोध्या काण्ड)
२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४, पृ. ५
३. उत्तराध्ययन सू. ४/३
४. ,, ३/३

राजा मलिन्द, स्थविर नागसेन से पूछता है—"भन्ते ! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते ? कोई प्रभावशाली तो कोई प्रभावहीन, कोई कम आयुवाला तो कोई दीर्घायु, कोई रोगी तो कोई नीरोगी, कोई अमीर तो कोई गरीब, कोई राजा तो कोई रंक, कोई सबल तो कोई निर्बल, कोई मूर्ख तो कोई विद्वान् होता है, ऐसा क्यों ?

स्थविर नागसेन ने कहा—"मैं तुम्हें पूछता हूँ—राजन् ! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं है। कोई खट्टी तो कोई मीठी, कोई तीखी तो कोई कड़वी क्यों होती है ?"

मलिन्द ने कहा—"भन्ते ! मैं समझता हूँ कि बीजों की भिन्नता होने से वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती है।"

नागसेन ने कहा—"राजन् ! जीवों की विविधता-विषमता एवं अनेकता का कारण भी उनका अपना-अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं तथा अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही नाना गति-योनियों में उत्पन्न होते हैं।"

राजा मलिन्द और नागसेन के इस संवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करते हैं। आचार्य देवेन्द्र सूरि ने स्पष्ट कहा है—

क्ष्मा भृद्रंकयोर्मनीषि-जडयोः सद्रूप-नीरूपयोः,
श्रीमद्-दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोग-रोगार्त्तयोः।
सौभाग्याऽसुभगत्व संगमजुषोस्तुल्येऽति नृत्वेऽन्तरं,
यत्तत्कर्म-निबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् ॥[२]

राजा-रंक, बुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सबल-निर्बल, रोगी-नीरोगी, भाग्यशाली-अभागा—इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सब कर्मकृत है और वह कर्म जीव के बिना हो नहीं सकता।

कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

कुछ दर्शन, जिनमें मुख्य-रूप से नास्तिक, चार्वाक आदि हैं, उनका कहना है कि—"कर्म सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है, इसी लोक में पांचभूतों के संयोग से अच्छा-बुरा जो कुछ मिलता है, मिल जाता है; इससे आगे कुछ नहीं होता, शरीर जलकर यहीं खाक हो जाता है, फिर कहीं आना है, न जाना है।" परन्तु चार्वाक के इस कथन का खण्डन यहीं हो जाता है कि एक जैसी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाए जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुए भी अन्तर क्यों दिखाई देता है ? इसी प्रकार एक ही माता-पिता के एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में साधन और पंचभूत एक-से होने पर भी उनकी बुद्धि, शक्ति आदि में अन्तर पाया जाता है, इस अन्तर का कारण कर्म को—पूर्वकृत कर्म को माने बिना कोई चारा नहीं। यही बात जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक-भाष्य में बताई है—

---

१. मलिन्द प्रश्न—बौद्ध ग्रन्थ।
२. प्रथम कर्मग्रन्थ, टीका।

जो तुल्ल साहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं।
कज्जत्तणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ।।[1]

एक समान साधन होने पर भी फल में जो अन्तर मानव-जगत् में दिखाई दे रहा है, बिना कारण के नहीं हो सकता। जैसे एक जैसी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाए जाने वाले घड़ों में विभिन्नता पाई जाती है, वैसे ही समान साधन होने पर भी मानवों में जो अन्तर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए; गौतम ! विविधता का वह कारण कर्म ही है।

जैन दर्शन में कर्म का अर्थ कुछ विलक्षण, विशिष्ट एवं विज्ञान-सम्मत है। जैन-दृष्टि से कर्म-शब्द का लक्षण इस प्रकार है—

"कीरइ जीएण हेउहिं
जेणं तु भण्णए कम्मं[2]।"

जीव की अपनी शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रिया द्वारा अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन कारणों से प्रेरित होकर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति से चुम्वक की तरह आकृष्ट आत्मा जो करता है, वह कर्म कहलाता है।

वेड़ी से मानव वंधता है, नशा करने से वेभान होता है और क्लोरोफार्म सूंघने से अचेत हो जाता है। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी तरह कर्म भी पौद्गलिक हैं। जो पुद्गल-परमाणु कर्म-रूप में परिणत होते हैं, उन्हें कर्म-वर्गणा कहते हैं और जो शरीर रूप में परिणत होते हैं, उन्हें नो-कर्म-वर्गणा कहते हैं।

शरीर पुद्गलों से वना है, उसका कारण कर्म है अतः कर्म भी पुद्गल है। अनुकूल आहार आदि से सुख और प्रतिकूल शस्त्रादि के प्रहार से दुःख की अनुभूति होती है। आहार व शस्त्र पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दुःख-प्रदाता कर्म भी पौद्गलिक हैं।

वंध की दृष्टि से जीव और पुद्गल एकमेक हैं पर लक्षण की दृष्टि से दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

कर्म व प्रवृत्ति

कर्म के मुख्यतः दो भेद किए गये हैं—द्रव्य-कर्म एवं भाव-कर्म। मन-वचन और काया की प्रवृत्तियों से कर्म-वर्गणा के पुद्गल आकर्षित होते हैं। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति तभी होती है जव जीव के साथ कर्म सम्वद्ध हों। जीव के साथ कर्म भी तभी सम्वद्ध होते हैं जव मन-वचन और काया की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। कर्म व प्रवृत्ति के कार्य और कारण-भाव को लक्ष्य में रखते हुए पुद्गल-परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य-कर्म कहा है। भाव-कर्म से तात्पर्य है राग-द्वेषादि रूप प्रवृत्तियां।

कर्म-वन्धन

ध्यान रखने योग्य वात है कि जड़ और चेतन के मिश्रण बिना कर्म की रचना नहीं हो सकती। शुद्ध आत्मा—जो मुक्तावस्था में है, कर्म-रहित होता है। कर्म-सहित आत्मा 'संसारी आत्मा' कहलाता है।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य।
२. कर्मग्रंथ १/१

आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण इसी अवस्था में होता है। जो पहले से ही कर्मों से आवद्ध है वही जीव नए कर्म बांधता है। सर्वथा कर्म-मुक्त जीव के कर्म का बंधन कभी नहीं होता। राग और द्वेष, कषाय और योग ही कर्म-बंध के कारण हैं। जो कर्मों से वद्ध होता है, वही उनका फल भी भोगता है। कर्म, सिर्फ संसारी जीव करते हैं और वे ही अपने किए कर्मों का फल भोगते हैं।

शुभाशुभ कर्म-बंध का किसी भी बाह्य क्रिया पर आधारित होना जरूरी नहीं है। बाह्य क्रियाओं की पृष्ठभूमि-स्वरूप अन्तःकरण में जो शुभाशुभ भावनाएँ हैं, वे ही शुभाशुभ कर्मबंध की हेतुक हैं। कहा भी है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

अन्त में कर्मबंध से रहित शुद्धात्मा ही उसका मुक्तिपद है, सिद्धत्व है। कर्मबंध से मुक्ति-प्राप्ति के साधन हैं—सम्यग्ज्ञान-दर्शन व चारित्र। इस रत्नत्रयी का आराधन कर आत्मा सर्वथा प्रकारेण राग-द्वेष से मुक्ति पा सकता है और इस प्रकार से मुक्त बनकर आत्मा अजर-अमर बन जाता है।

निश्चय ही जैनदर्शन में कर्मवाद का अनूठा विवेचन है। कर्मबंध एवं कर्ममुक्ति का यह विवेचन बहुत ही तर्क-पूर्ण एवं यथार्थ-दृष्टि से किया गया है।

जीत-चिन्तन

कर्म एक मूर्त-पदार्थ है जो जीव की राग-द्वेष में प्रवृत्ति के कारण बन्ध को प्राप्त हो जाता है। जैन वाङ्मय में कर्म को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में माना गया है। कर्म को अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा गया है। कर्म की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं। समस्त विश्व में जीवात्मा की शुभ या अशुभ-प्रवृत्तियों के परिणाम-स्वरूप कर्म जीवात्मा के साथ बंधते जाते हैं, उनकी इस स्थिति को 'बंध' कहा गया है। बंधन के पश्चात् कर्म सत्ता में आ जाते हैं। इसी सत्तावस्था में कर्मों का परिपाक होता रहता है। परिपाक के बाद जब सुख-दुःख रूप फल मिलता है, वह कर्मों की उदयावस्था कहलाती है।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

हिन्दी* जैन काव्य में समाज-दर्शन

डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

जैन समाज, भारतीय समाज का एक प्रमुख अंग है। देश के सभी प्रदेशों में जैन समाज बसा हुआ है तथा अपने सामाजिक रीति-रिवाजों, मान्यताओं एवं परम्पराओं से बंधा हुआ है। अहिंसा-दर्शन जैन समाज का मूल आधार है इसलिए इसके रीति-रिवाजों, खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल सभी में हिंसा को कहीं स्थान नहीं है। सामाजिक दृष्टि से अभी जैन समाज का बहुत कम अध्ययन हुआ है और उसे वणिक-समाज समझ कर सामाजिक इतिहास में यथेष्ट स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। विगत हजारों वर्षों से जैन समाज भारतीय समाज को प्रभावित किया हुआ है। जैनाचार्यों, विद्वानों, कवियों सभी ने अपनी कृतियों में जहां भी समाज की किसी गतिविधि के वर्णन का प्रसंग आया है, उसे अच्छा स्थान दिया है। इसलिए प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी—सभी भाषाओं के काव्यों में समाज का अच्छा दर्शन होता है।

प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के समान हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का भी विपुल साहित्य मिलता है लेकिन उसकी इस विपुलता को वे ही विद्वान् समझ सकते हैं जिन्होंने जैन शास्त्र-भण्डारों में संगृहीत पाण्डुलिपियों को देखा हो और उनके अन्दर तक प्रवेश किया हो। जैन कवियों ने हिन्दी की सबसे अधिक एवं सबसे लम्बे समय से सेवा की है। उसमें वे अबाध गति से साहित्य-निर्माण करते रहे हैं। लेकिन न तो इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला है और न विश्वविद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में वह आ पाया है। इतना अवश्य है कि हिन्दी-जगत् के प्रख्यात मनीषियों का ध्यान अब इस साहित्य की ओर जाने लगा है।

यह प्रसन्नता की बात है कि जयपुर में समग्र हिन्दी जैन साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने एवं उसे बीस भागों में प्रकाशित करने के लिए श्री महावीर ग्रंथ अकादमी की स्थापना के पश्चात्, हिन्दी का विपुल जैन साहित्य प्रकाश में आया है और ब्रह्म रायमल्ल, बूचराज, छीहल, ठक्कुरसी ब्रह्म जिनदास, भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमदचन्द, आचार्य सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधरा, बुलाखीचन्द, बुलाकीराय, हेमराज,

*'जैनधर्म और समाज' विषय पर राज. विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में पठित।

बाई अजीतमति, धनपाल, भट्टारक महेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्र जैसे पचास से अधिक अचर्चित अथवा अल्पचर्चित कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है।

वैसे तो हिन्दी जैन साहित्य में सभी विषयों का वर्णन मिलता है, काव्यों के नायक एवं नायिकाओं के अतिरिक्त दूसरे पात्रों का जीवन चरित्र मिलता है। दर्शन एवं धर्म पर चर्चा रहती है। श्रावकों के आचार पर वर्णन होता है, इसके साथ ही ग्राम, नगर, वन, तड़ाग, बाग, पर्वत, पशु-पक्षी आदि सभी का अच्छा वर्णन मिलता है। पेड़-पौधों, पुष्प एवं लताओं तथा अन्य प्राकृतिक सौन्दर्य का भी उनमें वर्णन रहता है। नायक एवं प्रतिनायक में होने वाले युद्धों एवं उनमें प्रयोग किये जाने वाले अस्त्र-शस्त्रों का एवं साथ में युद्ध की विभीषिकाओं का भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। यही नहीं तत्कालीन राजाओं, शासकों एवं उनके राजशासन के बारे में थोड़ा-बहुत उल्लेख अवश्य मिलता है लेकिन इन सबके अतिरिक्त हिन्दी जैन काव्यों में समाज-व्यवस्था रीति-रिवाज, सामाजिक परम्पराएँ, रहन-सहन, खान-पान जैसे सामाजिक विषयों पर भी अच्छी सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिए समाज-शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी हिन्दी जैन काव्य, साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में कुछ ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है:—

'जिरणदत्तचरित' सन् १२९७ की रचना है। वह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें जिणदत्त श्रेष्ठी का जीवन-चरित्र वरिणत है, जो ५५३ पत्रों में पूर्ण होता है। इसके कवि जेसवाल जाति के शासक थे। इस काव्य के अध्ययन से सामाजिक रीति-रिवाजों का अच्छा परिचय मिलता है। जन्म, मृत्यु एवं विवाह—इन तीन जीवन की घटनाओं में से कवि ने जन्म एवं विवाह पर अच्छा प्रकाश डाला है। तेरहवीं शताब्दी में पुत्र-जन्म पर बड़े-बड़े उत्सव आयोजित किये जाते थे। घरों मे बधावा (मंगल गीत) गाये जाते थे। सब का सुपारी एवं पान से स्वागत किया जाता था। सेठ जिरणदत्त का जब जन्म हुआ तो उसके पिता ने दो करोड़ मुद्राओं का दान किया।

> जीव देव घरी नन्दण भयेउ, घर-घर कुटुम्ब बधाऊ गयउ।
> गावहि गीतु नाइका सउकु, चउरी पूरिउ मोतिन्ह चउकु।
> देहि तंबोल त फोफल पान, दीठो चीर परोसे पाण।
> पूत वधाए नाही खोरि, दीने सेठि दामा दुइ कोडि ॥ ६२ ॥

विवाह सम्बन्ध करने के लिए पिता के स्थान पर ब्राह्मण आया करते थे और वे ही सम्बन्ध पक्का कर दिया करते थे। वे कभी-कभी अपने साथ लड़के-लड़की का चित्र भी ले जाते थे। बरात खूब सज-धज के निकलती थी और उनकी खातिर भी खूब की जाती थी। विवाह मण्डप में होता था, जहां चौक पूरा जाता था। स्त्रियां मंगल गीत गाती थीं। दहेज देने की प्रथा उस समय भी बहुत थी। जिणदत्त को विवाह में इतना अधिक दहेज मिला था कि उनको रखने के लिये स्थान भी नहीं मिला। बारात दिन में ही जीमती थी।

> "भयो विवाह विमल कसु किण्ण, अगनिउ दाम दाइतौ दिण्ण ॥" २६ ॥

हिन्दी* जैन काव्य में समाज-दर्शन

□

डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

जैन समाज, भारतीय समाज का एक प्रमुख अंग है। देश के सभी प्रदेशों में जैन समाज बसा हुआ है तथा अपने सामाजिक रीति-रिवाजों, मान्यताओं एवं परम्पराओं से बंधा हुआ है। अहिंसा-दर्शन जैन समाज का मूल आधार है इसलिए इसके रीति-रिवाजों, खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल सभी में हिंसा को कहीं स्थान नहीं है। सामाजिक दृष्टि से अभी जैन समाज का बहुत कम अध्ययन हुआ है और उसे वणिक-समाज समझ कर सामाजिक इतिहास में यथेष्ट स्थान प्राप्त नहीं हो सका है। विगत हजारों वर्षों से जैन समाज भारतीय समाज को प्रभावित किया हुआ है। जैनाचार्यों, विद्वानों, कवियों सभी ने अपनी कृतियों में जहां भी समाज की किसी गतिविधि के वर्णन का प्रसंग आया है, उसे अच्छा स्थान दिया है। इसलिए प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी—सभी भाषाओं के काव्यों में समाज का अच्छा दर्शन होता है।

प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश के समान हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का भी विपुल साहित्य मिलता है लेकिन उसकी इस विपुलता को वे ही विद्वान् समझ सकते हैं जिन्होंने जैन शास्त्र-भण्डारों में संगृहीत पाण्डुलिपियों को देखा हो और उनके अन्दर तक प्रवेश किया हो। जैन कवियों ने हिन्दी की सबसे अधिक एवं सबसे लम्बे समय से सेवा की है। उसमें वे अबाध गति से साहित्य-निर्माण करते रहे हैं। लेकिन न तो इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला है और न विश्वविद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में वह आ पाया है। इतना अवश्य है कि हिन्दी-जगत् के प्रख्यात मनीषियों का ध्यान अब इस साहित्य की ओर जाने लगा है।

यह प्रसन्नता की बात है कि जयपुर में समग्र हिन्दी जैन साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने एवं उसे बीस भागों में प्रकाशित करने के लिए श्री महावीर ग्रंथ अकादमी की स्थापना के पश्चात्, हिन्दी का विपुल जैन साहित्य प्रकाश में आया है और ब्रह्म रायमल्ल, बूचराज, छीहल, ठक्कुरसी ब्रह्म जिनदास, भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमदचन्द, आचार्य सोमकीर्ति, ब्रह्म यशोधरा, बुलाखीचन्द, बुलाकीराय, हेमराज,

*'जैनधर्म और समाज' विषय पर राज. विश्वविद्यालय, जयपुर द्वारा आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में पठित।

बाई अजीतमति, धनपाल, भट्टारक महेन्द्रकीर्ति, देवेन्द्र जैसे पचास से अधिक अर्चचित अथवा अल्पर्चचित कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है।

वैसे तो हिन्दी जैन साहित्य में सभी विषयों का वर्णन मिलता है, काव्यों के नायक एवं नायिकाओं के अतिरिक्त दूसरे पात्रों का जीवन चरित्र मिलता है। दर्शन एवं धर्म पर चर्चा रहती है। श्रावकों के आचार पर वर्णन होता है, इसके साथ ही ग्राम, नगर, वन, तड़ाग, बाग, पर्वत, पशु-पक्षी आदि सभी का अच्छा वर्णन मिलता है। पेड़-पौधों, पुष्प एवं लताओं तथा अन्य प्राकृतिक सौन्दर्य का भी उनमें वर्णन रहता है। नायक एवं प्रतिनायक में होने वाले युद्धों एवं उनमें प्रयोग किये जाने वाले अस्त्र-शस्त्रों का एवं साथ में युद्ध की विभीषिकाओं का भी यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। यही नहीं तत्कालीन राजाओं, शासकों एवं उनके राजशासन के बारे में थोड़ा-बहुत उल्लेख अवश्य मिलता है लेकिन इन सबके अतिरिक्त हिन्दी जैन काव्यों में समाज-व्यवस्था रीति-रिवाज, सामाजिक परम्पराएँ, रहन-सहन, खान-पान जैसे सामाजिक विषयों पर भी अच्छी सामग्री उपलब्ध होती है। इसलिए समाज-शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी हिन्दी जैन काव्य, साहित्य के महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र में कुछ ऐसे ही तथ्यों पर प्रकाश डाला जा रहा है:—

'जिणदत्तचरित' सन् १२९७ की रचना है। वह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें जिणदत्त श्रेष्ठी का जीवन-चरित्र वर्णित है, जो ५५३ पत्रों में पूर्ण होता है। इसके कवि जेसवाल जाति के शासक थे। इस काव्य के अध्ययन से सामाजिक रीति-रिवाजों का अच्छा परिचय मिलता है। जन्म, मृत्यु एवं विवाह—इन तीन जीवन की घटनाओं में से कवि ने जन्म एवं विवाह पर अच्छा प्रकाश डाला है। तेरहवीं शताब्दी में पुत्र-जन्म पर बड़े-बड़े उत्सव आयोजित किये जाते थे। घरों में बधावा (मंगल गीत) गाये जाते थे। सब का सुपारी एवं पान से स्वागत किया जाता था। सेठ जिणदत्त का जब जन्म हुआ तो उसके पिता ने दो करोड़ मुद्राओं का दान किया।

> जीव देव घरी नन्दण भयेउ, घर-घर कुटुम्ब बधाऊ गयउ।
> गावहि गीतु नाइका सउकु, चउरी पूरिउ मोतिन्ह चउकु।
> देहि तंबोल त फोफल पान, दीठो चीर परोसे पाण।
> पूत बधाए नाही खोरि, दीने सेठि दामा दुइ कोडि ॥ ६२ ॥

विवाह सम्बन्ध करने के लिए पिता के स्थान पर ब्राह्मण आया करते थे और वे ही सम्बन्ध पक्का कर दिया करते थे। वे कभी-कभी अपने साथ लड़के-लड़की का चित्र भी ले जाते थे। बरात खूब सज-धज के निकलती थी और उनकी खातिर भी खूब की जाती थी। विवाह मण्डप में होता था, जहां चौक पूरा जाता था। स्त्रियां मंगल गीत गाती थीं। दहेज देने की प्रथा उस समय भी बहुत थी। जिणदत्त को विवाह में इतना अधिक दहेज मिला था कि उनको रखने के लिये स्थान भी नहीं मिला। बारात दिन में ही जीमती थी।

> "भयो विवाह विमल कसु किण्ण, अगनिउ दाम दाइजौ दिण्ण ॥" २६ ॥

समाज में बहु विवाह की प्रथा थी। बड़े-बड़े, सेठ, व्यापारी एवं धनाढ्य व्यक्ति चार-पांच विवाह कर लेते थे और समाज में उनके सम्मान में कोई कमी नहीं आती थी। जिणदत्त ने चार विवाह किए तब भी उसका भारी स्वागत हुआ। जाति-प्रथा का जोर कम था। जिणदत्त का विवाह अपनी जाति तक ही सीमित न रहकर अन्य जाति में भी हुआ था।

समाज में जुआ खेलने की प्रथा थी। नगर में जुआ के बड़े-बड़े केन्द्र होते थे, जहां भोले-भाले नौसीखिए फंस जाया करते थे। जिणदत्त भी एक बार ग्यारह करोड़ का दांव हार गया था। हारे हुए पैसे को दिये बिना जुआरियों से मुक्ति मिलनी सम्भव नहीं थी।

खेलात भई जिणदत्तहि हारि, जुवारिन्हु जीति पच्चारि।
भणई रल्ह हम नांही खोडि, हारिउ दव्वु एगारह कोडि ॥ ३० ॥

सोलहवीं शताब्दी में होने वाले छीहल कवि ने अपने 'पंचसहेली गीत' में तत्कालीन समाज का अच्छा चित्रण किया है। उसमें पांच सहेलियों की वार्ता के माध्यम से बतलाने का प्रत्यन किया है कि उस समय अधिकांश युवक दूसरे नगरों एवं प्रदेशों में अर्थोपार्जन के लिये जाया करते थे। उनके अभाव में घर-गृहस्थी की क्या हालत होती थी। विदेश में जाने के पश्चात् वे बहुत लम्बे समय के पश्चात् देश लौटते थे। ये पांच सहेलियां हैं—मालिन, तम्बोलिन, छीपन, कलालिन एवं सुनारिन। जो सभी नव-युवतियाँ एवं नवविवाहिता हैं। कविकर ठक्करजी ने सम्वत् १५८० में रचित अपने कृपण-छन्द में एक कंजूस की बहुत ही सुन्दर कहानी प्रस्तुत की है, जो चम्पावती (चाकसू) का निवासी था। उसकी पत्नी जितनी दानशीला, धर्मात्मा एवं विनयी थी, उसका पति उतना ही कृपण था। ना वह स्वयं खर्च करता और ना अपनी पत्नी को खर्च करने देता। कृपण समाज से बहिष्कृत-सा रहता। ना वह गोठ (जीमन) करता, न मन्दिर जाता। कोई उससे जब कभी उधार मांगने आता तो घर में छिप जाता अथवा गाली से बात करता। एक बार जब चाकसू के निवासियों ने यात्रा-संघ निकाला और सकुशल वापस आने पर जीमनवार किया तो कंजूस की दशा बहुत खराब हो गई। कृपण की पूरी कहानी बहुत ही रोमांचक है जिसमें तत्कालीन समाज का अच्छा चित्र मिलता है।

महाकवि बनारसीदास का अर्द्धकथानक[3] तो १७वीं शताब्दी के समाज का मानो चलता-फिरता इतिहास ही हो। अर्द्धकथानक साधारण भारतीय जीवन का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित करता है। कवि ने पूरे वर्णन में ना तो अपनी ओर से कुछ जोड़ा है और ना घटाया है किन्तु यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। अकबर, जहांगीर एवं शाहजहां—तीनों बादशाहों का कवि ने शासन देखा था। तत्कालीन समाज धन-सम्पन्न था। भूखे व मंगते फकीरों का कहीं चित्र नहीं मिलता। पचपन वर्ष में केवल एक बार अकाल पड़ा। जहांगीर के शासन में केवल एक बार महामारी फैली लेकिन वहम एवं अन्ध-विश्वासों की उस समय भी कोई कमी नहीं थी। रोहतक की सती उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थी। दूर-दूर के लोग अपनी मान्यता लेकर आते थे। जब बनारसीदास के पिता वहां की यात्रा करने गये तो रास्ते में ही चोरों ने लूट लिया।

सैंतीसे संवत की बात, रूहतग गये सती की जात।
चोरन्ह लूटि लियो पथ मांहि, सर्वस गयो रह्यो कछु नांहि ॥७८॥

उस समय कोड़ियों से लेन-देन होता था। जो व्यक्ति एक टका अथवा दो टका कमा लेता वह अपने आपको सुखी मान लेता था। बनारसी दास ने भी आरम्भ में जब व्यापार करना प्रारम्भ किया तो इसी तरह कोड़ियों का लेन-देन करने लगे।

बनारसी बालक धरि रह्यौ, कोड़ी बेच वनिज तिन गह्यौ ।। ३४ ।।

बनारसी दास के समय में ना आजकल जैसे अस्पताल थे और ना बीमारियों का पूरा इलाज ही होता था। इसलिए कवि के नौ बालक पैदा हुए उनमें से एक भी जिन्दा नहीं रह सका।

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोय
ज्यों तरवर पतझर हुवे, रहे ठूठ-से होइ ।।

१७-१८ वीं शताब्दी में होने वाले कवि बुलाकीचन्द ने अपने कोश में जैसवाल एवं अग्रवाल जैन जातियों की उत्पत्ति का इतिहास एवं दोनों समाजों का अच्छा वर्णन दिया है। इसी के साथ महारकीय परम्परा के काष्ठासंघ की उत्पत्ति एवं उसकी मान्यताओं का भी अच्छा परिचय दिया है, जिसमें समाज-दर्शन के कितने ही नए तथ्य सामने आते हैं।

सम्वत् १६३८ में होने वाले देवेन्द्र कवि ने अपने पत्रोधरराय में तत्कालीन समाज के रीति-रिवाजों का एवं विशेषतया विवाह-प्रथा का बहुत अच्छा चित्र उपस्थित किया है। विवाह के पूर्व कंकोली (निमन्त्रण पत्र) लिखना, संगीत के साथ विभिन्न उत्सवों का आयोजन, प्रति-दिन कहीं न कहीं जीमनवार होना, विवाह-मण्डप में सहापर्दा होना, कन्यादान पेहरानवी आदि सभी आयोजनों का वर्णन मिलता है जिसमें तत्कालीन समाज एवं उसकी परम्पराओं की जानकारी मिलती है। इसी तरह सम्वत् १७११ में रचित हिन्दी पद्मपुराण में भी पुत्र-जन्म, विवाह, ज्योणार, जनवासा, आगूणी, बरात एवं विभिन्न प्रकार के सामाजिक समारोहों में पकवानों का जो वर्णन किया गया है वह भी सामाजिक इतिहास एवं मान्यताओं के लिए महत्वपूर्ण है।

१८ वीं शताब्दी में रचित बुद्धि-विवाद[५] में जयपुर नगर एवं यहां के समाज का जीता-जागता परिचय मिलता है। इसी तरह भाग्रापमण्य की रहस्यपूर्ण[६] चिट्ठी तथा इन्द्र-ध्वज[७] विधान-पत्रिका आदि भी सामाजिक तथ्यों के संकलन के लिए उत्तम रचनाएं हैं।

अन्त में मेरा यही निवेदन है कि जैन साहित्य में जो सामाजिक दर्शन के तथ्य एवं वर्णन हैं, वे समाजशास्त्र के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री-युक्त हैं और उन सब का अध्ययन आवश्यक है।

—०—०—

५. बुद्धिविवाद-प्रकाशक राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर वर्ष १९६४
६-७. देखिए वीरवाणी का टोडरमल विशेषांक

समाज में बहु विवाह की प्रथा थी। बड़े-बड़े, सेठ, व्यापारी एवं धनाढ्य व्यक्ति चार-पांच विवाह कर लेते थे और समाज में उनके सम्मान में कोई कमी नहीं आती थी। जिणदत्त ने चार विवाह किए तब भी उसका भारी स्वागत हुआ। जाति-प्रथा का जोर कम था। जिणदत्त का विवाह अपनी जाति तक ही सीमित न रहकर अन्य जाति में भी हुआ था।

समाज में जुआ खेलने की प्रथा थी। नगर में जुआ के बड़े-बड़े केन्द्र होते थे, जहां भोले-भाले नौसीखिए फंस जाया करते थे। जिणदत्त भी एक बार ग्यारह करोड़ का दांव हार गया था। हारे हुए पैसे को दिये बिना जुआरियों से मुक्ति मिलनी सम्भव नहीं थी।

खेलात भई जिणदत्तहि हारि, जुवारिन्हु जीति पच्चारि।
भणई रल्ह हम नांही खोडि, हारिउ दव्वु एगारह कोडि ॥ ३० ॥

सौलहवीं शताब्दी में होने वाले छीहल कवि ने अपने 'पंचसहेली गीत' में तत्कालीन समाज का अच्छा चित्रण किया है। उसमें पांच सहेलियों की वार्ता के माध्यम से बतलाने का प्रत्यन किया है कि उस समय अधिकांश युवक दूसरे नगरों एवं प्रदेशों में अर्थोपार्जन के लिये जाया करते थे। उनके अभाव में घर-गृहस्थी की क्या हालत होती थी। विदेश में जाने के पश्चात् वे बहुत लम्बे समय के पश्चात् देश लौटते थे। ये पांच सहेलियां हैं—मालिन, तम्बोलिन, छीपन, कलालिन एवं सुनारिन। जो सभी नवयुवतियाँ एवं नवविवाहिता हैं। कविकर ठक्करजी ने सम्वत् १५८० में रचित अपने कृपण-छन्द में एक कंजूस की बहुत ही सुन्दर कहानी प्रस्तुत की है, जो चम्पावती (चाकसू) का निवासी था। उसकी पत्नी जितनी दानशीला, धर्मात्मा एवं विनयी थी, उसका पति उतना ही कृपण था। ना वह स्वयं खर्च करता और ना अपनी पत्नी को खर्च करने देता। कृपण समाज से बहिष्कृत-सा रहता। ना वह गोठ (जीमन) करता, न मन्दिर जाता। कोई उससे जब कभी उधार मांगने आता तो घर में छिप जाता अथवा गाली से बात करता। एक बार जब चाकसू के निवासियों ने यात्रा-संघ निकाला और सकुशल वापस आने पर जीमनवार किया तो कंजूस की दशा बहुत खराब हो गई। कृपण की पूरी कहानी बहुत ही रोमांचक है जिसमें तत्कालीन समाज का अच्छा चित्र मिलता है।

महाकवि बनारसीदास का अर्द्धकथानक[3] तो १७वीं शताब्दी के समाज का मानो चलता-फिरता इतिहास ही हो। अर्द्धकथानक साधारण भारतीय जीवन का दृश्य ज्यों का त्यों उपस्थित करता है। कवि ने पूरे वर्णन में ना तो अपनी ओर से कुछ जोड़ा है और ना घटाया है किन्तु यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। अकबर, जहांगीर एवं शाहजहां—तीनों बादशाहों का कवि ने शासन देखा था। तत्कालीन समाज धन-सम्पन्न था। भूखे व मंगते फकीरों का कहीं चित्र नहीं मिलता। पचपन वर्ष में केवल एक बार अकाल पड़ा। जहांगीर के शासन में केवल एक बार महामारी फैली लेकिन वहम एवं अन्धविश्वासों की उस समय भी कोई कमी नहीं थी। रोहतक की सती उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थी। दूर-दूर के लोग अपनी मान्यता लेकर आते थे। जब बनारसीदास के पिता वहां की यात्रा करने गये तो रास्ते में ही चोरों ने लूट लिया।

सैंतीसे संवत की बात, रूहतग गये सती की जात।
चोरन्ह लूटि लियो पथ मांहि, सर्वस गयो रह्यो कछु नांहि ॥७८॥

उस समय कोड़ियों से लेन-देन होता था। जो व्यक्ति एक टका अथवा दो टका कमा लेता वह अपने आपको सुखी मान लेता था। बनारसी दास ने भी आरम्भ में जब व्यापार करना प्रारम्भ किया तो इसी तरह कोड़ियों का लेन-देन करने लगे।

बनारसी बालक घरि रह्यौ, कोड़ी वेच वनिज तिन गह्यौ ॥ ३४ ॥

बनारसी दास के समय में ना आजकल जैसे अस्पताल थे और ना बीमारियों का पूरा इलाज ही होता था। इसलिए कवि के नौ बालक पैदा हुए उनमें से एक भी जिन्दा नहीं रह सका।

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोय
ज्यों तरवर पतझर हुवे, रहे ठूठ-से होइ ॥

१७-१८ वीं शताब्दी में होने वाले कवि बुलाकीचन्द ने अपने कोश में जैसवाल एवं अग्रवाल जैन जातियों की उत्पत्ति का इतिहास एवं दोनों समाजों का अच्छा वर्णन दिया है। इसी के साथ महारकीय परम्परा के काष्ठासंघ की उत्पत्ति एवं उसकी मान्यताओं का भी अच्छा परिचय दिया है, जिसमें समाज-दर्शन के कितने ही नए तथ्य सामने आते हैं।

सम्वत् १६३८ में होने वाले देवेन्द्र कवि ने अपने पत्रोवरराय में तत्कालीन समाज के रीति-रिवाजों का एवं विशेषतया विवाह-प्रथा का बहुत अच्छा चित्र उपस्थित किया है। विवाह के पूर्व कंकोली (निमन्त्रण पत्र) लिखना, संगीत के साथ विभिन्न उत्सवों का आयोजन, प्रति-दिन कहीं न कहीं जीमनवार होना, विवाह-मण्डप में सहापर्दा होना, कन्यादान पेहरानवी आदि सभी आयोजनों का वर्णन मिलता है जिसमें तत्कालीन समाज एवं उसकी परम्पराओं की जानकारी मिलती है। इसी तरह सम्वत् १७११ में रचित हिन्दी पद्मपुराण में भी पुत्र-जन्म, विवाह, ज्यौणार, जनवासा, आगूणी, बरात एवं विभिन्न प्रकार के सामाजिक समारोहों में पकवानों का जो वर्णन किया गया है वह भी सामाजिक इतिहास एवं मान्यताओं के लिए महत्वपूर्ण है।

१८ वीं शताब्दी में रचित बुद्धि-विवाद[5] में जयपुर नगर एवं यहां के समाज का जीता-जागता परिचय मिलता है। इसी तरह भाग्रापमण्य की रहस्यपूर्ण[6] चिट्ठी तथा इन्द्र-ध्वज[7] विधान-पत्रिका आदि भी सामाजिक तथ्यों के संकलन के लिए उत्तम रचनाएं हैं।

अन्त में मेरा यही निवेदन है कि जैन साहित्य में जो सामाजिक दर्शन के तथ्य एवं वर्णन हैं, वे समाजशास्त्र के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण सामग्री-युक्त हैं और उन सब का अध्ययन आवश्यक है।

—o—o—

५. बुद्धिविवाद-प्रकाशक राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर वर्ष १९६४
६-७. देखिए वीरवाणी का टोडरमल विशेषांक

जैनाचार्यों का संस्कृत-व्याकरण को योगदान

डॉ. प्रभाकुमारी

संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थों की परम्परा का सर्वेक्षण करने पर विदित होता है कि ५ वीं शताब्दी ई० (पूज्यपाद देवनन्दी) से लेकर २० वीं शताब्दी ई. (मुनि चौथमल्ल जी) तक निर्बाध रूप से जैन-व्याकरण-ग्रन्थों की रचना होती रही। पाणिनि के अनन्तर विभिन्न मतावलम्बी अनेक वैयाकरण हुए, जिन्होंने अपने समय की भाषा में आए नवीन प्रयोगों को मान्यता प्रदान करने हेतु तथा अपने देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप, ब्राह्मणत्व के प्रभाव से मुक्त, सरल-स्पष्ट एवं संक्षिप्त व्याकरण-विषयक (स्वरचित) नियमों के प्रस्तुतीकरण हेतु, संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में अनुपम कृतियों की रचना की, जिनमें से कुछ ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं तथा कुछ का केवल नामोल्लेख मात्र ही मिलता है। पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों में जैन विद्वानों की प्रधानता रही है। जैन आचार्यों द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थों का अपना वैशिष्ट्य है। ये व्याकरण-ग्रन्थ अपने देश-काल की परिधि में सुप्रचलित रहे तथा उनके महत्त्व को समझते हुए परवर्ती विद्वानों ने उन पर टीकाएं एवं अनेक प्रक्रिया-ग्रन्थ लिखे। प्रस्तुत टीकाओं की संख्या को दृष्टि में रखते हुए उपर्युक्त ग्रन्थों की प्रसिद्धि सहज ही अनुमेय है।

यद्यपि जैन आचार्यो द्वारा रचित सभी व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते, तथापि अनेक ग्रन्थों एवं कोशों में व्याकरण-ग्रन्थों के उल्लेख से यह स्वीकार किया जा सकता है कि उक्त व्याकरण-ग्रन्थ अपने समय में पर्याप्त लोकप्रिय रहे।

जैन आचार्यों द्वारा रचित प्रमुख व्याकरण-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. पूज्यपाद देवनन्दी-विरचित जैनेन्द्र-व्याकरण (५ वीं शताब्दी ई०)

पूज्यपाद देवनन्दी ने अष्टाध्यायी के आधार पर जैनेन्द्र-व्याकरण की रचना की। इस व्याकरण-ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं। इन २० पादों में कुल ३०६३ सूत्र हैं। इस व्याकरण-ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के सूत्रों की रक्षा करने का सफल प्रयत्न किया गया है। यह ग्रन्थ प्रत्याहार सूत्रों पर आधारित है। एकशेष-प्रकरण का अभाव होने के कारण इस ग्रंथ को अनेकशेष-व्याकरण भी कहा जाता है।[1] इस ग्रन्थ में अल्पाक्षरी संज्ञाओं का बाहुल्य है।

१. देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्, जैनेन्द्रमहावृत्ति, १/४/९७, सम्पा. शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६

२. अभिनव शाकटायन-कृत शाकटायन-व्याकरण (९वीं शताब्दी ई.)

जैन (अभिनव) शाकटायन द्वारा रचित शाकटायन-व्याकरण एक प्रक्रिया-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ४ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं। इन १६ पादों में कुल ३२३६ सूत्र हैं। इस ग्रन्थ में भी प्रत्याहार सूत्रों का ही आश्रय लिया गया है।

३. आचार्य हेमचन्द्र-कृत सिद्धहैमशब्दानुशासन (१२वीं शताब्दी ई.)

हेमचन्द्र द्वारा रचित इस व्याकरण-ग्रन्थ में सूत्र-क्रम प्रकरणानुसारी है। यह व्याकरण-ग्रन्थ ८ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं। इस ग्रन्थ में कुल ४६८५ सूत्र हैं। प्रथम ७ अध्यायों में (३५६६ सूत्रों में) संस्कृत भाषा का व्याकरण है तथा ८वां अध्याय (१११९ सूत्र) प्राकृत-भाषा से सम्बद्ध है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में लोक-प्रसिद्ध वर्ण-क्रम को अपनाया गया है।

४. आचार्य-मलयगिरि रचित मलयगिरि-शब्दानुशासन (१२वीं शताब्दी ई.)

मलयगिरि द्वारा रचित यह शब्दानुशासन ३६ पादों में विभक्त है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में सूत्र-व्यवस्था प्रकरणानुसारी है। इस ग्रन्थ में कुल २३४७ सूत्र हैं। ये सूत्र सरल एवं स्पष्ट हैं। इस ग्रन्थ में भी लोक-प्रसिद्ध वर्ण-क्रम का ही आश्रय लिया गया है।

सभी संस्कृत-व्याकरण-ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि प्रायः सभी जैन वैयाकरण किसी न किसी रूप में पाणिनि से प्रभावित रहे हैं। पूज्यपाद देवनन्दी-कृत जैनेन्द्र-व्याकरण पर तो अष्टाध्यायी का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दोनों व्याकरण-ग्रन्थों में सूत्र-व्यवस्था समान है तथा सूत्रों में भी स्थान-स्थान पर पर्याप्त साम्य है।[1] किन्तु व्याकरण-विषयक पारिभाषिक संज्ञाओं के संदर्भ में बीजाक्षरी संज्ञाओं की दृष्टि से जैनेन्द्र व्याकरण में मौलिकता है। जैनेन्द्र-व्याकरण की कतिपय संज्ञाएँ एकाक्षरी तथा बीजगणितीय है। पूज्यपाद देवनन्दी ने 'अपृक्त' एवं 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञाओं को अनावश्यक जानकर जैनेन्द्र-व्याकरण में स्थान नहीं दिया है।

१. जैनेन्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त नवीन संज्ञाएँ

पूज्यपाद देवनन्दी ने व्याकरण का मौलिक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए अपने से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रंथों में विद्यमान अधिकांश संज्ञाओं के स्थान पर भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

जै. व्या.	अष्टाध्यायी
१. अग २/४/९४	आर्धधातुक ३/४/११४
२. एप् १/१/१६	गुण १/१/२
३. गि १/२/१३०	उपसर्ग १/४/५९
४. त १/१/२८	निष्ठा १/१/२६
५. स्फ १/१/३	संयोग १/१/७

१. ऋत्यकः, जैनेन्द्र-व्याकरण ४/३/१०५; अष्टाध्यायी ६/१/१२८
एङि पररूपम्, वही, ४/३/८१; वही ६/१/९४
एचोऽयवायावः, वही, ४/३/६६; वही ६/१/७८

२. पाणिनीय संज्ञाओं के संक्षिप्त रूप

जैनेन्द्र-व्याकरण में उपलब्ध कुछ संज्ञाएँ तो बिल्कुल अष्टाध्यायी की संज्ञाओं के संक्षिप्त रूप प्रतीत होती हैं। पाणिनीय संज्ञाओं के आदि, मध्य तथा अन्तिम भाग को हटाकर नवीन संज्ञाओं का निर्माण किया गया है। कुछ उदाहरण निम्न निर्दिष्ट हैं—

जै. व्या.	अष्टाध्यायी
१. त्य २/१/१	प्रत्यय ३/१/१
२. य १/३/४४	कर्मधारय १/२/४२
३. दी १/१/११	दीर्घ १/२/२७
४. धु १/२/१	धातु १/३/१
५. ब १/३/८६	बहुव्रीहि २/२/२३

३. 'विभक्ती' शब्द का विभाजन करके प्राप्त संज्ञाएँ

जैनेन्द्र-व्याकरण में ईकारान्त 'विभक्ती' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन इप् (द्वितीया) एवं ईप् (सप्तमी) संज्ञाओं में भिन्नता लाना है 'विभक्ती' शब्द के स्वर एवं व्यंजनों को पृथक्-पृथक् करके 'तासामाप्परास्तद्धलच'[1] सूत्र के आधार पर स्वरों के आगे 'प्' तथा व्यंजनों के आगे 'आ' लगाकर प्रथमा आदि विभक्तियों की नवीन संज्ञाएं प्रस्तुत करना पूज्यपाद देवनन्दी की विलक्षणता है। संस्कृत भाषा के किसी भी वैयाकरण ने इस प्रकार से 'विभक्ती' शब्द के आधार पर प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम नहीं दिए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उत्कृष्ट देन है।

जै. व्या.	अष्टाध्यायी
१. वा १/२/१५८	प्रथमा २/३/४६
२. इप् १/२/१५८	द्वितीया २/३/२
३. भा १/२/१५८	तृतीया २/३/१८
४. अप् १/२/१५८	चतुर्थी २/३/१३
५. का १/२/१५८	पंचमी २/३/२८

शाकटायन-व्याकरण, सूत्र-व्यवस्था की दृष्टि से कातन्त्र-व्याकरण से प्रभावित है एवं कातन्त्र-व्याकरण के समान सिद्धहैमशब्दानुशासन में भी प्रकरणानुसारी सूत्र-व्यवस्था है, परन्तु विषय-सामग्री को अध्यायों और पादों में विभक्त करने की मूल योजना में हेमचन्द्र पाणिनि से प्रभावित हैं। सिद्धहैमशब्दानुशासन के सूत्रों पर शाकटायन-व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव दर्शनीय है। संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र का योगदान चिरस्मरणीय है। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टि एवं भट्टोजी दीक्षित—तीनों आचार्यों के कार्य को अकेले ही किया है। यद्यपि जैन-वैयाकरणों ने अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों के व्याकरण-ग्रन्थों से प्रचुर विषय-सामग्री का ग्रहण किया है, तथापि मौलिक कल्पनाओं के

1. जै. व्या. १/२/१५८

आधार पर उसे परिवर्तित एवं नवीन उद्भावनाओं से समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए शाकटायन ने मौलिकता दिखाने के दृष्टिकोण से अष्टाध्यायी, चान्द्र-व्याकरण एवं जैनेन्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त लोट् लकार को ही लेट् लकार की संज्ञा से अभिहित किया है।[1]

सभी जैन-व्याकरण-ग्रंथों की सामान्य विशेषता यह है कि इन व्याकरण-ग्रंथों में कातन्त्र-व्याकरण के समान वैदिक-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों का अभाव रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण पाठकों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए जैन वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट व्याकरण-ग्रंथों की रचना की। प्रकृत व्याकरण-ग्रंथों में शब्दसिद्धि की प्रक्रिया में सरलता, संक्षिप्तता तथा स्पष्टता की दृष्टि से अनेक शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए पूज्यपाद देवनन्दी ने चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः तथा अनड्वाहम् शब्दों की सिद्धि अष्टाध्यायी, कातन्त्र एवं चान्द्र-व्याकरण से भिन्न विधि से की है। 'चतुर्' एवं 'अनडुह्' शब्दों से सर्वनामस्थानप्रत्यय परे रहते पाणिनि[2] तथा चन्द्रगोमी[3] ने आम् आगम का विधान किया है। तत्पश्चात् आम् आगम को अंतिम अच् के पश्चात् ही युक्त करने का नियम है। (चतुर + जस्=चतु आ (म्) र् जस्, अनडुह् + सु औ, जस्, अम्, औट्-अनडु आ (म्) ह्-सु औ इत्यादि) उसके पश्चात् ही उपर्युक्त शब्दों के 'उ' को यणादेश करके (चत् व् आ र् जस्, अनड् वा ह्-सु औ.......) चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः तथा अनड्वाहम् रूपों की सिद्धि की गई है। शर्ववर्मा ने चत्वार् एवं अनड्वाह शब्दों का ही ग्रहण किया है।[4] जैनेन्द्र-व्याकरण में स्वर-संबंधी नियमों का अभाव होने के कारण पूज्यपाद देवनंदी ने उदात्त 'आम्' का परित्याग कर दिया है तथा चतुर् एवं अनडुह् के उ के स्थान पर 'घ' (सर्वनाम स्थान) परे रहते 'वा' आदेश करके (चत् वा र् जस्, अनड्वाह्-सु औ... ...) उपर्युक्त रूपों की सिद्धि की है।[5] इस प्रकार उपर्युक्त रूपों की सिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी ने तीन सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र से ही कार्य चलाकर सरलता लाने का प्रयास किया है। प्रक्रिया में सरलता एवं संक्षेप की दृष्टि से सुबन्त प्रकरण में यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उपलब्धि मानी जाएगी।

√ब्रू धातु के लट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन के वैकल्पिक क्रिया रूप 'आत्थ' की सिद्धि में पाणिनि[6] एवं पूज्यपाद देवनन्दी[7] ने √ब्रू धातु को परस्मैपद में आह् आदेश तथा सिप् को (अष्टा. में) थल् अथवा (जै० व्या० में) थ आदेश करके (आह्+थ) सर्वप्रथम हकार को थ (आथ+थ) तथा 'थ्' को 'त्' आदेश किया है (आत्+थ=आत्थ)। कातन्त्र व्याकरण की (दुर्गसिंहकृत) वृत्ति में 'आत्थ' रूप

१. शाकटायन व्याकरण, ४/४/१२६
२. चतुरनडुहोरामुदात्तः, मिदचोऽन्त्यात्परः, इको यणचि; अष्टा. ७/१/९८, १/१/४७, ६/१/७७
३. चतुरनडुहोराम्, मिदचोऽन्त्यात् परः, इको यणचि, चान्द्र व्याकरण, ५/४/५०, १/१/१४, ५/१/७४
४. चतुरो वा शब्दस्योत्वम्, अनडुहश्च, कातन्त्र व्याकरण, चतुष्टय प्रकरण ११८, ११९, सम्पा. गुरुनाथ विद्यानिधिभट्टाचार्य, कलकत्ता बङ्गाब्द, १३१६
५. चतुरनडुहोर्वा, जै० व्या० ५/१/७२
६. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः, आहस्थः, खरि च, अष्टा० ३/४/८४, ८/२/३५, ८/४/५५
७. ब्रुव आहश्च, आहस्थः, खरि, जै० व्या० २/४/७०, ५/३/५२, ५/४/१३०

२. पाणिनीय संज्ञाओं के संक्षिप्त रूप

जैनेन्द्र-व्याकरण में उपलब्ध कुछ संज्ञाएँ तो बिल्कुल अष्टाध्यायी की संज्ञाओं के संक्षिप्त रूप प्रतीत होती हैं। पाणिनीय संज्ञाओं के आदि, मध्य तथा अन्तिम भाग को हटाकर नवीन संज्ञाओं का निर्माण किया गया है। कुछ उदाहरण निम्न निर्दिष्ट हैं—

जै. व्या.	अष्टाध्यायी
१. त्य २/१/१	प्रत्यय ३/१/१
२. य १/३/४४	कर्मधारय १/२/४२
३. दी १/१/११	दीर्घ १/२/२७
४. धु १/२/१	धातु १/३/१
५. ब १/३/८६	बहुव्रीहि २/२/२३

३. 'विभक्ती' शब्द का विभाजन करके प्राप्त संज्ञाएँ

जैनेन्द्र-व्याकरण में ईकारान्त 'विभक्ती' शब्द के प्रयोग का प्रयोजन इप् (द्वितीया) एवं ईप् (सप्तमी) संज्ञाओं में भिन्नता लाना है 'विभक्ती' शब्द के स्वर एवं व्यंजनों को पृथक्-पृथक् करके 'तासामाप्परास्तद्घलच'[1] सूत्र के आधार पर स्वरों के आगे 'प्' तथा व्यंजनों के आगे 'आ' लगाकर प्रथमा आदि विभक्तियों की नवीन संज्ञाएं प्रस्तुत करना पूज्यपाद देवनन्दी की विलक्षणता है। संस्कृत भाषा के किसी भी वैयाकरण ने इस प्रकार से 'विभक्ती' शब्द के आधार पर प्रथमा आदि विभक्तियों के नाम नहीं दिए हैं। व्याकरण के क्षेत्र में यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उत्कृष्ट देन है।

जै. व्या.	अष्टाध्यायी
१. वा १/२/१५८	प्रथमा २/३/४६
२. इप् १/२/१५८	द्वितीया २/३/२
३. भा १/२/१५८	तृतीया २/३/१८
४. अप् १/२/१५८	चतुर्थी २/३/१३
५. का १/२/१५८	पंचमी २/३/२८

शाकटायन-व्याकरण, सूत्र-व्यवस्था की दृष्टि से कातन्त्र-व्याकरण से प्रभावित है एवं कातन्त्र-व्याकरण के समान सिद्धहैमशब्दानुशासन में भी प्रकरणानुसारी सूत्र-व्यवस्था है, परन्तु विषय-सामग्री को अध्यायों और पादों में विभक्त करने की मूल योजना में हेमचन्द्र पाणिनि से प्रभावित हैं। सिद्धहैमशब्दानुशासन के सूत्रों पर शाकटायन-व्याकरण का सर्वाधिक प्रभाव दर्शनीय है। संस्कृत-व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र का योगदान चिरस्मरणीय है। संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टि एवं भट्टोजी दीक्षित—तीनों आचार्यो के कार्य को अकेले ही किया है। यद्यपि जैन-वैयाकरणों ने अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों के व्याकरण-ग्रन्थों से प्रचुर विषय-सामग्री का ग्रहण किया है, तथापि मौलिक कल्पनाओं के

१. जै. व्या. १/२/१५८

आधार पर उसे परिवर्तित एवं नवीन उद्भावनाओं से समन्वित करके प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए शाकटायन ने मौलिकता दिखाने के दृष्टिकोण से अष्टाध्यायी, चान्द्र-व्याकरण एवं जैनेन्द्र-व्याकरण में प्रयुक्त लोट् लकार को ही लेट् लकार की संज्ञा से अभिहित किया है।[१]

सभी जैन-व्याकरण-ग्रंथों की सामान्य विशेपता यह है कि इन व्याकरण-ग्रंथों में कातन्त्र-व्याकरण के समान वैदिक-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों का अभाव रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि साधारण पाठकों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए जैन वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट व्याकरण-ग्रंथों की रचना की। प्रकृत व्याकरण-ग्रंथों में शब्दसिद्धि की प्रक्रिया में सरलता, संक्षिप्तता तथा स्पष्टता की दृष्टि से अनेक शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए पूज्यपाद देवनन्दी ने चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः तथा अनड्वाहम् शब्दों की सिद्धि अष्टाध्यायी, कातन्त्र एवं चान्द्र-व्याकरण से भिन्न विधि से की है। 'चतुर्' एवं 'अनड्ह्' शब्दों से सर्वनामस्थानप्रत्यय परे रहते पाणिनि[२] तथा चन्द्रगोमी[३] ने आम् आगम का विधान किया है। तत्पश्चात् आम् आगम को अंतिम अच् के पश्चात् ही युक्त करने का नियम है। (चतुर + जस्=चतु आ (म्) र् जस्, अनडुह् + सु औ, जस्, अम्, औट्-अनड् आ (म्) ह्-सु औ इत्यादि) उसके पश्चात् ही उपर्युक्त शब्दों के 'उ' को यणादेश करके (चत् व् आ र् जस्, अनड् वा ह्-सु औ......) चत्वारः, अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः तथा अनड्वाहम् रूपों की सिद्धि की गई है। शर्ववर्मा ने चत्वार् एवं अनड्वाह शब्दों का ही ग्रहण किया है।[४] जैनेन्द्र-व्याकरण में स्वर-संबंधी नियमों का अभाव होने के कारण पूज्यपाद देवनंदी ने उदात्त 'आम्' का परित्याग कर दिया है तथा चतुर् एवं अनडुह् के उ के स्थान पर 'ध' (सर्वनाम स्थान) परे रहते 'वा' आदेश करके (चत् वा र् जस्, अनड्वाह्-सु औ... ...) उपर्युक्त रूपों की सिद्धि की है।[५] इस प्रकार उपर्युक्त रूपों की सिद्धि में पूज्यपाद देवनन्दी ने तीन सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र से ही कार्य चलाकर सरलता लाने का प्रयास किया है। प्रक्रिया में सरलता एवं संक्षेप की दृष्टि से सुवन्त प्रकरण में यह पूज्यपाद देवनन्दी की एक उपलब्धि मानी जाएगी।

√ब्रू धातु के लट् लकार, मध्यम पुरुष, एक वचन के वैकल्पिक क्रिया रूप 'आत्थ' की सिद्धि में पाणिनि[६] एवं पूज्यपाद देवनन्दी[७] ने √ब्रू धातु को परस्मैपद में आह् आदेश तथा सिप् को (अष्टा. में) थल् अथवा (जैं० व्या० में) थ आदेश करके (आह्+थ) सर्वप्रथम हकार को थ (आथ+थ) तथा 'थ्' को 'त्' आदेश किया है (आत्+थ=आत्थ)। कातन्त्र व्याकरण की (दुर्गसिहकृत) वृत्ति में 'आत्थ' रूप

१. शाकटायन व्याकरण, ४/४/१२६
२. चतुरनडुहोरामुदात्तः, मिदचोऽन्त्यात्परः, इको यणचि; अष्टा. ७/१/९८, १/१/४७, ६/१/७७
३. चतुरनडुहोराम्, मिदचोऽन्त्यात् परः, इको यणचि, चान्द्र व्याकरण, ५/४/५०, १/१/१४, ५/१/७४
४. चतुरो वा शब्दस्योत्वम्, अनडुहश्च, कातन्त्र व्याकरण, चतुष्टय प्रकरण ११८, ११९, सम्पा. गुरुनाथ विद्यानिधिभट्टाचार्य, कलकत्ता बङ्गाब्द, १३१६
५. चतुरनडुहोर्वा, जै० व्या० ५/१/७२
६. ब्रुव : पञ्चानामादित आहो ब्रुव :, आहस्थ :, खरि च, अष्टा० ३/४/८४, ८/२/३५, ८/४/५५
७. ब्रुव आहश्च. आहस्थः, खरि, जै० व्या० २/४/७०, ५/३/५२, ५/४/१३०

निपातन से सिद्ध स्वीकृत है ।[1] चन्द्रगोमी ने परस्मैपद में √ब्रू को आह् आदेश तथा सिप् को थल् आदेश करके (आह् + थ)[2] हकार को 'व्' (आघ् + थ)[3] तथा घ् को 'त्' आदेश किया है (आत् + थ)[4] और 'आत्थ' क्रियारूप की सिद्धि की है ।

शाकटायन ने √ब्रू धातु को (परस्मैपद-लट् लकार) आह् आदेश तथा सिप् प्रत्यय को थ आदेश करके (आह् + थ),[5] आह् के हकार को ही तकारादेश किया है । (आह् + थ = आत् + थ)[6] इस प्रकार शाकटायन-व्याकरण में 'आत्थ' क्रिया रूप के निर्माण की प्रक्रिया सरलता एवं संक्षेप की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

इसी प्रकार 'असौ' शब्द रूप की सिद्धि हेमचन्द्र ने संक्षिप्त रूप में की है । 'अदस्' शब्द के प्रथमा विभक्ति एकवचन के 'असौ' शब्द रूप की सिद्धि में अष्टाध्यायी,[7] शाकटायन-व्याकरण[8] एवं सरस्वती-कण्ठाभरण[9] में सर्वप्रथम (अदस् + सु) 'अदस्' शब्द के सकार को 'औ' आदेश तथा 'सु' प्रत्यय के लोप का विधान किया गया है (अद औ) । इसके उपरान्त वृद्धि करके (अदौ) एवं द को स आदेश करके (असौ) 'असौ' रूप की सिद्धि की गई है । कातन्त्र व्याकरण में (अदस् + सि) सर्वप्रथम अदस् शब्द के स् को अ आदेश किया गया है (अद असि)।[10] तदुपरांत अद के अकार का लोप करके (अद् — असि)[11] द को स का विधान किया गया है (अस सि)[12] । अस के अन्त्य अकार को 'औ' आदेश तथा सि का लोप करके (अस् + औ) असौ शब्द रूप की सिद्धि की गई है।[13] चान्द्र-व्याकरण[14] एवं जैनेन्द्र-व्याकरण[15] में असौ शब्द रूप निपातन से सिद्ध स्वीकार किया गया है । हेमचन्द्र ने (अदस् + सि) अदस् शब्द के द को स एवं सि प्रत्यय को डौ आदेश एक ही सूत्र से किया है (असस् + डौ) ।[16] डित् प्रत्यय परे

---

१. कातन्त्र व्याकरण आख्यात प्रकरण ३२६, (दुर्गसिंह कृत) वृ० सम्पा०
 गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य, कलकत्ता, शकाब्द, १८५५,
२. ब्रुवः पञ्चानामादित आह च, चा० व्या० १/४/१३
३. नहाहो धः, वही, ६/३/६५
४. खरि च झलः, वही ६/४/१४८
५. ब्रुवस्तिप्पञ्चतोणशपञ्चत् ब्रुवश्चाहः, शा. व्या. १/४/१०४
६. व्याहः, वही ४/२/८२
७. अदस औ सुलोपश्च, वृद्धिरेचि, तदोः सः सावनन्तययोः,
 अष्टा. ७/२/१०७, ६/१/८८, ७/२/१०६
८. औस्सु लुक्चादसोऽनोः, एजूच्यैच्, दस्सः, शा. व्या. १/२/२१२, १/१/८३, १/२/२१४
९. औ सुलोपश्च, एचि, अदसो दः, सरस्वती कण्ठाभरण, ६/४/७४, ६/१/६८, ६/४/७३
१०. त्यदादीनाम विभक्तौ. का.व्या., च. प्र. १७१
११. अकारे लोपम, वही, १७
१२. सौ सः, वही १७४
१३. सादौ सिलोपश्च, वही, १८२
१४. असावसुकोऽसुकौ, चा. व्या. ५/४/७१
१५. असौ, जै. व्या. ५/१/१६५
१६. अदसो दः सेस्तु डौ, सिद्धहैमशब्दानुशासन, २/१/४३

रहते अन्त्याजादि अंश का लोप करके (अस् + डी = अस् + औ) असौ रूप सिद्ध किया है।[1] इस प्रकार अन्य वैयाकरणों द्वारा तीन अथवा चार सूत्रों की सहायता से सिद्ध किए गए शब्दरूप को हेमचन्द्र ने दो ही सूत्रों से सिद्ध किया है।

जैन वैयाकरणों ने अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरणों की अपेक्षा ऐसे अनेक नवीन शब्दों की भी सिद्धि की है, जो कि अपने समय की आवश्यकता की सिद्धि से महत्त्वपूर्ण थे। उक्त शब्दों का उपर्युक्त वैयाकरणों से पूर्व संस्कृत-ग्रन्थों में प्रयोग तो मिलता है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से ये शब्द पहली बार तत्तत् विशेष वैयाकरण द्वारा ही सिद्ध किए गए हैं। उदाहरणस्वरूप शाकटायन-व्याकरण में लोकापवाद अर्थ में सिद्ध किया गया 'कौलीन' तद्धितान्त शब्द कालिदास के ग्रन्थों में (किमत्र भवत्यो : कर्णपथं नायातं शकुन्तला-प्रत्यादेश-कौलीनं, अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, षष्ठ अंक; भट्टिनी तदेव कौलीनमिव प्रतिभाति, विक्रमोर्वशीयम्, द्वितीय अक; अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते, मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अंक) प्रयुक्त है तथा इसकी अमरकोश में 'स्यात्कौलीनं' लोकवादे (अमरकोश ३/३/११७) इस प्रकार व्याख्या की गई है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से शाकटायन ने ही उक्त शब्द को पहली बार नियमबद्ध किया है (कुलाज्जल्पे, शा. व्या. ३/३/३२)।

शाकटायन-व्याकरण में युषभ्यम्, असभ्यम्, युपद्, असद्, युपाकम् तथा असाकम्[2] नवीन शब्द-रूप सिद्ध किए गए हैं। इसी प्रकार के अन्य नवीन शब्द उत्पदिष्णु (कृदन्त)[3], प्रतिष्णान[4] (कृदन्त), तद्धितान्त उमाव्यासकम्, ऐषकम्[5], अन्तःपुरिका[6], तन्मयी, भवन्मयी,[7] कृपालु[8] भाण्डीरः,[9] शमीरु[10] आदि हैं।

जैनाचार्यो द्वारा रचित व्याकरण-ग्रंथों में जैन धर्म से सम्बंधित तथ्य ही मुख्य रूप से उदाहरणों के आधार रहे हैं[11]। उक्त जैन-व्याकरण-ग्रंथों में प्रयुक्त तद्धित एवं कृत् प्रत्ययों में से कुछ प्रत्यय अनुबन्ध आदि की दृष्टि से अपेक्षाकृत भिन्न है। सभी व्याकरण-ग्रंथों के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैन वैयाकरणों का संस्कृत-व्याकरण को संक्षिप्त, स्पष्ट एवं पूर्ण बनाने में अद्वितीय प्रयास रहा है।

उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त अनेक ऐसे जैन वैयाकरण हुए, जिन्होंने स्वतन्त्र व्याकरण-ग्रंथों की रचना की अथवा किसी जैनेतर या जैन आचार्य द्वारा रचित व्याकरण-ग्रंथ पर टीकाएँ लिखीं। प्रकृत व्याकरण-ग्रंथों की रचना का मुख्य प्रयोजन साधारण पाठकों के लिए सरल एवं संक्षिप्त रूप में

---

१. डित्यन्त्यस्वरादेः, वही, २/१/११४
२. वा, शा. व्या. १/२/१८२
३. शा. व्या., ४/३/२२३
४. ष्णानं नाम्नि, वही, २/२/१५३
५. शा. व्या., ३/१/१०७
६. वही, ३/१/१२८
७. वही, ३/१/६७
८. वही ३/३/१३८
९. वही, ३/३/१३४
१०. वही, ३/४/१०१
११. द्र. शा. व्या., अमोघावृत्ति, १/३/१२७, ३/४/११८, १/२/१३, १/२/१६२ आदि।

व्याकरण के नियमों को प्रस्तुत करना ही रहा था । १३वीं शताब्दी ई० से लेकर २०वीं शताब्दी ई० तक अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें मौलिकता तो न थी, किन्तु वे सरलता-सुबोधता एवं अल्प समय में व्याकरण विषयक ज्ञान कराने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए । ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा की लोकप्रियता को सुरक्षित रखने के लिए तथा संस्कृत व्याकरण-ग्रंथों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रन्थों की रचना होती रही तथा मौलिक संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थों की रक्षा के लिए टीका-टिप्पणियां भी लिखी जाती रहीं । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार संस्कृत भाषा, साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा के हेतु तथा व्याकरण का कार्यकारी ज्ञान कराने के लिए संक्षिप्त एवं सरल व्याकरण-ग्रंथों की रचना की गई ।[1] पं. युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार राजनीतिक परिस्थितियों के कारण प्राचीन ग्रंथों की रक्षा करना आवश्यक हो गया तथा इन्हीं परिस्थितियों में प्राचीन ग्रंथों पर टीका-टिप्पणी लिखने का क्रम प्रचलित रहा तथा संस्कृत भाषा के प्रचार को जीवित-जागृत रखने के लिए तत्कालीन वैयाकरणों द्वारा अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रंथ रचे गए ।[2] कुछ व्याकरण-ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं, बुद्धिसागर व्याकरण, दीपक व्याकरण, प्रेमलाभ व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण, नूतन व्याकरण आदि ।

जैन धर्म के किसी एक सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण उक्त ग्रंथ अपने समय में तो पर्याप्त लोकप्रिय रहे, किन्तु अष्टाध्यायी के समान सार्वभौमिक ख्याति प्राप्त न कर सके तथा संस्कृत-विद्वानों में अष्टाध्यायी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आदर की भावना बनी रही एवं संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी का ही प्रभुत्व रहा । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृत-व्याकरण को समृद्ध बनाने में जैनाचार्यो का योगदान अविस्मरणीय है ।

आर–१/२, पुलिस थाना,
किंग्स वे कैम्प,
दिल्ली-११०००९

१. शास्त्री, महामहोपाध्याय, हरप्रसाद, ए डेस्क्रिप्टिव केटेलग आफ द संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, खण्ड ६, प्राक्कथन, पृ. १११

२. मीमांसक, युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, हरयाणा. वि. सं. २०३०. पृ. ६२४. ६२५

व्याकरण के नियमों को प्रस्तुत करना ही रहा था। १३वीं शताब्दी ई० से लेकर २०वीं शताब्दी ई० तक अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें मौलिकता तो न थी, किन्तु वे सरलता-सुबोधता एवं अल्प समय में व्याकरण विषयक ज्ञान कराने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा की लोकप्रियता को सुरक्षित रखने के लिए तथा संस्कृत व्याकरण-ग्रंथों की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रन्थों की रचना होती रही तथा मौलिक संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थों की रक्षा के लिए टीका-टिप्पणियां भी लिखी जाती रहीं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार संस्कृत भाषा, साहित्य एवं संस्कृति की रक्षा के हेतु तथा व्याकरण का कार्यकारी ज्ञान कराने के लिए संक्षिप्त एवं सरल व्याकरण-ग्रंथों की रचना की गई।[1] पं. युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार राजनीतिक परिस्थितियों के कारण प्राचीन ग्रंथों की रक्षा करना आवश्यक हो गया तथा इन्हीं परिस्थितियों में प्राचीन ग्रंथों पर टीका-टिप्पणी लिखने का क्रम प्रचलित रहा तथा संस्कृत भाषा के प्रचार को जीवित-जागृत रखने के लिए तत्कालीन वैयाकरणों द्वारा अनेक छोटे-छोटे व्याकरण-ग्रंथ रचे गए।[2] कुछ व्याकरण-ग्रंथों के नाम इस प्रकार है, बुद्धिसागर व्याकरण, दीपक व्याकरण, प्रेमलाम व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण, नूतन व्याकरण आदि।

जैन धर्म के किसी एक सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण उक्त ग्रंथ अपने समय में तो पर्याप्त लोकप्रिय रहे, किन्तु अष्टाध्यायी के समान सार्वभौमिक ख्याति प्राप्त न कर सके तथा संस्कृत-विद्वानों में अष्टाध्यायी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आदर की भावना बनी रही एवं संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थों में अष्टाध्यायी का ही प्रभुत्व रहा। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संस्कृत-व्याकरण को समृद्ध बनाने में जैनाचार्यों का योगदान अविस्मरणीय है।

आर–१/२, पुलिस थाना,
किंग्स वे कैम्प,
दिल्ली-११०००९

1. शास्त्री, महामहोपाध्याय, हरप्रसाद, ए डेस्क्रिप्टिव केटेलग आफ द संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, खण्ड ६, प्राक्कथन, पृ. १११
2. मीमांसक, युधिष्ठिर, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, हरयाणा. वि. सं. २०३०. पृ. ६२४. ६२५

भारतीय रसायन और उग्रादित्याचार्य का कल्याणकारक

नन्दलाल जैन

रसायन के उद्भव एवं विकास का श्रेय रसोईघर, रसशाला और रसायनशाला को दिया जा सकता है। रसोईघरों का इतिहास अग्नि के आविर्भाव के साथ प्रारम्भ हुआ और अतिप्राचीन है। अग्नि का योग खाद्य-पदार्थों को सुपाच्य और रसमय बनाता है। भोजन एवं जलवायु के असन्तुलन से होने वाली विकृतियों को दूर कर रसशालाएँ मानव को आयुष्य और भैषज्य के रूप में दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन प्रदान करती हैं। रसायनशालाएँ जीवन को भौतिक सुख-सुविधाओं से सज्जित कर समृद्धिमय बनाती हैं। वस्तुतः आधुनिक रसायन का विकास रसशालाओं से ही हुआ है। प्रारम्भ में इनमें प्राकृतिक वनस्पति एवं खनिज-पदार्थों तथा पारद आदि तत्त्वों व यौगिकों से स्वास्थ्यकर यौगिक बनाये जाते रहे हैं। यही नहीं, कालान्तर में पारद एवं अन्य धातुओं को स्वर्ण में परिणत करने के लिए पारस-पत्थर या प्रक्रियाओं की खोज तथा इहजीवन में अमरत्व प्राप्त करने की लालसा की पूर्ति इनके अन्यतम उद्देश्य रहे हैं। यद्यपि मानव इन दोनों ही उद्देश्यों को पाने में असमर्थ रहा और आज भी इस दिशा में प्रयत्नशील है, लेकिन इस प्रयत्न में पूर्व और पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार की भौतिक एवं रासायनिक विधियों का विकास किया। इस विकास में पूज्यपाद, समन्तभद्र, उग्रादित्याचार्य एवं अनेक जैनाचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

डॉ. रे[1] ने भारतीय रसायन के इतिहास को प्रागैतिहासिक (ई.पू. ४०००-१५०१), आयुर्वेदिक एवं वैदिक (१५०० ई. पू. से ८०० ई.), संक्रमण एवं तांत्रिक (८००-१३०० ई.) तथा औषध-रसायन (१३००-१६०० ई.) युगों के नाम से चार चरणों में विभाजित किया है। सिन्धु-घाटी-सभ्यता के युग में अनेक प्राकृतिक खनिजों एवं ताम्र-स्वर्ण-रजत-कांस्य धातुओं तथा कुछ कलाओं का पता चलता है जिनमें रासायनिक क्रियाओं का उपयोग होता है। वैदिक युग में छह धातुओं तथा अनेक सुराओं एवं पेयों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में तो देववाद एवं औषधशास्त्र के माध्यम से रसायन के अनेक प्रारंभिक और कुछ विकसित रूप मिलते हैं। इसमें रसायन से संबंधित विषविद्या, रसायन-विद्या एवं वाजीकरण-विद्या के अनेक उल्लेख हैं। प्राचीन जैन-आगम उत्तराध्ययन[2] एवं दशवैकालिक[3] से भी ज्ञात होता है कि

अनेक औषध एवं धूम्रों का प्रयोग उस समय चल पड़ा था। इसी युग में भारत में भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् से संबंधित अनेक सिद्धांत पल्लवित हो रहे थे। इस युग के चिकित्सा-संबंधी या रासायनिक विवरण का कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, फिर भी अन्य विषयों के ग्रन्थों में उपलब्ध स्फुट विवरण ही हमें इस दिशा में कुछ आभास देते हैं। उदाहरणार्थ—आचारांग,[४] स्थानांग[५] व निशीथचूर्णि[६] में भोजन के चार घटकों का उल्लेख आता है। दशवैकालिक[७] में छह लवण, आर्सेनिक एवं पारद के लवणों को जलाकर बनने वाला शिरोरोगनाशी धूम्र तथा आशीविष एवं तालपुट विषों का उल्लेख है। स्थानांग (८) में चिकित्सा के चार अंगों, भोजन एवं विषपरिणामों, नौ विकृतियों (दही, घी आदि), सात धातु- गोलकों (हीरा एवं मणि भी उस समय धातु माने जाते थे) एवं छह शस्त्रों का उल्लेख है। इनमें अग्नि (विस्फोटक), विष, लवण, स्नेह, अम्ल और क्षार—आधारित शस्त्र हैं जिनमें रासायनिक प्रक्रियाएँ समाहित हैं। इसमें आयुर्वेद के अष्टांगों के नाम भी आये हैं जिनमें जंगोली (विष), रसायन एवं क्षारतंत्र रसायन के ही अंग हैं(रामायण, महाभारत व पाणिनि के साहित्य[९] में भी ऐसे ही अनेक स्फुट विवरण पाए जाते हैं। ये सभी उद्धरण लगभग ई. पू. ५०० के हैं। इनसे पता चलता है कि शिक्षा के क्षेत्र में सामान्यतः औषध एवं रसायन-विद्या को स्थान नहीं मिल पाया था। इसके विपर्यास में, जैन तीर्थंकर महावीर के द्वादशांगी उपदेशों में दृष्टिवाद[१०] नामक बारहवें अंग के पूर्वगत नामक खंड में 'प्राणावाय' नामक एक स्वतंत्र पूर्व माना गया था, जो औषध और रसायन का वर्णन करता था। उत्तरवर्ती काल में रसायन के अनेक रूप शिक्षा की बहत्तर कलाओं (हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, सजीव, निर्जीव, चर्म लक्षण, मणि लक्षण, अन्न-पान-विधि, शोधन-पृथक्करण-विधि आदि) में जैनाचार्यों[११] ने सम्मिलित किए। यही नहीं, जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति[१२] में तो स्त्रियों की ६४ कलाओं में भी रसायन और वैद्यक-कला को समाहित किया गया है।

कौटिल्य के ईसापूर्व चौथी सदी के अर्थशास्त्र में षट्-धातु-प्राप्ति, मणि-परीक्षण, आसव एवं मदिराओं, रासायनिक युद्धकला, विष-विद्या एवं अम्ल, क्षार तथा अनेक लवणों (हरिताल, हिंगुल आदि) का विवरण मिलता है एवं तत्कालीन रसायन विद्या की स्थिति का पता चलता है।[१३] इस विवरण में वैज्ञानिकता का पर्याप्त अंश प्रतीत होता है, फिर भी इसमें कलात्मकता अधिक प्रतीत होती है। उत्तराध्ययन में ३६ पृथ्वी-पदार्थों का उल्लेख है, इसके नामों का कौटिल्य से बहुत कम साम्य है। वर्गीकरण और नामकरण की विधि भी भिन्न है। पर इससे एक तथ्य प्रकट होता है कि पारे के लवणों का ज्ञान उन दिनों हो चुका था।

कौटिल्य के बाद चरक और सुश्रुत का समय आता है। इन औषध-ग्रन्थों में पर्याप्त रासायनिक सामग्री मिलती है। यद्यपि इन ग्रन्थों के मूल लेखकों के समय के विषय में काफी मतभेद हैं, पर यह मान्यता सामान्य है कि चरक और सुश्रुत शब्द एक परंपरा को निरूपित करते हैं, जो महावीर-युग तक मानी जाती है। परंतु इन ग्रन्थों के अनुशीलन से अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि ये ग्रन्थ ईसापूर्व दूसरी सदी में लिखे गए थे। इनका संस्कार भी किया गया है। इसीलिये इन ग्रन्थों में पर्याप्त प्रगत रासायनिक जानकारी मिलती है। इनमें प्राकृतिक एवं पार्थिव खनिजों के १३३ नाम दिये हैं। इसमें छह धातु, पांच लवण, पांच खनिज, अम्ल एवं क्षार आदि के अतिरिक्त धातु-मारण एवं नौ प्रकार के स्रोतों से प्राप्त

चौरासी प्रकार के किण्वित पेयों का नाम भी है। गंधक और पारद के खनिजों के साथ इन तत्त्वों के भी नाम विरलता से पाये गये हैं[१६]। यह साहित्य मुख्यतः आयुर्वेदिक है, पर इसमें भूतविद्या और मंत्रविद्या का भी रोगशमन हेतु उल्लेख है। चूंकि औषध का अर्थ रस-धारक एवं रोग-निवारक है, अतः इसे रसायन कहा गया। फलतः भारतीय रसायन का विकास आयुर्वेद के माध्यम से हुआ, यह स्पष्ट है। खनिजों के उपचार से धातुओं और उनके शोधन तथा उपचार से रंग-विरंगे यौगिक-सम्मिश्रण बनने से चमत्कारिकता का भाव स्वाभाविक ही था, इसके कारण रसायन को कीमियागिरी भी कहा जाने लगा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के बाद अगले चार-पांच सौ वर्षों तक पुनः कोई विशिष्ट साहित्य उपलब्ध नहीं होता। पर यहाँ भी कुन्द-कुन्द का धार्मिक साहित्य हमें (१००-२०० ई. के) सामान्य रासायनिक ज्ञान की धारणा बनाने में सहायक है। जैन[१७] ने बताया है कि कुन्दकुन्द-युग में परमाणु-वाद, धातु-क्रिया, शोधन, रस-विद्या और विषविद्या प्रचलित थी। वायु की ज्वलन-क्रिया में अनिवार्यता, जल की शोधन क्षमता तथा अनेक पदार्थों की जल-अविलेयता तथा फिटकरी एवं उत्तापन द्वारा जल-शोधन की क्रियाओं का विशेष उल्लेख है। जैनाचार्य समंतभद्र (चौथी-पांचवीं सदी) के सिद्धांत रसायन-कल्प, पुष्पायुर्वेद तथा अष्टांग-संग्रह का उल्लेख अनेक निर्देशों में आता है[१८]। परन्तु ये ग्रंथ पूर्णतः उपलब्ध नहीं हैं। इनके विषय इनके उल्लेखों से अनुमित किये जा सकते हैं। पांचवीं-छठवीं सदी के पूज्यपाद देवनंदि के 'कल्याण कारक', 'शालाक्य तंत्र' और 'वैद्यामृत' नामक ग्रन्थों का उल्लेख उग्रादित्याचार्य एवं गुम्मट मुनि ने किया है, लेकिन ये ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं। उत्तरवर्ती सदी के सिद्ध नागार्जुन, जो पूज्यवाद के भाणजे थे, ने भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ये नागार्जुन वल्लभी-वाचनाकार नागार्जुन के काफी बाद में हुए हैं। बौद्धों में भी नागार्जुन हुए हैं। अनेक विद्वानों के तत्संबंधी अनुशीलनों से लगता है कि मूलतः किसी प्रसिद्ध नागार्जुन की उपाधि अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने ग्रहण की जिससे उनकी प्रामाणिकता पुष्ट हो। 'रे' और 'सत्यप्रकाश' के मत के विपरीत.विद्यालंकार[१९] का मत है कि इसी युग में काश्यप-संहिता और अष्टांग-हृदय लिखे गए।

पूर्वोक्त प्राचीन साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि जैन-आगमों एवं शून्यवादी नागार्जुन के युग में भारत में पारद-लवण, गंधक एवं उनके अनेक यौगिक प्रयोग में आए हैं और उनका रसायन भी विकसित हुआ है। पारद से सोना बनाने की विधियों का भी पर्याप्त उल्लेख इस साहित्य में मिलता है। हाँ, पारे एवं उसके यौगिकों का चिकित्सा-कार्यों में प्रयोग होने की बात देखने में नहीं आई। यद्यपि कुछ स्थलों पर इनके बाह्य-प्रयोगों का उल्लेख अवश्य मिलता है।

अनेक विद्वानों के आलोड़नों से प्रतीत होता है कि पारद और गंधक के विभिन्न-रूपों एवं योगों को चिकित्सा-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय बौद्ध-सिद्धों एवं नाथ-सम्प्रदाय को दिया जाना चाहिए।[२०] यहां भी नागार्जुन का नाम परेशानी में डालता है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ही संप्रदाय लगभग नववीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रतिष्ठित हुए हैं। इनमें नागार्जुन को कहीं छट्ठा तो कहीं सौलहवाँ सिद्ध बताया गया है। ये पारसनाथी शाखा के रसेश्वर सिद्ध माने गए हैं। यदि इन्हें रस-चिकित्सा का मूल विन्दु माना जाए, तो इनके इस

समय के आधार पर अनेक विवरण संशोधनीय हो जाएंगे। फलतः यह मानना अधिक तर्क संगत होगा कि उक्त संप्रदायों ने इनकी रस-संबंधी प्रतिष्ठा को देखकर इन्हें अपने महापुरुषों में से एक सिद्ध मान लिया हो। इन्हें सातवीं सदी का मानकर ही भारतीय रसायन के इतिहास में संगतता आ सकेगी। रसायनज्ञ नागार्जुन के समय रस, सूत या पारद और उसके यौगिकों का औषध के रूप में पर्याप्त उपयोग होने लगा था। उसने पारद-शोधन और उसके यौगिकों के बनाने में काम आनेवाली अनेक प्रक्रियाओं का भी विकास किया था। ये दक्षिण के रहने वाले थे, आंध्र-प्रदेश में इनके नाम पर एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया है। उत्तरवर्ती रस-शास्त्रज्ञों ने भी इनका अनुसरण कर नए-नए यौगिक बनाए एवं रस-चिकित्सा को बढ़ाया। डॉ. गुणे[१८] के अनुसार जैनाचार्यों ने भी रसशास्त्र, निघंटु एवं औषध-विज्ञान पर बहुत काम किया है। नागार्जुन से लगभग १५० वर्ष बाद ही वर्तमान उड़ीसा के त्रिकलिंग क्षेत्र में उग्रादित्य नामक जैनाचार्य हुए हैं। इन्होने प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों का सांगोपांग अध्ययन किया और अपने अध्ययन तथा अनुभवों को कल्याणकारक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि यह मुख्यतः आयुर्वेदिक ग्रंथ है, फिर भी इसमें नवमीं सदी के ज्ञान-विज्ञान का अच्छा विवरण मिलता है। यही नहीं, इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएँ भी है। यह पूर्वी भारत में आयुर्वेद पर लिखा गया अपने युग का प्रथम ग्रन्थ है। इसके पूर्व के आयुर्वेद ग्रंथ अधिकांश दक्षिण (मुख्यतः जैन-ग्रन्थ) और उत्तरी सीमान्त के आचार्यो के हैं। फलतः इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों में ज्ञान के आदान-प्रदान या संचरण की क्या स्थिति थी। यह ग्रन्थ नागार्जुनोत्तर युग में नवमीं सदी का अन्यतम ग्रन्थ है जो उत्तरवर्ती प्रगति के लिए सम्पर्क-सूत्र का काम करता है। उग्रादित्य ने अपने ग्रंथ में पात्रकेसरी, सिद्ध-सेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद, दशरथ, मेघनाद और सिंहसेन नामक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यो का उल्लेख किया है। इनके उत्तरवर्ती जैनाचार्यो में गुम्मटदेवमुनि, गुणाकर सूरि, पंडित आशाधर, हितरुचि आदि हैं,[२१] जिन्होंने अपने अनुभवपूर्ण ग्रन्थों द्वारा सौलहवीं सदी तक उग्रादित्य के ज्ञान को आगे बढ़ाया है। यह वास्तव में अचरज की बात है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के विषय में रे, सत्यप्रकाश और उपाध्याय जैसे विद्वानों ने अपने भारतीय विद्याओं के विकास-इतिहास विषयक प्रकरणों में मौन रखा है। इस दृष्टि से विद्यालंकार का विवरण प्रशंसनीय है। शाह ने भी इनका उल्लेख किया है।

उग्रादित्य का परिचय

'कल्याणकारक' में उग्रादित्य ने अपना परिचय पृथक् से नहीं दिया है, पर ग्रंथ में प्राप्त स्फुट विवरणों से उनके विषय में पूर्ण तो नहीं पर कुछ जानकारी मिलती है। नृपतुंग वल्लभेन्द्र की राजसभा के उल्लेख से यह अनुमान लगता है कि वे नवमीं सदी के पूर्वार्ध में अवश्य ही रहे होंगे क्योंकि राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ण 'प्रथम' के नृपतुंग कहे जाने का अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। इनका काल ८००-८७७ ई. माना जाता है। ये आदिपुराण-रचयिता जिनसेन (७८३ ई.) के शिष्य थे। संभवतः गणितज्ञ महावीराचार्य (८५० ई.) धवलाकार वीरसेनाचार्य (८१५ ई.) और शाकटायन इनके समकालीन है। प्रो. सालेतोर और नरसिंहाचार्य का भी यही मत है। इस आधार पर शाह[२१] एवं विद्यालंकार[२२] का यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता कि उग्रादित्य का समय ११-१२ वीं सदी से पूर्व नहीं हो सकता। नागार्जुन का 'रस-रत्नाकर' पर्याप्त पूर्व में प्रचार पा चुका था और उग्रादित्य ने अपनी शैली में उन्हीं रस-विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

उग्रादित्याचार्य के जन्म-स्थान, माता-पिता एवं पारिवारिक जीवन के विषय में अभी तक कोई विशिष्ट जानकारी नहीं मिल सकी है। तथापि इनके ग्रन्थ के अनुसार उनके गुरु 'श्रीनंदि' थे और इन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण त्रिकलिंग देश में स्थित रामगिरि पर्वतस्थ जिन-मंदिर में किया था। यह अनेक पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के संक्षेपण और अनुभवों के आधार पर लिखा गया है।

कल्याणकारक का परिचय

यह ग्रन्थ सखाराम नेमचंद्र ग्रंथमाला, शोलापुर से १९४० में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ डॉ. गुणे ने लिखी है, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद एवं रसशास्त्र के क्षेत्र में किए गए योगदान का समीक्षात्मक इतिहास दिया गया है। इसी के आधार पर अन्य उत्तरवर्ती विद्वानों ने एतद्विषयक उल्लेख दिये हैं। यह एकमात्र ग्रन्थ ही उग्रादित्य की कीर्ति को अमरत्व प्रदान करता है।

इस ग्रंथ में २५ परिच्छेद और दो परिशिष्टाध्याय हैं। मुख्यतः यह आयुर्वेद-ग्रंथ है और इसमें चिकित्सा-शास्त्र के आठों अंगों का वर्णन है। इसमें रासायनिक महत्त्व की अनेक बातें हैं। सबसे महत्वपूर्ण तो यही है कि इसमें अनेक उपयोगी पदार्थों व औषधों के गुणों का निरीक्षण और परीक्षण दिया गया है। औषधों को भी समुचित मात्रा में लेने का उल्लेख है। इस दृष्टि से इसके धान्यादि-गुणागुण विचार (परिच्छेद-४), द्रव-द्रव्याधिकार (परिच्छेद-५), रसायनाधिकार (परिच्छेद-६), विषरोगाधिकार (परिच्छेद-१९) एवं रस-रसायनाधिकार (परिच्छेद-२४) नामक पांच अध्याय महत्वपूर्ण हैं। इसके वर्णनानुसार यह स्पष्ट होता है कि उग्रादित्य के युग में विभिन्न वनस्पतियों, प्राकृतिक खनिजों व पदार्थों के साथ-साथ रसशाला में निर्मित पदार्थों का अध्ययन किया जाने लगा था।

इस ग्रन्थ की तीन विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) इसमें केवल ऐसी औषधों/कल्पों का वर्णन है जो वनस्पति या खनिज-जगत् या उसके संसाधन से प्राप्त हो सकती है।

(२) ग्रन्थ के अन्तिम हिताहिताध्याय में जैन मत के अनुसार मद्य, मांस और मधु का उपयोग अनुचित बताया गया है। इसमें इसके समर्थक पूर्वाचार्यों के मतों का खंडन भी किया गया है। इन तीनों का त्याग आज भी जैनों के आठ मूलगुणों[२३] में माना जाता है। इसीलिए आचार्य ने इन्हें अपने औषधों के निर्माण/अनुपान में प्रयुक्त नहीं किया है। इनकी अभक्ष्यता पर पर्याप्त तर्क संगत विवेचन किया है।[२४] इनसे पूर्व के अन्य जैन आयुर्वेदज्ञों की भी यही परंपरा रही है। मद्य एवं मांसाहार के विरुद्ध तो इस युग में भी काफी वैज्ञानिक तथ्य ज्ञात हुए हैं और अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से इनका प्रचलन कम होने के आसार दिखने लगे हैं।

(३) इसका आयुर्वेदिक विवरण भी जैनेतर ग्रन्थों से भिन्न है, यद्यपि यह त्रिदोषों पर आधारित है। वर्णनक्रम भी भिन्न है। रसायनाधिकार पहले है और रस-रसायनाधिकार अन्त में है।

रासायनिक विवरण—

(1) जल के गुण[२५]—जीवन में जल का महत्त्व स्पष्ट है, इसलिए उसके रसायन को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसे पंचभूतों में एक माना गया है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जल का विवरण निम्न है:—

समय के आधार पर अनेक विवरण संशोधनीय हो जाएंगे। फलतः यह मानना अधिक तर्क संगत होगा कि उक्त संप्रदायों ने इनकी रस-संबंधी प्रतिष्ठा को देखकर इन्हें अपने महापुरुषों में से एक सिद्ध मान लिया हो। इन्हें सातवीं सदी का मानकर ही भारतीय रसायन के इतिहास में संगतता आ सकेगी। रसायनज्ञ नागार्जुन के समय रस, सूत या पारद और उसके यौगिकों का औषध के रूप में पर्याप्त उपयोग होने लगा था। उसने पारद-शोधन और उसके यौगिकों के बनाने में काम आनेवाली अनेक प्रक्रियाओं का भी विकास किया था। ये दक्षिण के रहने वाले थे, आंध्र-प्रदेश में इनके नाम पर एक विश्वविद्यालय स्थापित किया गया है। उत्तरवर्ती रस-शास्त्रज्ञों ने भी इनका अनुसरण कर नए-नए यौगिक बनाए एवं रस-चिकित्सा को बढ़ाया। डॉ. गुणे[१८] के अनुसार जैनाचार्यों ने भी रसशास्त्र, निघंटु एवं औषध-विज्ञान पर बहुत काम किया है। नागार्जुन से लगभग १५० वर्ष बाद ही वर्तमान उड़ीसा के त्रिकलिंग क्षेत्र में उग्रादित्य नामक जैनाचार्य हुए है। इन्होने प्राचीन आचार्यों के ग्रथो का सांगोपांग अध्ययन किया और अपने अध्ययन तथा अनुभवों को कल्याणकारक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि यह मुख्यतः आयुर्वेदिक ग्रंथ है, फिर भी इसमें नवमीं सदी के ज्ञान-विज्ञान का अच्छा विवरण मिलता है। यही नहीं, इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएँ भी है। यह पूर्वी भारत में आयुर्वेद पर लिखा गया अपने युग का प्रथम ग्रन्थ है। इसके पूर्व के आयुर्वेद ग्रथ अधिकांश दक्षिण (मुख्यतः जैन-ग्रन्थ) और उत्तरी सीमान्त के आचार्यों के हैं। फलतः इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों के विद्वानों में ज्ञान के आदान-प्रदान या संचरण की क्या स्थिति थी। यह ग्रन्थ नागार्जुनोत्तर युग में नवमीं सदी का अन्यतम ग्रन्थ है जो उत्तरवर्ती प्रगति के लिए सम्पर्क-सूत्र का काम करता है। उग्रादित्य ने अपने ग्रंथ में पात्रकेसरी, सिद्ध-सेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद, दशरथ, मेघनाद और सिंहसेन नामक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। इनके उत्तरवर्ती जैनाचार्यों में गुम्मटदेवमुनि, गुणाकर सूरि, पंडित आशाधर, हितरुचि आदि हैं,[२१] जिन्होंने अपने अनुभवपूर्ण ग्रन्थों द्वारा सोलहवीं सदी तक उग्रादित्य के ज्ञान को आगे बढ़ाया है। यह वास्तव में अचरज की बात है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के विषय में रे, सत्यप्रकाश और उपाध्याय जैसे विद्वानों ने अपने भारतीय विद्याओं के विकास-इतिहास विषयक प्रकरणों में मौन रखा है। इस दृष्टि से विद्यालंकार का विवरण प्रशंसनीय है। शाह ने भी इनका उल्लेख किया है।

उग्रादित्य का परिचय

'कल्याणकारक' में उग्रादित्य ने अपना परिचय पृथक् से नहीं दिया है, पर ग्रंथ में प्राप्त स्फुट विवरणों से उनके विषय में पूर्ण तो नहीं पर कुछ जानकारी मिलती है। नृपतुंग वल्लभेन्द्र की राजसभा के उल्लेख से यह अनुमान लगता है कि वे नवमीं सदी के पूर्वार्ध में अवश्य ही रहे होंगे क्योंकि राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ण 'प्रथम' के नृपतुंग कहे जाने का अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। इनका काल ८००-८७७ ई. माना जाता है। ये आदिपुराण-रचयिता जिनसेन (७८३ ई.) के शिष्य थे। संभवतः गणितज्ञ महावीराचार्य (८५० ई.) धवलाकार वीरसेनाचार्य (८१५ ई.) और शाकटायन इनके समकालीन हैं। प्रो. सालेतोर और नरसिंहाचार्य का भी यही मत है। इस आधार पर शाह[२१] एवं विद्यालंकार[२२] का यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता कि उग्रादित्य का समय ११-१२ वीं सदी से पूर्व नहीं हो सकता। नागार्जुन का 'रस-रत्नाकर' पर्याप्त पूर्व में प्रचार पा चुका था और उग्रादित्य ने अपनी शैली में उन्हीं रस-विषयों का संक्षिप्त वर्णन किया है।

उग्रादित्याचार्य के जन्म-स्थान, माता-पिता एवं पारिवारिक जीवन के विषय में अभी तक कोई विशिष्ट जानकारी नहीं मिल सकी है। तथापि इनके ग्रन्थ के अनुसार उनके गुरु 'श्रीनंदि' थे और इन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण त्रिकलिंग देश में स्थित रामगिरि पर्वतस्थ जिन-मंदिर में किया था। यह अनेक पूर्वाचार्यो के ग्रन्थों के संक्षेपण और अनुभवों के आधार पर लिखा गया है।

कल्याणकारक का परिचय

यह ग्रन्थ सखाराम नेमचंद्र ग्रंथमाला, शोलापुर से १६४० में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ डॉ. गुणे ने लिखी है, जिसमें जैनाचार्यों द्वारा आयुर्वेद एवं रसशास्त्र के क्षेत्र में किए गए योगदान का समीक्षात्मक इतिहास दिया गया है। इसी के आधार पर अन्य उत्तरवर्ती विद्वानों ने एतद्विषयक उल्लेख दिये हैं। यह एकमात्र ग्रन्थ ही उग्रादित्य की कीर्ति को अमरत्व प्रदान करता है।

इस ग्रंथ में २५ परिच्छेद और दो परिशिष्टाध्याय हैं। मुख्यतः यह आयुर्वेद-ग्रंथ है और इसमें चिकित्सा-शास्त्र के आठों अंगों का वर्णन है। इसमें रासायनिक महत्त्व की अनेक बातें हैं। सबसे महत्वपूर्ण तो यही है कि इसमें अनेक उपयोगी पदार्थों व औषधों के गुणों का निरीक्षण और परीक्षण दिया गया है। औषधों को भी समुचित मात्रा में लेने का उल्लेख है। इस दृष्टि से इसके धान्यादि-गुणागुण विचार (परिच्छेद-४), द्रव-द्रव्याधिकार (परिच्छेद-५), रसायनाधिकार (परिच्छेद-६), विषरोगाधिकार (परिच्छेद-१६) एवं रस-रसायनाधिकार (परिच्छेद-२४) नामक पांच अध्याय महत्वपूर्ण हैं। इसके वर्णनानुसार यह स्पष्ट होता है कि उग्रादित्य के युग में विभिन्न वनस्पतियों, प्राकृतिक खनिजों व पदार्थों के साथ-साथ रसशाला में निर्मित पदार्थों का अध्ययन किया जाने लगा था।

इस ग्रन्थ की तीन विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) इसमें केवल ऐसी औषधों/कल्पों का वर्णन है जो वनस्पति या खनिज-जगत् या उसके संसाधन से प्राप्त हो सकती है।

(२) ग्रन्थ के अन्तिम हिताहिताध्याय में जैन मत के अनुसार मद्य, मांस और मधु का उपयोग अनुचित बताया गया है। इसमें इसके समर्थक पूर्वाचार्यो के मतों का खंडन भी किया गया है। इन तीनों का त्याग आज भी जैनों के आठ मूलगुणों[२३] में माना जाता है। इसीलिए आचार्य ने इन्हें अपने औषधों के निर्माण/अनुपान में प्रयुक्त नहीं किया है। इनकी अभक्ष्यता पर पर्याप्त तर्क संगत विवेचन किया है।[२४] इनसे पूर्व के अन्य जैन आयुर्वेदज्ञों की भी यही परंपरा रही है। मद्य एवं मांसाहार के विरुद्ध तो इस युग में भी काफी वैज्ञानिक तथ्य ज्ञात हुए हैं और अनेक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से इनका प्रचलन कम होने के आसार दिखने लगे हैं।

(३) इसका आयुर्वेदिक विवरण भी जैनेतर ग्रन्थों से भिन्न है, यद्यपि यह त्रिदोषों पर आधारित है। वर्णनक्रम भी भिन्न है। रसायनाधिकार पहले है और रस-रसायनाधिकार अन्त में है।

रासायनिक विवरण—

(1) जल के गुण[२५]—जीवन में जल का महत्त्व स्पष्ट है, इसलिए उसके रसायन को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसे पंचभूतों में एक माना गया है। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जल का विवरण निम्न है:—

(१) कठोर, काली, पथरीली मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल खारा/खट्टा होता है ।
(२) कोमल, सफेद, चिकनी मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल स्वच्छ/मधुर होता है ।
(३) कठोर, रुक्ष, भूरी मिट्टी एवं ठूंठदार वृक्षों के स्थान का जल कटु होता है ।
(४) वर्षाजल अमृत के समान होता है । उबला-जल औषध-गुणी होता है ।

हमें नीरस, निर्गन्ध, स्वच्छ एवं शीतल जल पीना चाहिए । भूतलस्थ जल में स्पर्शगत, रसगत एवं पाकगत दोष होते हैं, अतः उसे शुद्ध करके ही पीना चाहिए । उसको शुद्ध करने के लिए निम्न उपाय हैं :

(अ) धूप में रखना ।
(ब) रात को चांदनी में रखना ।
(स) अग्नि में तपाना ।
(द) कपड़े से छानना ।
(य) कतकफल या अलसी का तेल मिलाना ।

आधुनिक व्याख्यानुसार, सभी विधियों से जल में विद्यमान विलेय लवणों का स्कंदन या अवक्षेपण होता है । अग्नि या धूप के योग से कीटाणुनाशन भी होता है । ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के जलों के गुण-दोष बताये गए हैं पर इनके कारण और निवारण की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं दी गई है । वस्तुतः जल के संरचनात्मक एवं शोधन-रसायन का विकास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ही हो सका ।

(ii) अन्य पदार्थों के गुण

जल के अतिरिक्त अनेक ठोस खाद्यों—शाकभाजी एवं तरल पेयों का भी ग्रन्थ में गुण-विवरण दिया गया है । इनमें धान, दालें, तिल, गेहूँ और यव आदि के त्रिदोषावारित विवरण दिये गए हैं । विभिन्न प्रकार के जमींकंदों को पुष्टिकर एवं विषनाशक बताया गया है[२६] । पालक, बथुआ आदि पित्त-विकार या अम्लता को दूर करते हैं । परवल अम्लता-क्षारता-कृमि एवं चर्मरोगों को दूर करती है । विभिन्न प्रकार के मसाले वात एवं कफ-नाशक हैं (संभवतः उभयधर्मी एल्केलाइडों के कारण) । अदरख, कालीमिर्च, पीपरामूल, प्याज, लहसुन, अम्लता एवं क्षारता को नाश कर जठराग्नि या पाचन-शक्ति को बढ़ाते हैं । ये उष्ण अर्थात् ऊष्मादायी होते हैं, जिनसे विकार पचते हैं । विभिन्न खट्टे फल (उभयधर्मी अम्लों के कारण) वातनाशक एवं मलशोधक होते हैं । किशमिश, केला, महुआ, सिंघाड़ा एवं नारियल गरिष्ठ एवं कफवर्धी होते हैं । (संभवतः किशमिश में ये गुण नहीं पाये जाते) ।

दूध[२७] आठ प्रकार के प्राणि-स्रोतों से प्राप्त होता है । यह विभिन्न प्रकार के वनस्पतिज खाद्य-पदार्थों के जीव-रासायनिक परिपाक का परिणाम है । यह हितकर और पुष्टिकर होता है । धारोष्ण दूध अमृत है, थकावट दूर करता है । गरम दूध एवं उष्ण-शीतलित (आज का पेस्चुराइज्ड) दूध अनेक (कृमि) रोगों में लाभकारी है । यह आंख की रोशनी (विटामिन 'ए' के कारण) बढ़ाता है और आयुवर्धक (खनिजों के कारण) है । दूध से उत्पन्न दही अम्लीय होता है, पाचनशक्ति बढ़ाता है । यह विषहर, वृष्य,

मलावरोधक है। मट्ठा खट्टा एवं शीघ्र पचनशील है। यह भी पाचनशक्ति बढ़ाता है और मल-मूत्रशोधक है। मक्खन एवं घृत भी खटमीठे रसायन हैं। इनमें शरीर के तेज, बल व आयुवर्धन पदार्थ होते हैं। इनमें भूंजे हुए मसालों से छोंके और बनाये भोज्य बलवर्धक होते हैं।

सिरका और कांजी खट्टी होती हैं और वातविकार (अम्लता) को दूर करती है। विभिन्न तेल, केशवर्धक-तेजवर्धक एवं कृमिनाशक होते हैं। मूत्र भी दूध के समान आठ प्रकार के होते हैं। ये तीक्ष्ण, कड़ुए एवं ऊष्मादायी होते हैं। ये कृमिनाशक एवं अम्लता-क्षारता को दूर करते हैं। अनेक क्षारों में भी मूत्र के गुण होते हैं। इन मूत्रों का उपयोग औषध एवं अनुपान में किया जाता है।

मद्य मानसिक विचारशक्ति, हेयोपादेय-ज्ञान, सामान्य क्रियाक्षमता एवं विवेक को दूषित करता है। यह अनेक रोगों को उत्पन्न करता है और मनुष्य की गरिमा को हीन बनाता है।

भोजन के तीन प्रधान चरण होते हैं।[२८] पहले चरण में स्निग्ध-मधुर (हलुआ, खीर आदि) खाने चाहिए। दूसरे चरण में खट्टे और नमकीन पदार्थ खाने चाहिए। तीसरे चरण में द्रव-पदार्थ लेने चाहिए। प्रत्येक भोजन में शाक-भाजी, कांजी और दूध अवश्य लेना चाहिए। भोजन के पाक से रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य नामक सात धातुएँ शरीर में निर्मित होती हैं।

इन पदार्थों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की वनस्पतियों के गुणों का भी वर्णन किया गया है। स्पष्ट है कि यह वर्णन आचार्यों की तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति, एवं अनुभव सामर्थ्य का संकेतक है। इसमें सैद्धांतिक व्याख्या समाहित नहीं है।

(iii) खनिज एवं अन्य रासायनिक पदार्थों का विवरण

ग्रंथ में उस समय औषधों के रूप में प्रयुक्त आनेवाले अनेक खनिजों एवं रासायनिक पदार्थों के नाम दिए गए हैं। इसके अन्तर्गत हरताल, नीलांजन, कसीस (फैरस सल्फेट), फिटकरी (ऐलम), गेरू (आयरन ऑक्साइड), पंच-लवण, तूतिया (कापर सल्फेट), दीपांजन (काजल), मैनसिल (आर्सेनिक सल्फाइड), शिलाजीत (बिटुमॅन), माक्षिक (पायराइट्स), वंसलोचन, स्फटिकमणि आदि पदार्थों का उल्लेख है। धातुओं में सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा एवं कांसे का नाम है। इनकी भस्मों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त शंख, मोती, प्रवाल, पारद आदि भस्मों का भी उल्लेख है। इनके बनाने की विधियाँ भी दी गई हैं। कपूर, वज्रक्षार एवं गंधक के भी अनेक उपयोग दिए गए हैं। रेशमी कपड़े की भस्म को रक्तस्राव रोकने में उपयोगी बताया गया है।

क्षारीय पदार्थ तीन काम करते हैं—छेदन, भेदन और लेखन। ये वनस्पतियों की भस्मों को पानी में उबालकर प्राप्त किये जाते हैं। ये तनु (स्वल्प द्रव) और सान्द्र (अति द्रव), दोनों होते हैं। ये चिकने और सफेद होते हैं। आज की भाषा में ये मुख्यत: पोटेसियम कार्बोनेट (यवक्षार) के विलयन हैं। घावों को क्षारों से धोया जाता है, जिससे वे पक न सकें। ये पूतिरोधी होते हैं। चिकित्सक को क्षारकर्म अवश्य जानना चाहिए। यह बताया गया है कि औषध के पन्द्रह कार्यों में से आधे से अधिक ऐसे होते हैं, जिनमें रासायनिक प्रक्रियाएँ काम आती हैं।

(१) कठोर, काली, पथरीली मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल खारा/खट्टा होता है।
(२) कोमल, सफेद, चिकनी मिट्टी एवं तृणमय स्थान का जल स्वच्छ/मधुर होता है।
(३) कठोर, रुक्ष, भूरी मिट्टी एवं ठूंठदार वृक्षों के स्थान का जल कटु होता है।
(४) वर्षाजल अमृत के समान होता है। उबला-जल औषध-गुणी होता है।

हमें नीरस, निर्गन्ध, स्वच्छ एवं शीतल जल पीना चाहिए। भूतलस्थ जल में स्पर्शगत, रसगत एवं पाकगत दोष होते हैं, अतः उसे शुद्ध करके ही पीना चाहिए। उसको शुद्ध करने के लिए निम्न उपाय हैं :

(अ) धूप में रखना।
(ब) रात को चांदनी में रखना।
(स) अग्नि में तपाना।
(द) कपड़े से छानना।
(य) कतकफल या अलसी का तेल मिलाना।

आधुनिक व्याख्यानुसार, सभी विधियों से जल में विद्यमान विलेय लवणों का स्कंदन या अवक्षेपण होता है। अग्नि या धूप के योग से कीटाणुनाशन भी होता है। ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के जलों के गुण-दोष बताये गए हैं पर इनके कारण और निवारण की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं दी गई है। वस्तुतः जल के संरचनात्मक एवं शोधन-रसायन का विकास उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ही हो सका।

(ii) अन्य पदार्थों के गुण

जल के अतिरिक्त अनेक ठोस खाद्यों—शाकभाजी एवं तरल पेयों का भी ग्रन्थ में गुण-विवरण दिया गया है। इनमें धान, दालें, तिल, गेहूँ और यव आदि के त्रिदोषाधारित विवरण दिये गए हैं। विभिन्न प्रकार के जमीकंदों को पुष्टिकर एवं विषनाशक बताया गया है[२६]। पालक, बथुआ आदि पित्त-विकार या अम्लता को दूर करते हैं। परवल अम्लता-क्षारता-कृमि एवं चर्मरोगों को दूर करती है। विभिन्न प्रकार के मसाले वात एवं कफ-नाशक हैं (संभवतः उभयधर्मी एल्केलाइडों के कारण)। अदरख, कालीमिर्च, पीपरामूल, प्याज, लहसुन, अम्लता एवं क्षारता को नाश कर जठराग्नि या पाचन-शक्ति को बढ़ाते हैं। ये उष्ण अर्थात् ऊष्मादायी होते हैं, जिनसे विकार पचते हैं। विभिन्न खट्टे फल (उभयधर्मी अम्लों के कारण) वातनाशक एवं मलशोधक होते हैं। किशमिश, केला, महुआ, सिंघाड़ा एवं नारियल गरिष्ठ एवं कफवर्धी होते हैं। (संभवतः किशमिश में ये गुण नहीं पाये जाते)।

दूध[२७] आठ प्रकार के प्राणि-स्रोतों से प्राप्त होता है। यह विभिन्न प्रकार के वनस्पतिज खाद्य-पदार्थों के जीव-रासायनिक परिपाक का परिणाम है। यह हितकर और पुष्टिकर होता है। धारोष्ण दूध अमृत है, थकावट दूर करता है। गरम दूध एवं उष्ण-शीतलित (आज का पेस्चुराइज्ड) दूध अनेक (कृमि) रोगों में लाभकारी है। यह आंख की रोशनी (विटामिन 'ए' के कारण) बढ़ाता है और आयुवर्धक (खनिजों के कारण) है। दूध से उत्पन्न दही अम्लीय होता है, पाचनशक्ति बढ़ाता है। यह विषहर, वृष्य,

मलावरोधक है। मट्ठा खट्टा एवं शीघ्र पचनशील है। यह भी पाचनशक्ति बढ़ाता है और मल-मूत्रशोधक है। मक्खन एवं घृत भी खटमीठे रसायन हैं। इनमें शरीर के तेज, बल व आयुवर्धन पदार्थ होते हैं। इनमें भूंजे हुए मसालों से छोंके और बनाये भोज्य बलवर्धक होते हैं।

सिरका और कांजी खट्टी होती हैं और वातविकार (अम्लता) को दूर करती है। विभिन्न तैल, केशवर्धक-तेजवर्धक एवं कृमिनाशक होते हैं। मूत्र भी दूध के समान आठ प्रकार के होते हैं। ये तीक्ष्ण, कड़ुए एवं ऊष्मादायी होते हैं। ये कृमिनाशक एवं अम्लता-क्षारता को दूर करते हैं। अनेक क्षारों में भी मूत्र के गुण होते हैं। इन मूत्रों का उपयोग औषध एवं अनुपान में किया जाता है।

मद्य मानसिक विचारशक्ति, हेयोपादेय-ज्ञान, सामान्य क्रियाक्षमता एवं विवेक को दूषित करता है। यह अनेक रोगों को उत्पन्न करता है और मनुष्य की गरिमा को हीन बनाता है।

भोजन के तीन प्रधान चरण होते हैं।[२८] पहले चरण में स्निग्ध-मधुर (हलुआ, खीर आदि) खाने चाहिए। दूसरे चरण में खट्टे और नमकीन पदार्थ खाने चाहिए। तीसरे चरण में द्रव-पदार्थ लेने चाहिए। प्रत्येक भोजन में शाक-भाजी, कांजी और दूध अवश्य लेना चाहिए। भोजन के पाक से रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य नामक सात धातुएँ शरीर में निर्मित होती हैं।

इन पदार्थों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की वनस्पतियों के गुणों का भी वर्णन किया गया है। स्पष्ट है कि यह वर्णन आचार्यों की तीक्ष्ण निरीक्षण-शक्ति, एवं अनुभव सामर्थ्य का संकेतक है। इसमें सैद्धांतिक व्याख्या समाहित नहीं है।

(iii) खनिज एवं अन्य रासायनिक पदार्थों का विवरण

ग्रंथ में उस समय औषधों के रूप में प्रयुक्त आनेवाले अनेक खनिजों एवं रासायनिक पदार्थों के नाम दिए गए हैं। इसके अन्तर्गत हरताल, नीलांजन, कसीस (फैरस सल्फेट), फिटकरी (ऐलम), गेरू (आयरन ऑक्साइड), पंच-लवण, तूतिया (कापर सल्फेट), दीपांजन (काजल), मैनसिल (आर्सेनिक सल्फाइड), शिलाजीत (बिटुमेन), माक्षिक (पायराइट्स), बंसलोचन, स्फटिकमणि आदि पदार्थों का उल्लेख है। धातुओं में सोना, चांदी, तांबा, लोहा, सीसा एवं कांसे का नाम है। इनकी भस्मों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त शंख, मोती, प्रवाल, पारद आदि भस्मों का भी उल्लेख है। इनके बनाने की विधियाँ भी दी गई हैं। कपूर, वज्रक्षार एवं गंधक के भी अनेक उपयोग दिए गए हैं। रेशमी कपड़े की भस्म को रक्तस्राव रोकने में उपयोगी बताया गया है।

क्षारीय पदार्थ तीन काम करते हैं—छेदन, भेदन और लेखन। ये वनस्पतियों की भस्मों को पानी में उबालकर प्राप्त किये जाते हैं। ये तनु (स्वल्प द्रव) और सान्द्र (अति द्रव), दोनों होते हैं। ये चिकने और सफेद होते हैं। आज की भाषा में ये मुख्यतः पोटेसियम कार्बोनेट (यवक्षार) के विलयन हैं। घावों को क्षारों से धोया जाता है, जिससे वे पक न सकें। ये पूतिरोधी होते हैं। चिकित्सक को क्षारकर्म अवश्य जानना चाहिए। यह बताया गया है कि औषध के पन्द्रह कार्यों में से आधे से अधिक ऐसे होते हैं, जिनमें रासायनिक प्रक्रियाएँ काम आती हैं।

(iv) विष–वर्णन[२६]

विष वे पदार्थ हैं, जो शरीर के वाह्य या अन्तर्ग्रहण से कष्ट पहुँचावें, शरीर-क्रिया में वाधक बनें। विषों का वर्णन कौटिल्य एवं सुश्रुत ने किया है और विषज्ञ भिषक की आवश्यकता राजकुल के लिए अनिवार्य बताई है। सुश्रुत के दो प्रकारों की तुलना में उग्रादित्य ने इन्हें तीन प्रकार का बताया है और उसके वर्गीकरण भी किए हैं :—

(अ) स्थावर, वनस्पतिज एवं पार्थिव विष

ये जड़, पत्र, पुष्प, फल, छाल, दूध, नियसि, रससार, कंद एवं धातु; विप के रूप में दस प्रकार के हैं। कनेर, गुंची, कचनार, धतूरा, अकौवा, गोंद, कालकूटादि कंद और संखिया इसी कोटि के विप हैं। इनका प्रभाव सात चरणों में मारक रूप ग्रहण करता है।

(ब) जंगम या प्राणिज विष :—

ये प्राणि-शरीर की आंख, श्वासोच्छ्वास, दाढ़, लार, मल, मूत्र, शुक्र, नख, वात, पित्त, गुद, मुख, दंत, शूक (डंक), शव और अस्थि के माध्यम से सोलह प्रकार से निर्गमित होते हैं। ये सांप, बंदर, पागल कुत्ता, शिशुमार, छिपकली, चूहा, गोंच, मक्खी, मच्छर, विशिष्ट मछलियों एवं शव में पाये जाते हैं। इनका विष- दंश या स्पर्श-स्थान में 450 काल मात्रा तक रहकर अपना पूर्ण प्रभाव पूर्वोक्त सात चरणों में प्रदर्शित करता है। यहां काल की मात्रा की व्याख्या नहीं की गई है।

(स) कृत्रिम विष

यद्यपि इस विषयक ग्रन्थ में कोई विवरण नहीं दिया गया है फिर भी इसके अन्तर्गत ऐसे पदार्थों को लिया जा सकता है जो रसशालाओं में तैयार किये जा सकें। वर्तमान पोटेसियम सायनाइड, कार्वन मोनोक्साइड, मेथिल आइसो-सायनाइड आदि को इस कोटि में ही रखना चाहिये (यद्यपि ये उस युग में ज्ञात न थे)।

विष की चिकित्सा वमन, विरेचन एवं औषध के रूप में त्रि-चरणी बताई गई है। काटने पर अन्तः प्रविष्ट विष के लिये वंधन, रक्तमोक्षण, अग्निजलन या जलौकाचूषण की क्रियाएँ प्राथमिक रूप से बताई गई हैं।

पारद-रसायन[३०]

पारद और उसके विभिन्न यौगिक-मिश्रण जीवन को स्वास्थ्य एवं आयुष्य प्रदान करते हैं। इस आधार पर भारत में रसतन्त्र ही चल पड़ा था जिसमें कुछ चमत्कारिकता का भी अंश था। लेकिन इस तंत्र से रसायन के विकास में बड़ी सहायता मिली है। भारत में रसायन का विकास रसतंत्र के माध्यम से ही सौलहवीं सदी तक होता रहा है। उग्रादित्य इस तंत्र की बाल्यावस्था में हुए हैं, संभवतः उन्हें नागार्जुन का रस-रत्नाकर सुलभ नहीं हो सका हो, इसीलिए पारद-रसायन से संबंधित उनका विवरण प्राथमिक स्तर का ही माना जाएगा। नागार्जुन के अठारह संस्कारों की तुलना में पारद के आठ महासंस्कारों का ही यहां वर्णन है—स्वेदन, मर्दन, धातु-मिश्रण,

सम्मिश्रण, बंधन, गर्भद्रावण, रंजन एवं सारण। ये संस्कार छह क्रियाओं के माध्यम से संपन्न होते हैं — मूर्च्छन (ठोसीकरण), मारण (भस्मीकरण), बंधन (यौगिकीकरण एवं सम्मिश्रण), तापन, वासन एवं कासन। पारे को गुड़ के साथ मर्दित कर मूर्च्छित किया जाता है। कथे के फल के रस से उसका मारण होता है। रसबंधन रसशाला में किया जाता है। दोलायंत्र की सहायता से पारद में अनेक पदार्थ मिलाकर एवं घोटकर उसे स्वेदित (अधःपातित) करते हैं और उसे बंधन-योग्य बनाते हैं। शुद्ध पारे में सुवर्ण चूर्ण मिलाकर घोटने और छानने पर एक मिश्ररस प्राप्त होता है। इसमें विभिन्न वर्गों के पदार्थ मिलाकर कांजी के दोलायंत्र में स्वेदित करने पर भी रस-बंध प्राप्त होता है। पारे में ताम्र, अभ्रक एवं लौहचूर्ण आदि मिलाकर जारण (तापन) करने से भी विभिन्न रसबंध प्राप्त होते हैं। ये रसबंध ही औषधों में काम आते हैं। मकरध्वज नामक औषध पारद, गंधक और स्वर्ण के परस्पर बंध से प्राप्त होती है।

पारद और रसायन-कार्य के लिए जहाँ नागार्जुन ने २६ यंत्रों के नाम दिए हैं, वहाँ कल्याणकारक में इससे आधे यंत्रों का भी उल्लेख नहीं है। इससे पता चलता है कि उग्रादित्य पारद-रसायन एवं उपचार के वर्णन में काफी पीछे रह गए हैं जबकि वे खनिज एवं रासायनिक पदार्थों के विवरण में आगे हैं।

उपसंहार

उग्रादित्य का 'कल्याणकारक' ग्रन्थ एक ओर जहाँ यह प्रमाणित करता प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में उस युग में रसायन-विद्या अधिक प्रगति पर थी, वहीं यह भी प्रकट करता है कि दक्षिण और पूर्वी-उत्तरी भारत में ज्ञान/विद्या के संप्रसारण की गति मन्द रही है और समतुल्यता में दो-तीन सौ वर्ष का अन्तराल भी सामान्य रहा है। फिर भी, यह ग्रन्थ नागार्जुन और उत्तरवर्ती रसज्ञों के बीच एक कड़ी का काम करता है क्योंकि अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ कल्याणकारक के सौ वर्ष बाद के ही पाए जाते हैं। सर्वाधिक ग्रन्थ बारहवीं-तेरहवीं सदी के हैं। इनमें कुछ जैनाचार्य-रचित भी हैं। इस विषय पर अभी कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है। इस बात की महती आवश्यकता है कि जैनाचार्यों द्वारा रसायन और भौतिक विज्ञानों में योगदान के इतिहास का सर्वेक्षण एवं लेखन किया जाए।

निर्देश-ग्रन्थ :

१. रे, पी.; हिस्ट्री ऑफ केमिस्ट्री इन एन्सियन्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया, इण्डियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता, १९५६, पेज i।
२. साध्वी, चंदना (संपा.); उत्तराध्ययन सूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज १४८
३. आ. शय्यंभव; दसवेआलियं (सं. मुनि नथमल), जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४, पेज ७०, ८७
४. ऋषि अमोलक; आचारांग सूत्र (अनुवादक), अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, १९६०, पेज १६२
५. शास्त्री हीरालाल (अनु.); स्थानांग सूत्र, आगम प्र. समिति, ब्यावर, १९८१, पेज २९४
६. सेन, मधु; ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथ चूर्णि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९७५, पे. १२४
७. देखिये निर्देश ३, पेज ४४, ४५, ३८१, ४३२
८. देखिये निर्देश ५, पेज ३९२, ५९२-९३, ६६६, ४०७, ७१६, ६३६
९. विद्यालंकार अत्रिदेव; आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, सूचना-विभाग, लखनऊ, १९६०, पे. ७६-९१

(iv) विष-वर्णन[२९]

विष वे पदार्थ हैं, जो शरीर के बाह्य या अन्तर्ग्रहण से कष्ट पहुँचावें, शरीर-क्रिया में बाधक बनें। विषों का वर्णन कौटिल्य एवं सुश्रुत ने किया है और विषज्ञ भिषक की आवश्यकता राजकुल के लिए अनिवार्य बताई है। सुश्रुत के दो प्रकारों की तुलना में उग्रादित्य ने इन्हें तीन प्रकार का बताया है और उसके वर्गीकरण भी किए हैं :—

(अ) स्थावर, वनस्पतिज एवं पार्थिव विष

ये जड़, पत्र, पुष्प, फल, छाल, दूध, निर्यास, रससार, कंद एवं धातु; विष के रूप में दस प्रकार के हैं। कनेर, गुंची, कचनार, धतूरा, अकौवा, गोंद, कालकूटादि कंद और संखिया इसी कोटि के विष हैं। इनका प्रभाव सात चरणों में मारक रूप ग्रहण करता है।

(ब) जंगम या प्राणिज विष :—

ये प्राणि-शरीर की आंख, श्वासोच्छ्वास, दाढ़, लार, मल, मूत्र, शुक्र, नख, वात, पित्त, गुद, मुख, दंत, शूक (डंक), शव और अस्थि के माध्यम से सोलह प्रकार से निर्गमित होते हैं। ये सांप, बंदर, पागल कुत्ता, शिशुमार, छिपकली, चूहा, गोंच, मक्खी, मच्छर, विशिष्ट मछलियों एवं शव में पाये जाते हैं। इनका विष. दंश या स्पर्श-स्थान में 450 काल मात्रा तक रहकर अपना पूर्ण प्रभाव पूर्वोक्त सात चरणों में प्रदर्शित करता है। यहां काल की मात्रा की व्याख्या नहीं की गई है।

(स) कृत्रिम विष

यद्यपि इस विषयक ग्रन्थ में कोई विवरण नहीं दिया गया है फिर भी इसके अन्तर्गत ऐसे पदार्थों को लिया जा सकता है जो रसशालाओं में तैयार किये जा सकें। वर्तमान पोटेसियम सायनाइड, कार्बन मोनोक्साइड, मेथिल आइसो-सायनाइड आदि को इस कोटि में ही रखना चाहिये (यद्यपि ये उस युग में ज्ञात न थे)।

विष की चिकित्सा वमन, विरेचन एवं औषध के रूप में त्रि-चरणी बताई गई है। काटने पर अन्तः प्रविष्ट विष के लिये बंधन, रक्तमोक्षण, अग्निजलन या जलौकाचूषण की क्रियाएँ प्राथमिक रूप से बताई गई हैं।

पारद-रसायन[३०]

पारद और उसके विभिन्न यौगिक-मिश्रण जीवन को स्वास्थ्य एवं आयुष्य प्रदान करते हैं। इस आधार पर भारत में रसतन्त्र ही चल पड़ा था जिसमें कुछ चमत्कारिकता का भी अंश था। लेकिन इस तंत्र से रसायन के विकास में बड़ी सहायता मिली है। भारत में रसायन का विकास रसतंत्र के माध्यम से ही सौलहवीं सदी तक होता रहा है। उग्रादित्य इस तंत्र की बाल्यावस्था में हुए हैं, संभवतः उन्हें नागार्जुन का रस-रत्नाकर सुलभ नहीं हो सका हो, इसीलिए पारद-रसायन से संबंधित उनका विवरण प्राथमिक स्तर का ही माना जाएगा। नागार्जुन के अठारह संस्कारों की तुलना में पारद के आठ महासंस्कारों का ही यहां वर्णन है—स्वेदन, मर्दन, धातु-मिश्रण,

सम्मिश्रण, वंधन, गर्मद्रावण, रंजन एवं सारण । ये संस्कार छह क्रियाओं के माध्यम से संपन्न होते हैं — मूर्च्छन (ठोसीकरण), मारण (भस्मीकरण), वंधन (यौगिकीकरण एवं सम्मिश्रण), तापन, वासन एव कासन । पारे को गुड़ के साथ मर्दित कर मूर्च्छित किया जाता है । कंथे के फल के रस से उसका मारण होता है। रसवंधन रसशाला में किया जाता है । दोलायंत्र की सहायता से पारद में अनेक पदार्थ मिलाकर एवं घोटकर उसे स्वेदित (अधःपातित) करते हैं और उसे वंधन-योग्य बनाते हैं । शुद्ध पारे में सुवर्ण चूर्ण मिलाकर घोटने और छानने पर एक मिश्ररस प्राप्त होता है । इसमें विभिन्न वर्गों के पदार्थ मिलाकर कांजी के दोलायंत्र में स्वेदित करने पर भी रस-बंध प्राप्त होता है । पारे में ताम्र, अभ्रक एवं लौहचूर्ण आदि मिलाकर जारण (तापन) करने से भी विभिन्न रसवंध प्राप्त होते हैं । ये रसवंध ही औषधों में काम आते हैं । मकरध्वज नामक औषध पारद, गंधक और स्वर्ण के परस्पर बंध से प्राप्त होती है ।

पारद और रसायन-कार्य के लिए जहाँ नागार्जुन ने २६ यंत्रों के नाम दिए हैं, वहाँ कल्याणकारक में इससे आधे यंत्रों का भी उल्लेख नहीं है । इससे पता चलता है कि उग्रादित्य पारद-रसायन एवं उपचार के वर्णन में काफी पीछे रह गए हैं जबकि वे खनिज एवं रासायनिक पदार्थों के विवरण में आगे हैं ।

उपसंहार

उग्रादित्य का 'कल्याणकारक' ग्रन्थ एक ओर जहाँ यह प्रमाणित करता प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में उस युग में रसायन-विद्या अधिक प्रगति पर थी, वहीं यह भी प्रकट करता है कि दक्षिण और पूर्वी-उत्तरी भारत में ज्ञान/विद्या के संप्रसारण की गति मन्द रही है और समतुल्यता में दो-तीन सौ वर्ष का अन्तराल भी सामान्य रहा है । फिर भी, यह ग्रन्थ नागार्जुन और उत्तरवर्ती रसज्ञों के बीच एक कड़ी का काम करता है क्योंकि अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ कल्याणकारक के सौ वर्ष बाद के ही पाए जाते हैं । सर्वाधिक ग्रन्थ बारहवीं-तेरहवीं सदी के हैं । इनमें कुछ जैनाचार्य-रचित भी हैं । इस विषय पर अभी कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है । इस बात की महती आवश्यकता है कि जैनाचार्यों द्वारा रसायन और भौतिक विज्ञानों में योगदान के इतिहास का सर्वेक्षण एवं लेखन किया जाए ।

निर्देश-ग्रन्थ :

१. रे, पी.; हिस्ट्री ऑफ केमिस्ट्री इन एन्सियन्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया, इण्डियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता, १९५६, पेज i।
२. साध्वी, चंदना (संपा.); उत्तराध्ययन सूत्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२, पेज १४८
३. आ. शय्यंभव; दसवेआलियं (सं. मुनि नथमल), जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४, पेज ७०, ८७
४. ऋषि अमोलक; आचारांग सूत्र (अनुवादक), अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, १९६०, पेज १९२
५. शास्त्री हीरालाल (अनु.); स्थानांग सूत्र, आगम प्र. समिति, ब्यावर, १९८१, पेज २९४
६. सेन, मधु; ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथ चूर्णि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९७५, पे. १२४
७. देखिये निर्देश ३, पेज ४४, ४५, ३८१, ४३२
८. देखिये निर्देश ५, पेज ३९२, ५९२-९३, ६६६, ४०७, ७१६, ६३६
९. विद्यालंकार अत्रिदेव; आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, सूचना-विभाग, लखनऊ, १९६०, पे. ७६-९१

नन्दलाल जैन

१०. आचार्य पूज्यपाद; सर्वार्थ-सिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१, पे. ८५

११-१२. जैन, जे.सी. तथा मेहता, एम एल.; जैन साहित्य का वृहत् इतिहास II, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६६, पे. २७ एवं ११७

१३. देखिये निर्देश ६, पेज-१२९

१४. देखिये निर्देश २, पेज-३६०-६१

१५. उपाध्याय वलदेव; संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, शारदा मन्दिर, काशी, १९६९, पेज ११

१६. (अ) सत्य प्रकाश; वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, वि. रा. पटना, १९५४ पे. २४३
(व) देखिये निर्देश १ पे. ६२

१७. जैन, एन. एल. ; साइंटिफिक कन्टेन्ट्स ऑफ अष्ट पाहुड संस्कृत वि. संगोष्ठी, काशी, १९८१

१८. उग्रादित्याचार्य; कल्याण कारक, सखाराम नेमचद्र ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४०; भूमिका

१९. देखिये, निर्देश ९ पे. २१७

२०. देखिये, निर्देश ९ पे. ३४५–४२१

२१. शाह, ए. पी.; जैन साहित्य का वृहत् इतिहास–५ पा. विद्याश्रम, काशी, १९६९, पे. २२६

२२. देखिये, निर्देश ९ पे. ३३४–४२

२३. पंडित आशाधर; सागार धर्मामृत, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, वम्वई, १९४०, पेज–४०

२४. देखिये, निर्देश १८ पेज ७१४

२५. पूर्वोक्त, पे. ६९

२६. पूर्वोक्त, पे. ५७

२७. पूर्वोक्त, पे. ७५

२८. पूर्वोक्त, पे. ५५

२९. पूर्वोक्त, अध्याय १९ पे. ४८०

३०. पूर्वोक्त, अध्याय २४ पे. ६६९

—जैन केन्द्र
रीवा-४८६ ००१ (म.प्र.)

अर्पण की समर्पणता

□

घीसूलाल पीतलिया

अपने आप को दे देना अर्पण है, अपनी अस्मिता की परवाह किए विना गुरु-चरणों में सर्वस्व न्यौछावर कर देना अर्पण है। 'तेरा तुझको अर्पण—क्या लागे मेरा ?'—वस, यही है वह चीज जिसे चाहें अर्पण कहें या समर्पण—कोई फर्क नहीं पड़ता।

अर्पण में दो तत्त्व होते हैं—एक तो अर्पण करने वाला, जो अपने आपको अर्पित करता है और दूसरा वह गरु, महनीय व्यक्ति जो उस अर्पित को स्वीकार करता है। एक लोहा है जो चुम्बक की ओर आकर्षित होता है, उससे चिपकने के लिए एवं दूसरा चुम्बक है, जो लोहे को आकर्षित करता है, चिपटने के लिए।

लोहा चुम्बक की ओर क्यों आकर्षित होता है ? सूरज की ओर ही सूरजमुखी फूल क्यों मुंह करते हैं ? मोर-पपीहे क्यों बादलों की ओर ताकते हैं ?—इन सब सवालों का कोई जवाब नहीं। शिष्य भी अपने गुरु के प्रति अवश्य आकर्षण का अनुभव करता है, तभी तो वह समर्पित होता है।

रास्ते पर चल पड़ा है—एक बटोही, पर उसे रास्ते का ज्ञान नहीं। रास्ते के जानकार व्यक्ति का उसको साथ मिल जाता है। दोनों को एक ही स्थान पर जाना है, दोनों साथ-साथ चलते हैं और चलते-चलते मंजिल मिल जाती है।

आज जो गुरु है वह पहले कभी शिष्य था। आज जो रास्ता बता रहा है वह कभी रास्ता पूछ रहा था। आज जो रास्ता पूछ रहा है, कल वह किसी को रास्ता बताएगा। कोई न कोई उससे भी रास्ता पूछने जरूर आएगा। शिष्य धीरे-धीरे गुरु बनता है, इस प्रकार गुरु-शिष्य की परम्परा चलती रहती है।

रेल में, मोटर में, हवाई जहाज में—कहीं भी सवार होने वाला व्यक्ति ड्राईवर को अपना जीवन अर्पण करता है। रेलें रात-रात भर चलती रहती हैं, सवार आराम से बेखटके सोते-पसरते-झपकियां लेते-ऊंघते-जागते सफर पूरा कर लेते हैं, ड्राइवर नहीं सोते। वे सो जाएँ अथवा बेखबर हो जाएँ तो सवारियों की खैर नहीं ! शिष्य भी भरोसा करते हैं—गुरु पर। गुरु जो कुछ भी करने को

१०. आचार्य पूज्यपाद; सर्वार्थ-सिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१, पे. ८५
११-१२. जैन, जे.सी. तथा मेहता, एम एल.; जैन साहित्य का वृहत् इतिहास II, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६६, पे. २७ एवं ११७
१३. देखिये निर्देश ६, पेज-१२६
१४. देखिये निर्देश २, पेज-३६०-६१
१५. उपाध्याय बलदेव; संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, शारदा मन्दिर, काशी, १९६९, पेज ११
१६. (अ) सत्य प्रकाश; वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा, वि. रा. पटना, १९५४ पे. २४३
(ब) देखिये निर्देश १ पे. ६२
१७. जैन, एन. एल. ; साइंटिफिक कन्टेन्ट्स ऑफ अष्ट पाहुड संस्कृत वि. संगोष्ठी, काशी, १९८१
१८. उग्रादित्याचार्य; कल्याण कारक, सखाराम नेमचद्र ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४०; भूमिका
१९. देखिये, निर्देश ६ पे. २१७
२०. देखिये, निर्देश ६ पे. ३४५–४२१
२१. शाह, ए. पी.; जैन साहित्य का वृहत् इतिहास–५ पा. विद्याश्रम, काशी, १९६९, पे. २२६
२२. देखिये, निर्देश ६ पे. ३३४–४२
२३. पंडित आशाधर; सागार धर्मामृत, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, १९४०, पेज–४०
२४. देखिये, निर्देश १८ पेज ७१४
२५. पूर्वोक्त, पे. ६९
२६. पूर्वोक्त, पे. ५७
२७. पूर्वोक्त, पे. ७५
२८. पूर्वोक्त, पे. ५५
२९. पूर्वोक्त, अध्याय १९ पे. ४८०
३०. पूर्वोक्त, अध्याय २४ पे. ६६६

—जैन केन्द्र
रीवा-४८६ ००१ (म.प्र.)

अर्पण की समर्पणता

घीसूलाल पीतलिया

अपने आप को दे देना अर्पण है, अपनी अस्मिता की परवाह किए बिना गुरु-चरणों में सर्वस्व न्यौछावर कर देना अर्पण है। 'तेरा तुझको अर्पण—क्या लागे मेरा ?'—बस, यही है वह चीज जिसे चाहें अर्पण कहें या समर्पण—कोई फर्क नहीं पड़ता।

अर्पण में दो तत्त्व होते हैं—एक तो अर्पण करने वाला, जो अपने आपको अर्पित करता है और दूसरा वह गुरु, महनीय व्यक्ति जो उस अर्पित को स्वीकार करता है। एक लोहा है जो चुम्बक की ओर आकर्षित होता है, उससे चिपकने के लिए एवं दूसरा चुम्बक है, जो लोहे को आकर्षित करता है, चिपटने के लिए।

लोहा चुम्बक की ओर क्यों आकर्षित होता है ? सूरज की ओर ही सूरजमुखी फूल क्यों मुंह करते हैं ? मोर-पपीहे क्यों बादलों की ओर ताकते हैं ?—इन सब सवालों का कोई जवाब नहीं। शिष्य भी अपने गुरु के प्रति अवश्य आकर्षण का अनुभव करता है, तभी तो वह समर्पित होता है।

रास्ते पर चल पड़ा है—एक बटोही, पर उसे रास्ते का ज्ञान नहीं। रास्ते के जानकार व्यक्ति का उसको साथ मिल जाता है। दोनों को एक ही स्थान पर जाना है, दोनों साथ-साथ चलते हैं और चलते-चलते मंजिल मिल जाती है।

आज जो गुरु है वह पहले कभी शिष्य था। आज जो रास्ता बता रहा है वह कभी रास्ता पूछ रहा था। आज जो रास्ता पूछ रहा है, कल वह किसी को रास्ता बताएगा। कोई न कोई उससे भी रास्ता पूछने जरूर आएगा। शिष्य धीरे-धीरे गुरु बनता है, इस प्रकार गुरु-शिष्य की परम्परा चलती रहती है।

रेल में, मोटर में, हवाई जहाज में—कहीं भी सवार होने वाला व्यक्ति ड्राईवर को अपना जीवन अर्पण करता है। रेलें रात-रात भर चलती रहती हैं, सवार आराम से बेखटके सोते-पसरते-झपकियां लेते-ऊंघते-जागते सफर पूरा कर लेते हैं, ड्राइवर नहीं सोते। वे सो जाएँ अथवा बेखबर हो जाएँ तो सवारियों की खैर नहीं ! शिष्य भी भरोसा करते हैं—गुरु पर। गुरु जो कुछ भी करने को

कहें— विना ननु-नच किए हुक्म वजा लेना शिष्य अपना कर्त्तव्य मानता है, पर क्या यह शिष्य का अहसान है ? नही, गुरु कभी भी अनुशास्ता वनने के भूखे नहीं होते, उन्हें सत्ता कभी भी प्रलोभित नही करती; वे शिष्यों को आचार में प्रवृत्त कराते हैं, अनाचार से निवृत्ति दिलवाते हैं – मात्र इसीलिए क्योंकि शिष्य इसका प्रार्थी होता है। उनका विधि-निषेध प्रभुता के मद का सूचक नहीं अपितु कर्त्तव्य-पालन के प्रति उनकी निष्ठा ही प्रज्ञापित करता है।

जहां समर्पण होता है, वहाँ वहस-मुवाहसा प्राय: नहीं होता। सूई के प्रति धागे का समर्पण हो तो उसे पहले छिद्र में प्रविष्ट होने के लिए अपना मुंह पतला व तीखा करना होता है। पिरोया हुआ धागा सूई का अनुगमन करता है। कैसी विचित्र वात है ? सूई चुभती है और उसके सहारे धागा सिलाई करता है, विना सूई के धागे में शक्ति नही, सूई के साथ वह खूब शक्तिशाली हो जाता है। अगर धागा सूई के छिद्र में प्रवेश-योग्य नहीं होता तो काम नहीं चलता। अगर सूई धागे का निर्वाह नहीं करती तो भी काम नहीं चलता।

अर्पणा किसको की जाए ? यह एक वहुत ही संजीदा-पेचीदा सवाल है। जहाँ सर्वत्र 'हम न किसी से कम' का वोलवाला हो, वहाँ अर्पणा-सी विषय-वस्तु के लिए स्थान ही कहाँ है ?

अगर बीज जमीन में गहरा न पैठे, पैठ कर भी अपना स्वरूप ही कायम रखना चाहे तो हो चुका उसका शत-सहस्र गुणा विकास ! पहले धरती को आत्मसात कर देने के लिए उसे अपना रूप बदलना ही पड़ेगा। अंकुर फूटेगा, पहले वाली काया खत्म होगी, फिर वह नव पौध वढ़ेगी। धरती उसे सिंचेगी, माली उसको पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करेगा, तव वृक्ष वनेगा शत-शाखी—एक छोटा-सा बीज। बीज में जो चीज है उसको बीज ही रहने देने पर प्राप्त नहीं किया जा सकता। कोठार में रहे दाने हजारों गुना नहीं बढ़ सकते। शिष्य भी जव गुरु को अपना तन-मन अर्पण कर देता है तो उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता। गुरु की इंगित आकृतियां ही उसके लिए आदेश हो जाती हैं। गुरु-आज्ञा में ही प्रवृत्ति के लिए वह तत्पर रहता है, गुरु-सेवा में ही उसका पल-पल लग जाता है। गुरु, चाहें तो पास रखें/दूर रखें; वैयावृत्य में लगाएँ या स्वाध्याय करने का हुक्म फरमाएँ; तपस्या कराएँ अथवा उपवास की भावना होते हुए भी भोजन कराएं—यह सब कुछ 'गुरु-केन्द्रित' हो जाता है।

सूई में पिरोया धागा जिस प्रकार सूई के पीछे-पीछे तव तक चलता रहता है जव तक उसका जीवन है, उसी प्रकार शिष्य भी समर्पण-भावना लिए एवं गुरु-आज्ञा से जीवन का रोम-रोम वासित किए पीछे-पीछे उनके चरण-चिन्हों का अनुगमन करता रहता है।

समर्पण में जो सुख है, अर्पण में जो आनन्द है उसे शब्दों में बांधने की मेरी सामर्थ्य नहीं। गूंगा, गुड़ खा तो सकता है पर उसके मिठास को व्यक्त नहीं कर सकता। अनुभूतियां हमेशा ही गूंगे का गुड़ हुआ करती हैं। अपने को गुरु-चरणों में अर्पित कर देना ही हमारा धर्म है। इसे न तो स्वतन्त्रता का अपहरण कहा जा सकता है और न पराधीनता ओढ़ लेना। यह तो रास्ते के जानकार के सहयात्री होने जैसा है; रेल में, मोटर में, वायुयान में, ड्राइवर पर भरोसा करने जैसा है; सिलाई के लिए धागे द्वारा सूई की मदद लेने जैसा है।

उपमाएँ एकदेशीय होती हैं, शाब्दिक दृष्टि की अपेक्षा अर्थ-दृष्टि अधिक अर्थवान् एवं सार्थक है अतः निष्कर्ष की भाषा में समर्पण-भावना के स्वरूप एवं महत्त्व के लिए इतना ही कथन पर्याप्त है कि—

"जिसने देखा कभी नयन-भर
मोहन-रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है क्योंकर,
मोहन-मोहिनी है राधा॥"

धन्य है उन महापुरुषों को, जो 'गुरु' पद के गुरुतर दायित्व का अम्लान-भाव से निर्वहन करते हैं और अर्पितों के शिव-सुख की प्राप्ति का सपना साकार करते हैं। समर्पण में जितनी प्रगाढ़ता, निःस्वार्थ-भावना एवं निश्छलता होगी, उतना ही हमारा विकास होगा—इसमें कोई संदेह नहीं !

—सिरियारी-३०६०२७
वाया : राणावास-मारवाड़

जीत-चिन्तन

संस्कृति को मानवता की आधारशिला कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। संस्कृति आत्मा से सम्बन्ध रखती है, आत्मिक उत्थान की प्रतीक है, आत्मिक उत्कर्ष की सीढ़ी है और आत्म-दर्शन की प्रक्रिया है। इसके विपरीत 'सभ्यता' शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और विलासमय साधनों की उपलब्धि के लिए किए गए प्रयत्नों का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में संस्कृति पारलौकिक तत्त्वों की द्योतक है और सभ्यता ऐहलौकिक एषणाओं की जननी। सभ्यता मनुष्य के मनोविकारों को अभिव्यक्त करती है और संस्कृति उसकी आत्मा को अभ्युत्थान की ओर ले जाती है। निःसंदेह दोनों का अस्तित्व एक ही समाज या राष्ट्र में हो सकता है और है भी, किन्तु जिन देशों में संस्कृति को सभ्यता की दासी बना दिया जाता है वहाँ सामाजिक वैषम्य एवं राष्ट्रव्यापी विप्लवों का होना अवश्यंभावी है। आज के युग का सारा सामाजिक और राजनैतिक वातावरण इसी प्रकार का है।

— आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

भारतीय दार्शनिकों के विचारों में लोकोत्पत्ति व लोकस्वरूप

रिखवराज कर्णावट 'एडवोकेट'

लोक-उत्पत्ति व उसके स्वरूप पर अनेक पाश्चात्य व भारतीय दार्शनिकों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। यूनान के दार्शनिकों से लेकर नवीन यूरोप के जागरण के पश्चात् फान्सिस वेकन, दकार्त, स्पिनोजा, जोन लोक, बर्कले, ह्यूम, लाइप्निट्ज, इमेनुअल कान्ट, फिखटे, हेगेल, स्पेन्सर, मार्क्स, जेम्स, वेर्गसा, बरट्रेंड, रसेल आदि विद्वानों ने लोक-उत्पत्ति व लोक-स्वरूप पर भाँति-भाँति के विचार प्रकट किए हैं।

भारतीय दर्शनों में चार्वाक के अतिरिक्त सभी मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। यद्यपि विभिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है। सभी दर्शन प्रायः सृष्टि-क्रम को अनादि मानते हैं। वर्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई हैं तथा अनेक प्रलय भी हुए हैं। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। अनादि विश्व की विशालता की दृष्टि से भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। अनन्त आकाश में पृथ्वी एक विन्दु मात्र है। जीवन मानों काल-समुद्र में एक छोटी-सी लहर है। काल-चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है। आइए, अब हम भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शन-शास्त्रियों की विश्व-स्वरूप की मान्यता को देखें।

चार्वाक दर्शन

विश्व के मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में चार्वाक का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर अवलम्बित है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इसलिए वे ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, अदृष्ट आदि को नहीं मानते। चार्वाक केवल जड़ को ही एक मात्र तत्त्व मानते हैं। जड़-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक भारतीय दार्शनिकों का मत है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—इन पंच-भूतों से जगत् बनता है। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानते क्योंकि आकाश का ज्ञान अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं। वे केवल चार तत्त्वों से ही संसार की उत्पत्ति मानते हैं। उनके कथनानुसार प्राणियों का जन्म तत्त्वों के सहयोग से होता है। मृत्यु उनका बिखरना है। चैतन्य को वे शरीर का गुण मानते हैं। वे जगत् के किसी स्रष्टा की कल्पना भी अनावश्यक मानते हैं। जड़ तत्त्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है, यही उनका सिद्धांत है।

महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन

संसार के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। परमाणुओं के संयोग और विभाग यों ही नही हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते हैं। उनकी मान्यता है कि परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है, जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणु की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उस भाग के बारे में है जो अनित्य है। नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न तो सृष्टि होती है, न विनाश। जगत् में जो क्रम देखने में आता है उसकी उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि जगत् में परमाणुओं के संयोगजन्य भौतिक कार्य-द्रव्य भी हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मक भी है। ये दिक्, काल और आकाश में अवस्थित कार्य व काल की शृंखला में बंधे हुए है। जीवात्मा अपनी बुद्धि, ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख और दुःख का फल प्राप्त करते हैं। सृष्टि और संहार का कर्त्ता परमेश्वर है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होता है। इसलिए किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रलय के समय केवल चार भूतों के परमाणु, पांच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओं के संस्कार बच जाते हैं, जिनसे फिर अगली सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि का यही स्वरूप न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम भी मानते हैं और जीवात्मा की स्वतन्त्र-सत्ता भी स्वीकार करते हैं। जीवात्माओं को कर्मफल भोग कराने तथा अन्ततः उन्हें अपना स्वरूपज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि की रचना या उसका संहार करता है।

सांख्य दर्शन (महर्षि कपिल का)

इस दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है अतः अकेली सृष्टि नहीं कर सकती। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है तभी सृष्टि का उद्गम होता है। जैसे अन्धा और लंगड़ा एक-दूसरे की सहायता से ही जंगल पार कर सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष परस्पर मिलकर सृष्टि के कार्य को सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर सत्व, रज और तम—तीनों गुणों की साम्य-अवस्था में विकार उत्पन्न होता है, तीनों गुणों का पृथक्करण व संयोजन होता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं। सांख्य-मतानुसार सृष्टि के क्रम में सबसे पहले "महत्" या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। प्रकृति का दूसरा विकार अहकार है, यह महत्-तत्त्व का परिणाम है। अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है—(१) सात्विक (२) राजसिक और (३) तामसिक। सात्विक अहंकार से एकादश इंद्रियों की उत्पत्ति होती है (पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन)। तामसिक अहंकार से पाँच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) की उत्पत्ति होती है। राजस-अहंकार, सात्विक व तामसिक अहंकार का सहायक होता है। पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूतों का आविर्भाव होता है :

(१) शब्द से आकाश का।
(२) स्पर्श और शब्द के योग से वायु का।
(३) रूप, स्पर्श और शब्द के योग से तेज या अग्नि का।
(४) रस, रूप, स्पर्श और शब्द के योग से जल का।

(५) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसमें ये पांचों गुण पाए जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्त्वों का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है और पंच महाभूतों में समाप्त होता है। संसार, परमाणुओं के अंधाधुंध सहयोग का फल नहीं है बल्कि एक विशेष प्रयोजन से उसकी सृष्टि होती है, ताकि पुरुषों को अपने धर्माधर्म या सुख-दुःख का भोग करना सम्भव हो। योग दर्शन उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है।

मीमांसा दर्शन

प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमांसा जगत और उसके समस्त विषयों को सत्य मानती है। प्रत्यक्ष विषयों के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। संसार इन तत्त्वों से बना है:—

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो सुख-दुःख भोग के साधन हैं।
(२) शरीर या भोगायतन, जिसमें जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मों का भोग करते हैं।
(३) वाह्य पदार्थ, जो भोग के विषय हैं।

कुछ मीमांसक. वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद को मानते हैं किन्तु मीमांसा-मत में परमाणु ईश्वर द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा बंधन में आते हैं और उनसे मोक्ष भी पा लेते हैं। ये ईश्वर को जगत-कर्त्ता नहीं मानते।

वेदान्तदर्शन

बादरायण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज—दोनों इस विषय पर सहमत हैं कि अचेतन-तत्त्व से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है. विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदांत-साहित्य में ब्रह्म को मूल तत्त्व माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्य-पूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते हैं। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं। माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है और संसार के रूप में दिखलाई पड़ता है। जब शंकर प्रकृति को माया कहते हैं तब उनका मतलब रचनात्मक शक्ति से है। शंकर अद्वैत वेदांत को मानते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नहीं मानते – "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। जो पदार्थ सतत समभाव से विद्यमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत की सत्यता अद्वैतवादियों को मान्य नहीं क्योंकि जगत् सदा परिवर्तन-शील है। जगत की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए कामनाहीन निष्काम-कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है परन्तु देहादि

उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज-मत में जीव अनन्त है, वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त-आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो पाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है। मुक्त-जीव में सर्वज्ञता आती है परन्तु सर्व-कर्तृत्व-गुण ईश्वर के ही साथ रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि के विकास-क्रम के संबंध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं परन्तु शंकराचार्य उसको अधिक महत्त्व नहीं देते। भिन्न-भिन्न श्रुतियों में सृष्टि-विषयक विभिन्न वर्णन पाए जाते हैं। पुराणों में भी विविध कल्पनाओं का सहारा लेकर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। शंकराचार्य ने सृष्टि का मूल तत्त्व शुद्ध सत्चित्त को ही माना है। जगत के क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं से दी गई है:- (१) सुषुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था और (३) जागृतावस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिरण्यगर्भ है, जागृतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाएँ क्रम में अलग जान पड़ती हैं तथापि ये एक ही साथ हैं ऐसा माना जा सकता है क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्त्व के अनुसंधान करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने दुःख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध, संसार में दिखने वाली सब वस्तुओं को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचलित नहीं होते किन्तु स्वयं चालित होते हैं। सामग्री (समग्र कारणों के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के सहयोग से रूपज्ञान होता है। इस नियम को 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पादन से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसीलिए बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया है।

'प्रतीत्य-समुत्पाद' के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थाई द्रव्य को नहीं मानते, अतः वे आत्मा को भी नहीं मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टांत दिया है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जातीं। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का संग्रह है, जिसे पंच स्कंध कहते हैं। पहला स्कंध है रूप, जिसके अंतर्गत आकार, रंग आदि आते हैं। दूसरा स्कंध है वेदनाओं का, जिसके अन्दर सुख-दुःख आते हैं। तीसरा स्कंध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथा स्कंध संस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आती हैं। पांचवां स्कंध विज्ञान अर्थात् चेतना है। इन पांचों स्कंधों की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कंध नहीं माना है किन्तु बाद में बौद्ध-दर्शन में विचारों का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है, कारण यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने मुक्ति बताई है, यदि आत्मा नहीं है तो मुक्ति (निर्वाण) किसकी होगी ?

रिखबराज कर्णावट 'एडवोकेट'

(५) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसमें ये पांचों गुण पाए जाते हैं।

इस प्रकार सृष्टि इन तत्त्वों का खेल है जो प्रकृति से आरम्भ होता है और पंच महाभूतों में समाप्त होता है। संसार, परमाणुओं के अंधाधुंध सहयोग का फल नहीं है बल्कि एक विशेष प्रयोजन से उसकी सृष्टि होती है, ताकि पुरुषों को अपने धर्माधर्म या सुख-दुःख का भोग करना सम्भव हो। योग दर्शन उपर्युक्त लोकस्वरूप के विवेचन से सहमत है।

मीमांसा दर्शन

प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के आधार पर मीमांसा जगत और उसके समस्त विषयों को सत्य मानती है। प्रत्यक्ष विषयों के सिवाय यह नरक, स्वर्ग, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियमानुसार सृष्टि की रचना होती है। संसार इन तत्त्वों से बना है:—

(१) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय, जो सुख-दुःख भोग के साधन हैं।
(२) शरीर या भोगायतन, जिसमें जीवात्मा अपने-अपने पूर्व कर्मों का भोग करते हैं।
(३) बाह्य पदार्थ, जो भोग के विषय हैं।

कुछ मीमांसक. वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद को मानते हैं किन्तु मीमांसा-मत में परमाणु ईश्वर द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के नियमानुसार ही परिवर्तित होते हैं। इनके अनुसार जितने जीव हैं उतने ही आत्मा। जीवात्मा बंधन में आते हैं और उनसे मोक्ष भी पा लेते हैं। ये ईश्वर को जगत-कर्त्ता नहीं मानते।

वेदान्तदर्शन

बादरायण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज—दोनों इस विषय पर सहमत हैं कि अचेतन-तत्त्व से जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती। उनके अनुसार ईश्वर सर्वव्यापी है. विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी है। वेदांत-साहित्य में ब्रह्म को मूल तत्त्व माना है। सृष्टि उसी ब्रह्म की शक्ति से प्रकट हुई है। माया ब्रह्म की प्रकृति और शक्ति है। इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्य-पूर्ण सृष्टि की लीला दिखलाते है। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं। माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इसी भ्रम के कारण जगत् के आधार ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप छिप जाता है और संसार के रूप में दिखलाई पड़ता है। जब शंकर प्रकृति को माया कहते हैं तब उनका मतलब रचनात्मक शक्ति से है। शंकर अद्वैत वेदांत को मानते हैं। ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता अद्वैतवादी नहीं मानते – "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"। जो पदार्थ सतत समभाव से विद्यमान रहे वह सत्य कहलाता है। इस परिभाषा के अनुसार जगत की सत्यता अद्वैतवादियों को मान्य नहीं क्योंकि जगत् सदा परिवर्तन-शील है। जगत की पारमार्थिक स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत का उपादान कारण बतलाया है, वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए कामनाहीन निष्काम-कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है परन्तु देहादि

उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त-आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार वह ईश्वर के समान है। ईश्वर के साथ उसका एकात्म्य नहीं हो पाता। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है। मुक्त-जीव में सर्वज्ञता आती है परन्तु सर्व-कर्तृत्व-गुण ईश्वर के ही साथ रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है।

सृष्टि के विकास-क्रम के संबंध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं परन्तु शंकराचार्य उसको अधिक महत्त्व नहीं देते। भिन्न-भिन्न श्रुतियों में सृष्टि-विषयक विभिन्न वर्णन पाए जाते हैं। पुराणों में भी विविध कल्पनाओं का सहारा लेकर अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। शंकराचार्य ने सृष्टि का मूल तत्त्व शुद्ध सत्चित्त को ही माना है। जगत के क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं से दी गई है:- (१) सुपुप्तावस्था, (२) स्वप्नावस्था और (३) जागृतावस्था। सुपुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म हिरण्यगर्भ है, जागृतावस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। ये अवस्थाएँ क्रम में अलग जान पड़ती हैं तथापि ये एक ही साथ हैं ऐसा माना जा सकता है क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध ने आत्मा और जगत् के मूल तत्त्व के अनुसंधान करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने दुःख-निरोध की समस्या पर ही अधिक बल दिया। बुद्ध, संसार में दिखने वाली सब वस्तुओं को सत्य मानते हैं। उनका कहना है कि किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। ये नियम किसी चेतन-शक्ति के द्वारा परिचलित नहीं होते किन्तु स्वयं चालित होते हैं। सामग्री (समग्र कारणों के समूह) से ही कार्य उत्पन्न होता है, जैसे मन, चक्षु, विषय का रूप, आलोक आदि के सहयोग से रूपज्ञान होता है। इस नियम को 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहते हैं। प्रतीत्य समुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है। वर्तमान जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का फल है और साथ ही वर्तमान जीवन का भविष्य के जीवन से भी सम्बन्ध है। प्रतीत्य समुत्पादन से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित होती है। बुद्ध सभी वस्तुओं को परिवर्तनशील तथा नाशवान् मानते हैं, इसीलिए बुद्ध ने क्षणिकवाद और अनित्यवाद का प्रतिपादन किया है।

'प्रतीत्य-समुत्पाद' के कारण ही बुद्ध परिवर्तनशील दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त किसी अदृष्ट स्थाई द्रव्य को नहीं मानते, अतः वे आत्मा को भी नहीं मानते। फिर भी बुद्ध ने पूर्व जन्म को माना है और दीपक की ज्योति का दृष्टांत दिया है। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जातीं। बुद्ध के अनुसार मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का संग्रह है, जिसे पंच स्कंध कहते हैं। पहला स्कंध है रूप, जिसके अंतर्गत आकार, रंग आदि आते हैं। दूसरा स्कंध है वेदनाओं का, जिसके अन्दर सुख-दुःख आते हैं। तीसरा स्कंध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञानों का है। चौथा स्कंध संस्कार है, जिसके अन्तर्गत पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आती हैं। पांचवां स्कंध विज्ञान अर्थात् चेतना है। इन पांचों स्कंधों की समष्टि का ही नाम मनुष्य माना है। आत्मा नाम का कोई स्कंध नहीं माना है किन्तु बाद में बौद्ध-दर्शन में विचारों का समावेश हुआ है और आत्मा का भी अस्तित्व स्वीकार किया गया है, कारण यह बताया गया है कि महात्मा बुद्ध ने मुक्ति बताई है, यदि आत्मा नहीं है तो मुक्ति (निर्वाण) किसकी होगी?

जैन-दर्शन

अब तक हमने जैनेतर भारतीय दार्शनिकों के लोकस्वरूप संबंधी विचार देखे, अब इस संबंध में जैन दार्शनिकों की विचारधारा प्रस्तुत है—

जैन दार्शनिकों ने लोक के संबंध में अपने मंतव्य को प्रस्तुत करने के लिए चार अपेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं (१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य-अपेक्षा से यह प्रकट किया गया है कि यह लोक किन तत्त्वों से युक्त है। क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बतलाई है। काल के द्वारा लोक की आदि-अनादि के संबंध में तथा भाव के द्वारा लोकगत द्रव्यों के स्वभाव व इनके परिवर्तन के संबंध में बताया है।

जैन-धर्म-प्रवर्तकों के अनुसार आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल—ये पाँचों अस्तिकाय हैं क्योंकि ये सभी छोटे-छोटे अत्यंत सूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं। गणना के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक अखण्ड द्रव्य है तथा जीव और पुद्गल संख्या में अनंत हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक असंख्य योजन लम्बा, चौड़ा और ऊँचा है जिसमें पृथ्वी-जल-अग्नि और वनस्पति बहुत सीमित क्षेत्र में हैं तथा लोक का अधिकांश भाग मुख्यतः वायु-पूरित है।

काल की अपेक्षा से ये पांचों ही द्रव्य अनादि है अर्थात् न कभी स्वतः उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐसे ही किसी तत्त्व के द्वारा उत्पन्न किये गए हैं। जिस प्रकार यह लोक आदि-रहित है उसी प्रकार अंत-रहित भी है अर्थात् यह न कभी स्वतः नष्ट होगा, न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा।

ईश्वर से लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिए जैन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे सर्वथा नवीन बनाया तो उपादान-द्रव्यों को लेकर बनाया या शून्य से ही निर्मित किया? यदि उपादान-द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान-द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया। ईश्वर को चाहे कितना ही शक्तिमान क्यों न मान लिया जाए, अभाव से कोई किसी पदार्थ को निर्मित नहीं कर सकता। सर्वथा असत् का उत्पादन और सत् का विनाश कदापि सम्भव नहीं है। प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान, दोनों एक स्वर से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वास्तव में पदार्थो का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन-मात्र है। शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सम्भव नहीं है। कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह कपालों का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपांतरों के अतिरिक्त और क्या है? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय को त्याग कर घट के रूप में आती है और घट के रूप को त्याग कर कपाल-रूप को धारण कर लेती है। प्रत्येक रूपान्तर में मिट्टी अपने रूप में स्थाई है, यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थो पर लागू होती है और समस्त पदार्थ-राशि ही लोक है। इस प्रकार जैन-दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि-अनन्त-अखण्डित अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोक नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

पर्यायों के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ़, रहस्यमयी एवं कल्पनातीत शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह प्राकृतिक कारणों एवं मानवीय आदि प्रयत्नों से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

भाव के अनुसार जैसा कि पहले कहा है, गुण और पदार्थ दोनों ही ग्रहण किए जाते हैं। पांचों द्रव्यों के गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान जीवों और पुद्‌गलों की गति में सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवों और पुद्‌गलों की स्थिति में सहायता देता है। आकाशास्तिकाय स्थान (अवकाश) प्रदान करता है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है अर्थात् द्रव्यों में रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना-देखना ही उसका गुण है। यह अशुद्ध दशा में पदार्थों के प्रति मोहित भी होता है और उनकी प्राप्ति के लिए वीर्य का प्रयोग भी करता है। पुद्‌गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है।

इन पांचों अस्तिकायों में पर्यायों का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र में कुछ जीवों और पुद्‌गलों की गति में सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवों और पुद्‌गलों से अन्य जीवों और पुद्‌गलों को भी सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायता देता है।

लोक में व्याप्त जीव और पुद्‌गल जब एक स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जाते हैं तो आकाश के साथ उनका संयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशों से संयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे संयुक्त हो जाते हैं। संयोग-वियोग रूप अवस्थाओं का यह परिणमन आकाश का पर्याय-परिवर्तन कहलाता है।

जीवास्तिकाय में पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन-उपयोग में रहता है तो कभी ज्ञान-उपयोग में। अर्थात् कभी वह पदार्थों का सामान्य ज्ञान करता होता है तो कभी विशेष ज्ञान। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों में भी उसके पर्यायों का परिवर्तन होता है।

पुद्‌गलास्तिकाय में वर्ण की अपेक्षा काले से नीले में, नीले से लाल में, लाल से पीले में—इस प्रकार कभी क्रमबद्ध तो कभी क्रम-रहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गंध की अपेक्षा सुगंध से दुर्गंध में और दुर्गंध से सुगंध में परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायों का परिवर्तन भी होता रहता है।

पाँचों द्रव्यों के सामान्यतः गुण और पर्याय बतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाँचों द्रव्यों में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों को मुख्यतया हमारे लिए अनुमानगम्य बतलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनों की अपेक्षा कुछ शीघ्र होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अब जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय हैं, वे भी जब शुद्ध-स्वभाव में तथा शुद्ध-पर्याय में रहते हैं तब तक दूसरे सामान्य लोगों के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं माने गए हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव की शुद्ध-दशा, सिद्ध-दशा मानी गई है जो कि देहरहित, इन्द्रिय-रहित और कर्ममुक्त-अवस्था है। जीव की अशुद्ध-दशा, संसार-दशा है जो देह-इन्द्रिय और कर्म-सहित

जैन-दर्शन

अब तक हमने जैनेतर भारतीय दार्शनिकों के लोकस्वरूप संबंधी विचार देखे, अब इस संबंध में जैन दार्शनिकों की विचारधारा प्रस्तुत है—

जैन दार्शनिकों ने लोक के संबंध में अपने मंतव्य को प्रस्तुत करने के लिए चार अपेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं (१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल और (४) भाव।

द्रव्य-अपेक्षा से यह प्रकट किया गया है कि यह लोक किन तत्त्वों से युक्त है। क्षेत्र के द्वारा उन्होंने इस लोक की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बतलाई है। काल के द्वारा लोक की आदि-अनादि के संबंध में तथा भाव के द्वारा लोकगत द्रव्यों के स्वभाव व इनके परिवर्तन के सबंध में बताया है।

जैन-धर्म-प्रवर्तकों के अनुसार आकाश, धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल—ये पांचों अस्तिकाय हैं क्योंकि ये सभी छोटे-छोटे अत्यंत सूक्ष्म व अविभाज्य प्रदेशों की राशि रूप हैं। गणना के अनुसार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक-एक अखण्ड द्रव्य है तथा जीव और पुद्गल संख्या में अनंत हैं।

क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक असंख्य योजन लम्बा, चौड़ा और ऊँचा है जिसमें पृथ्वी-जल-अग्नि और वनस्पति बहुत सीमित क्षेत्र में हैं तथा लोक का अधिकांश भाग मुख्यतः वायु-पूरित है।

काल की अपेक्षा से ये पांचों ही द्रव्य अनादि है अर्थात् न कभी स्वतः उत्पन्न हुए और न कभी किसी ईश्वर या ऐसे ही किसी तत्त्व के द्वारा उत्पन्न किये गए हैं। जिस प्रकार यह लोक आदि-रहित है उसी प्रकार अंत-रहित भी है अर्थात् यह न कभी स्वतः नष्ट होगा, न अन्य के द्वारा नष्ट किया जा सकेगा।

ईश्वर से लोक की उत्पत्ति नहीं मानने के लिए जैन दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि ईश्वर ने यदि इसे सर्वथा नवीन बनाया तो उपादान-द्रव्यों को लेकर बनाया या शून्य से ही निर्मित किया? यदि उपादान-द्रव्यों से बनाया तो उन उपादान-द्रव्यों की अपेक्षा लोक अनादि सिद्ध हो गया। ईश्वर को चाहे कितना ही शक्तिमान क्यों न मान लिया जाए, अभाव से कोई किसी पदार्थ को निर्मित नहीं कर सकता। सर्वथा असत् का उत्पादन और सत् का विनाश कदापि सम्भव नहीं है। प्राचीन दर्शन और अर्वाचीन विज्ञान, दोनों एक स्वर से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते है। जिसे हम उत्पाद और विनाश कहते हैं, वह वास्तव में पदार्थों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन-मात्र है। शून्य का अस्तित्व में आ जाना अथवा किसी विद्यमान पदार्थ का शून्य रूप में हो जाना सम्भव नहीं है। कुम्हार घट बनाता है तो मिट्टी के पिण्ड की आवश्यकता होती है और घट जब नष्ट हो जाता है तो वह कपालों का रूप धारण कर लेता है। वस्तुतः घट का उत्पाद और विनाश मिट्टी के रूपांतरों के अतिरिक्त और क्या है? मिट्टी अपने पिण्ड-पर्याय को त्याग कर घट के रूप में आती है और घट के रूप को त्याग कर कपाल-रूप को धारण कर लेती है। प्रत्येक रूपान्तर में मिट्टी अपने रूप में स्थाई है, यही प्रक्रिया जगत् के समस्त पदार्थों पर लागू होती है और समस्त पदार्थ-राशि ही लोक है। इस प्रकार जैन-दर्शन मूलभूत द्रव्यों का अनादि-अनन्त-अखण्डित अस्तित्व स्वीकार करता हुआ भी अवस्थाओं का परिवर्तन मान्य करता है। अतएव द्रव्यदृष्टि से लोक नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है।

पर्यायों के परिवर्तन के लिए किसी निगूढ़, रहस्यमयी एवं कल्पनातीत शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह प्राकृतिक कारणों एवं मानवीय आदि प्रयत्नों से होता रहता है। आज भी परिवर्तन का अप्रतिहत प्रवाह चल रहा है और सदैव चालू रहेगा।

भाव के अनुसार जैसा कि पहले कहा है, गुण और पदार्थ दोनों ही ग्रहण किए जाते हैं। पांचों द्रव्यों के गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय का स्वभाव गतिमान जीवों और पुद्गलों की गति में सहायता देना है। अधर्मास्तिकाय स्थिर होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति में सहायता देता है। आकाशास्तिकाय स्थान (अवकाश) प्रदान करता है। जीवास्तिकाय का स्वभाव ज्ञान और दर्शनमय है अर्थात् द्रव्यों में रही हुई एकता को और भिन्नता को जानना-देखना ही उसका गुण है। यह अशुद्ध दशा में पदार्थों के प्रति मोहित भी होता है और उनकी प्राप्ति के लिए वीर्य का प्रयोग भी करता है। पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव वर्ण, गंध, रस और स्पर्श है।

इन पांचों अस्तिकायों में पर्यायों का परिवर्तन इस प्रकार माना गया है—धर्मास्तिकाय कभी किसी क्षेत्र में कुछ जीवों और पुद्गलों की गति में सहायता देता है तो वही दूसरे क्षण उन जीवों और पुद्गलों से अन्य जीवों और पुद्गलों को भी सहायता देता है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भी माना गया है। अन्तर यही है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायता देता है जब कि अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायता देता है।

लोक में व्याप्त जीव और पुद्गल जब एक स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जाते हैं तो आकाश के साथ उनका संयोग-वियोग होता है। अर्थात् वे आकाश के जिन प्रदेशों से संयुक्त थे, उनसे वियुक्त हो जाते हैं और जिनसे वियुक्त थे, उनसे संयुक्त हो जाते हैं। संयोग-वियोग रूप अवस्थाओं का यह परिणमन आकाश का पर्याय-परिवर्तन कहलाता है।

जीवास्तिकाय में पर्याय बदलने का क्रम यह है कि कभी वह दर्शन-उपयोग में रहता है तो कभी ज्ञान-उपयोग में। अर्थात् कभी वह पदार्थों का सामान्य ज्ञान करता होता है तो कभी विशेष ज्ञान। इसी प्रकार अन्यान्य रूपों में भी उसके पर्यायों का परिवर्तन होता है।

पुद्गलास्तिकाय में वर्ण की अपेक्षा काले से नीले में, नीले से लाल में, लाल से पीले में—इस प्रकार कभी क्रमवद्ध तो कभी क्रम-रहित बदलने की क्रिया होती रहती है। गंध की अपेक्षा सुगंध से दुर्गंध में और दुर्गंध से सुगंध में परिवर्तन की क्रिया चलती है। इसी प्रकार रस और स्पर्श की पर्यायों का परिवर्तन भी होता रहता है।

पाँचों द्रव्यों के सामान्यतः गुण और पर्याय वतलाए जा चुके हैं, परन्तु इन पाँचों द्रव्यों में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों को मुख्यतया हमारे लिए अनुमानगम्य वतलाया गया है। आकाश का भी ज्ञान यद्यपि उन दोनों की अपेक्षा कुछ शीघ्र होता है परन्तु वह भी अनुमानगम्य ही है। अव जो शेष जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय हैं, वे भी जव शुद्ध-स्वभाव में तथा शुद्ध-पर्याय में रहते हैं तव तक दूसरे सामान्य लोगों के लिए प्रत्यक्षगम्य नहीं माने गए हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव की शुद्ध-दशा, सिद्ध-दशा मानी गई है जो कि देहरहित, इन्द्रिय-रहित और कर्ममुक्त-अवस्था है। जीव की अशुद्ध-दशा, संसार-दशा है जो देह-इन्द्रिय और कर्म-सहित

होती है। जीव की शुद्ध-दशा एक रूप ही होती है किन्तु अशुद्ध-दशा के प्रकार अनेक हैं। उन प्रकारों को जैन-दर्शन में विभिन्न रीतियों से बाँट कर बताया गया है। उनमें से एक रीति के अनुसार 12 प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय—खान आदि में रहने वाली वह मिट्टी, जो बढ़ती हो।
(२) अप्काय—ऐसा जल, जिसको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो।
(३) तेजस्काय—संघर्ष आदि से उत्पन्न होने वाली अग्नि।
(४) वायुकाय—हवा।
(५) वनस्पतिकाय—वृक्ष, पौधे, झाड़ियाँ, लताएँ, वेलें, हरी-घास, शाक, धान्य आदि।
(६) द्वीन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय और रसन-इन्द्रिय मिली हो।
(७) त्रीन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय मिली हो।
(८) चतुरिन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु-इन्द्रिय मिली हो।
(९) नारक—नरक-भूमि में रहने वाले पाँच इन्द्रियों से युक्त अति दुःखी जीव।
(१०) तिर्यच-पंचेन्द्रिय—पशु-पक्षी, मछली, सर्प, नेवले आदि जीव।
(११) मनुष्य—सर्वाधिक मननशील एवं शक्तिसंपन्न वह जीव, जो समस्त वंधनों से मुक्त होकर परमात्मा तक भी बन सकता है, बशर्ते वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करे।
(१२) देव—देव-स्थानों आदि में रहने वाले वे जीव, सुखोपभोग ही एकमात्र जिनका जीवन है।

पिछले नारकादि चारों प्रकार के जीव पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं। सुनने वाली इन्द्रिय—श्रोत्रेन्द्रिय पांचवीं इन्द्रिय है। कुछ लोगों ने द्वीन्द्रिय से पंचेंद्रिय तक के जीव-प्रकारों में ही जीवत्व माना है। परन्तु जैन दार्शनिकों के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पांच प्रकारों में भी जीवत्व विद्यमान है। यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नहीं है, फिर भी अनुमान एवं आगम के आधार पर उनमें जीवत्व है, ऐसा जाना जा सकता है। वनस्पति में जीवत्व का होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु ने भी सिद्ध किया है, जिसे अन्य वैज्ञानिकों द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है। हवा-पानी-अग्नि आदि पदार्थों को पृथक् रूप में या सामूहिक रूप में कई दार्शनिकों ने इस लोक के मूल तत्त्व के रूप में माना है और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति इन्हीं से बाद में हुई, ऐसा कहा है। किन्तु जैनमतानुसार उपर्युक्त बारह ही प्रकार के जीव अनादि-काल से हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म-उपार्जन करके उनके निमित्त से इन विभिन्न योनियों में अनादि-काल से परिभ्रमण करते हैं। ये जीव के प्रकार भविष्य में भी सदा विद्यमान रहेंगे। इनमें से प्रयत्न करते-करते कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते हैं और कुछ प्रयत्न के अभाव में अविकसित ही रह जाते हैं। मानव जैसा विकसित प्राणी अशुभ-कर्मोदय से पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप में जन्म ले लेता है और विकासशील जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता से विशुद्ध-दशा भी प्राप्त कर लेता है। जीव की इस अशुद्ध एवं शुद्ध-दशा का कारण कर्म है। कर्म का अर्थ यहाँ कार्य या आचरण नहीं वरन् पुद्गलास्तिकाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार का भौतिक-द्रव्य है, जिसे जैन-दर्शन में 'कार्मणवर्गणा' कहते हैं। कार्मण-वर्गणा के ये पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त हैं। राग-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीव-प्रदेशों के साथ ऐसे संवद्ध हो जाते हैं, जैसे-दूध और पानी।

ये कर्म आत्मा के साथ आंतरिक राग-द्वेष आदि निमित्तों से सम्बद्ध होते है। मानसिक अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हों, उसी प्रकार के शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़ते जाते हैं। वे इस जगत् के पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति में तथा दुःखों में निमित्त बनते हैं।

जो विचार कर्म-बंध में निमित्त बनते हैं, वे मूलतः आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य-पुद्गलों से आकृष्ट होते हैं। जब तक विचार बाह्य-पुद्गलों को लेकर बनते हैं तब तक वे नवीन कर्म-बंध को उत्पन्न करते रहते हैं। जो विचार बाह्य-पुद्गलों के निमित्त से नहीं बनते उनके कारण आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध भी नहीं होता। जिन विचारों से आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, जैन-दार्शनिकों ने उन्हें 'लेश्या' कहा है।

राग-द्वेष आदि आंतरिक कारणों से कर्म-पुद्गलों का बंध होता है और बद्ध-कर्म-पुद्गल जब अपना फल प्रदान करते हैं तब राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह दुतरफा कार्य-कारण-भाव अनादिकाल से चला आ रहा है। फलतः जीव की अशुद्ध-दशा बनी रहती है। जिस समय जीव अपने आंतरिक चिंतन को सबल करके बाह्य कारणों को हटाता जाता है तब वह क्रमशः उन्नत होकर शुद्ध-दशा को पहुंच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध-दशा और अशुद्ध-दशा दोनों का ही परिवर्तन अनादि काल से माना गया है और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध-दशा ही रह जाएगी, ऐसा भी नहीं माना है। परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ संयुक्त होकर सदा के लिए स्कंध रूप में ही रहें, ऐसा कभी नहीं होगा और परमाणु, स्कंध से पृथक् होकर सदा के लिए परमाणु रूप में ही रहें, ऐसा भी नहीं होगा।

पुद्गलों में यह जो परिवर्तन बताया गया है, जैन-दर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते हैं—

(१) स्वतः— अर्थात्—बिना किसी चैतन्यशक्ति के भी इन में संयोग-वियोग चलता रहता है।
(२) परतः— कभी जीव के संयोग से भी पुद्गलों में परिवर्तन होता है।
(३) उभयतः— कभी पुद्गल और जीव दोनों की शक्ति से भी पुद्गलों में परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में जैन-दार्शनिकों ने जो कुछ बताया है उससे यह पता चलता है कि इस विश्व में मुख्य रूप से परिवर्तनशील ये दो ही पदार्थ हैं और विश्व की जितनी रचना दिखाई देती हैं उसमें इन्हीं दो तत्त्वों की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक यानि विश्व का निर्माण या संचालन किए जाने की बात जैन-दर्शन बिलकुल नहीं मानता।

जैन-दार्शनिकों के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-जीवास्तिकाय-पुद्गलास्तिकाय-आकाशास्तिकाय और काल—इन छह द्रव्यों का समूह है, जो अनादि और अनन्त है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, द्रव्य रूप से ध्रुव है और पर्याय रूप से उत्पत्ति एवं विनाशशील हैं। द्रव्यों के पर्यायों की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य-अंश कायम रहता है, यही जैन-दर्शन के स्याद्वाद का रहस्य है। जैन-दर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य

होती है। जीव की शुद्ध-दशा एक रूप ही होती है किन्तु अशुद्ध-दशा के प्रकार अनेक हैं। उन प्रकारों को जैन-दर्शन में विभिन्न रीतियों से बाँट कर बताया गया है। उनमें से एक रीति के अनुसार 12 प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय—खान आदि में रहने वाली वह मिट्टी, जो बढ़ती हो।

(२) अप्काय—ऐसा जल, जिसको अग्नि आदि का सम्पर्क न हुआ हो।

(३) तेजस्काय—संघर्ष आदि से उत्पन्न होने वाली अग्नि।

(४) वायुकाय—हवा।

(५) वनस्पतिकाय—वृक्ष, पौधे, झाड़ियाँ, लताएँ, बेलें, हरी-घास, शाक, धान्य आदि।

(६) द्वीन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय और रसन-इन्द्रिय मिली हो।

(७) त्रीन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय मिली हो।

(८) चतुरिन्द्रिय—जिनको स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रूप को पहिचानने वाली चक्षु-इन्द्रिय मिली हो।

(९) नारक— नरक-भूमि में रहने वाले पाँच इन्द्रियों से युक्त अति दुःखी जीव।

(१०) तिर्यच-पंचेन्द्रिय— पशु-पक्षी, मछली, सर्प, नेवले आदि जीव।

(११) मनुष्य— सर्वाधिक मननशील एवं शक्तिसंपन्न वह जीव, जो समस्त बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा तक भी बन सकता है, बशर्ते वह अपनी शक्ति का सदुपयोग करे।

(१२) देव—देव-स्थानों आदि में रहने वाले वे जीव, सुखोपभोग ही एकमात्र जिनका जीवन है।

पिछले नारकादि चारों प्रकार के जीव पांच इन्द्रियों से युक्त होते हैं। सुनने वाली इन्द्रिय—श्रोत्रेन्द्रिय पांचवीं इन्द्रिय है। कुछ लोगों ने द्वीन्द्रिय से पंचेंद्रिय तक के जीव-प्रकारों में ही जीवत्व माना है। परन्तु जैन दार्शनिकों के अनुसार पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पांच प्रकारों में भी जीवत्व विद्यमान है। यद्यपि उनका जीवत्व मनुष्य आदि के जीवन की तरह नहीं है, फिर भी अनुमान एवं आगम के आधार पर उनमें जीवत्व है, ऐसा जाना जा सकता है। वनस्पति में जीवत्व का होना भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु ने भी सिद्ध किया है, जिसे अन्य वैज्ञानिकों द्वारा निर्विवाद स्वीकार कर लिया गया है। हवा-पानी-अग्नि आदि पदार्थों को पृथक् रूप में या सामूहिक रूप में कई दार्शनिकों ने इस लोक के मूल तत्त्व के रूप में माना है और शेष द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति इन्हीं से बाद में हुई, ऐसा कहा है। किन्तु जैनमतानुसार उपर्युक्त बारह ही प्रकार के जीव अनादि-काल से हैं और अपने ही शुभाशुभ पुरुषार्थ के द्वारा शुभाशुभ कर्म-उपार्जन करके उनके निमित्त से इन विभिन्न योनियों में अनादि-काल से परिभ्रमण करते हैं। ये जीव के प्रकार भविष्य में भी सदा विद्यमान रहेंगे। इनमें से प्रयत्न करते-करते कुछ जीव विकसित दशा को प्राप्त कर लेते हैं और कुछ प्रयत्न के अभाव में अविकसित ही रह जाते हैं। मानव जैसा विकसित प्राणी अशुभ-कर्मोदय से पृथ्वीकाय आदि अविकसित रूप में जन्म ले लेता है और विकासशील जीव अपने पुरुषार्थ की प्रबलता से विशुद्ध-दशा भी प्राप्त कर लेता है। जीव की इस अशुद्ध एवं शुद्ध-दशा का कारण कर्म है। कर्म का अर्थ यहाँ कार्य या आचरण नहीं वरन् पुद्गलास्तिकाय के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार का भौतिक-द्रव्य है, जिसे जैन-दर्शन में 'कार्मणवर्गणा' कहते हैं। कार्मण-वर्गणा के ये पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वत्र व्याप्त हैं। राग-द्वेष आदि की सहायता पाकर वे जीव-प्रदेशों के साथ ऐसे संबद्ध हो जाते हैं, जैसे-दूध और पानी।

ये कर्म आत्मा के साथ आंतरिक राग-द्वेष आदि निमित्तों से सम्बद्ध होते हैं। मानसिक अध्यवसाय अर्थात् विचार जैसे भी शुभ या अशुभ हों, उसी प्रकार के शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ जुड़ते जाते हैं। वे इस जगत् के पौद्गलिक सुखों की प्राप्ति में तथा दुःखों में निमित्त बनते हैं।

जो विचार कर्म-बंध में निमित्त बनते हैं, वे मूलतः आत्मा के गुण होने पर भी बाह्य-पुद्गलों से आकृष्ट होते हैं। जब तक विचार बाह्य-पुद्गलों को लेकर बनते हैं तब तक वे नवीन कर्म-बंध को उत्पन्न करते रहते हैं। जो विचार बाह्य-पुद्गलों के निमित्त से नहीं बनते उनके कारण आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध भी नहीं होता। जिन विचारों से आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, जैन-दार्शनिकों ने उन्हें 'लेश्या' कहा है।

राग-द्वेष आदि आंतरिक कारणों से कर्म-पुद्गलों का बंध होता है और बद्ध-कर्म-पुद्गल जब अपना फल प्रदान करते हैं तब राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह दुतरफा कार्य-कारण-भाव अनादिकाल से चला आ रहा है। फलतः जीव की अशुद्ध-दशा बनी रहती है। जिस समय जीव अपने आंतरिक चिंतन को सबल करके बाह्य कारणों को हटाता जाता है तब वह क्रमशः उन्नत होकर शुद्ध-दशा को पहुंच जाता है।

पुद्गलास्तिकाय की शुद्ध-दशा और अशुद्ध-दशा दोनों का ही परिवर्तन अनादि काल से माना गया है और यह परिवर्तन किसी समय रुक कर मात्र शुद्ध या अशुद्ध-दशा ही रह जाएगी, ऐसा भी नहीं माना है। परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ संयुक्त होकर सदा के लिए स्कंध रूप में ही रहें, ऐसा कभी नहीं होगा और परमाणु, स्कंध से पृथक् होकर सदा के लिए परमाणु रूप में ही रहें, ऐसा भी नहीं होगा।

पुद्गलों में यह जो परिवर्तन बताया गया है, जैन-दर्शन के अनुसार उसके तीन कारण होते हैं—

(१) स्वतः— अर्थात्—बिना किसी चैतन्यशक्ति के भी इन में संयोग-वियोग चलता रहता है।
(२) परतः— कभी जीव के संयोग से भी पुद्गलों में परिवर्तन होता है।
(३) उभयतः— कभी पुद्गल और जीव दोनों की शक्ति से भी पुद्गलों में परिवर्तन आता है।

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध में जैन-दार्शनिकों ने जो कुछ बताया है उससे यह पता चलता है कि इस विश्व मे मुख्य रूप से परिवर्तनशील ये दो ही पदार्थ हैं और विश्व की जितनी रचना दिखाई देती है उसमें इन्हीं दो तत्त्वों की प्रधानता है। ईश्वर द्वारा लोक यानि विश्व का निर्माण या संचालन किए जाने की बात जैन-दर्शन बिलकुल नहीं मानता।

जैन-दार्शनिकों के अनुसार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह लोक धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय-जीवास्तिकाय-पुद्गलास्तिकाय-आकाशास्तिकाय और काल—इन छह द्रव्यों का समूह है, जो अनादि और अनन्त है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य, द्रव्य रूप से ध्रुव है और पर्याय रूप से उत्पत्ति एवं विनाशशील हैं। द्रव्यों के पर्यायों की प्रतिक्षण उत्पत्ति व प्रतिक्षण विनाश होने पर भी द्रव्य-अंश कायम रहता है, यही जैन-दर्शन के स्याद्वाद का रहस्य है। जैन-दर्शनानुसार कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य

नहीं है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय-रूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्याद्वाद के सिद्धांत द्वारा जैन-दर्शन ने पर्याय की दृष्टि से बौद्ध-दर्शन और द्रव्य की दृष्टि से सांख्य-दर्शन को अपने में अन्तर्भूत कर लिया है।

जैन-दर्शन के लोकस्वरूप के विषय में जो थोड़ा-सा विवेचन दिया है, उससे भी यही प्रतीत होता है कि जैन-दर्शन सर्वांग-सम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एवं बुद्धि से संगत है और उसके पीछे विज्ञान का पर्याप्त समर्थन है।

डॉ. एल. पी. टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैन-धर्म" यथार्थतः उच्चकोटि का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर टिके हुए हैं। ज्यों-ज्यों पदार्थ-विज्ञान उन्नत होता जा रहा है त्यों-त्यों वह जैन-धर्म के सिद्धान्तों को सुदृढ़ कर रहा है।

अजाक्षर सरकार (एम.ए., बी.एल.) लिखते हैं कि "जैन-दर्शन में जीवन-तत्त्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन में नहीं है।" इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज वर्नार्ड शा ने तो जैन-सिद्धान्तों और दर्शन के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहाँ तक कह दिया है कि वे मृत्यु के बाद जैन-परिवार में जन्म लेना चाहते हैं। महात्मा गांधी के पुत्र स्व. देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर बर्नार्ड शा ने कहा कि "जैन-धर्म में ईश्वर या परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य स्वात्मा की उत्क्रान्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ परमात्मपद की प्राप्ति के लिए मार्ग अन्यत्र नहीं, अपने में ही बताया गया है।

इस प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैन-दर्शन अत्यंत उच्च कोटि का दर्शन है। लोक सम्बन्धी इस विज्ञान-सम्मत विवेचना से इस तथ्य का आभास आसानी से मिल सकता है।

—जोधपुर (राज.)

जीत–चिन्तन

जिस ईश्वर में राग और कर्म का अभाव है, वह अपनी माया द्वारा संसार के जीवों को यन्त्र के समान संसार में घुमा रहा है, यह बात बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। फिर वह तो सर्वज्ञ भी है, जो सर्वज्ञ होता है वह पूर्ण होता है, पूर्ण वही होता है जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा की सत्ता नहीं होती; इच्छा के बिना ही ईश्वर नाम की शक्ति ने सृष्टि को उत्पन्न कर दिया, यह बात भी ठीक नहीं जंचती। दुष्टों के संहार के लिए और सज्जनात्माओं के कल्याण के लिए भगवान् को सृष्टि में अवतार के रूप में आना पड़ता है, यह कल्पना भी मात्र कल्पना ही प्रतीत होती है। —आ. प्रा. श्री जीतमल जी म.सा.

तप ज्वाला भी ज्योति भी

डॉ. नरेन्द्र भानावत

जीवन में 'तेजस्' ही मुख्य तत्त्व है जो तपस्या के द्वारा प्राप्त होता है। जिस जीवन में तेजस्विता नहीं, वह मिट्टी के उस दीपक के समान है जिसका आकार तो है पर ज्योति नहीं। यह ज्योति तपस्या द्वारा ही प्राप्त होती है।

तपस्या का जीवन और जगत् में बड़ा महत्त्व है। जो तपता है वही पकता है। तपन ही वह शक्ति है जो 'खार' को 'खीर' में बदलती है, 'अम्ल' को 'अमृत' में ढालती है। वैशाख-ज्येष्ठ में सूर्य प्रचण्ड रूप से तपता है। उसकी यह तपन ही आषाढ़ की प्रथम बूंद की वाहक बनती है। तप, तप कर ही कच्चा आम रसदार-रसाल बनता है। तप, सृष्टि का मूल है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है— "तपो ब्रह्मेति" (९/२) अर्थात्— "तप ही ब्रह्म है।" तप को साध्य और साधन—दोनों रूपों में देखा गया है। मुण्डक उपनिषद्कार का कथन है—

"तपसा चीयते ब्रह्म" (१/१/८)

अर्थात्—तप के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान एवं परमात्मपद प्राप्त किया जाता है। 'महाभारत' (आदि पर्व. ९०/२२) में स्वर्ग के सात द्वार बताए गए हैं, उनमें पहला द्वार तप है। तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। ज्वाला के रूप में तप पर्यावरण में व्याप्त विजातीय पदार्थों को नष्ट करता है तो ज्योति के रूप में अंतः प्रकृति में स्थित पाप रूप अंधकार को तिरोहित कर आत्म-प्रकाश को प्रज्वलित करता है। जिसने तपना नहीं जाना, वह ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं कर सकता। 'ऋग्वेद' में कहा है—

"पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते,
प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते,
शृतास इद्वहन्तस्तत्समा सत॥"

अर्थात्—हे ब्रह्माण्ड के पति! तेरा पवित्र ज्ञान-सामर्थ्य सब कहीं फैला हुआ है। उस पवित्र ज्ञान-सामर्थ्य के साथ तुम मेरे शरीरों-अवयवों में भी सब तरफ से प्राप्त हुए हो, परन्तु जिसने अपने

नहीं है, किन्तु द्रव्यरूप से नित्य और पर्याय-रूप से अनित्य (विनाशशील) है। स्याद्वाद के सिद्धांत द्वारा जैन-दर्शन ने पर्याय की दृष्टि से बौद्ध-दर्शन और द्रव्य की दृष्टि से सांख्य-दर्शन को अपने में अन्तर्भूत कर लिया है।

जैन-दर्शन के लोकस्वरूप के विषय में जो थोड़ा-सा विवेचन दिया है, उससे भी यही प्रतीत होता है कि जैन-दर्शन सर्वांग-सम्पूर्ण दर्शन है। वह तर्क एवं बुद्धि से संगत है और उसके पीछे विज्ञान का पर्याप्त समर्थन है।

डॉ. एल. पी. टेसीटोरी (इटालियन विद्वान्) का कथन है कि "जैन-धर्म" यथार्थतः उच्चकोटि का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान के आधार पर टिके हुए हैं। ज्यों-ज्यों पदार्थ-विज्ञान उन्नत होता जा रहा है त्यों-त्यों वह जैन-धर्म के सिद्धान्तों को सुदृढ़ कर रहा है।

अजाक्षर सरकार (एम.ए., बी.एल.) लिखते हैं कि "जैन-दर्शन में जीवन-तत्त्व की जैसी विस्तृत आलोचना है, वैसी किसी भी दर्शन में नहीं है।" इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार जार्ज बर्नार्ड शा ने तो जैन-सिद्धान्तों और दर्शन के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रदर्शित करने हेतु यहाँ तक कह दिया है कि वे मृत्यु के बाद जैन-परिवार में जन्म लेना चाहते हैं। महात्मा गांधी के पुत्र स्व. देवदास द्वारा इसका कारण पूछने पर बर्नार्ड शा ने कहा कि "जैन-धर्म में ईश्वर या परमात्मा का परवाना किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया है। जगत् का कोई भी विशिष्ट योग्यता वाला मनुष्य स्वात्मा की उत्क्रान्ति करके परमात्मा बन सकता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ परमात्मपद की प्राप्ति के लिए मार्ग अन्यत्र नहीं, अपने में ही बताया गया है।

इस प्रकार विद्वानों की सम्मति में जैन-दर्शन अत्यंत उच्च कोटि का दर्शन है। लोक सम्बन्धी इस विज्ञान-सम्मत विवेचना से इस तथ्य का आभास आसानी से मिल सकता है।

—जोधपुर (राज.)

जीत–चिन्तन

जिस ईश्वर में राग और कर्म का अभाव है, वह अपनी माया द्वारा संसार के जीवों को यन्त्र के समान संसार में घुमा रहा है, यह बात बुद्धि की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। फिर वह तो सर्वज्ञ भी है, जो सर्वज्ञ होता है वह पूर्ण होता है, पूर्ण वही होता है जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा की सत्ता नहीं होती; इच्छा के बिना ही ईश्वर नाम की शक्ति ने सृष्टि को उत्पन्न कर दिया, यह बात भी ठीक नहीं जंचती। दुष्टों के संहार के लिए और सज्जनात्माओं के कल्याण के लिए भगवान् को सृष्टि में अवतार के रूप में आना पड़ता है, यह कल्पना भी मात्र कल्पना ही प्रतीत होती है।

—आ. प्रा. श्री जीतमल जी म.सा.

तप ज्वाला भी ज्योति भी

□

डॉ. नरेन्द्र भानावत

जीवन में 'तेजस्' ही मुख्य तत्त्व है जो तपस्या के द्वारा प्राप्त होता है। जिस जीवन में तेजस्विता नहीं, वह मिट्टी के उस दीपक के समान है जिसका आकार तो है पर ज्योति नहीं। यह ज्योति तपस्या द्वारा ही प्राप्त होती है।

तपस्या का जीवन और जगत् में बड़ा महत्त्व है। जो तपता है वही पकता है। तपन ही वह शक्ति है जो 'खार' को 'खीर' में बदलती है, 'अम्ल' को 'अमृत' में ढालती है। वैशाख-ज्येष्ठ में सूर्य प्रचण्ड रूप से तपता है। उसकी यह तपन ही आषाढ़ की प्रथम बूंद की वाहक बनती है। तप, तप कर ही कच्चा आम रसदार-रसाल बनता है। तप, सृष्टि का मूल है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है— "तपो ब्रह्मेति" (९/२) अर्थात्— "तप ही ब्रह्म है।" तप को साध्य और साधन—दोनों रूपों में देखा गया है। मुण्डक उपनिषद्‌कार का कथन है—

"तपसा चीयते ब्रह्म" (१/१/८)

अर्थात्—तप के द्वारा ही ब्रह्मज्ञान एवं परमात्मपद प्राप्त किया जाता है। 'महाभारत' (आदि पर्व. ९०/२२) में स्वर्ग के सात द्वार बताए गए हैं, उनमें पहला द्वार तप है। तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। ज्वाला के रूप में तप पर्यावरण में व्याप्त विजातीय पदार्थों को नष्ट करता है तो ज्योति के रूप में अंतः प्रकृति में स्थित पाप रूप अंधकार को तिरोहित कर आत्म-प्रकाश को प्रज्वलित करता है। जिसने तपना नहीं जाना, वह ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं कर सकता। 'ऋग्वेद' में कहा है —

"पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्यते,
प्रभुर्गात्राणि पर्येणि विश्वतः।
अतप्ततनूनं तदामो अश्नुते,
श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समा सत ॥"

अर्थात्—हे ब्रह्माण्ड के पति ! तेरा पवित्र ज्ञान-सामर्थ्य सब कहीं फैला हुआ है। उस पवित्र ज्ञान-सामर्थ्य के साथ तुम मेरे शरीरों-अवयवों में भी सब तरफ से प्राप्त हुए हो, परन्तु जिसने अपने

शरीर को तप से तपाया नहीं है, जो कच्चा है वह उस पवित्रता को नहीं पाता। जो पके हुए हैं वे ही उसे धारण करते हुए अच्छी तरह प्राप्त करते हैं। प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने तप की परिभाषा करते हुए लिखा है—

"तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपः"

—निशीथ चूर्णि–४६

अर्थात्—जिस क्रिया से, जिस प्रवृत्ति से पाप-कर्म तप्त होकर जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, उस क्रिया को तप कहते हैं। पर यह क्रिया विवेकपूर्वक की जानी चाहिए। जो इस क्रिया को कर्म-काण्ड का रूप दे देते हैं, वे तप करके भी प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते, केवल ताप के उत्पीड़न में जलते रहते हैं। ऐसा तप वास्तविक तप न होकर देह-दंड मात्र होता है। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के समय में तपस्या के नाम पर ऐसा देह-पीड़न चरम सीमा पर था। 'व्यवहार भाष्य' व 'औपपातिक सूत्र' में उल्लेख आता है कि गांव-गांव और जंगल-उपवनों में ऐसे हजारों-लाखों बाल-तपस्वी (अज्ञानी तपसाधक) भरे पड़े थे। कोई कड़कड़ाती सर्दी में नासाग्र तक जल में खड़ा रहकर रात बिताता था, कोई भुजाएँ ऊपर उठाकर चिलचिलाती धूप में सूर्य-मण्डल के सामने खड़ा होकर आतापना लेता था, कोई वृक्ष की शाखा से पांवों को बांध कर औंधा लटक जाता था, कोई जीते जी छाती तक भूमि में गड़कर पड़ा रहता था, कोई सिर्फ खलिहानों में धान साफ करने के बाद बचे-खुचे दाने बीनकर ही पेट भरता था, कोई पानी पर तैरती सेवाल (काई) खाकर ही पड़ा रहता था।

भगवान् महावीर स्वयं उग्र तपस्वी थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक कठोर तपस्या कर केवल-ज्ञान प्राप्त किया था, पर वे उक्त प्रकार के देहदमन के विरुद्ध थे। उन्होंने स्पष्ट कहा—

"मासे मासे तु जो बालो,
कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स,
कलं अग्घइ सोलसिं।"

—उत्तराध्ययन सूत्र ९/४४

अर्थात्—जो बाल (अज्ञानी) साधक एक-एक मास का कठोर उपवास करता है और पारणे में सिर्फ घास की नोंक पर टिके उतना-सा भोजन लेता है, वह (इतना कठोर तप करने पर भी) श्रेष्ठ धर्म (सम्यक् चारित्ररूप श्रमण-धर्म) की सौलहवीं कला को भी नहीं पा सकता है।

महावीर ने क्रिया के साथ ज्ञान-विवेक को, तप के साथ संयम-आत्मजय को आवश्यक बताया।

तप का उद्देश्य विषय-विकारों को नष्ट कर आत्म-शक्तियों को जागृत करना है, न कि चमत्कार-प्रदर्शन कर भोली-भाली जनता पर प्रभाव जमाना। किसी समय तपस्या का उद्देश्य 'स्वर्गकामोयजेत'—स्वर्ग के लिए यज्ञ-तप करो—रहा। ऋषि-मुनि अपनी तपस्या के बल से इन्द्र का शासन कंपायमान कर देते थे और किसी को अभिशाप देकर उसका जीवन संकटाग्रस्त बना देते थे पर यह तप द्वारा प्रदत्त शक्ति की सार्थकता नहीं थी। उसकी सार्थकता तो चित्त-शुद्धि, मानसिक पवित्रता, आत्म-जागृति और कर्म-निर्जरा में ही मानी गई। कामनायुक्त तप का निषेध करते हुए कहा गया है—

"नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ।
नो कित्तिवण्णसद्दासिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ॥"
—दशवैकालिक ९/४

अर्थात्—इह-लोक की कामना और अभिलाषा से तप मत करो, परलोक की कामना और लालसा से तप मत करो, यश-कीर्त्ति और प्रतिष्ठा आदि के लिए तप मत करो । तप, कर्म-निर्जरा एवं आत्म-शुद्धि के लिए करो ।

प्रत्येक जीव में जो आत्मा विराजमान है वह परमात्म-स्वरूप है । पर कर्म पुद्गलों, विषय-विकारों के कारण वह कलुषित हो जाती है । सम्पूर्ण कलुष-कलमष को मिटाकर आत्मा के परमात्म-स्वरूप को निखारने की प्रक्रिया का नाम ही तप है । भगवान महावीर ने एक उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा—जैसे किसी विशाल सरोवर में निरन्तर जल आते रहने से वह सदा जल से भरा रहता है, वैसे ही आत्मा में निरन्तर पापाचरण रूप आस्रव द्वारा कर्म-रूप-जल आते रहने से वह कर्मों से घिरा रहता है—आवृत्त रहता है । तालाब को जल से खाली करने के लिए पहले उसके जल के आने के स्रोत-रास्ते बन्द करने होते हैं ताकि नया जल न आ पाए । इस तरीके को संवर या संयम कहा जाता है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों की पालना संयम है । इससे नए कर्म नहीं बंधते । पुराना पानी जो तालाब में भरा पड़ा है उसे बाहर फेंकने के लिए पम्प आदि लगाना आवश्यक है, सूर्य की गरमी भी उसको सुखाने के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार पुराने संचित कर्म नष्ट करने के लिए तपस्या का विधान है । तप द्वारा करोड़ों भवों के संचित कर्म निर्जरित हो जाते हैं—

भवकोडीय संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।
—उत्तरा. ३०/६

सच्चा तपस्वी क्षमाशील और शान्त होता है । वह उत्तेजित और क्षुब्ध नहीं होता । तप का मूल धैर्य माना गया है—'तवस्स मूलं धित्ती ।' तपस्या के प्रभाव से शरीर का दुर्बल होना इष्ट नहीं है, इष्ट है मन का प्रसन्न होना, विनयी होना, संवेदनशील होना, कष्ट-सहिष्णु होना, अनासक्त होना । वही तपस्या श्रेष्ठ है जिससे कि मन किसी का अमंगल नहीं सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो और धर्माचरण में विघ्न न आए ।

भगवान् महावीर ने तप के दो प्रकार बताए हैं । बाह्य तप और आंतरिक तप । जिस तप का प्रभाव मुख्यतः शरीर पर पड़ता है वह बाह्य तप और जो अंतरंग में चलने वाली मानसिक क्रियाओं से संबंधित है वह अन्तरंग तप है । पर दोनों एक-दूसरे को पुष्ट और प्रभावित करते हैं । बाह्य तप, प्रमुखता से इन्द्रिय-भोगों को नियंत्रित करते हैं और आंतरिक तप मनोविकारों—क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायों को शांत करते हैं । बाह्य-तप छह प्रकार का बताया गया है—

(१) अनशन—आहार का त्याग, प्राणों का मोह छोड़ने का अभ्यास । इसे उपवास भी कहते हैं जिसका अर्थ है परमात्म-स्वरूप के निकट निवास करना ।

(२) ऊनोदरी—भूख से कम खाना, आवश्यकताएँ कम करने का अभ्यास करना।
(३) भिक्षाचरी—अभिग्रह आदि के साथ शुद्ध निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना, अर्जन के स्रोत शुद्ध रखना।
(४) रस-परित्याग—स्वाद-विजय, मांसाहार आदि स्निग्ध रसों का त्याग करना।
(५) काय-क्लेश—शरीर को विविध आसनों आदि के द्वारा कष्ट-सहिष्णु बनाकर साधना तथा उसकी चंचलता कम करना।
(६) प्रतिसंलीनता—शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन आदि का संयम करना।

आन्तरिक तप भी छह प्रकार का है—

(१) प्रायश्चित—दोष-विशुद्धि के लिए सरलतापूर्वक प्रायश्चित आदि करना।
(२) विनय—गुरुजनों आदि का आदर, बहुमान एवं भक्ति करना।
(३) वैयावृत्य—गुरु, रोगी, समाज, राष्ट्र, दीन-दुःखी आदि की सेवा करना।
(४) स्वाध्याय—सत्शास्त्रों का अध्ययन, मनन व चिंतन करना।
(५) ध्यान—चंचल मन को एकाग्र करना, शुभ-ध्यान में लगाना।
(६) व्युत्सर्ग—कषाय आदि का त्याग करना, शरीर की ममता छोड़कर उसे साधना में स्थिर करना, देहातीत होने का अभ्यास करना।

इस प्रकार महावीर ने तपस्या को देह-दमन व आत्म-पीड़न से ऊपर उठाकर उसे विकट-मुक्ति के साधन रूप में प्रतिष्ठापित किया।

वासुदेव श्री कृष्ण ने 'गीता' में तप के तीन प्रकार बताए। शारीरिक तप का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—

"देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
—श्रीमद्भगवद् गीता १७/१४

अर्थात्—देवता, ब्राह्मण, गुरु-जन एवं ज्ञानी-जनों का आदर-सत्कार करना, उनकी सेवा करना, शरीर एवं आचरण को पवित्र रखना, सरल-व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा किसी जीव को कष्ट नहीं देना शारीरिक तप है। वाचिक तप का स्वरूप बताते हुए कहा—

अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रिय हितं च तत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
—गीता १७/१५

अर्थात्—दूसरों को उद्विग्न न करने वाला, शांतिकारक, सत्य, प्रिय एवं हितकर वचन बोलना, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करना वाचिक तप है। मानसिक तप का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा—

"मनःप्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भाव-संशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते॥"
गीता १७/१६

अर्थात्—मन को प्रसन्न रखना, शांत भाव, मौन, मनोनिग्रह और मन की शुद्धि मानसिक तप है।

तप का स्वरूप बताने के बाद गीताकार ने तप की शुद्धता, ध्येय की पवित्रता एव आचरण की निष्कपटता पर विचार करते हुए कहा है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार का तप यदि निष्कामवृत्ति (फलाकांक्षा से रहित) होकर दृढ़ श्रद्धा के साथ किया जाता है तो वह तप सात्विक-तप है। यदि वह सत्कार, सम्मान एवं लोकों में पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए किया जाता है तो राजसिक-तप है। मिथ्या-दृष्टि के वशीभूत होकर आत्म-पीड़न या पराए के नाश के लिए जो तप किया जाता है वह तामसिक-तप है।

स्पष्ट है कि तप का सात्विक रूप ही हमारा इष्ट होना चाहिए। पर लगता है कि हम तप के क्षेत्र में भी सौदेबाजी करने के आदी हो गए हैं। तप करके भी हम अपने जीवन-क्रम को बदल नहीं पाते। हमारी दृष्टि 'स्व' पर केन्द्रित न होकर 'पर' पर केन्द्रित रहती है। हमारा ध्यान जुलूस और प्रदर्शनों पर, पुरस्कारों और प्रभावना पर टिका रहता है। जैसे धर्म की अन्य क्रियाएँ बहिर्मुखी हो गई हैं, वैसे ही तपस्या को भी हमने बहिर्मुखी बना दिया है। यदि विवेकपूर्वक चिन्तन कर, हमने तप को जीवन-शुद्धि और वृत्ति-परिष्कारक नहीं बनाया तो निश्चित मानिए कि तप से हमें ताप ही मिलेगा, प्रकाश नहीं। यह प्रत्येक तप-साधक के सोचने की बात है कि उसके तप में कितनी ज्वाला है और कितनी ज्योति ? हमारा तप ज्वाला के लिए नहीं, ज्योति के लिए होना चाहिए।

सी. २३५ ए, तिलक नगर
जयपुर (राज.) ३०२००४

जीत-चिन्तन

'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं" अर्थात्– ब्रह्मचर्य सब तपों में सर्वोत्तम है। ब्रह्मचर्य के अभाव में अन्य किसी भी तप-साधना में साधक कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में साधक की सामान्य तप-साधना जहाँ वरदान सिद्ध होती है वहीं उसके अभाव में विशिष्ट तप-साधना भी अभिशाप का रूप ले लेती है, साधक पथ-भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य, धर्म का मूल है। बिना ब्रह्मचर्य का पालन किए धर्म की सांगोपांग आराधना कदापि संभव नहीं है। शास्त्रों में तो यहाँ तक उल्लेख है कि "जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना की है उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों व तपों की सम्यक् आराधना कर ली है।" अतः कुशल-साधक को ब्रह्मचर्य-व्रत का पूर्णरूपेण पालन करना चाहिए।

—आ. प्र. श्री जीतमलजी म.सा.

सामायिक क्या-क्यों और कैसे ?

साध्वी हेमप्रभाजी 'साहित्य रत्न'

गृहस्थ-श्रावक पाँच मूल अणुव्रतों और इन्हें पुष्ट करने वाले तीन गुणव्रतों को स्वीकार करके अपने जीवन रूपी वट-वृक्ष को हरा-भरा, पुष्पित, फलित, सुगन्धित, छायादार एवं रमणीय बना लेता है। उसके जीवन में इन आठ व्रतों द्वारा त्याग-वृत्ति आ जाती है लेकिन यह त्यागवृत्ति तभी टिक सकती है जब श्रावक का जीवन आध्यात्मिक आनन्द से ओत-प्रोत हो, उसमें आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान हो और आत्मा के निजी गुणों में ही वह अधिकतर मग्न रहने का प्रयत्न करे। इसी के लिए शास्त्रकारों ने चार शिक्षाव्रतों का विधान किया, जिनमें प्रथम शिक्षाव्रत है—'सामायिक'।

समता-भाव के विकास और अभ्यास के लिए, ग्रहण किए व्रतों की स्मृति को तरोताजा रखने के लिए, अनात्म-भाव पर आत्म-भाव की विजय के लिए और आत्म-चिंतन के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रतिदिन ४८ मिनट तक एकान्त-शान्त स्थान में बैठकर सब प्रकार के पापमय-व्यापारों का परित्याग करना 'सामायिक व्रत' है।

सामायिक की महिमा अपार है। यह वह लोकोत्तर रत्न है, जिसकी कीमत नहीं हो सकती। सारी दुनियां की सम्पत्ति के बराबर एकत्रित धनराशि से भी इसका मोल नहीं हो सकता। मगध का सम्राट् श्रेणिक अपनी अपरिमित धनराशि से भी पूणिया श्रावक की एक सामायिक का मोल करने में असमर्थ रहा।

सामायिक का अर्थ और महत्त्व

जैसे समस्त पदार्थों का आधार आकाश है, वैसे ही समस्त सद्गुणों का आधार सामायिक है क्योंकि सामायिक से रहित चारित्रादि गुण फलित नहीं हो सकते। जैसा कि कहा है—

सामायिकं गुणानामाधारः खमिवसर्वभावानाम्।
न हि सामायिक-हीनाश्चरणादि-गुणान्विता येन॥
—अनुयोग-वृति.

वह साधना, वह व्रत, वह अभ्यास एकमात्र सामायिक ही है, जिसके बल पर आत्मा विशुद्ध बनकर लोकालोक-प्रकाशक, पूर्ण आत्म-विकास रूप केवल-ज्ञान और सर्व-कर्म-क्षय-पूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में सामायिक से होने वाले लाभ को प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार बताया गया है—

प्रश्न—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— सामाइएणं सावज्जजोग–विरइं जणयइ।

श्री गौतम स्वामी ने पूछा—अहो भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ है ?

उत्तर में प्रभु महावीर ने फरमाया—हे गौतम ! सामायिक से आत्मा को सावद्य-योग (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्ति) से विरति रूप महाफल की प्राप्ति होती है।

सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। "सामायिक" शब्द तीन शब्दों से बना है—'सम्', 'आय' और 'इक्'। 'सम्' का अर्थ है समता या समभाव। समता का लाभ जिसमें हो, वह सामायिक है—"समस्य-रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य आयः लाभः समायः। समाय एव सामायिकम्"।

वस्तुतः समता ही सामायिक है। समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एवं समभाव का आचरण—ये तीनों सामायिक के अन्तर्गत आते हैं।

द्रव्य और भाव सामायिक

कम से कम दो घड़ी यानी ४८ मिनिट के लिए स्वच्छ, निरवद्य-स्थान में भूमि का अच्छी तरह प्रमार्जन कर, आसन बिछाकर, गृहस्थ का वेष उतारकर, शुद्ध श्वेत वस्त्र–धोती-उत्तरासन आदि धारणकर, मुख पर मुख-वस्त्रिका लगाकर, पूंजनी लेकर एक जगह बैठना और समभाव का चिन्तन-मनन करना; समभाव के परम-उपासक वीतराग देव के स्वरूप का चिंतन करना, जप करना, आनुपूर्वी आदि विविध माध्यमों से परमेष्ठी-मंत्र का स्मरण करना, आत्मा में समभाव की ज्योति जगाना, मन-वचन-काया की शुद्धि रखना, विधि-पूर्वक सामायिक ग्रहण करके समभाव का अभ्यास करना 'द्रव्य-सामायिक' है।

राग-द्वेष के प्रसंगों पर समभाव रखना, राग-द्वेष रहित होने का प्रयत्न करना, सावद्य-योग से आत्मा को परे करना, स्व-स्वभाव में रमण करना तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ-भावनाओं से अपने अन्तःकरण को आप्लावित करते रहना ही 'भाव-सामायिक' है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य एवं भाव-युक्त समत्व-साधना का अभ्यास करना ही सामायिक है। द्रव्य-सामायिक बाह्य क्रियाओं तथा तत्सम्बन्धी शुद्धता तक सीमित है जबकि विषम-भावों का त्याग कर समभाव में स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थों से ममता हटाकर आत्म-भाव में लीन होना आदि आंतरिक भावों की शुद्धता पर आधारित है, 'भाव-सामायिक'। द्रव्य सामायिक के साथ भाव सामायिक का योग ही सामायिक व्रत का सच्चा स्वरूप है।

सामायिक क्या-क्यों और कैसे ?

साध्वी हेमप्रभाजी 'साहित्य रत्न'

गृहस्थ-श्रावक पाँच मूल अणुव्रतों और इन्हें पुष्ट करने वाले तीन गुणव्रतों को स्वीकार करके अपने जीवन रूपी वट-वृक्ष को हरा-भरा, पुष्पित, फलित, सुगन्धित, छायादार एवं रमणीय बना लेता है। उसके जीवन में इन आठ व्रतों द्वारा त्याग-वृत्ति आ जाती है लेकिन यह त्यागवृत्ति तभी टिक सकती है जब श्रावक का जीवन आध्यात्मिक आनन्द से ओत-प्रोत हो, उसमें आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान हो और आत्मा के निजी गुणों में ही वह अधिकतर मग्न रहने का प्रयत्न करे। इसी के लिए शास्त्रकारों ने चार शिक्षाव्रतों का विधान किया, जिनमें प्रथम शिक्षाव्रत है—'सामायिक'।

समता-भाव के विकास और अभ्यास के लिए, ग्रहण किए व्रतों की स्मृति को तरोताजा रखने के लिए, अनात्म-भाव पर आत्म-भाव की विजय के लिए और आत्म-चिंतन के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रतिदिन ४८ मिनट तक एकान्त-शान्त स्थान में बैठकर सब प्रकार के पापमय-व्यापारों का परित्याग करना 'सामायिक व्रत' है।

सामायिक की महिमा अपार है। यह वह लोकोत्तर रत्न है, जिसकी कीमत नहीं हो सकती। सारी दुनियां की सम्पत्ति के बराबर एकत्रित धनराशि से भी इसका मोल नहीं हो सकता। मगध का सम्राट् श्रेणिक अपनी अपरिमित धनराशि से भी पूणिया श्रावक की एक सामायिक का मोल करने में असमर्थ रहा।

सामायिक का अर्थ और महत्त्व

जैसे समस्त पदार्थों का आधार आकाश है, वैसे ही समस्त सद्‌गुणों का आधार सामायिक है क्योंकि सामायिक से रहित चारित्रादि गुण फलित नहीं हो सकते। जैसा कि कहा है—

> सामायिकं गुणानामाधारः खमिवसर्वभावानाम्।
> न हि सामायिक-हीनाश्चरणादि-गुणान्विता येन ॥
>
> —अनुयोग-वृति.

वह साधना, वह व्रत, वह अभ्यास एकमात्र सामायिक ही है, जिसके बल पर आत्मा विशुद्ध बनकर लोकालोक-प्रकाशक, पूर्ण आत्म-विकास रूप केवल-ज्ञान और सर्व-कर्म-क्षय-पूर्वक मोक्ष प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में सामायिक से होने वाले लाभ को प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार बताया गया है—

प्रश्न—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
उत्तर— सामाइएणं सावज्जजोग–विरइं जणयइ।

श्री गौतम स्वामी ने पूछा—अहो भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ है ?

उत्तर में प्रभु महावीर ने फरमाया—हे गौतम ! सामायिक से आत्मा को सावद्य-योग (मन-वचन-काया की पापयुक्त प्रवृत्ति) से विरति रूप महाफल की प्राप्ति होती है।

सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। "सामायिक" शब्द तीन शब्दों से बना है—'सम्', 'आय' और 'इक्'। 'सम्' का अर्थ है समता या समभाव। समता का लाभ जिसमें हो, वह सामायिक है—"समस्य-रागद्वेषान्तरालवर्तितया मध्यस्थस्य आयः लाभः समायः। समाय एव सामायिकम्"।

वस्तुतः समता ही सामायिक है। समभाव का ज्ञान, समभाव पर श्रद्धा एवं समभाव का आचरण—ये तीनों सामायिक के अन्तर्गत आते हैं।

द्रव्य और भाव सामायिक

कम से कम दो घड़ी यानी ४८ मिनिट के लिए स्वच्छ, निरवद्य-स्थान में भूमि का अच्छी तरह प्रमार्जन कर, आसन बिछाकर, गृहस्थ का वेष उतारकर, शुद्ध श्वेत वस्त्र–धोती-उत्तरासन आदि धारणकर, मुख पर मुख-वस्त्रिका लगाकर, पूंजनी लेकर एक जगह बैठना और समभाव का चिन्तन-मनन करना; समभाव के परम-उपासक वीतराग देव के स्वरूप का चिंतन करना, जप करना, आनुपूर्वी आदि विविध माध्यमों से परमेष्ठी-मंत्र का स्मरण करना, आत्मा में समभाव की ज्योति जगाना, मन-वचन-काया की शुद्धि रखना, विधि-पूर्वक सामायिक ग्रहण करके समभाव का अभ्यास करना 'द्रव्य-सामायिक' है।

राग-द्वेष के प्रसंगों पर समभाव रखना, राग-द्वेष रहित होने का प्रयत्न करना, सावद्य-योग से आत्मा को परे करना, स्व-स्वभाव में रमण करना तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ-भावनाओं से अपने अन्तःकरण को आप्लावित करते रहना ही 'भाव-सामायिक' है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्य एवं भाव-युक्त समत्व-साधना का अभ्यास करना ही सामायिक है। द्रव्य-सामायिक बाह्य क्रियाओं तथा तत्सम्बन्धी शुद्धता तक सीमित है जबकि विषम-भावों का त्याग कर समभाव में स्थित होना, पौद्गलिक पदार्थों से ममता हटाकर आत्म-भाव में लीन होना आदि आंतरिक भावों की शुद्धता पर आधारित है, 'भाव-सामायिक'। द्रव्य सामायिक के साथ भाव सामायिक का योग ही सामायिक व्रत का सच्चा स्वरूप है।

साध्वी हेमप्रभाजी 'साहित्य रत्न'

स्थानांग सूत्र में साधु और श्रावक की सामायिक-साधना के विषय में कहा गया है—'आगार सामाइए चेव, अणगार सामाइए चेव' अर्थात्—सामायिक दो प्रकार की है—आगार (गृहस्थ की) सामायिक और अणगार (साधु की) सामायिक। गृहस्थ की सामायिक अल्पकालिक होती है और साधु की जीवन-पर्यन्त के लिए होती है। इसे शास्त्रीय भाषा में 'परिपूर्ण सामायिक चारित्र' कहा जाता है। जो व्यक्ति ऐसा परिपूर्ण सामायिक चारित्र स्वीकार नहीं कर सकता, उसे ४८ मिनिट के मर्यादित समय का इत्वरकालिक सामायिक व्रत तो अंगीकार करना ही चाहिए। सामायिक व्रत का उद्देश्य यही है कि प्रतिदिन के अभ्यास से इतना आत्मबल विकसित हो जाए, इतना समभाव पैदा हो जाए कि वह आत्मा सांसारिक प्रवृत्तियों को करते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से हीन और क्षीण न हो।

समभाव की साधना करना कोई बच्चों का खेल नहीं है, बड़ा दुष्कर-कार्य है। जिस प्रकार गणित में निपुण होने के लिए प्रतिदिन कई तरह के प्रश्न हल करने होते हैं एवं किसी डिग्री को प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास, निरन्तर अभ्यास करना होता है; उसी प्रकार आत्मिक-बल के विकास के लिए, समभाव की साधना के लिए और विकारों की शांति के लिए पुनः-पुनः समत्व का अभ्यास करना होता है। इसीलिए सामायिक-व्रत की आराधना प्रतिदिन करने का विधान है। इसे शिक्षाव्रत कहने का भी यही अभिप्राय है। इस सामायिक व्रत की इतनी महिमा है कि इस व्रत के समय गृहस्थ-साधक भी लगभग त्यागी श्रमण-साधक की कोटि में आ जाता है। यहाँ तक भी कहा गया है कि गृहस्थ-श्रावक सामायिक की साधना करता-करता एक दिन सांसारिक धरातल से ऊपर उठकर अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुंच सकता है, बशर्ते दैनिक एवं नियमित रूप से शुद्ध सामायिक का अभ्यास निरन्तर जारी हो।

सामायिक की प्रतिज्ञा

सामायिक की प्रतिज्ञा भी अपने आप में विशिष्ट है। साधक सामायिक की प्रतिज्ञा में समस्त सावद्य-व्यापारों का त्याग करता है। इतना ही नहीं, अतीत में जो भी सावद्य-कार्य किए हों उन सबका प्रतिक्रमण करता हुआ, आत्म-साक्षी से निन्दा एवं गुरु की साक्षी से गर्हा करता है।

सामायिक की इस प्रतिज्ञा को निभाने के लिए सामायिक के साधक को प्रमाद, राग-द्वेष या सांसारिक प्रपंचों में फंसने, उलझने से बचना चाहिए। सामायिक करना मन के विषम-भावों के साथ संघर्ष करना है। विषम मन को सतत समभाव में रखने के लिए सामायिक में कायोत्सर्ग, ध्यान, आध्यात्मिक शास्त्र का मनन, स्वाध्याय, जाप एवं शास्त्र-श्रवण करना चाहिए तथा जिन महापुरुषों का ध्यान करने से, स्मरण करने से परम-पद की प्राप्ति हो सके उनकी भक्ति, उपासना व गुणगान में मन को नियोजित करना चाहिए।

बत्तीस दोष

पूर्वाचार्यों ने सामायिक के कुल बत्तीस दोष बताकर उनसे बचने का निर्देश दिया है। इन बत्तीस दोषों में दस मन के, दस वचन के और बारह काया के दोष हैं। मन के दस दोष इस प्रकार हैं—

"अविवेग-जसोकित्ती, लाभत्थी गव्व-भय नियाणत्थी।
संसय-रोस अविणउ, अबहुमाण ए दोसा भणियव्वा" ॥

(१) अविवेक—बिना विवेक के सामायिक करना, (२) यशःकीर्ति—यश की वांछा से सामायिक करना, (३) लाभार्थ—धनादि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना, (४) गर्व—अहंकार पूर्वक सामायिक करना, (५) भय—अपराध के कारण राज्यादि द्वारा मिलने वाले दण्ड के भय से सामायिक करना, (६) निदान—भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए सामायिक के फल को वेच डालना, (७) संशय—फल में संदेह रखकर सामायिक करना, (८) रोष—सामायिक में क्रोध, मान, माया या लोभ करना, (९) अविनय—निरादर-भाव से सामायिक करना या सामायिक में देव, गुरु, धर्म का अविनय करना और (१०) अबहुमान—बिना आंतरिक भक्ति-भाव के वेगार समझते हुए सामायिक करना।

वचन के दस दोष इस प्रकार हैं—

"कुवयण-सहसाकारे, सच्छंद-संखेव-कलहं च।
विगहा वि हासोऽसुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस॥"

(१) कुवचन—सामायिक में कुत्सित-गंदे वचन बोलना, (२) सहसाकार—सामायिक में विना विचारे बोलना, (३) स्वच्छंद—सामायिक में रागोत्पादक सांसारिक गीतादि गाना, (४) संक्षेप—सामायिक के पाठों को यथार्थ रूप से न बोलकर संक्षेप में बोलना, (५) कलह—सामायिक में क्लेशकारी वचन बोलना, (६) विकथा—सामायिक में स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा व राज-कथा—इनमें से कोई कथा करना, (७) हास्य—सामायिक में हंसी-मजाक करना, (८) अशुद्ध—सामायिक में पाठों का उच्चारण शुद्धता का ध्यान रखे बिना जल्दी-जल्दी में करना। अव्रती को सत्कार एवं सम्मान-सूचक शब्दों से पुकारना या बुलाना, (९) निरपेक्ष—सामायिक में बिना उपयोग के बोलना और (१०) मुम्नन—सामायिक में पाठों का स्पष्ट उच्चारण न करना।

काया के बारह दोष इस प्रकार हैं—

"कुआसण चलासण चलदिट्ठी,
सावज्जकिरियालंवणाकुंचणपसारणं।
आलस मोडण मल विमासणं,
निद्दा वेयावच्चति बारसकाय दोसा॥"

(१) कुआसन—सामायिक में अयोग्य आसन से बैठना। जैसे—पाँव पर पाँव रखकर बैठना, पांव पसार कर बैठना, अभिमान-सूचक आसन से बैठना आदि। (२) चलासन—सामायिक में बार-बार आसन बदलते रहना, (३) चलदृष्टि—सामायिक में दृष्टि को स्थिर नहीं रखना, (४) सावद्य-क्रिया—सामायिक में शरीर से पापयुक्त क्रिया करना, घर की रखवाली करना, संकेतादि करना, (५) आलंबन—सामायिक में बिना कारण भींत आदि का सहारा लेना, (६) आकुंचन-प्रसारण—सामायिक में बिना प्रयोजन हाथ-पांव को संकोचना-पसारना, (७) आलस्य—सामायिक में अंग मोड़ना, (८) मोटन—सामायिक में हाथ-पांव के कड़के निकालना, (९) मल—सामायिक में मैल उतारना, (१०) विमासन—सामायिक में गाल आदि पर हाथ लगा कर शोकासन से बैठना अथवा बिना प्रमार्जन किए खाज खुजलाना, (११) निद्रा—सामायिक में नींद लेना और (१२) वैयावृत्य—सामायिक में बिना कारण दूसरे से सेवा करवाना।

सामायिक की निर्दोष-साधना के लिए साधक को इन बत्तीस दोषों से अवश्य बचना चाहिए।

सामायिक की शुद्धि

सामायिक एक आंतरिक साधना है। इस साधना में बाह्य वातावरण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अन्तःकरण को विशुद्ध करने की इस प्रक्रिया में बाह्य-शुद्धि का भी विशेष महत्त्व है। सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि अनिवार्य है—

(१) द्रव्य-शुद्धि, (२) क्षेत्र-शुद्धि, (३) काल-शुद्धि और (४) भाव-शुद्धि

(१) द्रव्य शुद्धि

द्रव्य सामायिक के लिए आसन, वस्त्र, पूंजनी, माला, मुख-वस्त्रिका, पुस्तक आदि जो भी साधन हैं, वे सब शुद्ध एवं स्वच्छ होने चाहिए।

(२) क्षेत्र शुद्धि

क्षेत्र का अर्थ स्थान है। जिस स्थान पर बैठने से चित्त में चंचलता आती हो, स्त्री-पुरुषों के अधिक आवागमन से पवित्र विचारधारा खण्डित होती हो, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द सुनाई देते हों या दृश्य दृष्टिगत होते हों, किसी प्रकार के क्लेश की सम्भावना हो, ऐसे स्थान पर सामायिक नहीं करनी चाहिए। सामायिक का स्थान एकान्त और शांत होना चाहिए।

(३) काल शुद्धि

गृहस्थ की झंझटों से अपने आपको अलग कर, चित्त की खिन्नता को दूर कर, मन की चपलता, घबराहट और अरुचि से किनारा कर, जिस समय साधक समभाव की साधना में रमण कर सके वही सामायिक का काल है। सामूहिक दृष्टि से सामायिक की इन अनुकूलताओं का सद्भाव प्रायः प्रातःकाल एवं सायंकाल रह सकता है अतः विचारकों ने प्रातः एव सायं का समय सामायिक हेतु विशेष उपयुक्त बताया है। वैसे स्थिर-चित्त वाले साधक कभी भी सामायिक कर सकते हैं।

(४) भाव शुद्धि

भाव-शुद्धि से अभिप्राय है—मन-वचन और शरीर की आंतरिक शुद्धि। मन-वचन और शरीर की शुद्धि का अर्थ है—इनकी एकाग्रता। जब तक मन-वचन और शरीर एकाग्र नहीं हो जाएँगे, चंचलता से निवृत्त न हो लेंगे तब तक कोरा बाह्य विधि-विधान जीवन में उचित विकास नहीं ला सकेगा।

उक्त चारों प्रकार की शुद्धि का ध्यान रखते हुए, बत्तीस दोषों के प्रति सावधान रहते हुए शुद्ध-अन्तः करण से सामायिक करने से शाश्वत-सुख की प्राप्ति होती है। शुद्ध-भाव से की हुई सामायिक हजारों भवों के संचित पाप-कर्मों को नष्ट कर देती है। आत्म-शान्ति और आत्म-शुद्धि के लिए सामायिक व्रत की निर्मल आराधना करना अत्यन्त उपयोगी और कल्याणकारी है।

—सुशिष्या: अ. यो. श्री उमरावकंवरजी म. 'अर्चना'

—o—o—

राजस्थान के प्राकृत-साहित्य में वर्णित अर्थोपार्जन के साधन

डॉ. हुकमचन्द जैन

राजस्थान में प्राकृत-भाषा में मध्ययुग के अन्दर पर्याप्त साहित्य लिखा गया है[1]। आचार्य हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि, वीरसेनाचार्य, जिनेश्वरसूरि, धनेश्वरसूरि, आचार्य नेमिचन्द्र आदि ने प्राकृत के कई ग्रन्थ राजस्थान के विभिन्न नगरों—चित्तौड़, जालोर, चंद्रावती, बारां, नागौर आदि में लिखे हैं। इन ग्रंथों में राजस्थान के सामाजिक और साँस्कृतिक जीवन की विविध सामग्री उपलब्ध है। उसी सामग्री को आधार बनाकर यह निबन्ध तैयार किया जा रहा है।

प्रस्तुत निबन्ध में प्राकृत-ग्रन्थों में वर्णित अर्थोपार्जन के विभिन्न साधनों के संबंध में संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। 'कुवलयमाला' में कुछ निन्दित साधनों का भी उल्लेख है जिनसे धन कमाया जाता था और कुछ अनिंदित साधनों का वर्णन है जिनसे उस समय के समाज में जीविका का उपार्जन किया जाता था।[2] बारहवीं शताब्दी के प्राकृत-ग्रन्थ "रयणचूडरायचरियं" में भी अर्थोपार्जन के कुछ साधनों का वर्णन है,[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अर्थोपार्जन के ये साधन विद्यमान रहे होंगे।[4]

प्रस्तुत निबंध में प्रमुख रूप से निम्न साधनों पर विचार किया गया है—१ देशान्तर गमन (विदेश व्यापार), २. वाणिज्य (स्थानीय व्यापार), ३. धातुवाद, ४. खन्यवाद और ५. मन्त्र-सिद्धि।

राजस्थान में लिखित प्राकृत के कई ग्रंथ हैं उनमें 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमालाकहा' आदि प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों का विशेष अध्ययन डॉ. ए. एन. उपाध्याय, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. गोकुलचन्द जैन आदि विद्वानों ने किया है। 'रयणचूड़राय-चरियं' भी राजस्थान में चन्द्रावती नगरी में लिखित प्राकृत-ग्रंथ है, जिस पर मैंने शोध-कार्य सम्पन्न किया है। अतः मुख्य-रूप से समराइच्चकहा, कुवलयमाला और रयणचूड़राय चरियं के संदर्भ ही प्रस्तुत निबंध में दिए गए हैं।

देशान्तर-गमन (विदेश व्यापार)

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक व्यापारी धन कमाने के लिए दूर-दूर तक व्यापार करने जाते थे। उस समय स्थल-व्यापार एवं समुद्री-व्यापार होता था। बहुत दूर व्यापार के लिए सम्भवतः समुद्रों को ही पार करना पड़ता था। चित्तौड़ में लिखित 'समराइच्चकहा' सातवीं शताब्दी का प्रमुख

सामायिक की निर्दोष-साधना के लिए साधक को इन बत्तीस दोषों से अवश्य बचना चाहिए।

सामायिक की शुद्धि

सामायिक एक आंतरिक साधना है। इस साधना में बाह्य वातावरण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अन्तःकरण को विशुद्ध करने की इस प्रक्रिया में बाह्य-शुद्धि का भी विशेष महत्त्व है। सामायिक के लिए चार प्रकार की शुद्धि अनिवार्य है—

(१) द्रव्य-शुद्धि, (२) क्षेत्र-शुद्धि, (३) काल-शुद्धि और (४) भाव-शुद्धि

(१) द्रव्य शुद्धि

द्रव्य सामायिक के लिए आसन, वस्त्र, पूंजनी, माला, मुख-वस्त्रिका, पुस्तक आदि जो भी साधन हैं, वे सब शुद्ध एवं स्वच्छ होने चाहिए।

(२) क्षेत्र शुद्धि

क्षेत्र का अर्थ स्थान है। जिस स्थान पर बैठने से चित्त में चंचलता आती हो, स्त्री-पुरुषों के अधिक आवागमन से पवित्र विचारधारा खण्डित होती हो, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द सुनाई देते हों या दृश्य दृष्टिगत होते हों, किसी प्रकार के क्लेश की सम्भावना हो, ऐसे स्थान पर सामायिक नहीं करनी चाहिए। सामायिक का स्थान एकान्त और शांत होना चाहिए।

(३) काल शुद्धि

गृहस्थ की झंझटों से अपने आपको अलग कर, चित्त की खिन्नता को दूर कर, मन की चपलता, घबराहट और अरुचि से किनारा कर, जिस समय साधक समभाव की साधना में रमण कर सके वही सामायिक का काल है। सामूहिक दृष्टि से सामायिक की इन अनुकूलताओं का सद्भाव प्रायः प्रातःकाल एवं सायंकाल रह सकता है अतः विचारकों ने प्रातः एव सायं का समय सामायिक हेतु विशेष उपयुक्त बताया है। वैसे स्थिर-चित्त वाले साधक कभी भी सामायिक कर सकते हैं।

(४) भाव शुद्धि

भाव-शुद्धि से अभिप्राय है—मन-वचन और शरीर की आंतरिक शुद्धि। मन-वचन और शरीर की शुद्धि का अर्थ है—इनकी एकाग्रता। जब तक मन-वचन और शरीर एकाग्र नहीं हो जाएँगे, चंचलता से निवृत्त न हो लेंगे तब तक कोरा बाह्य विधि-विधान जीवन में उचित विकास नहीं ला सकेगा।

उक्त चारों प्रकार की शुद्धि का ध्यान रखते हुए, बत्तीस दोषों के प्रति सावधान रहते हुए शुद्ध-अन्तः करण से सामायिक करने से शाश्वत-सुख की प्राप्ति होती है। शुद्ध-भाव से की हुई सामायिक हजारों भवों के संचित पाप-कर्मो को नष्ट कर देती है। आत्म-शान्ति और आत्म-शुद्धि के लिए सामायिक व्रत की निर्मल आराधना करना अत्यन्त उपयोगी और कल्याणकारी है।

—सुशिष्या: अ. यो. श्री उमरावकंवरजी म. 'अर्चना'

—०—०—

राजस्थान के प्राकृत-साहित्य में वर्णित अर्थोपार्जन के साधन

डॉ. हुकमचन्द जैन

राजस्थान में प्राकृत-भाषा में मध्ययुग के अन्दर पर्याप्त साहित्य लिखा गया है[१]। आचार्य हरिभद्रसूरि, उद्योतनसूरि, वीरसेनाचार्य, जिनेश्वरसूरि, धनेश्वरसूरि, आचार्य नेमिचन्द्र आदि ने प्राकृत के कई ग्रन्थ राजस्थान के विभिन्न नगरों—चित्तौड़, जालोर, चंद्रावती, बारां, नागौर आदि में लिखे हैं। इन ग्रंथों में राजस्थान के सामाजिक और साँस्कृतिक जीवन की विविध सामग्री उपलब्ध है। उसी सामग्री को आधार बनाकर यह निबन्ध तैयार किया जा रहा है।

प्रस्तुत निबन्ध में प्राकृत-ग्रन्थों में वर्णित अर्थोपार्जन के विभिन्न साधनों के संबंध में संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। 'कुवलयमाला' में कुछ निन्दित साधनों का भी उल्लेख है जिनसे धन कमाया जाता था और कुछ अनिंदित साधनों का वर्णन है जिनसे उस समय के समाज में जीविका का उपार्जन किया जाता था।[२] बारहवीं शताब्दी के प्राकृत-ग्रन्थ "रयणचूडरायचरियं" में भी अर्थोपार्जन के कुछ साधनों का वर्णन है,[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अर्थोपार्जन के ये साधन विद्यमान रहे होंगे।[४]

प्रस्तुत निबंध में प्रमुख रूप से निम्न साधनों पर विचार किया गया है —१ देशान्तर गमन (विदेश व्यापार), २. वाणिज्य (स्थानीय व्यापार), ३. धातुवाद, ४. खन्यवाद और ५. मन्त्र-सिद्धि।

राजस्थान में लिखित प्राकृत के कई ग्रंथ हैं उनमें 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमालाकहा' आदि प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों का विशेष अध्ययन डॉ. ए. एन. उपाध्याय, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. गोकुलचन्द जैन आदि विद्वानों ने किया है। 'रयणचूड़राय-चरियं' भी राजस्थान में चन्द्रावती नगरी में लिखित प्राकृत-ग्रंथ है, जिस पर मैंने शोध-कार्य सम्पन्न किया है। अतः मुख्य-रूप से समराइच्चकहा, कुवलयमाला और रयणचूड़राय चरियं के संदर्भ ही प्रस्तुत निबंध में दिए गए हैं।

देशान्तर-गमन (विदेश व्यापार)

सातवी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक व्यापारी धन कमाने के लिए दूर-दूर तक व्यापार करने जाते थे। उस समय स्थल-व्यापार एवं समुद्री-व्यापार होता था। बहुत दूर व्यापार के लिए सम्भवतः समुद्रों को ही पार करना पड़ता था। चित्तौड़ में लिखित 'समराइच्चकहा' सातवीं शताब्दी का प्रमुख

ग्रन्थ है। इसमें कई पात्र समुद्र-यात्रा द्वारा धनार्जन करते हुए दिखलाई देते हैं।[५] वे व्यापार हेतु बड़े-बड़े जहाजी-बेड़े ले जाते थे और सिंहल-द्वीप, स्वर्ण-द्वीप, रत्न-द्वीप आदि से धनार्जन कर लौटते थे। 'समराइच्चकहा' के पंचम भव की कथा में सनत्कुमार एवं वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के साथ ताम्रलिप्ति से जहाज़ द्वारा दो महीने में स्वर्ण-द्वीप पहुंचे और वहां से सिंहल-द्वीप के लिए रवाना हो गए। तेरह दिन बाद जहाज समुद्री तूफान के कारण काबू से बाहर हो गया। ऐसे ही उल्लेख आठवीं शताब्दी की 'कुवलयमाला कहा' एवं बारहवीं शताब्दी के 'रयणचूडरायचरियं' में भी मिलते हैं।[६] जिससे यह पता चलता है कि समुद्री यात्रा के व्यापार में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेखक के शोध-ग्रन्थ में तो धन से भरा हुआ जहाज ही समुद्र में डूब जाता है तथा व्यापारी अपने प्राण तैरकर बचाने का प्रयत्न करता है। प्रयास करने पर भी एक समुद्री मत्स्य उसे निगल जाता है और अन्त में बिना ही धन लिए सोमप्रभ ब्राह्मण को निराश होकर घर लौटना पड़ता है।[७]

स्थानीय व्यापार

विदेशी व्यापार के साथ स्थानीय व्यापार भी होता था। 'समराइच्चकहा' में बैलगाड़ियों द्वारा व्यापार का उल्लेख है। उस समय इस देश की स्थिति अच्छी थी, ऐसा प्रतीत होता है।[८] इसलिए धन-धान्य, सुवर्ण-मणि-रत्न, मौक्तिक, द्विपद, चतुष्पद आदि के व्यापार होते थे। 'कुवलयमाला' में भी विभिन्न प्रकार की—कुम्हार, लुहार आदि जातियों के लोग स्थानीय व्यापार में विपणिमार्ग एवं व्यापारिक मण्डियों में इकट्ठे होकर अपनी वस्तुएं बेचकर धन कमाते थे। विपणिमार्ग (थोक मार्केट) में ८४ प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख मिलता है।[९] ये दूकानें नगर के प्रसिद्ध राजमार्गों और चत्वारों पर लगती थीं। 'कुवलयमाला' में उल्लेखित विनीता नगरी के विपणिमार्ग की विभिन्न वस्तुओं की दुकानें इस प्रकार थीं—

एक ओर कुंकुम, कर्पूर, अगरु, मृग-नाभिवास, पडवास आदि सुगन्धित वस्तुओं की दुकानें थीं। दूसरी ओर की दुकानों में इलायची, लोंग, नारियल आदि फलों के ढ़ेर लगे हुए थे।[१०]

"कुंकुम-कप्पुरागरु-मयनाभिवास विच्छडाओ।
एला लवंग कक्कोलय रासि गणिकाओ॥"

कुव. ७-२६

विपणिमार्ग के इस विस्तृत विवरण से यह स्पष्ट है कि स्थानीय बाजारों में प्रायः सभी आवश्यक वस्तुओं की दुकानें होती थीं, जिससे वे अर्थोपार्जन करते थे। 'कुवलयमाला' के लेखक उद्योतन ने तो यहाँ तक कहा है—"जो कुछ भी पृथ्वी पर सुना जाता है, देखा जाता है एवं हृदय में सोचा जाता है, वह सब वहाँ बाजारों में उपलब्ध था।" इसी तरह 'रयणचूडरायचरियं' में भी धीवर, माली, स्वर्णकार आदि जातियाँ अपने व्यापार से धन कमाते हुए दिखाई गई हैं। बकुल माली फूलों की माला बनाकर धन कमाता है।[११] क्षेमंकर स्वर्णकार स्वर्ण के कुंडल बनाकर धन कमाता है। इन सब बातों से यह ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक स्थानीय व्यापार समृद्ध था।

धातुवाद

उपर्युक्त सामान्य अर्थोपार्जन के साधनों के अतिरिक्त कुछ असामान्य अर्थोपार्जन के साधन भी थे। 'समराइच्चकहा' में धारण की कथा में जहाज 'वैजयंती बंदरगाह' से चलकर स्वर्ण-द्वीप पहुँचा और यहाँ उसने इसको विचित्र-धातु-क्षेत्र समझ कर स्वनामांकित दस-दस सोने की ईंटों के सौ ढ़ेर बनाए।

अन्य ग्रन्थों में तो धातुवाद केवल कला के रूप में गिनाया गया है। किन्तु उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला-कथा' में धातुवाद का विस्तार से वर्णन मिलता है। उस समय लोग दो प्रकार से स्वर्ण बनाते थे। एक तो धातुवाद से, दूसरे रक्त-मांस आदि के द्वारा स्वर्ण बनाते थे। 'कुवलयमाला' में कुमार कुवलयचंद विवाह के बाद पुनः अयोध्या लौट रहा था। रास्ते में एक रात्रि को उसकी भेंट कुछ धातु-वादियों से होती है। कुमार उन धातुवादियों के निष्फल प्रयत्न को पुनः सफल बनाता है। धातुवादी किसे कहा जाता है? इसके बारे में कुवलयमाला में कहा गया है—"धातुओं को लेकर पर्वतों की गुफा में अग्नि-कर्म आदि कर के स्वर्ण बनाते थे।" इसी तरह 'रयणचूड़रायचरियं' में भी सोमप्रभ ब्राह्मण धनोपार्जन के लिए गया, रास्ते में हेमकूड धातुवादी मिला, तब वे लोग पर्वत पर चढ़े, धातुएँ ग्रहण की एवं जड़ें इकट्ठी की। धातुओं के संयोग से इन्हें प्रज्वलित किया और स्वर्ण प्राप्त हो गया।

खन्यवाद

जब व्यापारियों को कहीं से भी धन हाथ नहीं लगता था तब किसी स्थान को खोदकर धन निकालने का प्रयत्न करते थे। इससे पता चलता है कि उस काल में श्रम को महत्त्व दिया जाता था। ऐसे वर्णन सातवीं सदी मे बारहवीं सदी तक मिलते रहे हैं। 'कुवलयमाला' में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। उसमें दो प्रसंग हैं, प्रथम प्रसंग में सागरदत्त जब अपमानित होकर धन कमाने के लिए निकल जाता है तो एक उद्यान में बैठकर सोचता है कि धन कमाने के लिए क्या करें? मगरमच्छों से युक्त समुद्र को पार करें अथवा पाताल में स्थित रोहण पर्वत का खनन करें?[१२] दूसरा उल्लेख है कि जब चम्पानगरी के निर्धन वणिक्-पुत्र अनेक तरह के व्यापार करते हुए भी धन प्राप्त करने में सफल नहीं होते हैं तब किसी तरह रोहणद्वीप में पहुँचते हैं और उसका नाम सुनते ही हर्षित होकर सोचते हैं इस श्रेष्ठ-द्वीप में अपुण्यशाली भी धन प्राप्त करते हैं अतः हम इसे खोदकर रत्नों की प्राप्ति करें।[१३] इसी तरह रोहण-पर्वत, रोहण-द्वीप, स्वर्णद्वीप आदि को खोदकर धन कमाने का प्रयत्न किया जाता था।

उस समय खन्यवाद शिक्षा का विषय था। इसके अन्तर्गत बताया जाता था[१४] कि (i) क्षीर वृक्ष के अतिरिक्त अन्य वृक्ष के साथ माले (मालूर) का वृक्ष हो तो अधिक धन होता है। अन्यथा कम (ii) बिल्व और पलाश-वृक्ष के नीचे हो तो निश्चित ही धन होता है। (iii) वृक्ष यदि पतला हो तो धन थोड़ा और वृक्ष मोटा हो तो धन अधिक होता है। (iv) वृक्ष का रंग उजला होने पर धन कम तथा कृष्ण होने पर अधिक होता है। (v) वृक्ष को खोदने पर यदि रत्न-आभा निकले तो रत्न, दूध निकले तो रजत (चांदी) एवं पीली प्रभा निकले तो स्वर्ण नीचे छिपा होता है। (vi) वृक्ष जमीन के ऊपर जितना लंबा होगा, धन उतना ही नीचे होगा। (vii) यदि वृक्ष की शाखाएँ पतली एवं तना स्थूल होगा तो उस धन की प्राप्ति संभव है अन्यथा नहीं। (viii) देवताओं की आराधना द्वारा वृक्ष की जड़ खोदी जाती थी। (ix) यथेष्ट धन प्राप्त होने के बाद शेष धन पाताल में अदृश्य हो जाता

था। 'रयणचूड़रायचरियं' में भी सोमप्रभ ब्राह्मण धन के अभाव में अपमानित होकर धन कमाने के लिए पद्मोत्तर नगर पहुँचा, वहाँ एक मठ में खन्यवाद को उपाध्याय से कहते हुए सुना।[१५] यह कथन 'कुवलयमाला' के समान ही है। सोमप्रभ ने प्रयत्न किया और रत्न प्राप्त किए।

मंत्र-सिद्धि

मंत्र-सिद्धि से भी स्वर्ण-प्राप्ति के उल्लेख 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमाला' और 'रयणचूड़राय-चरियं' में मिलते हैं। कृष्ण चतुर्दशी को श्मसान में रात्रि को बारह बजे इसकी सिद्धि करनी पड़ती थी, जिसमें काफी विघ्नों का सामना करना पड़ता था। मंत्र-साधना करने वाले की परीक्षा के लिए भूत-प्रेत, डाकनियाँ आदि उसे डराती थीं। यदि साधक नहीं डरता तो वे शक्तियाँ उसके वशीभूत हो जाती थीं। आचार्य नेमिचद्रसूरि ने 'रयणचूड़रायचरियं' में इस मत्र-सिद्धि से स्वर्ण-प्राप्ति का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सोमप्रभ ब्राह्मण को जब कही से धन नही मिला तो मंत्र-सिद्धि से धन प्राप्त करने के लिए वह चला। वहाँ देव-मदिर में योगेश्वर नामक संन्यासी दिखाई दिया। उसने विनय-पूर्वक संन्यासी को प्रणाम किया। योगी योग-सिद्ध हैं, ऐसा जानकर उसने योगी से कहा—"हे भगवन ! मैं अज्ञानी हूँ। दरिद्रता की आपत्ति से मैं आपकी शरण में आया हूँ।" तब योगेश्वर ने कहा—"हे भद्र ! इच्छानुकूल स्वर्ण प्रदान करने वाला एक महामंत्र है किन्तु उसकी साधना का उपाय कठिन है।" सोमप्रभ द्वारा स्वीकार करने पर उसे वह महामंत्र दे दिया गया तथा साधना का उपाय भी बता दिया गया। कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को श्मसान में अच्छे पवित्र पुष्पों आदि से पूजा-अर्चना कर, अग्नि प्रज्वलित कर होम किया जाना चाहिए। मंत्रों के द्वारा होम में से जब स्वर्ण-पुरुष निकले तब अग्नि बुझा देनी चाहिए। भयंकर विभीषिकाओं से नहीं घबराना चाहिए। वह स्वर्ण-पुरुष छिन्न-भिन्न नहीं होना चाहिए।[१६] इस प्रकार कही हुई विधि के अनुसार स्वर्ण प्राप्त किया। इसी प्रकार के उल्लेख सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक विभिन्न प्राकृत-साहित्य में मिलते रहे हैं तथा इसके साथ अन्य साधनों से भी स्वर्ण-प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं— रस-कूपिका के रस से स्वर्ण बनाना, अन्य मसालों से स्वर्ण बनाना, इष्ट देवता की आराधना कर स्वर्ण-प्राप्ति का प्रयत्न करना आदि।

इस प्रकार उपर्युक्त साधन चाहे निंदित हों या अनिंदित, कोई न कोई किसी न किसी तरीके से धन कमाते हुए दिखाई देते हैं क्योंकि धन के अभाव में मनुष्य की क्या दशा होती है, उसका जीता-जागता नमूना इन तीनों ग्रन्थों में मिलता है। प्राकृत-साहित्य में वर्णित ये अर्थोपार्जन के साधन मध्य युग के पुरुषार्थी व्यवसायियों के जीवन को प्रकट करते हैं। दूसरी ओर ऐसे लोगों का चित्रण भी इसमें प्राप्त होता है, जो विशेष पुरुषार्थ न कर किन्हीं असामान्य साधनों द्वारा धनोपार्जन का प्रयत्न करते थे। ग्रंथकारों ने प्रायः ऐसे पुरुषार्थहीन, धन के लोभी व्यक्तियों के प्रयत्नों को निष्फल बताया है।

निर्देश—

१. शास्त्री नेमिचंद्र, हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृष्ठ ३८८
२. कुवलयमाला कहा—उद्योतनसूरि, सिंघी जैन ग्रंथमाला बम्बई, पृष्ठ ६६
३. रयणचूड़रायचरियं, नेमिचंद्रसूरि, मणिविजय गणिवर ग्रंथमाला सन् १६४२, अनु. ७

४. वही अनु. १२
५. समराइच्चकहा, हरिभद्रसूरि, सं. डा. हर्मन जेकोवी, प. वंगाल, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता, पृ. ११८
६. देखिए निर्देश-३, अनु. २८
७. वही, अनु. २८
८. देखिए निर्देश-५, पृष्ठ ५५२-५३
९. देखिए निर्देश-२ पृष्ठ १०६-११७
१०. वही ११७, ३०-३१
११. देखिए निर्देश-३, अनु. २८
१२. देखिए निर्देश-२, पृष्ठ १०४-१८
१३. वही पृष्ठ १९१
१४. वही पृष्ठ १०५
१५. देखिए निर्देश-३, अनु. २८
१६. वही, अनु. २८

—स. आचार्य : जैन-विद्या एवं प्राकृत-विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राज०)

जीत-चिंतन

अंतर में बैठे उस भगवान् को रिझाने के लिए तुम्हें सुवर्ण के अलंकारों की. हीरे-जवाहरातों की, वस्त्रों की, फूलों की, फलों की और धूप-दीप-नैवद्य आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। उसे तो मात्र तुम्हारे पावनभावों की आवश्यकता है। वह सत्य भगवान् स्वयं अपने में पावन है। जिस पगडंडी पर से होकर जाना है उसे भी पावन बनाना होगा। वह आक्रान्त है क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे डाकुओं से। साधना द्वारा उस पगडण्डी को मुक्त करना होगा, इन अपावन शत्रुओं से। अहिंसा, संयम और तप के माध्यम से ही उक्त चार कषाय-शत्रुओं का विनाश सम्भव है। शत्रुओं के नष्ट होते ही साधक का मार्ग प्रशस्त वन जाएगा और साधना की पगडंडियों पर क्रमशः आरूढ़ होता हुआ जीव आध्यात्मिक उच्चता के उस धरातल पर पहुंच जाएगा, जहाँ उसे देवता भी प्रणाम करने चले आएंगे।

—आ.प्र. श्री जीतमलजी म.सा.

महाकवि अर्हद्दास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. कपूरचन्द जैन

भाषा, भावों की संवाहिका है। प्राचीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत को वरेण्य स्थान प्राप्त है, किन्तु संस्कृत प्राचीन है या प्राकृत, यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। 'प्राकृत' और 'संस्कृत' नामों से तो प्राकृत ही प्राचीन सिद्ध होती है। जैन मनीषी और कवियों ने आरम्भ में प्राकृत भाषा में ही ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ किया, इसी कारण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत-भाषा में ही उपलब्ध होता है किन्तु 'अनुयोगद्वार सूत्र' जैसे ग्रन्थों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को ऋषि-भाषित कहने के कारण[1] संस्कृत में भी विपुल मात्रा में जैन साहित्य का सृजन हुआ जिसका अधिकांश भाग आज भी अलमारियों में पड़ा अन्वेषकों की बाट जोह रहा है।

प्राचीन जैन वाङ्मय में 'द्वादशांगवाणी' को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। आचार्य समन्तभद्र ने जैन काव्य-सृजन का श्रीगणेश किया और तब से यह धारा अब तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

ईसा की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी जैन काव्यग्रन्थ-सृजन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस समय अनेक जैन-काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। अर्हद्दास जैसा प्रतिभाशाली महाकवि भी इसी समय हुआ, जिसने 'पुरुदेव चम्पू' 'मुनिसुव्रत काव्य' और 'भव्यजनकण्ठाभरण' रूप तीन रश्मियों का सुन्दर उपहार संस्कृत जैन साहित्य को दिया।

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का चरम निदर्शन पुरुदेव चम्पू है। पुरुदेव चम्पू के अतिरिक्त उनके 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'भव्यजनकण्ठाभरण'—ये दो काव्य और उपलब्ध होते हैं। भव्यजनकण्ठा-भरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे हिन्दु-शास्त्रों के अप्रतिम अध्येता तथा विद्वान् थे। उक्त ग्रन्थ में जगह-जगह दिए गए हिन्दु-शास्त्रों के उद्धरण इसके समुज्ज्वल प्रमाण हैं। इसी आधार

१. 'सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति-दोण्णिवा।
सरमंडलम्मि गिज्जन्ते पसत्था इसिभासिया॥'
अनुयोग द्वारसूत्र : ब्यावर २०१०, सूत्र १२७
(सन्दर्भ : जैन-संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान)

पर पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने उनके जैन धर्मानुयायी न होकर अन्य धर्मानुयायी होने का अनुमान लगाया है।[1] श्री नाथूराम प्रेमी[2] का अनुमान है कि अर्हद्दास नाम न होकर विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है।[3] अतः सम्भव है कि उनका नाम कुछ और ही रहा हो।

वे जन्म पर्यन्त गृहस्थ ही रहे। गृहस्थ रहते हुए भी उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी का उपयोग साधारण व्यक्ति के चित्रण में नहीं किया। 'मुनिसुव्रतकाव्य' तथा 'पुरुदेवचम्पू' में उन्होंने मुनिसुव्रत तथा ऋषभदेव के चरित्र को प्रतिपाद्य बनाया, तो 'भव्यजनकण्ठाभरण' में आप्तादि तथा सम्यग्दर्शन की महिमा का विवेचन किया है। साधारण व्यक्ति की प्रशंसा करने वाले कवियों को अर्हद्दास तुच्छ दृष्टि से देखते थे और राजा-महाराजा आदि धन-सम्पन्न मनुष्यों की कविता द्वारा प्रशंसा करना जिनवाणी का अत्यधिक अपमान समझते थे[4]।

अर्हद्दास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके ग्रन्थों में व्यर्थ का विस्तार नहीं है। हाँ 'पुरुदेवचम्पू' जैसे ग्रन्थों में जहाँ उन्होंने अपनी कला की कलाबाजियाँ दिखाई हैं, वहाँ उनके वर्णन देखते ही बनते हैं। न केवल उनके गद्य ही 'गद्यं कवीनां निकषा वदन्ति' की कसौटी पर सही उतरते हैं, अपितु पद्य भी विभिन्न छन्दों में गूंथे और श्लेषानुप्राणित होकर सहृदयों को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

जन्मस्थान

महाकवि अर्हद्दास ने अपने स्थान के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी है। श्री नाथूराम प्रेमी ने उनके ग्रन्थों का प्रचार कर्नाटक में अधिक होने के कारण उनके कर्नाटक में रहने का अनुमान लगाया है।[5] पण्डित आशाधर अपने अन्तिम समय में अवन्ती के नलकच्छपुर में रहे थे और वहीं उन्होंने जिनयज्ञकल्प, अनगारधर्मामृत-टीका आदि ग्रंथ लिखे थे। यदि अर्हद्दास आशाधर के अन्तिम समय में उनके पास पहुँचे तो उनका स्थान अवन्ती-प्रदेश मानना होगा किन्तु समुचित प्रमाणों के अभाव में कुछ निश्चित कह पाना सम्भव नहीं है।

श्री नाथूराम प्रेमी ने मदनकीर्ति यतिपति के ही अर्हद्दास बन जाने का अनुमान लगाया है। मदनकीर्ति यतिपति—वादीन्द्र एवं विशालकीर्ति, जिन्होंने पं. आशाधर से न्यायशास्त्र पढ़कर विपक्षियों को जीता था, के शिष्य थे। वि. सं. १४०५ में रचित राजशेखरसूरि के "चतुर्विंशति प्रबन्ध" में "मदनकीर्ति-प्रबन्ध" नाम का एक प्रबन्ध है, जिसमें मदनकीर्ति के कर्णाटक जा कर विजयपुर नरेश कुन्तिभोज की सभा में काव्यरचना करने और उनकी पुत्री से विवाह करने का वर्णन है। मदनकीर्ति का बनाया "शासनचतुस्त्रिंशिका" ग्रन्थ उपलब्ध है। प्रेमी जी ने लिखा है—"चतुर्विंशति प्रबन्ध" की कथा को पढ़ने के बाद हमारा यह कल्पना करने को जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्ग में ठोकरें खाते-खाते अन्त में आशाधर की सूक्तियों से अर्हद्दास न बन गए हों। पूर्वोक्त ग्रन्थों में (पुरुदेवचम्पू आदि में)

१. भव्यजनकण्ठाभरण, भूमिका, पृ. ८
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३
3. दासो भवाम्यर्हतः, (मुनिसुव्रतकाव्य १०/४६) से भी यही ध्वनित होता है।
४. मुनिसुव्रतकाव्य, १/१२
५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३

जो भाव व्यक्त किए गए हैं, उनसे इस कल्पना को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो, यह नाम एक तरह की भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।[1] पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को भी वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नहीं बने अपितु उन्होंने मुनियों के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कड़ी आलोचना की है, वे गृहस्थ पण्डित थे अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी गृहस्थ पण्डित होना सम्भव है। डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है।[2]

आशाधर का शिष्यत्व

यह विवादास्पद विषय है कि महाकवि अर्हद्दास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं। उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पण्डित आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। अतः यहाँ तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ देना असमीचीन न होगा। मुनिसुव्रत-काव्य का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदंजन-संप्रयोगे
रच्छीकृते पृथलसत्पथमाश्रितोस्मि।

अर्थात्—मेरे नयनयुगल चिरकाल से मिथ्यात्व-कर्म के पटल से ढ़के हुए थे और मुझे कुमार्ग में ले जाने के कारण थे। आशाधर के उक्तिरूपी अंजन के प्रयोग से स्वच्छ होने पर मैंने जिनेन्द्र भगवान् के सत्पथ का आश्रय लिया। इसी प्रकार पुरुदेव चम्पू का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसोऽस्मिन्
आशाधरोक्ति-कतक प्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेव-भक्त्या
तच्चम्पुदंभजलजेन समुज्जजृम्भे॥

अर्थात्—जो पहले मिथ्यात्वरूपी पंक से मलिन था तथा पीछे चलकर आशाधरजी के सुभाषित रूपी कतक-फल के प्रभाव से निर्मल हो गया ऐसे मेरे इस मानस-मन रूपी मानसरोवर में पुरुदेव जितेन्द्र की भक्ति रूपी शरद ऋतु के द्वारा उल्लास को प्राप्त हुआ यह 'पुरुदेव चम्पू' रूपी कमल वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

इन दोनों पद्यों से इतना तो स्पष्ट है कि अर्हद्दास की दृष्टि या मानस आशाधर की सूक्तियों से निर्मल हुआ था पर उनके साक्षात् शिष्य होने का प्रमाण नहीं मिलता। भव्यजनकण्ठाभरण का यह पद्य भी द्रष्टव्य है—

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३
२. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-६ पृ. १४

सूक्त्यैव तेषां भरभीरवो ये
गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणा सहाय्या
धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ।।

अर्थात्—उन आचार्य वगैरह के सद्वचनों को सुनकर संसार से डरे हुए जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते हैं और ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा साधु-आश्रम में रहने वालों के सहायक होते हैं वे आशाधर सूरि प्रमुख श्रावक धन्य हैं ।

इस पद्य के आधार पर डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि "इस पद्य में प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे । इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार-वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सम्भवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सद्वचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अत एव बहुत सम्भव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों[१]" पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास का आशाधर के लघुसमकालीन होने का अनुमान किया है[२] । किन्तु इस सन्दर्भ में पं. नाथूराम प्रमी और पं. हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता । प्रेमी जी ने लिखा है कि "इन पदों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हद्दास को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्व का नहीं[३] ।" इसी प्रकार माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुरुदेवचम्पू के सम्पादक पं. जिनदास शास्त्री के मत पर कटाक्ष करते हुए पं. हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—'पुरुदेवचम्पू के विज्ञ सम्पादक महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं ।' किन्तु कम से कम मैं आपकी इस निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूँ । क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं । सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता । क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचनाबद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी हो सकता है[४] ।

हमारे अनुमान से, यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि.सं. १३०० में अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुंचे होंगे और १-२ वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए होंगे । जैसा कि उनके 'धावन्कापथ.....' (मुनिसुव्रतकाव्य १०/६४) पद्य से भी व्यक्त होता है ।

---

१. भव्यजनकण्ठाभरण पद्य सं. २३३
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-४, पृ. ५०
३. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ. १०
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४२
५. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका, पृ. ख ।

जो भाव व्यक्त किए गए हैं, उनसे इस कल्पना को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम पड़ता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो, यह नाम एक तरह की भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।[1] पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस मत को भी वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पण्डित आशाधर महान् विद्वान् होते हुए भी मुनि नहीं बने अपितु उन्होंने मुनियों के चरित्र में पनप रही तत्कालीन शिथिलता की कड़ी आलोचना की है, वे गृहस्थ पण्डित थे अतः उनके शिष्य अर्हद्दास का भी गृहस्थ पण्डित होना सम्भव है। डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने अर्हद्दास को गृहस्थ पण्डित ही माना है।[2]

आशाधर का शिष्यत्व

यह विवादास्पद विषय है कि महाकवि अर्हद्दास पण्डित आशाधर के साक्षात् शिष्य थे या नहीं। उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पण्डित आशाधर का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। अतः यहाँ तीनों ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ देना असमीचीन न होगा। मुनिसुव्रत-काव्य का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदंजन-संप्रयोगे
रच्छीकृते पृथलसत्पथमाश्रितोस्मि।

अर्थात्—मेरे नयनयुगल चिरकाल से मिथ्यात्व-कर्म के पटल से ढ़के हुए थे और मुझे कुमार्ग में ले जाने के कारण थे। आशाधर के उक्तिरूपी अंजन के प्रयोग से स्वच्छ होने पर मैंने जिनेन्द्र भगवान् के सत्पथ का आश्रय लिया। इसी प्रकार पुरुदेव चम्पू का अन्तिम पद्य है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसोऽस्मिन्
आशाधरोक्ति-कतक प्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेव-भक्त्या
तच्चम्पुदंभजलजेन समुज्जजृम्भे॥

अर्थात्—जो पहले मिथ्यात्वरूपी पंक से मलिन था तथा पीछे चलकर आशाधरजी के सुभाषित रूपी कतक-फल के प्रभाव से निर्मल हो गया ऐसे मेरे इस मानस-मन रूपी मानसरोवर में पुरुदेव जितेन्द्र की भक्ति रूपी शरद ऋतु के द्वारा उल्लास को प्राप्त हुआ यह 'पुरुदेव चम्पू' रूपी कमल वृद्धि को प्राप्त हुआ है।

इन दोनों पद्यों से इतना तो स्पष्ट है कि अर्हद्दास की दृष्टि या मानस आशाधर की सूक्तियों से निर्मल हुआ था पर उनके साक्षात् शिष्य होने का प्रमाण नहीं मिलता। भव्यजनकण्ठाभरण का यह पद्य भी द्रष्टव्य है—

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४३
२. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-६ पृ. १४

सूक्त्यैव तेषां भरभीरवो ये
गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः ।
त एव शेषाश्रमिणा सहाय्या
धन्याः स्युराशाधरसूरिमुख्याः ॥

अर्थात्—उन आचार्य वगैरह के सद्वचनों को सुनकर संसार से डरे हुए जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मधर्म का पालन करते हैं और ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा साधु-आश्रम में रहने वालों के सहायक होते हैं वे आशाधर सूरि प्रमुख श्रावक धन्य हैं ।

इस पद्य के आधार पर डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि "इस पद्य में प्रकारान्तर से आशाधर की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी वे जैन धर्म का पालन करते थे तथा अन्य आश्रमवासियों की सहायता भी किया करते थे । इस पद्य में आशाधर की जिस परोपकार-वृत्ति का निर्देश किया गया है, उसका अनुभव कवि ने सम्भवतः प्रत्यक्ष किया है और प्रत्यक्ष में कहे जाने वाले सद्वचन भी सूक्ति कहलाते हैं, अत एव बहुत सम्भव है कि अर्हद्दास आशाधर के समकालीन हों[१]" पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी उक्त आधार पर अर्हद्दास का आशाधर के लघुसमकालीन होने का अनुमान किया है[२] । किन्तु इस सन्दर्भ में पं. नाथूराम प्रेमी और पं. हरनाथ द्विवेदी के मतों को दृष्टि-ओझल नहीं किया जा सकता । प्रेमी जी ने लिखा है कि "इन पदों में स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थों का ही संकेत है, जिनके द्वारा अर्हद्दास को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्व का नहीं[३] ।" इसी प्रकार माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुरुदेवचम्पू के सम्पादक पं. जिनदास शास्त्री के मत पर कटाक्ष करते हुए पं. हरनाथ द्विवेदी ने लिखा है—'पुरुदेवचम्पू के विज्ञ सम्पादक महोदय ने अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका में लिखा है कि उल्लिखित प्रशस्तियों से कविवर अर्हद्दास पण्डिताचार्य आशाधर जी के समकालीन निर्विवाद सिद्ध होते हैं ।' किन्तु कम से कम मैं आपकी इस निर्णायक सरणी से सहमत हो आपकी निर्विवादिता स्वीकार करने में असमर्थ हूँ । क्योंकि प्रशस्तियों से यह नहीं सिद्ध होता कि आशाधर जी की साक्षात्कृति अर्हद्दास जी को थी कि नहीं । सूक्ति और उक्ति की अधिकता से यह अनुमान करना कि साक्षात् आशाधर सूरि से अर्हद्दास जी ने उपदेश ग्रहण कर उन्हें गुरु मान रखा था, यह प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता । क्योंकि सूक्ति और उक्ति का अर्थ रचनाबद्ध ग्रन्थ-सन्दर्भ का भी हो सकता है[४] ।

हमारे अनुमान से, यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आशाधर के अन्तिम समय अर्थात् वि.सं. १३०० में अर्हद्दास आशाधर जी के पास पहुंचे होंगे और १-२ वर्ष साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त कर उनके धर्मामृत से प्रभावित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए होंगे । जैसा कि उनके 'धावन्कापथ·····' (मुनिसुव्रतकाव्य १०/६४) पद्य से भी व्यक्त होता है ।

१. भव्यजनकण्ठाभरण पद्य सं. २३३
२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-४, पृ. ५०
३. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ. १०
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. १४२
५. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका, पृ. ख ।

अर्हद्दास नाम के अनेक विद्वान्

अर्हद्दास नाम के दूसरे कवि रट्टकवि अर्हद्दास हैं। ये जैन ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम नागकुमार था, जो गंगा मारसिंह के चमूपति काडमरस की १५वी पीढ़ी में हुए थे। इनका समय भी १३०० ई. के आसपास स्वीकार किया गया है।

रट्टकवि अर्हद्दास कन्नड भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने कन्नड भाषा में अट्ठमत नाम के महत्त्वपूर्ण ज्योतिष-ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं मिलता है। शक संवत् की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आंध्र-कवि ने इस ग्रंथ का तेलगु भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के उपलब्ध भाग में वर्षा के चिन्ह, शकुन, वायुचक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प-भूजात-फल, उत्पात-लक्षण, इन्द्रधनुष-लक्षण आदि विषयों का निरूपण किया गया है।[1] पर ये अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू के कर्त्ता अर्हद्दास से भिन्न हैं।

अर्हद्दास का समय

संस्कृत के अन्य महाकवियों की तरह महाकवि अर्हद्दास का समय भी अन्धकाराच्छन्न है। उन्होंने अपने जन्म-समय, जन्म-स्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी कतिपय प्रमाण ऐसे हैं जिनसे उनका समय-निर्धारण करना सम्भव है।

अर्हद्दास के काल-निर्धारण में पूर्व और अपर सीमा-निर्धारण के लिए क्रमशः आशाधर और अजितसेन महत्त्वपूर्ण मानदण्ड है। अर्हद्दास ने अपनी कृतियों में आशाधर का नामोल्लेख जिस सम्मान और श्रद्धा से किया है, उससे तो इस अनुमान के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता है कि वे आशाधर के साक्षात् शिष्य रहे होंगे। किन्तु आशाधर ने अपने ग्रन्थों में जिन आचार्यों और कवियों का उल्लेख किया है, उनमें अर्हद्दास का उल्लेख नही है। यहाँ तक कि उनकी अन्तिम रचना अनगारधर्मामृत की टीका में भी अर्हद्दास या उनके किसी ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं है[2]।

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि वे आशाधर के पश्चात्वर्ती हैं। साथ ही आचार्य अजितसेन ने अपनी अलकार-चिन्तामणि में जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट आदि के साथ अर्हद्दास के 'मुनिसुव्रत-काव्य' के अनेक श्लोक उदाहरण स्वरूप दिए है।[3]

इसी प्रकार मुनिसुव्रतकाव्य के १/३४, २/३१, २/३२ तथा २/३३ श्लोक 'अलंकार चिन्तामणि' के पृ. २०५, २२८, २२८ तथा २११ पर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि अर्हद्दास 'अलंकारचिन्तामणि' के कर्त्ता आचार्य अजितसेन से पूर्ववर्ती है।

सौभाग्य से हमें आशाधर के काल-निर्धारणार्थ अधिक नहीं भटकना होगा, उन्होंने अपनी अन्तिम रचना 'अनगारधर्मामृत की टीका' वि. सं. १३०० में पूर्ण की थी।[4] इससे पूर्व वे "त्रिषष्टि

---

१. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. ४२५

२. गुरुगोपालदास वरैया स्मृतिग्रन्थ पृ. ५०१ तथा भारतीय ज्ञानपीठ मे प्रकाशित अनगारधर्मामृत की प्रस्तावना।

३. अलंकार चिंतामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, पृष्ठ १२३, १५३ तथा २६६।

४. 'नलकच्छपुर श्रीमन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
विक्रमाव्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके॥'
अनगारधर्मामृत टीका प्रशस्ति, ३१

स्मृति शास्त्र", "जिनयज्ञकल्प", "सागारधर्मामृत" की टीका आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर चुके थे, ऐसा उक्त ग्रन्थों की प्रशस्तियों से विदित होता है। यतः उन्होंने अपनी अन्तिम कृति "अनगारधर्मामृत की टीका" १३०० वि.सं. (१२४३ ई.) में पूर्ण की थी। अतः उनका रचना-काल ईसा की १३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित है। अलंकारचिन्तामणि के कर्ता अजितसेन का रचनाकाल डॉ. नेमिचन्द्र[1] शास्त्री ने वि.सं. १३०७-१३१७ तथा डा. ज्योतिप्रसाद जैन[2] ने १२४०-१२७० ई. (१२६७-१३२७ वि.सं.) माना है।

आशाधर और अजितसेन के मध्यवर्ती होने के कारण अर्हद्दास का समय १३वीं शताब्दी ई. का मध्यभाग मानना समीचीन होगा।

अर्हद्दास की रचनाएँ

अर्हद्दास की निम्न तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं।

पुरुदेव चम्पू

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का चरम निदर्शन 'पुरुदेव चम्पू' है। इसमें आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की कथा वर्णित है। आरम्भ के तीन स्तवकों में ऋषभदेव के पूर्वभवों का सातिशय वर्णन है। बाद के सात स्तवकों में ऋषभदेव, भरत एवं बाहुबली का चरित्र चित्रित है।

इसका कथाभाग अत्यन्त रोचक है, जिस पर अर्हद्दास की नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा से सम्पृक्त नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों के पुट ने इसके सौन्दर्य को और अधिक वृद्धिगत कर दिया है। यही कारण है कि अजितसेन जैसे काव्यशास्त्रियों ने पुरुदेव चम्पू के पद्यों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

इसकी कथावस्तु महापुराण से ली गई है जिसमें अनेक परिवर्धन एवं परिवर्तन किए गए हैं। इसका अंगीरस शान्त है, रसानुकूल माधुर्य-गुण की मधुरता यत्र-तत्र विद्यमान है। अनेक गद्य बाणभट्ट की टक्कर लेते हैं। कुल २३ छन्दों का प्रयोग पुरुदेव चम्पू में हुआ है। अर्हद्दास का प्रिय अलंकार श्लेष है, इसमें भरत-बाहुबलि के युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है। संक्षिप्त कथा-वस्तु निम्न है—

(प्रथम स्तवक) में मंगलाचरण के उपरान्त कहा गया है कि राजा अतिबल के पुत्र महाबल के मन्त्री का नाम स्वयंबुद्ध था। महाबल २२ दिन की संलेखना के साथ मरकर ललितांग देव हुआ। वहीं स्वयंप्रभा नाम की देवी उत्पन्न हुई। (द्वितीय स्तवक) ललितांग का जीव वज्रजंघ और स्वयंप्रभा का जीव श्रीमती राजपुत्री हुआ। पंडिता धाय के माध्यम से दोनों का मिलन हुआ। (तृतीय स्तवक) वज्रजंघ और श्रीमती ने पचास युगल पुत्रों को उत्पन्न किया और मरकर आर्य दम्पती हुए। इसके बाद श्रीधर का जीव स्वयंप्रभदेव हुआ। श्रीधर का जीव सुविध राजा बाद में अच्युतेन्द्र, तदनन्तर व्रजनाभि राजपुत्र और अन्त में अहमिन्द्र हुआ। (चतुर्थ स्तवक) महाराज नाभिराज और रानी मरुदेवी से उक्त अहमिन्द्र वृषभ नामक राजपुत्र हुआ। तीर्थंकरोचित गर्भकल्याणक और जन्म-कल्याणक मनाए गए। (पंचक स्तवक) इसमें भगवान् के अभिषेक और बाल-क्रीड़ाओं का सुन्दर वर्णन हुआ है।

१. अलंकार चिन्तामणि, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४
२. व्यक्तिगत पत्र दिनांक २७-६-८२ के आधार पर।

(षष्ठस्तवक) इसमें ऋषभदेव के विवाह और उनके १०१ पुत्र तथा ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याओं के जन्म का वर्णन है, भरत की बाल्यावस्था का सुन्दर चित्रण यहाँ हुआ है। (सप्तम स्तवक) ऋषभदेव ने पुत्र-पुत्रियों को विभिन्न शास्त्रों और कलाओं का उपदेश दिया। ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद नीलांजना का नृत्य और भगवान् के वैराग्य तथा दीक्षा-कल्याणक का सुन्दर वर्णन यहाँ हुआ है। (अष्टम स्तवक) इसमें ऋषभदेव की तपस्या और राजा श्रेयांस द्वारा इक्षुरस के आहार का वर्णन है। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को भगवान् को केवल ज्ञान हुआ। देवताओं ने दीक्षा-कल्याणक मनाया। (नवम स्तवक) इसमें भरत की दिग्विजय और अयोध्या लौटने का वर्णन है। (दशम स्तवक) भरत और बाहुबलि के तीन युद्धों, बाहुबलि की दीक्षा, केवल ज्ञान, मुक्ति तथा भरत की दीक्षा और मुक्ति का वर्णन है। माघ कृष्णा चतुर्दशी को भगवान् ऋषभदेव निर्वाण को प्राप्त हुए। अन्तिम मंगलाचरण के साथ काव्य समाप्त हो जाता है—

"जयतां मृदुगम्भीरैर्वचनैः परिनिवृतेर्हेतुः।
सुरसार्थसेवितपदः, पुरुदेवस्तत्प्रबन्धश्च ॥"

मुनिसुव्रतकाव्य

अर्हद्दास की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मुनिसुव्रत-काव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'काव्यरत्न' कहा है।[1] यह दस सर्गों का महाकाव्य है, जिसमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का जीवनचरित्र अंकित है। कथा मूलतः महापुराण से ली गई है। कवि ने कथानक को मूलरूप में ग्रहण कर प्रासंगिक और अवान्तर कथाओं की योजना नहीं की है।[2] इस पर एक प्राचीन संस्कृत टीका प्राप्त है, जिसे ग्रन्थ के सम्पादक पं. हरनाथ द्विवेदी ने अर्हद्दास कृत होने की सम्भावना प्रकट की है।[3] टीका में वर्णनानुसार सर्गों के नाम दिए गए है। काव्य में कुल ४०८ श्लोक है। डॉ. श्यामशरण दीक्षित इसे पौराणिक महाकाव्य मानते हैं।[4] इसमें धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य है। स्वयं अर्हद्दास ने इसे जिनस्तुति कहा है।[5] इसके नायक तीर्थंकर मुनिसुव्रतजिन धीर-प्रशान्त हैं। महाकाव्य के लक्षणानुसार इसमें मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा है। अंगीरस शांत है। अंगरसों में शृंगारादि पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

इसका कथानक ऐतिहासिक है तथा चार पुरुषार्थो में से धर्म और मोक्षप्राप्ति इसके फल हैं। संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन यहाँ हुआ है। सभी काव्यात्मक गुणों से विभूषित इस काव्य की सर्गानुसार कथावस्तु निम्न है—

---

१. यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिभव्यजनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु ॥
—मुनिसुव्रतकाव्य १/२०

२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. ३५
३. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका पृ. "ङ"।
४. "तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य" पृ. ३२४
५. मुनिसुव्रतकाव्य, १/२१

प्रथम सर्ग में मंगलाचरणोपरान्त कहा गया है कि जम्बूद्वीपस्थ आर्यखण्ड में मगध नाम का एक देश है। 'भगवज्जननीजनक वर्णन' नामक दूसरे सर्ग में राजगृह के शासक सुमित्र और उसकी रानी पद्मावती का सौन्दर्य चित्रण है। 'भगवद् गर्भावतार वर्णन' नामक तीसरे सर्ग में कहा गया है कि रानी पद्मावती ने सोलह स्वप्न देखे, अनन्तर श्रावणकृष्णा द्वितीया को श्रवण नक्षत्र तथा शिवयोग में मुनिसुव्रत तीर्थंकर ने पद्मावती के शरीर में प्रवेश किया और देवताओं ने गर्भकल्याणक मनाया।

'भगवज्जननोत्सव वर्णन' में देवताओं द्वारा पौराणिक और जैन परम्परा से प्राप्त जन्म-कल्याणक में इन्द्राणी द्वारा जिनेन्द्र को लेने के लिए अन्तःपुर में जाने का वर्णन है। 'भगवन्मन्दरानयन वर्णन' नामक पांचवें सर्ग तथा 'भगवज्जन्माभिषेक वर्णन' में सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर अभिषेक का तथा 'भगवत्कौमार-यौवन-दारकर्म-साम्राज्य-वर्णन' सर्ग में नामानुरूप कुमारावस्था और साम्राज्य का वर्णन है।

'भगवत्परिनिष्क्रमण वर्णन' सर्ग में भगवान् के केशलोच, पञ्च आश्चर्य, आहारदान आदि का वर्णन है; यहीं दीक्षा-कल्याणक का भी वर्णन है। नवम सर्ग का नाम 'भगवत्तपोवर्णन' है, जिसमें मुनि-सुव्रत जिन की तपस्या का वर्णन है। अन्तिम दशम सर्ग में भगवान् की जीवन और विदेह-मुक्ति का वर्णन है, इसी कारण इसका नाम 'भगवदुभय-मुक्ति-वर्णन' है। इस प्रकार तीर्थंकर मुनिसुव्रत जिन का समग्र चरित्र अत्यन्त मनोरम शैली में उक्त महाकाव्य में विचित्रित है।

तीर्थंकर मुनिसुव्रतजिन जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों में से बीसवें तीर्थंकर हैं। 'मुनिसुव्रतकाव्य' के अतिरिक्त अन्य कोई महाकाव्य उनके चरित्र पर लिखा सम्भवतः उपलब्ध नहीं है।

भव्यजनकण्ठाभरण

महाकवि अर्हद्दास की प्रतिभा का तीसरा निदर्शन 'भव्यजनकण्ठाभरण' है, जो सचमुच में भव्य-जीवों के द्वारा कण्ठ में आभरण रूप से ही धारण करने योग्य है[1]। महाकवि ने २४२ पद्यों में देव, शास्त्र, गुरु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत किया है। भव्यजनकण्ठाभरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कहीं भी व्यर्थ-विस्तार नहीं है, हाँ जितना आवश्यक है, उतना छोड़ा भी नहीं गया है। संक्षेप में आवश्यक बात को निबद्ध करना अर्हद्दास की अपनी विशेषता है। अन्तिम पद्य में अर्हद्दास नाम आने से इसमें कोई संशय नहीं कि यह कृति अर्हद्दास की ही है[2]। इसके साथ ही, जैसा कि हम पीछे बता चुके हैं, पुरुदेव चम्पू तथा मुनिसुव्रत काव्य की तरह भव्यजनकण्ठाभरण के पद्य २३६ में भी आशाधर का नाम बड़े सम्मान के साथ अर्हद्दास ने लिया है। भव्यजनकण्ठाभरण पर समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

काव्य के प्रथम पाँच पद्यों में कवि ने पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने के बाद भव्यजनकण्ठाभरण के सृजन की प्रतिज्ञा की है। आगे काव्य का प्रारम्भ करते हुए एक ही पद्य के द्वारा[3] बड़े सुन्दर ढंग से

१. भव्यजनकण्ठाभरण, प्रस्तावना, पृ. ३

२. 'आप्तादिरूपमिति सिद्धमवेत्यसम्यग्गतेषु रागमितरेषु च मध्यभावम्।
ये तन्वते बुधजना नियमेन तेर्हद्दासत्वमेत्य सततं सुखिनो भवन्ति॥
— भव्यजनकण्ठाभरण, २४२

३. 'सर्वोऽप्यदुःखं सुखमिच्छतीह तत्कर्मनाशात्स च सच्चरित्रात्।
सज्ज्ञानतस्तत्सुदृशस्तदाप्ताद्यास्थैव सा मे तदमुष्यवाच्याः॥'
— भव्यजनकण्ठाभरण, ६

(षष्ठस्तवक) इसमे ऋषभदेव के विवाह और उनके १०१ पुत्र तथा ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दो कन्याओं के जन्म का वर्णन है, भरत की बाल्यावस्था का सुन्दर चित्रण यहां हुआ है। (सप्तम स्तवक) ऋषभदेव ने पुत्र-पुत्रियो को विभिन्न शास्त्रों और कलाओं का उपदेश दिया। ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद नीलांजना का नृत्य और भगवान् के वैराग्य तथा दीक्षा-कल्याणक का सुन्दर वर्णन यहां हुआ है। (अष्टम स्तवक) इसमें ऋषभदेव की तपस्या और राजा श्रेयांस द्वारा इक्षुरस के आहार का वर्णन है। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को भगवान् को केवल ज्ञान हुआ। देवताओ ने दीक्षा-कल्याणक मनाया। (नवम स्तवक) इसमें भरत की दिग्विजय और अयोध्या लौटने का वर्णन है। (दशम स्तवक) भरत और बाहुबलि के तीन युद्धों, बाहुबलि की दीक्षा, केवल ज्ञान, मुक्ति तथा भरत की दीक्षा और मुक्ति का वर्णन है। माघ कृष्णा चतुर्दशी को भगवान् ऋषभदेव निर्वाण को प्राप्त हुए। अन्तिम मगलाचरण के साथ काव्य समाप्त हो जाता है—

"जयतां मृदुगम्भीरैर्वचनैः परिनिवृतेर्हेतुः।
सुरसार्थसेवितपदः, पुरुदेवस्ततप्रबन्धश्च ॥"

मुनिसुव्रतकाव्य

अर्हद्दास की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति मुनिसुव्रत-काव्य है। स्वयं कवि ने इसे 'काव्यरत्न' कहा है।[1] यह दस सर्गो का महाकाव्य है, जिसमें बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का जीवनचरित्र अंकित है। कथा मूलतः महापुराण से ली गई है। कवि ने कथानक को मूलरूप में ग्रहण कर प्रासंगिक और अवान्तर कथाओं की योजना नही की है।[2] इस पर एक प्राचीन संस्कृत टीका प्राप्त है, जिसे ग्रन्थ के सम्पादक पं. हरनाथ द्विवेदी ने अर्हद्दास कृत होने की सम्भावना प्रकट की है।[3] टीका में वर्णनानुसार सर्गों के नाम दिए गए हैं। काव्य में कुल ४०८ श्लोक हैं। डॉ. श्यामशरण दीक्षित इसे पौराणिक महाकाव्य मानते हैं।[4] इसमें धार्मिक भावनाओं का प्राधान्य है। स्वयं अर्हद्दास ने इसे जिनस्तुति कहा है।[5] इसके नायक तीर्थंकर मुनिसुव्रतजिन धीर-प्रशान्त हैं। महाकाव्य के लक्षणानुसार इसमें मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा तथा दुर्जन-निन्दा है। अंगीरस शांत है। अंगरसों में श्रृंगारादि पूर्णरूपेण प्रस्फुटित हुए हैं।

इसका कथानक ऐतिहासिक है तथा चार पुरुषार्थो में से धर्म और मोक्षप्राप्ति इसके फल हैं। संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतु आदि का विस्तृत वर्णन यहाँ हुआ है। सभी काव्यात्मक गुणों से विभूषित इस काव्य की सर्गानुसार कथावस्तु निम्न है—

---

१. यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र चिन्तामणिभव्यजनस्य यच्च।
हृद्यार्थरत्नैकनिधिः स्वयं मे तत्काव्यरत्नाभिधमेतदस्तु ॥
—मुनिसुव्रतकाव्य १/२०

२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. ३५
३. मुनिसुव्रतकाव्य भूमिका पृ. "ड़"।
४. "तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य" पृ. ३२४
५. मुनिसुव्रतकाव्य, १/२१

बारहमासों में हम बारह भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रत्येक मास की प्राकृतिक सुषमा तथा अन्य सांसारिक आकर्षणों के आधार पर की गई है। फिर भी इन भावनाओं का सम्बन्ध जिन बारहमासों से है, उसका संक्षिप्त परिचय देना अनावश्यक नहीं है।

नेमि-राजुल वैवाहिक अनुष्ठान के अवसर पर नेमिनाथ जी यकायक वैराग्य धारण करते हैं और राजुलदेवी प्रत्येक मास की प्रकृति के उल्लेख के साथ मानव-शरीर और जीवन से उन प्रकृति के तत्त्वों के विचलित करने वाले प्रभाव की ओर संकेत कर उनसे विराग त्यागने का एवं घर पर रहने का आग्रह करती है। इधर प्रत्येक मास की प्रकृति के प्रभाव का समाधान नेमिनाथ जी एक-एक भावना द्वारा करते है। यह आग्रह बारहमासा में आषाढ़ मास से आरम्भ हुआ है।

राजुल देवी नेमिनाथ द्वारा वैराग्य धारण करने पर उनसे कहती है कि जब वैवाहिक अनुष्ठान में सम्मिलित हुए, साथ में अगणित प्रतिष्ठित वर-यात्रियों के सम्मुख निशान आदि वाद्ययन्त्रों का उपयोग किया गया, फिर यकायक वैराग्य धारण करना क्या उपहास नहीं है? और यदि वैराग्य धारण करना निश्चित ही है तो वे आगामी आषाढ़ मास में वैराग्य विषयक विचार करने की प्रार्थना करती है।[७]

राजुल के घर लौट चलने के आग्रह के दो आधार उक्त कथन में हैं—एक तो यह कि इतने बड़े-बड़े लोगों के सामने आप यों विरक्त होकर चले आए, इसमें कोई बड़ाई नहीं अपयश है। दूसरे यह कि विवाह के उपक्रम के साथ ही त्याग का उपक्रम, ठीक चढ़ती अवस्था में भोग का त्याग असमीचीन है। आषाढ़ में ही तो विरह प्रबल होता है। कालिदास के यक्ष को आषाढ़ में ही पत्नी-वियोग प्रतीत हुआ था।[८]

नेमिनाथ जी राजुल के इन दोनों आग्रहों को अनित्य भावना से काट देते हैं।[९] वे राजुल देवी को समझाते हुए कहते हैं कि बड़ाई अथवा यश-प्रशंसा का क्या मूल्य, जब जीवन ही निशि-स्वप्न की भांति भंगुर है। भाई, पुत्र-कलत्र आदि सभी स्वजन इस संसार में ही चार दिन के मेहमान हैं, फिर बरात के मेहमानों की क्या गिनती? यह शरीर जल की बूंद की तरह क्षणिक और अस्थिर है। क्या बड़ाई और क्या किसी की लज्जा? अतः सिद्ध-मार्ग ही श्रेष्ठ है। आषाढ़ से संलग्न विरह की तीव्रता के आरम्भ की ओर यों नेमिनाथ ने कोई उल्लेख नहीं किया पर जीवन और जगत् क्षण भंगुर हैं, निशि-स्वप्न हैं तो यह व्यक्ति-व्यक्ति का विरह किस खेत की मूली है, यह ध्वनि से सकेतित है; इसलिए सिद्धों को जपने का संकल्प है कि यह विरह न सताए।[१०]

आषाढ़ से भी अधिक कठोर आक्रमण तपस्वी पर श्रावण का होता है। राजुल देवी कहती हैं कि इस मास की प्रकृति वैराग्य धारण करने के लिए उपयुक्त नहीं है। इस मास में चतुर्दिक् मन को उद्दीप्त करने वाले व्यापार होते हैं। आकाश में घनघोर घटाएं आच्छादित हो जाती हैं। विद्युत चमकती है, कोयल और मयूरों की कूकें और कुहकें उत्तेजना पैदा करती है।[११] तप-भंग से अच्छा है कि घर ही लौट चलें। इन उक्तियों के लिए अशरण-भावना[१२] का उल्लेख नेमिनाथ जी करते हैं। यहां ऐसे आक्रमणों से कौन बच सकता है? जब इस संसार में देवेन्द्र, नारायण, हर, ब्रह्मा आदि देवताओं तक को मृत्यु से बचने के लिए कोई शरण नहीं मिल सकी तो ऐसे संसार में साधारण व्यक्ति किसकी शरण पा सकता है। अतः श्रावण मास की प्रकृति से भयभीत न होकर इस संसार को ही क्यों न त्याग दिया जाए? जहां कोई शरण ही नहीं है।[१३]

भाद्र मास में घनघोर वर्षा होती है। तीव्र वायु चलती है। राजुल देवी प्रार्थना करती है कि हे प्रियतम ! इस ऋतु में आप अपनी रक्षा किस प्रकार करेंगे ? ऐसी विषम परिस्थिति में शिव-सुन्दर की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः घर पर ही योग-साधना समीचीन है।[१८] संसार-भावना[१४] के द्वारा श्री नेमिनाथ जी राजुलदेवी को समझाते हैं कि संसार मे सुख है ही नही। जीव चौरासी योनियों में जन्म-मरण के दुःखों का अनुभव करता है तब भाद्र मास की भयंकर वर्षा निगोद[१६] के दुःखों से भी अधिक कष्टदायिनी नहीं है।[१७]

क्वार मास में ऋतु क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती है। क्षण में बादल गर्जन-तर्जन करते हैं, क्षण में ही बरसने लगते हैं। कभी तीक्ष्ण प्रवाहित पवन, कभी ग्रीष्म-वर्षा और शरद ऋतुएँ प्रकट होने लगती हैं। इस प्रकार की ऋतु में राजुलदेवी कहती हैं कि चित्त स्थिर नही रह सकता है। वह इस मास में प्रायः चंचलित होता रहता है।[१८] एकत्व भावना[१९] का उल्लेख कर भगवान् श्री नेमिनाथ जी राजुलमती से कहते हैं कि यह संसारी प्राणी पर-जीव का कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकता। अपना आगमन-प्रत्यागमन स्वयं ही करता है। फिर यह प्रकृति उसे किस प्रकार प्रभावित करेगी।[२०]

कार्तिक मास में प्राकृतिक तत्त्वों की अपेक्षा व्यावहारिक प्रसंगों का स्मरण दिलाती हुई राजुलदेवी कहती हैं कि इस मास में समस्त मानिनी भामिनियाँ अपने-अपने घरों को अलंकृत करती हैं। नववधुएँ शृंगार कर अपने प्रियतमों को आमन्त्रित करती हैं। जब हमारा हृदय जलेगा तो हे प्रिय ! आपका हृदय अवश्य प्रभावित होगा।[२१]

राजुलदेवी को अन्यत्व भावना[२२] समझाते हुए नेमिनाथ जी कहते हैं कि जीव और उसके सम्बन्धित सभी बाह्य तत्त्व अन्य हैं। यह जीव अज्ञानता में अपने शरीर को अपना समझकर अनेक प्रकार के दुःखों की अनुभूति करता है। आत्मा समस्त बहिर्तत्त्वों से भिन्न है।[२३]

राजुलदेवी अगहन मास के हिमऋतु का उल्लेख करती है कि इस मास में शीतल हवाएँ निरन्तर चला करती हैं। शीतल नीर-समीर वस्तुतः हृदय में प्रेम को उत्पन्न करते हैं। यह ऋतु यथार्थ में नायक के पास रहने के लिए होती है।[२४]

अशुचि भावना[२५] का उल्लेख करते हुए नेमिजी राजुलदेवी को समझाते हैं कि यह शरीर अपावन है। इसमें चर्म की चादर ऊपर से चढ़ी हुई है और अन्तर में खेह भरी हुई है। यहाँ कृमि-कीटों का नीड़ है। यह अस्ति-पंजर निर्मित है और मलमूत्रादि का स्रोत है। ऐसे अपावन शरीर से ममता रखना व्यर्थ है। अतः इस मास की शीतल ऋतु हमें किस प्रकार प्रभावित करेगी।[२६]

पौष मास की कठिन शीत का उल्लेख करती हुई राजुलदेवी नेमिजी से कहती हैं कि अपने कोमल शरीर की कामोद्दीपक शीतलता से किस प्रकार रक्षा कर सकेंगे ? जिसका स्मरण करते ही शरीर कांप जाता है।[२७]

आस्रव भावना[२८] से राजुलमती की चिन्ता का निवारण करते हुए श्री नेमिनाथ जी कहते हैं कि जब मोह आदि भावों का उदय होता है, उस समय जीव को प्रकृति के बाहरी तत्त्वों का प्रभाव अनुभव हुआ करता है। पंच इन्द्रियों के द्वारा राग-द्वेषादि से सम्बन्ध स्थापित हुआ करते हैं। अष्टमद का बाहुल्य जीवन को प्रभावित करता है।[२९] जब इससे सम्बन्ध समाप्त कर दिया है, तब पौष के शीतल वातावरण का किंचित् भय नहीं है।

माघ मास के घोर तुषार-पात का उल्लेख करती हुई राजुलदेवी गिरनार पर्वत पर ठहरने की कठिनाई की ओर नेमिजी का ध्यान आकर्षित करती हैं। मनुष्य का शरीर शीत और ग्रीष्म तत्त्वों को वहन करने में प्रायः असमर्थ है। यह योग की साधना किसी अन्य मास में सम्पन्न करने की राजुलदेवी प्रार्थना करती हैं।[30]

सम्यक्त्व-देशव्रत-महाव्रत, कषायों का जीतना और योग अवरुद्ध अर्थात् आस्रव का रोकना वस्तुतः संवर कहलाता है।[31] पंच इन्द्रियों पर नियंत्रण अर्थात् संयमी जीवन से अष्ट मदों को सहज ही त्यागा जा सकता है। इसी प्रकार हे राजुलदेवी ! समता-भाव के द्वारा पर-द्रव्य से ममत्व की भावना मन से समाप्त की जा सकती है।[32]

फाल्गुन मास भी योग-साधना के लिए उपयुक्त नहीं है। राजुलदेवी कहती हैं कि इस मास में चतुर्दिक होली का वातावरण छाया रहता है। विविध वाद्ययन्त्रों एवं रंगों से मिश्रित पिचकारियां भरकर जब होली खेली जाएगी उस समय हे प्रियतम ! योग-साधना किस प्रकार चल सकेगी ?[33] नेमिजी निर्जरा[34] अर्थात् कर्मो की जीर्णता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि पांच प्रकार की सखी[35]अर्थात् समिति से अष्ट कर्मो[36] को जीर्ण किया जा सकता है। होली की भाँति अष्ट कर्मो को जला कर प्राणी सहज में मोक्ष-मार्ग पाता है।[37]

चैत्र मास की प्राकृतिक प्रकृष्टता का उल्लेख करती हुई राजुलदेवी कहती हैं कि वसंत ऋतु चतुर्दिक दिखलाई देती है। कामिनी नायिकाएं अपने प्रियतमों के साथ पुष्पों की भांति उत्फुल्लित रहती हैं। हे नेमिजी ! ऐसी परिस्थिति में आप घर चलिए अन्यथा आप संसार में उपहास के पात्र बनेंगे।[38] लोक-भावना[39] का उल्लेख करते हुए श्री नेमिनाथ जी राजुल से कहते हैं कि इस लोक का आकार विशिष्ट है। इसका कोई निर्मापक नहीं है। यह आदि-अनादि काल से ऐसा ही चला आया है। इसमें हास-उपहास की क्या बात है ?[40]

वैशाख मास की ऋतु अत्यन्त उष्ण होती है। राजुलदेवी कहती हैं कि इस मास में शीतल नीर की प्यास प्रायः लगती है। पर्वत श्रेणियों पर तपश्चरण कैसे सम्भव है ? राजुलदेवी घर आकर सिद्धत्व-प्राप्ति की प्रार्थना करती हैं।[41]

श्रीनेमिनाथजी बोधिदुर्लभ भावना[42] द्वारा राजुलदेवी को समझाते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य गति अत्यन्त दुर्लभ है। दश लक्षण धर्म[43] तथा षोडस भावना[44] का चिन्तवन अत्यन्त दुर्लभ है अतः इस गति का सदुपयोन करने के उद्देश्य से यह वैराग्य धारण हमारा इष्ट और अभीष्ट है।[45]

राजुलदेवी ज्येष्ठ मास की प्रकृति, जब उष्ण हवाएँ चलती हैं, कड़ी धूप पड़ती है, का उल्लेख करती हैं। संसार के पक्षी, पतंग आदि सभी जीव ऐसी उष्णता में अपने-अपने घर की शरण लेते हैं। इस वातावरण में यह तपश्चरण कैसे सम्पन्न होंगे ?[46]

धर्म-भावना[47] का उल्लेख करते हुए नेमिजी राजुलदेवी से कहते हैं कि धर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। धर्म से ही शिवमार्ग आदि की प्राप्ति होती है। संसार में इससे बढ़कर और कोई दूसरा मार्ग साधना के लिए नहीं है।[48]

इस बारहमासा में स्पष्ट है कि राजुल सांसारिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं एवं प्रकृति के उद्दीपनों और विविध मानवीय व्यापारों का उल्लेख करती हैं, उसकी दृष्टि नेमि के कुशल-क्षेम और तप में दृढ़ बने रहने तक रहती है, सामान्य विरहिणी या प्रेमिका की भांति वह अपनी पीड़ा प्रकट नहीं करती, वरन् नेमिनाथ को उन पर ही आने वाले संकटों का ज्ञान कराकर उन्हें तप से विरक्त करना चाहती हैं। नेमिनाथ तप-पक्ष का अथवा धार्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करके बारहमासा में प्रयुक्त बारह भावनाओं का प्रतिपादन करते हैं।[४६]

निर्देश—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल
२. हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन, शोध-प्रबन्ध पी.एच.डी. उपाधि हेतु आगरा विश्वविद्यालय, १९६२, डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया।
३. जैन धर्म, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री,
४. नित्य नियम पूजा, आचार्य पद्मनन्दी
५. हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन, डॉ. प्रचंडिया, पृष्ठ ५९
६. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ८ सूत्र ७ में बारह भावनाओं का उल्लेख :
१. अनित्य भावना, २. अशरण भावना, ३. संसार भावना, ४. एकत्व भावना, ५. अन्यत्व भावना, ६. अशुचि भावना, ७. आस्रव भावना, ८. संवर भावना, ९. निर्जरा भावना, १०. लोक भावना, ११. बोधि दुर्लभ भावना, १२. धर्म भावना। ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्रजी पृष्ठ १७ पर इन्हीं भावनाओं का उल्लेख करते हैं।
७. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलालजी, आषाढ़ मास
८. A हिन्दी का बारहमासा साहित्य: इतिहास तथा अध्ययन, पृष्ठ ६१, डॉ. प्रचंडिया
B मेघदूत, कालिदास, आषाढ़स्य प्रथम दिवसे.... ।
९. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४ तथा ज्ञानार्णव पृष्ठ १७, श्लोक ८
१०. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, आषाढ़ मास
११. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, श्रावण मास
१२. क-स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २३
ख-ज्ञानार्णव, पृष्ठ २६, श्लोक १ शुभचन्द्राचार्य
१३. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, श्रावण मास
१४. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, भाद्र मास
१५. क-स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३२-३३
ख-ज्ञानार्णव पृष्ठ ३१ श्लोक १
ग-सर्वार्थ सिद्धि, अध्याय ९, पृष्ठ २८०
१६. निगोद-सूक्ष्म जीव जो एक श्वास-उच्छ्वास में आठ-दश बार जन्म लेते हैं। यथा—
एक श्वास में अठ दश बार।
जन्म्यो मर्यो भयो दुःख भार॥
छह ढ़ाला, पंडित दौलतराम

१७. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, भाद्र मास
१८. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, क्वार मास
१९. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ७४
सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ २८०, आचार्य पूज्यपाद ।
ज्ञानार्णव पृष्ठ ३४१ श्लोक १
२०. नेमिराजुल बारहमासा विनोदीलाल आसोज
२१. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, कार्तिक
२२. क-स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८०
ख-ज्ञानार्णव पृष्ठ ३७, श्लोक १
२३. क. नेमि राजुल बारहमासा, विनोदीलाल, कार्तिक मास
ख. राजुल बारहमासा, नेनसुखदास, आसोज मास
ग. नेमिराजुल बारहमासा, ज्ञानचन्द्र
२४. नेमिनाथ राजुल बारहमासा, विनोदीलाल, अगहन मास
२५. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८३ एवं ज्ञानार्णव, पृष्ठ ४० ।
२६. क. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, अगहन मास ।
ख. रुदन राजुलमती बारहमासा, हकीम ज्ञान केन्द्र ।
ग. नेमिराजुल बारहमासा, ज्ञानचन्द्र, पौष मास ।
२७. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, पौष मास ।
२८. क. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ८८
ख. ज्ञानार्णव, शुभचन्द पृष्ठ ४२
२९. क. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, पौष
ख. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोकांक २५, समन्तभद्र जी महाराज
ग. बारहमासा रुदन राजुल, आसोज मास
३०. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, माघ ।
३१. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथांक ९५ एवं ज्ञानार्णव, पृष्ठ ४४ ।
३२. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, माघ मास
३३. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, फाल्गुण मास
३४. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ९, सूत्र ३, आचार्य उमास्वामी
३५. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ९, सूत्र ५ आचार्य उमास्वामी ।
३६. तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ८, सूत्र ५, आचार्य उमास्वामी ।
३७. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, फाल्गुण मास ।
३८. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, चैत्र मास
३९. क–स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथांक ११५
ख–बारह भावना, महाकवि भूधरदास ।

४०. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, चैत्र मास ।
४१. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, वैशाख मास ।
४२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथांक २८४
४३. दशलक्षण धर्म—उत्तमक्षमामार्दवार्जव सत्य-शौच-संयमः ।
तपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्माः ॥
तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ६, सूत्रांक ६
४४. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र २४
४५. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, ज्येष्ठ मास ।
४६. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल ।
४७. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथांक ३०२
४८. नेमिराजुल बारहमासा, विनोदीलाल, ज्येष्ठ मास ।
४९. हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन, पृष्ठ ७३, डॉ. प्रचंडिया ।

मंगल कलश
३९४, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड, अलीगढ़–२०२००१

जीत-चिंतन

भगवान् महावीर से पूर्व जैन धर्म का नाम चातुर्याम-धर्म था। अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह--ये चार ही 'याम' अर्थात् महाव्रत माने जाते थे। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि उस समय ब्रह्मचर्य को कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाता था। उस समय वास्तव में ब्रह्मचर्य का समावेश अपरिग्रह में कर लिया जाता था। भगवान् महावीर ने अपने दिव्यज्ञान से यह देख लिया था कि भविष्य में आने वाली कामलोलुप जनता, ब्रह्मचर्य की उपेक्षा कर सकती है, इसलिये उसे काम-प्रवृत्ति से (जो मोक्षमार्ग की महान् बाधक है) निवृत्ति के लिए, उन्होंने चारों महाव्रतों में ब्रह्मचर्य महाव्रत का पृथक् समावेश करना उचित समझा। अतः स्पष्ट रूप से हम यह कह सकते हैं कि 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' का समावेश भगवान् महावीर की जैन धर्म को मौलिक देन है।

—आ.प्र. श्री जीतमलजी म.सा.

जैनधर्म और भावनात्मक एकता

डॉ. निज़ामउद्दीन

थामस पेन का विचार है—"यदि प्रत्येक व्यक्ति से अपने धर्ममत की परीक्षा करने को कहा जाए, तो कोई भी धर्म बुरा सिद्ध न होगा। किन्तु, यदि उनसे एक-दूसरे के धर्म-मतों की परीक्षा करने को कहा जाए तो विश्व में कोई भी धर्म दोष-रहित न मिलेगा। इसलिए जहाँ तक धर्म की विभिन्न संस्थाओं का प्रश्न है, या तो सारा संसार ठीक है या सारा संसार गलत है।" यह दृष्टि-भेद का कारण है। हम भेद-अन्तर को लेकर चलेंगे तो भेद-अन्तर सर्वत्र नजर आएगा और यदि एकता-समन्वय को लेकर बढ़ेंगे तो एकता-समन्वय का संसार चारों ओर नजर आएगा। यह दुराग्रह का, ईर्ष्या-द्वेष का, राग-विराग का, काम-क्रोध का तमाशा है। संघर्ष तथा अशांति के यही कारण हैं। हम मताग्रही हैं, लोभ-मोह में फँसे हैं, अतः परिग्रहवादी हैं, हिंसावादी हैं। जैनधर्म समन्वयवादी धर्म है, वहाँ मताग्रह नहीं समता-भाव है। महावीर ने जब '**मा हिंस्यात्**' की बात कही तो उसके पीछे '**सर्वभूतेषु आत्मवत्**' की उदार दृष्टि फैली हुई थी। महावीर ने '**आचारांग सूत्र**' (१-५५) में स्पष्ट कहा—"अरे मनुष्य! जिसे तू मारना चाहता है, वह भी तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करता है, जिस पर शासन करना चाहता है या जिसे दुःख देना चाहता है वह भी तेरे जैसा ही प्राणी है। जिसे तू अपने वश में करना चाहता है, जिसे मृत्यु के मुँह में धकेलना चाहता है वह भी तेरे जैसा प्राणी है।" परन्तु आज हम अपनी आँखों पर मताग्रह के, हिंसा के, परिग्रह के, ईर्ष्या-द्वेष के, मोह-लोभ के काले चश्मे चढ़ाए हैं इसलिए वस्तु के वास्तविक धर्म को ठीक-ठीक देख नहीं पाते। अपने आप को ही सब कुछ समझ बैठे हैं। विचार-वैभिन्य हमें सहन नहीं; बस स्थिति यह है कि यदि हम दिन को रात कहें तो दूसरे को सहमति में सिर हिलाकर कहना चाहिए कि हाँ सरकार चाँद-तारे भी चमक रहे हैं—

> खिलाफे राय सुलतां राय जुस्तन,
> वखूने खेश बाशद दस्त शुस्तन।
> अगर शाह रोज रा गोयद शबस्ती,
> वबायद गुफ्त ईनक माह परवी।
>
> —शेखसादी

और आज हम देख रहे हैं कि ऐसी जी-हुजूरी करने वाले, 'हाँ' में 'हाँ' मिलाने वाले अपने स्वार्थार्थ दूसरों के अविवेक-सम्मत दृष्टिकोण को, उनके दुराग्रह को नतमस्तक स्वीकार करते हैं। महावीर ने दूसरों की दृष्टि से देखने-समझने की बात भी कही है जो उनके अनेकान्तवाद-स्याद्वाद दर्शन में सन्निहित है। जैनधर्म की यह एक मौलिक देन है। जहाँ हम अहिंसा के द्वारा दूसरे को आत्मवत् देखते हैं, सर्वत्र मैत्री का रंग बिखरा पाते हैं, सभी प्राणियों की रक्षा करने, उन पर दया करने की बात कहते हैं वहाँ अनेकान्तवाद द्वारा दूसरों के मत को समझने-परखने, उस पर सहानुभूतिपूर्ण, उदारता से विचार-विमर्श करने के भाव भी विराजमान पाते हैं। अनेकान्त जैन धर्म की समन्वयवादी दृष्टि है। यहां तामसिक मनोवृत्ति का शमन होता है और सत्य का, विवेक का, ज्ञान का सर्वग्राही मार्ग विकसित होता है। इसीलिए दूसरी शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के धर्म को 'सर्वोदय तीर्थ' कहा है— "सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।" मनुष्य को जब सम्यग्ज्ञान की संप्राप्ति होती है, जब उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है, या जब उसमें सम्यग्ज्ञान-चरित्र का उदय होता है तभी मोक्ष की सिद्धि हो सकती है—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'।

ज्ञानी होना अहिंसक होना है—'एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण।' जो अहिंसक या अनेकान्तवादी होता है वह ईर्ष्या-द्वेष से, राग-विराग से, मान-अपमान से दूर रहता है; उसकी दृष्टि में कोई दुराग्रह नहीं होता। दुराग्रही को एकता नहीं, विषमता नजर आती है। कृष्ण के आदेश पर जब दुर्योधन और युधिष्ठिर भिन्न दिशाओं में जाकर गुणी व्यक्ति की खोज में निकले तो दुर्योधन को कोई गुणी ही नजर नहीं आया और युधिष्ठिर को कोई अवगुणी दिखाई नहीं दिया। युधिष्ठिर को सब किसी न किसी गुण से सम्पन्न दिखाई दिए। कारण यह था कि दुर्योधन की दृष्टि में अवगुण ही देखने की भावना थी, वह अभिमानी था, अपने से बड़ा, अच्छा किसी को नहीं समझता था। युधिष्ठिर विनम्र थे, सत्य-गुण के ग्राहक तथा प्रशंसक थे, इसलिए उन्हें सर्वत्र गुण ही दिखाई देते थे। जैनधर्म अनेकान्त के द्वारा भावनात्मक एकता का प्रसार करता है, दृष्टिभेद के बीच समन्वय स्थापित करता है। यहां 'दुर्योधनत्व' के स्थान पर 'युधिष्ठिरत्व' का मान किया जाता है। हनुमान को भी एक बार ऐसा हो गया था। अशोकवाटिका में उसे कोई सफेद फूल नजर नहीं आया, सर्वत्र लाल रंग के फूल ही दिखाई दिए, क्योंकि उनकी आँखों में खून उतर आया था, आँखें क्रोध से लाल हो गई थी। यही है राग-द्वेष, मताग्रह का परिणाम। कबीर ने कितनी सच्ची बात कही है कि मैं संसार में जब बुरे आदमी की खोज में निकला तो कोई मुझे बुरा दिखाई नहीं दिया। जब मै अपने आपको देखा तो मुझ से कोई बुरा मुझे नजर नहीं आया। जैनधर्म में आत्मा को, अपने को पहचानने की बात कही गई है, अपना दीपक आप बनने का उपदेश दिया गया है। यहाँ आत्मौपम्यदृष्टि का आलोक बिखरा हुआ है, यहाँ समदृष्टि रहती है, यही अहिंसक होना भी है—

अप्रियां सहते वाणीं, सहते कर्म चाप्रियम्।
प्रियाप्रिये निर्विशेषः, समदृष्टिरहिंसकः॥

अर्थात्—जो अप्रिय वचन सहन करता है और अप्रिय प्रवृत्ति को भी सहन करता है, जो प्रिय तथा अप्रिय को समान दृष्टि से देखता है वही समदृष्टि होता है और जो समदृष्टि होता है वही अहिंसक है।

डॉ. निजामुद्दीन

जैनधर्म अहिंसा के द्वारा, अनेकान्तवाद के द्वारा सबको अपना मित्र बनाता है—यहाँ शत्रु को भी मित्र माना जाता है और कष्ट देने वाले पर क्रोध नहीं किया जाता। इस प्रकार की भावना एकता, भाईचारा, विश्वमैत्री और विश्वबन्धुत्व की भावना ही कही जाएगी। गुरु नानक ने भी इसी भावना को प्रकट किया है—

नानक नाम चढदी कला,
तेरे भाणे सर्वत्त का भला।

यहाँ हिन्दू-मुसलमान का, निर्धन-धनी का, ऊंच-नीच का, ब्राह्मण-शूद्र का कोई भी भेद नहीं रहता। जैन धर्म में सब प्राणियों को समान माना गया है। वहाँ जातीय भेदभाव की भावना नहीं है, मानवता की भावना है। महावीर का धर्म मानवतावादी धर्म है, वह एकता, समानता के बीच बहने वाली गंगा है—समता की गंगा है। 'सूत्रकृतांग' (१-१३-१०) में कहा गया है—

जे माहणे सत्तिय जायए वा,
तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा।
जे पव्वइए परदत्तभोई,
गोत्तेण जे थब्भइ माणवद्धे॥

अर्थात्—तुम ब्राह्मण; क्षत्रिय, उग्रपुत्र या लिच्छवि चाहे किसी भी जाति या कुल में उत्पन्न हुए पर अब तुम समता के शासन में प्रव्रजित हो, अहिंसक होने के कारण परदत्तभोजी हो फिर जाति या कुल का अभिमान कैसा? विद्या और चरित्र के आचरण के द्वारा ही मनुष्य को त्राण मिल सकता है, जाति या कुल द्वारा त्राण नहीं मिल सकता। जैनधर्म 'जिनधर्म' है, गोत्रातीत, जात्यतीत, सम्प्रदायातीत, कुलातीत है। समता-धर्म है। महावीर के धर्म में अर्थात् समता-धर्म में बड़ा-छोटा, नौकर-स्वामी, राजा-प्रजा कोई नहीं, सब समता का व्यवहार करने वाले होते हैं। यहाँ जाति की नहीं, गुणों की पूजा की जाती है, कुल-जाति का अभिमान हानिकारक है। महावीर ने सब लोगों को, सब धर्म के एवं सम्प्रदाय के अवलम्बियों को अपने 'समवसरण' में स्थान दिया, कोई भेदभाव नहीं रखा। आज हमारी आपदाओं की, दुःखों की, अशांति की वजह यही है कि हम जाति या कुल के अभिमान में डूबे हैं और सबको अपने से हीन समझते हैं। आज हम धन में—धनार्जन में इतने अंधे हो गए हैं कि पराए तो पराए, अपनों को भी नहीं पहचानते; निर्धन को (चाहे अपना सगा भाई ही क्यों न हो) हीन समझते हैं, उसके यहाँ आना-जाना तक पसंद नहीं करते। धनार्जनांधता ने मनुष्य को विवेकशून्य बनाकर छोड़ दिया है। जीवन-मूल्यों के बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं चलता-फिरता शव दिखाई देता है। जैनधर्म जीवन-मूल्यों का धर्म है। वह हमें दया और अहिंसा की ओर ले जाता है। धर्म वही है जो दया से विशुद्ध हो—'धम्मो दयाविसुद्धो।' कुल या जाति के अभिमान की कबीर ने निंदा की है। क्या शूद्र और ब्राह्मण में रक्त अलग-अलग होता है, क्या ब्राह्मण में रक्त के बजाय दूध बहता है?

तुम कत ब्राह्मण, हम कत सूद।
हम कत लोहू, तुम कत दूध॥

कुल नहीं गुण को महत्त्व देना चाहिए, जाति नहीं ज्योति को पहचानना चाहिए। हम जाति के पीछे पड़े हैं और ज्योति को भूल बैठे हैं। इसीलिए समाज में एकता नहीं है। हम जाति के गर्व में, भाषा के गर्व में, प्राप्त के गर्व में रात-दिन मस्त रहकर ज्ञान-ज्योति को बिसार बैठे हैं, उससे विमुख हो गए हैं। मनुष्य का जाति से नहीं, गुणों से सत्कार करना चाहिए। जाति को नहीं, ज्योति को पहचानो— "जाणहु जोति न पूछहु जाती" (नानकदेव)।

'अनुयोगद्वार' सूत्र में श्रमण के विषय में कहा गया है:—

उरगगिरि जलणसागरणहतलतरुगण समो अ जो होइ।
भमरमियधरणि जलरुहरविपवणसमो अ सो समणो॥

अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करने से उसे सिन्धुसमान माना जाता है, सुख-दुःख में वह निर्विकार होता है, संसार के माया-मोह के व्याधि से भयभीत रहता है मृग के समान, सहिष्णुता में पृथ्वी के समान होता है, निस्पृही तथा निर्लेप होता है, ज्ञान-ज्योति से पूर्ण रहता है। हमें जैनधर्म के समता, सहिष्णुता-भाव को, अनेकान्त तथा अहिंसा-भाव को आधार बनाकर भावात्मक एकता का वातावरण निर्मित करना चाहिए। सर्वत्र एक-सी-आत्मा को देखना चाहिए, एक परमात्मा की शरण में जाना चाहिए। जो एक को जानता है वह सबको जानता है—'जे एगं जाणइ ते सव्वं जाणइ' (आचारांग)। आज हम केवल अपने को सुखी देखना चाहते हैं; दूसरों के दुःख की चिंता न कर अपनी स्वार्थसिद्धि में बड़े से बड़ा अनिष्ट तक करने को तैयार रहते हैं। जैनधर्म सबका हित करने वाला है, सबको समान दृष्टि से देखता है, सबका आदर-सम्मान करता है। यदि हम 'णमोकारमंत्र' पर गहराई से ध्यान दें तो इसमें गुणों के आधार पर जो व्यक्तित्व-पूजा है वह बड़े व्यापक-गुणों को, सहिष्णुता को, सार्वभौमिकता को चित्रित करती है, उसमें ज्ञान-सूर्य की रश्मियाँ विकीर्णित हैं। ये साधु-वृत्ति के मनुष्य बड़े परमार्थी हैं, बादलों के समान, हमेशा दूसरों की तपन बुझाने वाले हैं। संसार में जो साधु हैं, उपाध्याय हैं, आचार्य हैं, सिद्ध हैं, अर्हन्त हैं—सभी वंदनीय-पूज्य हैं। महर्षि पातंजलि ने कहा है कि जहाँ अहिंसा होती है, वहाँ वैर-भाव स्वाहा हो जाता है। अहिंसा मानवता की, प्रेम की, सद्भाव की शीतल वर्षा करके सबको समशीतल करने वाली है। अहिंसा माता के समान है; सबको ममत्व तथा वात्सल्य प्रदान करने वाली है। जैनधर्म में अहिंसा-जनित ममत्व और वात्सल्य, अनेकान्तजनित सहिष्णुता और सर्वधर्मसद्भाव का जो स्वरूप निहित है वह सचमुच भावनात्मक एकता का मंच तैयार करता है जिस पर सबको गले से लगाकर, प्रेम से, सद्भाव से एक साथ बिठाया जा सकता है। 'समणसुत्तं' (२४) में कैसे पते की बात कही गई है कि जो तुम अपने लिए चाहते हो वही दूसरों के लिए भी चाहो और जो अपने लिए नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी क्यों चाहते हो? यही है तीर्थंकर महावीर का संदेश—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं॥

इस्लामिया कालेज
श्रीनगर-२ (काश्मीर)

—०—०—

डॉ. निज़ामउद्दीन

नैतिक उन्नयन और सामाजिक जागरण के लिए समर्पित जैन पत्रकारिता

संजीव भानावत

'मस्तिष्क और आत्मा' की स्वाधीनता के नाम पर जेम्स आगस्टस हिक्की द्वारा २९ जनवरी; सन् १७८० को 'बंगाल गजट' के प्रकाशन का प्रारंभ करने के साथ भारत में पत्रकारिता का विधिवत्-प्रारम्भ माना जाता है। लगभग दो सौ वर्षों की भारतीय पत्रकारिता की ऐतिहासिक विकास-गाथा अत्यन्त रोमांचक और संघर्षपूर्ण है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के विकास में भारतीय समाचार-पत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में राष्ट्रवादी और समाज-सुधार आंदोलनों को पत्रकारिता की विकास-यात्रा से पृथक् कर समझना कठिन है। अनेक ऐसे पत्र एवं पत्रकार हुए हैं जिन्होंने मिशन-भाव से पत्रकारिता को अपनाया और सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन का संकल्प लिया। देश-प्रेम की भावनाओं को जहाँ युगीन पत्रकारिता ने हवा दी, वहीं रूढिवादिता और अंधविश्वासों के विरुद्ध समाज के कथित केदारों से भी टक्कर ली। राजा राममोहनराय ने अपने पत्रों के माध्यम से जिस सामाजिक परिवर्तन की भूमिका तैयार की उसे आगामी काल की पत्रकारिता ने भी अपनाया।

सामाजिक कुरीतियों और रूढियों के विरुद्ध संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दायित्व जैन पत्रकारिता ने भी उठाया है। खेद है कि उचित मूल्यांकन के अभाव में जैन पत्रकारिता के इस क्षेत्र में अवदान को प्रकट नहीं किया जा सका है। जैन धर्म का मूल लक्ष्य आन्तरिक और बाह्य विकारों को नष्ट कर, स्वस्थ दिशा प्राप्त कर आत्म-स्वभाव में रमण करना है। अतः वह प्रारम्भ से ही समाज में व्याप्त आडम्बरों और प्रदर्शन-प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है।

श्रमण भगवान महावीर ने अपने समय में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। उस समय समाज दो वर्गों में विभक्त था कुलीन और निम्न वर्ग, जो आधुनिक संदर्भों में शोषक और शोषित के प्रतीक माने जा सकते हैं। जातिगत भेदभाव प्रबल होते जा रहे थे। इस प्रकार जातिगत श्रेष्ठता, आपाधापी, स्वार्थ, संघर्ष और वैमनस्य की भावनाओं से जर्जरित और पीड़ित समाज में महावीर ने आत्म-कल्याण तथा साधनापथ के उपदेश द्वारा निम्नवर्ग की हीन-भावना को दूर कर उन्हें आत्म-विश्वास का नया सम्बल प्रदान किया। इसी प्रकार पुरुष-जाति के अत्याचारों से क्रंदन करती नारी को महावीर ने श्रद्धा, आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा। उनके कल्याण और उत्थान का प्रयास किया।

समाजोद्धार का मूल व्यक्ति-चरित्र है। महावीर ने मानवीय गरिमा के अवमूल्यन, अपमान और अवमानना के विरुद्ध जनशक्ति को संगठित कर मनुष्य को स्वयं का भाग्य-नियन्ता बताया। भाग्य के झूले में झूलते तत्कालीन मानव को कर्म और पुरुषार्थ की प्रेरणा महावीर ने दी।

धर्म-पद्धतियों में व्याप्त विकृतियों पर महावीर ने खुलकर चोट की और मन की शुद्धता, आचरण की पवित्रता तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के त्याग पर आधारित उपासना-पद्धति को अपनाने पर बल दिया। महावीर साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से कोसों दूर थे। नैतिकता और सदाचार के सर्वमान्य सिद्धान्तों पर आधारित महावीर की आचार-संहिता ने तत्कालीन धार्मिक जीवन के खोखलेपन, धार्मिक मठाधीशों की ठेकेदारी, मनुष्य और ईश्वर के मध्य तथाकथित दलालों की घुसपैठ आदि का पर्दाफाश करते हुए मानवीय प्रेम और करुणा की गंगा बहाई।

'जीओ और जीने दो' की बात कहकर महावीर ने सह-अस्तित्व की बात कई सौ वर्षों पूर्व उद्घोषित कर दी थी। महावीर ने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए 'अनेकान्तवाद' का विचार प्रतिपादित किया।

महावीर ने अहिंसा का प्रबल समर्थन किया। महावीर की दृष्टि में 'दया, क्षमा, प्रमोद, रक्षा, प्रेम विश्वास, अभय, समन्व, प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, ये समस्त अहिंसा-परिवार के सदस्य हैं। स्पष्टतः महावीर की अहिंसा का यह स्वरूप अत्यन्त व्यापक आधार पर टिका हुआ है। प्रमाद और स्वार्थ के वशीभूत होकर मन, वचन और काया के द्वारा स्वयं के या किसी अन्य के प्राणों को किंचित् भी आघात पहुंचाना हिंसा है।

महावीर युगद्रष्टा एवं क्रान्तद्रष्टा व्यक्तित्व के धनी थे जिनके विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक और उपयोगी हैं। महावीर जैन परम्परा के चरम तीर्थंकर माने गए हैं। उन्होंने समाज की धार्मिक एवं नैतिक भावना को पुष्ट करने के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की जिसमें साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका सम्मिलित हैं। महावीर को हुए आज ढाई हजार वर्षों से अधिक समय हो गया पर उनके धर्म-शासन की परम्परा अक्षुण्ण चली आ रही है। उनके धर्म-शास्त्र में कई क्रांतिकारी महान् सुधारक, आचार्य, मुनि और सद्गृहस्थ हुए हैं। मुद्रण-कला के अभाव में भी वे अपनी मर्यादानुसार गाँव-गाँव पद-विहार कर अपने धर्मोपदेश द्वारा जन-जागृति का शंखनाद फूंकते रहे हैं। राजा से लेकर रंक तक उनकी पहुच रही है। इन साधु-सन्तों को चलते-फिरते 'समाचार पत्र' कहा जा सकता है। जब प्रेस का आविष्कार हुआ तो विभिन्न क्षेत्रों में पत्रकारिता का भी विकास हुआ। २६ मई सन् १८२६ को हिन्दी भाषा का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। इस प्रथम हिन्दी साप्ताहिक के प्रकाशन के लगभग ५४ वर्षों बाद पहला हिन्दी जैन पत्र प्रकाशित हुआ। श्री अगरचन्द नाहटा ने वैंकटलाल ओझा को उद्धृत करते हुए उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्रयाग से सन् १८८० में प्रकाशित 'जैन पत्रिका' को प्रथम हिन्दी जैन पत्रिका माना है।[1] इस प्रकार हिन्दी जैन पत्रकारिता का प्रारम्भ हुए एक शताब्दी से अधिक समय हो गया है।

१. तीर्थंकर, अगस्त-सितम्बर, १९७७, पृ. २५

नैतिक उन्नयन और सामाजिक जागरण के लिए समर्पित जैन पत्रकारिता

☐

संजीव भानावत

'मस्तिष्क और आत्मा' की स्वाधीनता के नाम पर जेम्स आगस्टस हिक्की द्वारा २९ जनवरी; सन् १७८० को 'बंगाल गजट' के प्रकाशन का प्रारंभ करने के साथ भारत में पत्रकारिता का विधिवत्-प्रारम्भ माना जाता है। लगभग दो सौ वर्षों की भारतीय पत्रकारिता की ऐतिहासिक विकास-गाथा अत्यन्त रोमांचक और संघर्षपूर्ण है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के विकास में भारतीय समाचार-पत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत में राष्ट्रवादी और समाज-सुधार आंदोलनों को पत्रकारिता की विकास-यात्रा से पृथक् कर समझना कठिन है। अनेक ऐसे पत्र एवं पत्रकार हुए हैं जिन्होंने मिशन-भाव से पत्रकारिता को अपनाया और सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन का संकल्प लिया। देश-प्रेम की भावनाओं को जहाँ युगीन पत्रकारिता ने हवा दी, वहीं रूढिवादिता और अंधविश्वासों के विरुद्ध समाज के कथित केदारों से भी टक्कर ली। राजा राममोहनराय ने अपने पत्रों के माध्यम से जिस सामाजिक परिवर्तन की भूमिका तैयार की उसे आगामी काल की पत्रकारिता ने भी अपनाया।

सामाजिक कुरीतियों और रूढियों के विरुद्ध संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दायित्व जैन पत्रकारिता ने भी उठाया है। खेद है कि उचित मूल्यांकन के अभाव में जैन पत्रकारिता के इस क्षेत्र में अवदान को प्रकट नहीं किया जा सका है। जैन धर्म का मूल लक्ष्य आन्तरिक और बाह्य विकारों को नष्ट कर, स्वस्थ दिशा प्राप्त कर आत्म-स्वभाव में रमण करना है। अतः वह प्रारम्भ से ही समाज में व्याप्त आडम्बरों और प्रदर्शन-प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष करता रहा है।

श्रमण भगवान महावीर ने अपने समय में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में नवीन क्रान्ति का सूत्रपात किया। उस समय समाज दो वर्गों में विभक्त था कुलीन और निम्न वर्ग, जो आधुनिक संदर्भों में शोषक और शोषित के प्रतीक माने जा सकते हैं। जातिगत भेदभाव प्रबल होते जा रहे थे। इस प्रकार जातिगत श्रेष्ठता, आपाधापी, स्वार्थ, संघर्ष और वैमनस्य की भावनाओं से जर्जरित और पीड़ित समाज में महावीर ने आत्म-कल्याण तथा साधनापथ के उपदेश द्वारा निम्नवर्ग की हीन-भावना को दूर कर उन्हें आत्म-विश्वास का नया सम्बल प्रदान किया। इसी प्रकार पुरुष-जाति के अत्याचारों से क्रंदन करती नारी को महावीर ने श्रद्धा, आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा। उनके कल्याण और उत्थान का प्रयास किया।

नैतिक उन्नयन और सामाजिक जागरण

समाजोद्धार का मूल व्यक्ति-चरित्र है। महावीर ने मानवीय गरिमा के अवमूल्यन, अपमान और अवमानना के विरुद्ध जनशक्ति को संगठित कर मनुष्य को स्वयं का भाग्य-नियन्ता बताया। भाग्य के झूले में झूलते तत्कालीन मानव को कर्म और पुरुषार्थ की प्रेरणा महावीर ने दी।

धर्म-पद्धतियों में व्याप्त विकृतियों पर महावीर ने खुलकर चोट की और मन की शुद्धता, आचरण की पवित्रता तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के त्याग पर आधारित उपासना-पद्धति को अपनाने पर बल दिया। महावीर साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से कोसों दूर थे। नैतिकता और सदाचार के सर्वमान्य सिद्धान्तों पर आधारित महावीर की आचार-संहिता ने तत्कालीन धार्मिक जीवन के खोखलेपन, धार्मिक मठाधीशों की ठेकेदारी, मनुष्य और ईश्वर के मध्य तथाकथित दलालों की घुसपैठ आदि का पर्दाफाश करते हुए मानवीय प्रेम और करुणा की गंगा बहाई।

'जीओ और जीने दो' की बात कहकर महावीर ने सह-अस्तित्व की बात कई सौ वर्षों पूर्व उद्घोषित कर दी थी। महावीर ने विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए 'अनेकान्तवाद' का विचार प्रतिपादित किया।

महावीर ने अहिंसा का प्रवल समर्थन किया। महावीर की दृष्टि में 'दया, क्षमा, प्रमोद, रक्षा, प्रेम विश्वास, अभय, समत्व, प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, ये समस्त अहिंसा-परिवार के सदस्य हैं। स्पष्टतः महावीर की अहिंसा का यह स्वरूप अत्यन्त व्यापक आधार पर टिका हुआ है। प्रमाद और स्वार्थ के वशीभूत होकर मन, वचन और काया के द्वारा स्वयं के या किसी अन्य के प्राणों को किंचित् भी आघात पहुंचाना हिंसा है।

महावीर युगद्रष्टा एवं क्रान्तद्रष्टा व्यक्तित्व के धनी थे जिनके विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक और उपयोगी हैं। महावीर जैन परम्परा के चरम तीर्थंकर माने गए हैं। उन्होंने समाज की धार्मिक एवं नैतिक भावना को पुष्ट करने के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की जिसमें साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका सम्मिलित हैं। महावीर को हुए आज ढाई हजार वर्षों से अधिक समय हो गया पर उनके धर्म-शासन की परम्परा अक्षुण्ण चली आ रही है। उनके धर्म-शास्त्र में कई क्रांतिकारी महान् सुधारक, आचार्य, मुनि और सद्गृहस्थ हुए हैं। मुद्रण-कला के अभाव में भी वे अपनी मर्यादानुसार गाँव-गाँव पद-विहार कर अपने धर्मोपदेश द्वारा जन-जागृति का शंखनाद फूंकते रहे हैं। राजा से लेकर रंक तक उनकी पहुच रही है। इन साधु-सन्तों को चलते-फिरते 'समाचार पत्र' कहा जा सकता है। जब प्रेस का आविष्कार हुआ तो विभिन्न क्षेत्रों में पत्रकारिता का भी विकास हुआ। २६ मई सन् १८२६ को हिन्दी भाषा का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' प्रकाशित हुआ। इस प्रथम हिन्दी साप्ताहिक के प्रकाशन के लगभग ५४ वर्षों बाद पहला हिन्दी जैन पत्र प्रकाशित हुआ। श्री अगरचन्द नाहटा ने वैंकटलाल ओझा को उद्धृत करते हुए उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर प्रयाग से सन् १८८० में प्रकाशित 'जैन पत्रिका' को प्रथम हिन्दी जैन पत्रिका माना है।[1] इस प्रकार हिन्दी जैन पत्रकारिता का प्रारम्भ हुए एक शताब्दी से अधिक समय हो गया है।

१. तीर्थंकर, अगस्त-सितम्बर, १९७७, पृ. २५

संजीव भानावत

जैन धर्म के दो प्रमुख पक्ष हैं—आत्मधर्म तथा समाज-धर्म। आत्मधर्म में क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग, सत्य, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि आते हैं। समाज-धर्म में गांवधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, संघधर्म, कुलधर्म, गणधर्म आदि समाविष्ट हैं। जैन पत्रकारिता, धर्म के इन दोनों पक्षों से जुड़ी हुई है।

यहाँ कुछ प्रमुख जैन पत्र-पत्रिकाओं के उद्देश्यों की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। ये उद्देश्य उन पत्र-पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुए हैं या प्रथमांक के संपादकीय लिखते हुए संपादकों ने पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ करते हुए व्यक्त किए हैं। इन उद्देश्यों का अध्ययन करने से जैन पत्रों की सामाजिक भूमिका के मूल्यांकन में सुविधा होगी—

श्री भारतवर्षीय दिग. जैन महासभा का मुखपत्र साप्ताहिक 'जैन गजट' प्राचीनतम जीवित साप्ताहिक जैन पत्र है जिसका प्रथम प्रकाशन अजमेर मे सन् १८९५ में हुआ। वर्तमान में यह पत्र लखनऊ मे श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन के सम्पादन में प्रकाशित हो रहा है। जैन गजट तथा उसके समकालीन पत्रों पर डा. ज्योतिप्रकाश जैन की टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"जैन गजट (हिन्दी) रूढ़िवादी विचारों का पोषक था तो वीर और जैन मित्र सुधारवादी थे।"[१]

सन् १९०० मे सूरत से बम्बई दि. जैन प्रान्तिक सभा का मासिक मुखपत्र 'जैन मित्र' प्रकाशित हुआ। वर्तमान में यह साप्ताहिक (१९१७ से) रूप में प्रकाशित हो रहा है। मूलतः सामाजिक-धार्मिक पत्र होते हुए भी इसमें राष्ट्रीय भावना की तेजस्विता के दर्शन होते थे। युगानुरूप प्रखर सम्पादकीय इस पत्र की विशेषता थी। 'सम्पादकीय विचार' स्तम्भ के नीचे निम्न श्लोक प्रकाशित होता था—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।
—अमितगति

'स्थानकवासी जैनी भाइयों को धर्म-नीति, व्यवहार, समाचार बताने'[२] के उद्देश्य से अगस्त, १९०१ में बम्बई से 'हिन्दी जैन हितेच्छु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

सन १९०४ में 'साहित्य, इतिहास, समाज और धर्म सम्बन्धी लेखों से विभूषित' 'जैन हितैषी' का प्रकाशन श्री पन्नालाल जैन के संपादन में हुआ। एक वर्ष बाद ही श्री नाथूराम प्रेमी इसके संपादक हो गए और उनकी योग्यता तथा प्रतिभा से यह पत्र 'नव सामाजिक क्रांति का अग्रदूत' बन गया।

जुलाई, १९१२ में श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा की ओर से एक त्रैमासिक ऐतिहासिक पत्रिका 'श्री जैन सिद्धान्त भास्कर' प्रारम्भ की गयी। 'भास्कर' की किरणों की प्रचण्डता केवल अज्ञानता को नष्ट करने के लिए ही नहीं थी वरन् विज्ञ पाठकों के संदेह-समूह का अशेष परिशोधन और उनका मुकुलित अपनी प्राचीनता गौरव विचार विकसित[3] करने के लिए भी थी। इस पत्र के उद्देश्य के संदर्भ में संपादक-प्रकाशक पदमराज रानीवाला ने लिखा—

१. तीर्थंकर, अगस्त-सित. १९७७, पृ. १४
२. हिन्दी जैन हितेच्छु, अगस्त १९०१
३. जैन सिद्धान्त भास्कर, जुलाई-सितम्बर, १९१२, पृ. ३

"इस पत्र का मुख्योद्देश्य यह होगा कि इसमें ऐतिहासिक विषय की चर्चा तथा 'भवन' में सुरक्षित शास्त्रों के परिचय के सिवाय और पत्रों के से राजनैतिक और सामाजिक विषय का उल्लेख बिलकुल ही नहीं रहेगा और यह भी इसका एक मुख्योद्देश्य रहेगा कि किसी समाचार पत्र के विषयों की आलोचना नहीं करना तथा उनके निस्सार और निष्प्रयोजन आक्षेपों की ओर दृष्टिपात भी नहीं करना किन्तु सत्य सिद्धान्त और परिपुष्ट-प्रमाण के प्रकाशित करने में यदि किसी के मन्तव्यों तथा सिद्धान्तों से विरोध जान पड़ता हो तो यह 'भास्कर' उसकी ओर कुछ ध्यान नहीं देकर 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस नीति-वाक्य को स्मरण करता हुआ अपने को 'उचित वक्ता' कहलाने की सदा चेष्टा करेगा क्योंकि हमारे आचार्यों ने अपने धार्मिक विचार और सैद्धांतिक बातों को प्रकट करने मे कभी किसी की परवाह नहीं की।"[1]

श्री रतनलाल महता के सम्पादन में श्री उत्तम जैन साहित्य प्रकाशक मंडल, उदयपुर की ओर से संवत् १९८५ में 'समाज में धार्मिक जीवन, जागृति और बल' का संचार करने के लिए प्रकाशित मासिक 'जैन ज्ञान प्रकाश' का उद्देश्य इसके प्रथमांक पर इस प्रकार लिखा गया था—

'यह जैन ज्ञान प्रकाश जगत् में, सच्चा ज्ञान फैलावेगा।
धर्म भाव भर अखिल विश्व में, शान्ति-सुधा बरसावेगा।
सिखला कर सब आर्य कलाएँ, देश-दरिद्र नसावेगा।
शुद्ध स्वदेशी पथ अपना कर, जीवों के प्राण बचावेगा।।

लगभग पचहत्तर वर्षों से लगातार प्रकाशित 'जैन प्रकाश' के प्रगट होने का कारण था

'अज्ञान-मोह-विनाश हेतु प्रगटा जैन प्रकाश'

इस पत्र पर यह वाक्य भी वर्तमान समय में प्रकाशित हो रहा है—

'जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व सौख्य-प्रदायि: धर्म-चक्र अति सुखद जैन का, सदा प्रवर्तित हो जग में।'

श्री अ. भा. श्वे. जैन कान्फ्रेंस का यह मुखपत्र पहले साप्ताहिक था जो बाद में पाक्षिक हो गया।

ओसवाल यंगमेन सोसायटी, जोधपुर ने जोधपुर से अपना जातीय पत्र जून, १९१८ में प्रारम्भ किया। जुलाई १९१९ के अंक के मुख पृष्ठ का एक अंश—

मारवाड़ !
ओसवाल !

'निज देश-सेवा हेतु मेरा जन्म है संसार में,
यह 'ओसवाल' तत्पर रहेगा सदा स्वजाति-सुधार में
विद्वेष-भावों को मिटाना मुख्य मेरा कर्म है,
जातीयता के भाव फैलाना प्रथम शुचि-धर्म है।

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, जुलाई से सितम्बर, १९१२, पृ. १०

सामाजिक सुधार के मूल लक्ष्य को लेकर तथा बुरी-बुरी रस्में और अनर्थकारी कुरीतियों को जड़-मूल से नष्ट कर देने के लिए अपनी आवाज बुलन्द करने के संकल्प के साथ अप्रेल सन् १९१९ में बम्बई से 'जैन समाज' प्रारम्भ किया गया। 'हमारा वक्तव्य' शीर्षक से संपादक टेकचन्द्र सिंघी, बी.ए ने लिखा—

'हिन्दी भाषा भाषी जैन ससार को विशेषकर राजपूताना तथा मालवा के जैन समाज को उसकी अज्ञानान्ध-भरी मीठी निद्रा से जगाना ही इसका प्रधान कर्त्तव्य है।'[१]

मई, १९२१ में भारतवर्षीय दि. जैन महिला परिषद् ने समाज में स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से 'जैन महिलादर्श' का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

अप्रेल, १९२० में जैन साहित्य संशोधक समाज ने पूना सिटी से 'जैन इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान आदि विषयक विविध निवन्ध संग्रह' युक्त 'जैन साहित्य संशोधक' का प्रकाशन किया।

सन् १९२२ में प्रकाशित 'वीर' भी एक सुधारवादी पत्र था, जो अ. भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् का मुखपत्र है। वर्तमान में इसके संपादक डा. ज्योतिप्रसाद जैन हैं।

सामाजिक उत्थान की दृष्टि से बुलन्दशहर से सन् १९२८ में 'सनातन जैन समाज' की ओर से मासिक 'सनातन जैन' पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इसका उद्देश्य-वाक्य इस प्रकार छपता था—

विधवा दीन अनाथ का, करो जन्म उद्धार।
जिससे इस भव सुयश हो, पर-भव पुण्य अपार॥

कालान्तर में उक्त दोहे के स्थान पर यह पद प्रकाशित किया जाता था—

कुरीतियां अन्याय अंधश्रद्धा मिटाय कर,
सोती समाज में क्रान्ति मचायेगा।
संगठन कराय सुख-शान्ति बढ़ाय कर,
जगत् में वीर का झण्डा फहरायेगा॥

'सनातन जैन' लगभग २२ वर्षों तक प्रकाशित होता रहा। इस पत्र पर रमाकान्त जैन ने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है

"सनातन जैन, मात्र एक प्रचार-माध्यम नहीं रहा अपितु उसने साहित्य-साधना भी की और अपने प्रिय पाठकों को विविध रुचिकर रचनाएं—कथा कहानियां, नाटक, कविताएं, गजलें, लेख इत्यादि समय-समय पर दीं। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा उसमें हुई। शास्त्रीय वाद-विवाद और कानूनी ज्ञान के दर्शन भी इस पत्र में होते हैं। दूसरे पत्रों से समाचार उद्धृत करने और उन पर अपना अभिमत व्यक्त करने की परिपाटी भी उसमें रही। विद्वानों और साहित्य-मनीषियों के समादर से भी यह अछूता नहीं रहा।"[२]

---

१. जैन समाज, अप्रेल, सन् १९१९

२. तीर्थंकर—अगस्त–सितम्बर, १९७७, पृ–४५

'समाज और राष्ट्र की गम्भीर समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला विविध भाव-शैलियों के विवेचनात्मक लेखों और भावमयी कविताओं से परिपूर्ण' रचनाओं के साथ जनवरी १९२८ में कलकत्ता से 'ओसवाल नवयुवक' का प्रकाशन प्रारंभ किया गया।

पं. जुगलकिशोर मुख्तार के संपादन में दिस. १९२९ में वीर सेवा मंदिर द्वारा 'अनेकान्त' का प्रकाशन किया गया। इस पत्र के प्रथमांक में पत्र का अवतार, रीति-नीति और 'संपादन' विषयक टिप्पणी में संपादक ने लिखा—

"जब से जैन हितैषी बन्द हुआ है तब से जैन समाज में एक अच्छे साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पत्र की जरूरत बराबर महसूस हो रही है और सिद्धान्त-विषयक पत्र की जरूरत तो उससे भी पहले ही चली आती है। इन दोनों जरूरतों को ध्यान में रखते हुए, समन्तभद्राश्रम ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि और लोक-हित की साधना के लिए सब से पहले 'अनेकान्त' नामक पत्र को निकालने का महत्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया है और यह निश्चय किया है कि इस पत्र की मुख्य विचार-पद्धति अपने नामानुकूल उस न्यायवाद (अनेकान्तवाद) का अनुसरण करने वाली होवे जिसे 'स्याद्वाद' भी कहते हैं।"[1]

ओसवाल पत्र का जन्म सन् १९३४ में आगरा में श्रीमान् सेठ अचलसिंह के सभापतित्व में 'ओसवाल सुधारक' के रूप में हुआ था। इसका प्रकाशन क्रमशः आगरा, कलकत्ता, अजमेर से हुआ। आजकल इसका प्रकाशन-कार्य आगरा से हो रहा है।"[2] आगरा से प्रकाशित 'ओसवाल' मूलतः सामाजिक पत्र था। जन. ४७ से इसके मुख्य पृष्ठ पर यह वाक्य छपने लगा—"सामाजिक उत्थान ही हमारा मुख्य ध्येय है।"

अखिल भारतवर्षीय ओसवाल सभा सम्मेलन के इस पाक्षिक पत्र पर यह वाक्य भी काफी समय तक प्रकाशित होता रहा (सम्भवतः १५ मई १९५० तक)—

"आध्यात्मिक भावना, नैतिक सदाचार, सामाजिक संगठन, शिक्षा-प्रसार और कुरीति-निवारण पर बल देना 'ओसवाल' का ध्येय है।"

बच्चों के विकास तथा नैतिक शिक्षा के प्रसार के उद्देश्यों को लेकर सन् १९३५ में ब्यावर से जैन शिक्षण परिषद् ने मासिक 'जैन शिक्षण संदेश' का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

मई, १९३७ में मथुरा से भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ के साप्ताहिक मुखपत्र 'जैन संदेश' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। तब से यह पत्र अनवरत रूप से प्रकाशित हो रहा है। इसके संपादक पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री हैं। १७ जुलाई १९५८ से इसका त्रैमासिक शोध-विशेषांक 'शोधांक' भी प्रकाशित किया जाने लगा। शोधांक का संपादन-दायित्व डा. ज्योतिप्रसाद जैन पर है। 'जैन संदेश' के सम्पादकीय के नीचे ये पंक्तियाँ प्रकाशित होती हैं—

---

१. अनेकान्त, दिस. १९२९ पृ. ५९

२. ओसवाल, १५ जुलाई, १९४८ पृ. ७

अभिलाषा है सभी सुखी हों साहस धारी
पौरुष, पुण्य, विवेक बनें, उनके सहचारी।
जन-सेवा के हेतु चाहते हैं हम, जीवन
महावीर का लिए हुए 'संदेश' पुरातन ॥

जैन साहित्य व संस्कृति के अध्ययन व चिन्तन को प्रेरित करने के उद्देश्य से जैन विद्या भवन, लाहौर ने जुलाई, सन् १९४१ में 'जैन विद्या' का हिन्दी व अंग्रेजी में प्रकाशन शुरू किया जिसका संपादन डा. बनारसीदास जैन करते थे।

'इतिहास, संस्कृति और धर्म की मासिक पत्रिका 'जिनवाणी' का प्रकाशन जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़ ने जन. सन् १९४३ में प्रारम्भ किया। आजकल इसका प्रकाशन सम्यग् ज्ञान प्रचारक मंडल की ओर से जयपुर से किया जा रहा है। इसके प्रथम अंक के टाइटिल पृष्ठ के दूसरे पृष्ठ पर उद्देश्य को इस प्रकार प्रकाशित किया गया था—

"नैतिक, धार्मिक सुविचारों का प्रचार करना, प्राचीन जैन साहित्य का संशोधन एवं अन्वेषण कर उद्धार करना तथा जैन धर्म के पवित्र और आदर्श सिद्धान्तों द्वारा उसकी विश्व-हितकारिता सिद्ध कर सर्वजन-समाज के हृदय में साम्य-भाववर्धक धर्म-रुचि उत्पन्न करना ही इस पत्रिका का मुख्य ध्येय है।"

अगस्त १९४३ से उद्देश्य-वाक्य के रूप में यह पद प्रकाशित होता था—

काम क्रोध मद मोह लोभ को, दिल से दूर भगाने को।
अवनत जग को फिर उन्नति के, पथ पर शीघ्र चढ़ाने को ॥
सत्य-अहिंसा आदि गुणों का, पूर्ण प्रचार बढ़ाने को।
आई है 'जिनवाणी' जग में, जीवन-ज्योति जगाने को ॥

जनवरी '४४ से यह पद प्रकाशित होने लगा—

मंगल-मूल-धर्म की जननी, शाश्वत सुखदा कल्याणी।
द्रोह-मोह-छल-मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह जिनवाणी ॥

अग. ४६ से मुख पृष्ठ पर यह वाक्य प्रकाशित होने लगा—

रागद्वेष को सर्वथा जीत कर साम्य-भाव में विचरण करने वाली विभूतियों को 'जिन' कहते हैं और उनके पुनीत विश्व-हितकारी सिद्धान्तों का संग्रह 'जिनवाणी' है।

श्री भारत जैन महामण्डल का अखण्ड, जैन जागृति तथा सामाजिक एवं साहित्यिक समन्वय का प्रमुख हिन्दी प्रगतिशील मासिक पत्र 'जैन जगत्' वर्धा से अप्रैल सन् १९४७ से पुनः प्रकाशित होने लगा-पत्र के संपादक हीरासाव चवडे ने 'हमारी कामना' शीर्षक से अपने विचार प्रकट करते हुए प्रथमांक में लिखा—

'जैन जगत्' पहिले साहित्यरत्न पं. दरबारीलालजी 'सत्यभक्त' के संपादन में अजमेर से प्रकाशित होता रहा है। किन्हीं कारणों से सन् ३५ में उसे अपने अस्तित्व को ढ़क देना पड़ा था। परन्तु वह तो एक गूदड़ी का लाल, ढ़की भस्म की आगी एवं क्रांति का बीज था। अतः पुनः प्रकट हुआ और आज हमें हर्ष है कि वह सोद्देश्य पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

पहिले 'जैन जगत्' केवल दिगम्बर समाज का ही क्रांतिदल का पत्र था, आज वह आपके सम्मुख अखण्ड जैनत्व एवं संगठन के पुनीत उद्देश्यों को लेकर उपस्थित है। अब उसका क्षेत्र बढ़ गया है और वह किसी भी समुदाय, जाति, पंथ का स्वागत करने के लिए सदैव तत्पर है।[1]

वर्तमान में इस पत्र का प्रकाशन बम्बई से हो रहा है।

तीन अप्रेल, सन् १९४७ में जयपुर से प्रकाशित 'वीरवाणी' समाज, संगठन, धार्मिक सुधार और प्राचीन साहित्य के संवर्धन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

नव. १९४९ में बनारस से प्रकाशित मासिक 'श्रमण' का उद्देश्य श्रमण संस्कृति का प्रचार है। वह किसी सम्प्रदाय या पंथ का मसालची नहीं है। वह तो शुद्ध प्रगतिशील तत्त्वों का प्रचार करने के लिए निकाला जा रहा है। जनता को साम्प्रदायिकता तथा परावलम्बन से मुक्त करना एवं समता तथा प्रेम की भावना उत्पन्न करना ही इसका ध्येय है।

सन् १९५० के आसपास अ.भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ का सैलाना से प्रकाशित पाक्षिक पत्र 'सम्यग् दर्शन' 'जैन संस्कृति के रक्षण और शुद्ध साध्वाचार' के उद्देश्य से प्रकाशित होता आ रहा है। इस पत्र पर यह पद प्रकाशित होता रहा है—

श्री जिन धर्म प्रचारक प्रगटा सम्यग् दर्शन
आगम अनुयायी श्रद्धान परूपन स्पर्शन ॥
सभी जीव हो सुखी यही शुभ ध्येय हमारे
भव्य तिरे भवसागर से मिथ्यात्व निवारें ॥

लगभग ३५ वर्ष पूर्व प. पू. व्या. वा. आचार्य देव श्रीमद् विजययतीन्द्र सूरीश्वर जी महाराज द्वारा मासिक 'शाश्वत धर्म' पत्र संस्थापित किया गया था। अ. भा. राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद् द्वारा संचालित यह पत्र वर्तमान समय में ठाणे (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हो रहा है। इस समय मुख पृष्ठ पर यह वाक्य प्रकाशित हो रहा है—

'धर्म की विविधा में शाश्वतता का प्रवर्तक हिन्दी मासिक'

अहिंसा, संस्कृति व जैन दर्शन को व्यवहारोपयोगी बनाने से सम्बन्धित सामग्री देने का प्रयास किया गया—'अहिंसा वाणी' मासिक पत्र में। इस पत्र का प्रकाशन अखिल विश्व जैन मिशन की ओर से अप्रेल, १९५० में अलीगंज में प्रारंभ किया गया।

अक्टूबर, सन् १९५५ में 'नैतिक जागरण का संदेश' देने के उद्देश्य से पाक्षिक अणुव्रत का प्रकाशन शुरू किया गया ताकि 'अणुव्रत' आज के अनैतिक वातावरण से संघर्ष और विश्व की समस्त अहिंसक शक्तियों की आवाज बुलन्द कर एक क्रांतिकारी भावना का प्रस्फुटन कर सके।

श्री त्रिलोक रत्न स्था. जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी की ओर से १९५८ में 'सुधर्मा' मासिक पत्र का प्रकाशन निम्न उद्देश्य को लेकर प्रारंभ हुआ—

'समाज में सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की ज्योति जगाने हेतु विविध निबन्ध, प्रबन्धमाला स्वरूप धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक मासिक पत्रिका।'

१. जैन जगत् अप्रैल. १९४७ पृ. १-२

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के पाक्षिक पत्र 'श्रमणोपासक' का बीकानेर से २० जून, १९६३ को 'जैन सिद्धान्त, तत्त्व ज्ञान, दर्शन, आचार आदि का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार' करने के उद्देश्य से प्रकाशन शुरू किया गया। 'श्रमणोपासक का प्रकाशन और हमारी आकांक्षा' शीर्षक से संपादक श्री जुगराज सेठिया ने लिखा—

"जैन सिद्धान्तों के अनुसार श्रमण और उसके उपासक श्रावक-वर्ग का क्या स्थान है उसको भी सरल और स्पष्ट रूप से समाज के सामने रखा जाए और ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ज्यादा से ज्यादा अभिवृद्धि हो ऐसा हमारा प्रयत्न रहेगा।"

सम्प्रदायवाद तथा गुटवंदी से दूर रहने का वादा करते हुए पत्र ने यह भावना व्यक्त की है कि 'यह पत्र सम्प्रदाय विशेष का है, लेकिन इस सम्प्रदाय का अस्तित्व किसी भी महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थवृत्ति या पृथक् अस्तित्व रखने के उद्देश्य से नहीं है। इसका ध्येय सर्वज्ञ तीर्थंकरों प्रणीत जैन धर्म के रूप का प्रसार करना एवं श्रमण-वर्ग से शिथिलाचार को पृथक् रखना है। अतः जैन संस्कृति का उपासक होने के नाते गुटवन्दी के दोषों से दूर रहना हमारे लिए अनिवार्य है।'

सन् १९६३ में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा द्वारा 'धर्म और दर्शन, समाज और संस्कृति, इतिहास और पुरातत्त्व तथा जीवन और जगत के विषय में' उपाध्याय अमर मुनि के विचारों को प्रचारित करने के उद्देश्य से 'श्री अमर भारती' का प्रकाशन किया गया। पहले यह पाक्षिक रूप में प्रकाशित होती थी किन्तु जनवरी १९६५ से इसे मासिक कर दिया गया तथा वर्तमान में वीरायतन की स्थापना के बाद इसका प्रकाशन राजगृह (बिहार) से होने लगा है।

जनवरी १९६७ में धर्मज्योति परिषद् भीलवाड़ा की मासिक पत्रिका 'धर्मज्योति' के मुखपृष्ठ पर काफी समय तक यह पद प्रकाशित होता रहा—

पापों का तम छंट जाये जग, फिर से नूतन निर्माणित हो।
मंगलमय जीवन का पथ, धर्मज्योति से आलोकित हो॥

अन्दर के प्रथम पृष्ठ पर इस पत्रिका का उद्देश्य इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है—

तत्त्व समन्वय, सत्य संस्कृति, प्रगति नीति आराधना॥
युग प्रश्नों का समाधान है, 'धर्म-ज्योति' की साधना॥

अगस्त १९६८ में प्रारम्भ 'कथालोक' 'मानवतापरक सांस्कृतिक कथा मासिक' है जिसके प्रथम अंक में संपादक श्री महेन्द्र जैन ने इसके प्रकाशन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा—

"भारतवर्ष में प्रान्त, भाषा और धर्मों की विविधता है। अनेकता घातक नहीं होती, यदि वह एक-दूसरे पर आक्रमण न करे......... प्रान्तों में, भाषाओं में तथा धर्मों में अनेकता होते हुए भी पारस्परिकता तथा निकटता अधिक है, अतः एकता ही है। किन्तु मनुष्य ने इसे भुला दिया। आवश्यकता है ऐसे भगीरथ प्रयत्न की, जिससे अजानकारी मिटे और निकटता बढ़े। ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता है जो सांस्कृतिक सेतु बन सकें। 'कथालोक' का प्रारम्भ इसी उद्देश्य से किया जा रहा है।"

जनवरी १९६९ में उदयपुर से 'महावीर नंदन' का प्रकाशन नैतिक-सामाजिक मूल्यों की पुनः स्थापना के उद्देश्य से किया गया। प्रथमांक में सम्पादक ने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए लिखा है—

"देव, मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल यही कि मेरा यह 'नंदन' मात्र मेरा ही नहीं, सबका नंदन बने। परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रत्येक पीढी के समक्ष दर्शन, ज्ञान, संयम, चरित्र, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि भावनाओं को सबलता दे। युवक-युवतियों को संगठित कर उनमें धर्म व संस्कृति का अलख जगाए। साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के उज्ज्वल जीवन को ज्योतित कर नैतिक भावनाओं को प्रकाशित करे। तीर्थंकरों तथा धर्मगुरुओं के सन्मार्ग पर चलकर भूले-भटकों को सन्मार्ग दिखाए। नई पीढी में विवेक, कर्त्तव्य, राष्ट्र-प्रेम तथा धर्मश्रद्धा जागृत कर उसे अनुशासित करे।"

अप्रेल सन् १९६९ में लुधियाना से आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति की ओर से 'धर्म शिक्षा एवं धार्मिक विषयों का प्रसार' करने के उद्देश्य से 'आत्मरश्मि' मासिक पत्र का प्रकाशन किया गया। मई १९७० में दिल्ली से दिगम्बर जैन संस्कृति सेवक समाज की ओर से 'सामाजिक धार्मिक उत्थान तथा तत्त्वज्ञान के संरक्षण' के उद्देश्यों पर आधारित 'जैन संस्कृति' का प्रकाशन किया गया।

'सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन' करने वाले 'तीर्थंकर' मासिक के मई १९७१ के प्रथम अंक के मुख पृष्ठ पर यह वाक्य अंकित था—

'नव साहस, विश्वास और जागृति का प्रबुद्ध मासिक'

इन्दौर से डा. नेमीचन्द जैन के संपादन में प्रकाशित इस पत्र ने 'सामाजिक विकृतियों से विचार के स्तर पर जूझने और मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किए जाने की स्वाभाविक संभावनाओं को ढूंढ निकालने' का संकल्प लिया है।

दिसम्बर १९७४ में जयपुर से प्रकाशित 'वल्लभ संदेश' के मुख पृष्ठ पर आचार्य वल्लभविजय का निम्न वाक्य नियमित रूप से छपता है जो पत्र के असाम्प्रदायिक स्वरूप को व्यक्त करता है—

'मैं न जैन हूं न बौद्ध, न वैष्णव हूं न शैव, न हिन्दू हूं न मुसलमान, मैं वीतराग देव परमात्मा के दिखाए हुए शान्ति-मार्ग पर चलने वाला एक पथिक हूं।'

फरवरी, सन् १९७५ में प्रकाशित 'विश्वेश्वर महावीर' के मुख पृष्ठ पर यह उद्घोष छपता था—

"समन्वय, संगठन एवं जिनवाणी का संदेशवाहक हिन्दी मासिक पत्र"

फरवरी १९७७ में ब्यावर से अ. भा. जयगुंजार प्रकाशन समिति ने मासिक 'जय गुंजार' का प्रकाशन 'साहित्यिक गवेषणात्मक' पत्र के रूप में किया। मूलतः धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना प्रधान इस पत्र में सत्य, अहिंसा, तप, संयम आदि नैतिक मूल्यों की प्रेरक रचनाओं का प्रकाशन किया जाता है। जय-गुंजार' शब्दों की व्याख्या करते हुए एक विज्ञापन का स्वरूप देखिए, जो इस पत्र में काफी समय तक प्रकाशित होता रहा—

जनता की आवाज
यत्र तत्र सर्वत्र प्रचार
गुम्फित ज्ञान
जागरण का संदेश
रम्य आत्म तत्त्व का द्योतक

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के पाक्षिक पत्र 'श्रमणोपासक' का बीकानेर से २० जून, १९६३ को 'जैन सिद्धान्त, तत्त्व ज्ञान, दर्शन, आचार आदि का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार' करने के उद्देश्य से प्रकाशन शुरू किया गया। 'श्रमणोपासक का प्रकाशन और हमारी आकांक्षा' शीर्षक से संपादक श्री जुगराज सेठिया ने लिखा—

"जैन सिद्धान्तों के अनुसार श्रमण और उसके उपासक श्रावक-वर्ग का क्या स्थान है उसको भी सरल और स्पष्ट रूप से समाज के सामने रखा जाए और ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ज्यादा से ज्यादा अभिवृद्धि हो ऐसा हमारा प्रयत्न रहेगा।"

सम्प्रदायवाद तथा गुटबंदी से दूर रहने का वादा करते हुए पत्र ने यह भावना व्यक्त की है कि 'यह पत्र सम्प्रदाय विशेष का है, लेकिन इस सम्प्रदाय का अस्तित्व किसी भी महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थवृत्ति या पृथक् अस्तित्व रखने के उद्देश्य से नहीं है। इसका ध्येय सर्वज्ञ तीर्थंकरों प्रणीत जैन धर्म के रूप का प्रसार करना एवं श्रमण-वर्ग से शिथिलाचार को पृथक् रखना है। अत जैन संस्कृति का उपासक होने के नाते गुटबन्दी के दोषों से दूर रहना हमारे लिए अनिवार्य है।'

सन् १९६३ में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा द्वारा 'धर्म और दर्शन, समाज और संस्कृति, इतिहास और पुरातत्त्व तथा जीवन और जगत के विषय में' उपाध्याय अमर मुनि के विचारों को प्रचारित करने के उद्देश्य से 'श्री अमर भारती' का प्रकाशन किया गया। पहले यह पाक्षिक रूप में प्रकाशित होती थी किन्तु जनवरी १९६५ से इसे मासिक कर दिया गया तथा वर्तमान में वीरायतन की स्थापना के बाद इसका प्रकाशन राजगृह (बिहार) से होने लगा है।

जनवरी १९६७ में धर्मज्योति परिषद् भीलवाड़ा की मासिक पत्रिका 'धर्मज्योति' के मुखपृष्ठ पर काफी समय तक यह पद प्रकाशित होता रहा—

पापों का तम छंट जाये जग, फिर से नूतन निर्माणित हो।
मंगलमय जीवन का पथ, धर्मज्योति से आलोकित हो॥

अन्दर के प्रथम पृष्ठ पर इस पत्रिका का उद्देश्य इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है—

तत्त्व समन्वय, सत्य संस्कृति, प्रगति नीति आराधना॥
युग प्रश्नों का समाधान है, 'धर्म-ज्योति' की साधना॥

अगस्त १९६८ में प्रारम्भ 'कथालोक' 'मानवतापरक सांस्कृतिक कथा मासिक' है जिसके प्रथम अंक में संपादक श्री महेन्द्र जैन ने इसके प्रकाशन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा—

"भारतवर्ष में प्रान्त, भाषा और धर्मों की विविधता है। अनेकता घातक नहीं होती, यदि वह एक-दूसरे पर आक्रमण न करे......... प्रान्तों में, भाषाओं में तथा धर्मों में अनेकता होते हुए भी पारस्परिकता तथा निकटता अधिक है, अतः एकता ही है। किन्तु मनुष्य ने इसे भुला दिया। आवश्यकता है ऐसे भगीरथ प्रयत्न की, जिससे अजानकारी मिटे और निकटता बढ़े। ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता है जो सांस्कृतिक सेतु बन सकें। 'कथालोक' का प्रारम्भ इसी उद्देश्य से किया जा रहा है।"

जनवरी १९६९ में उदयपुर से 'महावीर नंदन' का प्रकाशन नैतिक-सामाजिक मूल्यों की पुनः स्थापना के उद्देश्य से किया गया। प्रथमांक में सम्पादक ने परमात्मा से प्रार्थना करते हुए लिखा है—

"देव, मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल यही कि मेरा यह 'नंदन' मात्र मेरा ही नहीं, सबका नंदन बने। परिवार, समाज और राष्ट्र के प्रत्येक पीढ़ी के समक्ष दर्शन, ज्ञान, संयम, चरित्र, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि भावनाओं को सबलता दे। युवक-युवतियों को संगठित कर उनमें धर्म व संस्कृति का अलख जगाए। साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के उज्ज्वल जीवन को ज्योतित कर नैतिक भावनाओं को प्रकाशित करे। तीर्थंकरों तथा धर्मगुरुओं के सन्मार्ग पर चलकर भूले-भटकों को सन्मार्ग दिखाए। नई पीढ़ी में विवेक, कर्त्तव्य, राष्ट्र-प्रेम तथा धर्मश्रद्धा जागृत कर उसे अनुशासित करे।"

अप्रेल सन् १९६९ में लुधियाना से आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति की ओर से 'धर्म शिक्षा एवं धार्मिक विषयों का प्रसार' करने के उद्देश्य से 'आत्मरश्मि' मासिक पत्र का प्रकाशन किया गया। मई १९७० में दिल्ली से दिगम्बर जैन संस्कृति सेवक समाज की ओर से 'सामाजिक धार्मिक उत्थान तथा तत्त्वज्ञान के संरक्षण' के उद्देश्यों पर आधारित 'जैन संस्कृति' का प्रकाशन किया गया।

'सद्विचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन' करने वाले 'तीर्थंकर' मासिक के मई १९७१ के प्रथम अंक के मुख पृष्ठ पर यह वाक्य अंकित था—

'नव साहस, विश्वास और जागृति का प्रबुद्ध मासिक'

इन्दौर से डा. नेमीचन्द जैन के संपादन में प्रकाशित इस पत्र ने 'सामाजिक विकृतियों से विचार के स्तर पर जूझने और मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित किए जाने की स्वाभाविक संभावनाओं को ढूंढ निकालने' का संकल्प लिया है।

दिसम्बर १९७४ में जयपुर से प्रकाशित 'वल्लभ संदेश' के मुख पृष्ठ पर आचार्य वल्लभविजय का निम्न वाक्य नियमित रूप से छपता है जो पत्र के असाम्प्रदायिक स्वरूप को व्यक्त करता है—

'मैं न जैन हूं न बौद्ध, न वैष्णव हूं न शैव, न हिन्दू हूं न मुसलमान, मैं वीतराग देव परमात्मा के दिखाए हुए शान्ति-मार्ग पर चलने वाला एक पथिक हूं।'

फरवरी, सन् १९७५ में प्रकाशित 'विश्वेश्वर महावीर' के मुख पृष्ठ पर यह उद्घोष छपता था—

"समन्वय, संगठन एवं जिनवाणी का संदेशवाहक हिन्दी मासिक पत्र"

फरवरी १९७७ में ब्यावर से अ. भा. जयगुंजार प्रकाशन समिति ने मासिक 'जय गुंजार' का प्रकाशन 'साहित्यिक गवेषणात्मक' पत्र के रूप में किया। मूलत: धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना प्रधान इस पत्र में सत्य, अहिंसा, तप, संयम आदि नैतिक मूल्यों की प्रेरक रचनाओं का प्रकाशन किया जाता है। जय-गुंजार' शब्दों की व्याख्या करते हुए एक विज्ञापन का स्वरूप देखिए, जो इस पत्र में काफी समय तक प्रकाशित होता रहा—

जनता की आवाज
यत्र तत्र सर्वत्र प्रचार
गुम्फित ज्ञान
जागरण का संदेश
रम्य आत्म तत्त्व का द्योतक

इस पत्रिका के आवरण पृष्ठ काफी सुन्दर और प्रतीकात्मक गूढ़ अर्थ लिए होते हैं। जीवनोपयोगी लेखों, कथाओं से युक्त यह पत्र सामाजिक जागृति की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

'धर्म जागरण और सामाजिक क्रांति की सूत्रधार' मासिकी के रूप में सितम्बर, १९७७ में बार से प्रकाशित 'ओसवाल जैन' सामाजिक विचार-विमर्श के मंच के रूप में उभर कर आया—

"यह पत्रिका एक सामाजिक विचार मंच प्रस्तुत कर रही है। विभिन्न विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित करना और विचार-शक्ति को क्रियाशक्ति से जोड़ते हुए समाज को संगठित बनाना और प्रगति की ओर कदम बढ़ाते जाना इस पत्रिका का लक्ष्य है।

हमारा प्रथम चरण 'ओसवाल' तक सीमित है, दूसरा है जैन तक फिर इसकी परिणति अखण्ड मानवता तक हो जाती है।

जून १९७९ में अ. भा. अहिंसा प्रचार संघ, बेंगलोर द्वारा प्रकाशित 'अहिंसा दर्शन' के मुखपृष्ठ पर यह वाक्य अंकित रहता था—

"मानव मानव में अध्यात्म-प्रेम, अहिंसा, स्नेह एवं सद्‌भाव का संचार कर राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने वाली मासिकी।"

कुछ अंकों के पश्चात् इस वाक्य की जगह विभिन्न महापुरुषों, मुनियों, विचारकों तथा चिन्तकों के प्रेरक कथनों और उद्‌बोधनों को प्रकाशित किया जाने लगा किन्तु उक्त वाक्य से इस पत्रिका की मूल चेतना स्पष्ट हो जाती है।

'साम्प्रदायिक समन्वय की दिशा में असरदार आवाज बुलन्द' करने के उद्देश्य से नवम्बर १९८१ में भीलवाड़ा से विचार प्रधान मासिक 'तपोधन' का प्रकाशन किया गया। वर्तमान में इसके प्रथम पृष्ठ पर यह वाक्य अंकित रहता है—

"धार्मिक समन्वय का प्रवक्ता"

तपोधन के प्रथम अंक में संपादक ने वर्तमान पत्रकारिता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"ऐसा लगता है आज की पत्रकारिता अधिकांश में राजनीति और सिने-संस्कृति की धुरी बन गई है। धर्म, दर्शन, साहित्य, शिक्षा, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली चिन्तन-धारा खुश्क होने लगी है। इधर विज्ञान की भौतिक प्रगति ने आध्यात्मिक परिशीलन और सत्य के प्रयोगात्मक पक्ष को गहरे भ्रम और संशय में धकेल दिया है।

ऐसी स्थिति में 'तपोधन' ने 'विराट मानवता को आध्यात्मिक खुराक मुहैय्या करने में बौद्धिक जगत् में हो रहे प्रयत्नों' के सहयोगी बनने का संकल्प लिया है।

'जैन संस्कृति के संदेश वाहक' मासिक पत्र के रूप में अम्बाला से 'वंदे वीरम्' का प्रकाशन अप्रेल १९८१ में हुआ। पत्र के उद्देश्य की चर्चा करते हुए संपादक ने लिखा—

आज वीर संदेश की आवश्यकता घर-घर में है किन्तु सबसे पहले अपने घर में। ऐसा करने से ही हम वीर-जयन्ती पर्व मनाने में सफल हो पाएंगे।

भगवान महावीर के चरित्र चिंतन का आधार लेकर ही श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला की कार्यकारिणी ने मासिक 'वन्देवीरम्' के प्रकाशन का संकल्प लिया है।

५ अप्रेल १९८१ को जयपुर से श्री अखिल बंसल ने पाक्षिक पत्रिका 'समन्वयवाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। एक वर्ष तक पत्रिका का स्वरूप राजनैतिक घटना प्रधान रहा। 'अनेकता में एकता' तथा 'विचारों के समन्वय के उद्देश्य से प्रकाशित 'समन्वय वाणी' एक वर्ष बाद 'राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना की क्रांतिकारी' पाक्षिक के रूप में परिवर्तित हो गयी और दिगम्बर जैन समाज की कुरीतियों तथा साधु-वर्ग के शिथिलाचार पर कड़े प्रहार करने शुरू किए। अप्रैल १९८२ के संपादकीय में लिखा गया--

"हमारा ध्येय समाज एवं राष्ट्र को रूढ़िवादी तथा पृथकतावादी तत्त्वों के चंगुल से निकाल कर एक नए समाज की स्थापना करना है। आज हमारा समाज विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त है। समाज के सभी अंग अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग अलापने में व्यस्त हैं। वे बाहर की दुनिया से बेखबर हैं। समाज के पतन का मूल कारण यही है। हम लकीर के फकीर हो गए हैं तथा किसी न किसी से बंध के रह गए हैं। बंधन ही प्रगति में अवरोध पैदा करता है। यदि हम बंधन-मुक्त होकर विचार करें तो एक नया मार्ग प्रशस्त होगा।"

इस प्रकार 'समन्वयवाणी' ने जहाँ भी बुराई होती, वहीं उसे उखाड़ने का संकल्प ले 'रचनात्मक आंदोलन' प्रारम्भ करने का प्रयास किया है।

जून १९८३ में जयपुर से 'वीतराग विज्ञान' का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इससे पूर्व यह 'आत्मधर्म' नाम से प्रकाशित होता था। पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के इस पत्र के मुखपृष्ठ पर यह दोहा प्रकाशित होता है—

वीतराग विज्ञान ही, तीन लोक में सार।
वीतराग विज्ञान का, घर-घर होय प्रसार॥

इससे पूर्व में प्रकाशित होने वाले 'आत्मधर्म' का उद्देश्य इस दोहे से प्रकट होता था—

शाश्वत सुख का, आत्म शांति का प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आत्म धर्म॥

श्री दि. जैन स्वाध्याय ट्रस्ट, सोनगढ़ के मुखपत्र 'आत्मधर्म' पर यह पद प्रकाशित होता है—

द्वादशांग का सार, खोलता सन्त-हृदय का गहरा मर्म।
गुरुवर अन्तर आशिषभृत सुमंगलमय यह आत्म धर्म।

वर्तमान में पं. रतनचन्द भारिल्ल के संपादन में जयपुर से दिगम्बर जैन समाज का 'जैन पथ प्रदर्शक' (पाक्षिक अप्रैल १९७७), श्री सोहन कोचर आदि के संपादन में कलकत्ता से अ.भा. जैन श्वेताम्बर तेरापंथ समाज की तेरापंथ भारती (पाक्षिक १९७६), बाड़मेर से श्रीप्रकाशचन्द बोहरा के संपादन में जैन तीर्थंकर (१९७७), रतलाम से मोतीलाल बाफना के संपादन में साप्ताहिक 'दिवाकर दीप्ति' (जनवरी १९८५), आचार्य भगवन्त श्री जैन कांतिसागर सूरीश्वर जी म. की प्रेरणा से संस्थापित श्री भूरचन्द जैन के संपादन में बाड़मेर से साप्ताहिक 'खरतर संदेश' आदि 'टेबलाइज' आकार के जैन समाचार पत्र हैं, जिनसे जैन

समाज की विविध गतिविधियों का अच्छा परिचय मिल जाता है। जैन दर्शन, साहित्य व संस्कृति से सम्बद्ध विशेष लेखों का भी इनमें प्रकाशन किया जाता है।

जैन समाज में अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई हैं तथा हो रही हैं। सभी पत्रिकाओं के उद्देश्यों की चर्चा विस्तार-भय से नहीं की जा सकती। किन्तु कतिपय पत्रिकाओं के प्रकाशन के उद्देश्यों पर दृष्टि डालने से जैन पत्र-पत्रिकाओं के उद्देश्यों की मूल संवेदनाओं को आसानी से समझा जा सकता है। उक्त विवेचन के कुछ मुख्य निष्कर्ष उद्देश्यों के संदर्भ में इस प्रकार निकाले जा सकते हैं जिनसे जैन पत्रकारिता की भाव-भूमि स्पष्ट हो जाती है --

१. सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र की ज्योति प्रज्वलित करना।
२. सामाजिक कुरीतियों तथा अन्ध विश्वासों के विरुद्ध जनचेतना को जागृत करना।
३. पारस्परिक सहभागिता, सद्भाव, सौहार्द, स्नेह को प्रोत्साहन देना।
४. साम्प्रदायिक सद्भाव एवं समन्वय के लिए प्रयास-रत रहना।
५. सत्य, अहिंसा, संयम, समता, अपरिग्रह आदि उदात्त मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना करना।
६. जैन साहित्य, संस्कृति व इतिहास के क्षेत्र में अध्ययन, मनन, संरक्षण, अनुसंधान तथा प्रकाशन को प्रोत्साहित करना।
७. प्रगतिशील वैचारिक चेतना का जागरण करना।
८. आध्यात्मिक चेतना का प्रसारण करना।
९. नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का संदेश प्रसारित करना।
१०. धर्म प्रचार करना।
११. सुदृढ़ सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का समर्थन करना।
१२. सामाजिक विचार विनिमय का मंच स्थापित करना।
१३. मानवतावादी संस्कृति का विकास करना।
१४. जातीय गौरव की भावना का विकास करना।
१५. राष्ट्रीय भावना तथा प्रखर राजनीतिक चेतना की भावना विकसित करना।
१६. निम्न जाति के लोगों के उद्धार का प्रयास करना।
१७. कर्म और पुरुषार्थ की प्रेरणा करना।

स्पष्ट है कि जैन पत्रकारिता नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के उत्थान के लिए संकल्पबद्ध रही है। यह सत्य है कि जैन समाज के विभिन्न वर्गों तथा सम्प्रदायों ने अपने-अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जिसके कारण कभी-कभी इनमें आपसी वैमनस्य और आलोचना-प्रत्यालोचना की झलक भी देखने को मिलती है। इतना होते हुए भी इनका मूल लक्ष्य व्यक्ति का नैतिक-आध्यात्मिक कल्याण ही रहा है। इस दृष्टि से यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जैन पत्रकारिता का उद्देश्य कभी भी व्यावसायिक लाभ नहीं रहा है। डॉ. नेमीचंद जैन ने इस तथ्य को संकेतित करते हुए लिखा है --

आगरा से प्रकाशित ओसवाल के १५ जनवरी १९४७ के अंक में सम्पादक अभयसिंह नाहटा ने समय के साथ बदलते भारत की सामाजिक रूढ़ियों तथा अनुचित व्यवस्थाओं के विरुद्ध क्रांति का आव्हान किया --

"हमारे विचार सम्बन्धी जलाशयों में सदियों की पुरानी जो कीचड़ भरी है उसे तो निकालना ही पड़ेगा। यदि हम उसे नहीं निकाल पाये तो गंदगी बढ़ती ही जाएगी .. ....

समय की मांग है कि बाल और वृद्ध विवाह बिलकुल रोक दिए जावें। एक पत्नी के होते हुए दूसरी शादी करने पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया जाए...... दहेज की प्रथा हमारे इतिहास में मां और बहनों के आंसुओं से लिखा एक काला अध्याय है। चांदी और सोने के टुकड़ों पर लड़के और लड़कियों का यह व्यापार अब बिल्कुल रोक देना होगा।"

इस पत्र ने स्वतन्त्रतापूर्व भारत में जन-जन का उद्घोष करते हुए यह आह्वान किया—

१. तीर्थवालो ! मंदिरवालो ! मठवालो ! उपाश्रयवालो ! पोपधशालावालो ! जमनागंगावालो ! उठो इनके बचाव के लिए मैदान में आ जाओ और 'जवाहर' बन जाओ।

२. साधुओ ! संन्यासियो ! सन्तो ! महन्तो ! धर्म की रक्षा के लिए अपने को बलिदान कर दो, आपस के मतभेद मिटा दो और 'गांधी' बन जाओ।

३. महाजनो ! पूंजीपतियो ! धनियो ! असली धनाढ्य बन जाओ, थैलियों का मुंह खोल दो और सच्चे 'भामाशाह' बन जाओ।

४. क्षत्रियो ! राजपूतो ! देश की हिफाजत और शान के लिए मर मिटो और 'राणा प्रताप' बन जाओ।

५. मजदूरो ! शूद्रो ! भारत के अधूरे कामों को पूरा करो, जाति-पांति का भेद मिटा दो और 'सुभाष बाबू' बन जाओ।

हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के प्रश्न पर उस समय दो वर्ग बन गए थे। ओसवाल ने हरिजनों के अधिकारों का समर्थन कर उनमें उनके उद्धार के लिए आंदोलन प्रारम्भ किया।

देश की स्वतन्त्रता के साथ ही सर्वत्र साम्प्रदायिक दंगों का जहर फैल गया। साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित करने की दृष्टि से 'जैन जगत' का नवयुवकों से यह आव्हान देखिए—

हजारों रोज कत्ल हो रहे हैं। निहत्थे भाई-बहिनों का खून बहाया जाता है। क्या यही आपका मनुष्यत्व है ? मौत के दलदल में गड़े हुए लोगों को निकालने के बजाय उन पर प्रहार करते हो ! उन्हें मारते हो ! नहीं ! इससे क्या होगा ? परराष्ट्र हंसेंगे। अपने शत्रु की ताकत बढ़ेगी। उन्हें यह कहने का मौका मिलेगा कि हिन्दुस्तानी राज्य चलाने में अयोग्य हैं।

---

१. ओसवाल नवयुवक, नव. १९२९, पृ. २९३-९४

आइए, आज दिवाली है, इसी दिवाली महोत्सव पर हम प्रतिज्ञा करें, आज जो देश में हो रहा है उसे शान्त करेंगे। हर तरफ अमन कायम करेंगे। निराशा और असफलता हमें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकेंगी।

हिम्मत हारना कायरों का काम है। नवयुवक प्रलय के अग्रदूत है। बंधन और दासत्व के प्रबल शत्रु हैं। आज हर कार्य के लिए देश को आपकी आवश्यकता है। आपकी देह में हिम्मत है। दिमाग में बुद्धि है। सीने में दिल है। बाहुओं में शक्ति है तो फिर आपका रास्ता कौन रोक सकता है। राष्ट्र का उत्थान और पतन आपके हाथ में है।"

जोधपुर से प्रकाशित 'ओसवाल' के फरवरी १९२० के एक अंक में विधवा-विवाह का प्रबल विरोध किया गया था। इस अंक के संपादकीय में लिखा गया था—

"अब मैं विधवा-विवाह करने वाली अपनी बहिन से प्रार्थना करता हूं कि वह अपना विवाह करके समाज को कलंकित न करे। बहिन विधवा युवती के लिए पुनर्विवाह करना महापाप है और जैन शास्त्रों में इसके लिए कहीं भी आज्ञा नहीं दी गई है।"

'ओसवाल' का यह स्वर निश्चय ही आश्चर्यजनक है। १९२० का दौर राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय आंदोलन का प्रखर काल था जब देश की राजनीतिक बागडोर गांधी और तिलक के हाथों में थी। सभी तरफ समाज-सुधार की आवश्यकता प्रतिपादित की जा रही थी। अन्य सामयिक जैन पत्र जहाँ विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दे रहे थे वहीं ओसवाल के मई १९२१ के एक अंक में प्रकाशित कालूराम बरड़िया के लेख में ऐसा विवाह करने वालों को पंचों द्वारा जातिच्युत करने की सूचना भी दी गई—

"विधवा-विवाह सतीत्व धर्म का नाशक है और जैन धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है।....हम विधवा-विवाह को महान भयानक समाज-नाशक प्रथा मानते हैं ...... हम ऐसे पुरुषों को समाज में हर्गिज रखना नहीं चाहते बल्कि उन्हें जातिच्युत किया जाना ही उचित समझते हैं। अतः हम विधवा-विवाह की घोर निन्दा करते हुए केसरीमल जी मिश्रीमलजी आदि को जातिच्युत करने वाले अहमदनगर के ओसवाल पंचों के फैसले का हार्दिक समर्थन करते है।"

विधवा-विवाह के विरोधी होते हुए भी 'ओसवाल' ने अन्य सामाजिक कुरीतियों पर कड़े प्रहार किए। समाज की प्रगति में बाधक जिन कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों पर इस पत्र ने सामग्री प्रकाशित की, उनमें प्रमुख हैं—

१. बाल विवाह २. वृद्ध विवाह ३. कन्या विक्रय ४. जाति बंधन ५. कालानुसार कार्य न करना ६. शास्त्रों को भंडारों में बंद रखना ७. स्वतंत्र विचारों से दूर रहना ८. दिगम्बर और श्वेताम्बर में मुकदमेबाजी ९. लौकिक शिक्षा का अनादर १० रूढियों का दास रहना ११. बाबा वाक्यं प्रमाणं।

बच्चों में सत् साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति विकसित करने का आव्हान 'जैन शिक्षण संदेश' पत्रिका की एक संपादकीय टिप्पणी में किया गया –

१. जैन जगत, नवम्बर ४७

"यदि बच्चों के प्रति उनका कुछ कर्त्तव्य है तो उन्हें चाहिए कि वे जहाँ निरर्थक वांतों में हजारों रुपये बर्वाद करें वहां दो चार रुपये का बाल-साहित्य भी अपने बच्चों के लिए खरीद लें। निःसंदेह इससे बालकों की आन्तरिक तृप्ति होगी और वे उससे बहुत कुछ लाभ उठा सकेंगे।"[1]

सट्टे खेलने की प्रवृत्ति से कई परिवार बर्बाद होते देखे गए हैं। सट्टे की प्रवृत्ति के विरुद्ध 'जिनवाणी' मासिक के एक लेख 'सट्टा और जैन समाज' में श्री कु. सुखलाल जैन ने लिखा—

'आज हर गांव व शहर में इस सट्टे का साम्राज्य है और सेंट-परसेंट होता है। कोई अभागा या भोंदू अथवा बहुत ज्यादा धार्मिक वृत्ति वाला इससे भले ही वंचित रहे। जो शख्स दोनों टाइम प्रतिक्रमण, सामायिकादि करते थे वे भी इस पैशाचिक फंदे में पड़कर अपने धर्म को भूल बैठे हैं। ·······

प्रभु महावीर के अनुयायी होने के नाते हमको कतई अधिकार नहीं है कि हम सट्टा खेलें क्योंकि अगर हम प्रथम श्रेणी के १२ व्रतधारी श्रावक नहीं हो सकते तो दूसरी श्रेणी के सद्गृहस्थ, जो सात कुव्यसनों को त्यागे बिना नहीं हो सकता, तो बनें।[2]

सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए 'जैन समाज' में भी अन्य पत्रों की भांति ही लिखा गया—

"हमारे समाज में कुरीतियों, बुरे-बुरे रस्म और रिवाज न मालूम किस तरह घुसे हुए हैं कि अब उनमें जरा-सा भी परिवर्तन करना धर्म के नियम को तोड़ना माना जाता है। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह के विषमय कीट हमारे समाज के जीवन को बुरी तरह से नष्ट कर रहे हैं। जितनी हानि इन दो प्रथाओं ने की तथा कर रही है उसका शतांश भी दूसरी सब प्रथाएँ मिलकर नहीं करती·······हे जाति के नेताओ! क्या अब भी आंखें नहीं खुलतीं? क्या अभी दुःख का घड़ा नहीं भरा है? क्या अभी अवनति चरम-सीमा पर नहीं पहुंची? क्या अभी गिरना और बाकी है? क्या आपकी निद्रा उस समय आपका त्याग करेगी जिस समय ये विषमयी कुरीतियें जाति का मूलोच्छेदन कर जायेंगी? अब क्या कमी रही है? अब तो अपनी जाति पर दया करके इसके हित के उपायों की योजना करो।"[3]

इसी अंक में जवाहरलाल सैनी की गज़ल देखिए—

ऐ देश के जवानों, अपना फर्ज पहचानो।
सेवा की मन में ठानो, यह है पैगाम अपना॥
जाति-धर्म की सेवा, सारे सुखों की देवा।
कर सेवा तुम बता दो, जैनी है नाम अपना॥

यहाँ स्वतन्त्रता-पूर्व की कुछ पत्रिकाओं के उद्धरण देकर यह संकेतित करने का प्रयास किया गया है कि जैन पत्रकारिता का विकास ही सामाजिक सुधार के धरातल पर हुआ है। इसी सुदृढ़ आधार को लेकर जैन पत्रकारिता व्यापक रूप से विकसित होती रही। आज देश के विभिन्न अंचलों से शताधिक जैन पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नैतिक शुद्धि की

१. जैन शिक्षण संदेश, जून-जुलाई १९३५, पृ. ६
२. जिनवाणी, मार्च ४४, पृ. ८७
३. जैन समाज, अप्रेल १९१७ पृ. ५

दृष्टि से अणुव्रत ने 'अणुव्रत आंदोलन' की रूपरेखा समाज के सामने प्रस्तुत की है। 'स्वाध्याय और सामायिक' के प्रति आम जन को प्रेरित करने के लिए 'जिनवाणी' ने सशक्त आधार तैयार किया है तथा 'वैचारिक और बौद्धिक चिन्तन' को तीर्थंकर ने परिपक्वता देने का प्रयास किया है। 'कथालोक' मासिक ने देश-विदेश तथा विभिन्न धर्मों की रोचक और प्रेरक कथाओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। श्रमणोपासक ने 'धर्मपाल प्रवृत्तियों' की शुरूआत कर निम्न जातियों के उद्धार का प्रशंसनीय कार्य किया है। इनके अतिरिक्त युवा दृष्टि, सुधर्मा, जयगुंजार, जैन जगत, वल्लभ संदेश आदि पत्र-पत्रिकाओं ने साम्प्रदायिक सद्भाव, जैन एकता एवं साहित्यिक-आध्यात्मिक भावना आदि के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं।

हाल के वर्षों में प्रकाशित दैनिक जैन समाज, जैन पथ प्रदर्शक, तेरापंथ भारती, दिवाकर दीप्ति, जैन तीर्थंकर आदि पत्र सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों को भलीभांति व्यक्त कर रहे हैं। 'टेबलाईज्ड' आकार में प्रकाशित इन दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रों ने अपार लोकप्रियता अर्जित की है।

इस प्रकार एक ओर जहां सार्वजनिक पत्रकारिता राजनीतिक घटना प्रधान होती जा रही है वहीं दूसरी ओर जैन पत्रकारिता राजनीतिक चेतना से जुड़ी रहकर भी नैतिक सामाजिक उन्नयन की दिशा में प्रयत्नशील है। आज की पत्रकारिता व्यावसायिक होती जा रही है और स्वतन्त्रता-पूर्व का मिशनरी भाव भी उसमें नहीं रहा है। इसके विपरीत जैन पत्रकारिता का अभी व्यवसायीकरण नहीं हुआ है तथा मिशनरी भावना से ही उनका प्रकाशन हो रहा है। आज राष्ट्र में जहां क्षेत्रीयता, आतंकवाद, मानवता का ह्रास, नैतिक मूल्यों में गिरावट तथा पीत पत्रकारिता जैसी प्रवृत्तियां अलग-अलग स्तर पर प्रोत्साहन पा रही हैं वहां जैन पत्रकारों तथा पत्रिकाओं पर भारी दायित्व आ जाता है कि वे प्राचीन धार्मिक समन्वयवादी परम्पराओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रीय जीवन में शुद्धता और एकता के लिए ईमानदारी एवं सत्य-निष्ठा से कार्य करते रहें।

(स. प्रोफेसर : पत्रकारिता-विभाग)
सी २३५ ए. दयानन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर–३०२००४

जैनागमों में प्रमाण-निरूपण

धर्मचन्द जैन

जैन दर्शन के उद्भट दार्शनिक सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, पात्रकेसरी, पूज्यपाद, विद्यानन्द, हेमचंद्र, प्रभाचंद्र एवं यशोविजय का युग, प्रमाण-व्यवस्था का युग था। इस युग को न्याय-युग भी कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में प्रत्येक प्रमेय सिद्धान्त का प्रमाण के द्वारा परीक्षण एवं तदनन्तर स्थापन होता था।[1] जैन एवं जैनेतर समस्त दार्शनिक परस्पर एक-दूसरे के मन्तव्य का खण्डन कर अपनी श्रेष्ठता का स्थापन करते थे। वाद-विवाद में विजय का मुकुट धारण करने हेतु लालायित रहते थे। न्यायदर्शन के समर्थक वात्स्यायन, उदयन आदि दिग्गज दार्शनिक थे तो मीमांसा-दर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर जैसे तार्किक थे। बौद्ध दर्शन की विजयपताका दिङ्नाग, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे धुरन्धर न्याय-विशारदों के हाथ में थी। उस समय "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" वाक्य एक मत से स्वीकार्य था। विना प्रमाण के अभिधीयमान प्रमेय की सिद्धि नहीं होती थी। दार्शनिक ऊहापोह के इस युग में जैन दार्शनिकों ने भी जैन दर्शन को मूर्धन्य एवं श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का भरसक तथा सार्थक प्रयास किया। अनेकान्त-दृष्टि का उस संदर्भ में अमूल्य अवदान रहा। अन्ततः जैन दर्शन समस्त दर्शनों के अधूरेपन को प्रकाशित कर उनमें समन्वय का सूत्र पिरो सका।

विचारणीय बिन्दु यह है कि जिस प्रमाण की चर्चा अकलंक के लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय एवं प्रमाण-संग्रह में, प्रभाचंद्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचंद्र में, हेमचंद्र के प्रमाणमीमांसा में, वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर में, विद्यानन्द की अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तथा यशोविजय के जैन-तर्क-भाषा आदि दार्शनिक ग्रंथों में मिलती है, क्या उसी प्रमाण का चिन्तन आगम-साहित्य में भी उपलब्ध है? यह तो कहा जा सकता है कि जितना प्रमाण-विषयक चिन्तन न्याययुगीन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है उसका शतांश भी आगमों में नहीं है तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि आगमों में उपलब्ध प्रमाण-प्रतिपादन का बीज ही उत्तरकाल में प्रमाणचिन्तन के विशाल वटवृक्ष के रूप में विकसित हुआ है।

जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण[2] कहा है। इस अर्थ में यदि आगम-साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ ज्ञान-मीमांसा से ही ओतप्रोत हैं। प्रमाण

एवं प्रमाणाभास के स्वरूप का प्रतिपादन आगम-साहित्य में सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान से होता दिखाई पड़ता है। किन्तु प्राचीन आगम-ग्रन्थों में प्रमाण शब्द का प्रयोग ज्ञान से भिन्न अर्थ में भी किया गया है। स्थानांग सूत्र में प्रमाण शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न होकर 'मापन' ग्रहण किया गया है तथा उसके चार भेद किए हैं—द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र-प्रमाण, काल-प्रमाण और भाव-प्रमाण।[3]

न्याययुग में विकसित होने वाले द्विविध प्रमाण के 'अनुयोग-द्वार' एवं 'भगवती सूत्र'[4] में चार प्रकार प्रतिपादित हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य और (४) आगम। स्थानांग सूत्र[5] में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से कहा गया है। हेतु शब्द का प्रमाण के अर्थ मे प्रयोग जैनेतर-साहित्य में भी मिलता है। बौद्ध दर्शन का ग्रंथ उपाय-हृदय[6] इसका उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-युग में भी न्याय को विकसित करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी क्योंकि हेतु से ही न्याय आगे बढ़ा है। सम्प्रति हेतु का प्रयोग अनुमान-प्रमाण में ही होता है किन्तु प्राचीन साहित्य में सभी प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित करना उसके अर्थ की व्यापकता को द्योतित करता है।

स्थानांग सूत्र में एक अन्य स्थान पर प्रमाण का व्यवसाय शब्द से भी उल्लेख हुआ है और व्यवसाय के तीन भेद बताए गए हैं। प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी[7]। स्थानांगसूत्र के ही टीकाकार अभयदेव[8] के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम एवं अनुगामी शब्द से अनुमान का बोध होता है। औपम्य का समावेश लगता है अनुमान में ही कर लिया गया होगा क्योंकि उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने उपमान को पृथक् प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं. दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार यही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के न्यायावतार एवं हरिभद्र के 'अनेकान्त जयपताका' ग्रंथों में तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं। व्यवसाय शब्द का अर्थ होता है—निश्चय। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए अकलंकादि सभी दार्शनिकों ने प्रमाण की परिभाषा में व्यवसाय शब्द को ग्रहण किया है।[10] जो व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं होता, उसे प्रमाण की कोटि में न लेकर प्रमाणाभास कहा है। बौद्धदर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक होता है, अतः जैन दार्शनिकों ने उसका पर्याप्त निरसन किया है। ऐसा भासित होता है कि स्थानांग में प्रवृत्त व्यवसाय शब्द ही जैन दार्शनिकों द्वारा अपने प्रमाण लक्षण में प्रतिष्ठित किया गया है।

संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित[11] ज्ञान प्रमाण होता है। इसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जा सकता है। नंदीसूत्र में ज्ञान के पांच भेद प्राप्त होते हैं – आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान और केवलज्ञान।[12] इन्हीं पांच 'ज्ञानों' का प्रमाण के भेदों में समन्वय करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य उमास्वामी ने किया है। तत्त्वार्थ सूत्र में उन्होंने पांच ज्ञानों को मिलाकर, उन्हें प्रमाण की संज्ञा देते हुए दो भागों में विभक्त किया है तथा कहा है—"आद्ये परोक्षम्" अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय एवं केवलज्ञान में से प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा "प्रत्यक्षमन्यत्" अर्थात् शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। स्थानांग सूत्र जैन दर्शन का विश्वकोश है। अतः उसमें भी प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—दो भेद प्राप्त होते हैं। परवर्ती अकलंकादि दार्शनिकों ने इन्हीं दो भेदों को स्वीकार कर विशाल-काय प्रमाण-ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा अनुमान एवं आगम-प्रमाण को परोक्ष के पांच भेदों में संकलित कर लिया गया है। परोक्ष के पांच भेद हैं—

जैनागमों में प्रमाण-निरूपण

धर्मचन्द जैन

जैन दर्शन के उद्भट दार्शनिक सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, पात्रकेसरी, पूज्यपाद, विद्यानन्द, हेमचंद्र, प्रभाचंद्र एवं यशोविजय का युग, प्रमाण-व्यवस्था का युग था। इस युग को न्याय-युग भी कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में प्रत्येक प्रमेय सिद्धान्त का प्रमाण के द्वारा परीक्षण एवं तदनन्तर स्थापन होता था।[1] जैन एवं जैनेतर समस्त दार्शनिक परस्पर एक-दूसरे के मन्तव्य का खण्डन कर अपनी श्रेष्ठता का स्थापन करते थे। वाद-विवाद में विजय का मुकुट धारण करने हेतु लालायित रहते थे। न्यायदर्शन के समर्थक वात्स्यायन, उदयन आदि दिग्गज दार्शनिक थे तो मीमांसा-दर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर जैसे तार्किक थे। बौद्ध दर्शन की विजयपताका दिङ्नाग, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे धुरन्धर न्याय-विशारदों के हाथ में थी। उस समय "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" वाक्य एक मत से स्वीकार्य था। बिना प्रमाण के अभिधीयमान प्रमेय की सिद्धि नहीं होती थी। दार्शनिक ऊहापोह के इस युग में जैन दार्शनिकों ने भी जैन दर्शन को मूर्धन्य एवं श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का भरसक तथा सार्थक प्रयास किया। अनेकान्त-दृष्टि का उस संदर्भ में अमूल्य अवदान रहा। अन्ततः जैन दर्शन समस्त दर्शनों के अधूरेपन को प्रकाशित कर उनमें समन्वय का सूत्र पिरो सका।

विचारणीय बिन्दु यह है कि जिस प्रमाण की चर्चा अकलंक के लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय एवं प्रमाण-संग्रह में, प्रभाचंद्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचंद्र में, हेमचंद्र के प्रमाणमीमांसा में, वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर में, विद्यानन्द की अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तथा यशोविजय के जैन-तर्क-भाषा आदि दार्शनिक ग्रंथों में मिलती है, क्या उसी प्रमाण का चिन्तन आगम-साहित्य में भी उपलब्ध है? यह तो कहा जा सकता है कि जितना प्रमाण-विषयक चिन्तन न्याययुगीन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है उसका शतांश भी आगमों में नहीं है तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि आगमों में उपलब्ध प्रमाण-प्रतिपादन का बीज ही उत्तरकाल में प्रमाणचिन्तन के विशाल वटवृक्ष के रूप में विकसित हुआ है।

जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण[2] कहा है। इस अर्थ में यदि आगम-साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ ज्ञान-मीमांसा से ही ओतप्रोत हैं। प्रमाण

एवं प्रमाणाभास के स्वरूप का प्रतिपादन आगम-साहित्य में सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान से होता दिखाई पड़ता है। किन्तु प्राचीन आगम-ग्रन्थों में प्रमाण शब्द का प्रयोग ज्ञान से भिन्न अर्थ में भी किया गया है। स्थानांग सूत्र में प्रमाण शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न होकर 'मापन' ग्रहण किया गया है तथा उसके चार भेद किए हैं—द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र-प्रमाण, काल-प्रमाण और भाव-प्रमाण।[3]

न्याययुग में विकसित होने वाले द्विविध प्रमाण के 'अनुयोग-द्वार' एवं 'भगवती सूत्र'[४] में चार प्रकार प्रतिपादित हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य और (४) आगम। स्थानांग सूत्र[५] में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से कहा गया है। हेतु शब्द का प्रमाण के अर्थ मे प्रयोग जैनेतर-साहित्य में भी मिलता है। बौद्ध दर्शन का ग्रंथ उपाय-हृदय[६] इसका उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-युग में भी न्याय को विकसित करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी क्योंकि हेतु से ही न्याय आगे बढ़ा है। सम्प्रति हेतु का प्रयोग अनुमान-प्रमाण में ही होता है किन्तु प्राचीन साहित्य में सभी प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित करना उसके अर्थ की व्यापकता को द्योतित करता है।

स्थानांग सूत्र में एक अन्य स्थान पर प्रमाण का व्यवसाय शब्द से भी उल्लेख हुआ है और व्यवसाय के तीन भेद बताए गए हैं। प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी[७]। स्थानांगसूत्र के ही टीकाकार अभयदेव[८] के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम एवं अनुगामी शब्द से अनुमान का बोध होता है। औपम्य का समावेश लगता है अनुमान में ही कर लिया गया होगा क्योंकि उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने उपमान को पृथक् प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं. दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार यही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के न्यायावतार एवं हरिभद्र के 'अनेकान्त जयपताका' ग्रंथों में तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं। व्यवसाय शब्द का अर्थ होता है—निश्चय। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए अकलंकादि सभी दार्शनिकों ने प्रमाण की परिभाषा में व्यवसाय शब्द को ग्रहण किया है।[१०] जो व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं होता, उसे प्रमाण की कोटि में न लेकर प्रमाणाभास कहा है। बौद्धदर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक होता है, अतः जैन दार्शनिकों ने उसका पर्याप्त निरसन किया है। ऐसा भासित होता है कि स्थानांग में प्रवृत्त व्यवसाय शब्द ही जैन दार्शनिकों द्वारा अपने प्रमाण लक्षण में प्रतिष्ठित किया गया है।

संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित[११] ज्ञान प्रमाण होता है। इसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जा सकता है। नंदीसूत्र में ज्ञान के पाँच भेद प्राप्त होते हैं – आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।[१२] इन्हीं पांच 'ज्ञानों' का प्रमाण के भेदों में समन्वय करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य उमास्वामी ने किया है। तत्त्वार्थ सूत्र में उन्होंने पांच ज्ञानों को मिलाकर, उन्हें प्रमाण की संज्ञा देते हुए दो भागों में विभक्त किया है तथा कहा है—"आद्ये परोक्षम्" अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय एवं केवलज्ञान में से प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा "प्रत्यक्षमन्यत्" अर्थात् शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। स्थानांग सूत्र जैन दर्शन का विश्वकोश है। अतः उसमें भी प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—दो भेद प्राप्त होते हैं। परवर्ती अकलंकादि दार्शनिकों ने इन्हीं दो भेदों को स्वीकार कर विशालकाय प्रमाण-ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा अनुमान एवं आगम-प्रमाण को परोक्ष के पांच भेदों में संकलित कर लिया गया है। परोक्ष के पांच भेद हैं—

जैनागमों में प्रमाण-निरूपण

धर्मचन्द जैन

जैन दर्शन के उद्‌भट दार्शनिक सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, पात्रकेसरी, पूज्यपाद, विद्यानन्द, हेमचंद्र, प्रभाचंद्र एवं यशोविजय का युग, प्रमाण-व्यवस्था का युग था। इस युग को न्याय-युग भी कहा जा सकता है क्योंकि इस युग में प्रत्येक प्रमेय सिद्धान्त का प्रमाण के द्वारा परीक्षण एवं तदनन्तर स्थापन होता था।[1] जैन एवं जैनेतर समस्त दार्शनिक परस्पर एक-दूसरे के मन्तव्य का खण्डन कर अपनी श्रेष्ठता का स्थापन करते थे। वाद-विवाद में विजय का मुकुट धारण करने हेतु लालायित रहते थे। न्यायदर्शन के समर्थक वात्स्यायन, उदयन आदि दिग्गज दार्शनिक थे तो मीमांसा-दर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर जैसे तार्किक थे। बौद्ध दर्शन की विजयपताका दिङ्‌नाग, नागार्जुन और धर्मकीर्ति जैसे धुरन्धर न्याय-विशारदों के हाथ में थी। उस समय "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" वाक्य एक मत से स्वीकार्य था। विना प्रमाण के अभिधीयमान प्रमेय की सिद्धि नहीं होती थी। दार्शनिक ऊहापोह के इस युग में जैन दार्शनिकों ने भी जैन दर्शन को मूर्धन्य एवं श्रेष्ठ प्रतिपादित करने का भरसक तथा सार्थक प्रयास किया। अनेकान्त-दृष्टि का उस संदर्भ में अमूल्य अवदान रहा। अन्ततः जैन दर्शन समस्त दर्शनों के अधूरेपन को प्रकाशित कर उनमें समन्वय का सूत्र पिरो सका।

विचारणीय विन्दु यह है कि जिस प्रमाण की चर्चा अकलंक के लघीयस्त्रय, न्याय-विनिश्चय एवं प्रमाण-संग्रह में, प्रभाचंद्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचंद्र में, हेमचंद्र के प्रमाणमीमांसा में, वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर में, विद्यानन्द की अष्टसहस्री एवं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में तथा यशोविजय के जैन-तर्क-भाषा आदि दार्शनिक ग्रंथों में मिलती है, क्या उसी प्रमाण का चिन्तन आगम-साहित्य में भी उपलब्ध है? यह तो कहा जा सकता है कि जितना प्रमाण-विषयक चिन्तन न्याययुगीन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है उसका शतांश भी आगमों में नहीं है तथापि यह स्वीकार करना ही होगा कि आगमों में उपलब्ध प्रमाण-प्रतिपादन का बीज ही उत्तरकाल में प्रमाणचिन्तन के विशाल वटवृक्ष के रूप में विकसित हुआ है।

जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण[2] कहा है। इस अर्थ में यदि आगम-साहित्य का अनुशीलन किया जाय तो नन्दीसूत्र, भगवतीसूत्र, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ ज्ञान-मीमांसा से ही ओतप्रोत हैं। प्रमाण

एवं प्रमाणाभास के स्वरूप का प्रतिपादन आगम-साहित्य में सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान से होता दिखाई पड़ता है। किन्तु प्राचीन आगम-ग्रन्थों में प्रमाण शब्द का प्रयोग ज्ञान से भिन्न अर्थ में भी किया गया है। स्थानांग सूत्र में प्रमाण शब्द का अर्थ 'ज्ञान' न होकर 'मापन' ग्रहण किया गया है तथा उसके चार भेद किए हैं—द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र-प्रमाण, काल-प्रमाण और भाव-प्रमाण।[3]

न्याययुग में विकसित होने वाले द्विविध प्रमाण के 'अनुयोग-द्वार' एवं 'भगवती सूत्र'[4] में चार प्रकार प्रतिपादित हैं। (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य और (४) आगम। स्थानांग सूत्र[5] में इन्हीं चार प्रमाणों को हेतु शब्द से कहा गया है। हेतु शब्द का प्रमाण के अर्थ मे प्रयोग जैनेतर-साहित्य में भी मिलता है। बौद्ध दर्शन का ग्रंथ उपाय-हृदय[6] इसका उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आगम-युग में भी न्याय को विकसित करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी क्योंकि हेतु से ही न्याय आगे बढ़ा है। सम्प्रति हेतु का प्रयोग अनुमान-प्रमाण में ही होता है किन्तु प्राचीन साहित्य में सभी प्रमाणों को हेतु शब्द से अभिहित करना उसके अर्थ की व्यापकता को द्योतित करता है।

स्थानांग सूत्र में एक अन्य स्थान पर प्रमाण का व्यवसाय शब्द से भी उल्लेख हुआ है और व्यवसाय के तीन भेद बताए गए हैं। प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और अनुगामी[7]। स्थानांगसूत्र के ही टीकाकार अभयदेव[8] के अनुसार प्रात्ययिक शब्द से आगम एवं अनुगामी शब्द से अनुमान का बोध होता है। औपम्य का समावेश लगता है अनुमान में ही कर लिया गया होगा क्योंकि उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों ने उपमान को पृथक् प्रमाण स्वीकार नहीं किया है। प्रसिद्ध जैन विद्वान् पं. दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार यही तीन व्यवसाय सिद्धसेन के न्यायावतार एवं हरिभद्र के 'अनेकान्त जयपताका' ग्रंथों में तीन प्रमाणों के रूप में निरूपित हुए हैं। व्यवसाय शब्द का अर्थ होता है—निश्चय। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, अन्य नहीं। इसलिए अकलंकादि सभी दार्शनिकों ने प्रमाण की परिभाषा में व्यवसाय शब्द को ग्रहण किया है।[10] जो व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं होता, उसे प्रमाण की कोटि में न लेकर प्रमाणाभास कहा है। बौद्धदर्शन-सम्मत प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक होता है, अतः जैन दार्शनिकों ने उसका पर्याप्त निरसन किया है। ऐसा भासित होता है कि स्थानांग में प्रवृत्त व्यवसाय शब्द ही जैन दार्शनिकों द्वारा अपने प्रमाण लक्षण में प्रतिष्ठित किया गया है।

संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से रहित[11] ज्ञान प्रमाण होता है। इसे सम्यग्ज्ञान भी कहा जा सकता है। नंदीसूत्र में ज्ञान के पाँच भेद प्राप्त होते हैं—आभिनिबोधिक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान।[12] इन्हीं पांच 'ज्ञानों' का प्रमाण के भेदों में समन्वय करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य उमास्वामी ने किया है। तत्त्वार्थ सूत्र में उन्होंने पांच ज्ञानों को मिलाकर, उन्हें प्रमाण की संज्ञा देते हुए दो भागों में विभक्त किया है तथा कहा है—"आद्ये परोक्षम्" अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान में से प्रथम दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं तथा "प्रत्यक्षमन्यत्" अर्थात् शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। स्थानांग सूत्र जैन दर्शन का विश्वकोश है। अतः उसमें भी प्रमाण के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष—दो भेद प्राप्त होते हैं। परवर्ती अकलंकादि दार्शनिकों ने इन्हीं दो भेदों को स्वीकार कर विशालकाय प्रमाण-ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा अनुमान एवं आगम-प्रमाण को परोक्ष के पांच भेदों में संकलित कर लिया गया है। परोक्ष के पांच भेद हैं—

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।[13]

प्रमाण का सर्वाधिक विवेचन आगम-साहित्य में 'अनुयोगद्वार सूत्र' में मिलता है। उपक्रम के छह भेद करते हुए प्रमाण को उसका एक भेद माना है। तदनन्तर स्थानांगसूत्र की भांति प्रमाण के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव—ये चार भेद बताए गए हैं। भाव-प्रमाण के तीन भेद किये हैं—गुण, नय और संख्या। गुण में जीव एवं अजीव से सम्बन्धित भेद किए गए हैं। जीव के गुण तीन प्रकार के बताए हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञान-गुण प्रमाण के चार भेद किए गए हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य और (४) आगम।[14]

प्रत्यक्ष

स्थानांग सूत्र[15] में प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए है—(१) केवल और (२) नो-केवल। यही दो भेद वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक में सकल और विकल के रूप में देखे जा सकते हैं।[16] केवल का अर्थ सकल शब्द में गृहीत किया गया तथा नो-केवल का अर्थ विकल शब्द में निहित माना गया। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है तथा अवधिज्ञान एवं मनःपर्याय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं। मति ज्ञान एवं श्रुत-ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं।

'अनुयोगद्वार' में इन्द्रिय-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रतिपादित करते हुए प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष।[17] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के श्रोत-चक्षु-घ्राण-रसना एवं स्पर्शन के भेद से पाँच तथा नो-इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के अवधि, मनः पर्याय एवं केवलज्ञान के भेद से तीन भेद किए गए हैं। नन्दीसूत्र में इन्द्रिय-जन्य पांच मतिज्ञानों का स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में निर्धारित किया गया है।

न्यायादि दर्शनों में इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष की कोटि में रखा है। जैन-दर्शन में भी अकलंकादि महान् दार्शनिकों ने इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष में सम्मिलित करने हेतु प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—सांव्यावहारिक एवं पारमार्थिक।[18] सांव्यावहारिक में इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया[19] के अनुसार प्रत्यक्ष के सांव्यावहारिक एव पारमार्थिक जो भेद अकलंक तथा तदनुसारी अन्य जैनाचार्यों ने किए हैं वह उनकी नई देन नहीं है अपितु उसका मूल नन्दीसूत्र एवं उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरण में है—

> एगन्तेणं परोक्ख लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
> इन्दियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं॥
>
> —(विशेषावश्यक भाष्य ६५ और इसकी स्वोपज्ञवृत्ति)

अनुमान

उत्तरवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों में अनुमान-प्रमाण के दो भेद किए जाते हैं—स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। किन्तु अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान के तीन भेद किए गए हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) दृष्टसाधर्म्यवत्।[20] अनुमान के तीन भेद न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों में भी किए गए हैं जिनमें प्रथम दो भेद तो सर्वत्र समान हैं किन्तु अन्तिम भेद का नाम 'अनुयोगद्वार सूत्र'

के समान दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है। अनुमान के तीन भेदों की परम्परा को जैन दार्शनिकों ने आगे नहीं बढ़ाया है अपितु कुछ दार्शनिकों ने इस परम्परा का खण्डन करके स्वार्थ एवं परार्थ दो भेदों को प्रतिष्ठित किया है।[२१]

पूर्ववत्

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार पूर्व-परिचित किसी लिंग (हेतु) के द्वारा पूर्व-परिचित वस्तु का प्रत्यभिज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार माता अपने पुत्र को यौवन में विदेश से लौटने पर भी किसी पूर्व लिंग से उसे पहचानती है—जैसे घाव के निशान से, वर्ण से, मस से अथवा तिल से।[२२] बौद्ध दर्शन के ग्रन्थ उपाय-हृदय में भी इसी प्रकार का उदाहरण दिया गया है।

शेषवत्

कार्य, कारण, गुण, अवयव एवं आश्रय से होने के कारण शेषवत् अनुमान पांच प्रकार का कहा गया है[२३]—

(१) **कार्य से कारण का अनुमान**— यथा शब्द से शंख का, केका-ध्वनि से मयूर का, वर्षा से बादलों का, हिनहिनाहट से घोड़े का, ताड़न से भेरी का अनुमान करना।[२४]

(२) **कारण से कार्य का अनुमान**—इसके अनुसार कारण को हेतु बनाकर उससे कार्य का अनुमान किया जाता है। यथा—तन्तु, पट का कारण है अतः तन्तुओं को देखकर पट बनने का अनुमान करना तथा मृत्पिण्ड घट का कारण होता है अतः मृत्पिण्ड को देखकर घट बनने का अनुमान करना।[२५]

(३) **गुण से गुणी का अनुमान**—यथा निकष से सुवर्ण का, गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का और स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना।[२६]

(४) **अवयव से अवयवी का अनुमान**—यथा सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दांत से हस्ती का, दाढ़ से वराह का, पिच्छ से मयूर का, खुर से अश्व का, नख से व्याघ्र का, बालाग्र से चमरी गाय का, लांगूल से बन्दर का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से गौ आदि का, केसरा से सिंह का, ककुद से वृषभ का, चूड़ी सहित बाहु से महिला का, बद्ध- परिकरता से योद्धा का, धान्य के एक कण से द्रोण-पाक का और एक गाथा से कवि का अनुमान करना।[२७]

(५) **आश्रित से आश्रय का अनुमान**—यथा धूम से अग्नि का, बलाका से पानी का, अभ्र-विकार से वृष्टि का और शील-सदाचार से कुलपुत्र का अनुमान होता है।[२८]

उपर्युक्त शेषवत् अनुमान के आगम में लक्षण नहीं दिए गए हैं, केवल उदाहरण से ही प्रतिपादन किया गया है।

दृष्टसाधर्म्यवत्

इसके दो भेद किए गए हैं—सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओं का साधर्म्य ज्ञान करना अथवा अनेक वस्तुओं को देखकर किसी विशेष में

तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्य दृष्ट है। अनुयोगद्वार में उसके उदाहरण देते हुए कहा है—"जैसा एक पुरुष है, अनेक पुरुष भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक पुरुष हैं वैसा ही एक पुरुष है। जैसा एक कार्षापण है, अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं, एक कार्षापण भी वैसा ही है।[२९]

जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है उसे विशेष दृष्ट कहा गया है। यथा—कोई व्यक्ति बहुत से पुरुषों के मध्य पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। तब उसका ज्ञान विशेष दृष्ट साधर्म्यवत् कहा जाएगा। अनुयोगद्वार सूत्र के 'दृष्ट साधर्म्यवत' के जो भेद किए गए हैं वे प्रथम तो उपमान से और द्वितीय प्रत्यभिज्ञान से अभिन्न प्रतीत होते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में काल की दृष्टि से भी अनुमान के तीन भेद किए गए हैं:

१. अतीत काल ग्रहण—हरित वन, शस्य श्यामला पृथ्वी, जल-पूरित कुण्ड, तालाब, नदी, दीर्घिका, तड़ाग आदि देखकर अच्छी वृष्टि का अनुमान अतीत काल ग्रहण है।[३०]

२. प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण—गोचरी में पर्याप्त भिक्षा मिली देखकर सुभिक्ष का अनुमान प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण है।[३१]

३. अनागत काल ग्रहण—पयोद की निर्मलता, पर्व की कालिमा, विद्युत-युक्त मेघ, मेघ-गर्जन, वातचक्र, लाल और स्निग्ध-सन्ध्या, वरुण या महेन्द्र सम्बन्धित अथवा अन्य कोई प्रशस्त उत्पात को देखकर सुवृष्टि का अनुमान अनागत काल ग्रहण है।[३२]

अनुमान के अवयव

सभी दर्शनों में अनुमान प्रमाण के अवयव स्वीकार किए जाते है। न्याय-दर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन—ये पंचावयव माने गए हैं। बौद्ध दर्शन, प्रतिज्ञा हेतु एवं उदाहरण—इन तीन अवयवों को अंगीकार करता है। जैन दर्शन में प्रतिज्ञा एवं अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले एक हेतु को ही अनुमान के अवयव[३३] रूप में स्थापित किया जाता है, आगम में यह परम्परा नहीं है। अवयव के विषय में मूल आगमों में कुछ भी नहीं कहा गया है किंतु भद्रबाहु ने दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में अनुभाग वाक्य के दो, तीन, पाँच एवं दस अवयव बताए हैं।[३४] दो अवयवों में प्रतिज्ञा एवं उदाहरण, तीन में प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण तथा पांच अवयवों में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपसंहार और निगमन को स्वीकार किया है। दस अवयवों का प्रयोग दो प्रकार से प्रतिपादित है। प्रथम प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विशुद्धि, हेतु हेतु-विशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्त-विशुद्धि, उपसंहार, उपसंहार-विशुद्धि, निगमन एवं निगमन-विशुद्धि को गिनाया गया है तथा द्वितीय प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, प्रतिपेध, दृष्टांत, आशंका, तत्प्रतिषेध और निगमन का प्रतिपादन है।

औपम्य (उपमान)

अनुयोगद्वार सूत्र में औपम्य के दो प्रकार निरूपित करते हुए कहा है—"ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा"—(१) साहम्मोवणीए, (२) वेहम्मोवणीए अ। अर्थात् साधर्म्योपनीत एवं वैधर्म्योपनीत—ये औपम्य के दो भेद हैं। साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है (१) किंचित् साधर्म्योपनीत, (२) प्रायः साधर्म्योपनीत एवं (३) सर्वसाधर्म्योपनीत।

किंचित् साधर्म्योपनीत—कुछ समानता के आधार पर जिसमें उपमेय को उपमान के सदृश बताया जाता है, वह किंचित् साधर्म्योपनीत है। यथा–जैसा मंदर पर्वत है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है वैसा मंदर है। जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है।[३५]

प्राय: साधर्म्योपनीत—जैसी गौ है वैसी गवय है, जैसी गवय है वैसी गौ है।[३६] यह उदाहरण दोनों में लगभग साम्य होने से प्रायः साधर्म्योपनीत का है। न्याय-दर्शन में भी गवय को गौ के सदृश बताकर उसे उपमान–प्रमाण के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।[३७]

सर्वसाधर्म्योपनीत

जिसकी उपमा अन्य न होकर स्वयं हो, सर्वसाधर्म्योपनीत है। साहित्यकार इसे अनन्वय अलंकार के रूप में निरूपित करते हैं। यथा—अरिहंतों ने अरिहंत-सदृश कार्य किया है।

वैधर्म्योपनीत औपम्य भी त्रिविध है—(१) किंचित् वैधर्म्योपनीत, (२) प्रायो वैधर्म्योपनीत एवं (३) सर्ववैधर्म्योपनीत।

किंचित् वैधर्म्योपनीत—थोड़ी विधर्मता (भिन्नधर्मता) से युक्त औपम्य किंचिद् वैधर्म्योपनीत कहा गया है, यथा जैसा शाबलेय है वैसा बाहुलेय नहीं एवं जैसा बाहुलेय है वैसा शाबलेय नहीं।

प्रायो वैधर्म्योपनीत—प्राय: भिन्न धर्म वाला इसका उदाहरण होगा। यथा—जैसा वायस है वैसा पायस नहीं और जैसा पायस है वैसा वायस नहीं।[४०]

सर्व वैधर्म्योपनीत—पूर्ण रूप से किसी का किसी से वैधर्म्य होता नहीं है, तथापि शास्त्रकार ने व्यवहाराश्रित उदाहरण दिया है जिसमें स्वयं की ही उपमा दी गई है। यथा—नीच ने नीच जैसा ही किया, दास ने दास जैसा ही किया।[४१] डा. मोहनलाल मेहता के अनुसार सर्ववैधर्म्योपनीत औपम्य में विरोधी गुणों का उदाहरण होना चाहिए। यथा—नीच और उच्च का, दास और स्वामी का आदि।[४२]

आगम

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार आगम के दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर। महाभारत, रामायण, वेद आदि तथा बहत्तर कलाशास्त्र लौकिक आगम माने गए हैं एवं लोकोत्तर आगम में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी-प्रणीत आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, भगवती आदि जैन-शास्त्रों को सम्मिलित किया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में रामायण, महाभारत, वेदादि का आगम के रूप में प्रामाण्य स्वीकार किया जाना अनेकान्तदृष्टि एवं समन्वय की भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

आगम-प्रमाण के एक अन्य दृष्टि से तीन प्रकार भी प्रतिपादित हैं—(१) आत्मागम, (२) अनन्तरागम एवं (३) परम्परागम। तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित अर्थरूप आगम उनके स्वयं के लिए आत्मागम, गणधरों के लिए अनन्तरागम एवं गणधर-शिष्यों के लिए (परम्परा से प्राप्त होने के कारण) परम्परागम होता है। गणधर, सूत्रों की रचना करते हैं। अतः गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम होता है तथा गणधर शिष्यों के लिए अनन्तरागम।

तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्य दृष्ट है। अनुयोगद्वार में उसके उदाहरण देते हुए कहा है—"जैसा एक पुरुष है, अनेक पुरुष भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक पुरुष हैं वैसा ही एक पुरुष है। जैसा एक कार्षापण है, अनेक कार्षापण भी वैसे ही हैं। जैसे अनेक कार्षापण हैं, एक कार्षापण भी वैसा ही है।[२९]

जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है उसे विशेष दृष्ट कहा गया है। यथा—कोई व्यक्ति बहुत से पुरुषों के मध्य पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। तब उसका ज्ञान विशेष दृष्ट साधर्म्यवत् कहा जाएगा। अनुयोगद्वार सूत्र के 'दृष्ट साधर्म्यवत' के जो भेद किए गए हैं वे प्रथम तो उपमान से और द्वितीय प्रत्यभिज्ञान से अभिन्न प्रतीत होते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में काल की दृष्टि से भी अनुमान के तीन भेद किए गए हैं :

१. अतीत काल ग्रहण—हरित वन, शस्य श्यामला पृथ्वी, जल-पूरित कुण्ड, तालाब, नदी, दीर्घिका, तड़ाग आदि देखकर अच्छी वृष्टि का अनुमान अतीत काल ग्रहण है।[३०]

२. प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण—गोचरी में पर्याप्त भिक्षा मिली देखकर सुभिक्ष का अनुमान प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण है।[३१]

३. अनागत काल ग्रहण—पयोद की निर्मलता, पर्व की कालिमा, विद्युत-युक्त मेघ, मेघ-गर्जन, वातचक्र, लाल और स्निग्ध-सन्ध्या, वरुण या महेन्द्र सम्बन्धित अथवा अन्य कोई प्रशस्त उत्पात को देखकर सुवृष्टि का अनुमान अनागत काल ग्रहण है।[३२]

अनुमान के अवयव

सभी दर्शनों में अनुमान प्रमाण के अवयव स्वीकार किए जाते हैं। न्याय-दर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन—ये पंचावयव माने गए हैं। बौद्ध दर्शन, प्रतिज्ञा हेतु एवं उदाहरण—इन तीन अवयवों को अंगीकार करता है। जैन दर्शन में प्रतिज्ञा एवं अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले एक हेतु को ही अनुमान के अवयव[३३] रूप में स्थापित किया जाता है, आगम में यह परम्परा नहीं है। अवयव के विषय में मूल आगमों में कुछ भी नहीं कहा गया है किंतु भद्रबाहु ने दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में अनुभाग वाक्य के दो, तीन, पाँच एवं दस अवयव बताए हैं।[३४] दो अवयवों में प्रतिज्ञा एवं उदाहरण, तीन में प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण तथा पांच अवयवों में प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपसंहार और निगमन को स्वीकार किया है। दस अवयवों का प्रयोग दो प्रकार से प्रतिपादित है। प्रथम प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विशुद्धि, हेतु हेतु-विशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्त-विशुद्धि, उपसंहार, उपसंहार-विशुद्धि, निगमन एवं निगमन-विशुद्धि को गिनाया गया है तथा द्वितीय प्रकार में प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टांत, आशंका, तत्प्रतिषेध और निगमन का प्रतिपादन है।

औपम्य (उपमान)

अनुयोगद्वार सूत्र में औपम्य के दो प्रकार निरूपित करते हुए कहा है—"ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा"—(१) साहम्मोवणीए, (२) वेहम्मोवणीए अ। अर्थात् साधर्म्योपनीत एवं वैधर्म्योपनीत—ये औपम्य के दो भेद हैं। साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है (१) किंचित् साधर्म्योपनीत, (२) प्रायः साधर्म्योपनीत एवं (३) सर्वसाधर्म्योपनीत।

किंचित् साधर्म्योपनीत—कुछ समानता के आधार पर जिसमें उपमेय को उपमान के सदृश बताया जाता है, वह किंचित् साधर्म्योपनीत है। यथा–जैसा मंदर पर्वत है वैसा सर्षप है, जैसा सर्षप है वैसा मंदर है। जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है।[३५]

प्रायः साधर्म्योपनीत—जैसी गौ है वैसी गवय है, जैसी गवय है वैसी गौ है।[३६] यह उदाहरण दोनों में लगभग साम्य होने से प्रायः साधर्म्योपनीत का है। न्याय-दर्शन में भी गवय को गौ के सदृश बताकर उसे उपमान–प्रमाण के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।[३७]

सर्वसाधर्म्योपनीत

जिसकी उपमा अन्य न होकर स्वयं हो, सर्वसाधर्म्योपनीत है। साहित्यकार इसे अनन्वय अलंकार के रूप में निरूपित करते हैं। यथा—अरिहंतों ने अरिहंत-सदृश कार्य किया है।

वैधर्म्योपनीत औपम्य भी त्रिविध है—(१) किंचित् वैधर्म्योपनीत, (२) प्रायो वैधर्म्योपनीत एवं (३) सर्ववैधर्म्योपनीत।

किंचित् वैधर्म्योपनीत—थोड़ी विधर्मता (भिन्नधर्मता) से युक्त औपम्य किंचिद् वैधर्म्योपनीत कहा गया है, यथा जैसा शावलेय है वैसा बाहुलेय नहीं एवं जैसा बाहुलेय है वैसा शावलेय नहीं।

प्रायो वैधर्म्योपनीत—प्रायः भिन्न धर्म वाला इसका उदाहरण होगा। यथा—जैसा वायस है वैसा पायस नहीं और जैसा पायस है वैसा वायस नहीं।[४०]

सर्व वैधर्म्योपनीत—पूर्ण रूप से किसी का किसी से वैधर्म्य होता नहीं है, तथापि शास्त्रकार ने व्यवहाराश्रित उदाहरण दिया है जिसमें स्वयं की ही उपमा दी गई है। यथा—नीच ने नीच जैसा ही किया, दास ने दास जैसा ही किया।[४१] डा. मोहनलाल मेहता के अनुसार सर्ववैधर्म्योपनीत औपम्य में विरोधी गुणों का उदाहरण होना चाहिए। यथा—नीच और उच्च का, दास और स्वामी का आदि।[४२]

आगम

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार आगम के दो भेद हैं—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर। महाभारत, रामायण, वेद आदि तथा बहत्तर कलाशास्त्र लौकिक आगम माने गए हैं एवं लोकोत्तर आगम में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी-प्रणीत आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, भगवती आदि जैन-शास्त्रों को सम्मिलित किया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में रामायण, महाभारत, वेदादि का आगम के रूप में प्रामाण्य स्वीकार किया जाना अनेकान्तदृष्टि एवं समन्वय की भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है।

आगम-प्रमाण के एक अन्य दृष्टि से तीन प्रकार भी प्रतिपादित हैं—(१) आत्मागम, (२) अनन्तरागम एवं (३) परम्परागम। तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित अर्थरूप आगम उनके स्वयं के लिए आत्मागम, गणधरों के लिए अनन्तरागम एवं गणधर-शिष्यों के लिए (परम्परा से प्राप्त होने के कारण) परम्परागम होता है। गणधर, सूत्रों की रचना करते हैं। अतः गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम होता है तथा गणधर शिष्यों के लिए अनन्तरागम।

तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित कथन तो आगम-प्रमाण के मुख्य अंग हैं ही किन्तु उनके अतिरिक्त प्रत्येक-बुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वज्ञाता के द्वारा कथित सूत्र भी आगम के ही अंग माने गए हैं। स्थविरों द्वारा रचित अंगबाह्य-ग्रथ भी आगम प्रमाण है। ये स्थविर दो प्रकार के थे—श्रुतकेवली एवं दशपूर्वधर। कालान्तर में इनका भी अभाव हो गया, तब गणधर-प्रणीत आगम के साथ अविरोध रखने वाले ग्रंथों को भी प्रमाण मान लिया गया।

---

१. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः—न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य (अ. १ उ. १ सू. १)

२. 'अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाण अतो ज्ञानमेवेदम्।' प्रमाणनय तत्त्वालोक प. १ सूत्र ३

३. 'चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे'—स्थानांग सूत्र-२५८

४. 'गोयमा से किं तं पमाणं? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे। जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं' — भगवती सूत्र ५/३-१९१-१९२

५. अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे'—स्थानांग सूत्र ३३८

६. चत्वारो हेतवः।

७. 'विविहे ववसाए पण्णत्ते तं जहा पच्चक्खे, पच्चतिते, आणुगामिए,—स्थानांग सूत्र १८५

८. स च प्रत्यक्षः अवधि-मनःपर्यवकेवलाख्यः प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः साध्यम् अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादि हेतुः सोऽनुगामी ततो जातम् आनुगामिकम् अनुमानम्। तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः स्वयंदर्शनलक्षणः प्रात्ययिकः आप्तवचनप्रभवः तृतीयस्तथैवेति।

९. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. १३८-३९

१०. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्—प्रमाणनयतत्त्वालोक प. १ सू. २

११. 'प्रकर्षेण संशयादिव्युच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं, येन तत्प्रमाणं साधकतमं'—प्रमाणमीमांसा पृ. २

१२. नाणं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा—आभिणिबोहिनाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं।—नन्दीसूत्र

१३. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्—परीक्षामुख तृ. प.

१४. से किं तं णाणं गुणप्पमाणे? चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।

१५. स्थानांग सूत्र ७१

१६. 'तद् विकलं सकलं च'—प्रमाणनयतत्त्वालोक प. २ सू. १९

१७. 'से किं तं पच्चक्खे? दुविहे पण्णत्ते तं जहा—इन्दिय पच्चक्खे, णोइंदियपच्चक्खे।'—अनुयोगद्वार जीव-गुणप्रमाणद्वार।

१८. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्य संव्यवहारतः—लघीयस्त्रयं प्रथम परिच्छेद श्लोक-३

१९. आगमयुग का जैन दर्शन पृ. १३५

२०. से किं तं अणुमाणे ? स तिविहे पण्णत्ते तं जहा—पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं-अनुयोगद्वार, अनुमान प्रमाणद्वार ।

२१. न्यायविनिश्चय ३४१, ३४२, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २०५, स्याद्वादरत्नाकर

२२. माया पुत्तं जहा भटं जुव्वाणं पुणरागयं । काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणई ॥
तं जहा खतेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलएण वा ।

२३. 'से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा—कज्जेणं, कारणेणं, गुणेणं, अवयवेणं, आसएणं ।' अनुयोगद्वार सूत्र अनुमान-प्रमाण-वर्णन ।

२४. "संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं ।"—वही

२५. 'तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं एवं वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं ।'—वही

२६. "सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं ।"—अनुयोगद्वार सूत्र प्रमाण-वर्णन ।

२७. "महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाए, हत्थिं दंतेणं····कविं च एक्काए गाहाए"—वही ।

२८. अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागाए, वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं । —वही

२९. से किं तं सामण्णदिट्ठं । जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो । जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे करिसावणा, तहा एगो करिसावणो—वही

३०. "उत्तणाणि वणाणि निप्पण्णसस्सं वा मेइणिं पुण्णाणि....पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुवुट्ठी आसी ।" अनुयोगद्वार सूत्र-अनुमान-वर्णन ।

३१. साहुं गोअरग्गयं विच्छडिअपउरभत्तपाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुभिक्खे वट्टई ।—वही

३२. "अब्भस्स निम्मलतं कसिणा या गिरी सविज्जुआ मेहा । थणियं वा उब्भासो संझा रत्ता पणिट्ठा या । वारुणं महिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा सुवुट्ठी भविस्सई ।" —वही

३३. पक्ष हेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तोरंगं, न दृष्टान्तादि वचनम् ।—प्रमाणनय तत्त्वालोक प. ३ सू. २८

३४. दशवैकालिक निर्युक्ति ५०

३५. "जहा मंदरो तहा सरिसवो, जहा सरिसवो तहा मंदरो, जहा समुद्दो तहा गोप्पयं, जहा गोप्पयं तहा समुद्दो । जहा आइच्चो तहा खज्जोतो, जहा खज्जोतो तहा आइच्चो, जहा चन्दो तहा कुमुदो, जहा कुमुदो तहा चन्दो ।" अनुयोगद्वार सूत्र—औपम्यप्रमाण-वर्णन ।

३६. जहा गो तहा गवओ, जहा गवओ तहा गो ।—वही

३७. न्यायदर्शन अ. १ आ. १ सूत्र-६

३८. 'सव्वसाहम्मे ओवम्मे णत्थि, तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं' इत्यादि—अनुयोगद्वार सूत्र उपमान-प्रमाणद्वार

३९. जहा सामलेरो ण तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो।—वही

४०. 'जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो।'—वही।

४१. 'सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि तहावि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ जहा लीएण णीअसरिसं कय, दासेण दाससरिसं कयं।'—वही।

४२. जैन दर्शन—पृ. २५१

४३. 'अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते तं जहा—अत्तागमे अनन्तरागमे परंपरागमे य।—अनुयोगद्वार सूत्र ४७०

४४. 'सुत्तं गणधरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च। सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च।'—मूलाधार ५-८०

संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राज.)

जीत-चिन्तन

जीवन की समस्याओं का समाधान, जीव अन्तर्जगत् में न खोजकर बहिर्जगत् में खोजता है, परिणाम-स्वरूप उसके दुःख की ग्रन्थियाँ सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझती जाती हैं। उसका सारा जीवन उनको सुलझाने में ही व्यतीत हो जाता है। वह उन ग्रन्थियों की उलझन में स्वयं उलझकर अपना जीवन तो भाररूप बनाता ही है किन्तु जिस परिवार में, समाज में और राष्ट्र में वह रहता है, उसे भी महती हानि पहुँचाता है। यदि मानव अपनी दुःखद समस्याओं के मूल कारण को अन्तर्जगत् में ही खोजने का प्रयत्न करे तो उसकी सारी विषम समस्याएँ स्वतः हल हो सकती हैं। मनुष्य के दुःख का मूल कारण उसके बाहर नहीं किन्तु उसी के अन्दर है।

—आ.प्र. श्री जीतमलजी म.सा.

जैनधर्म में नारी का स्थान

डॉ. श्रीमती शांता भानावत

जैन धर्म आत्मवादी, पुरुषार्थवादी और समतावादी धर्म है। यह सदैव आत्म-जय एवं गुण-विकास को महत्त्व देता रहा है। श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायकों ने आत्म-साधना के क्षेत्र में जाति-भेद, वर्ग-भेद, और रंग-भेद को कभी स्वीकार नहीं किया। प्रभु महावीर ने आत्म-विकास, धर्म-साधना एवं मुक्ति-प्राप्त करने का सबको समान रूप से अधिकार दिया और कहा — आत्म-स्वरूप की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माएँ एक-सी हैं। जो अनन्त गुणयुक्त आत्म-ज्योति पुरुष में है, वैसी ही ज्योति नारी में भी है। अतः साधना की दृष्टि से जैन धर्म नर-नारी में कोई भेद नहीं करता। यहाँ जो अधिकार पुरुष को प्राप्त हैं वे सब स्त्रियों को भी हैं। समाज की संरचना में नारी और पुरुष दोनों का समान महत्त्व रहा है। दोनों विश्व-रथ के दो पहिये हैं। उसमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। दोनों की समानता ही रथ की गति-प्रगति है। इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखे जायें तो प्रतीत होगा कि नारी-जाति ने सदैव मानव-जाति को नई ज्योति, नई प्रेरणा और नई चेतना दी है। इतिहास नारी के उज्ज्वल आदर्श एवं तप-त्याग-निष्ठ जीवन का साक्षी है।

जैन धर्म में नारी के अधिकार

जैन धर्म की सबसे बड़ी उदारता यह है कि उसने पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी तमाम धार्मिक अधिकार दिए हैं। यदि पुरुष पूजा-पाठ, धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन एवं मुनि-जीवन अंगीकार कर सकता है तो नारियां भी ये सब अनुष्ठान कर सकती हैं। यहाँ केवल धार्मिक अधिकार ही नहीं, सामाजिक एवं साम्पत्तिक अधिकार भी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही प्राप्त हैं। यह बात अवश्य है कि वैदिक एवं अन्य धर्मों में नारियों को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। वहाँ नारी को पूजा, धर्म-शास्त्र, अध्ययन, संन्यस्त होने, दान देने, मोक्ष-प्राप्ति आदि के धार्मिक अधिकार नहीं दिये गए हैं। सम्पत्ति संबंधी अधिकारों में भी पुत्र के समान पुत्री को सहभागी नहीं माना है। तत्कालीन समाज-व्यवस्था में नारी पूर्ण रूप से उपेक्षित और पद-दलित कर दी गई थी। समाज में उसका कोई स्थान नहीं था। वह मात्र भोग की सामग्री समझी जाती थी। "स्त्री शूद्रो नाधीयताम्", स्त्रियां वेश्यास्तथा शूद्राः ये पि स्युः पाप योनयः" जैसे वचनों की मान्यता थी।

बौद्ध धर्म में नारी के प्रति सम्मान और आदर के भाव मिलते हैं। उस युग की गणिकाओं के जीवन को बदलने के लिए भगवान बुद्ध ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इतना कुछ होने पर भी बुद्ध नारी को अपने भिक्षु संघ में स्थान नहीं दे सके। जब कभी उनके प्रमुख शिष्य आनन्द उनके सामने नारी को श्रमण-दीक्षा देने की बात रखते तो वे उस बात को टालने में ही अपना हित समझते। उन्होंने आनन्द के आग्रह को रखने के लिए ही भिक्षुणी-संघ की स्थापना की पर साथ ही स्पष्ट कह दिया कि मेरा यह शासन एक हजार वर्ष चलता, वह अब पांच सौ वर्ष ही चलेगा। उनकी इस भावना से स्पष्ट है कि तथागत बुद्ध के मन में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का भय था और थी नारी के चरित्र के प्रति आशंका। पर महावीर इन सब भूमिकाओं से ऊपर उठ चुके थे। उनके मन में कोई भय या आशंका नहीं थी। उन्होंने नारी को उसका खोया हुआ सम्मान दिलाया और कहा--नारी को पुरुष से हेय समझना अज्ञान, अधर्म एवं अतार्किक है। नारी अपने असीम मातृ-प्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित-साधन तथा वासना, विकार और कर्म-जाल को काटकर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसीलिए महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में श्रमणियों-साध्वियों को श्रमण-साधु के बराबर स्थान दिया और श्राविकाओं को श्रावक के समान। उन्होंने साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं चारों को तीर्थ कहा और चारों को मोक्ष-मार्ग का पथिक बताया। यही कारण था कि महावीर के धर्म-शासन में १४००० श्रमण थे तो ३६००० श्रमणियाँ, एक लाख उनसठ हजार श्रावक थे तो तीन लाख अट्ठारह हजार श्राविकाएँ। श्रमण-संघ का नेतृत्व इन्द्रभूति के हाथों में था तो साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला के हाथों में था। पुष्पचूला, सुनन्दा, रेवती, सुलसा, नामक अन्य मुख्य साध्वियाँ थीं। आज भी साधुओं से साध्वियों की तथा श्रावकों से श्राविकाओं की संख्या अधिक है।

भगवान महावीर के पहले के तीर्थकरों ने भी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में समान अधिकार दिए। उन्होंने मोक्ष के द्वार भी उनके लिये खुले रखे। जैन श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाली (वर्तमान कालचक्र की अपेक्षा) स्त्री ही थी। वह थी भगवान ऋषभदेव की माता मरुदेवी। उन्होंने हाथी पर बैठे-बैठे ही निर्मोह-दशा में कैवल्य प्राप्त कर लिया।

दासी-प्रथा का विरोध

भगवान महावीर के समय में दास-दासी-प्रथा जोरों पर थी। दास-दासियों के साथ अमानुषिक अत्याचार किया जाता था। महावीर के वैराग्य में सांसारिक सुखों की असारता और क्षण-भंगुरता के साथ-साथ दास-दासियों के साथ किये जाने वाले अत्याचारों से उत्पन्न करुणा का भाव भी था। राज-परिवार में दासियों का जीवन अत्यन्त दयनीय था। भेड़-बकरी की तरह उनका क्रय-विक्रय होता था। उन पर भांति-भांति के अत्याचार होते थे। महावीर को यह सब सहन नहीं था। मेघ कुमार की सेवा-सुश्रूषा के लिए नाना देशों से दासियों का क्रय किया गया तो उन्होंने अपनी धर्म-सभाओं में इसको पंद्रह कर्मादानों के अंतर्गत महापाप रूप बताया। महावीर ने साध्वी-संघ की स्थापना की तो उसमें राज-घरानों की महिलाओं के साथ दासियों आदि को भी पूरे सम्मान के साथ दीक्षा देने का विधान रक्खा और उन्हें दीक्षित किया। समत्व के प्रहरी महावीर ने निर्भयता-पूर्वक नारी-जागरण का बिगुल बजाया।

तुच्छ से तुच्छ व अबोध समझी जाने वाली अवलाओं में भी उन्होंने उच्च एवं महान् सबल भावनाओं को प्रतिष्ठित किया।

मध्ययुग में मुसलमानों के आक्रमणों के समय जब राजपूत युद्ध में मारे जाते तो उनकी स्त्रियाँ उनके साथ चिता में जलकर सती हो जाती। सती-प्रथा के पीछे शायद स्त्रियों के मन की भय-भावना ही मुख्य कारण थी कि वे अपने शील की रक्षा जीवित रहकर नहीं कर सकेंगी। पर जैन दर्शन में भय के कारण इस प्रकार के मृत्यु-वरण का निषेध किया गया है। यहाँ सती का आदर्श पतिव्रत धर्म के सम्यक् निर्वाह और ब्रह्मचर्य-पालन के लिए हर सम्भव कष्ट उठाने में माना गया है।

नारी के विविध रूप

जैन धर्म और साहित्य में नारी के विविध रूपों का चित्रण हुआ है। यहाँ नारी के भोग्या स्वरूप की सर्वत्र भर्त्सना की गई है और साधिका-स्वरूप की सर्वत्र वन्दना, स्तवना। 'अन्तकृतदशांग' सूत्र में मगध के सम्राट श्रेणिक की महाकाली, सुकाली आदि दस महारानियों का वर्णन है, जिन्होंने श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबोध पाकर साधना-पथ स्वीकार किया। जो महारानियां राज-प्रासादों में रहकर विभिन्न प्रकार के रत्नों के हार एवं आभूषणों से अपने शरीर को विभूषित करती थीं, वे जब साधना-पथ पर बढ़ीं तो कनकावली, रत्नावली आदि विविध प्रकार की तपश्चर्या के हारों को धारण करके अपनी आत्म-ज्योति चमकाने लगीं।

जननी, पत्नी, भगिनी, पुत्री रूप में नारी सदैव पुरुषों की प्रेरणा रही है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के १४ वें "इषुकारीय" अध्ययन में भृगु पुरोहित का वर्णन आता है। भृगु पुरोहित अपने दो पुत्रों के वैराग्य से प्रभावित होकर अपनी पत्नी यशा के साथ दीक्षा लेता है। तब इषुकार राजा उसकी सम्पदा को अपने भण्डार में लाकर जमा कराने की आज्ञा देता है। जब महारानी कमलावती को इस बात का पता चलता है तो वह राज-दरबार में उपस्थित होकर राजा की धन-लिप्सा एवं मोह-निद्रा को भंग करती है और उसे प्रतिबोध देकर साधना-पथ की ओर अग्रसर करती है[1]।

हे राजन्! यदि यह सारा जगत तुम्हारा हो जाय अथवा संसार का सारा धन तुम्हारा हो जाय तो भी ये सब तुम्हारे लिये अपर्याप्त हैं, यह धन जन्म-मृत्यु के कष्टों से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। तपस्या में लीन बाहुबली के अभिमान को चूर करने वाली उनकी बहिनें भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी ही थीं। उनकी देशना में, अहंकार एवं अभिमान में मदोन्मत्त बने मानव को निरहंकारी बनने की प्रेरणा थी। उन्होंने कहा—'गज थकी नीचे उतरो वीरा गज चढ़यां केवली न होसी।' राजमती से विवाह करने के लिये बरात सजाकर आने वाले नेमिनाथ जब बाड़े में बंधे पशुओं का करुण-क्रन्दन सुनकर मुंह मोड़ लेते हैं, तब राजमती विरह-विदग्ध होकर विभ्रान्त नहीं बनती प्रत्युत विवेकपूर्वक अपना गन्तव्य निश्चित कर साधना-मार्ग पर अग्रसर होती है। जब नेमिनाथ के छोटे भाई मुनि रथनेमि उस पर आसक्त होकर अपने संयम-पथ से विचलित होते हैं तो वह सती-साध्वी राजमती उन्हें उद्बोधित करती हुई कहती है—

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र १४/३९

घिरत्थु तेऽजसो कामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥[१]

हे अपयश के अभिलाषी ! तुझे धिक्कार है, जो तू असंयम रूप जीवन के लिए वमन किये हुए, त्यागे हुए कामभोगों को पुनः ग्रहण करने की इच्छा करता है। इसकी अपेक्षा तो तेरा मर जाना श्रेष्ठ है।

संयमवती राजमती का उद्‌बोधन पाकर अंकुश से जैसे हाथी अपने स्थान पर आ जाता है वैसे ही वह रथनेमि भी चारित्र-धर्म में स्थिर हो जाता है—

तीसे मो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥[२]

तत्वज्ञ श्राविका के रूप में जयन्ती का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। वह कोशाम्बी के राजा शतानीक की बहिन थी। 'भगवती सूत्र' के अनुसार भगवान् महावीर से पूछे गए तात्त्विक प्रश्न उसकी सूक्ष्म तर्क-शक्ति व तत्त्वज्ञान के परिचायक हैं।

जैन धर्म में नारी का सम्मान और महत्त्व

जैन धर्म सदा से उदार रहा है। वहाँ स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र का लिंग-भेद या वर्ण-भेद जनित कोई पक्षपात नहीं है। जैन दृष्टि में सृष्टि के कालचक्र का प्रारम्भ जुगलिया से माना गया है। इस रूप में नारी को नर के बराबर महत्ता प्रदान की गई है। वैदिक ग्रन्थों में जहाँ स्त्रियों को पढ़ने का अधिकार नहीं है,वहाँ प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने स्वयं अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को लिपिशास्त्र व अंकगणित का ज्ञान दिया। भगवान ऋषभदेव द्वारा दिये गए ज्ञान के प्रकाश को सर्वप्रथम उनकी पुत्रियों ने ही ग्रहण किया।

भगवान् बुद्ध की दृष्टि में नारी सम्यक् सम्बुद्ध नहीं हो सकती थी। पर महावीर की दृष्टि में नारी केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध भी हो सकती है। जैन संस्कृति के 'उपासकदशांग' सूत्र में दस आदर्श श्रावकों के माध्यम से श्रावक-धर्म की सुन्दर विवेचना की गई है। इस सूत्र के अध्ययन से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि जैन दर्शन में पुरुष के समान स्त्री को भी श्रावक-धर्म अंगीकार करने का पूरा अधिकार है। जब श्रावक आनन्द भगवान् महावीर से बारह व्रत ग्रहण कर अपने घर आता है तो आते ही वह अपनी धर्म-पत्नी से कहता है :—

"एवं खलु देवाणुप्पिए। मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मे णिसंते......
पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जाहि।"

अर्थात् देवानुप्रिये ! मैंने श्रमण भगवान् के पास से धर्म सुना है। वह धर्म मेरे लिए इष्ट, अत्यन्त इष्ट और रुचिकर है। देवानुप्रिये ! तुम भी भगवान महावीर के पास जाओ, उन्हें वन्दना करो,(नमस्कार करो, उनका सत्कार करो, सम्मान करो, वे कल्याणमय हैं, मंगलमय हैं, देव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं) पर्युपासना करो तथा ५ अणुव्रत, ७ शिक्षा व्रत रूप १२ प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करो।

पति के कथन को सुनकर वह अत्यधिक प्रसन्न होती है और भगवान महावीर के पास जाकर श्राविका धर्म अंगीकार करती है। माता और पत्नी रूप में नारी अपने पुत्र व पति को धर्म-मार्ग से

१. उत्तराध्ययन सूत्र २२/४३
२. वही २२/४८

विचलित होने पर साधना में सुदृढ़ करने के लिये प्रेरणा व प्रतिवोध भी देती थी। चुलनीपिता श्रावक ने जब प्रतिज्ञा धारण कर पौषध किया तव देव ने परीक्षा के निमित्त कई प्रकार के कष्ट दिए।

अन्तिम उपसर्ग माता भद्रा के लिए था। तव मां की ममता और भक्ति के वशीभूत होकर उसने उस पुरुष को पकड़ना चाहा। ज्योंही वह पकड़ने उठा त्यों ही देव लोप हो गया और हाथ में खम्भा आ गया। वह उसी को पकड़ कर जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट को सुनकर भद्रा सार्थवाही वहां आई और कहने लगी "तेरी देखी घटना मिथ्या है। क्रोध के कारण उस हिंसक और पाप-बुद्धि वाले पुरुष को पकड़ लेने की तुम्हारी प्रवृत्ति हुई है। इसलिए भाव से स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत का भंग हुआ है। अयतनापूर्वक दौड़ने से पौषध का और क्रोध के कारण कषाय-त्याग रूप उत्तर-गुण का भंग हुआ है। इसलिए हे पुत्र ! दण्ड, प्रायश्चित लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो।" चुलनीपिता ने अतिचारों की आलोचना की। इसी प्रकार जब सद्दालपुत्र अग्निमित्र भार्या के निमित्त से अपने धर्म से च्युत हुआ तब उसकी भार्या ने उसे उद्बोधन देकर धर्म में स्थिर किया। इन उदाहरणों से यह पता चलता है कि नर और नारी का सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं है, केवल सांसारिक अभिलाषाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिए उनका सम्बन्ध नहीं हुआ अपितु धर्मपूर्वक जीवन-यापन के लिए हुआ है।

—जयपुर (राज.)

जीत-चिंतन

अहिंसा का जीवन और जगत् की गहराई में उतर कर जितना सूक्ष्म विवेचन जैन धर्म में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि अहिंसा-प्रधान धर्मों में भी जो अहिंसा-तत्त्व का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है वह जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा-तत्त्व की ही देन है। अहिंसा-तत्त्व का तो जैन धर्म से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही समझना चाहिए। अहिंसा-तत्त्व को जैन धर्म की आत्मा मान लिया जाए तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि अहिंसा के तत्त्व को जैन धर्म से निकाल दिया जाए तो जैन धर्म में अवशेष रह ही क्या जाएगा? पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। केवल भारतीय धर्मों के लिए ही नहीं अपितु विश्व के सभी धर्मों के लिए भी अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म की देन है। जैन धर्मावलंबियों के ही प्रयत्नों से आज विश्व के कोने-कोने में अहिंसा के प्रचार की अनेक संस्थाएँ खुल चुकी हैं/खुल रही हैं।

—आ. प्र. श्री जीतमलजी म. सा.

जैन संस्कृति की अनूठी देन स्याद्वाद

अ.यो. साध्वी श्री उमरावकुंवर जी 'अर्चना'

भारतवर्ष की पवित्र धरा अनेक विचार-धाराओं की, दर्शनों की, मन्तव्यों की जननी है। दार्शनिक विचार-धाराओं का जितना विकास यहाँ हुआ, उतना विश्व के किसी भी अन्य राष्ट्र में नहीं हुआ। एक-दूसरे से घुर-विरोधी विचार-पक्ष, विभिन्न दर्शन यहाँ विना किसी प्रतिवन्ध या नियंत्रण के समय-समय पर फैलते रहे हैं, विकसित होते रहे हैं। राष्ट्र के इन विभिन्न दर्शनों—सांख्य, वैशेषिक, योग, चार्वाक, मीमांसा, बौद्ध, वैदिक आदि में जैन-दर्शन अपने स्याद्वाद जैसे सिद्धांत के कारण एक विशिष्ट महत्त्व प्राप्त कर चुका है। जैन-दर्शन ने आचार-धर्म में पवित्रता लाने के लिए अहिंसा, सत्य, संयम का विधान दिया तो विचार-धर्म की उत्कृष्टता एवं व्यापकता के लिए 'अस्ति-नास्ति' रूप स्याद्वाद का अमूल्य उपहार भी दिया। जैन परम्परा के आचार-पक्ष की आधार-शिला अहिंसा है तो विचार-पक्ष की सुदृढ़ नींव स्याद्वाद है।

'स्याद्वाद' का ही अन्य नाम 'अनेकान्तवाद' है। यह, वह प्रभावोत्पादक सिद्धांत है जो विविधता में एकता एवं एकता में विविधता के दर्शन कराता है। 'स्याद्वाद' शब्द में 'स्यात्' का अर्थ है शायद, कथंचित्, किसी प्रकार से या किसी अपेक्षा से और 'वाद' शब्द का अर्थ है विचार, सिद्धांत, मन्तव्य। इस तरह वस्तु के तत्त्वनिर्णय में जो वाद अपेक्षा की दृष्टि रखता है और उसी अपेक्षा की दृष्टि से विचार करता है, वह स्याद्वाद है। मूल में अनेक अपेक्षाओं के दृष्टिकोण को लेकर चलने के कारण इसे अपेक्षावाद भी कहते हैं।

स्याद्वाद के अनुसार वस्तु अनेक धर्मों, अनेक गुणों या अनेक विशेषताओं से युक्त होती है। उन सभी धर्मों का यथार्थ परिज्ञान प्राप्त करना साधारण-प्राणी के वश की बात नहीं; फिर भी यदि हम अपेक्षा-दृष्टि से विचार करें तो वस्तु के विभिन्न गुणों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"अनन्त धर्मात्मकं सत्।" वे यह भी कहते हैं—"आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वाद-मुद्राऽनति भेदि वस्तु।"[1] अर्थात्—दीपक से लगाकर व्योम (आकाश) पर्यंत वस्तु का स्वभाव यही है कि वह स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता।

दर्शन-शास्त्र में नित्य-अनित्य, सत्-असत्, वाच्य-अवाच्य आदि तथा लोक-व्यवहार में स्थूल-सूक्ष्म, स्वच्छ-मलिन, विद्वान-मूर्ख—ये सभी एक-दूसरे के विरोधी गुण हैं, विरोधी धर्म हैं पर सापेक्षिक हैं अर्थात्

अपेक्षा की दृष्टि से एक ही वस्तु में सत् और असत्, नित्य और अनित्य जैसे विरोधी गुण विद्यमान हो सकते हैं। स्वामी दयानन्द जी से किसी ने पूछा—आप विद्वान् हैं या अविद्वान्? स्वामी जी ने कहा—'मैं दार्शनिक क्षेत्र का विद्वान् हूँ पर व्यावहारिक या व्यापारिक क्षेत्र का अविद्वान् भी हूँ। यही है सापेक्ष-वाद-कथन। इनमें से अगर कोई व्यक्ति किसी भी एक धर्म, एक पक्ष, एक गुण को पकड़कर बैठ जाए तथा शेष धर्मों की उपेक्षा करे, अवहेलना करे, सिर्फ अपनी ही राग अलापे, स्वपक्ष एवं स्व-निर्णय को ही सत्य माने तो उस व्यक्ति को कदाग्रही समझा जाएगा और ऐसा हठी, एकपक्षीय कदाग्रही व्यक्ति विचार-जगत् में भटकता रहेगा, आचार-धर्म में अटकता रहेगा और सत्य-धर्म के निकट नहीं पहुँच सकेगा; उसका जीवन अशांत रहेगा और वह अपने कार्य-क्षेत्र में असफलता का ही मुंह देखेगा।

किसी वस्तु का जो स्वरूप हमारी जानकारी में है, हमारे समक्ष है वह उसका मूर्तरूप है, प्रत्यक्ष गुण है, प्रकट धर्म है इसके अतिरिक्त भी उसका एक अप्रत्यक्ष रूप है जो अप्रकट है, हमारी सीमित जानकारी में नहीं है। अब तो वैज्ञानिक भी इस बात को प्रयोग द्वारा सिद्ध करके मान चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु का एक रूप वह भी है जो अव्यक्त एवं अप्रकट है। वस्तु के व्यक्त एवं अव्यक्त सभी धर्मों का ज्ञान ही हमें वस्तु का पूर्ण ज्ञान करा सकता है। उसके केवल एकांगी स्वरूप को समझ कर हम यदि यह मानलें कि हमें अमुक वस्तु का पूर्ण ज्ञान है तो यह हमारी नासमझी होगी। वस्तु या पदार्थ के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षण करने, समझने और व्यक्त करने की विद्या ही स्याद्वाद है, अनेकांत है, अपेक्षावाद है।

एक वस्तु एक अपेक्षा से जैसी है, अन्य अपेक्षाओं से वह दूसरे प्रकार की भी हो सकती है। आप एक नींबू लीजिए और एक लीजिए नारंगी। दोनों को पास-पास रखकर देखिए। नारंगी, नींबू से बडी होगी। अब आप नींबू को हटा दीजिए और तरबूज रख दीजिए, नारंगी तरबूज की अपेक्षा छोटी होगी। नारंगी बडी भी है छोटी भी है—तुलनात्मक दृष्टि अलग है। जैन तत्त्वज्ञ इसीलिए कहते हैं कि एक ही वस्तु में गुरुत्व या लघुत्व के गुणों का होना व्यावहारिक है और सापेक्ष भी है।

भगवान् महावीर का चिन्तन सापेक्षवादी था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, जीवन के हर मोड़ पर वे 'अस्ति-नास्ति' के साथ अपेक्षापूर्वक चले। एकान्त 'अस्ति' या एकान्त 'नास्ति' जैसा निरपेक्ष-तत्त्व उनके दर्शन में नहीं था, नहीं है। उनका स्पष्ट घोष है—"सत्य अनंत है, विराट् है।" कोई भी अल्पज्ञानी सत्य को सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकता। जो वह जानता है, वह तो ज्ञान का अंशमात्र है, केवल एक पहलू है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जो सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार कर लेते हैं, वे भी उस परिज्ञात-सत्य को वाणी द्वारा पूर्ण रूप से अविकल व्यक्त नहीं कर सकते।

अपने दृष्टिकोण को सही समझते हुए भी दूसरों के विरोधी लगने वाले दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करना 'स्याद्वाद' है। किसी विशाल एवं उत्तुंग शिखर पर कुछ व्यक्ति चढ़ने की कोशिश में हों और वे अलग-अलग दिशा से अलग-अलग रास्ते पकड़ कर जाएँ, अपने रास्तों के दृश्य के सजीव-चित्र भी वे बनाएँ या कैमरे से चित्र लें तो निश्चय ही चित्र भिन्न-भिन्न होंगे, एक-दूसरे से अलग-थलग होंगे। अब यदि उनमें से कोई अपनी दिशा के चित्र को ही सही माने और उसी को वास्तविक पर्वत-शिखर कहे,

शेष चित्रों को सही माने ही नहीं, उन्हें झुठलादे तो क्या वे चित्र झूठे हो जाएंगे ? गलत हो जाएंगे ? नासमझ है वह पर्वतारोही जो उन अन्य चित्रों पर विश्वास नहीं करता, यह नहीं समझता कि ये भी इसी पर्वत-शिखर के किसी अन्य अपेक्षा से, दिशा से, दृष्टिकोण से चित्र हो सकते हैं। इस स्थिति में सत्य को समग्र रूप में देखने का दावा कैसे किया जा सकता है।

अपने चिंतन को एकान्त रूप से पूर्ण यथार्थ मानना और अपने कथन को एकान्त रूप से पूर्ण सत्य मानना यदि अज्ञान है तो दूसरों के चिंतन और कथन को एकान्त असत्य घोषित करना भी सत्य के साथ अन्याय ही है। सब सत्य-पक्षों को जानना और ऐसे सभी सत्य-पक्षों का जोड़ करना ही एक अखण्ड सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति दे सकता है।

एक व्यक्ति पिता भी है, पुत्र भी है; दादा भी है, पौत्र भी है; चाचा भी है, भतीजा भी है। यह बात अलग है कि जिसका वह पुत्र है, उसका पिता नहीं है। एक स्वर्ण-घट है। उसके लिए पूछा जाए कि क्या यह घट है ? तो उत्तर मिलेगा—हाँ है। फिर प्रश्न करे—क्या यह स्वर्ण का है ? उत्तर मिलेगा—हाँ, स्वर्ण का है। फिर पूछा जाए—क्या यह मिट्टी का है ? उत्तर मिलेगा—नहीं। स्वर्ण की अपेक्षा से है तो मिट्टी की अपेक्षा से नही है। इसी प्रकार पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है किन्तु पर्याय की दृष्टि से अनित्य। आपके पास एक सोने का हार है। मूल वस्तु 'सोना' द्रव्य है और हार उसकी पर्याय। आपने सोने के हार को तुड़वा कर, गला कर उसकी अंगूठियाँ बनवा ली। द्रव्य के रूप में पदार्थ मौजूद है अर्थात् सोना नष्ट नहीं हुआ है पर पर्याय बदल गई, हार से अंगूठियाँ बन गई। सोने को बिल्कुल जला कर राख कर दीजिए फिर भी पदार्थ रूप में द्रव्य की अस्ति तो वह राख है ही, सोना भले ही नष्ट हो गया। तात्पर्य यह कि एक अपेक्षा से वह नित्य भी है तो एक अपेक्षा से वह अनित्य भी है।

अनेकान्त या स्याद्वाद के प्रमुख व्याख्याकार जैनाचार्य हैं—सिद्धसेन। उन्होंने अपने ग्रंथ "सन्मति-तर्क" में अनेकान्त की तर्क-पुष्ट पद्धति से अत्यधिक प्रभावोत्पादक व्याख्या की है। दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र के "आप्त-मीमांसा", आचार्य हरिभद्र के 'अनेकान्त-प्रवेश' और 'अनेकान्त-जयपताका', आचार्य अकलंक के "सिद्धि-विनिश्चय", उपाध्याय यशोविजय के "अनेकान्तव्यवस्था" "जैन तर्क भाषा" "नयप्रदीप" "नयोपदेश" "नयरहस्य" एवं "अनेकान्त-प्रवेश" आदि ग्रंथों में नव्य-न्याय की शैली में अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद पर ऐसी व्याख्याएँ, टीकाएँ, विश्लेषण मिलते हैं, जो अपने आपमें महत्त्वपूर्ण हैं।

संसार के महान् विचारकों ने स्याद्वाद का मुक्तकंठ से स्वागत किया है। इस अनुभव-सिद्ध, स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धांत के बारे में विश्व के विभिन्न विचारकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत हैं—

"अनेकांत मुझे अत्यन्त प्रिय है। उससे मैंने मुसलमानों की दृष्टि से उनका, ईसाईयों की दृष्टि से उनका और इसी प्रकार अन्य अनेक धर्मावलम्बियों की दृष्टि से उनका विचार करना सीखा। पहले मेरे विचारों को किसी के द्वारा गलत बताए जाने पर मुझे क्रोध, आवेश आ जाता था पर अब मैं

उनका दृष्टि-बिन्दु उन्हीं की आँखों से देखने लग गया हूँ। अनेकान्तवाद में मैंने अहिंसा और सत्य की युगल-जोड़ी के दर्शन किए हैं।"

—महात्मा गाँधी

"स्याद्वाद-दृष्टि अनेक अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता-अनित्यता, सदृशता-असदृशता, वाच्यता-अवाच्यता, सत्ता-असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर यथार्थ समन्वय प्रस्तुत करती है।"

—आचार्य हेमचन्द्र

"न्याय-शास्त्र में जैन न्याय-दर्शन अति उच्च है और उसमें भी स्याद्वाद का स्थान अति गंभीर है। वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर यह बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।"

— डॉ. थामस, इंगलैंड

"स्याद्वाद से समस्त सत्य-विचारों का द्वार खुल जाता है।"

- डॉ. हर्मन जैकोबी

"विश्व शांति की स्थापना के लिए जैनों को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद का अत्यधिक प्रचार करना उचित है।"

—विश्रुत दार्शनिक, अमेरिका

भगवान् महावीर का फरमान है कि सम्पूर्ण सत्य-तथ्य को जानने समझने के लिए सत्य के समस्त अंगों को अनाग्रह-पूर्वक अवलोकन करो और फिर उनका अपेक्षापूर्वक कथन करो। श्री भगवती सूत्र में व्यवहार-नय और निश्चय-नय की अपेक्षा से प्रभु ने एक ही वस्तु के अलग-अलग वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि बताए हैं। वे गौतम के प्रश्नों का समाधान करते हुए बताते हैं कि व्यवहार-नय की अपेक्षा से गीले गुड़ में एक मधुर रस पाया जाता है जबकि निश्चय-नय की दृष्टि से पाँचों रस पाए जाते हैं। ऐसे ही व्यवहार-नय की अपेक्षा से भ्रमर में काला वर्ण, मजीठ में लाल, हल्दी में पीला, शंख में श्वेत, मृत शरीर में दुर्गन्ध, नीम में कड़वापन, वज्र में कर्कश स्पर्श, मक्खन में कोमल स्पर्श होता है जबकि निश्चय-नय की अपेक्षा से इन सब में पाँच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श पाए जाते हैं। वे एक अन्य प्रश्न के उत्तर में गौतम से कहते हैं कि जीव किसी दृष्टि से शाश्वत भी है और किसी दृष्टि से अशाश्वत भी। द्रव्यादिक दृष्टि से वह शाश्वत है तथा पर्यायादिक दृष्टि से अशाश्वत।[२]

स्याद्वाद की दृष्टि से तत्त्व का कितना सटीक-सुन्दर निरूपण प्रभु ने किया है। कोई भी जानकार इसे स्वीकार कर सकता है यदि वह एक पक्षधर न हो, सापेक्ष-दृष्टि रखता हो। महावीर की इस शैली को विभज्यवाद भी कहा गया।[3]

अन्य दर्शन इस सापेक्ष कथन को, अनेकांत चिन्तन को, भगवान् महावीर के स्याद्वाद को, विभज्यवाद को स्वीकार नहीं करते। एक नई शैली, एक नया सिद्धांत, एक नई विचारधारा के रूप में स्याद्वाद महत्वपूर्ण एवं सत्य-तथ्य होते हुए भी अन्यान्य दार्शनिकों के गले नहीं उतर रहा है। इसके महत्त्व को समझते हुए भी वे इसे स्वीकार करना नहीं चाहते हैं पर ऐसा ही दृष्टिकोण इन अन्य दर्शनों

में भी कहीं-कहीं दिखाई देता है तो इस सिद्धान्त की स्वतः पुष्टि हो जाती है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" अर्थात् एक ही सत् तत्त्व का विप्र, ज्ञानी, विद्वान् विविध प्रकार से/अनेक दृष्टिकोणों से वर्णन-विवेचन करते हैं। स्याद्वाद यही तो कहता है। जैन दर्शन के अनुसार एक ही वस्तु के विपरीत वर्णन अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चे हैं। पारिभाषिक शब्दों में, प्रत्येक पदार्थ में "विरुद्ध धर्माश्रयत्वं" है। उपनिषद में भी एक जगह आत्मा के सम्बन्ध में आया है—"तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्य सर्वस्य, तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः।" अर्थात् आत्मा चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और समीप भी, वह सबके अन्तर्गत भी है और बाहर भी। क्या ये उद्गार स्याद्वाद से प्रभावित नहीं हैं?

श्रीमद् भगवद्गीता, उपनिषद एवं मूल ऋग्वेदादि संहिता-ग्रंथों के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उनमें ब्रह्म के स्वरूप का जिस रूप में निरूपण किया है वह स्वरूप एकान्त नहीं, अनेकान्त ही है। ऋग्वेद में सृष्टि के मूल कारण ब्रह्म को सत्-असत् से भिन्न बताते हुए अन्यत्र उसको सत् भी कहा है और असत् भी बताया है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त है—"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं"[४]

"नामरूपरहितत्वेन असत् शब्द वाच्यं, सत् एवावस्थितं परमात्म-तत्त्वम्।"[५] अर्थात्—उस काल में सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था, दूसरे शब्दों में जो है वह भी उस समय नहीं था और जो नहीं है वह भी उस समय नहीं था किन्तु सदसत् रूप केवल ब्रह्म ही अवस्थित था।

विश्व के लगभग समस्त धर्म एवं दर्शन स्याद्वाद-कथन-शैली को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, स्वयं उनके दर्शन में स्याद्वाद से संबद्ध सूत्र कहीं न कहीं प्राप्त होते हैं। आज के वैज्ञानिक भी इसके महत्त्व को स्वीकार कर चुके हैं। वस्तुतः स्याद्वाद ही विश्व में वह विराट् सिद्धान्त है जो भेद में अभेद की एवं अभेद में भेद की दृष्टि प्रदान करता है और संघर्षों में समन्वय की सृष्टि करता है। किसी प्रमाण से इसका खंडन नहीं किया जा सकता। स्याद्वाद ही धार्मिक-सहिष्णुता एवं सर्व-धर्म-समभाव का सर्जक है।

विश्व के विभिन्न धर्मों, विविध दर्शनों, मतों, पन्थों तथा सम्प्रदायों में आज कितने विवाद चल रहे हैं, इन विवादों के अंत न होने का कारण है—स्याद्वाद के अनुपम तत्त्व को न समझना। यह, वह तत्त्व है जो समन्वय की आधार-शिला है। इसको न जानने और न मानने का ही परिणाम यह है कि आज एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को सर्वथा असत्य एवं मिथ्या बतलाते हैं। उनका एकान्तवाद होता तो अपूर्ण है किन्तु वे उसे सम्पूर्ण मानते हैं। आज के अशांत युग में यदि शांति स्थापित करनी है तो स्याद्वाद का, अनेकान्त का प्रचार-प्रसार बढ़ाना होगा। इस सिद्धान्त के द्वारा ही समस्त विरोधों का शमन होगा, वादी-प्रतिवादी दोनों को न्याय दिया जा सकेगा, परस्पर एक-दूसरे को टकराव से रोका जा सकेगा। जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान यदि कहीं है तो वह है 'स्याद्वाद' में।

सर्वज्ञ महावीर का यह दार्शनिक चिन्तन इस अर्थ में केवल दर्शन व धर्म की बपौती नहीं है, वह तो सम्पूर्ण जीवन-क्षेत्र को संस्पर्शित करने वाला है, स्पंदित करने वाला है। चिन्तन की इसी धारा को आधार बनाकर निर्धन, दुर्बल एवं अल्पसंख्यक लोगों को विकास के अवसर दिए जा सकेंगे। राष्ट्रों, जातियों या समाजों के आपसी विग्रह, कलह एवं संघर्ष भी एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने

का परिणाम है। अनेकान्त ही इन सब में समन्वय की सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण भूमिका निभाने वाला है, संकुचित और अनुदार दृष्टि को उदार बनाने वाला है, विशाल बनाने वाला है। इसी से परस्पर सहयोग, सौहार्द, सद्भावना का उद्गम हो सकेगा।

विश्व शांति और समन्वय का आधार अनेकान्त, जैन संस्कृति की अभूतपूर्व-अनूठी एवं असाधारण देन है, जो हमें सरलता से प्राप्य है पर बहुत ही विचारणीय विषय है हमारे लिए कि कहाँ तो ऐसा मंगलकारी सिद्धान्त और कहाँ हैं आज हम महावीर के अनुयायी कहलाने वाले जैनी ? हमारा अन्तर्मानस अनेकान्त से रिक्त है। हम परस्पर झगड़ रहे हैं, हम पथ से भटक रहे हैं, हमारा लक्ष्य बदल गया है। जब हम ही रिक्त हैं, शून्य हैं, रहित हैं अनेकांत से तो विश्व को स्याद्वाद पर चलने की प्रेरणा कैसे दे सकते हैं ?

आज परम-शांति और सुख की प्राप्ति के लिए, प्रेम-सौहार्द-स्नेह का वातावरण पैदा करने के लिए पारिवारिक-सामाजिक-धार्मिक-राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए यदि कोई सक्षम है, तो वह है 'स्याद्वाद' !

राष्ट्रीय उत्थान एवं नव-निर्माण के लिए, भ्रष्टाचार को मिटाने एवं गरीबी को दूर करने के लिए, भाषावाद-क्षेत्रवाद-जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को लेकर मचने वाली खूनी-क्रांति से निपटने के लिए यदि कोई अचूक साधन है तो वह है 'स्याद्वाद' !

आज विश्व महायुद्ध के कगार पर बैठा है, एटम और परमाणु-शस्त्रों के ज्वालामुखी के मुख पर बैठा है, प्रलयंकारी ताण्डव हिंसा-नृत्य की गोद में बैठा है। पता नहीं कब कगार ढ़ह पड़े, ज्वालामुखी फट जाए और विश्व हिंसा की प्रलयंकारी गोद में महाविनाश को प्राप्त हो जाए। इन सबसे मानव-जाति की रक्षा के लिए यदि कोई साधन है तो वह है 'स्याद्वाद' !

विश्व-शांति एवं समग्र विश्व-कल्याण के लिए मानव-मात्र को स्याद्वाद अपनाना ही होगा।

---

१. अन्ययोग व्यवछेद द्वात्रिंशिका—५
२. श्री भगवती सूत्र, शतक—१८, उद्दे. ६
३. भिक्खू विभज्जवादं च वियागरेज्जा। सूत्रकृतांग १/१४/२२
४. ऋग्वेद मं. १० सूक्त १२१ मं. १
५. तैत्तरीय ब्राह्मण २/१/६/१

कहानी जो पुनर्जन्म ने स्वयं कही

प्रवर्तक श्री रमेशमुनि जी म.सा.

युग-युग से विश्व के महान् मनीषी, चिंतक, विद्वान् एवं दार्शनिक मेरे संबंध में अपना मतव्य प्रकट करते रहे है। आज अपने संबंध में मैं स्वयं कुछ कहने को उत्सुक हूँ। आत्मकथा-कथन आज की साहित्यिक-विधाओं में प्रमुख है। बिजली, पृथ्वी, वायुयान, रेल, टेलीफोन आदि न जाने कितने नाम हैं, जो अपनी कथा स्वयं कह गए, तब मैं ही क्यों पीछे रहूँ ?

आंज का युग विज्ञान का युग है। भौतिकवाद ने समस्त संसार को अपने सुदृढ़ जाल में उलझा रखा है, इस पर भी मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि अधिकांश जीव-जगत् मेरी मान्यता के घेरे में है। केवल कुछ प्रतिशत ही ऐसे हैं जो मुझे नकारते हैं। मुझे नकारनेवाली विचारधारा नाम-मात्र के लिए ही शेष रह गई है क्योंकि किसी न किसी मन-मस्तिष्क में कहीं न कहीं नास्तिकवादी विचारधारा के अवशेष तो रह ही सकते हैं। सभी तो एकमत कैसे हों ? **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'**——कहावत भी तो है।

. आप सभी कितनी ही सदियों से आस्तिक-नास्तिक दोनों ही विचारधाराओं के संबंध में सुनते आ रहे हैं। नास्तिकवादी कहते हैं—"शरीर के साथ ही आत्मा भी मरकर, जलकर राख की ढ़ेरी बन जाता है; खाक हो जाता है, फिर पुनर्जन्म का अस्तित्व कैसे ? पुनर्जन्म संबंधी सभी तर्क, सिद्धांत, घटनाएँ, कथाएँ कपोल-कल्पित हैं।"

नास्तिकवादियों का यह कथन निश्चय ही उनकी अज्ञानता है। मेरे अस्तित्व को नकारने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित विभिन्न तर्क मिथ्या हैं, असत्य हैं, तथ्य से परे हैं। मुझे नास्तिकवादियों पर हंसी आती है, उनका यह कथन सुनकर कि—"पुनर्जन्म की थोथी-कल्पनाएँ निरी-मूर्खता है, कुछ लोग व्यर्थ ही इस परम्परा को ढ़ोते फिर रहे हैं। यह 'आस्तिक' नाम-धारियों का अंध-विश्वास है। प्रत्येक देहधारी का अगर पुनः पुनः जन्म होता रहता है तो फिर सभी प्राणियों को अपने पूर्व-भवों का स्मरण क्यों नहीं रहता, जबकि वे समनस्क होते हैं। विगत-भव में मैं कौन था, कहाँ था, किस गति से निकल कर यहाँ आया हूँ, वहाँ सुखी था या दुःखी था आदि प्रश्नों के उत्तर प्राणी क्यों नहीं दे पाता ? निकटस्थ बीते भवों की बातों का ही जब अता-पता नहीं मिल पाता किसी को, तो भला दूरस्थ भवों की बात ही क्या करें ? क्या सभी प्राणी एक साथ ही अपना सम्पूर्ण विगत भूल गए ? क्या सभी की स्मृतियाँ एक

साथ हवा हो गई ? वस्तुतः यह बात नहीं है। पुनर्जन्म जैसी कोई चीज ही नहीं है तो भला इन प्रश्नों का करना और इनके उत्तर की आशा रखना कहाँ तक उचित है। प्रत्येक देहधारी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता.. ....।''

आस्तिक विचारधारा तो सदियों-शताब्दियों से डंके की चोट मेरे अस्तित्व का उद्घोष करती रही है। वर्तमान भौतिकवादी एवं तकनीकी युग में अनेक प्रयोगों द्वारा वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि—"जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है।" वास्तविकता तो यह है कि मेरे अस्तित्व का निषेध करने वाली विचारणा प्रायः समाप्त-सी हो चुकी है।

भारत के ही नहीं विश्व के लगभग सभी धर्म-दर्शन मेरे अस्तित्व को स्वीकारते हैं और मेरी सुदृढ़-मान्यता ही उनके समस्त दर्शन-भवन की मजबूत नींव है, आधारशिला है। विश्व-दर्शनों में भी जैन-दर्शन मेरे सम्बन्ध में विशद एवं विशाल दृष्टिकोण रखता है, उसमें मेरे लिए बडी साफ शुद्ध एवं स्पष्टोक्ति मेरी गरिमा में चार-चाँद लगाने जैसी है। आज प्रगति के उत्कर्ष पर पहुँचे हुए भौतिक-विज्ञान की भी जहाँ पहुंच नहीं हो पाई है, वहीं जैन-दर्शन ने मेरी यथार्थता, वास्तविकता एवं सत्यता की सफल भूमिका आरम्भ से ही प्रस्तुत कर रखी है। एक भव से लेकर संख्य, असंख्य, अगणित भव-भवान्तरों/जन्म-जन्मांतरों के रोमांचकारी रहस्यों का उसने उद्घाटन किया है।

मेरी इतिहास-कथा कहाँ से प्रारम्भ होती है ? मैं कब, कहाँ, कैसे प्रकाश में आया, इसकी निश्चित तिथि, तारीख, वर्ष, मास सब कुछ अज्ञात है। कोई महान शक्ति, दैविक-बुद्धि या ईश्वरीय-स्मृति भी मेरे प्रचलन, उद्भव एवं प्रारम्भ के विषय में कुछ भी बताने में अक्षम है। बताया भी नहीं जा सकता, कारण यह कि मेरी परम्परा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना आत्मा का इतिहास। आत्मा का अस्तित्व जिस तरह अनादिकाल से सतत चला आ रहा है, उसी तरह मेरा अस्तित्व, मेरे सिद्धांत भी अनादिकाल से अपने अस्तित्व में हैं। भगवान् महावीर भी इस कथन की पुष्टि करते हुए कह गए हैं—

''न कोई जाति बची, न कोई जीव-योनि, न कोई ऐसा स्थान बचा, न कोई ऐसा कुल — जहाँ इस जीव के जन्म-मरण नहीं हुए हों।''[1] अर्थात् सभी जीवात्माओं के अनन्त-अनन्त पुनर्जन्म हो चुके हैं।

"अपने कर्मों के अनुसार यह आत्मा कभी देवलोक में, कभी असुर-लोक में और कभी नरकादि में उत्पन्न होता रहता है। इसने कभी क्षत्रिय, कभी चाण्डाल तो कभी वर्णसंकर जातियों में और कभी-कभी कीट-पतंग-कुंथुआ, चींटी इत्यादि की योनियों में भी अगणित पुनर्जन्म किए हैं।''[2]

इस जन्म से पहले के जन्मों में घटित घटनाएँ इस जीवात्मा को याद नहीं, इतने मात्र से मेरे अस्तित्व को कदापि नकारा नहीं जा सकता। मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ--आपने इस जन्म में गर्भा-वास का जो नरक-तुल्य जीवन भोगा, क्या वह अब आपको याद है ? आप रह चुके हैं गर्भाशय में। कैसी पीड़ा, कैसी वेदना थी वहाँ ? पैर ऊपर तो सिर नीचे था। अपराधियों की तरह औंधे लटक रहे थे। मल-मूत्रमय आहार में रचे-पचे थे, गर्मी की असह्य वेदना सह रहे थे, एक अंधेरी कालकोठरी में हाथ-पांवों को सिकोड़ कर न्यूनाधिक नौ मास रहना पड़ा था। माँ के उठने-बैठने और झुकने से प्राण-घातक पीड़ा सहन करनी पड़ी थी। आज क्या यह सब याद है ?..........याद नहीं है, फिर भी क्या गर्भावास की उस स्थिति, वेदना एवं पीड़ा को नकरा जा सकता है ? यह तो इसी जन्म की ही बात है।

यह जीवात्मा ऐसी ही और इससे भी अधिक त्रास देने वाली नारकीय यातनाओं, पाशविक पीड़ाओं को भोग चुका है। आज याद नहीं है तो क्या उन सबको झुठला दिया जाए ? यह कदापि उचित नहीं होगा उनको नकारना ही मुझे भी नकारना है। उनको नकारना एक मिथ्या-प्रलाप-मात्र है तो मुझे नकारना भी... ...! शरीर में जब तक चैतन्य का/आत्मदेव का निवास रहता है, तब तक यह शरीर सक्रिय रहता है, स्पंदित रहता है, चैतन्य एवं जागरूक रहता है। आत्मा और शरीर के संयोग से सभी क्रियाएँ गतिशील रहती हैं। आत्मदेव ने ज्योंहि यह शरीर छोड़ा, इसे छोड़कर आत्मदेव अन्यत्र प्रस्थान कर गया कि शरीर निष्क्रिय, जड़ एवं निर्जीव बन जाता है। अब यह मानना कि उस शरीर के साथ वह आत्मा भी मर गया, अज्ञान एवं नासमझी नहीं तो और क्या है ? आत्मदेव तो अजन्मा है, अविनाशी है। केवल लोक-व्यवहार में ऐसा कह दिया जाता है कि आत्मा ने पुनः जन्म धारण किया, वस्तुतः आत्मा तो वही है—एक रूप छोड़कर दूसरा रूप उसने सजा लिया है।

आप इस वर्तमान जीवन को क्या मानते हैं ? जन्म और मृत्यु के बीच का एक विश्राम ही तो है यह।[3] वस्तुतः चतुर्गति के समस्त संसारी जीवों को, आत्माओं को मेरे अस्तित्व की संकीर्ण गली से गुजरना ही पड़ता है। कितनी बार गुजरना पड़ेगा या गुजर चुके—यह बेहिसाब है, बेशुमार है। जन्म और मरण इस लोक के दो किनारे हैं। देहधारी का एक से आना होता है तो दूसरे से जाना। आने वाला पहले मरण-क्रिया को पूरी करके आता है और जाने वाला अपने पूर्व शरीर को छोड़कर नए शरीर में, नई योनि में प्रवेश पाता है। जैन दर्शन यह बताता है कि प्रत्येक जीवात्मा—जिसे मेरी शरण में आना है, पुनः जन्म लेना है, नवीन-तन धारण करना है—गति, स्थिति, जाति, अवगाहना, प्रदेश और अनुभाव इत्यादि बातों का बंध करने के पश्चात् ही परलोक की अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है।

मेरी हेरा-फेरी में शरीर का संयोग भी एक कारण है। शरीर का संयोग जब तक है तब तक मेरी परम्परा का उच्छेदन संभव नहीं है। मात्र अरिहंत एवं सिद्ध भगवंतों की आत्माएँ ही अपुनरावृत्ति को प्राप्त हैं "**अपुणराविति सिद्धि गइ नामधेयं**", सिद्ध-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं, कर्मों के कार्य-कारण भाव से रहित हैं। शेष संसारी जीवात्माओं की जन्म-मरण में पुनरावृत्ति होती रहती है और इसी में मेरा अस्तित्व निहित है।

'जैन वाङ्मय के अनुसार नमिराज का जीव जब देवलोक से च्यवकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ तो मोहनीय कर्म के उपशांत होने से वह जाति-स्मरण-ज्ञान द्वारा अनेक पूर्व जन्मों को याद करने लगा[४]।'

एक बार प्रथम तीर्थपति भगवान् ऋषभजिन से पूछा गया कि "इस समवसरण में आप जैसी कोई उत्तम आत्मा विद्यमान है ?" प्रत्युत्तर में प्रभु ने समाधान प्रदान किया कि 'समवसरण के बाहर द्वार के एक ओर परिव्राजक मरीचि बैठा हुआ है, वह मेरे सदृश ही २४ वें तीर्थंकर महावीर के रूप में परिवर्तित होगा।' प्रभु द्वारा प्रकथित उक्त भविष्यवाणी और भगवान् महावीर के बीच करोड़ों वर्षों का अंतराल रहा हुआ है। इन उदाहरणों से मेरा अस्तित्व कितना पुराना है, यह सहज में समझा जा सकता है।

आगे की पंक्तियों में कर्मवाद के द्वारा मैं अपने सिद्धान्त की पुष्टि करने जा रहा हूँ ताकि सम्पूर्ण विश्व को मेरी सार्वभौम सत्ता मान्य हो सके।

आज आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं—यह विश्व विषमता का अखाड़ा बना दृष्टिगोचर हो रहा है। कोई सुखी तो कोई दुःखी, कोई श्रीमंत तो कोई निर्धन, कोई भिखारी तो कोई शिकारी, कोई स्वामी तो कोई सेवक, कोई योगी तो कोई भोगी, कोई दिग्गज-विद्वान् तो कोई मूर्ख-शिरोमणि, कोई सुरूप तो कोई कुरूप और कोई सम्मान के गुलदस्ते जहाँ-तहाँ स्वीकार करते थक रहे हैं तो कोई कदम-कदम पर अपमान के जहरीले घूंट पीकर जी रहे हैं। दुनिया में उक्त वैषम्य प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। ऐसा क्यों? क्या कारण है? क्या आप कभी इस प्रश्न की गहराई तक पहुँचे हैं? समाधान यही है कि जीव द्वारा पूर्वभव-कृत पुण्य और पाप की ही यह फल-श्रुति है।

संसार के अंचल में ऐसा भी देखा जाता है कि सुजन-आत्माएँ समस्याओं से परेशान व पीड़ित हैं और दुरात्माएँ आराम-पूर्वक जिन्दगी बसर कर रही हैं; तो क्या इस कलियुग में पुण्य-सुकृत का परिणाम दुःख रूप और पाप-दुष्कृत का परिणाम सुख रूप में बदल गया? ऐसी बात नहीं है। पुण्य और पाप का परिणाम तो पूर्ववत् आज भी वही है। समझने की बात यह है कि भले ही धर्मात्मा धर्माराधना कर रहे हों, परन्तु वर्तमान में उनके अशुभ कर्मों का उदय है; इस कारण वे परेशानी में हैं। पापात्मा वर्तमान में पापाचरण कर रहे हैं किन्तु अभी उनके सातावेदनीय का प्रबल उदय है, इस कारण वे सुखी हैं। इस वैषम्य से भी मेरी, मेरे अस्तित्व की सिद्धि होती है।

कुछ वर्षों पूर्व समाचार-पत्रों में एक घटना प्रकाशित हुई थी। एक भिश्ती के घर में जन्म लेने वाले लड़के ने अपने पूर्वभव की बातें बताई। उसने कहा—"मै ओसवाल हूँ। जिनधर्मानुयायी हूँ। मुझे धर्मपालसिंह ने तालाब में धक्का दे दिया था, मैं मर गया। अब यहाँ जन्मा हूँ। मेरा घर यहाँ नहीं, नैनीताल में है।" उस बालक ने अपनी धर्मपत्नी व बाल-बच्चों के नाम बताए। गली, मौहल्ला, बाजार और घर की स्थिति भी बताई। खोजबीन की गई तो बातें सही निकली। उसे वहाँ ले जाया गया। उसने अपना घर, अपनी पत्नी, अपने बाल-बच्चों को पहचाना। उसने वह स्थान बताया जहाँ तालाब में उसे धक्का दिया गया था। धर्मपालसिंह सामने आया तो उसने उसे पहचान लिया। घर में एक गुप्त-स्थान में छिपाया धन निकाला व कुछ व्यक्तियों के ऋण-पत्र भी निकाले, जिनका पता किसी को न था।

देखी, परखी, जांची गई इस घटना को भला आप कैसे काल्पनिक कहेंगे? आगम में इस तरह की जानकारी को मति-ज्ञान का भंग कहा जाता है। लाखों-करोड़ों नर-नारियों में से किसी इक्का-दुक्का सरल-आत्मा को ही पूर्वभव की स्मृति हो सकती है, प्रत्येक को नहीं।

एक बार भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गणधर गौतम ने प्रभु से प्रश्न किया—"भंते! मैंने जिन मुमुक्षु-आत्माओं को दीक्षा प्रदान की है, उन साधक-आत्माओं ने कैवल्य की प्राप्ति कर ली, वे आत्मशोधन करते-करते कृतकृत्य हो गए और जन्म-मरण के बंधन से उन्हें मुक्ति मिल गई। आश्चर्य है प्रभो! कि अभी तक आपका यह चरण-किंकर रिक्तता का अनुभव कर रहा है। क्या मेरी साधना-उपासना में कहीं कोई कमी है? क्या मेरा आत्म-शोधन अपूर्ण है? समाधान चाहता हूँ, भंते!"

"न्यूनाधिक साधना-आराधना का प्रश्न नहीं है गौतम! मेरे प्रति तुम्हारा जो राग-भाव है, वही प्रशस्त राग-भाव तुम्हारी साधना में रुकावट का कारण है।" प्रभु ने फरमाया।

प्रवर्तक श्री रमेशमुनिजी म.सा.

"प्रभो ! मेरे मन में आपके प्रति जो प्रगाढ़ राग है, उसका भी कोई कारण अवश्य होगा ?"—गौतम ने पूछा।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने तब गौतम के कई पूर्व-भवों का वृत्तान्त सुनाया और कहा—"गौतम ! तुमने और मैंने कितने ही भव साथ-साथ किए हैं, तुम्हारा और मेरा जन्म-जन्मांतर का पूर्व-परिचय है। और पूर्व का यह परिचय, यह संयोग ही आज रुकावट कर रहा है।"

इसी तरह सुबाहुकुमार के संबंध में गणधर गौतम के अनेक प्रश्न और प्रभु के उत्तर मेरे अस्तित्व के पुष्ट प्रमाण हैं, आगमिक प्रमाणों से मेरे अस्तित्व की सिद्धि के बाद भी कोई संदेह करे, न माने तो मुझे यही कह कर सन्तोष करना पड़ेगा—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ॥"

अर्थात्—जो स्वयं की प्रज्ञा से शून्य हैं, जिनमें सोचने-समझने की क्षमता बिलकुल नहीं है उनके लिए शास्त्र-वचन ठीक उसी प्रकार महत्त्वहीन हैं जिस प्रकार नेत्र-विहीन के लिए दर्पण।

'गीता-दर्शन' में भी मेरी मान्यता को स्वीकृति प्रदान करते हुए श्री कृष्ण उच्चारित करते हैं—

"जब-जब धर्म की अवहेलना होने लगेगी, पापाचरण सीमातीत वृद्धि पा जाएगा तब मेरे भक्तो ! मैं धर्म के अभ्युदय के लिए पुनर्जन्म धारण करूंगा।"

बौद्ध-दर्शन में भी मेरा सम्मानित स्थान है जबकि तत्कालीन बौद्ध-दर्शन नास्तिकता का हामी था। बुद्ध अपने शिष्यों को कहते हैं—

अब से इकराणुवें कल्प पूर्व मेरे द्वारा एक पुरुष की हत्या हो गई थी, उसके कर्म-विपाक से ही भिक्षुओ ! मेरा पैर कांटे से बींधा गया है।"[५]

विभिन्न दर्शन-शास्त्रों के ऐसे अगणित उदाहरण हैं, जिनसे मेरे अस्तित्व की, अनादि-काल से मेरे आत्मा के साथ संबंधों की पुष्टि होती है। स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से सभी धर्म-प्रवर्त्तक मेरे शाश्वत-सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। मुझे पुष्ट करने वाले उन धर्म-प्रवर्त्तकों को भी मैं कहाँ छोड़ता हूँ, जब तक कि वे सर्वज्ञ नहीं बन जाते। वे भी तब तक मेरे चक्रव्यूह के घेरे में फंसे रहते हैं और चतुर्गति रूप संसार में पुनः पुनः जन्म धारण करते रहते हैं। मेरे अस्तित्व के घेरे में सभी संसारी जीव हैं पर उनके पुनः पुनः जन्म-मरण की तरतमता में अंतर है। कोई स्वल्प समय में सैकड़ों जन्म धारण कर लेते हैं तो कुछ दीर्घ-काल तक एक ही 'जीवन-जन्म' व्यतीत करते हैं। कुछ भी हो, घूम-फिरकर सभी को मेरी सत्ता तो स्वीकार करनी ही पड़ती है क्योंकि मेरी सत्ता सार्वभौम है, मेरे सिद्धान्त सार्वजनिक हैं, मेरा अस्तित्व सार्वकालिक है।

अपने बारे में अधिक क्या कहूँ ? वक्तव्य लम्बा हो रहा है, आप लोग ऊब रहे हैं। आप सभी देहधारियों, समस्त प्राणवान् जीवात्माओं के उज्ज्वल भविष्य के प्रति मेरी मंगल-कामना है। मेरा

अनुरोध है कि आप सद्धर्माराधना में रत हों ताकि मुझसे शीघ्र छुटकारा पा सकें। मुझसे छुटकारा प्राप्त करने के लिए आज से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर दें। आपका मेरे इस घेरे से निकल जाना मेरे लिए असीम आनन्द की बात होगी।

संदर्भ—

१. न सा जाइ न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं।
न जाया मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंत सो ॥

२. एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहा कम्मेहिं गच्छई ॥
एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल बुक्कसो।
तओ कीड़ पयगो य, तओ कुंथु पिवीलिआ ॥

३. "Life is an interval between birth and death."

४. "चइऊण देवलोगाओ, उववण्णो माणुसम्मि लोगम्मि।
उवसंत मोहणिज्जो सरइ पोराणियं जाइं ॥"

५. "इत एक नवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तस्य कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि, भिक्षवः ॥"

—शिष्य : मेवाड़भूषण श्री प्रतापमल जी म सा.

जीत-चिन्तन

व्यापारी-वर्ग जब तक हक की कमाई में विश्वास नहीं करेगा तब तक उसका कल्याण सम्भव नहीं है। हक की कमाई फलती है और चोरी की चोर को दलती है, लोक को खलती है। चोर को प्रतिपल दण्ड मिलता रहता है। उसका मन कलंकित होने के कारण सदा सशंकित रहता है और भयभीत रहता है कि कहीं उसका पाप प्रकाश में न आ जाए। जीवन का आनन्द मन की शांति में है, विक्षिप्तता में नहीं। काश! कि व्यापारी वर्ग ने इस रहस्य को समझा होता।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

सर्वज्ञ की सर्वज्ञता

कन्हैयालाल लोढ़ा

सर्वज्ञ का अर्थ है सबको जानना अर्थात् जो सबको जानता है वही सर्वज्ञ है। जैनागम में उल्लेख है कि सबको वही जानता है जो एक को जानता है अथवा जो एक को जानता है वह ही सबको जानता है जैसा कि कहा है—'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणई।'[1]

आचारांग के इस सूत्र का अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि विश्व में जो नियम एक में काम करता है वही नियम सब में काम करता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व में प्राकृतिक विधान (नियम) एक ही है। अतः जो नियम अणु में कार्य कर रहा है, वही नियम ब्रह्माण्ड मे काम कर रहा है। यही नहीं, जो नियम जीवन की एक घटना में काम कर रहा है वही नियम सबके जीवन की, सब घटनाओं में काम करता है। इसीलिए जो प्रकृति के एक नियम को अर्थात् तथ्य को जान लेता है वह प्रकृति के सब तथ्यों को जान लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है। सम्पूर्ण संसार (ब्रह्माण्ड) का संचरण-संसरण एक ही नियम से हो रहा है। यह है गुरुत्वाकर्षण का नियम, आकर्षण-विकर्षण का नियम। यही नियम परमाणु से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में काम करता है। इसी नियम से पूरा संसार बंधा हुआ है। संसार में, जड़ और चेतन में जो संचरण-गति-हलचल हो रही है वह इसी आकर्षण-विकर्षण के नियमानुसार हो रही है। चेतन में वह आकर्षण राग रूप में और विकर्षण द्वेष रूप में प्रकट होता है। इसी राग-द्वेष से जीव बंधन को प्राप्त होकर संसार-परिभ्रमण कर रहा है। राग ही से जीव शरीर और संसार से बंधा हुआ है।

राग-विजय का ज्ञान

आकर्षण (राग) से ही कामना, ममता, अहंता उत्पन्न होती है। कामना से अशांति, ममता से पराधीनता और अहंता से जड़ता उत्पन्न होती है। कामना (आरम्भ) के त्याग से शांति व प्रसन्नता; ममता (मूर्च्छा-परिग्रह) के त्याग से मुक्ति व स्वाधीनता एवं अहंता के त्याग से चिन्मयता व अनन्त-सुख की अभिव्यक्ति होती है। आकर्षण या राग का यह नियम प्रत्येक प्राणी के जीवन की प्रत्येक घटना से जुड़ा हुआ है। इसमें कहीं कोई अपवाद नहीं है क्योंकि प्राकृतिक नियम में अपवाद होते ही नहीं हैं।

---

१. आचारांग अ. ३ उ. ४

अतः जिसे शांति चाहिए उसे कामना, चाह, इच्छा का त्याग करना ही होगा। जिसे स्वाधीनता या मुक्ति चाहिए उसे ममता-परिग्रह का त्याग करना ही पड़ेगा। जिसे अनन्त, अविनाशी, अक्षुण्ण, अव्याबाध सुख चाहिए उसे विनाशी शरीर आदि से तादात्म्य एवं तद्रूपता-रूप अहंता का त्याग करना ही होगा। यह नियम सब प्राणियों पर; भूत, वर्तमान, भविष्य इन सब कालों में समान रूप से लागू होता है।

आकर्षण (राग) का यह नियम जिस प्रकार सजीव प्राणी के जीवन की प्रत्येक घटना से जुड़ा हुआ है उसी प्रकार निर्जीव पदार्थों पर भी घटित होता है। अतः जो एक वस्तु या पदार्थ को या उसकी एक पर्याय (अवस्था) की यथार्थता को पूर्ण जान लेता है वह सब पदार्थों की सब कालों में घटित होने वाली समस्त पर्यायों (अवस्थाओं) की यथार्थता को पूर्ण रूपेण जान लेता है, फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है।

धर्म

आशय यह है कि गुरुत्वाकर्षण (राग-द्वेष) का, गुरुत्व-लघुत्व के पारस्परिक संबंध का यह नियम सब प्राणियों के जीवन की सब घटनाओं पर; सब पदार्थों की सब पर्यायों (अवस्थाओं) पर; भूत, वर्तमान, भविष्य इन सब कालों में सर्वत्र समान रूप से लागू होता है। अतः यह सार्वकालिक, सार्वत्रिक, सार्वजनीन सत्य है। यह परम-सत्य ही धर्म कहा जाता है। धर्म-पुरातन, अद्यतन, नूतन नहीं होता है प्रत्युत सनातन होता है। वीतराग देव द्वारा प्ररूपित धर्म ऐसा ही सनातन-सत्य है, प्राकृतिक विधान है एवं सभी के लिए निज जीवन का स्वयं-सिद्ध-सत्य भी है। इस स्वयं-सिद्ध, स्वभाव-सिद्ध धर्म में कहीं भी तर्क को अवकाश नहीं है। कारण कि यह धर्म या सत्य या तथ्य प्रत्येक घटना में तथा सर्व घटनाओं में समान रूप से अनुस्यूत है। अतः जो प्राणी जीवन की किसी एक घटना में निहित सत्य को पूर्ण जान लेता है वह जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं में अनुस्यूत सत्य को भी जान लेता है।

राग-द्वेष एवं मोह से, कामना-वासना एवं ममता-अहंता से, आरम्भ-परिग्रह एवं विषय-कषाय से अशांति, पराधीनता और दुःख उत्पन्न होता है और इनके त्याग से शांति, मुक्ति, प्रसन्नता की उपलब्धि होती है; यही धर्म है, यही अनुभूत सत्य है और यही नियम है। इस एक नियम के जानने से धर्म या जीवन के सारे नियमों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार संसार के संबंध में एक नियम है कि जो उत्पन्न होता है वह व्यय (नाश) को भी प्राप्त होता है। अर्थात् उस रूप में उसका अस्तित्व नहीं रहता है। उसमें रूपान्तर निरन्तर होता रहता है। यही नियम देश-प्रदेश, परमाणु-स्कन्ध आदि सब पर समान रूप से लागू होता है। स्कंध, परमाणुओं का एवं प्रदेशों का समुदाय मात्र है। यदि परमाणु स्नेह (आकर्षण)-गुण से मुक्त हो जाएँ तो वे बंधन रहित हो स्वतंत्र-स्वाधीन हो जाएंगे। स्कंध का निर्माण ही नहीं होगा। अतः सम्पूर्ण संसार के संचरण में उत्पाद-व्यय, आकर्षण-विकर्षण, स्नेह-रूक्ष का नियम ही काम कर रहा है। जो भी संसार में उत्पन्न होता है उसका विनाश, अदर्शन, लोप, अभाव अवश्यंभावी है। जिसका विनाश, अदर्शन तथा अभाव अवश्यंभावी है उससे राग-द्वेष करना भूल है, प्रमाद है। जहाँ प्रमाद है वहाँ विनाश है। प्रमाद के त्याग में ही विकास निहित है।

जड़ और जंगम, अचेतन और चेतन, अजीव और जीव अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में एक ही नियम काम कर रहा है और वह है स्नेह और रूक्ष का नियम। इसी नियमानुसार स्नेह व रूक्ष से बंधन होता

है। जड़-जगत में, भौतिक जगत में जो नियम (सिद्धांत) गुरुत्वाकर्षण-नियम के नाम से प्रसिद्ध है वही चेतन-जगत में आकर्षण - विकर्षण, राग-द्वेष अथवा मोह के नाम से प्रख्यात है। इस नियम को समझ कर इसके प्रभाव से मुक्त होना ही मुक्ति है। यही सम्पूर्ण ज्ञान का सार है।

संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ नश्वर हैं अतः इनकी प्राप्ति का कोई अर्थ ही नहीं है, सब निरर्थक हैं। स्वरूपतः संसार के सब पदार्थों में एकरूपता है। ये सब एक ही जाति के हैं। अतः उनमें से किसी एक का ज्ञान, सभी का ज्ञान है। ज्ञान मूलतः एक ही है और सनातन है। जो ज्ञान में अन्तर दिखाई देता है वह उस ज्ञान में प्रकाशित होने वाली स्थितियों, अवस्थाओं में है। मूल ज्ञान अभेद-ज्ञान है, निर्विकल्प (तर्करहित) ज्ञान है, अनन्त (अंतरहित-सनातन) ज्ञान है, अशेष (कुछ भी जानना शेष न रहने योग्य) ज्ञान है। अभेद ज्ञान, अनंत ज्ञान एवं अशेष ज्ञान का होना ही सर्वज्ञता है।

गुरुत्वाकर्षण, स्निग्ध-रूक्ष, बंध-उदय (विपाक), मूल-फल, बीज, वृक्ष ये सब एक ही नियम से संचालित सृष्टि के विविध रूप हैं। यही नियम उदय-व्यय (उत्पत्ति-विनाश) में भी देखा जाता है। तथा "जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो" आचारांग का यह सूत्र भी इसी नियम का अनुसरण करता है। जैसी-जैसी बाहर से प्रवृत्ति हुई, भोगों में संचरण हुआ वैसे-वैसे ही भीतर में बंध हुआ, कर्मरूपी बीज का वपन हुआ और भीतर जैसे कर्म के बीज का वपन हुआ, बाहर उदय में, विपाक में भी वैसे ही फल की प्राप्ति हुई। तप के ताप से यदि भीतर सत्ता में स्थित कर्म-बीज को पका दिया जाए तो वह निःसत्व हो जाता है और उसकी फल देने की क्षमता व सामर्थ्य का अंत हो जाता है।

कर्म-क्षय का ज्ञान

ऊपर कह आए हैं कि संपूर्ण संसार में एक ही नियम काम कर रहा है। उस नियम को चाहे कर्म-सिद्धान्त कहें, चाहे प्राकृतिक विधान कहें, चाहे स्वभाव कहें, चाहे धर्म कहें अथवा किसी अन्य नाम से पुकारें; ये सब एक ही नियम के विविध रूप हैं, नाम हैं। अतः जो एक नियम (तथ्य) को जान लेता है वह सब को जान लेता है फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। संसार की अनित्यता व असारता को भी वह जान लेता है इसलिए उसे संसार में कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती है। जिसे कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती, उसके लिए कुछ करना भी शेष नहीं रहता। जानना, करना और पाना शेष नहीं रहना ही घाति-कर्मों का क्षय है। ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय के क्षय से जानना व अनुभव करना शेष नहीं रहता है, मोहनीय कर्म के क्षय से करना शेष नहीं रहता है, अंतराय कर्म के क्षय से पाना व भोगना शेष नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त घाति-कर्मों का क्षय हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने साधक के लिए अनेक ग्रंथों का पठन करना अनिवार्य नहीं बताया है। जघन्य ज्ञान केवल पाँच समिति, तीन गुप्ति का ही अनिवार्य बताया है। कारण कि शेष ज्ञान की उपयोगिता व प्रयोजन समितिगुप्ति-पालन रूप सम्यक्-प्रवृत्ति में सजग रहना ही है।

त्रिपदी का ज्ञान

संसार की समस्त वस्तुएँ पुद्गल-निर्मित हैं। उत्पाद, व्यय, सड़न, गलन, विध्वंसन इन पुद्गलों का स्वभाव है। अतः संसार की समस्त वस्तुओं में जातीय एकता है। जातीय एकता होने से जो नियम, जो सच्चाई एक वस्तु पर लागू होती है वही समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। वही नियम संसार में

सर्वत्र व्याप्त है। इतना ही नहीं उस नियम से अन्य सब नियम भी जुड़े हुए हैं, उस नियम से सब घटनाएँ भी जुड़ी हुई हैं। अतः जो किसी भी एक नियम को, एक वस्तु की सच्चाई को वास्तविकता को जान लेता है, वह समस्त संसार की वास्तविकता को पहचान लेता है। जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष चावल की हांडी में एक चावल को देखकर उस हांडी के समस्त चावलों के विषय में यह जान लेता है कि ये चावल पक गए हैं या कच्चे हैं अथवा अधपक्के हैं, (उसे एक चावल के ज्ञान से सब चावलों का ज्ञान हो जाता है) उसी प्रकार विवेकी पुरुष किसी एक वस्तु की, किसी एक घटना की, किसी एक स्थिति की सच्चाई को जानकर संसार की समस्त वस्तुओं, घटनाओं व स्थितियों का ज्ञान कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

संसार में जो भी वस्तु दिखाई देती है वह उत्पन्न होती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नष्ट भी होती है। उत्पाद-व्यय के इस ज्ञान में ही संपूर्ण संसार का ज्ञान समाया हुआ है। जिस वस्तु का नाश अवश्यंभावी हो उससे प्राणी को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जो प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है वह भी रहता नहीं है। परिणाम में शून्य ही शेष रहता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के भोग से कुछ भी उपलब्धि नहीं होती है। अतः भोगों से बचने में ही प्राणी का कल्याण है। नश्वर पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही अविनश्वर, अविनाशी से संबंध स्थापित हो जाता है एवं अभिन्नता तथा स्वरूप में स्वतः स्थिरता हो जाती है अर्थात् वह ध्रुवचारी हो जाता है। यही आचारांग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी है जो भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण ज्ञान के सार-रूप में फरमाई है। शेष ज्ञान इसी ज्ञान का विस्तार मात्र है जो गणधरों द्वारा निरूपित है।

त्रिपदी ज्ञान : धर्मध्यान

जिसने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप त्रिपदी के तथ्य को जान लिया, हृदयंगम कर लिया, उसने सब कुछ जान लिया अर्थात् फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है; कारण कि संसार में जितनी भी दृश्य-अदृश्य वस्तुएँ हैं वे सब उत्पन्न हुई हैं अतः अनित्य हैं। जो अनित्य हैं उनका विनाश व वियोग अवश्यंभावी है। जिनका विनाश अवश्यंभावी है वे 'पर' हैं उनको अपना मानना, उन पर विश्वास करना धोखा है। उनका आश्रय लेना भूल है, उचित नहीं है अर्थात् वे शरणभूत नहीं हैं। संसार और शरीर को अशरण रूप समझ कर जो इनका आश्रय त्याग देता है, इनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है वह स्वाधीन हो जाता है। जो स्वाधीन हो जाता है वह मुक्त हो जाता है। ऐसा मुक्त-पुरुष संसार के सब दुःखों से भी मुक्ति पा लेता है। वह शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने से देहातीत हो जाता है। देहातीत हो जाने से देह से सम्बन्धित जन्म, जरा, रोग, मरण आदि दुःखों से भी वह मुक्त हो जाता है। देहातीत हो जाने से भवातीत भी हो जाता है। भवातीत हो जाने से उसे देह धारण करने, जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः वह पुनः देह धारण नहीं करता है। लोक का सम्बन्ध देह से ही है अतः देहातीत होने से वह लोकातीत हो जाता है। लोकातीत होने से लोक से संबंधित अभाव, तनाव, दबाव, आदि सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। 'जिस गाँव नहीं जाना, उसका रास्ता पूछना व्यर्थ है'—इस कहावतानुसार जो लोकातीत हो गया उसे लोक से संबंधित जानकारी करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। लोक तथा लोक में स्थित पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता तो उसको है जो लोक के पदार्थों का भोग करना चाहता है अर्थात् भोगी जीव को लोक के ज्ञान की आवश्यकता होती है। उसकी दृष्टि

है। जड़-जगत में, भौतिक जगत में जो नियम (सिद्धांत) गुरुत्वाकर्पण-नियम के नाम से प्रसिद्ध है वही चेतन-जगत में आकर्षण - विकर्पण, राग-द्वेप अथवा मोह के नाम से प्रख्यात हैं। इस नियम को समझ कर इसके प्रभाव से मुक्त होना ही मुक्ति है। यही सम्पूर्ण ज्ञान का सार है।

संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ नश्वर हैं अतः इनकी प्राप्ति का कोई अर्थ ही नहीं है, सब निरर्थक हैं। स्वरूपतः संसार के सब पदार्थों में एकरूपता है। ये सब एक ही जाति के हैं। अतः उनमें से किसी एक का ज्ञान, सभी का ज्ञान है। ज्ञान मूलतः एक ही है और सनातन है। जो ज्ञान में अन्तर दिखाई देता है वह उस ज्ञान में प्रकाशित होने वाली स्थितियों, अवस्थाओं में है। मूल ज्ञान अभेद-ज्ञान है, निर्विकल्प (तर्करहित) ज्ञान है, अनन्त (अंतरहित-सनातन) ज्ञान है, अशेप (कुछ भी जानना शेप न रहने योग्य) ज्ञान है। अभेद ज्ञान, अनंत ज्ञान एवं अशेप ज्ञान का होना ही सर्वज्ञता है।

गुरुत्वाकर्पण, स्निग्ध-रूक्ष, वंध-उदय (विपाक), मूल-फल, वीज, वृक्ष ये सब एक ही नियम से संचालित सृष्टि के विविध रूप हैं। यही नियम उदय-व्यय (उत्पत्ति-विनाश) में भी देखा जाता है। तथा "जहा अंतो तहा वाहिं, जहा वाहिं तहा अंतो" आचारांग का यह सूत्र भी इसी नियम का अनुसरण करता है। जैसी-जैसी वाहर से प्रवृत्ति हुई, भोगों में संचरण हुआ वैसे-वैसे ही भीतर में वंध हुआ, कर्मरूपी वीज का वपन हुआ और भीतर जैसे कर्म के वीज का वपन हुआ, वाहर उदय में, विपाक में भी वैसे ही फल की प्राप्ति हुई। तप के ताप से यदि भीतर सत्ता में स्थित कर्म-वीज को पका दिया जाए तो वह निःसत्त्व हो जाता है और उसकी फल देने की क्षमता व सामर्थ्य का अंत हो जाता है।

कर्म-क्षय का ज्ञान

ऊपर कह आए हैं कि संपूर्ण संसार में एक ही नियम काम कर रहा है। उस नियम को चाहे कर्म-सिद्धान्त कहें, चाहे प्राकृतिक विधान कहें, चाहे स्वभाव कहें, चाहे धर्म कहें अथवा किसी अन्य नाम से पुकारें; ये सब एक ही नियम के विविध रूप हैं, नाम हैं। अतः जो एक नियम (तथ्य) को जान लेता है वह सब को जान लेता है फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेप नहीं रहता। संसार की अनित्यता व असारता को भी वह जान लेता है इसलिए उसे संसार में कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती है। जिसे कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती, उसके लिए कुछ करना भी शेप नहीं रहता। जानना, करना और पाना शेष नहीं रहना ही घाति-कर्मो का क्षय है। ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय के क्षय से जानना व अनुभव करना शेप नहीं रहता है, मोहनीय कर्म के क्षय से करना शेष नहीं रहता है, अंतराय कर्म के क्षय से पाना व भोगना शेष नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त घाति-कर्मों का क्षय हो जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने साधक के लिए अनेक ग्रंथों का पठन करना अनिवार्य नहीं बताया है। जघन्य ज्ञान केवल पाँच समिति, तीन गुप्ति का ही अनिवार्य वताया है। कारण कि शेष ज्ञान की उपयोगिता व प्रयोजन समितिगुप्ति-पालन रूप सम्यक्-प्रवृत्ति में सजग रहना ही है।

त्रिपदी का ज्ञान

संसार की समस्त वस्तुएँ पुद्गल-निर्मित हैं। उत्पाद, व्यय, सड़न, गलन, विध्वंसन इन पुद्गलों का स्वभाव है। अतः संसार की समस्त वस्तुओं में जातीय एकता है। जातीय एकता होने से जो नियम, जो सच्चाई एक वस्तु पर लागू होती है वही समस्त वस्तुओं पर लागू होती है। वही नियम संसार में

सर्वत्र व्याप्त है। इतना ही नहीं उस नियम से अन्य सब नियम भी जुड़े हुए हैं, उस नियम से सब घटनाएँ भी जुड़ी हुई हैं। अतः जो किसी भी एक नियम को, एक वस्तु की सच्चाई को वास्तविकता को जान लेता है, वह समस्त संसार की वास्तविकता को पहचान लेता है। जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष चावल की हांडी में एक चावल को देखकर उस हांडी के समस्त चावलों के विषय में यह जान लेता है कि ये चावल पक गए हैं या कच्चे हैं अथवा अधपक्के हैं, (उसे एक चावल के ज्ञान से सब चावलों का ज्ञान हो जाता है) उसी प्रकार विवेकी पुरुष किसी एक वस्तु की, किसी एक घटना की, किसी एक स्थिति की सच्चाई को जानकर संसार की समस्त वस्तुओं, घटनाओं व स्थितियों का ज्ञान कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

संसार में जो भी वस्तु दिखाई देती है वह उत्पन्न होती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नष्ट भी होती है। उत्पाद-व्यय के इस ज्ञान में ही संपूर्ण संसार का ज्ञान समाया हुआ है। जिस वस्तु का नाश अवश्यंभावी हो उससे प्राणी को कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। जो प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है वह भी रहता नहीं है। परिणाम में शून्य ही शेष रहता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों के भोग से कुछ भी उपलब्धि नहीं होती है। अतः भोगों से बचने में ही प्राणी का कल्याण है। नश्वर पदार्थों से सम्बन्ध-विच्छेद करते ही अविनश्वर, अविनाशी से संबंध स्थापित हो जाता है एवं अभिन्नता तथा स्वरूप में स्वतः स्थिरता हो जाती है अर्थात् वह ध्रुवचारी हो जाता है। यही आचारांग सूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी है जो भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण ज्ञान के सार-रूप में फरमाई है। शेष ज्ञान इसी ज्ञान का विस्तार मात्र है जो गणधरों द्वारा निरूपित है।

त्रिपदी ज्ञान : धर्मध्यान

जिसने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप त्रिपदी के तथ्य को जान लिया, हृदयंगम कर लिया, उसने सब कुछ जान लिया अर्थात् फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है; कारण कि संसार में जितनी भी दृश्य-अदृश्य वस्तुएँ हैं वे सब उत्पन्न हुई हैं अतः अनित्य हैं। जो अनित्य हैं उनका विनाश व वियोग अवश्यंभावी है। जिनका विनाश अवश्यंभावी है वे 'पर' हैं उनको अपना मानना, उन पर विश्वास करना धोखा है। उनका आश्रय लेना भूल है, उचित नहीं है अर्थात् वे शरणभूत नहीं हैं। संसार और शरीर को अशरण रूप समझ कर जो इनका आश्रय त्याग देता है, इनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है वह स्वाधीन हो जाता है। जो स्वाधीन हो जाता है वह मुक्त हो जाता है। ऐसा मुक्त-पुरुष संसार के सब दुःखों से भी मुक्ति पा लेता है। वह शरीर से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने से देहातीत हो जाता है। देहातीत हो जाने से देह से सम्बन्धित जन्म, जरा, रोग, मरण आदि दुःखों से भी वह मुक्त हो जाता है। देहातीत हो जाने से भवातीत भी हो जाता है। भवातीत हो जाने से उसे देह धारण करने, जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः वह पुनः देह धारण नहीं करता है। लोक का सम्बन्ध देह से ही है अतः देहातीत होने से वह लोकातीत हो जाता है। लोकातीत होने से लोक से संबंधित अभाव, तनाव, दवाव, आदि सब दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। 'जिस गाँव नहीं जाना, उसका रास्ता पूछना व्यर्थ है'—इस कहावतानुसार जो लोकातीत हो गया उसे लोक से संबंधित जानकारी करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। लोक तथा लोक में स्थित पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता तो उसको है जो लोक के पदार्थों का भोग करना चाहता है अर्थात् भोगी जीव को लोक के ज्ञान की आवश्यकता होती है। उसकी दृष्टि

लोक में स्थित पदार्थ तथा संसार की घटनाओं में रमी रहती है। सच्चा ज्ञानी लौकिक नहीं होता है, लोकातीत होता है। उसके लिए लोक में स्थित सब पदार्थ व संसार की सब घटनाएँ निरर्थक हैं। वह उनमें भेद नहीं करता है। उसे सब अवस्थाएँ एक-सी व व्यर्थ लगती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है, उसे अशेष ज्ञान हो जाता है। अशेष ज्ञान का होना ही 'सर्वज्ञता' है। सर्वज्ञ या वीतराग वही होता है जो अनित्य पदार्थों से अपना संबंध तोड़ लेता है, उनसे अपने को भिन्न अनुभव कर लेता है, फिर उसका नित्य-अविनाशी परमात्मत्व से एकत्व हो जाता है। इस प्रकार अनित्यता के ज्ञान में अर्थात् अनित्य भावनामयी प्रज्ञा में आश्रय लेने योग्य कोई नहीं होने से अशरण-भावना; संसार दुःखमय होने से संसार-भावना और अविनाशी से एकता स्थापित होने रूप एकत्व-भावना समाहित है। इन भावनाओं रूप ज्ञान में संसार का स्वरूप, स्वभाव व धर्म प्रकट होता है। धर्म रूप होने से ही इन भावनाओं को धर्मध्यान में स्थान दिया गया है।

अनन्त ज्ञान

उत्पाद-व्यय-युक्त पदार्थ विनाशी हैं, नश्वर हैं, क्षर हैं। अतः इन पदार्थों का ज्ञान क्षर ज्ञान है, विनाशी ज्ञान है। निज का ध्रुव-स्वरूप अविनाशी है, अक्षर है। अतः अपने शाश्वत अस्तित्व का ज्ञान अक्षर ज्ञान है, अविनाशी ज्ञान है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्राणी मात्र को है, यहाँ तक कि एक शरीर में रहने वाले अनन्त नीगोद जीवों को भी न्यूनाधिक रूप में यह ज्ञान रहता है अतः उनमें भी अक्षरज्ञान का किंचित् अंश रहता ही है। अक्षर-अविनाशी, ध्रुव का पूर्ण ज्ञान उस साधक को ही संभव है जो क्षर-पदार्थ देह आदि से अपना संबंध पूर्ण रूपेण विच्छेद कर लेता है। यह नियम है कि उत्पाद-व्यय-युक्त क्षर-विनाशी पदार्थों से संबंध हटते ही साधक अपने अक्षर-ध्रुव-अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसे अक्षर, अविनाशी का अनुभव व बोध (ज्ञान) सदैव के लिए हो जाता है। जो अक्षर है, वह अविनाशी है और जो अविनाशी है वह अनन्त है। अनन्त का ज्ञान भी अनन्त रूप होता है। इस दृष्टि से जो अपने आपको पूर्ण जानता है, अपने में पूर्ण स्थित हो जाता है, वह अनंत ज्ञान का धनी हो जाता है। त्रिपदी का ज्ञाता साधक किसी एक वस्तु या व्यक्ति के वियोग को देखकर संसार की समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों के संयोग में वियोग के दर्शन कर लेता है। किसी एक वस्तु के नाश से, एक व्यक्ति के मरण से, संसार की समस्त वस्तुओं के नाश का, अपने तथा समस्त अन्य व्यक्तियों के जीवन में मरण का दर्शन कर लेता है अर्थात् अनित्यता का दर्शन कर लेता है। किसी एक विषय के साथ जुड़े क्षीणता, जड़ता, शक्ति-हीनता, अभाव आदि दुःख का अनुभव कर समस्त विषय-सुखों में दुःख का दर्शन कर लेता है। यह नियम है कि जो समस्त संयोगों में वियोग के दर्शन कर लेता है वह सब संयोगों से परे (असंग) हो जाता है फिर उसका संयोग-वियोग से सम्बन्ध टूट जाता है तदनन्तर उसका अविनाशी से नित्य योग हो जाता है। जो समस्त वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना में अनित्यता का दर्शन कर लेता है, वह उस अनित्यता से परे हो जाता है फिर वह ध्रौव्य का, अमरत्व का अनुभव कर लेता है। जो विषय-सुख में दुःख का दर्शन (अनुभव) कर लेता है, वह सुख-दुःख से परे हो सच्चिदानन्द का अनुभव कर लेता है। वह पराश्रय का, पर की शरण का त्याग करके, दूसरे शब्दों में परिग्रह का एवं पराधीनता का त्याग करके स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है। जो विनाशी है वही अमर है, जो अमर है वही मुक्त है, जो मुक्त है वही सच्चिदानंद है। अविनाशित्व, अमरत्व,

मुक्तत्व, पूर्णत्व आदि गुणों में जातीय एकता है। अतः इनमें से किसी भी एक गुण की पूर्णता से अन्य समस्त गुणों का आविर्भाव, उपलब्धि स्वतः हो जाती है। सब गुण परस्पर ओतप्रोत हो जाते हैं, भिन्नता मिट जाती है और वह सर्वज्ञ, वीतराग, परमात्मा हो जाता है। उदाहरणार्थ—केवल मात्र एक अनित्यता के बोध से माता मरुदेवी वीतराग हो सर्वज्ञ हो गई। एक मात्र अशरणत्व के बोध से ही अनाथी मुनि वीतराग-सर्वज्ञ हो गए। एक मात्र संसार की असारता, दुःखमयता के बोध से शालिभद्र तथा एकत्व के बोध से नमिराज ऋषि वीतराग-सर्वज्ञ हो गए।

जो वीतराग हो जाता है वह निर्विकार हो जाता है, शुद्ध हो जाता है। जो निर्विकार-शुद्ध हो जाता है उसका ज्ञान भी निर्विकार व शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसके ज्ञान में किसी प्रकार की मिलावट या दोष नहीं रहता है। जिसमें किंचित् भी दोष या मिलावट न हो उसे शुद्ध या केवल (ज्ञान) कहते हैं। इस दृष्टि से वीतराग - अवस्था का जो निर्दोष-शुद्ध ज्ञान है, वह केवल ज्ञान कहा जाता है।

सारांश यह है कि संसार की किसी भी एक सच्चाई का पूर्ण बोध व बोध का प्रभाव हो जाने पर संसार और शरीर से विरक्ति हो जाती है, परिणाम - स्वरूप साधक वीतराग हो जाता है। जो वीतराग हो जाता है उसका संसार से संबंध विच्छेद हो जाता है फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है और उसे अभेद ज्ञान, अशेष ज्ञान, अनंत ज्ञान, केवल ज्ञान हो जाता है, वह सर्वज्ञ बन जाता है।

—साधना भवन
बजाज नगर, जयपुर (राज.)

जीत-चिंतन

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावों को जान सके वह सब वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। इसी भाव को पूर्णज्ञान भी कहते हैं और 'केवलज्ञान' इसी का दूसरा नाम है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान अनन्त और असीम है। केवलज्ञान, ज्ञान की उच्चतम स्थिति का प्रतीक है। जिस आत्मा को इस ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है या दूसरे शब्दों में जो जीव पूर्ण ज्ञानमय बन जाता है, वह तीनों लोकों की और तीनों कालों की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक ही समय में जान सकता है।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

लोक में स्थित पदार्थ तथा संसार की घटनाओ में रमी रहती है। सच्चा ज्ञानी लौकिक नहीं होता है, लोकातीत होता है। उसके लिए लोक में स्थित सब पदार्थ व संसार की सब घटनाएँ निरर्थक हैं। वह उनमें भेद नहीं करता है। उसे सब अवस्थाएँ एक-सी व व्यर्थ लगती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है, उसे अशेष ज्ञान हो जाता है। अशेष ज्ञान का होना ही 'सर्वज्ञता' है। सर्वज्ञ या वीतराग वही होता है जो अनित्य पदार्थों से अपना संबंध तोड़ लेता है, उनसे अपने को भिन्न अनुभव कर लेता है, फिर उसका नित्य-अविनाशी परमात्मत्व से एकत्व हो जाता है। इस प्रकार अनित्यता के ज्ञान में अर्थात् अनित्य भावनामयी प्रज्ञा में आश्रय लेने योग्य कोई नहीं होने से अशरण-भावना; संसार दुःखमय होने से संसार-भावना और अविनाशी से एकता स्थापित होने रूप एकत्व-भावना समाहित है। इन भावनाओं रूप ज्ञान में संसार का स्वरूप, स्वभाव व धर्म प्रकट होता है। धर्म रूप होने से ही इन भावनाओं को धर्मध्यान में स्थान दिया गया है।

अनन्त ज्ञान

उत्पाद-व्यय-युक्त पदार्थ विनाशी हैं, नश्वर हैं, क्षर है। अतः इन पदार्थों का ज्ञान क्षर ज्ञान है, विनाशी ज्ञान है। निज का ध्रुव-स्वरूप अविनाशी है, अक्षर हैं। अतः अपने शाश्वत अस्तित्व का ज्ञान अक्षर ज्ञान है, अविनाशी ज्ञान है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्राणी मात्र को है, यहाँ तक कि एक शरीर में रहने वाले अनन्त नीगोद जीवों को भी न्यूनाधिक रूप में यह ज्ञान रहता है अतः उनमें भी अक्षरज्ञान का किंचित् अंश रहता ही है। अक्षर-अविनाशी, ध्रुव का पूर्ण ज्ञान उस साधक को ही संभव है जो क्षर-पदार्थ देह आदि से अपना संबंध पूर्ण रूपेण विच्छेद कर लेता है। यह नियम है कि उत्पाद-व्यय-युक्त क्षर-विनाशी पदार्थों से संबंध हटते ही साधक अपने अक्षर-ध्रुव-अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसे अक्षर, अविनाशी का अनुभव व बोध (ज्ञान) सदैव के लिए हो जाता है। जो अक्षर है, वह अविनाशी है और जो अविनाशी है वह अनन्त है। अनन्त का ज्ञान भी अनन्त रूप होता है। इस दृष्टि से जो अपने आपको पूर्ण जानता है, अपने में पूर्ण स्थित हो जाता है, वह अनंत ज्ञान का धनी हो जाता है। त्रिपदी का ज्ञाता साधक किसी एक वस्तु या व्यक्ति के वियोग को देखकर संसार की समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों के संयोग में वियोग के दर्शन कर लेता है। किसी एक वस्तु के नाश से, एक व्यक्ति के मरण से, संसार की समस्त वस्तुओं के नाश का, अपने तथा समस्त अन्य व्यक्तियों के जीवन में मरण का दर्शन कर लेता है अर्थात् अनित्यता का दर्शन कर लेता है। किसी एक विषय के साथ जुड़े क्षीणता, जड़ता, शक्ति-हीनता, अभाव आदि दुःख का अनुभव कर समस्त विषय-सुखों में दुःख का दर्शन कर लेता है। यह नियम है कि जो समस्त संयोगों में वियोग के दर्शन कर लेता है वह सब संयोगों से परे (असंग) हो जाता है फिर उसका संयोग-वियोग से सम्बन्ध टूट जाता है तदनन्तर उसका अविनाशी से नित्य योग हो जाता है। जो समस्त वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, घटना में अनित्यता का दर्शन कर लेता है, वह उस अनित्यता से परे हो जाता है फिर वह ध्रौव्य का, अमरत्व का अनुभव कर लेता है। जो विषय - सुख में दुःख का दर्शन (अनुभव) कर लेता है, वह सुख-दुःख से परे हो सच्चिदानन्द का अनुभव कर लेता है। वह पराश्रय का, पर की शरण का त्याग करके, दूसरे शब्दों में परिग्रह का एवं पराधीनता का त्याग करके स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है। जो विनाशी है वही अमर है, जो अमर है वही मुक्त है, जो मुक्त है वही सच्चिदानंद है। अविनाशित्व, अमरत्व,

मुक्तत्व, पूर्णत्व आदि गुणों में जातीय एकता है। अतः इनमें से किसी भी एक गुण की पूर्णता से अन्य समस्त गुणों का आविर्भाव, उपलब्धि स्वतः हो जाती है। सब गुण परस्पर ओतप्रोत हो जाते हैं, भिन्नता मिट जाती है और वह सर्वज्ञ, वीतराग, परमात्मा हो जाता है। उदाहरणार्थ—केवल मात्र एक अनित्यता के बोध से माता मरुदेवी वीतराग हो सर्वज्ञ हो गई। एक मात्र अशरणत्व के बोध से ही अनाथी मुनि वीतराग-सर्वज्ञ हो गए। एक मात्र संसार की असारता, दुःखमयता के बोध से शालिभद्र तथा एकत्व के बोध से नमिराज ऋषि वीतराग-सर्वज्ञ हो गए।

जो वीतराग हो जाता है वह निर्विकार हो जाता है, शुद्ध हो जाता है। जो निर्विकार-शुद्ध हो जाता है उसका ज्ञान भी निर्विकार व शुद्ध हो जाता है अर्थात् उसके ज्ञान में किसी प्रकार की मिलावट या दोष नहीं रहता है। जिसमें किंचित् भी दोष या मिलावट न हो उसे शुद्ध या केवल (ज्ञान) कहते हैं। इस दृष्टि से वीतराग - अवस्था का जो निर्दोष-शुद्ध ज्ञान है, वह केवल ज्ञान कहा जाता है।

सारांश यह है कि संसार की किसी भी एक सच्चाई का पूर्ण बोध व बोध का प्रभाव हो जाने पर संसार और शरीर से विरक्ति हो जाती है, परिणाम - स्वरूप साधक वीतराग हो जाता है। जो वीतराग हो जाता है उसका संसार से संबंध विच्छेद हो जाता है फिर उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है और उसे अभेद ज्ञान, अशेष ज्ञान, अनंत ज्ञान, केवल ज्ञान हो जाता है, वह सर्वज्ञ बन जाता है।

—साधना भवन
बजाज नगर, जयपुर (राज.)

जीत-चिंतन

यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावों को जान सके वह सब वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। इसी भाव को पूर्णज्ञान भी कहते हैं और 'केवलज्ञान' इसी का दूसरा नाम है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान अनन्त और असीम है। केवलज्ञान, ज्ञान की उच्चतम स्थिति का प्रतीक है। जिस आत्मा को इस ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है या दूसरे शब्दों में जो जीव पूर्ण ज्ञानमय बन जाता है, वह तीनों लोकों की और तीनों कालों की सम्पूर्ण वस्तुओं को एक ही समय में जान सकता है।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

पाँच समवायों पर आधारित क्रमबद्ध-पर्याय

जसकरण डागा

जैन-दर्शन अकर्त्तावादी आस्तिक दर्शन है। अकर्त्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं कि इस जगत् का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है, वरन् यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता, धर्त्ता या हर्त्ता नहीं है। यह समग्र जगत् षड्द्रव्यात्मक है तथा इन सभी द्रव्यों का परिणमन स्वयमेव संचालित है, जिसमें पाँच समवाय हेतु हैं। वे पाँच समवाय हैं—(१) काल (२) स्वभाव (३) नियति (४) उद्यम और (५) कर्म। द्रव्यों की पर्याय के इस स्वयमेव व्यवस्थित परिणमन को जैन दर्शन में 'क्रमबद्ध पर्याय' के नाम से उद्घोषित किया गया है। इसे दूसरे शब्दों में 'पाँच समवायों के समन्वय से होने वाला व्यवस्थित परिणाम' भी कहा जा सकता है। इसे सही रूप में समझने हेतु विशिष्ट चिन्तन और गीतार्थ-ज्ञानियों के सान्निध्य की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त के रहस्य को समझे विना यह अरुचिकर व अनुपयोगी लगता है। दिगम्बर साहित्य में इस विषय में कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं किन्तु श्वेताम्बर आगमों या ग्रंथों में एतद्-विषयक कोई स्पष्ट सामग्री देखने में नहीं आई है। जैन-दर्शन की महत्त्वपूर्ण विचारधारा से संबन्धित तथा आत्मार्थियों के लिए उपयोगी होने के कारण इस सिद्धान्त पर यहाँ संक्षेप में विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

जैन-दर्शन एक विशुद्ध आस्तिक दर्शन है क्योंकि उसमें आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, मुक्ति आदि को स्वीकारा गया है। ईश्वर को अनन्त ज्ञानवान् और अनन्त-शक्तिवान् मानते हुए भी उसे सर्वशक्तिवान् (जगत् का कर्त्ता धर्त्ता) नहीं मानना, यह जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, दृश्य-अदृश्य, जड़-चेतन, रूपी-अरूपी आदि त्रिलोकवर्ती सभी द्रव्यों के त्रिकालवर्ती परिणमन को, यहाँ तक कि अलोक को भी एक साथ हस्तामलकवत् जानता व देखता है; क्योंकि आत्मा के 'केवल-ज्ञान' एवं 'केवल दर्शन' गुण का प्रभाव ही ऐसा है[1]।

उदाहरण के लिए प्रथम तीर्थंकर केवलज्ञानी व केवलदर्शनी, सर्वज्ञ श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने समय के त्रिदण्डी मरीचि के अनेक आगामी भवों का विवरण देते हुए 'क्रोडा-क्रोडी सागर' की अति दीर्घ अवधि के बाद अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर महावीर बनकर उसके मोक्ष जाने की बात कही। भविष्य में होने वाले चौबीस तीर्थंकरों के नाम व उनके जीवन-विवरण भी दिए। सर्वज्ञ आदीश्वर ने अपने

सम्पूर्ण ज्ञान (कैवल्य) के प्रकाश में जो प्रकाशित किया, ठीक वही और वैसा ही हुआ। इससे स्पष्ट है कि भविष्य में जैसा परिणमन होने वाला है, वह सब सर्वज्ञों के ज्ञान में यथावत् झलकता है।

इसी तरह भगवान् अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण महाराज के पूछने पर द्वारिका का भविष्य बतलाया। वह कब, किस प्रकार और किस निमित्त से नष्ट होगी—सब कुछ सहज स्पष्ट कर दिया। इस पर त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण वासुदेव एवं द्वारिका के निवासियों ने उस द्वारिका को नष्ट होने से बचाने के लिए सभी संभव प्रयत्न किए, प्रयास किए, किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। यहाँ तक कि दैवी-उपद्रव एवं विनाश न हो पाए, इसके लिए अमोघ उपाय—'आयंबिल तप' का अनुष्ठान भी चलाया किन्तु अंततः द्वारिका नगरी का पतन उसी नियत समय पर, उसी नियत ढंग से और उसी नियत निमित्त से हुआ, जैसा कि सर्वज्ञ प्रभु ने अपने ज्ञान से स्पष्ट किया था।

ऐसे ही अन्य अनेक उद्धरण, उदाहरण आगमों में उपलब्ध हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि जिस तरह भूतकाल की घटनाएँ इतिहास में क्रमबद्ध वर्णित होती हैं, उसी तरह भावी-भाव भी सर्वज्ञों के ज्ञानालोक में दर्पण के प्रतिबिम्बवत् व्यवस्थित रूप में युगपद् झलकते हैं। इससे सिद्ध है कि जो कुछ भूत में हुआ, वर्तमान में हो रहा है और भविष्य में होने वाला है वह सब पर्याय-परिणमन के नियम से व्यवस्थित है, क्रमबद्ध है एवं निश्चित है। उसमें परिवर्तन, अपवर्तन या परिवर्द्धन की शक्ति ईश्वर (सर्वज्ञाता-द्रष्टा, वीतराग) में भी नहीं है। यही कारण है कि जैनदर्शन में ईश्वर को अनंत शक्ति-सम्पन्न मानते हुए भी सर्वशक्ति-संचालक नहीं माना गया है।

क्रमबद्ध पर्याय और पाँच समवाय का सम्बन्ध

'क्रमबद्ध' का अर्थ मात्र नियति नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण से होने वाले संयुक्त परिणमन को अथवा काल, स्वभाव, नियति, उद्यम एवं पुरुषार्थ—इन पाँच समवायों की उपलब्धि से जो समन्वित परिणाम प्रकट होता है उसको 'क्रमबद्ध' कहा गया है क्योंकि वह सर्वज्ञों के ज्ञान में वैसा ही व्यवस्थित झलकता है। जैनदर्शन में किसी भी कार्य की सिद्धि में (चाहे वह मोक्ष-प्राप्ति ही क्यों न हो) इन पाँच समवायों की उपलब्धि अनिवार्य है। ये पाँच समवाय अनुकूल होंगे तभी कार्य-सिद्धि होगी। जैन दर्शन में पाँच समवायों की समन्वित क्रिया ही "क्रमबद्ध सिद्धान्त" का आधार है। इन पाँच में से कभी कोई एक ही समवाय अपने बल पर कार्य-सिद्धि कर दे, ऐसा कभी हो नहीं सकता।[2]

पाँचों समवायों की समन्विति से ही कार्यसिद्धि होती है,[3] इसकी पुष्टि के लिए यहाँ दो दृष्टान्त प्रस्तुत हैं—

(i) आम्रवृक्ष का रोपण

आम की गुठली में आम पैदा करने की शक्ति निहित है। यह उसका स्वभाव है। उस गुठली के अंकुरण के लिए यथोचित खाद व पानी देना होगा—यही पुरुषार्थ है। निश्चित काल व्यतीत होने पर ही वह आम्रवृक्ष होगा, उसमें आम्रोत्पत्ति की योग्यता आएगी। निर्धारित काल पूरा हो गया, गुठली आम्रवृक्ष बन गई, आम्रवृक्ष आम्रोत्पत्ति-योग्य बन गया इस पर भी शुभ-कर्म की अनुकूलता होगी तभी उस वृक्ष पर आम्रफल लगेंगे। एक बात और, यदि इन सबके होने पर भी नियति विपरीत हो तो

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूचाल, तूफान आदि प्राकृतिक-प्रकोप संभाव्य हैं, जिनके कारण वह विनाश को प्राप्त हो सकता है, फलित होने से पूर्व भी। हाँ, नियति भी मददगार हो, अनुकूल हो तो आम्रवृक्ष पुष्पित, फलित होगा। आम्रमञ्जरियाँ आएंगी, उस पर आम लगेंगे और वे पककर रसाल भी बनेंगे।

(ii) मोक्ष-प्राप्ति का पथ

जीव का स्वभाव है, सिद्धि। यदि ऐसा है तो सारे जीव एक साथ मोक्ष क्यों नहीं चले जाते? सभी आत्मा से परमात्मा क्यों नहीं बन जाते? उत्तर स्पष्ट है—जीव-राशि दो प्रकार की है, व्यवहार और अव्यवहार। 'काललब्धि' को प्राप्त करने पर ही जीव अव्यवहारराशि से व्यवहारराशि में आते हैं। जो जीव व्यवहार-राशि में आते हैं, उन्हें ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है पर इनमें भी स्वभाव से भव्य जीव ही मोक्षाधिकारी हैं। इन भव्य जीवों को भी नियति की अनुकूलता होनी चाहिए। जैसे युगलिया-क्षेत्र में उत्पन्न भव्य-जीवों को नियति की अनुकूलता नहीं होती तो वे मोक्ष के अधिकारी भी नहीं हैं। श्रेणिक महाराज को काल, स्वभाव व नियति—इन तीनों की अनुकूलता तो थी पर वे मोक्ष नहीं जा सके क्योंकि वे अनुकूल पुरुषार्थ करने में अक्षम रहे। श्री शालिभद्रजी को काल, स्वभाव, नियति व पुरुषार्थ—इन चारों की अनुकूलता होने पर भी कर्मों की अनुकूलता नहीं थी अर्थात् उनके कर्म क्षय नहीं हुए। कर्म की इस प्रतिकूलता से वे मोक्ष-प्राप्ति में पीछे रह गए जबकि उन्हीं के साथ दीक्षित उनके संसार-पक्षीय बहनोई श्री धन्नाजी ने इन पाँचों समवायों की समन्वित अनुकूलता से उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इन पाँचों समवायों में भी 'पुरुषार्थ' प्रधान है क्योंकि जो भी कार्य होते हैं, वे सब पूर्ण होने से पूर्व तदनुकूल पुरुषार्थ से युक्त होते हैं।

सर्वज्ञ कारक नहीं, मात्र ज्ञापक हैं

जो छद्मस्थों के ज्ञान में स्पष्ट नहीं है, निश्चित नहीं है, व्यवस्थित नहीं है; वही सब सर्वज्ञों के लिए स्पष्ट, निश्चित एवं व्यवस्थित है। किन्तु सर्वज्ञों के सब जान लेने से प्रत्येक वस्तु की पर्यायें या उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण आदि न तो नियत हुए हैं और न नियत होते हैं। वस्तुतः जो भी पूर्व नियत है और जो प्रगट होने वाला है उसे ही ज्ञान में देखकर सर्वज्ञों द्वारा क्रमबद्ध व्यक्त किया गया है। इस प्रकार सर्वज्ञ उस क्रमबद्ध परिणमन या फल के कारक नहीं, मात्र ज्ञापक हैं।

छद्मस्थ एवं सर्वज्ञ का ज्ञान

क्षयोपशम-जन्य होने से छद्मस्थों का ज्ञान सर्वज्ञों की अपेक्षा परोक्ष, अविशद, सीमित एवं एकदेशीय होता है। यह एकदेशीय ज्ञान भी नियम-पूर्वक होता है। जैसे—'यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निः' अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ हो वहाँ-वहाँ अग्नि का अनुमान। अनुभवादि से जो परोक्ष-ज्ञान के नियम निर्धारित हैं, उन्हीं के आधार पर छद्मस्थ का ज्ञान भविष्य की जानकारी प्राप्त करने में गति करता है। जैसे ज्योतिष-शास्त्र गणित के नियमों के आधार पर हजारों वर्ष पूर्व ग्रहण आदि की सही घोषणा कर देता है।

सर्वज्ञों का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, अनन्त होता है और अपने आप में परिपूर्ण होता है। वे बिना किसी माध्यम या नियम के सब कुछ जानते-देखते हैं।

जब परोक्ष-ज्ञानाधारित एक सामान्य ज्योतिषी की भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध हो जाती है तो सर्वज्ञों का प्रत्यक्ष-ज्ञान कैसे असत्य हो सकता है ? सर्वज्ञता और 'कर्मबद्ध पर्याय' दोनों ही परस्पर अनुबद्ध हैं। किन्तु इनमें कारण-कार्य का संबंध न होकर मात्र 'द्योतक-द्योत्य'' का संबंध है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्ञेय के अनुसार ज्ञान होता है, न कि ज्ञान के अनुसार ज्ञेय।

पर्याय परिणमन

निरन्तर परिणमनशील इस जगत् के सभी परिणमन क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित हैं। स्थूल-दृष्टि से जिनमें ऐसा दिखाई नहीं देता, गहराई व सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर उनमें भी क्रमिक अवस्था भासित होती है। उदाहरणार्थ—सिनेमा-नाटकादि में जो दृश्य आकस्मिक एवं अव्यवस्थित दिखाई देते हैं वे भी पूर्व नियोजित एवं व्यवस्थित ही होते हैं और दर्शकों को असमंजस में डालने, आकर्षण पैदा करने या भयादि पैदा करने हेतु अकस्मात् दिखाए जाते हैं।

प्रत्येक द्रव्य की परिणमन-व्यवस्था नियत ही नहीं स्वाधीन भी है, किसी अन्य के अधीन नहीं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के परिणमन में हस्तक्षेप सम्भव नहीं। नियत-व्यवस्था से अभिप्राय एक नियमित क्रम से है अर्थात् जिस द्रव्य की जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थ से जैसी होनी है; उस द्रव्य की वह पर्याय उस काल में, उस निमित्त व पुरुषार्थ से वैसी ही होती है, अन्य प्रकार से नहीं। केवलज्ञान-गम्य 'क्रमबद्ध पर्याय' ऐसा ही है।

'नियमसार' गाथा १५९ के अनुसार "केवलज्ञानी व्यवहारनय से सब जानते हैं और निश्चयनय से आत्मा को ही जानते हैं।" मेरे कुछ बंधुगण इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि केवली भगवान् समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते-देखते हैं, ऐसा मानना उचित नहीं।

मैं यहाँ उन बंधुओं से कहना चाहूंगा कि उनका ऐसा चिन्तन अनुपयुक्त है। गाथा का शास्त्रीय भाव समझने के लिए 'शब्द, नय, मत, आगम, भावार्थ' सभी प्रकार से भलीभांति विचार करना अपेक्षित है। जहाँ जिस अपेक्षा से जो कथन किया गया है, वहाँ उसी अपेक्षा से उसे समझना चाहिए। उक्त गाथा का भावार्थ वस्तुतः इस प्रकार है कि केवली 'पर' को व्यवहार से जानते हैं अर्थात् तन्मय होकर नहीं जानते–देखते, जबकि 'स्व' को तन्मय होकर (स्वस्थित होने के कारण) जानते - देखते हैं। श्रीमद् रायचन्द्रजी ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है—

"केवल आत्म स्वरूपे, वर्ते अक्षयज्ञान।
वह कहिए केवलदशा, देह दशा निर्वाण ॥"

इसे समझने के लिए सूर्य-पृथ्वी का यह रूपक उपयोगी सिद्ध होगा—

आत्मा रूपी सूर्य के केवल-ज्ञान रूप प्रकाश से पृथ्वी रूप यह लोक, बीच का कर्म रूप आवरण हट जाने से अव्याबाध रूप से आलोकित होता है, जिससे आत्मारूपी सूर्य से लोक की कोई वस्तु छिपी नहीं रहती फिर भी निश्चय में आत्मा अपने में ही, ('स्व' में ही) स्वस्थित होता है।

क्रमबद्ध में परिवर्तन संभव नहीं

जितने तीनों काल के समय हैं, प्रत्येक द्रव्य की उतनी ही पर्यायें हैं और एक-एक पर्याय, एक-एक समय में निर्धारित है। यदि एक भी पर्याय को अपने स्थान (समय) से हटाया जाएगा तो वह स्थान (समय)

रिक्त हो जाएगा। उस स्थान (समय) की पूर्ति हेतु अन्य दूसरी पर्याय कहाँ से आएगी ? पर्यायों का आपस में एक-दूसरे के स्थान पर स्थानांतरण भी संभव नहीं है कारण कि वे सब क्रम से ही समय-समय पर प्रगट होती हैं।

क्रमबद्ध पर्याय की प्रतीति

'क्रमबद्ध पर्याय' की सम्यक् प्रतीति स्व-स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं हो सकती। जब तक क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धान्त की सम्यक् प्रतीति नहीं होती, जीव अपनी इच्छानुसार पर्यायों के फेर-फार का, परिवर्तन करने का मिथ्या-विचार करता रहता है। पर्यायों के फेरफार करने के भार से बोझिल एवं विकृत बनी दृष्टि में ऐसी शक्ति कहाँ कि वह स्व-स्वभाव की ओर मुड़ सके, अन्तर्दृष्टा बन सके। जब वह इस मिथ्या विचार का त्याग कर अन्तर्मुखी बन जाता है तभी क्रमबद्ध पर्याय की सही, सम्यक्-प्रतीति उसके ध्यान में आती है। ऐसा या तो किसी ज्ञानी सत्पुरुष की संगति से होता है या फिर स्वयं के निर्मल क्षयोपशम-ज्ञान से।

क्रमबद्धपर्याय 'नियतिवाद' नहीं

नियतिवाद एकमात्र भवितव्यता का आश्रय लेकर पुरुपार्थ आदि अन्य समवायों की उपेक्षा करता है, जिससे अकर्मण्यता, स्वच्छन्दता और दुराचार का पोषण होता है। किन्तु क्रमबद्ध-पर्याय का सिद्धांत पुरुषार्थ आदि सभी समवायों को तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, गुण, पर्याय आदि को व सहभाव-निमित्तों को भी साथ लेकर चलता है तथा इन सबके द्वारा समन्वित होकर प्रकट होने वाले परिणाम को इंगित करता है। वस्तुतः द्रव्य-परिणमन की क्रमबद्धता वस्तु-स्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुपार्थ, काल-लब्धि व भवितव्यता—इन पाँचों समवायों से समवेत एक सम्यग् व्यवस्था है, और इनसे निरपेक्ष जो भी सिद्धान्त या व्यवस्थाएँ हैं वे सब मिथ्या हैं। तीन सौ तिरसठ विभिन्न दर्शन, जो सत्यांश से युक्त हैं फिर भी निरपेक्ष होने से, एकान्त होने से, मिथ्या-दर्शन/पाखण्ड-मत की कोटि में आते हैं। नियतिवाद भी एकान्त और निरपेक्ष होने से मिथ्या है। इस नियतिवाद का सहारा लेकर प्रमादी व्यक्ति सम्यक् पुरुषार्थ की उपेक्षा करता है और दुराचारी व्यक्ति अपने दुराचार का उसे आधार बनाता हुआ उसके फल से बचने का प्रयास करता है। इसी प्रकार अन्य समवायों का भी यदि एकान्त और निरपेक्ष रूप में दुरुपयोग किया जाए तो वे भी मिथ्या सिद्ध हो सकते हैं। वस्तु-स्वरूप के यथार्थ को सम्यक् प्रकार से समझकर व्यक्ति स्वस्वरूप में अवस्थित होने के लिए तभी अग्रसर हो सकेगा जब उसे पाँचों समवाय से समन्वित 'क्रमबद्धपर्याय" का माध्यम मिलेगा। मिथ्या-विचार पर उसकी जो केन्द्रित प्रवृत्ति है, कर्तृत्व के अहं के गलित होने से ही छूटेगी और तभी उसकी रुचि निवृत्ति-मार्ग में अग्रसर होगी। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को उपलब्ध करवाने का मुख्य-साधन निवृत्ति-मार्ग ही है। प्रतीत तो यह होता है कि निवृत्ति-मार्ग का पथिक निरुद्यमी है, पुरुषार्थ-हीन है पर ऐसा वस्तुतः होता नहीं। बाह्य वस्तुओं में और 'पर' स्वरूप में निरुद्यमी होते हुए भी वह अन्तर में निष्क्रिय नहीं होता। वह तो अन्तर के अनंत सम्यक्-पुरुपार्थ का आश्रय लेकर स्वस्वरूप में अवस्थित होने में सक्षम बनता है। यही तो सच्चा-धर्म है, परम-पुरुषार्थ है। तत्त्ववेत्ता अरविन्द घोष कहते हैं—"ईश्वर (आत्मा का शुद्ध स्वरूप) में अपने को तद्गत करना तथा स्वयं उसको आत्मगत करके उसे सर्वत्र अनुभव करना ही अपना सच्चा पुरुषार्थ है और यही अपना स्वराज्य भी है[४]।" इस आत्मिक स्वराज्य की उपलब्धि पर, पर्याय-परिणमन से होने वाले

सुख-दुःख प्रभावहीन हो जाते हैं। अतः यह एक असाधारण उपलब्धि है। इसे प्राप्त करने के लिए एक प्रयोगात्मक शिक्षा बड़ी उपयोगी है। मैं एक बार राजकार्य से बीकानेर गया था। वहाँ पर सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रावक-रत्न श्री अगरचन्द जी नाहटा से तत्त्व-वार्ता हुई। उन्होंने स्वस्वरूप की उपलब्धि के तीन सूत्रों पर चिन्तन कर उन्हें सदा ध्यान में रखने के लिए कहा। वे तीन सूत्र इस प्रकार हैं—(१) जो होता है, वह होने दो, (२) जो आता है उसे आने दो और (३) जो जाता है उसे जाने दो। इन तीन सूत्रों की अनुपालना से आसक्ति-भाव घटाया जाना चाहिए, जिससे सहज ही ज्ञाता-द्रष्टा की उत्तम भूमिका प्राप्त की जा सके। 'क्रमबद्धपर्याय' का परिज्ञान भी इस भूमिका की उपलब्धि हेतु महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात को विशेष ध्यान में लेने की है कि 'क्रमबद्धपर्याय' किसी भी समवाय का लोपक नहीं है, विशेषतः सम्यक् पुरुषार्थ का जो इन सभी में प्रमुख है।

क्रमबद्ध-पर्याय और पुरुषार्थ

क्रमबद्ध-पर्याय सिद्धांत का सम्यक् निर्णय स्वीकार करने के पश्चात् 'पर' में कर्त्तावुद्धि का मिथ्या-अभिमान नष्ट हो जाता है और तव निरन्तर ज्ञायकपने की अनुभूति का सच्चा स्वपुरुषार्थ प्रगट होता है। पर्याय-दृष्टि दृढ़ होती है अतः व्यक्ति 'स्व'-सन्मुखी वन जाता है।

यदि कोई व्यक्ति निज स्वभाव की उपलब्धि हेतु इस सिद्धान्त को पढ़कर सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र में आगे प्रयत्न न करे, त्रि-रत्न की उपेक्षा करे तो समझना चाहिए कि उसने क्रमवद्ध-पर्याय को भली प्रकार से नहीं समझा है। ज्ञान-स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमवद्ध-पर्याय के सम्यक् निर्णय के वाद जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हो जाती है वहाँ एक समय में उस पर्याय में पाँचों समवायों की प्रतीति होने लगती है। क्रमवद्ध-पर्याय कभी 'पुरुषार्थ-हीन' होने के लिए प्रेरित नहीं करता। कोई यह मानकर कि 'जो होना है वही होगा', पुरुषार्थ न करे तो इस अकर्मण्यता से उत्पन्न भावों का विपाक रूप फल (वर्तमान में या भविष्य में) भुगतने के लिए उसको उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार इस सिद्धान्त के सर्वांगीण पहलुओं पर भलीभांति गहन चिन्तन-मनन कर सम्यक् श्रद्धा-पूर्वक इसे मानें तो पुरुषार्थ-हीन होने या एकान्त नियतिवादी अथवा भाग्यवादी वन अकर्मण्य होने का भय ही समाप्त हो जाएगा।

समस्त जगत् व्यवस्थित है

जिसकी वुद्धि अव्यवस्थित है, उसे यह जगत् भी अव्यवस्थित दिखाई देगा। जैसे चलती ट्रेन में वैठे व्यक्ति को वाह्य धरती भी चलती हुई नज़र आती है। वस्तुतः जगत् तो व्यवस्थित ही है, आवश्यकता अपनी वुद्धि को व्यवस्थित कर जगत् की व्यवस्था को जानने-पहचानने की है। मोह एवं अज्ञान के कारण अव्यवस्थित और मूढ़ मति जन, जगत् को व्यवस्थित करने के विकल्पों में ही उलझे रहते हैं और ज्यों-ज्यों सुलझने का प्रयत्न करते हैं, विपरीत मति के कारण अधिकाधिक उलझते जाते हैं। एक कवि ने कितनी सुन्दर वात कही है—

"अरे सुधारक जगत की, चिन्ता मत कर यार !
तेरा जगत तूं स्वयं है, पहले इसे सुधार ॥"

किन्तु कर्त्तव्य के मिथ्या अहंकार से ग्रसित, 'पर' में कर्तृत्व-वुद्धि रखने वाले की मति कैसे व्यवस्थित हो ? वह तो जगत् का व्यवस्थापक वनने की धुन में "पर्यायमूढ़" ही वना रह जाता है।

जसकरण डागा

क्रमबद्ध पर्याय अनेकान्त की दृष्टि में

अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म-युक्त। प्रत्येक वस्तु अनेकात्मक है। जैसे किसी एक ही मकान को चारों दिशाओं से देखें तथा फोटो लें तो हर तरफ अलग-अलग नजारा होगा, अलग-अलग फोटो आएंगे। इसी तरह अलग-अलग अपेक्षाओं से एक वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों/गुणों को दर्शाना अनेकान्त है। जैन दर्शन अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकारता है, यह उचित भी है। सर्वथा अनेकान्तवादी होना भी एकान्त हो जाता है। जैन दर्शन न तो सर्वथा अनेकान्तवादी है और न सर्वथा एकान्तवादी। वह अनेकान्तवादी है तो कथंचित् एकान्तवादी भी। इसी को कहते हैं अनेकान्त में एकान्त तथा एकान्त में भी अनेकान्त। उदाहरणार्थ 'स्वयंभू स्तोत्र' श्लोक १०३ में (अरनाथस्तुति श्लोक १८) में कहा गया है—"प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है, क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त स्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्त स्वरूप सिद्ध होती है।" जैन दर्शनानुसार एकांत भी दो प्रकार का है—एक सम्यग्, दूसरा मिथ्या। निरपेक्ष-नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष-नय सम्यग् एकान्त। इसी तरह अनेकान्त भी दो प्रकार का है— सम्यग् और मिथ्या। सम्यग् अनेकान्त सापेक्ष नयों का समूह रूप श्रुत प्रमाण है तो मिथ्या अनेकान्त निरपेक्ष नयों का समूह मात्र।

'क्रमबद्ध पर्याय' सम्यग् एकान्त है, जो कि सम्यग् अनेकान्त का पूरक है, विरोधी नहीं। किन्तु एकान्त नियतिवाद में सिद्धान्त का स्वच्छन्दता-पूर्वक पोषण होने से 'क्रमबद्ध पर्याय' मिथ्या एकान्त बन गया है।

मात्र पर्याय-दृष्टि वाला मूढ़ है

'प्रवचन गाथा सार' ९३ में लिखा है—'पज्जय मूढ़ाहि पर समया' अर्थात् पर समय में मात्र पर्याय पर दृष्टि रखने वाला पर्यायमूढ़ है। क्रमबद्ध-पर्याय का सम्यक् निर्णय लेना हो तो ज्ञायक-स्वभाव का आश्रय लेना ही होगा। क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय करना जरूरी है, पर क्रमबद्ध-पर्याय के आश्रय की जरूरत नहीं है। जो भी निर्णय होगा द्रव्य के आश्रय से होगा, पर्याय के आश्रय से नहीं। आश्रय लेने योग्य तो मात्र अपना (स्व) ज्ञायक-स्वभाव ही है या व्यवहार में देव-गुरु-धर्म हैं। अनन्त भव करने वाले जीव को ऐसी सच्ची श्रद्धा नहीं होती क्योंकि यह तो जन्म-मरण का अभाव करने वाली है। जो निकट भव्य-जीव हैं, लघु-कर्मी जीव हैं व ज्ञान के निर्मल क्षयोपशम वाले जीव हैं; उन्हीं को इस पर श्रद्धा होती है। जो जीव निकट भव्य (शुक्ल-पक्षी) हैं पर जिनका क्षयोपशम निर्मल नहीं है, उनकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख (ज्ञायकोन्मुख) नहीं हो पाती अतः वे भी क्रमबद्ध-पर्याय के सिद्धान्त को सम्यक् रूपेण समझने में असमर्थ रहते हैं।

'क्रमबद्ध' के अनुसार काल भी नियत है

कुछ बंधु 'क्रमबद्ध' में 'द्रव्य, क्षेत्र व भाव नियत हैं'— ऐसा तो मानते हैं पर काल को नहीं। वे कहते हैं—"काल को भी नियत मानने से पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा।" किन्तु यह कथन भी सत्य से परे है। काल को यदि नियत नहीं माना जाए तो 'काललब्धि' जिसका पूर्व में यहाँ उल्लेख किया जा चुका है, कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन से अधिक समय रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाएगा

और बिना उसे पूर्ण किए भी मुक्ति हो जाएगी। काल के नियत होने से पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं होता कारण कि काल की नियतता में भी पुरुषार्थ करना होता है, जिससे उसकी सार्थकता व महत्ता स्पष्ट है। जैसे किसान उचित समय देखकर बीज बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है, इस पर भी जो काल अनाज पैदा होने व पकने में लगना है, उसमें कमी कैसे हो सकती है ?

क्रमबद्ध-निर्णय से लाभ

(१) मति व्यवस्थित हो सन्तुलित रहती है।

(२) मिथ्या कर्तृत्व का अहंकार नष्ट हो जाता है।

(३) सहज 'ज्ञाता-द्रष्टा' बनने का पुरुषार्थ प्रकट होता है।

(४) 'पर' में फेरफार करने की पर्याय-मूढ़ता वाली बुद्धि समाप्त हो जाती है।

(५) अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होने के साथ-साथ अपनी अनंत-शक्ति का अनुभव भी होता है।

(६) आत्मा निज के शुद्ध-स्वरूप का आश्रय लेकर वीतराग-परिणति में वृद्धि कर स्वयं पूर्ण वीतराग बन जाता है।

(७) मिथ्यात्व का पोषण करने वाला जो मिथ्या-पुरुषार्थ है वह भी गल जाता है तथा आत्मोन्मुखी बनाने वाला सम्यक् पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

उपसंहार

पाँचों समवायों के समन्वित रूप पर आधारित एवं व्यवस्थित ज्ञान का प्ररूपक यह क्रमबद्धपर्याय जैनदर्शन का एक विलक्षण किन्तु महान् गूढ़तम दर्शन-सिद्धान्त है। काल-प्रभाव से इसके विशिष्ट व्याख्याता आज उपलब्ध नहीं हैं। न ही आगमों में इसके विषय में विशेष उल्लेख मिलता है। दिगम्बर जैन-ग्रंथों में तो इसका उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है पर अव्यवस्थित धारणाओं के साथ और वह भी पूर्ण रूप से नहीं। जो कुछ उपलब्ध है, उसकी भी खींचातानी हो रही है फलस्वरूप उसका सदुपयोग नहीं हो पा रहा है। आचार्य विद्यासागर जी के शब्दों में—'क्रमबद्ध पर्याय को आज देखने के लिए नहीं, दिखाने के लिए प्रकट किया जा रहा है। दर्शन जो अपने लिए, अपनी आत्मा के लिए, आत्म-विकास के लिए और आत्मानुभूति के लिए होता है; उस दर्शन के अनुसार यदि क्रमबद्ध पर्याय हो जाए तो उद्धार हो जाए। किन्तु दर्शन के स्थान पर प्रदर्शन रह गया है अर्थात् विशेष रूप से देखना तो अलग रख दिया गया है उसके स्थान पर विशेष रूप से दिखाना चारों ओर हो रहा है। प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी आज होने लगा है जिसमें विशेष रूप से दिखलाना ही एक मात्र ध्येय है।"[५]

वस्तुतः क्रमबद्ध-पर्याय एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिसे इसकी सम्यक् प्रतीति अंतर से हो जाती है उसे स्व-स्वभाव में अवस्थित होने की अनुपम-कला सहज ही उपलब्ध हो सकती है। स्वयं से संबंधित करके ही इस सिद्धान्त को समझा जा सकता है। श्रद्धा-विहीन बुद्धि-जीवियों एवं भारी-कर्मी दीर्घ-संसारी जीवों के लिए यह सिद्धान्त विष की तरह अनर्थ का हेतु भी हो सकता है। इस अपेक्षा से ऐसा आभास होता है कि दृष्टिवाद की तरह क्रमबद्ध का गहन ज्ञान भी विलुप्त हो गया हो। वर्तमान युग में दिगम्बर परम्परा के स्व. पूज्य कानजी स्वामी ने इस विषय पर काफी विवेचन मुमुक्षु-गणों के लिए साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह बात भिन्न है कि स्वामीजी के व्यवहार-आचरण एवं क्रिया-कलापों की

क्रमबद्ध पर्याय अनेकान्त की दृष्टि में

अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म-युक्त। प्रत्येक वस्तु अनेकात्मक है। जैसे किसी एक ही मकान को चारों दिशाओं से देखें तथा फोटो लें तो हर तरफ अलग-अलग नजारा होगा, अलग-अलग फोटो आएंगे। इसी तरह अलग-अलग अपेक्षाओं से एक वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों/गुणों को दर्शाना अनेकान्त है। जैन दर्शन अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकारता है, यह उचित भी है। सर्वथा अनेकान्तवादी होना भी एकान्त हो जाता है। जैन दर्शन न तो सर्वथा अनेकान्तवादी है और न सर्वथा एकान्तवादी। वह अनेकान्तवादी है तो कथंचित् एकान्तवादी भी। इसी को कहते हैं अनेकान्त में एकान्त तथा एकान्त में भी अनेकान्त। उदाहरणार्थ 'स्वयंभू स्तोत्र' श्लोक १०३ में (अरनाथस्तुति श्लोक १८) में कहा गया है—"प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है, क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त स्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्त स्वरूप सिद्ध होती है।" जैन दर्शनानुसार एकांत भी दो प्रकार का है—एक सम्यग्, दूसरा मिथ्या। निरपेक्ष-नय मिथ्या एकान्त है और सापेक्ष-नय सम्यग् एकान्त। इसी तरह अनेकान्त भी दो प्रकार का है— सम्यग् और मिथ्या। सम्यग् अनेकान्त सापेक्ष नयों का समूह रूप श्रुत प्रमाण है तो मिथ्या अनेकान्त निरपेक्ष नयों का समूह मात्र।

'क्रमबद्ध पर्याय' सम्यग् एकान्त है, जो कि सम्यग् अनेकान्त का पूरक है, विरोधी नहीं। किन्तु एकान्त नियतिवाद में सिद्धान्त का स्वच्छन्दता-पूर्वक पोषण होने से 'क्रमबद्ध पर्याय' मिथ्या एकान्त बन गया है।

मात्र पर्याय-दृष्टि वाला मूढ़ है

'प्रवचन गाथा सार' ९३ में लिखा है—'पज्जय मूढ़ाहि पर समया' अर्थात् पर समय में मात्र पर्याय पर दृष्टि रखने वाला पर्यायमूढ़ है। क्रमबद्ध-पर्याय का सम्यक् निर्णय लेना हो तो ज्ञायक-स्वभाव का आश्रय लेना ही होगा। क्रमबद्ध-पर्याय का निर्णय करना जरूरी है, पर क्रमबद्ध-पर्याय के आश्रय की जरूरत नहीं है। जो भी निर्णय होगा द्रव्य के आश्रय से होगा, पर्याय के आश्रय से नहीं। आश्रय लेने योग्य तो मात्र अपना (स्व) ज्ञायक-स्वभाव ही है या व्यवहार में देव-गुरु-धर्म हैं। अनन्त भव करने वाले जीव को ऐसी सच्ची श्रद्धा नहीं होती क्योंकि यह तो जन्म-मरण का अभाव करने वाली है। जो निकट भव्य-जीव हैं, लघु-कर्मी जीव हैं व ज्ञान के निर्मल क्षयोपशम वाले जीव हैं; उन्हीं को इस पर श्रद्धा होती है। जो जीव निकट भव्य (शुक्ल-पक्षी) हैं पर जिनका क्षयोपशम निर्मल नहीं है, उनकी दृष्टि ज्ञायक के सन्मुख (ज्ञायकोन्मुख) नहीं हो पाती अतः वे भी क्रमबद्ध-पर्याय के सिद्धान्त को सम्यक् रूपेण समझने में असमर्थ रहते हैं।

'क्रमबद्ध' के अनुसार काल भी नियत है

कुछ बंधु 'क्रमबद्ध' में 'द्रव्य, क्षेत्र व भाव नियत हैं'— ऐसा तो मानते हैं पर काल को नहीं। वे कहते हैं—"काल को भी नियत मानने से पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा।" किन्तु यह कथन भी सत्य से परे है। काल को यदि नियत नहीं माना जाए तो 'काललब्धि' जिसका पूर्व में यहाँ उल्लेख किया जा चुका है, कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन से अधिक समय रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जाएगा

और बिना उसे पूर्ण किए भी मुक्ति हो जाएगी। काल के नियत होने से पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं होता कारण कि काल की नियतता में भी पुरुषार्थ करना होता है, जिससे उसकी सार्थकता व महत्ता स्पष्ट है। जैसे किसान उचित समय देखकर बीज बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है, इस पर भी जो काल अनाज पैदा होने व पकने में लगना है, उसमें कमी कैसे हो सकती है?

क्रमबद्ध-निर्णय से लाभ

(१) मति व्यवस्थित हो सन्तुलित रहती है।

(२) मिथ्या कर्तृत्व का अहंकार नष्ट हो जाता है।

(३) सहज 'ज्ञाता-द्रष्टा' बनने का पुरुषार्थ प्रकट होता है।

(४) 'पर' में फेरफार करने की पर्याय-मूढ़ता वाली बुद्धि समाप्त हो जाती है।

(५) अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होने के साथ-साथ अपनी अनंत-शक्ति का अनुभव भी होता है।

(६) आत्मा निज के शुद्ध-स्वरूप का आश्रय लेकर वीतराग-परिणति में वृद्धि कर स्वयं पूर्ण वीतराग बन जाता है।

(७) मिथ्यात्व का पोषण करने वाला जो मिथ्या-पुरुषार्थ है वह भी गल जाता है तथा आत्मोन्मुखी बनाने वाला सम्यक् पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

उपसंहार

पाँचों समवायों के समन्वित रूप पर आधारित एवं व्यवस्थित ज्ञान का प्ररूपक यह क्रमबद्धपर्याय जैनदर्शन का एक विलक्षण किन्तु महान् गूढ़तम दर्शन-सिद्धान्त है। काल-प्रभाव से इसके विशिष्ट व्याख्याता आज उपलब्ध नहीं हैं। न ही आगमों में इसके विषय में विशेष उल्लेख मिलता है। दिगम्बर जैन-ग्रंथों में तो इसका उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है पर अव्यवस्थित धारणाओं के साथ और वह भी पूर्ण रूप से नहीं। जो कुछ उपलब्ध है, उसकी भी खींचातानी हो रही है फलस्वरूप उसका सदुपयोग नहीं हो पा रहा है। आचार्य विद्यासागर जी के शब्दों में—'क्रमबद्ध पर्याय को आज देखने के लिए नहीं, दिखाने के लिए प्रकट किया जा रहा है। दर्शन जो अपने लिए, अपनी आत्मा के लिए, आत्म-विकास के लिए और आत्मानुभूति के लिए होता है; उस दर्शन के अनुसार यदि क्रमबद्ध पर्याय हो जाए तो उद्धार हो जाए। किन्तु दर्शन के स्थान पर प्रदर्शन रह गया है अर्थात् विशेष रूप से देखना तो अलग रख दिया गया है उसके स्थान पर विशेष रूप से दिखाना चारों ओर हो रहा है। प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी आज होने लगा है जिसमें विशेष रूप से दिखलाना ही एक मात्र ध्येय है।"[५]

वस्तुतः क्रमबद्ध-पर्याय एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिसे इसकी सम्यक् प्रतीति अंतर से हो जाती है उसे स्व-स्वभाव में अवस्थित होने की अनुपम-कला सहज ही उपलब्ध हो सकती है। स्वयं से संबंधित करके ही इस सिद्धान्त को समझा जा सकता है। श्रद्धा-विहीन बुद्धि-जीवियों एवं भारी-कर्मी दीर्घ-संसारी जीवों के लिए यह सिद्धान्त विष की तरह अनर्थ का हेतु भी हो सकता है। इस अपेक्षा से ऐसा आभास होता है कि दृष्टिवाद की तरह क्रमबद्ध का गहन ज्ञान भी विलुप्त हो गया हो। वर्तमान युग में दिगम्बर परम्परा के स्व. पूज्य क़ानजी स्वामी ने इस विषय पर काफी विवेचन मुमुक्षु-गणों के लिए साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह बात भिन्न है कि स्वामीजी के व्यवहार-आचरण एवं क्रिया-कलापों की

पद्धति में मतभेद और भिन्नता रही हो। मैं डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल का भी आभारी हूँ जिनकी पुस्तक 'क्रमबद्ध-पर्याय' से हमें इस लेख को लिखने की प्रेरणा मिली है।

अंत में जैनदर्शन के विशिष्ट विद्वानों से निवेदन है कि वे इस विषय को किसी एक परम्परा का न मानकर इसकी उपेक्षा न करें और इस पर सम्पूर्ण वाङ्मय के अध्ययन से गवेषणात्मक चिंतन-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करें। यह जिनशासन की तथा जैन वाङ्मय की एक विशिष्ट सेवा होगी। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस लेख पर अपने-अपने विचार भी अवश्य प्रेषित करें।

डागा सदन
संघपुरा मोहल्ला
टोंक (राजस्थान)

१- ठाणांग सूत्र ५/३/४६३, कर्मग्रन्थ भाग-१ गाथा-४ और तत्त्वार्थ सूत्र १/२६
२. जैनत्व की झाँकी, पृष्ठ १३३
३. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग) पृ. २५७-२५८
४. ज्ञान-गंगा, पृष्ठ ४२२
५. हिंसा-विरोध ८-९/८०

जीत-चिन्तन

रस निकल जाने पर जैसे इक्षु-दण्ड या इख निःसत्व छिलकों के रूप में अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकल जाने पर खट्टी छाछ बाकी रह जाती है और तिलों से तेल निकल जाने पर जैसे नीरस खल बाकी रह जाती है; ठीक उसी प्रकार शरीर से वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर निःसत्व-शक्तिहीन-तेजहीन और अल्पायु बन जाता है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जहां जीवन वरदान था, वहां उसके अभाव में जीवन अभिशाप बन जाता है। हमें बड़े खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमान पीढ़ी के लोगों में, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवकों में ब्रह्मचर्य की भावना लुप्त होती जा रही है। काम-वासना को भड़काने वाले द्रव्यों (मद्य का सेवन, नशे की गोलियों का प्रयोग, गांजा-अफीम, बीड़ी-सिगरेट आदि का खाना-पीना) के सेवन से उनके शरीर जर्जरित, असाध्य रोगाक्रान्त, अशान्त और क्लान्त हो रहे हैं। प्रमाद, अकालमृत्यु और आत्महत्याएं काम के अतिमात्र सेवन के ही परिणाम हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ब्रह्मचर्य के भंग के दुष्परिणाम को प्रत्यक्ष देखते हुए भी किसी की आंखें खुल नहीं रही हैं। सब पागलपन के अन्धकार में कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। आसन्न-मृत्यु वाले व्यक्ति को जिस प्रकार दीपक का प्रकाश नहीं सुहाता, ठीक उसी प्रकार व्यसनग्रस्त आज के नवयुवकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा रुचिकर प्रतीत नहीं होती। जब तक वर्तमान पीढ़ी के लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को नहीं समझते, तब तक वे स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर रूपी सम्पत्ति कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

जैनमत में तंत्र-मंत्रवाद

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

'मंत्र' के मर्मज्ञों की धारणा है कि सृष्टि वाक् शक्ति का ही रूपान्तरण है—'वागेव विश्व भुवनानि जज्ञे'—वाक् से सारी सृष्टि का उद्भव है। रचनात्मकता और स्पन्दात्मकता के आधार पर निर्मित साम्यवश पराशक्ति को वागात्मक कहा गया है—वैसे वह विश्वोत्तीर्ण दशा में स्पन्दातीत होने से अनामा भी है। वैज्ञानिकों की भांति ये शक्तिवादी आध्यात्मिक भी मानते हैं कि पूर्ण शक्ति अव्यय है और समष्टि हो या व्यष्टि—सभी शक्ति या शक्ति-व्यूहात्मक है। प्रत्येक पदार्थ शक्तिव्यूह है—जिसे शब्दतन्मात्र या निरतिशय शब्द कहा जाता है। यही निरतिशय शब्द पदार्थ का बीजमंत्र है। साधना से जिसने अपनी श्रवणशक्ति इतनी विकसित करली है कि शब्द के उस निरतिशय रूप का साक्षात्कार कर ले--तो वह जब चाहे उसकी सृष्टि कर सकता है। जैसे वाणी का निरतिशय और प्रकृत रूप है, वैसे ही श्रवण-सामर्थ्य का भी काष्ठापन्न तथा निरतिशय रूप है। जैसे इस निरतिशय या तन्मात्र-शब्द का श्रवण-सामर्थ्य निरतिशय है उसी प्रकार उसका उच्चारण-सामर्थ्य भी निरतिशय है। यह उच्चारण-सामर्थ्य ही एक प्रकार से प्राजापत्य है। बनना-बिगड़ना सब इसी शक्ति का ही खेल है। शक्ति के आयत्तीकरण से कुछ भी कर लेना/बना-बिगाड़ देना सम्भव है। इसलिए विज्ञान तथा अध्यात्म-सर्वत्र शक्ति रूप वाक् का इतना माहात्म्य गान है।

मनन-गोचर होकर जो त्राण करे—वह मंत्र है। यों मंत्र शब्द की अनेक-विध व्युत्पत्तियाँ हैं—पर सबका तात्पर्य इसी आशय में है।[1] मनन मनोगत एकाग्रता से ही सम्भव है। एकाग्रता ही मन को

१. यास्क ने कहा है—मंत्रो मननात्। मंत्र, मंत्र इसलिए कहे जाते हैं कि वे मननीय हैं। मनन के कारण ही उन्हें मंत्र कहते हैं। बौद्ध धर्म की 'त्रिशरण पद' रचना भी इसी दृष्टि से उत्कृष्ट मंत्र के रूप में जानी जाती है। जैन धर्म के पंचमंगलसूत्र ने भी इसी कारण 'णमोकार महामंत्र' को इतना महत्त्व दिया है। शाक्त-ग्रन्थों में कहा गया है—

मननात् त्राणनाच्चैव मंत्र इत्यभिधीयते। पंचाशक शीर्षक ग्रंथ की टीका में अभयदेव सूरि ने कहा है—"मंत्रो देवाधिष्ठितोऽसावक्षररचना विशेषः।" देवता से अधिष्ठित आक्षरिक रचना विशेष का नाम मन्त्र है। 'पंचकल्प भाष्य' में कहा गया है—'मंतो पुण होई पठिय सिद्धो'—जो पाठ सिद्ध हो—वह मन्त्र कहा जाता है। श्री समन्तभद्र ने कहा है—'मन्त्रयन्ते गुप्तं भाषान्ते मंत्रविद्-भिरिति'—जो मन्त्रविदों द्वारा गुप्त रूप से बोला जाए वह मन्त्र है।

पद्धति में मतभेद और भिन्नता रही हो। मैं डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल का भी आभारी हूँ जिनकी पुस्तक 'क्रमबद्ध-पर्याय' से हमें इस लेख को लिखने की प्रेरणा मिली है।

अंत में जैनदर्शन के विशिष्ट विद्वानों से निवेदन है कि वे इस विषय को किसी एक परम्परा का न मानकर इसकी उपेक्षा न करें और इस पर सम्पूर्ण वाङ्मय के अध्ययन से गवेषणात्मक चिंतन-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करें। यह जिनशासन की तथा जैन वाङ्मय की एक विशिष्ट सेवा होगी। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस लेख पर अपने-अपने विचार भी अवश्य प्रेषित करें।

डागा सदन
संघपुरा मोहल्ला
टोंक (राजस्थान)

१- ठाणांग सूत्र ५/३/४६३, कर्मग्रन्थ भाग-१ गाथा-४ और तत्त्वार्थ सूत्र १/२९
२. जैनत्व की झांकी, पृष्ठ १३३
३. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग) पृ. २५७-२५८
४. ज्ञान-गंगा, पृष्ठ ४२२
५. हिंसा-विरोध ८-९/८०

जीत-चिन्तन

रस निकल जाने पर जैसे इक्षु-दण्ड या इख निःसत्व छिलकों के रूप में अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकल जाने पर खट्टी छाछ बाकी रह जाती है और तिलों से तेल निकल जाने पर जैसे नीरस खल बाकी रह जाती है; ठीक उसी प्रकार शरीर से वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर निःसत्व-शक्तिहीन-तेजहीन और अल्पायु बन जाता है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जहां जीवन वरदान था, वहां उसके अभाव में जीवन अभिशाप बन जाता है। हमें बड़े खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमान पीढ़ी के लोगों में, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवकों में ब्रह्मचर्य की भावना लुप्त होती जा रही है। काम-वासना को भड़काने वाले द्रव्यों (मद्य का सेवन, नशे की गोलियों का प्रयोग, गांजा-अफीम, बीड़ी-सिगरेट आदि का खाना-पीना) के सेवन से उनके शरीर जर्जरित, असाध्य रोगाक्रान्त, अशान्त और क्लान्त हो रहे हैं। प्रमाद, अकालमृत्यु और आत्महत्याएं काम के अतिमात्र सेवन के ही परिणाम हैं। आश्चर्य की बात यह है कि ब्रह्मचर्य के भंग के दुष्परिणाम को प्रत्यक्ष देखते हुए भी किसी की आंखें खुल नहीं रही हैं। सब पागलपन के अन्धकार में कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। आसन्न-मृत्यु वाले व्यक्ति को जिस प्रकार दीपक का प्रकाश नहीं सुहाता, ठीक उसी प्रकार व्यसनग्रस्त आज के नवयुवकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा रुचिकर प्रतीत नहीं होती। जब तक वर्तमान पीढ़ी के लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को नहीं समझते, तब तक वे स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर रूपी सम्पत्ति कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

जैनमत में तंत्र-मंत्रवाद

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

'मंत्र' के मर्मज्ञों की धारणा है कि सृष्टि वाक् शक्ति का ही रूपान्तरण है—'वागेव विश्व भुवनानि जज्ञे'—वाक् से सारी सृष्टि का उद्भव है। रचनात्मकता और स्पन्दात्मकता के आधार पर निर्मित साम्यवश पराशक्ति को वागात्मक कहा गया है—वैसे वह विश्वोत्तीर्ण दशा में स्पन्दातीत होने से . । वैज्ञानिकों की भांति ये शक्तिवादी आध्यात्मिक भी मानते हैं कि पूर्ण शक्ति अव्यय है

पद्धति में मतभेद और भिन्नता रही हो। मैं डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल का भी आभारी हूँ जिनकी पुस्तक 'क्रमबद्ध-पर्याय' से हमें इस लेख को लिखने की प्रेरणा मिली है।

अंत में जैनदर्शन के विशिष्ट विद्वानों से निवेदन है कि वे इस विषय को किसी एक परम्परा का न मानकर इसकी उपेक्षा न करें और इस पर सम्पूर्ण वाङ्मय के अध्ययन से गवेपणात्मक चिंतन-पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करें। यह जिनशासन की तथा जैन वाङ्मय की एक विशिष्ट सेवा होगी। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस लेख पर अपने-अपने विचार भी अवश्य प्रेपित करें।

डागा सदन
संघपुरा मोहल्ला
टोंक (राजस्थान)

१- ठाणांग सूत्र ५/३/४६३, कर्मग्रन्थ भाग-१ गाथा-४ और तत्त्वार्थ सूत्र १/२६
२. जैनत्व की झाँकी, पृष्ठ १३३
३. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग) पृ. २५७-२५८
४. ज्ञान-गंगा. पृष्ठ ४२२
५. हिंसा-विरोध ८-६/८०

जीत–चिन्तन

रस निकल जाने पर जैसे इक्षु-दण्ड या इख निःसत्व छिलकों के रूप में अवशिष्ट रह जाता है, दही से घी निकल जाने पर खट्टी छाछ वाकी रह जाती है और तिलों से तेल निकल जाने पर जैसे नीरस खल वाकी रह जाती है; ठीक उसी प्रकार शरीर से वीर्य का क्षय होने के पश्चात्, शरीर निःसत्व-शक्तिहीन-तेजहीन और अल्पायु वन जाता है। ब्रह्मचर्य के सद्भाव में जहां जीवन वरदान था, वहां उसके अभाव में जीवन अभिशाप वन जाता है। हमें वड़े खेद से कहना पड़ता है कि वर्तमान पीढ़ी के लोगों में, विशेषकर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवकों में ब्रह्मचर्य की भावना लुप्त होती जा रही है। काम-वासना को भड़काने वाले द्रव्यों (मद्य का सेवन, नशे की गोलियों का प्रयोग, गांजा-अफीम, वीड़ी-सिगरेट आदि का खाना-पीना) के सेवन से उनके शरीर जर्जरित, असाध्य रोगाक्रान्त, अशान्त और क्लान्त हो रहे हैं। प्रमाद, अकालमृत्यु और आत्महत्याएं काम के अतिमात्र सेवन के ही परिणाम हैं। आश्चर्य की वात यह है कि ब्रह्मचर्य के भंग के दुष्परिणाम को प्रत्यक्ष देखते हुए भी किसी की आंखें खुल नहीं रही हैं। सब पागलपन के अन्धकार में कुमार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। आसन्न-मृत्यु वाले व्यक्ति को जिस प्रकार दीपक का प्रकाश नहीं सुहाता, ठीक उसी प्रकार व्यसनग्रस्त आज के नवयुवकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा रुचिकर प्रतीत नहीं होती। जब तक वर्तमान पीढ़ी के लोग ब्रह्मचर्य के महत्व को नहीं समझते, तव तक वे स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीर रूपी सम्पत्ति कदापि प्राप्त नहीं कर सकते।

—आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

जिस विधि से होती है—वह 'तंत्र' है—इस प्रक्रिया से वांछित शक्ति का आयत्तीकरण होता है। यह शक्ति आत्मशक्ति भी हो सकती है और अनात्मशक्ति भी। वैसे तत्त्वतः शक्ति एक ही है—स्पन्दात्मा, पर अन्यथा बुद्धि वाला अन्यथा समझकर उसकी खण्डशः उपलब्धि करता है और ऐहिक सिद्धियों में अभिरत रहता है।

जैन धर्म के सन्दर्भ में हम अपनी बात 'णमोकार महामंत्र' से आरम्भ करें-तो उत्तम होगा। वृद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित है कि महानिशीथ के साक्ष्य पर इसका व्याख्यान तीर्थंकरों ने किया था जो बीच में विच्छिन्न हो गया था। फिर वज्रस्वामी ने 'नमस्कार महामंत्र' का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अत्यन्त श्रम के साथ मंथन-मनन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यह मंत्र वृद्ध परम्परा में जितना पुराना कहा जाता है—उतना तो नहीं पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—जैसी शाखाएं फूटने से पहले का अवश्य है। कारण, इसे समग्र जैन शासन में महत्त्व प्राप्त है। लगभग १५०० वर्षों में इस पर विपुल साहित्य रचा गया। इसके सहारे अनेक मन्त्रों का विकास हुआ। इसी नमस्कार मन्त्र की व्याख्या के सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि मनुष्य में रोगों की एक प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है—जो प्राणशक्ति की ही एक धारा है। इस प्राण-विकास का एक बहुत बड़ा साधन है—शब्द। शब्द की तरंगें हमें प्रभावित करती हैं—शब्द की तरंगें प्रकाश की तरंगें है। मंत्र वर्णों या शब्दों का चयन है, जो शक्तिशाली तरंग पैदा करता है। मंत्र में शब्द, अर्थ, उच्चारण और भावना—ये चार अवयव होते हैं।[1] नमस्कार मंत्र में ये चारों बातें है। 'इन्द्रशत्रुर्निवर्धस्व' का ठीक उच्चारण नहीं हुआ—फलतः यजमान ही मारा गया। मंत्र इतने शक्तिशाली क्यों होते हैं—इसका खासा दर्शन है। किस अक्षर में कौनसा तत्त्व है और किस प्रकार के परमाणुओं की संघटना होती है, कौनसा कोण बनता है—यह सब अत्यन्त गम्भीर बातें हैं—अतः युवाचार्य महाप्रज्ञ मौन धारण कर लेते हैं। अस्तु,

द्वादशांग वाणी के बारह अंग और चौदह पूर्वों में से विद्यानुवाद पूर्व यंत्र, मंत्र तथा तंत्रों का सबसे बड़ा संग्रह है। उसमें ५०० महाविद्याएँ एवं ७०० विद्याएँ परम्परानुसार मौखिक रूप से चली आ रही हैं। अवसर्पिणी काल की दृष्टि से आदि तीर्थंकर श्री ऋषभजिन ही तंत्र के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। काल-प्रभाव-वश सभी बीच से लुप्त हो गए थे—दूसरी शती से आचार्यों ने उन्हें पुनः शब्दबद्ध करना आरम्भ किया।[2] जैन तंत्र-मंत्र साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इनमें से कतिपय के नाम सन् वार इस प्रकार हैं—

१. आचार्य भद्रबाहु	४५६ ई. पू.	उवसग्गहर स्तोत्र
२. श्री समन्त भद्र	द्वितीय शती	स्वयम्भू स्तोत्र
३. श्री वसु विन्दु	द्वितीय शती	प्रतष्ठिा पाठ
४. श्री मानतुंगाचार्य	सातवीं शती	भक्तामर स्तोत्र
५. श्री धनंजय	सातवीं शती	विसापहार स्तोत्र
६. श्री इन्द्रनंदि	९३८ ई.	ज्वालामालिनी कल्प

१. एकला चलो रे, पृष्ठ २५८

२. कर्मयोगी केसरी....ग्रंथ, पृष्ठ ३७५

शक्ति देती है और शक्ति-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि ही उसका रहस्य समझ पाती है। जैनाचार्यों की यह धारणा सही है कि देवताविष्ठित आक्षरिक रचना विशेष ही मन्त्र है। ब्राह्मण-धर्म तो देवता और मंत्र को एक ही कह देता है। देवता और कुछ नहीं—अधिष्ठात्री शक्ति ही है। शक्ति ही चरम देवता है और सारी सृष्टि-समष्टि या व्यष्टि रूप से शक्ति सामान्य के तत्-तत् शक्तिव्यूह का ही रूपान्तरण है। आत्मा का आयत्तीकरण आत्मशक्ति के आयत्तीकरण से और आत्मेतर सृष्टि का आयत्तीकरण उसकी अधिष्ठात्री शक्ति के रूपान्तरण से सम्भव है। निष्कर्ष यह कि मंत्रवाद के लिए शक्तिवाद की स्वीकृति आवश्यक है।

वस्तुत: भारतीय धर्माध्यात्म के इतिहास में सातवीं से बारहवीं शती का एक ऐसा काल है जो शक्तिवाद की आगमिक परिकल्पना से आक्रान्त है—ऐहिक और आमुष्मिक-उभयविध धरातल पर। ब्राह्मण-धर्म की वैष्णव, शैव तथा शाक्त-धाराएँ तो उससे आक्रान्त थीं ही, बौद्ध और जैन धाराएँ भी आक्रान्त हुई। जैन धर्म की रहस्यवादी वृत्ति और तत्सम्बद्ध वाङ्मय की जिन्हें जानकारी है उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार जैन धारा भी उस प्रभाव से आक्रान्त हो रही थी। धान्यकटक में भगवान बुद्ध के तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्तन में मंत्रनम और तदनुसारी वज्रपात का आरम्भ हो चुका था—गुह्य समाज तंत्र तथा साधनमाला-जैसी तंत्र-मंत्र समन्वित आगमानुसारी ग्रन्थ बन चुके थे। जैन धारा में भी इसके लक्षण देखकर प्रो. हीरालाल जैन कहते हैं—'इन दोहों (अपभ्रंशबद्ध) में जोगियों का अगम, अचित, चित, देह, देवली, शिवशक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षरबोध, विबोध, वाम-दक्षिण, ऊर्ध्व, दोपथ, रवि-ससि, पवन, कालक आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन रूप में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रन्थों का स्मरण हुए बिना नही रहता।" मुनि रामसिंह ने तो स्पष्ट कहा है—

"सिव विणु सत्ति ण वावरइ, सिउ पुजु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि समलु जगु, वुज्झहि मोह विलीणु॥"

स्पष्ट ही यहाँ शक्तिवाद का उल्लेख है। मुनि नथमल जी ने भी 'तेजोलेश्या' पर विचार करते हुए कहा है—"जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुंडलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्र-शास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में कुंडलिनी का नाम तेजोलेश्या है।" आगे उन्होंने यहाँ तक स्वीकार किया है—"बहुत लोग पूछते हैं कि जैन योग में कुण्डलिनी सम्मत है या नहीं? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परम्परा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है? यह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है किन्तु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न नहीं उठता[1]।" निष्कर्ष यह कि आगम-सम्मत 'शक्तिवाद' जब स्वीकृत है तब मंत्र-सम्बन्धी उससे जुड़ी हुई तमाम मान्यताएँ यहाँ भी सरक आती हैं।

'मंत्र' के साथ-साथ 'तंत्र' भी जुड़े हैं। मंत्र जिस अधिष्ठात्री शक्ति के 'नाम' हैं—'तंत्र' उसी के रूप हैं। स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी कहते हैं—यंत्र शब्द के यम् को यमन वा Control के अर्थ में भी लिया जा सकता है। कोई भी प्रस्तावित शक्ति क्षेत्र (given Power field) जिसके द्वारा Controlled होकर एक निर्दिष्ट आकृति अथवा रूप ग्रहण करता है, वही 'रूप' है[2]। 'मंत्र' का जप और यंत्र की पूजा

१. जैन योग पृष्ठ १२६
२. नयसूत्रम् पृष्ठ ८२

जिस विधि से होती है—वह 'तंत्र' है—इस प्रक्रिया से वांछित शक्ति का आयत्तीकरण होता है। यह शक्ति आत्मशक्ति भी हो सकती है और अनात्मशक्ति भी। वैसे तत्त्वतः शक्ति एक ही है—स्पन्दात्मा, पर अन्यथा बुद्धि वाला अन्यथा समझकर उसकी खण्डशः उपलब्धि करता है और ऐहिक सिद्धियों में अभिरत रहता है।

जैन धर्म के सन्दर्भ में हम अपनी बात 'णमोकार महामंत्र' से आरम्भ करें-तो उत्तम होगा। वृद्ध सम्प्रदाय में प्रचलित है कि महानिशीथ के साक्ष्य पर इसका व्याख्यान तीर्थंकरों ने किया था जो बीच में विच्छिन्न हो गया था। फिर वज्रस्वामी ने 'नमस्कार महामंत्र' का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अत्यन्त श्रम के साथ मंथन-मनन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि यह मंत्र वृद्ध परम्परा में जितना पुराना कहा जाता है—उतना तो नहीं पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—जैसी शाखाएं फूटने से पहले का अवश्य है। कारण, इसे समग्र जैन शासन में महत्त्व प्राप्त है। लगभग १५०० वर्षो में इस पर विपुल साहित्य रचा गया। इसके सहारे अनेक मन्त्रों का विकास हुआ। इसी नमस्कार मन्त्र की व्याख्या के सन्दर्भ में उन्होंने कहा है कि मनुष्य में रोगों की एक प्रतिरोधात्मक शक्ति होती है—जो प्राणशक्ति की ही एक धारा है। इस प्राण-विकास का एक बहुत बड़ा साधन है—शब्द। शब्द की तरंगें हमें प्रभावित करती हैं—शब्द की तरंगें प्रकाश की तरंगें है। मंत्र वर्णों या शब्दों का चयन है, जो शक्तिशाली तरंग पैदा करता है। मंत्र में शब्द, अर्थ, उच्चारण और भावना—ये चार अवयव होते हैं।[1] नमस्कार मंत्र में ये चारों बातें है। 'इन्द्रशत्रुर्निवर्धस्व' का ठीक उच्चारण नहीं हुआ—फलतः यजमान ही मारा गया। मंत्र इतने शक्तिशाली क्यों होते हैं—इसका खासा दर्शन है। किस अक्षर में कौनसा तत्त्व है और किस प्रकार के परमाणुओं की संघटना होती है, कौनसा कोण बनता है—यह सब अत्यन्त गम्भीर बातें हैं—अतः युवाचार्य महाप्रज्ञ मौन धारण कर लेते हैं। अस्तु,

द्वादशांग वाणी के बारह अंग और चौदह पूर्वों में से विद्यानुवाद पूर्व यंत्र, मंत्र तथा तंत्रों का सबसे बड़ा संग्रह है। उसमें ५०० महाविद्याएँ एवं ७०० विद्याएँ परम्परानुसार मौखिक रूप से चली आ रही हैं। अवसर्पिणी काल की दृष्टि से आदि तीर्थंकर श्री ऋषभजिन ही तंत्र के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। काल-प्रभाव-वश सभी बीच से लुप्त हो गए थे—दूसरी शती से आचार्यो ने उन्हें पुनः शब्दबद्ध करना आरम्भ किया।[2] जैन तंत्र-मंत्र साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। इनमें से कतिपय के नाम सन् वार इस प्रकार हैं—

१. आचार्य भद्रबाहु	४५६ ई. पू.	उवसग्गहर स्तोत्र
२. श्री समन्त भद्र	द्वितीय शती	स्वयम्भू स्तोत्र
३. श्री वसु विन्दु	द्वितीय शती	प्रतष्ठिा पाठ
४. श्री मानतुंगाचार्य	सातवीं शती	भक्तामर स्तोत्र
५. श्री धनंजय	सातवीं शती	विसापहार स्तोत्र
६. श्री इन्द्रनंदि	९३८ ई.	ज्वालामालिनी कल्प

१. एकला चलो रे, पृष्ठ २५८

२. कर्मयोगी केसरी....ग्रंथ, पृष्ठ ३७५

७. श्री वादिराज	१०२५ ई.	एकीभाव स्तोत्र
८. श्री दुर्ग देव	१०३२ ई.	शिष्ट समुच्चय
९. श्री दुर्ग देव	१०३२ ई.	महोदधि मंत्र
१०. श्री मल्लिषेण	११ वीं शती	भैरव-पद्मावती कल्प
११. श्री अज्ञात	११ वीं शती	यंत्र, मंत्र, तंत्र संग्रह
१२. श्री अज्ञात	११ वीं शती	मंत्र शास्त्र

कहाँ तक और कितना विवरण दिया जाए— जैन वाङ्मय में तंत्र-मंत्र का अत्यन्त विशाल साहित्य है, जो विविध भाषाओं में समय-समय पर लेखबद्ध हुआ है।

इन कृतियों के सम्यक् ईक्षण से स्पष्ट है कि इनमें ऐहिक और आमुष्मिक–उभयविध सिद्धियों की प्राप्ति के अनुरूप तंत्र, मंत्र और यंत्र का विवरण है। वीतराग तथा निवृत्ति-प्रधान इस धारा पर भी ऐहिक सिद्धियों की तरफ यह लगाव-खिचाव आश्चर्य कर है। इनमें मंत्रों के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं–शान्तिक, पौष्टिक, वश्याकर्षण, मोहन, स्तभन, विद्वेषण, जृम्भण, उच्चाटन तथा मारण आदि। अथर्ववेद भी जिस प्रकार के मंत्रों से भरा हुआ है–वे शांतिक और पौष्टिक प्रकार के ही हैं।

आश्चर्य होता है कि अध्यात्म-प्राण इस देश की अध्यात्म-प्राण-धाराएँ भी ऐहिक सिद्धि की ओर इस निविड़ता के साथ कैसे व्याप्त हुई और वह भी मध्यकाल में ? साधनमाला तथा अन्य प्राचीन मंत्र गर्भ वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि ऐहिक सिद्धि के लिए मंत्रों की साधना कभी भी नहीं की जानी चाहिए। कारण, इससे मानव-जीवन की ऊर्ध्वतम सम्भावना की चरितार्थता में आड़े आने वाला तत्त्व है–अहंकार और ममकार। जैन धारा भी दूसरी धाराओं की तरह इस बात में आस्था रखती है। इसी अहंकार और ममकार की ज्वाला ऐहिक सिद्धियों से तृप्त होती है और फिर इनका इतना विस्तार और इन पर संरम्भ क्यों ? उन्हीं ग्रन्थों में जहाँ इनका विस्तार है— लिखा है कि शक्ति का प्रयोग लोक-कल्याण के लिए हो— अहंकार और ममकार की पुष्टि अथवा आसक्तिवश इनका प्रयोग प्रयोक्ता का ऐहिक और आमुष्मिक–दोनों पक्ष नष्ट कर देता है। विद्या के नाम पर जानकार मंत्रविद् मंत्रों को अपात्र में न्यस्त करना गम्भीर अपराध मानते थे। यही कारण है— इनकी विलुप्ति का। इन मंत्रों का एक दूसरा उपयोग है—अदृष्ट शक्तियों में आस्था न रखने वालों में आस्था उत्पन्न करने का प्रयोग। जब विद्या है और शक्ति है—तो लोकमंगल की ही दृष्टि से उनका अर्जन और प्रयोग होना चाहिए। प्रवत्ति की शक्ति का दुष्प्रयोग, उसी के विरुद्ध उस देश में करना— जहाँ पुरुष का यज्ञमय जीवन प्रकृति को और प्रकृति की परिणतियाँ पुरुष को केन्द्र में रखकर चलती हों, जघन्यतम कर्म है।

देवास रोड़,
उज्जैन (म.प्र.)

परमाणुवाद एक तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. विजयलक्ष्मी जैन

जैन दर्शन में भौतिक पदार्थों (matter) के लिए 'पुद्‌गल' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह 'पुद्‌गल' शब्द न केवल पारिभाषिक शब्द है, बल्कि वह व्यौत्पत्तिक शब्द भी है। और व्यौत्पत्तिक शब्द वह होता है, जो अक्षर अर्थात् पद पर धातु आदि प्रकृति के सहयोग से बनता है। यथा 'पाचक' शब्द, 'पच्' धातु में 'अक्' प्रत्यय लगने पर यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पुद्‌गल' शब्द भी व्युत्पत्ति के अनुसार दो शब्दों से मिलकर बना है—

'पूरणगलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्‌गला:।'[1]

यह दो शब्दों 'पुद्' और 'गल' के संयोग से बना है, जिसका क्रमशः अर्थ होता है संयोग होना या मिलना या संघात होना या गलना या विभाग होना या मिटना। अतः संघात और भेद तथा संयोग और विभाग से पूरण और गलन को जो प्राप्त होता रहता है, वह द्रव्य 'पुद्‌गल' द्रव्य है।

पूरण और गलन से 'पुद्‌गल' के दो प्रकार होते हैं—"अणवः स्कन्धाश्च[2]।"

अतः संयोग की क्रिया से पुद्‌गल का बडा आकार (स्कन्ध) बनता है और वियोग की क्रिया से पुद्‌गल का सूक्ष्मतम आकार हो जाता है, जिसे 'अणु' अथवा 'परमाणु' कहा जाता है। यह अणु अविभाज्य होता है।[3]

अगर अणु को अविभाज्य रूप में स्वीकार किया जाता है तो उसे परम+अणु नहीं कहा जा सकता है। ग्रीक दार्शनिक डिमोक्रिट्स ने भी परमाणु की परिभाषा देते हुए कहा है कि यदि हम जड़ पदार्थों का विभाजन करते चले जाएँ तो एक ऐसी अंतिम अवस्था आएगी, जब कि उसका विभाजन नहीं हो सकता है। यह अंतिम अवस्था मौलिक, अविभाज्य, अतीन्द्रिय और उत्पाद-व्यय रहित परमाणुओं की है।[4]

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, अ. ५ सू. १ वृ. २४

२. तत्त्वार्थ सूत्र ५/२५

३. जैन सिद्धांत दीपिका पृ. १ सू १४

४. ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन, पृ. ११६

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी सृष्टि-रचना के सिद्धान्त में परमाणुओं को उत्पाद-व्यय रहित माना गया है। उनके अनुसार निर्माण का तात्पर्य है विभिन्न अवयवों का संयुक्त हो जाना और विनाश का अर्थ है विभिन्न अवयवों का विखर जाना। अतः परमाणु निरवयव हैं। जैन शास्त्रकारों ने भी यही कहा है—

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः।
गृह्यते यो विभागी च परमाणुः स उच्यते ॥[1]

अर्थात्—परमाणु पुद्गल का अविभाज्य, अच्छेद्य, अदाह्य, अग्राह्य और निर्विभागी रूप है। किसी भी उपाय या उपाधि से परमाणु का भेदन अथवा छेदन नहीं किया जा सकता। परमाणु लम्बाई, चौड़ाई और गहराई से रहित एक इकाई रूप है। इसकी विशेषता बताते हुए आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ वार्तिक में लिखा है—

अंतादि अंतमज्झं. अंततं णेव इन्दियग्गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी. तं परमाणु विजाणीहि ॥[2]

अर्थात्—परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि वह स्वयं ही अपना आदि-मध्य और अन्त है, जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है।

जैन आगमों में परमाणु की अत्यधिक सूक्ष्मता को ध्यान में रखते हुए उसे दो प्रकार का बताया है—

"परमाणु दुविहे पण्णत्तो, तं जहा—सुहुमेय ववहारियेय।"[3]

१. सूक्ष्म परमाणु—ये अपने परमाणु में ही रहते हैं।

२. व्यावहारिक परमाणु—यह परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं से मिलकर बनता है, परन्तु फिर भी सामान्य दृष्टि से यह ग्राह्य नहीं होता है। यह भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु ही कहा जाता है। जैन-दर्शन में परमाणु के विघटन की सीमा को इसी परमाणु तक स्वीकार किया गया है। अतः सूक्ष्म परमाणुओं का विघटन नहीं होता है।

अणु अति सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों द्वारा हमें उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है, बल्कि इसका ज्ञान अनुमान द्वारा होता है और अनुमान-ज्ञान तभी हो सकता है, जब कि हमें उसका कुछ प्रत्यक्ष लक्षण दिखाई दे। हमें कार्य रूप में केवल स्कन्ध का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और उसी कार्य रूप स्कन्ध के आधार पर कारण रूप 'अणु' का अनुमान कर सकते हैं।

जैन और वैशेषिक दोनों ही दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि परमाणुओं के संयुक्त होने पर वस्तुओं का निर्माण होता है और उनके विच्छेद होने से वस्तुओं का नाश होता है। परमाणु के संयोजन और पृथक्-करण के लिए गति की आवश्यकता होती है। यहाँ पर वैशेषिक दर्शन जैन दर्शन से पूर्णरूप से भिन्न है।

१. तत्त्वार्थ सार अध्याय-३
२. तत्त्वार्थ वार्तिक भाग २,५/२५/१
३. अनुयोगद्वार सूत्र (प्रमाण विषय) पृ. १७६

वैशेषिक दर्शन में परमाणु की 'निष्क्रियता' और 'गति-हीनता' के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। इस के अनुसार गति देने वाला कोई बाह्य कारण है। वह बाह्य कारण जीवात्माओं का अदृष्ट अथवा ईश्वर है जबकि जैन-दर्शन में किसी अदृष्ट के सिद्धांत को स्वीकार नही किया गया है। बल्कि यह पुद्गल का स्वभाव है जो स्वतः संघटित और विघटित होता रहता है। जैन-दर्शन के अनुसार पुद्गल की गति और स्थिति का उपादान-कारण वह स्वयं होता है और चयनशील (सक्रिय) एवं स्थितियुक्त पदार्थों का निमित्त-कारण क्रमशः "धर्म द्रव्य" और "अधर्म द्रव्य" को स्वीकार किया गया है।

जैन और वैशेषिक दार्शनिक परमाणुओं का संयोग निम्न प्रकार से मानते हैं। इनके अनुसार दो परमाणुओं के संयुक्त होने पर एक द्व्यणुक बनता है। तीन अणुओं के संयोग से एक त्र्यणुक बनता है। और चार-चार अणुओं के संयोग से एक चतुरणुक बनता है। किन्तु आगे वैशेषिक दर्शन यह भी मानता है कि स्थूल पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु चतुरणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जबकि जैन-दर्शन में इन चारों को जीवों की श्रेणी मे स्वीकार किया गया है न कि परमाणुओं का संयोग मात्र माना है।

परमाणु के गुण

जैन दर्शन में परमाणु के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

एक रस रूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभाव गुणः।
विभाव गुण इति भणितो जिन समये सर्व पृथक्त्वम् ॥[1]

अर्थात्—जो द्रव्य एक रस, एक गंध, एक वर्ण, दो स्पर्श गुण वाला है, वही परमाणु है। वही शब्द की उत्पत्ति का कारण होता है किंतु जब परमाणु अपने स्कंध से पृथक हो जाता है, तब वह शब्द से रहित केवल एक प्रदेशी होता है। अतः सभी परमाणुओं में समान गुण पाए जाते हैं, उनमें गुणात्मक पृथक्ता' नहीं होती है जबकि वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं के बीच में गुणात्मक पृथक्ता को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार पृथ्वी के परमाणुओं में गंध, रंग, रस और स्पर्श गुण, जल के परमाणुओं में वर्ण, रस और स्पर्श गुण, अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श तथा वायु के परमाणुओं में केवल स्पर्श गुण पाया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परमाणु उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को अजीव की श्रेणी में न मानकर जीव की श्रेणी में माना गया है अर्थात् ये सभी सजीव हैं और एकेन्द्रिय जीव के अन्तर्गत अपना अस्तित्व रखते हैं।

एक अन्य अन्तर इन दोनों में यह है कि वैशेषिक दर्शन में 'शब्द' का कारण परमाणु को न मानकर आकाश द्रव्य को माना है जब कि जैन-दर्शन में 'शब्द' का कारण पुद्गल है अर्थात् वह पुद्गल का पर्याय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परमाणुवाद, वैशेषिक परमाणुवाद से पूर्णरूप से भिन्न है। जैन, परमाणु को सक्रिय मानते हैं तो वैशेषिक, निष्क्रिय मानते हैं। जैन, परमाणु की गति का उत्पादन कारण उसे स्वयं को और निमित्त-कारण धर्म द्रव्य को मानते हैं, जब कि वैशेषिक किसी अदृष्ट या ईश्वर को गतिदायक मानते हैं। जैन परमाणु को शब्द का कारण मानते हैं तो वैशेषिक, आकाश-द्रव्य का गुण मानते हैं।

४१, गोलीमार बाग
भवानीसिंह रोड,
'सी' स्कीम, जयपुर

१. नियमसार गाथा २७

श्रमणस्वरूप का विवेचन

□

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

प्रथम तीर्थंकर आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव वर्तमान कल्पकाल में कर्मयुग एवं मानवी सभ्यता के आद्य पुरस्कर्त्ता थे तो मानव-धर्म के भी आद्य प्रवर्त्तक थे। वे 'वस्तु-स्वभाव' को धर्म कहते थे, जिस वस्तु का जो परानपेक्ष निजी स्वभाव है, वही उक्त वस्तु का धर्म है। अतएव आत्मा के जो परानपेक्ष निजी गुण या गुण-समूह हैं, वे ही आत्मधर्म या मानव-धर्म रूप हैं। आत्मा ऊर्ध्व स्वभावी है, स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना उसका स्वभाव है, किन्तु अनेक अंतरंग एवं वहिरंग कारणों के वशीभूत होकर उसका स्वभाव दवा-ढ़का पड़ा रहता है, वह वैभाविक परिगमन करता रहता है और फलस्वरूप जन्म-मरण रूप संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगता रहता है। धर्म का लक्ष्य उक्त दुःख रूप संसरण से आत्मा को मुक्त करके उसे अपने ज्ञान-दर्शनमय सच्चिदानन्द-स्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वभाव में प्रतिष्ठित करना है। उस अक्षय, अविनाशी-शाश्वत मोक्ष-अवस्था की प्राप्ति निवृत्तिमार्गी अध्यात्मवादी अहिंसा-मूलक समत्व-प्रधान तप-त्याग-संयम की साधना द्वारा ही संभव एवं शक्य है। अतः व्यवहारतः वही मार्ग अवलम्बनीय एवं आचरणीय है और वही सच्चा मोक्षमार्ग धर्म-पथ अथवा धर्म है।

ऋषभ-प्रणीत यही धर्म-परम्परा प्रारम्भ में शायद मात्र धर्म, आत्मधर्म या शायद ऋषभ-धर्म भी कहलाई, कालान्तर में आर्हत धर्म, मुनि-धर्म, व्रात्य-परम्परा, निर्ग्रन्थ-मार्ग, श्रमण-परम्परा आदि नामों से प्रसिद्ध हुई। वर्तमान जैन-परम्परा उसी प्राचीन श्रमण-परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है।

विशेषकर जब से ऐहलौकिक सुख एवं अभ्युदय की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञादि अनुष्ठानों में प्रवृत्त प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा पर ब्राह्मण-वर्ण का वर्चस्व, नेतृत्व एवं प्राधान्य हुआ तो वह अध्यात्मवादी निवृत्तिमार्गी आर्हत या मुनि-परम्परा, श्रमण-परम्परा के नाम से विख्यात हुई। वस्तुतः श्रमण-ब्राह्मण द्वन्द्व किसी समय इतना मुखर हो उठा था कि सर्प-नकुल, शेर-वकरी, मार्जार-मूषक आदि जाति-विरोधी युग्मों की भाँति श्रमण-ब्राह्मण-युग्म भी दृष्टांत रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा, यथा—पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों में। बौद्ध संयुक्तनिकाय का भी एक सूत्र 'समण-ब्राह्मण' है। प्राचीन जैन साहित्य में तो 'श्रमण' शब्द वहु प्रचलित रहा है, स्वयं भगवान् महावीर के लिए 'समणं भयवं महावीरे'

पद आगमों में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः इस श्रमण-परम्परा के प्रवर्त्तक, पोषक, साधक एवं प्रचारक ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर श्रमणोत्तम कहलाए, उनके अनुयायी तथा मोक्ष-मार्ग के एकनिष्ठ साधक गृहत्यागी निरारंभी, निष्परिग्रही एवं ज्ञान-ध्यान-तपलीन साधु श्रमण और साध्वियाँ श्रमणियाँ कहलाईं तथा उनके मार्ग में आस्था रखने वाले भक्त-गृहस्थ पुरुष श्रमणोपासक (श्रावक) और गृहस्थ-स्त्रियाँ श्रमणोपासिका (श्राविका) कहलाईं।

परम्परा में ऐसा व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने से प्राचीन जैन साहित्य में श्रमण शब्द की व्याख्या और विवेचन भी प्रभूत हुआ है। मूल शब्द अर्धमागधी प्राकृत का 'समण' है, जिसकी संस्कृत छाया 'श्रमण' हुई—संस्कृत-साहित्य में उसी का बहुलता से प्रयोग हुआ, किन्तु प्राचीन आचार्यों ने 'समण' शब्द के तीन अन्य संस्कृत रूप 'शमन, समन एवं समण' भी सूचित किए हैं और उनकी सार्थकता भी सिद्ध की है।

(१) शमन—उपशम अर्थ वाली 'शम्' धातु से इसकी व्युत्पत्ति करते हुए 'शाम्यति क्रोधादि कषायान् इति शमनः' अर्थात् जो क्रोधादि कषायों का शमन या उपशमन करता है वह शमन' है, इस नाम रूप की सिद्धि की है। अन्यत्र भी कहा है कि कर्म-वैषम्य की इच्छा न करने वाला, प्राणी मात्र की आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझने वाला और क्रोधादि कषायों का शमन करने वाला शमी महामुनि ही मोक्ष प्राप्त करता है।

(२) समन या समना—'सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण ताप रहितेन च वर्तते इति समना:' अर्थात् जिसका मन निदान आदि शल्यों के ताप से रहित होकर स्वस्थ रहता है, वह समना है। तथा 'समानं स्वजन-परजनादिषु तुल्यं मनो यस्य स समनाः' अर्थात् स्वजन एवं परजन में जिसका मन समान रहता है, जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान में समचित्त रहता है, न किसी से राग करता है न द्वेष, ऐसा समान मन वाला मध्यस्थभावी व्यक्ति 'समन' कहलाता है।

(३) समण—समण का भी प्रायः यही अर्थ किया है—'सम इति समतया शत्रुमित्रादिषु अणति प्रवर्तते इति समणः। सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते इति समणः' तथा—

'जह मम न पियं दुक्खं, जाणि य एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो॥'

यदि कुछ अन्तर है तो मात्र इतना ही कि यदि 'समन' में मन की स्वस्थता पर अधिक बल है, तो 'समण' में अन्य प्राणियों के प्रति अहिंसक वृत्ति एवं समताभाव रखने हेतु अधिक बल है।

(४) श्रमण–'श्रमु तपसि खेदे च' अर्थवाली 'श्रमु' धातु से व्युत्पत्ति करने पर 'श्राम्यतीति श्रमणः श्राम्यति श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः। श्राम्यति संसार विषयखिन्नो भवति तपस्यतीति च श्रमणः।' अर्थात् जो श्रम करता है, पाँच इन्द्रियों एवं मन को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखता है, वशीभूत करता है और जो सांसारिक विषयों से खिन्न एवं विरक्त होकर तपश्चरण करता है, वह श्रमण है।

भावार्थ यह है कि जो भव्यात्मा काम-क्रोध-मान-माया एवं लोभादि कषायों का उपशमन करने में प्रयत्नवान् रहता है, जो समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में समत्व (मध्यस्थ) भाव बनाए रखता

है, जो प्राणिमात्र की आत्मा को अपनी आत्मा जैसी ही मान करके सबके प्रति अहिंसक बना रहता है अर्थात् समताभाव रखता है और जो संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर स्वेच्छा से स्वपुरुषार्थ द्वारा सम्यक् तपश्चरणादि को सहर्ष स्वीकार करता है, वही सच्चा समण, समन, शमन या श्रमण है।

एक पुरातन आचार्य ने श्रमण के लिए बारह उपमाएँ प्रयुक्त करके उसके स्वरूप को विशद किया है। यथा:—

उरग-गिरि-जलण-सागर-णहतल-तरुगण समो य जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवण समो य सो समणो ॥

इस गाथा में श्रमण (जैन-साधु) को उरग या सर्प के समान बताया, जो अपने निवासादि के लिए न मकान या उपाश्रय आदि स्वयं बनाता है, न दूसरों से बनवाता है, न बनाने की प्रेरणा देता है, किसी के परित्यक्त स्थान में उसकी अनुमति-पूर्वक ही ठहरता है और एक स्थान में अधिक दिन भी नहीं ठहरता। वह परीषहों एवं उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करता हुआ गिरि या पर्वत की भांति अकम्पित रहता है। जैसे अग्नि (ज्वलन) ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार श्रमण ज्ञानार्जन से तृप्त नहीं होता, निरन्तर ज्ञानोपयोग में लीन रहता है और अपने तप के तेज से दीप्त रहता है। वह सागर की भाँति गंभीर रहता है, और जिनदेव द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करता। वह नभस्तल (आकाश) जैसा निरावलम्बी होता है, गृहस्थों के सहारे या सहायता की कतई अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार वृक्ष शीत-तापादि बाधाओं को समभाव से सहन करते हैं, फल आने पर और अधिक नम्र हो जाते हैं, पत्थर मारने वालों को भी मीठे फल ही देते हैं, इसी प्रकार सच्चा श्रमण भी सहनशील, ज्ञान-तपादि के अहंकार से शून्य, निन्दा-स्तुति में समभावी, द्वेषी के प्रति भी परोपकार-रत रहता है। वह भ्रमर की भांति गृहस्थजनों को कष्ट पहुंचाये बिना यथोचित आहार जहाँ से अनायास मिल जाता है, ले लेता है, और निरासक्त-भाव से भिक्षोपरान्त गृहस्थ के स्थान से चला जाता है। जैसे मृग, सिंह से भयभीत रहता है उसी प्रकार श्रमण पापभीरु होता है, पापकार्यों से डरकर सदैव उनसे दूर रहता है। वह पृथ्वी के समान शत्रु-मित्र में समभावी, सहिष्णु और सहनशील होता है। वह संसार तथा सांसारिक कार्यों से जल-कमलवत् अलिप्त रहता है। वह सूर्य की भांति दूसरों के अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह पवन की भांति अप्रतिबद्ध विहारी होता है, किसी के कहने या प्रभाव से नहीं, स्वेच्छा से विहार करता है। इनके अतिरिक्त, जैन साधु या श्रमण के लिए प्रव्रजित, परिव्राजक, अनगार, निर्ग्रन्थ, मुनि, भिक्षु, योगी, तपस्वी, मुक्त, संयत, क्षान्त, दान्त, महाव्रती, तीर्ण, त्राता आदि अन्य अनेक सार्थक नाम या विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं।

श्रमण उपर्युक्त समस्त गुणों का पुञ्ज होता है, वे गुण उसके परिचायक हैं और उसके व्यक्तित्व, जीवन एवं चर्या में रूपायित होते है। द्रव्यतः एवं भावतः सच्चा श्रमण ही सच्चा मुमुक्षु, रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का साधक और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। 'उवसम सारं खु सामण्णं'— कषाय-भावों की मन्दता से लेकर उनके अत्यन्ताभाव पर्यन्त कषायों का उपशमन ही श्रामण्य या श्रमणत्व का सार है।

ज्योति निकुंज
चार बाग, लखनऊ-१९

जैनधर्म में पुनर्जन्म की मान्यता

चाँदमल कर्णावट

आधुनिक युग की वैज्ञानिक प्रगति से मानव-मन के विश्वास और उसकी आस्थाएँ डोल उठी हैं। भौतिकता की चकाचौंध में वह आध्यात्मिकता की अनन्त-शक्ति को भूल बैठा है। उसमें यह विश्वास भी नहीं रहा कि 'मैं हूँ' 'मैं था' और भविष्य में भी 'मैं सदा रहूंगा!' इसी का परिणाम है कि वह भौतिक साधनों में जितना लगा है उसके अति अल्प अंशों में भी आध्यात्मिक साधना नहीं कर रहा है।

यही सोचकर हमें आवश्यकता हुई कि हम यह सोचें, विचारें कि 'मैं था' और 'सदैव रहूँगा।' इस जन्म के साथ ही मेरी जीवन-यात्रा समाप्त नहीं हो जाएगी, बल्कि वह तो तब तक निरंतर गतिमान रहेगी जब तक कि मैं पूर्ण रूपेण जन्म-जरा और मरण के बंधनों से मुक्त न हो जाऊँ। जैन दर्शन की इस संबंध में क्या मान्यता है, इसी विषय पर इस लघु-लेख में विचार किया गया है।

पुनर्जन्म : अर्थ एवं अवधारणा

आत्मा मृत्यूपरान्त एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, इसी को पुनर्जन्म माना गया है। 'आचारांग सूत्र' के अनुसार पुनर्जन्म का अर्थ है—**वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक-जीवन**। परलोक का जीवन किस जीव का कैसा होता है, इसका मुख्य आधार उसके पूर्वकृत कर्म हैं। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं।[1] कर्मबद्ध आत्मा ही पुनर्जन्म धारण करता है, मुक्तात्मा नहीं।

जैन दर्शन में संसार को 'भवचक्र' की संज्ञा दी गई है, जहाँ चौरासी लाख जीवयोनियों में कर्मबद्ध जीव भ्रमण करता रहता है। यहाँ 'भव' का अर्थ जन्म से है। जन्म के बाद मरण और पुनः जन्म, यही संसार का स्वरूप है और इसी से संसार संसरणशील है। यही पुनर्जन्म का भी स्वरूप है। जब तक आत्मा कर्मबन्धनों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक यह जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहता है।

इस जन्म-मरण के चक्र में जन्म और मरण शरीर का ही होता है, आत्मा का नहीं। क्योंकि आत्मा या चेतना द्रव्य रूप से सदा बना रहने वाला तत्त्व है। वह परिणामी नित्य है। आत्मा का विभिन्न योनियों में जन्म उसकी पर्याय-परिणमन की दशा ही है।

जड़ व चेतन-तत्त्वों की समष्टि का नाम ही सृष्टि है। शुभाशुभ जड़-कर्म, चेतन-आत्मा के संयोग से आत्मतत्त्व को प्रभावित करते हैं और जन्म-जन्मान्तरों की शृंखला का निर्माण करते हैं, जिनमें यह

आत्मा सदा बंधा रहता है। स्वतंत्र जीववादियों में जैन दर्शन का स्थान प्रमुख है। यह आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व मानता है, जो जड़ शरीर के साथ कभी नष्ट नहीं होता। कर्म-परम्परा के शुभाशुभ भावी परिणामों को यही आत्मा पुनर्जन्म के रूप में भोगता रहता है। आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व मानने के साथ ही कर्म-सत्ता और पुनर्जन्म की मान्यता का भी आधार सुदृढ़ वन जाता है।

पुनर्जन्म की सिद्धि या उसके प्रमाण

समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाली पूर्वजन्म की द्योतक घटनाएँ पुनर्जन्म के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं। इन घटनाओं की सत्यता को प्रमाणित भी किया गया है। सम्बन्धित वालकों/व्यक्तियों ने अपने पूर्व-जन्म के माता-पिता, भाई, पत्नी, निवास-स्थल, मृत्यु का कारण आदि जो तथ्य वताए हैं, वे जाँच करने पर सही पाए गए हैं।

कुछ क्रियाओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं; जैसे वच्चा जन्म लेते ही रोता है, माँ का स्तन-पान करने लगता है, हँसता है और प्रकाश की ओर टकटकी लगाकर देखता है आदि-आदि। ये सव क्रियाएँ वच्चे ने/नवजात-शिशु ने कव सीख लीं? किसने सिखाई उसे ये क्रियाएँ? आदि प्रश्नों का उत्तर वच्चे के पूर्व-जन्म के संस्कार मानकर ही दिया जा सकता है। इसी प्रकार वर्तमान जन्म के संस्कार भविष्य के लिए पुनर्जन्म का आधार वनते हैं। नवजात-शिशु में हर्ष, भय, शोक आदि के लक्षण भी होते हैं, उसका मूल कारण पूर्व-जन्म की स्मृति है।[२]

जैन आगमों में जातिस्मरण-ज्ञान की घटनाओं का प्रमाण मिलता है। 'जातिस्मरण' का अर्थ पूर्व-जन्म की स्मृति से लिया गया है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में उल्लेख है कि राजकुमार मृगापुत्र को मोहनीय कर्म के क्षयोपशम एवं मुनिदर्शन के निमित्त से जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उससे उन्होंने अपने पूर्व-जन्म का स्मरण किया। उन्हें ज्ञात हुआ कि वे देवलोक से च्यवकर मनुष्य-भव में आए हैं। इस ज्ञान से महाऋद्धि वाले मृगापुत्र अपने पूर्व जन्म में पाले हुए संयम को भी याद करने लगे।[3] इसी प्रकार 'उत्तराध्ययन सूत्र' में ही भृगुपुरोहित के दोनों पुत्रों को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ (सरित्तु पोराणिय तत्थजाइं) जिससे वे पूर्वभव में भली प्रकार पाले हुए संयम का स्मरण करने लगे। चित्त-संभूति-अध्ययन में भी श्रमण-दीक्षा प्राप्त चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को (अपने पूर्व-भव के भाई को) एकाधिक पूर्व-जन्मों की याद दिलाई।[४] 'विपाक सूत्र' में सुखविपाक के प्रथम अध्ययन में उल्लेख है कि सुबाहुकुमार द्वारा पूर्व-भव में सुदत्त अणगार को प्रतिलाभित किया गया जिसके फलस्वरूप वे सुबाहुकुमार बने। ऐसे अनेक उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं।

तर्क और हेतु से भी पुनर्जन्म की प्रामाणिकता पर विचार करना उचित होगा। 'ठाणांग सूत्र' के चौथे ठाणे में तथा आचार्य अभयदेव-कृत टीका में पुण्यानुबंधी पुण्य आदि चार कर्म-प्रकृतियों की विवेचना से भी पुनर्जन्म की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।[५] पुण्यानुबंधी पुण्य अर्थात् पूर्व-जन्म में पुण्योपार्जन करने वाली आत्माएँ तीर्थंकर, मोक्षगामी, चक्रवर्ती तथा सद्-गृहस्थ के रूप में वर्तमान जन्म में सुखानुभव करती हैं और प्राप्त-साधनों का सदुपयोग करने से भविष्य में भी सुखी होती हैं। पुण्यानुबंधी पाप के अन्तर्गत चण्डकौशिक सर्प के उदाहरण से यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्व-जन्म के अशुभकर्मों से उसे तिर्यंच-योनि

प्राप्त हुई परन्तु शुभकर्मों का उदय होते ही प्रभु महावीर का उपदेश सुनकर उसने भविष्य को सुधार लिया। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों की विवेचना भी की गई है, जिससे पूर्व-जन्म एवं पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

विषमताओं का कारण पूर्वजन्म

संसार में दृष्टिगत होने वाली आर्थिक, सामाजिक विषमताओं का कारण तो राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को भी माना जा सकता है, परन्तु कतिपय प्राकृतिक विषमताओं, यथा—सबमें समान बुद्धि का न होना, सबमें समान आकार-प्रकार का न होना आदि का कारण तो प्रत्येक जीव द्वारा पूर्व-भव में किए हुए शुभाशुभ कर्मों को ही मानना पड़ेगा। जैसे जीवों द्वारा किए गए पूर्व-जन्म के कर्म वर्तमान जीवन में फलित हो रहे हैं, इसी प्रकार वर्तमान-जन्म के (कई दीर्घकाल में फल देने वाले) कर्म भविष्य में फल देंगे तथा पुनर्जन्म के कारण बनेंगे।

सुख-दुःख की वर्तमान स्थिति के पीछे पूर्व-जन्म का कारण अवश्य होना चाहिए अन्यथा एक सज्जन व्यक्ति पवित्र जीवन-यापन करते हुए भी दुःखी क्यों रहता है? इसके विपरीत पापकर्मों में लिप्त एक अन्य व्यक्ति अत्यन्त सुखी जीवन बिताते हुए क्यों देखा जाता है? इसका अर्थ वर्तमान के शुभाशुभ कर्मों का निष्फल होना भी नहीं माना जा सकता। यही माना जा सकता है कि उस सज्जन व्यक्ति के वर्तमान में पूर्वकृत पापकर्मों का उदय है, जिससे वह दुःखी है परन्तु वर्तमान में जो वह शुभकर्म कर रहा है, उसका फल भविष्य में उसे अवश्य मिलेगा। इसी प्रकार उस पापी व्यक्ति के लिए भी समझना चाहिए। वर्तमान के क्रियाकलाप जैसे पूर्व-जन्म की सिद्धि करने वाले हैं, उसी प्रकार वर्तमान के क्रिया-कलापों के द्वारा भविष्य में (आगामी जन्म में) मिलने वाले फल के आधार पर पुनर्जन्म की सिद्धि भी होती है।

प्रकृष्ट शुभाशुभ कर्मफल और पुनर्जन्म

गणधर 'मौर्य' ने तीर्थंकर महावीर के समक्ष परलोक संबन्धी शंकाएँ रखीं।[६] इस संदर्भ में प्रभु महावीर का कथन था कि जो जीव इस लोक में प्रकृष्ट पाप करने वाले हैं उनके उस प्रकृष्ट पाप के फल-भोग निमित्त परलोक में नारकों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार इस लोक में प्रकृष्ट पुण्य करने वालों के फल-भोग के लिए अन्यत्र देवों का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए।

हमारे लौकिक जीवन में एक व्यक्ति की हत्या करने वाले को भी (उसका अपराध सिद्ध होने पर) अधिकतम फाँसी की सजा दी जाती है और अनेक व्यक्तियों की हत्या करने वाले के लिए भी वही सजा है। इससे अधिक सजा का विधान तो यहाँ है ही नहीं और हो भी नहीं सकता। तब क्या उनके पाप-कर्म को (एक और अनेक व्यक्तियों की हत्या की दृष्टि से) समान मान लेना चाहिए? नहीं, तो फिर ऐसी व्यवस्था पारलौकिक ही माननी होगी, जहाँ पाप/पुण्य कृत्यों का न्यायोचित फल मिले। इससे भी परलोक या पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

रायपसेणीय आगम[७] में सूर्याभदेव के पूर्व-जन्म में प्रदेशी राजा के केशी श्रमण के साथ हुए प्रश्नोत्तर भी परलोक या पुनर्जन्म के लिए प्रमाणभूत हैं। यहाँ विस्तारभय से उनका वर्णन नहीं किया जा रहा है। पाठक उन्हें आगम में पढें। कृत-कर्मों का प्रभाव आत्मा के साथ कार्मण शरीर के रूप में (सूक्ष्म

रूप में) साथ रहता है और जिस किसी भी जन्म को आत्मा पुनः प्राप्त करता है वहीं उसे उन कर्मो का फल भोगना पड़ता है। जिन कर्मो का फल वर्तमान जन्म में प्राप्त नहीं होता, उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है। यदि पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को नहीं माना जाएगा तो कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश और अकृतकर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कर्म-व्यवस्था दूषित हो जाएगी।[८]

पुनर्जन्म क्यों ?

पुनर्जन्म का कारण कर्म-परम्परा को माना गया है। जब तक कर्मो का क्षय नहीं होगा, जन्म-मरण की परम्परा का भी अंत नहीं होगा। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने मोक्ष की परिभाषा भी 'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः' कहकर की है कि सब कर्मों के क्षय हो जाने का नाम ही मोक्ष है।

"रागो य दोसोऽवि य कम्मबीयं" शास्त्र की इस पंक्ति के अनुसार कर्मबन्ध के मूल कारण राग और द्वेष हैं। इन्हीं राग-द्वेष की तीव्रता के कारण कर्मो की स्थिति और उनके फल में भी तीव्रता स्थापित होती है। कर्मबन्ध ही पुनर्जन्म का कारण है। इस कथन के लिए श्री 'भगवती सूत्र' का यह उल्लेख पर्याप्त होगा, जहाँ बताया गया है कि पुनर्जन्म कर्मसंगी जीवों के होता है।[९]

श्री दशवैकालिक सूत्र में भी उल्लेख है—

कोहो य माणो य अणिग्गहिया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

अर्थात्—शांत न किए हुए क्रोध-मान और प्रवर्धमान माया-लोभ—ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी विषवृक्ष की जड़ों को सींचते हैं अर्थात्—जन्म-मरण रूप संसार को बढ़ाते हैं।[१०]

कर्मबन्ध के मूल कारण योग और कषाय को माना गया है परन्तु योग होने पर भी कषाय के अभाव में कर्मबन्ध कुछ समयों के लिए ही होकर तत्काल निर्जीर्ण हो जाता है। अर्थात्-कर्मबन्ध का मूल कारण कषाय(राग-द्वेष)ही है। इसके अतिरिक्त हिंसा आदि आस्रवों के द्वार जब तक खुले हैं तब तक भी कर्म-प्रवाह चालू है। बीस आस्रवों में भी मिथ्या, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—पाँच को कर्मबंध का प्रमुख कारण माना गया है। जब तक ये कारण बने हुए हैं तब तक कर्म-परम्परा प्रवर्तमान होगी और पुनर्जन्म की परम्परा भी चालू रहेगी। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार गतियां हैं, जिनमें संसारी जीव परिभ्रमण करता रहता है। चार गतियों के बन्ध के कारणों में भी कषायों की ही प्रमुखता बताई गई है। यदि जीव का पुनर्जन्म नहीं होता तो इन गतियो का और गत्यंतर में जीव के जन्म लेने का विधान भी नहीं होता। जीव अपने शुभाशुभ कर्मों से नरक-तिर्यंच आदि गति में जाता है और कर्मफल का भोग करता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में प्रभु महावीर ने बताया है कि अपने कर्मो के अनुसार ही यह जीव कभी देवलोक में तो कभी नरक में और कभी असुरकाय में उत्पन्न हुआ है।[११]

जन्म-मरण या पुनर्जन्म से मुक्ति

संसारी जीव के जन्म के साथ ही दुःखों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। जब तक जन्म-मरण पर विजय नहीं पाई जाती तब तक आत्मा दुःखों से भी मुक्त नहीं हो सकता। जन्म-मरण के इस चक्र का या भव-परम्परा का मूल कारण जीव द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्म ही हैं तथा कर्मों के मूल कारण राग-द्वेष आदि कषाय हैं। अतः पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए कषायों से मुक्त होना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त आस्रवों का निवारण करके जीवन में संवर को अपनाना भी अनिवार्य है। इस संवर-क्रिया से नवीन कर्मबन्ध रुकेगा। इसके साथ पुराने बंधे हुए कर्मों को क्षय करने के लिए निर्जरा अर्थात् तपाराधन को भी अपनाना होगा। छः प्रकार के अनशनादि बाह्य तप और प्रायश्चित आदि आन्तरिक तपों की आराधना से ही संचित कर्मों का क्षय होगा। इस प्रकार संवर-निर्जरा की द्विविध आराधना से कर्मों की परम्परा का क्षय करके आत्मा पुनर्जन्म से सदा-सदा के लिए मुक्त हो सकेगा।

उद्धरण—

१. जैन दर्शन स्वरूप एवं विश्लेषण—श्री देवेन्द्रमुनि, पृष्ठ ४९३ (आचारांग १२-१६)
२. जैन दर्शन स्वरूप एवं विश्लेषण—श्री देवेन्द्र मुनि, पृ. ४९४ (न्यायसूत्र ३/१/११)
३. श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १९, गाथा ७ से ९
४. वही, अध्ययन १४ गाथा ५ तथा अध्ययन १३ गाथा ५ से ८
५. ठाणांग सूत्र—टीका श्री अभयदेवसूरि कृत, ठाणा ४
६. गणधरवाद—पं. दलसुख मालवणिया पृष्ठ १२४
७. रायपसेणीय सूत्र—सूर्याभ के पूर्वभव में राजा प्रदेशी का वर्णन।
८. जैन दर्शन स्वरूप एवं विश्लेषण—श्री देवेन्द्रमुनि, पृ. ४९४
९. जैन दर्शन स्वरूप एवं विश्लेषण—श्री देवेन्द्रमुनि, पृ. ४९३ (भगवती सूत्र २/५)
१०. श्री दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८ गाथा ३९
११. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३ गाथा ३

सहायक प्राध्यापक, शिक्षा
३५, अहिंसापुरी,
उदयपुर-३१३००१

जीत-चिन्तन

जिन-जिन हेतुओं से आत्मा विजातीय तत्त्वों में बंधता है वे अधर्म कहे जाते हैं और जिन हेतुओं से विजातीय तत्त्वों का आकर्षण रुक जाता है वे धर्म के नाम से जाने जाते हैं। भगवान् महावीर ने 'समता' को धर्म कहा है और विषमता को अधर्म। राग और द्वेष विषमता के प्रतीक हैं। न राग, न द्वेष—यही समता, तटस्थता या मध्यस्थता का प्रतीक है। महावीर की वाणी में यही वास्तविक धर्म है।

—**आ. प्र. श्री जीतमलजी म. सा.**

जैन-दर्शन का तात्त्विक विवेचन

साध्वी श्री उदितप्रभा जी 'उषा'

'दर्शन' की व्युत्पत्ति संस्कृत की "दृश्" धातु से हुई है। 'दृश' का अर्थ है—देखना। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'—जिसके द्वारा देखा जाए, वह 'दर्शन' है। किसी वस्तु को हम प्रत्यक्षत: देखते हैं, उसका साक्षात्कार करते हैं— साधारण अर्थों में यही 'दर्शन' है।

जिस 'दर्शन' शब्द पर हम विचार करने जा रहे हैं यदि उसका अर्थ साक्षात्कार होता तो दर्शन-शास्त्रों में वर्णित विभिन्न दर्शनों में परस्पर इतना मतभेद नहीं होता। साक्षात्कार या प्रत्यक्ष-दर्शन तो सभी तरह के मतभेदों का अन्त कर देता है। यदि "आत्मा नित्य है" या "आत्मा अनित्य है"—इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष का भी दर्शन साक्षात्कारात्मक होता तो आत्मा के नित्यानित्य संबंधी मंतव्य को सिद्ध करने के लिए सांख्य और बौद्ध-दार्शनिकों को दिमागी कसरत नहीं करनी पड़ती। वास्तविकता तो यह है कि पदार्थ के जिस अंश का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है, उस अंश की चर्चा दर्शन-शास्त्रों में बहुत कम हुई है। आत्मा, परमात्मा, लोक-स्वरूप, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों (जिनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता) के मनन-चिंतन में विभिन्न दर्शन-शास्त्रियों ने, दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण रखे हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि दर्शनशास्त्र का 'दर्शन' शब्द "दृष्टिकोण" के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

अतीन्द्रिय-पदार्थों के बारे में दार्शनिकों ने जो विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए, उनके समर्थन में पर्याप्त कल्पनाओं का भी विकास हुआ और प्रत्येक दर्शन ने अपने-अपने आदि पुरुष को उन अतीन्द्रिय-पदार्थों का द्रष्टा/साक्षात्कर्त्ता मानकर अपनी-अपनी विचारधारा पर सत्यता की मुहर अंकित करने का प्रयत्न किया। एक ओर पदार्थ के स्वरूप की सिद्धि करने में तर्क-बल का सार्वत्रिक प्रयोग देखा गया वहीं दूसरी ओर 'तर्कादप्रतिष्ठान्' जैसे सूत्रों द्वारा उसकी अप्रतिष्ठा की गई है। तर्क द्वारा अप्रतिष्ठित किए जाने पर वस्तु के स्वरूप को केवल शास्त्रगम्य या अनुभवगम्य बतलाया गया है तो भी पदार्थ का उस रूप से अनुभव नहीं होता। ऐसे समय में अधूरे तर्कों का आश्रय ले लिया जाता है।

भारतीय दार्शनिकों का बुद्धिभेद उस समय उग्ररूप से उजागर हुआ जब कुछ दार्शनिक एक वस्तु को 'सत्' मानते रहे, कुछ अन्य दार्शनिक उसी को 'असत्' बताते रहे और एक तीसरा विचारभेद

भी उभर आया, वह था 'सदसत्' विचार, उसी वस्तु के बारे में। बात यहीं तक नहीं रही बल्कि वाद के अनेक दार्शनिक उसी वस्तु को "अनिर्वचनीय' कहने लगे। आपसी मतभेद उभर कर टकराने लगे और एक-दूसरे के मंतव्य के खण्डन में नित-नूतन कल्पनाएँ/नित्य नए शब्द-स्वर उभरने लगे।

जैन 'दर्शन' ने दर्शन की धारा में गहरे गोते लगाकर जिन विषयों/प्रश्नों के समाधान को सर्व-साधारण के हितार्थ प्रस्तुत किया उनमें मुख्य है—जागतिक पदार्थों के मौलिक तत्त्व क्या हैं और कितने हैं? यदि एक से अधिक तत्त्व हों तो उनके परस्पर के संबंध कैसे हैं तथा इनमें 'कारण' किस प्रकार 'कार्य' रूप में परिणत होता है? आदि।

विश्व के सभी दार्शनिकों एवं तत्त्ववेत्ताओं ने 'अस्ति' के अस्तित्व पर विचार-मंथन किया है। प्राप्त विचारों का वर्गीकरण भी किया है। तत्त्वों का वर्गीकरण ही दर्शन का मुख्य कार्य है।

भारतीय दर्शनों में नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक दर्शन कुल सोलह तत्त्व मानता है। वैशेषिक दर्शन में तत्त्व छः हैं। मीमांसा कर्म प्रधान दर्शन है, उसका तात्त्विक वर्गीकरण अधिक सूक्ष्म नहीं है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक ही है और वह है 'परम-ब्रह्म'। सांख्य, प्राचीन काल में श्रमणदर्शन था और वर्तमान में वैदिक दर्शन में विलीन है। सांख्य दर्शन के अनुसार तत्त्व पच्चीस हैं। चार्वाक दर्शन केवल चार तत्त्व मानता है। जैनदर्शन प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित है। इसके आद्य प्रवर्त्तक भगवान ऋषभजिन हैं। यद्यपि वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और दार्शनिक जैनदर्शन को वैशेषिक, सांख्य आदि का ऋणी मानते हैं। उनका कहना है कि सांख्यदर्शन अति-प्राचीन दर्शन है और जैनदर्शन उसी के आधार पर विकसित हुआ है। उसका अपना कोई मौलिक तत्त्ववाद नहीं है।

वस्तुतः यह एक भ्रान्त धारणा है। सत्यतः तो साँख्यदर्शन, वैदिकदर्शन नहीं अपितु श्रमणदर्शन है। आचार्य शंकर स्पष्ट कहते हैं कि कपिल का सांख्यदर्शन वेद-विरुद्ध है और मनु-कथित वेदानुसारी के भी विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि यह श्रुति और स्मृति दोनों ही के विरुद्ध है। 'पद्मपुराण' में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि नैयायिकदर्शन, वैशेषिक दर्शन और पतञ्जलि का योगदर्शन—ये श्रुति-विरुद्ध होने से त्याज्य हैं, अग्राह्य हैं। यदि इन दर्शनों के दर्शन-ग्रन्थों का रचनाकाल देखें तो भी यही स्पष्ट होगा कि इन पर जितना श्रमणदर्शन का प्रभाव है, वैदिक दर्शन का उतना नहीं। न्यायसूत्र की रचना ई.पू. दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुई, वैशेषिक-दर्शन-ग्रन्थ भी इसी समय के आस-पास रचे गए, पतञ्जलि के योगसूत्र का रचना-समय भी यही है।

भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध आदि श्रमण-संस्कृति की महान् तेजस्वी विभूतियों ने हिंसात्मक वैदिक कर्मकाण्डों का सतर्क खण्डन ही नहीं किया अपितु एक अहिंसात्मक आंदोलन भी चलाया। वैदिक दर्शन के विज्ञ-जन इन तर्कों का खण्डन करने की स्थिति में भी नहीं थे अतः वे इस तत्त्वमीमांसा से प्रभावित हो गए। लगभग ५-७ शताब्दी का यह काल एक तरह से श्रमण-संस्कृति का जागृति-काल था। इस काल में जितने भी ग्रन्थ उद्भूत हुए वे श्रमण-दर्शन से प्रभावित थे, वैदिक दर्शन से या वेद-ग्रन्थों से नहीं।

पतञ्जलि के योगदर्शन का अध्ययन करें तो अध्येता स्वयं समझ जाएंगे कि वह श्रमण-दर्शन से प्रभावित है। उसमें केवली, शुक्लध्यान, सम्यग् ज्ञान, चरमदेह, ज्ञानावरणीय कर्म, सोपक्रम, निरुपक्रम आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो जैन-दर्शन से, जैन साहित्य या जैन ग्रंथों से लिए गए हैं। ये शब्द वैदिक साहित्य में कहीं नहीं मिलेंगे।

परमाणु और पुद्गल के बारे में भी जितना गंभीर एवं तात्त्विक चिंतन जैन दर्शन में मिलेगा, उतना अन्यत्र नहीं। सांख्यदर्शन का विस्तार तो सिर्फ एक 'पुद्गलास्तिकाय' की परिधि में आ जाता है। धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनागम जितने प्राचीन हैं, उतना सांख्यदर्शन नहीं। सांख्यदर्शन को जिन विद्वानों ने जैनदर्शन से प्राचीन माना है, उसका मूल कारण यही हो सकता है कि उन विद्वानों ने जैनागमों का अध्ययन, मनन-चिंतन पूर्वक नहीं किया है। यह भी संभावना है कि उन्होंने जैनागमों का अवलोकन ही न किया हो, केवल 'तत्त्वार्थ सूत्र' जैसे आगम के बाद रचित कुछ जैन साहित्य का अनुशीलन किया हो।

जैनदर्शन जागतिक वस्तु का जब विश्लेषण करता है तो मौलिक रूप से दो तत्त्वों का विवेचन करता है—एक चेतन तत्त्व एवं दूसरा अचेतन तत्त्व। यूनान, एशिया के एवं अन्यान्य दार्शनिक विश्व के सम्बन्ध में जो कुछ मनन-चिन्तन एवं अनुभव करते हैं, उसका भी विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। जीव और अजीव, आत्मा और पुद्गल, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़ तथा ब्रह्म और माया।

प्रारम्भ में भारतीय दर्शन की मुख्य रूप से दो धाराएँ चलीं—प्रथम चतुर्भूतवादी एवं द्वितयी पंचभूतवादी। दोनों धाराओं का क्रमिक विकास भी हुआ। कालान्तर में मानव-मन में जो विचार-द्वन्द्व चला उसका मूल कारण था चेतन। मानव ने सोचा—'भूत' अचेतन तत्त्व है फिर चेतन क्या है? सृष्टि, जगत् सृजन, आत्मा, परमात्मा आदि के बारे में विचार करने वाला तत्त्व कौनसा है? कौन सोचता है इन विषयों के विषय में? क्या भौतिक पदार्थों (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश) में चेतना है? यदि नहीं तो किसमें है?

मानव ने अपना चिन्तन आगे बढ़ाया, उसी चिन्तन के निष्कर्ष-स्वरूप उसने पाया कि चेतना भौतिक तत्त्वों की परिणति है, उनके संघटन की क्रिया है, उनसे भिन्न चेतना कोई तत्त्व नहीं है। यदि चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो भौतिक तत्त्वों से पृथक् भी कहीं वह दिखाई देती। जैसे जल में जलकण अपना पृथक् अस्तित्व रखता है और हम उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं, चेतना की वैसी स्वतन्त्र सत्ता हमें कहीं भासित नहीं होती, दिखाई नहीं देती।

एक अन्य चिन्तन भी चला। उन्होंने स्थूल जगत् के साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। चिन्तन इसी दशा में आगे बढ़ा। उन्होंने कहा—चेतना न प्रत्येक भूत में है और न उसकी सामुदायिक परिणति में। प्रत्येक भूत यदि उसका उपादान नहीं है तो उनकी संहति भी चेतना का उपादान नहीं बन सकती। उपादान के रूप में संहति में वही गुण प्रकट होता है, जिसकी सत्ता प्रत्येक इकाई में होती है। इस स्थिति में उसका उपादान कोई स्वतंत्र है। इसी चिन्तन-धारा के सहारे आगे बढ़ते हुए उन्होंने चेतना के उत्पादन का साक्षात्कार किया और उसका नाम रक्खा—'आत्मा', जो इन्द्रियों से दृष्ट नहीं है। वह तो तभी दृष्ट होती है जब प्राणी 'चेतना' की अधिकाधिक गहराई में पैठे। यही कारण है कि आत्मवादी दार्शनिकों ने दर्शन की अध्यात्मवादी धारा को विकसित किया और आत्मा को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिपादित किया।

गुण एवं क्रिया अथवा पर्याय के आधार को 'द्रव्य' कहा जाता है। आत्मा एक द्रव्य है और ज्ञानादि उस आत्मा के विशेष गुण। वर्तमान युग के यूरोपियन दार्शनिकों का विश्वविषयक चिन्तन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनुसंधान एवं विश्लेषण के आधार पर सृष्टि एवं पदार्थ के स्वरूप का वैज्ञानिक निष्कर्ष भी विचारणीय है।

द्रव्य-निरूपण में पाश्चात्य दार्शनिक 'डेकार्ट' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसकी शिक्षा का मुख्य विषय गणित और ज्योतिष रहा है पर आगे जाकर उसकी रुचि दर्शन-शास्त्र की ओर मुड़ी। उसने गणित एवं दर्शनशास्त्र में किंचित् समानता के साथ एक आश्चर्यजनक असमानता को भी देखा। गणित केवल प्रत्यक्ष आधारित होता है, उसमें सन्देह का स्थान नहीं होता जबकि दर्शनशास्त्र अदृश्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। 'डेकार्ट' ने निश्चय किया कि वह इस अदृश्य-शक्ति एवं उसमें वर्णित धारणाओं को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखेगा कि वह युक्ति-युक्त है या नहीं। उसका प्रत्येक चिन्तन व्यापक संदेह के साथ प्रारम्भ हुआ। दर्शनशास्त्र का विषय था—बाह्य सृष्टि का, परमात्मा का एवं स्वयं का अध्ययन करना। उसने इन तीनों की सत्ता में सन्देह किया पर शीघ्र ही उसे यह अनुभूति होने लगी कि इनकी सत्ता में संदेह किया जा सकता है पर सन्देह के अस्तित्व को तो नकारा नहीं जा सकता, उसमें तो संदेह नहीं किया जा सकता। तब उसने कहा—"सन्देह एक प्रकार की चेतन-अवस्था है और उसका अस्तित्व असंदिग्ध तथ्य है।"

जब इन्द्रभूति गौतम सर्वप्रथम प्रभु महावीर के सम्पर्क में आए तो उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से जानना चाहा। महावीर ने अनेक तर्क देकर उनसे कहा कि तुमको जो यह सन्देह है कि आत्मा है या नहीं, वह संदेह ही आत्मा के अस्तित्व की प्रत्यक्ष अनुभूति है।

डेकार्ट ने भी कहा—"मै चिन्तन करता हूँ, अतः मैं हूँ।" उसने आत्मा (स्व) के अस्तित्व के साथ परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार किया एवं 'स्व' से भिन्न भौतिक तत्त्व अथवा बाह्य सृष्टि, जिसे वह द्रव्य (Substance) कहता है, को भी स्वीकार किया।

'द्रव्य' पर चिन्तन-मनन पूर्वक उसकी साँगोपांग व्याख्या देने वाले, विश्लेषण करने वाले अन्य पाश्चात्य विद्वानों में मुख्य हैं—मेल ब्रांस, स्पीनोजा, लाइबनिज, अरस्तू आदि।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं, जैनदर्शन ने जागतिक वस्तुओं का विश्लेषण करते हुए दो तत्त्वों पर मुख्य रूप से चिन्तन किया है—(१) चेतन (२) अचेतन। चेतन वह, जो ज्ञान युक्त है अर्थात् आत्मा। जैनदर्शन में आत्मा को कर्त्ता माना है और उसी को भोक्ता। मैं हूँ, मैं देखता हूँ, मैं अमुक कार्य करता हूँ—ऐसी प्रतीति प्रत्येक प्राणी को होती है अतः आत्मा का कर्तृत्व अनुभव-सिद्ध है। उसे सुख-दुख आदि की अनुभूति भी होती है अतः आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता भी है। अनुभूति चेतन का स्वभाव है। आत्म-द्रव्य अनंत है, नित्यानित्य है तथा संसारी आत्मा शरीर-प्रमाण है। आत्मा स्वकीय रूप में नित्य होने पर भी अवस्थान्तर को प्राप्त होता रहता है अतः पर्याय-दृष्टि से वह अनित्य भी है। आत्मा स्वयं को प्रकाशित करता है तथा स्वातिरिक्त दूसरे को भी प्रकाशित करता है—यह इसका विशेष गुण है। यही गुण चैतन्य को जड़ से पृथक् सिद्ध करता है। आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी। इस तरह वह दो रूपों में भासित होता है। जब हम कोई अच्छा या बुरा कार्य करते हैं तो आत्मा अपने ही आपको कहता है कि अरे! यह कार्य तुमने अच्छा किया या अमुक कार्य तुमने अच्छा नहीं किया, तुम्हें ऐसा कार्य नहीं

पतञ्जलि के योगदर्शन का अध्ययन करें तो अध्येता स्वयं समझ जाएंगे कि वह श्रमण-दर्शन से प्रभावित है। उसमें केवली, शुक्लध्यान, सम्यग् ज्ञान, चरमदेह, ज्ञानावरणीय कर्म, सोपक्रम, निरुपक्रम आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जो जैन-दर्शन से, जैन साहित्य या जैन ग्रंथों से लिए गए हैं। ये शब्द वैदिक साहित्य में कहीं नहीं मिलेंगे।

परमाणु और पुद्गल के बारे में भी जितना गंभीर एवं तात्त्विक चिंतन जैन दर्शन में मिलेगा, उतना अन्यत्र नहीं। सांख्यदर्शन का विस्तार तो सिर्फ एक 'पुद्गलास्तिकाय' की परिधि में आ जाता है। धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा भिन्न एवं स्वतंत्र है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनागम जितने प्राचीन हैं, उतना सांख्यदर्शन नहीं। सांख्यदर्शन को जिन विद्वानों ने जैनदर्शन से प्राचीन माना है, उसका मूल कारण यही हो सकता है कि उन विद्वानों ने जैनागमों का अध्ययन, मनन-चिंतन पूर्वक नहीं किया है। यह भी संभावना है कि उन्होंने जैनागमों का अवलोकन ही न किया हो, केवल 'तत्त्वार्थ सूत्र' जैसे आगम के बाद रचित कुछ जैन साहित्य का अनुशीलन किया हो।

जैनदर्शन जागतिक वस्तु का जब विश्लेषण करता है तो मौलिक रूप से दो तत्त्वों का विवेचन करता है—एक चेतन तत्त्व एवं दूसरा अचेतन तत्त्व। यूनान, एशिया के एवं अन्यान्य दार्शनिक विश्व के सम्बन्ध में जो कुछ मनन-चिन्तन एवं अनुभव करते हैं, उसका भी विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। जीव और अजीव, आत्मा और पुद्गल, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़ तथा ब्रह्म और माया।

प्रारम्भ में भारतीय दर्शन की मुख्य रूप से दो धाराएँ चलीं—प्रथम चतुर्भूतवादी एवं द्वितयी पंचभूतवादी। दोनों धाराओं का क्रमिक विकास भी हुआ। कालान्तर में मानव-मन में जो विचार-द्वन्द्व चला उसका मूल कारण था चेतन। मानव ने सोचा—'भूत' अचेतन तत्त्व है फिर चेतन क्या है? सृष्टि, जगत् सृजन, आत्मा, परमात्मा आदि के बारे में विचार करने वाला तत्त्व कौनसा है? कौन सोचता है इन विषयों के विषय में? क्या भौतिक पदार्थों (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश) में चेतना है? यदि नहीं तो किसमें है?

मानव ने अपना चिन्तन आगे बढ़ाया, उसी चिन्तन के निष्कर्ष-स्वरूप उसने पाया कि चेतना भौतिक तत्त्वों की परिणति है, उनके संघटन की क्रिया है, उनसे भिन्न चेतना कोई तत्त्व नहीं है। यदि चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो भौतिक तत्त्वों से पृथक् भी कहीं वह दिखाई देती। जैसे जल में जलकण अपना पृथक् अस्तित्व रखता है और हम उसको प्रत्यक्ष देख सकते हैं, चेतना की वैसी स्वतन्त्र सत्ता हमें कहीं भासित नहीं होती, दिखाई नहीं देती।

एक अन्य चिन्तन भी चला। उन्होंने स्थूल जगत् के साथ-साथ सूक्ष्म को भी देखा। चिन्तन इसी दशा में आगे बढ़ा। उन्होंने कहा—चेतना न प्रत्येक भूत में है और न उसकी सामुदायिक परिणति में। प्रत्येक भूत यदि उसका उपादान नहीं है तो उनकी संहति भी चेतना का उपादान नहीं बन सकती। उपादान के रूप में संहति में वही गुण प्रकट होता है, जिसकी सत्ता प्रत्येक इकाई में होती है। इस स्थिति में उसका उपादान कोई स्वतंत्र है। इसी चिन्तन-धारा के सहारे आगे बढ़ते हुए उन्होंने चेतना के उत्पादन का साक्षात्कार किया और उसका नाम रक्खा—'आत्मा', जो इन्द्रियों से दृष्ट नहीं है। वह तो तभी दृष्ट होती है जब प्राणी 'चेतना' की अधिकाधिक गहराई में पैठे। यही कारण है कि आत्मवादी दार्शनिकों ने दर्शन की अध्यात्मवादी धारा को विकसित किया और आत्मा को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिपादित किया।

गुण एवं क्रिया अथवा पर्याय के आधार को 'द्रव्य' कहा जाता है। आत्मा एक द्रव्य है और ज्ञानादि उस आत्मा के विशेष गुण। वर्तमान युग के यूरोपियन दार्शनिकों का विश्वविषयक चिन्तन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनुसंधान एवं विश्लेषण के आधार पर सृष्टि एवं पदार्थ के स्वरूप का वैज्ञानिक निष्कर्ष भी विचारणीय है।

द्रव्य-निरूपण में पाश्चात्य दार्शनिक 'डेकार्ट' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसकी शिक्षा का मुख्य विषय गणित और ज्योतिष रहा है पर आगे जाकर उसकी रुचि दर्शन-शास्त्र की ओर मुड़ी। उसने गणित एवं दर्शनशास्त्र में किंचित् समानता के साथ एक आश्चर्यजनक असमानता को भी देखा। गणित केवल प्रत्यक्ष आधारित होता है, उसमें सन्देह का स्थान नहीं होता जबकि दर्शनशास्त्र अदृश्य सत्ता को भी स्वीकार करता है। 'डेकार्ट' ने निश्चय किया कि वह इस अदृश्य-शक्ति एवं उसमें वर्णित धारणाओं को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखेगा कि वह युक्ति-युक्त है या नहीं। उसका प्रत्येक चिन्तन व्यापक संदेह के साथ प्रारम्भ हुआ। दर्शनशास्त्र का विषय था—बाह्य सृष्टि का, परमात्मा का एवं स्वयं का अध्ययन करना। उसने इन तीनों की सत्ता में सन्देह किया पर शीघ्र ही उसे यह अनुभूति होने लगी कि इनकी सत्ता में संदेह किया जा सकता है पर सन्देह के अस्तित्व को तो नकारा नहीं जा सकता, उसमें तो संदेह नहीं किया जा सकता। तब उसने कहा—"सन्देह एक प्रकार की चेतन-अवस्था है और उसका अस्तित्व असंदिग्ध तथ्य है।"

जब इन्द्रभूति गौतम सर्वप्रथम प्रभु महावीर के सम्पर्क में आए तो उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप से जानना चाहा। महावीर ने अनेक तर्क देकर उनसे कहा कि तुमको जो यह सन्देह है कि आत्मा है या नहीं, वह संदेह ही आत्मा के अस्तित्व की प्रत्यक्ष अनुभूति है।

डेकार्ट ने भी कहा—"मै चिन्तन करता हूँ, अतः मैं हूँ।" उसने आत्मा (स्व) के अस्तित्व के साथ परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार किया एवं 'स्व' से भिन्न भौतिक तत्त्व अथवा बाह्य सृष्टि, जिसे वह द्रव्य (Substance) कहता है, को भी स्वीकार किया।

'द्रव्य' पर चिन्तन-मनन पूर्वक उसकी साँगोपांग व्याख्या देने वाले, विश्लेषण करने वाले अन्य पाश्चात्य विद्वानों में मुख्य हैं—मेल ब्रांस, स्पीनोजा, लाइबनिज, अरस्तू आदि।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं, जैनदर्शन ने जागतिक वस्तुओं का विश्लेषण करते हुए दो तत्त्वों पर मुख्य रूप से चिन्तन किया है—(१) चेतन (२) अचेतन। चेतन वह, जो ज्ञान युक्त है अर्थात् आत्मा। जैनदर्शन में आत्मा को कर्त्ता माना है और उसी को भोक्ता। मैं हूँ, मैं देखता हूँ, मैं अमुक कार्य करता हूँ—ऐसी प्रतीति प्रत्येक प्राणी को होती है अतः आत्मा का कर्तृत्व अनुभव-सिद्ध है। उसे सुख-दुख आदि की अनुभूति भी होती है अतः आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता भी है। अनुभूति चेतन का स्वभाव है। आत्म-द्रव्य अनंत है, नित्यानित्य है तथा संसारी आत्मा शरीर-प्रमाण है। आत्मा स्वकीय रूप में नित्य होने पर भी अवस्थान्तर को प्राप्त होता रहता है अतः पर्याय-दृष्टि से वह अनित्य भी है। आत्मा स्वयं को प्रकाशित करता है तथा स्वातिरिक्त दूसरे को भी प्रकाशित करता है—यह इसका विशेष गुण है। यही गुण चैतन्य को जड़ से पृथक् सिद्ध करता है। आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी। इस तरह वह दो रूपों में भासित होता है। जब हम कोई अच्छा या बुरा कार्य करते हैं तो आत्मा अपने ही आपको कहता है कि अरे! यह कार्य तुमने अच्छा किया या अमुक कार्य तुमने अच्छा नहीं किया, तुम्हें ऐसा कार्य नहीं

करना चाहिए। यहाँ विचार करने वाला आत्मा, 'शुद्ध' आत्मा है तथा जिस आत्मा के वारे में विचार किया जा रहा है, वह अशुद्ध है, राग-द्वेष-अज्ञान आदि से युक्त है। इन दोनों में से यथार्थ कौन? जैनदर्शन में अनंत ज्ञानादि से युक्त एवं राग-द्वेषादि से विमुक्त आत्म-स्वरूप को ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप, सत्य स्वरूप, यथार्थ स्वरूप वताया है और उसे ही मुक्तात्मा या परमात्मा कहा गया है। शुद्धाशुद्ध रूप वाला आत्मा संसारी-आत्मा है।

जैनदर्शन ने दूसरे तत्त्व अचेतन पर भी अपने मौलिक विचार दर्शन-जगत् को प्रदान किए हैं। अचेतन-तत्त्व पर जैनदर्शन का सूक्ष्म विश्लेपण अन्य किसी भी दर्शन से प्रभावित नहीं है, ऐसा साधिकार कहा जा सकता है। जिसमें ज्ञान नहीं है, जिसमें अनुभव करने की शक्ति नहीं है ऐसा जड़-पदार्थ ही अचेतन है। जैनदर्शन ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—ये पाँच प्रकार वताए हैं, अचेतन-तत्त्व के। धर्म और अधर्म तत्त्व की जो व्यवस्था जैनदर्शन ने की है वह विश्व के किसी भी दर्शन में नहीं मिलती है। अन्य दर्शन धर्म-अधर्म को पुण्य-पाप के रूप में मानते हैं परन्तु जैनदर्शन ने 'धर्म' को विश्व की गति में सहायक और 'अधर्म' को विश्व की स्थिति में सहायक माना है। अन्य दर्शनों की स्थिति विचित्र है, वे न इसे स्वीकार कर पा रहे हैं और न ही इसका खण्डन करते हैं। जैन दर्शन की अचेतन-तत्त्व की व्याख्या अत्यन्त व्यापक, वैज्ञानिक एवं मौलिक है। पंचास्तिकाय-वर्गीकरण में इन अचेतन-द्रव्यों का स्वतंत्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य का गुण या अवान्तर विभाग नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है।

जैन दृष्टि के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, वह तीनों काल में रहती है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसका कभी विनाश भी नहीं होता किन्तु पर्याय-दृष्टि से वह परिवर्तनशील है, उसका उत्पाद भी होता है तथा विनाश भी। एक पर्याय का नाश होने पर दूसरी पर्याय का उत्पादन होता है और उन दोनों पर्यायों में एक द्रव्यात्मक तत्त्व अविच्छिन्न रूप से बना रहता है।

जैन-दर्शन में प्रत्येक वस्तु या द्रव्य का लक्षण सत् वतलाया गया है। "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा; सद्द्रव्य-लक्षणं; उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सद्" इस तरह प्रत्येक पदार्थ त्रयात्मक है। संक्षेप में मूलतः द्रव्य दो ही हैं—जीव और अजीव। जीव और अजीव के संयोग-वियोग से ही उनकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है।

जैन-दर्शन के व्यापक स्वरूप की एक संक्षिप्त मीमाँसा इस निवन्ध में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। भारतीय दर्शन-शास्त्र शुष्कज्ञान-मात्र अथवा विद्वानों के मनोविनोद का साधन मात्र ही नहीं है वल्कि उसका प्राणी मात्र के जीवन से गहरा सम्वन्ध है। प्राणी, जो क्लेश पाता है उनका निवारण कैसे हो? जीव, जड़ के वंधन से किस प्रकार मुक्त हो? प्राणी अपने 'स्व' को कैसे पहचाने? वह 'स्व' के 'स्वरूप' की प्राप्ति के लिए क्या करे? कैसे करे? आदि प्रश्नों का उत्तर देना ही भारतीय दर्शन का एक मात्र लक्ष्य है। जैन दर्शन ने इन प्रश्नों का गहन चिन्तन-मनन पूर्वक उत्तर देकर सांसारिक सुखों को सुखाभास वताते हुए उनकी उपेक्षा की है और आत्म-चिन्तन पर, आत्म-विश्लेषण पर अधिक बल दिया है। आत्म-विश्लेषण के फलस्वरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नैतिक गुणों की प्राप्ति होती है। नैतिकता का यह विकास ही मानव-मात्र को सुखी बनाने में सहायक वनता है, आत्म-शांति का पथ-प्रशस्त करता है और विश्व-शांति का हेतु भी वनता है।

—शिष्या: अ.यो. श्री उमरावकुंवरजी म.सा. 'अर्चना'
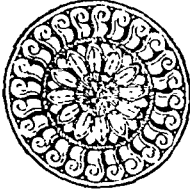
Modern Physics and Syadvada

Dr. D. S. Kothari

The most incomprehensible thing about the universe is that it is comprehensible.—A. Einstein (b. 14.3.1879, d. 18.4.1955).

The one certain thing is that a statement like "existence is meaningless" is itself devoid of any meaning.—Niels Bohr (b. 7.10.1885, d. 18.11.1962).

Complementarity principle in Syadvada

The Principle of Complementarity which we owe principally to Niels Bohr is perhaps the most significant and revolutionary concept of modern physics. Philosophically, it should be noted, it is very close to the concept of *Syadvada*. Bohr had great faith in the future role in human affairs of the practical philosophy of complementarity. It can enable people to see that seemingly irreconcilable points of view need not be contradictory. These, on deeper understanding, may be found to be complementary and mutually illuminating. The complementarity approach allows the possibility of accomodating widely divergent human experiences into an underlying harmony, and bringing to light new social and ethical vistas for exploration and for alleviation of human suffering. Bohr fervently hoped that one day complementarity would be an integral part of everyone's education and provide guidance in the problems and challenges of life. For Bohr the complementarity approach which accomplished one of the greatest revolutions in natural philosophy was also of the utmost relevance for every aspect of man's life.

Modern Physics (relativity and quantum theory) provides, as never before, far-reaching examples of, and insight into, Syadvada. Also Syadvada makes it much easier to grasp the complementarity principle in physics. Above all Syadvada—and so the complementarity approach—is a guide for the conduct of life and moral advancement of man. Syadvada is indispensable for the pursuit of truth and *ahimsa* in all their varied aspects.
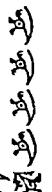
H. Yukawa, the Japanese physicist who predicted the existence of the *mesons* on the basis of the principle of complementarity, was asked whether young physicists in Japan found the same great difficulty in comprehending the idea of complementarity as physicists do in the West. He replied that Bohr's complementarity always appeared to them as quite evident. "You see we in Japan have not been corrupted by Aristotle (Aristotle's Logic)", he added. How much more would it be true of India if Syadvada was a part of Indian education—but our formal education (till recently?) has hardly any Indian roots.

It is interesting to recall that Bohr as a student attended Hoffding lectures on formal logic and on the history of philosophy. He liked Spinoza's concept of the psychophysical parallelism, but later rejected it, as parallelism is not a true expression of complementarity. He read Kierkegaard. He was much impressed by Paul Moller's "*Tale of Danish Student*", a delightful humorous story of Hegelian dialectics. A soul-searching research scholar struggles desperately to unravel the intricacies of human thinking. How can a thought arise in the mind ?" And before you think it, you must have had an idea of it, otherwise how could it have occured to you to think it? And so it goes on to infinity, and this infinity is enclosed in an instant''. And while the scholar is trying to prove that thoughts cannot move, in that very process the thoughts are rapidly moving. We are involved in an inexplicable contradiction. (L. Rosenfeld, *Physics Today*, Oct. 1963). All this is so similar to the celebrated Zeno's paradox on the impossibility of motion of objects.

Language and Reality

At this point a few words about ambiguities and contradictions inherent in ordinary language may be in order. Bohr's first and continuing preoccupation with philosophical problems related to the use of language for unambiguously describing our experiences. A fundamental difficulty in this regard arises from the inescapable fact that man is both *actor* and *spectator* in the universe, an idea that was Bohr's favourite reflection. Thus, when I am 'seeing' a thing, I am also 'acting' : my choice to see the particular thing is an 'act' , on my part. We often use the *same* word to describe a state of our consciousness and of the associated, accompanying behaviour of the body. How to avoid the ambiguity ? Bohr drew attention to the beautiful analogy of the concepts of multiform function and Riemann surface. The different values of a multiform function and distributed on different Riemann planes of a Riemann surface. Similarly we may say that the different meanings of the same word belong to different '*planes of objectivity*'. "The use of words in everyday life must be subject to the condition that they be kept within the same plane of objectivity, and as soon as we deal with words referring to our own thinking, we are exposed to the danger of gliding on to another plane. In mathematics, that highly sophisticated language, we are guarded against this danger by the essential

rule never to refer to ourselves. But just as the gist of Riemann's conception lies in regarding all the branches of a multiform function as one single function, it is an essential feature of ordinary language that there is one word only for the different aspects of a given form of psychical activity. We cannot hope, therefore, to avoid such deep rooted ambiguities by creating 'new concepts'. We must rather recognise the mutual relationships of the planes of objectivity as primitive, irreducible ones, and try to remain keenly aware of them" (Rosenfeld p-49).

Bohr often used to tell how the ancient Indian thinkers had emphasized the futility of our ever understanding the "meaning of existence". And he would add that the one certain thing is that a statement like "existence is meaningless" is itself devoid of any meaning.

In his Gifford Lectures (1955–56) on *Physics and Philosophy* Heisenberg has discussed at some length the problem of language and reality in modern physics. He emphasises that the concepts of natural or ordinary language "are formed by the immediate connection with reality; they represent reality. It is true that they are not very well defined and may therefore also undergo changes in the course of the centuries, just as reality itself did, but they never lose the immediate connection with reality" (p.171). On the other hand because the concepts of science are for the precisely defined, idealized, their connection with reality is in general, only in a limited domain of nature. Heisenberg says: "Keeping in mind the intrinsic stability of the concepts of natural language in the process of scientific development, one sees that–after the experience of modern physics—our attitude toward concepts like mind or the human soul or life or God will be different from that of the nineteenth century. Because these concepts belong to the natural language and have therefore immediate connection with reality. It is ture that we will also realize that these concepts are not well defined in the scientific sense and that their application may lead to various contradictions, for the time being we may have to take the concepts, unanalyzed as they are; but still we know that they touch reality. It may by useful in this connection to remember that even in the most precise part of science, in mathematics, we cannot avoid using concepts that involve contradictions. For instance, it is well known that the concept of infinity leads to contradictions that have been analyzed, but it would be practically impossible to construct the main parts of mathematics without this concept. . . . . Whenever we proceed from the known into the unknown we may hope to understand, but we may have to learn at the same time a new meaning of the word 'understanding'. We know that any understanding must be based finally upon the natural language because it is only there that we can be certain to touch reality, and hence we must be sceptical about any scepticism with regard to this natural language and its essential concepts. Therefore, we may use these concepts as they have been used at all times. In this

way modern physics has perhaps opened the door to a wider outlook on the relation between the human mind and reality''. (p. 171-73)

Modern Physics has warned us against the dangers of overestimating the value and utility of precise scientific concepts : for example, the fundamental concepts of classical physics no longer hold in quantum mechanics. In describing atomic phenomena "if one wishes to speak about the atomic particles themselves one must either use the mathematical scheme as the only supplement to natural language or one must combine it with a language that makes use of a modified logic or of no well-defined logic at all. In the experiments about atomic events we have to do with things and facts, with phenomena that are just as real as any phenomena in daily life. But the atoms or the elementary particles themselves are not as real; they form a world of potentialities or possibilities rather than one of things or facts". (p. 160)

A favourite maxim of Bohr of interest in connection with Syadvada is the distinction between the two kinds of truths, profound truths and trivial truths. For a profound truth its opposite or negation is also a profound truth. For a trivial truth its opposite is false, an absurdity. Statements expressing the highest wisdom often involve words whose meaning cannot be defined unambiguously. "Thus the truth of a statement of the highest wisdom is not absolute, but is only relative to a suitable meaning for the ambiguous words in it, with the consequence that the converse statement also has validity and is also wisdom." Bohr illustrated this with his statement 'There is a God', a statement of great wisdom and truth, and the converse 'There is no God' also a statement of great wisdom and truth. (For him who *believes* that there is no God, his God is 'no-God'. The aspects of God are infinite, inexhaustible, inexpressible). This reminds of an oft quoted dialogue between Lord Mahavira and his favourite disciple Gautam. (Nathmal Tatia, *Studies in Jaina Philosophy*, Jain Cultural Research Society, Banaras, (1951) pp. 22-23.)

"Are the souls, O Lord, eternal or non-enternal ?"

"The Souls, O Gautama, are eternal in some respect and non-eternal in some respect."

"With what end in view, O Lord, is it said that the souls are eternal in some respect and non-eternal in some respect ?".

"They are eternal, O Gautama, from the viewpoint of substance, and non-eternal from the view point of modes, and with this end in view it is said, O Gautama, that the souls are eternal in some respect and non-eternal in some respect".

"Is the body, O Lord, identical with the soul or is the body different from it ?"

"The body, O Gautama, is identical with the soul as well as it is different from it".

Atom and Complementarity

Let us, for the time being, limit ourselves to the domain of logical-empirical experience, that is, communicable, objective facts, and ask what is the radically new situation we meet with in dealing with atomic phenomena (quantum physics) as distinct from everyday experience (classical physics). When we speak of a 'table' or 'chair', any meaningful statement and its negation cannot both be correct at the the same time. If the statement 'the chair is in this room' is correct, then the statement 'the chair is not in this room' is false. Both cannot be true at the same time. But this fundamental principle of logic and commonsense is, in general, violated in atomic phenomena. Atoms in general behave in a manner completely foreign, totally repugnant to commonsense and classical logic.

Consider an idealized situation which brings out the essentials. There is an 'atom' in a closed 'box'. The box is divided by a partition into two equal compartments. The partition has a very small hole so that the atom can pass through it. The hole can be closed if desired. According to classical logic the atom can be either in the left compartment (L) or in the right compartment (R). There is no third alternative. But the new physics forces us to admit other possibilities to explain adequately the results of experiments. If we at all use the word 'box' and 'atom', then there is no escape whatsoever from admitting—in some strange way which totally defies description in words—*that the same atom is, at the same time, in both the compartments.* What we are speaking of is not a case of the atom being sometimes in the left compartment and some times in the right compartment; but being in *both* the compartments at the same time. It is an idea crazy beyond words. And so it is. But there is no escape.

X	
L	R

Consiber the 'box and atom' situation a little further. We suppose a beam of light illuminating the box (which we may take to be transparent), and we study the angular distribution of the intensity of light scattered by the atom in the box. We make three experiments. Firstly, the atom is placed in L with the hole closed; secondly, the atom is placed in R with the hole closed; and thirdly, the atom is placed in the box with the hole open so that it can move freely in the whole box. The observed intensity-distribution of light for the third case is truely astonishing. The intensity distribution is not a mixture, a sum, of the distributions for the first and the second case, the composition of the mixture depending on the fraction of time spent by the atom in each of the two compartments. The distribution is in fact altogether different. It shows an interference feature which can be only explained by assuming that the incident light is scattered *from the atom present, at the same time, in both the compartments : The atom is, in some strange way,* in *the two compartments at the same time.* It shows in this case a behaviour fundamentally different from that of a 'particle'. A particle cannot be at two places at

the same time. The new aspect of the atom revealed in the third experiment is called the 'wave aspect'. A wave fills all available space. Totally unlike large objects, objects on the atomic scale show a dual aspect, a particle aspect and a wave aspect. *The two aspects which are totally contradictory in every day experience are complementary at the level of atoms.* Why so? Because nature is so constituted that experiments which demonstrate the particle aspect and those which demonstrate the wave aspect are *mutually incompatible.* We can have only the one set-up or the other, and never the two can be combined or built together into some super-apparatus to demonstrate both the aspects at the same time. We ask : What is it that makes these experiments mutually incompatible? It arises from the far-reaching, and totally unexpected, fact that an act of observation, even an ideal observation supposed to be made with 'perfect' instruments is inevitably accompanied by a certain *minimum disturbance.* The disturbance cannot be eliminated, cannot be analysed or allowed for. It is inherent in the nature of things. It disturbs in an unpredictable way, the state of the system under observation. We cannot even think of an experiment—a thought experiment, as it is called—that can be made free of the concomitant minimum uncertainty. The effect of this inevitable disturbance is altogether negligible for a big object, but for an atomic object the effect is drastic. It drastically modifies the state of the system under investigation. (This is technically called the 'reduction of the wave packet'). It is because of this disturbance, an integral feature of an act of observation, that an experiment to study the wave aspect of an atomic system is incompatible with a set-up to study the particle aspect.

We spoke of the wave-particle duality. Consider the usual arrangement for obtaining interference fringes. For the light beam each photon must pass through both the holes (at the same time) to produce interference fringes. This is observed on the plate P. Suppose we wish to find out how a photon can simultaneously go through the two holes : How can this happen? For this purpose, we determine the momentum of the plate P in the Y-direction. The plate had to be kept rigidly fixed to observe the fringes. But to observe the momentum of the plate, it must be completely free to move in the Y-direction. Further, if we are to be able to decide whether the photon came from the direction of the hole A or from the hole B, the uncertainty in the momentum in the Y-direction of the plate should be small compared to $h\gamma\theta/c$.
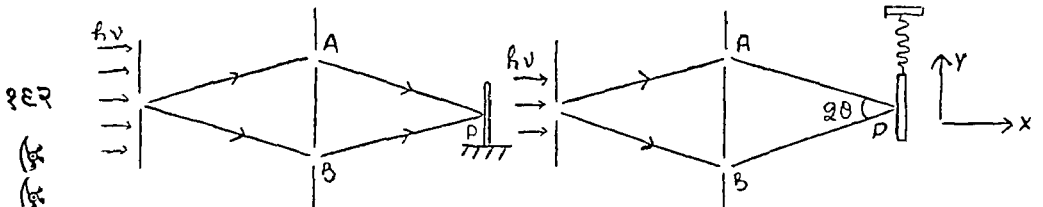
(1) Fixed plate to observe interference fringes

(2) Freely suspended plate to observe direction of incoming photon

This requirement about the uncertainty in momentum makes the position of the plate uncertain. It is given by the Heisenberg indeterminacy principle : $\Delta y \gg h/(h\nu\theta/C)$ or $\Delta y \gg \lambda/\theta$ But for the production of interference fringes it is necessary that $\lambda/\theta >> \Delta y$. Hence, it is apparent, an apparatus designed to tell us how a photon passes through the two holes cannot in the very nature of the experiment record the interference fringes. The uncertain spread in the position of the plate is far more than the separation between the fringes. The fringes are totally washed out. If the momentum change is $(+h\nu/\theta)$, the photon came through the hole B, if the momentum change is $(-h\nu/\theta)$, then it came through A; and if the momentum change is nearly zero, the photon came through both the holes. (In the latter case we should observe the interference fringes.) What we observe is that a photon either goes through A or through B, but never through the two holes at the same time. But if we forego to determine the direction of the incoming photons and keep the plate P fixed, interference fringes are recorded on the plate—announcing that *each photon did go through the two holes* at the same time. We have an extraordinary situation. A photon goes through the two holes if we forego any attempt to *observe* how this happens; but if we probe into it, the photon goes through only one hole or the other and no interference fringes are produced. It is because of this mutual exclusiveness of the two set-ups, (1) and (2) in the figure that the particle and the wave aspects for the photon are complementary and not contradictory. And the same holds for any 'small object' : it holds good for any object which is not big compared to atoms.

For a 'small object' a precise measurement of its momentum invalidates any previous knowledge we had of its position. And a precise measurement of its position invalidates any earlier knowledge we had of its momentum. This occurs as we have emphasized, because of the disturbance which always accompanies an act of observation. The uncertainties in the position and in the momentum for a small object are connected by the Heisenberg relations. The existence of the Planck Constant (h) introduces an extraordinarily novel feature in that a measurement of some observables is incompatible with a measurement, at the same time, of some others. It has no parallel in everyday experience or classical physics.

There is something more to it, and much more strange, which is not always appreciated. Suppose the two holes A and B are replaced by the 'box' with the two compartments we described earlier. Illuminate the (transparent) box with a beam of light. If the plate P is kept fixed and interference fringes will be observed telling us that the atom is present at the same time, in both the compartments L and R. We now decide to make the plate free so that any change in its momentum in the Y-direction can be determined. Then we find that the scattered light comes either from L or from R. The atom is either in L or R, but never in both the

compartments at the same time. Imagine—and this is permissible so far as the principle of the experiment goes—that the distance between the box and plate P is very large so that light takes a fairly long time (t) to travel from the box to the plate. It is up to us to *choose* to observe either the fringes on the plate (telling us that the atom is present *both* in L and R), or to observe the momentum of the plate (telling us that the atom is *either* in L or R). A photon takes time (t) in travelling from the box to the plate. If we decide to make a choice, say, at this instant, whether to observe the interference fringes or the direction of the incoming photons, how could it influence the state of the atom a long time (t) earlier ? This looks utterly strange—totally. The lesson is that the behaviour of 'small objects' is not visualisable. It is not describable in ordinary language. Nevertheless it is real. As Wheeler (1977) has remarked "There is no more remarkable feature of the quantum world (characterised by the Planck Constant) than a strange coupling it brings about between future and past. . . "

The disturbance we are speaking of is a direct result of the existence of the Planck Constant. In describing the motion of large objects we can ignore its existence. But this constant (h) is of paramount importance in determining the course of atomic phenomenon. Notice that experiments, and results of experiments, dealing with atom and elementary particles are described unambiguously in ordinary language (classical logic). There could be no science if this were not so. But the situation is completely, and most exasperatingly, different if we wish to understand and speak about the atomic particles themselves. How can the same atom be in two compartments L and R at the some time ? (Impossible ?). It is unimaginable. It is not describable in ordinary language. The world of atoms takes us to a 'deeper layer' or 'deeper plane' of reality far removed from the world of everyday experience. The characteristic of the new plane of reality is the Planck Constant. We expect that as we probe deeper in our understanding of Nature, far deeper layers of reality are likely to be encountered (each characterised possibly by some fundamental constant of Nature).

We may denote by L_0 the plane of our everyday reality, and by L_1 the plane of atomic reality. It is important to recognise, as repeatedly stressed here that the later reality cannot be apprehended or described in ordinary language without introducing absurdities and contradictions. To talk of L_1 in the language of L_0 is to talk nonsense. In terms of L_0 it is *inexpressible* or *avayakata*. It is this *inexpressibility* or avaykata-property that provides the clue, a pointer, to the existence of L_1. In describing L_1 we must (as stated earlier) "either use the mathematical scheme as the only supplement to natural language or we must combine it with a language that makes use of a modified logic or of no well-defined logic at all" (Heisenberg 1958, p. 160).

A Summing up of the Physical Situation

To sum up : (i) We investigate the world of atom with 'tools' which are unambiguously described in ordinary language. But the world of atoms with its wave-particle duality is totally beyond description in ordinary language (classical logic). "A thing cannot be a form of wave motion and composed of particles at the same time...nevertheless, both these statements describe correctly the same situation: the equal legitimacy of both descriptions and the impossibility of eliminating either in favour of the other are inevitable consequences of Heisenberg indeterminacy relations". (M. Jammer 1974, *The Philosophy of Quantum Mechanics*, p. 344.)

To describe the world of atoms we have to use the mathematical formalism of quantum mechanics. The atom in quantum mechanics has no sharply defined boundaries or size. It is described by a mathematical quantity called a wave-function—and the wave-function, strictly speaking, fills all available space. *Mathematics is perhaps best defined as the discipline that deals with infinities.* It therefore involves concepts with (as Godel proved in his epochal work)are inherently 'incomplete' and not free of contradictions. It may seem strange that mathematics, the most precise branch of human knowledge, contains contradiction in a deep sense. But is this feature paradoxical and it may appear which gives to mathematics its surprising and unique power to deal with 'layers of reality' beyond the compass of ordinary language and everyday experience.

There have been attempts specially by Birkhoff and Neumann, and Weizsacker to modify classical logic by discarding the law of the excluded middle to bring it in conformity with the demands of quantum theory. These developments are of interest for Syadvada logic, but we shall not go into that Shere. (See chapter VIII, *Quantam Logic*, Jammer 1974, p. 340-416).
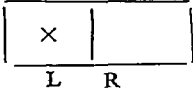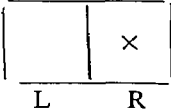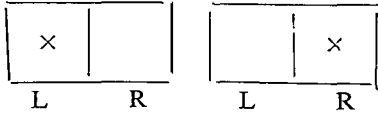
(ii) We have already noted the distinction, on the basis of the Planck Constant, between 'big objects' and 'small objects'. However, to understand the small, we have to begin with the big; but big objects are made up of small ones (atoms). We therefore seem to be involved in some kind of a paradoxical or circular situation. The physico-philosophical problem of the relation between the big and the small is a very difficult one. Recently, some new light has been thrown on the problem by the work of Prigogine and his associates. (I. Prigogine, *Science*, 1 Sept. 1978)

(iii) It is worth noting the special role of the observer in quantum mechanics. We have seen that to make an observation is to make a *choice* between two or more incompatible measurement procedures. Choice implies consciousness and a freedom to elect between alternatives. This possibly has most far-reaching

consequences—but we do not quite know at present. It possibly implies a kind of some strange coupling between future and past. Every observation is a participation in genesis. J.A. Wheeler 1977, *Genesis and observership,* in *Fudamental Problems in the Special Sciences*, ed. P. Butks and J. Hintikka.

(iv) The physical example of the atom and the box described earlier is presented diagramatically and compared with the seven modes of Syadvada. The quantum mechanical description in the usual notation is also added in the middle column.

Seven Modes of Syadvada and the example of an 'atom' in a 'box' with two compartments

Atom in Box	*Quantum Mechanical Representation* (in the usual notation)	*Syadvada Models of Description*
1. Atom in left compartment (L) [× |] L R	System in state $\mid L >$	Existence (Atom in L)
2. Atom in right compartment (R) [| ×] L R	System in state $\mid R >$	Nonexistence (Atom not in L)
3. Cases (1) and (2), at different times; or two similar boxes at the same time. [× |] [| ×] L R L R	Mixture of $\mid L >$ and $\mid R>$ represented by $\mid L > < L \mid + \mid R > < R \mid$	Existence and Nonexistence
4. Atom in *both* compartments at the same time; this (wave-aspect) is non-visualizable	System in a state which is superposition of $\mid L >$ and $\mid R >$: $\mid P > = \mid L > + \mid R >$	Avayakta *(Inexpressibility)*
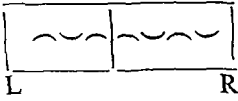
5. (4) and (1) at different times; or two boxes at the same time (one box for (4) and another box for (1).	*Mixture* $\mid P><P\mid + \mid L><L\mid$	*Avayakta* and Existence
6. (4) and (2), at different times; or two boxes at the same time.	*Mixtute* $\mid P><P\mid + \mid R><R\mid$	*Avayakta* and Nonexistence
7. (4) and (3), at different times; or three boxes at the second time. $\mid P><P\mid + \mid R><R\mid + \mid L><L\mid$	Mixture	*Avayakta and* Existence and Nonexistence.

Syadvada Reasoning

The *Syadvada dialectic* (Syad means "may be") was formulated by Jaina thinkers probably more than two thousand years ago. Syadvada asserts that the knowledge of reality is possible only by denying the *absolutistic* attitude. According to the Syadvada scheme every fact of reality leads to seven ways or modes of description. These are combinations of affirmation and negation :

(1) Existence, (2) Nonexistence, (3) Occurence (successive) of Existence and Nonexistence, (4) Inexpressibility or Indeterminateness, (5) Inexpressibility as qualified by Existence, (6) Inexpressibility as qualified by Nonexistence, and (7) Inexpressibility as qualified by both Existence and Nonexistence.

The fourth mode of inexpressibility or *avayakta* is the key element of the Syadvada dialectic. This is especially well brought out by our discussion of wave-particle duality in modern physics. (See also P.C. Mahalanobis, and J.B.S. Haldane, *Sankhya*, May 1957, Indian Statistical Institute, Calcutta. Their papers deal with the significance of Syadvada for the foundations of modern statistics.

Take any meaningful statement. Call it 'A'. It may describe a fact of exnerience. It could be proposition of logic or mathematics. The Syadvada dialectic demands that in the very nature of things the negative of the given statement is also correct. Denote by not-A the negative statement of 'A'. The conditions under which the two statements, A and not-A, are correct cannot, of

course, be the same. (In general) the respective conditions are mutually exclusive. Given a statement 'A', it may not be at all easy to discover the conditions or situations under which not-A holds. It may even appear at the time impossible. But faith in Syadvada should keep us on to continue the search. For example, in the geometry of Euclid, the sum of the three angles of a triangle is two right angles. The negation of this theorem is a new geometry in which the sum of three angles of a triangle is *not* equal to two right angles. It was some two thousand years after Euclid that non-Euclidean geometry was discovered in the nineteenth century.

Einstein's theory of general relativity is based on this geometry. When we know that both 'A' and not-A are correct, we are ready to move on to a deeper layer or a plane of reality which corresponds to the simultaneous existence of both A and its negation. The deeper plane cannot be described in terms of the conceptual framework which describes 'A' and not-A: In this framework it is *avayakta*. In the conceptual framework of 'A' and not-A, for any particular situation, either A is true or not-A is true. The two being mutually exclusive cannot be simultaneously true. Think of the example of an atom in a box. In the framework of classical physics, as described earlier, the atom is either in the box or it is outside the box. There is no third possibility at this leval or plane of reality. We have called this plane L_0. The Syadvada assertion of the simultaneous existence of 'A' and not-A, in some strange sense, not explicable in the plane L, leads us on to the search for a new deeper framework, or new dimension, of reality characterised by features not explicable in L_0. Call the new framework L_1. An understanding of L_1 will eventually lead on to a still deeper layer L_2, and so on. Syadvada is a dynamic dialectic taking us ever deeper and deeper in the exploration and comprehension of reality. What is now and of the utmost significance as vividly brought out by modern physics, is the fact that Syadvada provides a valuable guide and inspiration for fundamental studies in science and mathematics. The Syadyada, indispensable for ethical and spiritual quest and for ahimsa, is also of the greatest value for the advancement of natural science. In case this seems surprising we may remind ourselves of the profound words of Erwin Schroedinger : "I consider science an integrating part of our endeavour to answer the one great philosophical question which embraces all others, the one that Plotinus expressed by his brief–who are we? And more than that : I consider this not only one of the tasks, but *the* task, of science the only one that really counts".

For the *quest of truth*, scientific, moral and spiritual, what is most important is the *Syadvada* or the *complementarity principle*, the precise definitions and number of modes are not so important.

Appendix

Examples of Syadvada

approach to fundamental problems

1. *Determinism and Free will*

Two contradictory *facts* :

(a) One knows by direct incontrovertible experience that it is one's own *self* that directs the motion of one's body; and because of this freedom arises *moral responsibility* for one's actions.

(b) The body functions as a *pure mechanism* according to the Laws of Nature.
(See E. Schroedinger, *What is Life ?* Cambridge University Press, 1948)

2. Euclidean and Non-Euclidean geometry. Cantorian and Non-Cantorian sets.
(P. J. Cohen and R. Hersh, *Scient. Am.*, Dec. 1967).

3. Einstein's theory of relativity and gravitation.

(See especially, *Einstein's Creative Thinking and the General Theory of Relativity*, A. Rothenberg, *Am J. Psychiatry*, January 1979).

4. (a) 'We can draw a straight line joining two points'.

(b) 'We cannot draw a straight line joining two points'. This reminds of Zeno's Paradox.

(See *A New Perspective on Infinity*, *New Scientist*, 8 June, 1978)

Soul and Its Extension

Dr. S. C. Jain

The dualism of Rene Descartes lays down a principle that conciousness is a property of the soul while extension is that of matter. Stated negatively it means that consciousness cannot belong to matter nor can extension belong to soul.[1] By extension the propounder of the theory means the three well known dimensions i.e. length, breadth and thickness. According to him these dimensions are attributed to matter, but they cannot be applied to the soul. Such dichotomous opposition exists between consciousness and extension. Again, these dimensions have a reference to space, hence they can be summed up under spatiality which as concluded, cannot be applied to soul.

As against the above view Jainism attributes extension to substances like matter and soul.[2] The soul agrees with matter in being a substance, it is also held to be extended. As extension is meaningful only in relation with space, so the soul is held to be extended in space. Thus extension is also a necessary accompaniment of the soul.

Jainism gives us a unique concept of '*astikaya;* the term being composed of *asti* implying existence and *kaya* implying an organic unity of the parts which are conceived in a substance.[3] The soul is one substance, not composed of parts as Monadology of Liebniz holds. Still parts can be conceived in it to serve various ontological purposes. On the other hand matter exists in atomic form, i.e. distinct and separate atoms of matter are basically there, but they are imbued with a power to combine to give birth to various molecules. This power gives to the molecules some sort of organic unity, for which reason matter has been enumerated as an *astikaya* by the Jaina philosophers. We should note a difference between the organic unity of the substance of soul and that of matter. While for the former it is intrinsic it is only borrowed in case of matter. This very fact has been affirmed by saying that the organic unity of molecules is true only from a concessional point

of view.[4] It should be interpreted to imply that there is no such organic unity intrinsic to material molecules. Thus the soul is one substance and possesses perfect organic unity. In case of molecules they are not one substance and possess organic unity by dint of their power to combine with other atoms or molecules. In other words the parts in the soul are only conceivable, while those in matter they are also divisible. We shall have to understand the extension of the soul in view of the above distinction of organic unity of the soul and matter.

The extension of the principle of soul is variously conceived in different systems of philosophy. Some think that the soul is as small as an atom, and it enlivens the entire body it happens to inhabit. There are others who hold that the soul is an all pervasive principle working through the medium of the body. In both the cases spatiality is attributed to the soul with the minimum dimension in one case and an infinite dimension in the other. Some other spatiality of the soul and go with Descartes. For them the soul is a spaceless entity, meaning that the spatial dimensions cannot be applied to it. Jainism prescribes a variable extension to its souls and clearly admits that this variability takes place by contraction and expansion like the light of a lamp which fills up a small room as well as a big room.[5] So a soul inhabits a small or big body it is provided with making it a medium for manifestation of consciousness. In Jainism the soul is said to be co-extensive with the body which it makes it lodgement.[6] A serious criticism of this position of the Jaina is based on the idea that contraction and expansion of a soul will be possible by subtraction and addition of parts from and to the soul thereby disturbing its identity.[7] This disturbance of the soul's identity will create another difficulty for the law of karma by letting merit go unrewarded and demerit unpunished, as the soul does not continue to be the same for any two moments of its existence.[8]

It would seem that the Jaina is involved in a double difficulty by admitting variable extension of the soul. While the extension of the soul was already posing a problem, the situation is made more difficult by admitting variability of this extension. To say that the soul's extension as against extension of matter, is such as would not offer resistance to other souls or matter to occupy the same space,[9] does not come out to be a complete explanation, for Jainism accepts the existence of such matter as would not offer resistance to other matter, resistance being only a quality which emerges only at some stages of material existence.[10] But at present we may be allowed to take it to be a working and satisfactory reply. But the idea that everything that exists must occupy some space seems to be more convincing. The other problem is presented by the conception of the soul units (atma-pradesa) of a continues substance to give a quantitive measure of the substance. If the soul is one substance, its pradesas or parts are difficult to understand. If it does not

admit of any such measure, its existence becomes unintelligible. Under this pressure Akalanka gives us something like a double reply.[11] In case of space the oneness of the substance is not disturbed by distinguishing its parts in various ways. Space is amenable to varied systems of its measurement, it is conceiving divisions of space. These divisions are not reparable from each other or from space itself it is maintaining the oneness of the substance of space. Similarly the case of the substance of the soul can be treated. In one context the units of the soul can be conceived, in another its oneness can be well maintained.

This concept of soul-units helps us to understand the process of contraction and expansion which a soul is admitted to undergo in Jaina philosophy. In contraction these soul-units interpenetrate each other and the total extension of a soul is thus reduced. In expansion the reverse of the above process is followed and thus the extension of the soul is increased. In both these stages the overlapping of the soul units is always there.[12] The expansion can be carried to its maximum as in case of the *lokapurana* process of *kevali samudghata* By destroying the four destructive (*ghati*) type of karmas, a soul attains the status of a kevali. To equalize the differing duration of the remaining karmas with the age karma this soul undergoes an expansion in which it fills the entire universe. This expansion is called the *lokapurana* process of the *kevali samudghata* where the soul-units are so dispersed as each soul unit occupies one space-unit of the universe. An expansion beyond this stage is impossible. So it is said that the number of soul-units in a soul are the same as there in the space occupied by the universe as defined in Jaina philosophy. The Jaina cosmology holds space as infinite. The part of this infinite space where substances like soul and matter can exist is called the universe (*lokakasa*) in Jainism.

Can we now think of the density of the soul, though it would certainly be a spiritual density as we have spiritual extension as against material one ?[13] Can we apply the term mass (*dravya*), quantum of mass (*dravya pramana*), volume (*avagahana*), height (*utsedha*) surface (*sparsa*) etc. to the soul, when they all are qualified by the adjective spiritual ? We certainly come across descriptions of the soul made under these or similar heads.[14] In the liberated state of the soul where the limitations caused by the association of the body are absent, we talk of the maintanance and continuance of the shape of the last embodiment of the soul reduced by a small fraction.[15]

REFERENCES

1. Thilly: A History of Philosophy, p. 254
2. Nemicandra : Dravyasangraha, gatha 23.
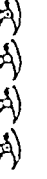
3. Ibid: gatha 24
4. Ibid: gatha 26
5. Umasvami: Tattavarthasutra 5.16 Nemicandra: Dravyasangraha, gatha 10
6. Ibid
7. S. Radhakrishnana: Indian Philosophy Vol. I p. 311
8. S.K. Maitra: Fundamentals of India Metaphysics and Logic; p. 99
9. Chatterjee and Datta: An Introduction to India Philosophy, p. 107
10. Kundakunda: Pancastikayasara, gatha 7
11. Akalanka: Rajavartika 5.8.10 and 5.8.11
12. S.C. Jain: Structure and Functions of soul in Jainism, p. 132
13. Ibid. p. 133
14. Umasvami: Tattvarthasutra, 1.8.
15. Nemicandra: Dravyasangraha gatha 14
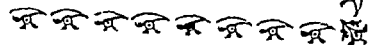
Conception of Non-Violence In Jainism and World Peace

Dr. Bhagchandra Jain Bhaskar

Non-violence is the fundamental principle of Jainsim which leads it to one of the most important religions and philosophies of world. It rebuffs all complaints and humilitions made by small and big if followed seriously. Its instinct impenetrantes it to heart of a right ascetic and enomours him towards humanity by leaps and bounds.

The concept of Non-violence appears to be an earliest notion of Jainism. Amongst the Prakrit Jain Agamas the Acaranga is perhaps the oldest one which starts with stating and clarification as to how and why the person is engaged with the violence. One is required to believe on rebirth. Only then he can be a Ayavadi, Logavadi, Kammavadi and Kiriyavadi. Second point is to be noted here in this context as said that violence occurs when one indulged in protecting his life, wealth or achieving honour, salvation and so on. He commits violence by doing himself (samarambhati), by commission (samarambhaveti) and by approval of the dead (samanujanati).

Imassa Ceva Jiviyassa Parivandana-Manana-Puyanaye-Jati-Marana-Moyanoye-Dukkhapadighataheum Se Sayameva Pudhavisattham Samarambhati, Annehi Va Pudhavisattham Samarambhaveti, Anne Va Pudhavisattham Samarambhante Samanujanati. Tam Se Ahitaye, Tam Se Abohiye

This notion was later on expanded by Jain philosophers in various ways. For instance the conception of Non-absolutism and Non-possession (Anekantavada and Aparigraha) or Anuratas and Mahavratas are found as eleborated philosophical elements in entire Jain literature. The Pali literature of Buddhism also supports these elements.

What is violence ? This is the question which has been a controvertial points since inception. According to Jainsim the severance of vitalities out of passion

(pramattayoget) is injury or violence.[1] This was supported by all the Jain philosophers of later period. This is also explained in the scriptures. The Ayaranga accepts the Pramada as the main root of violence.[2] It has been said "He who acts with negligence commits injury whether death is caused to organisms or not. And he who proceeds with proper care does not contract bondage of karms by mere injury."[3] Buddhism also follows the same view where it says "Appamado amstapadam pamado maccuno padam."[4]

The Pali Nikayas also recorded the Jain notion with regard to Himsa, its causes and their remedies. The Majjhima Nikaya says that Niganthas uphold three ways of committing Himsa, viz. (i) by activity (krta), (ii) by commission (karita) and (iii) by approval of the deed (anumodana). To get a violence committed or to approve a violence committed is about the same as to commit violence by one's self, for one is involved in the activity directly or indirectly and shares it. Therefore, one who refrains from Himsa will not utter even a word which is likely to give pain to another, will not commit any act which may cause injury to another, will not harbour any thoughts prejudicial to another, will not make anybody else utter words likely to cause pain to another, not entertain feelings of ill towards another, and will not encourage others to cause pain by word, deed, or thought to another.[5]

In another place, the Majjhimanikaya states that in Nalanda, Dighatapassi informed the Buddha that the Nigantha Nataputta did not lay down Kamma Kamma, but his teaching was based on Danda Danda. Wrong doings, according to him, as we have already mentioned, are of three kinds, viz, Kayadanda (wrong of body), Vacidanda (wrong of speech), and Manodanda (wrong of mind). Further he says that Kayadanda is more *heinous* in the opinion of Nigantha Nataputta than either of the other two. This is supported by Nataputta himself. He appreciates the statement of Dighatapassi and says that he has answered Gotama in a very proper way (Sadhu sadhu tapassi). For how can an insignificant wrong of mind overshadow an important wrong of body, since a wrong deed of body is the more blamble ? (kim hi sobhati chabo manodando imassa evam olarikassa kayadandassa upanidhaya. aths kho kayadando va mahasavajjataro papassa.........). Upali goes then to discuss the matter with the Buddha. The Buddha asked him "If Nighantha, who although suffers from sickness, refuses cold water and takes only hot water, passes away, what result does Nataputta lay down for him?' Upali answers that he will be born in the *Devagati*. He also says that according to Nataputta, the blame is less; because before he passed away, he was devoted to mind. The Buddha says: "House-holder, take care of how you explain. Your earlier statement does not tally with your latter, nor your latter with your earlier (manasi karohi, Gahapati......na kho to candhiyati purimena va pacchimam, pacchimena va purimam), and then asks

Upali : "While going out or returning, Fourfold restrained Nigantha Nataputta brings many small creature to distruction. What result, house-holder, does Nataputta lay down for him? Nataputta lays down that being unintentional, there is no great blame. "But if he does intend it, it is of great blame. And this intention is included in that of wrong of mind. (tam kim mannasi, Gahapati, idhassa Nigantha......so abhikkha manto patikkamanto bahu khuddake pano sanghatam apadeti, imaspana, Gahapati Nigantho Nataputto kam Vipakam pannapeti ? "asancetanikam bhante, Nigantho Nataputto no mahasavajjam...manodandasmin, bhante." The Buddha urges then, "If a man comes here with a drawn sword and says that in a moment I will take all the living creatures in this Nalanda into one heap of flesh, one mass of flesh, what do you think about this ? Is that man able in one moment, one second, to make all the living creature in this Nalanda into one heap of flesh ? Upali replies: "Even ten man, revered Sir, even twenty, thirty, forty men, even fifty men are not able in one moment, one second, to make all the living creatures in this Nalanda into one heap of flesh, one mass of flesh. How then can one insignificant man shine out at this stage ?" The Buddha again points out the self-contradiction in the statement of Upali.[6]

In fact, as stated before, attachment and intention are very important in Jainism. They are regarded as the main source of Himsa. If one, who observes the rules of conduct consciontiously, walks along, carefully looking ahead, and intent on avoiding injury to the crawling creatures, were to injure an insect by trampling it under foot by chance, he would not be responsible for Himsa. And if one acts carelessly or intentionaly, he would be responsible for that whether a living being is killed or not. For, under the influence of passions, the person first injures the self through the self whether there is subsequently an injury to another being or not :

> *Yuktacaranasya sato regadyavesamantarena'pi. Nahi bhavati jatu himsa pranavyaparopanadeva. Vyutthanavasthayam ragadinam vasapravrttayam. Mryantam Jivo ma va dhavatyagre dhruvam himsa. Yasmatsakasayah san hantyatma prathamamatmanatmanam. Pascajjayeta na va himsa pranyantaranam tu.*[7]

Both, non-abstinence from Himsa, and indulgence in Himsa, constitute Himsa; and thus whenever there is careless activity of mind, body or speech, there is always injury to living being. Mere possession of sword should not make one guilty of Himsa. Even then such possession can be the cause of injury to somebody. Therefore, to prevent all possibillty of Himsa, one should not entertain even the desire for the possession of such objects as are likely to cause injury.[8]

Thus all these references indicate that intention is the main source of injury in Jainism and if injury is caused by body intentionally, it will be considered more

blamable. If killing of living beings is made an offence even when it is without intention no one on earth can be an Ahimsaka, for the entire world is full of vitalities of all types which a man may kill in large number without knowing them at all. :

Visvagjivacito loke kva caran ko' pyamoksyat. Bhavaikasadhanau bandhamoksau cennabhavisyatam.[9]

As regards the eating of flesh, the Vinaya Pitaka has a good record of the Jain point of view. It is said there that Siha, a General of the Licchavis and a follower of Nigantha Nataputta, had served meat to the Buddha. Knowing this Niganthas, waiving their arms, were murmuring from road to road in Vaishali : Today a fat beast killed by Siha Senapati has been served into a meal for the Buddha. The Buddha made use of this meat, knowing that it was killed on purpose for him.[10] This incident took place immediately after Siha was converted to Buddhism. The Nigantha, therefore, might have tried to blame both, the Buddha and Siha. Whatever that may be, this reference indicates clearly that the Jains were completely against the eating of flesh. The followers of the Buddha appear have been influenced by this idea of the Jainas. Jivka visits the Budha and asks if it is true that animals are slain expressly for the Buddha's use. The Buddha replies that he forbids the eating of meat only when there is evidence of one's eyes or ears as grounds for suspicion that the animal has been slain for one's expressed use. Any one who slays an animal for the use of monk and gives it to him, commits a great evil, Jivaka is pleased with the reply and declares himself a follower of the Buddha.[11] Like-wise, Devadatta asked the Buddha for the imposition of the five rules on all the members of the Sangha out of which the last rule is to be abstained completely from fish and flesh. But the Buddha thought that such rules should not be laid down for the Sangha as a whole. He left them for monks to observe purely on a voluntary basis.

Amrtacandra, a Jain Acharya argues against the eating of flesh that it cannot be procured without causing destruction of life. One who uses flesh, therefore, commits Himsa unavoidably. Even if the flesh be that of a buffalo, ox, etc. which has died of itself, Himsa is caused by the crusing of creatures spontaneously born. He who eats or touches a raw or a cooked piece of flesh certainly kills spontaneously-born creatures constantly gathering together.[13] In conclusion he says that those who wish to avoid Himsa, should first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the two udambaras (gular and fig) and fruits of Pippala, and Banyan which are the birth place of small mobile beings.[14]

It is perhaps Jainism which made laudable efforts to control violence from all possible sources. There are two types of votaries in Jainism, one is the householder and the other is homeless ascetic. The first observes the small vows regarding non-

Upali : "While going out or returning, Fourfold restrained Nigantha Nataputta brings many small creature to distruction. What result, house-holder, does Nataputta lay down for him? Nataputta lays down that being unintentional, there is no great blame. "But if he does intend it, it is of great blame. And this intention is included in that of wrong of mind. (tam kim mannasi, Gahapati, idhassa Nigantha......so abhikkha manto patikkamanto bahu khuddake pano sanghatam apadeti, imaspana, Gahapati Nigantho Nataputto kam Vipakam pannapeti? "asancetanikam bhante, Nigantho Nataputto no mahasavajjam...manodandasmin, bhante." The Buddha urges then, "If a man comes here with a drawn sword and says that in a moment I will take all the living creatures in this Nalanda into one heap of flesh, one mass of flesh, what do you think about this ? Is that man able in one moment, one second, to make all the living creature in this Nalanda into one heap of flesh ? Upali replies: "Even ten man, revered Sir, even twenty, thirty, forty men, even fifty men are not able in one moment, one second, to make all the living creatures in this Nalanda into one heap of flesh, one mass of flesh. How then can one insignificant man shine out at this stage ?" The Buddha again points out the self-contradiction in the statement of Upali.[6]

In fact, as stated before, attachment and intention are very important in Jainism. They are regarded as the main source of Himsa. If one, who observes the rules of conduct conscientiously, walks along, carefully looking ahead, and intent on avoiding injury to the crawling creatures, were to injure an insect by trampling it under foot by chance, he would not be responsible for Himsa. And if one acts carelessly or intentionaly, he would be responsible for that whether a living being is killed or not. For, under the influence of passions, the person first injures the self through the self whether there is subsequently an injury to another being or not :

Yuktacaranasya sato regadyavesamantarena'pi. Nahi bhavati jatu himsa pranavyaparopanadeva. Vyutthanavasthayam ragadinam vasapravrttayam. Mryantam Jivo ma va dhavatyagre dhruvam himsa. Yasmatsakasayah san hantyatma prathamamatmanatmanam. Pascajjayeta na va himsa pranyantaranam tu.[7]

Both, non-abstinence from Himsa, and indulgence in Himsa, constitute Himsa; and thus whenever there is careless activity of mind, body or speech, there is always injury to living being. Mere possession of sword should not make one guilty of Himsa. Even then such possession can be the cause of injury to somebody. Therefore, to prevent all possibillty of Himsa, one should not entertain even the desire for the possession of such objects as are likely to cause injury.[8]

Thus all these references indicate that intention is the main source of injury in Jainism and if injury is caused by body intentionally, it will be considered more

blamable. If killing of living beings is made an offence even when it is without intention no one on earth can be an Ahimsaka, for the entire world is full of vitalities of all types which a man may kill in large number without knowing them at all. :

Visvagjivacito loke kva caran ko' pyamoksyat. Bhavaikasadhanau bandhamoksau cennabhavisyatam.[9]

As regards the eating of flesh, the Vinaya Pitaka has a good record of the Jain point of view. It is said there that Siha, a General of the Licchavis and a follower of Nigantha Nataputta, had served meat to the Buddha. Knowing this Niganthas, waiving their arms, were murmuring from road to road in Vaishali : Today a fat beast killed by Siha Senapati has been served into a meal for the Buddha. The Buddha made use of this meat, knowing that it was killed on purpose for him.[10] This incident took place immediately after Siha was converted to Buddhism. The Nigantha, therefore, might have tried to blame both, the Buddha and Siha. Whatever that may be, this reference indicates clearly that the Jains were completely against the eating of flesh. The followers of the Buddha appear have been influenced by this idea of the Jainas. Jivka visits the Budha and asks if it is true that animals are slain expressly for the Buddha's use. The Buddha replies that he forbids the eating of meat only when there is evidence of one's eyes or ears as grounds for suspicion that the animal has been slain for one's expressed use. Any one who slays an animal for the use of monk and gives it to him, commits a great evil, Jivaka is pleased with the reply and declares himself a follower of the Buddha.[11] Like-wise, Devadatta asked the Buddha for the imposition of the five rules on all the members of the Sangha out of which the last rule is to be abstained completely from fish and flesh. But the Buddha thought that such rules should not be laid down for the Sangha as a whole. He left them for monks to observe purely on a voluntary basis.

Amrtacandra, a Jain Acharya argues against the eating of flesh that it cannot be procured without causing destruction of life. One who uses flesh, therefore, commits Himsa unavoidably. Even if the flesh be that of a buffalo, ox, etc. which has died of itself, Himsa is caused by the crusing of creatures spontaneously born. He who eats or touches a raw or a cooked piece of flesh certainly kills spontaneously-born creatures constantly gathering together.[13] In conclusion he says that those who wish to avoid Himsa, should first of all take care to renounce wine, flesh, honey and the two udambaras (gular and fig) and fruits of Pippala, and Banyan which are the birth place of small mo bile beings.[14]

It is perhaps Jainism which made laudable efforts to control violence from all possible sources. There are two types of votaries in Jainism, one is the householder and the other is homeless ascetic. The first observes the small vows regarding non-

injury, speaking the truth, non-stealing, desisting from desire for sexual union with a married or unmarried woman who is not one's own wife, limiting one's possessions such as riches, corn, lands, and so on of on's own accord etc. The second one observes these vratas completely.

In connection with transgressions for the vows and the supplementary vows, Jainism prevents the house-holders from binding, beating, mutilating limbs, overloding and withholding food and drink. Likewise, perverted teaching, divulging what is done is secret, forgery, misappropriation, proclaiming other's thoughts, prompting another to steal, receiving stolen goods, underbuying in a disordered state, using false weights and measures, deceiving others with artifical or imitation goods, bringing about marriage intercourse, intercourse with an unchaste married woman, cohabitation with a hariot, perverted sexual practices, excessive sexual passion are also not permissible for the householders. Vulgar jokes, vulgar jokes accompanied by gesticulation, garrulity, unthinkingly indulging in too much action, keeping too many consumable and non-consumable objects are .transgression of the vow of desisting from unnecessary sin. Misdirected threefold activity, lack of earnestness and fluctuation of thought are the five transgressions of concentration. These preventations are prescribed for protection of non-violence.[15]

The house-holder is expected to limit his belongings with regard to cultivable land and houses, riches such as gold and silver, cattle and corn, men and women servants and clothes and so on. This is inevitable the infatuation or attachment is at the root of all evils. If a person has the idea of "this is mine" he has to safeguarding it, violence is bound to result. For its sake one utters falsehood. He also commits theft and attempts copulation. And this result in various kinds of pain and suffering in the infernal regions.[16] Therefore bestowing one's possessions on another is a part of non-violence.

The consequences of violence etc. are calamity and reproach in this world and in the next. One should contemplate on sufferings, pains etc. which are the causes of the karms. Benevolence towards all livings, joy at the sight of the virtuous compassion and sympathy for the afflicted and tolerance towards the insolent and ill-behaved are the means which make the persons able to practice non-violence and other vows to perfection.[17]

Ours is an age of intellectual dwarfs and selfish giants. We are so related at our achievements, small or big, that we attribute to ourselves all the good qualities of head and heart. We regard ourselves as extra-ordinary. We are so sure of our righteousness that anybody who differs from us is promptly labelled as imbecile. Honest divergence of opinion has become a rare commodity. Our egoistic tendency and mean mentality cause us to disregard other conceptions and notions. Further

on account of our materialistic and atheistic tendencies we are unable to overcome the social problems that are starting us in the face.

Why clashes

The clashes and conflicts that obtain in the world are due mainly to the dearth of economic equality, sound ecclesiastic outlook, tolerance and humility. The real threat to the world peace comes from superstitious or ideological gulf which exists between one nation and another, between one people and another.

War is a great evil. The ever grim tragedy of Hiroshima and Nagasaki, when the Atom Bomb, known as little boy was dropped on these islands, the horrifying tragic memories seem to have their repetition after a few decades, when the interest of two Super Powers seem to clash. Life in Beirut was becoming extremely difficult as Israelies attacked Beirut again and again. Iran has failed to launch an offensive against Iraq while costly war still continued in Iran with Iraq while Russia proclaimed that it would not be first to start nuclear war, while on the eastern side of the globe Radio Kinyang of Korea broadcast said that USA has made violations 68 times a day. Thus the entire global atmosphere is surcharged with tremendous tension and a perpetual threat of a nuclear holocaust.

Path of Peace

It is the doctrine of Ahimsa, Anekantavada and Syadvad that can sound the death-knell of this ideological conflict. We have already dealt with conception of Ahimsa. Syadvada is a strange weapon in the armoury of Jainism. It can uproot our differences no matter how deep-set they are. Syadvada believes in bridging the gulf between the conflicting idealogies. It strives to establish a liberal attitude in our feelings and dealings. Difference of opinion is bound to exist between one person and another. But one must not be obdurate in his opinions. He must make room for admitting opinions other than own.

In the eyes of Jain philosophy, everything is multifaceted. It is neither only true nor only false, neither eternal nor transitory. It can be true from some angle and false from some other. According to one notion it may be eternal and according to another it may be transitory. Existence of various shades of one and the same thing amounts to Anekantavada. Syadvada is an apt synonym for it. While Anekantavada deals with the descriptive aspect, Syadvada refers to the terminological aspect of any given thing. In other words, we can say that Anekantavada, the theory of non-absolutistic standpoint, strives to incorporate the truth of all systems with its two organs, that of Nayavada, the doctrine of standpoint, and Syadvada, the dialectic of conditional predication. The term "Syat" presupposes relativity in

thought and expression. It does not imply probability or doubt as some philosophers falsely proclaim. The natural outcome of this view point is the feeling of understanding and sympathy. So long as we regard only our own notions as practical and consistant, we cannot respect and evaluate other opinions. Anekantavada, in the shape of Syadvada, is the only remedy to overcome all evil in thought, speech and action.

The feeling of sacrifice or self-denial forms the kernel of Syadvada. Without the renunciation or anger, hatred or force, world peace will be the name of a doubtful omen. In "Ends and Means" Huxley has aptly observed—"In fact we cannot achieve anything without painful toil. While the people of every country crave for peace, all of us display criminal connivance in establishing it. The conditions which are the harbingers of peace are disarmament, ostracism of imperialism and acceptance of Ahimsa in every sphere of life." This observation of Huxley holds good even today.

Every person ventilates his views about a given object according to his attitude and capacity. His limited knowledge is inadequate to throw a flood of light on the entire object. Out of so many facts, he deals with only one or some. This partial knowledge and partial success is dangerous especially when he feels that his knowledge is complete and correct. It is, therefore, imperative that we should study others opinion logically and impartially, even though they clash with our ideas. That is a real humanitarian outlook. Samantabhadra called it the "Sarvodayatirtha." Haribhadrasuri's famous quotation also points out in the same direction. He means to say that we must think objectively irrespective of our religion and ideology.

REFERENCES

1. Pramattayogat pranavyaparopanam himsa—Tattvarthasutra, 7.13.
2. Iha je pamatta se hanta chetta bhetta lampitta vilumpitta udvetta uttasaetta akadam karissami' ti mannamane—Ayaranga, 2.1.3.
3. Sarvarthasiddhi, 7.13.
4. Dhammapada, 2.1.
5. Majjhimanikaya, i. 372.
6. Ibid, i. 377.
7. Purushartharthasidhyupaya, 45-47.
8. Ibid. 48-49
9. Ibid.
10. Mahavagga, 237.
11. Majjhimanikaya, i. 568 f. Jivakasutta.

12. Dictionary of Pali proper Names, s.v. Devadatta.
13. Purusarthasidhyupaya, 65-68.
14. Ibid. 71-72.
15. Tattvarthasutra, 7.25-33.
16. Ibid. 7.17 (Reality)
17. Ibid. 7.11.

—Professor and Director, Centre for Jain Studies,
University of Rajasthan, Jaipur.

Ahimsa As Reflected in The Mularadhana

Dr. B.K. Khadabadi

Religion has played a dominant role along the course of the history of mankind; and in almost all known religions of the world, Ahimsa has been given a place with varied limitations. In India in 600 B.C., Jainism and Buddhism stood up in protest to the Vedic religion mainly on the principle of Ahimsa. In Buddhism the theory and practice of Ahimsa had their own limited scope. But in Jainism Ahimsa was made to hold the pivotal position in its entire ethical and metaphysical system. To repeat the words of Dr. Bool Chand : "The way in which the doctrine of Ahimsa is made to pervade the whole code of conduct is peculiarly Jain."[1]

Now it is essential to remember that the Jaina theory and practice of Ahimsa are older than the Vedic religion. According to tradition the gospel of Ahimsa was first preached by Risbhadeva. But in c. 1500 B.C. Aristanemi,[2] the 22nd Prophet, a cousin of Krsna, at the sight of the cattle tied together for his own wedding feast exemplified the practice of Ahimsa by renouncing the world instantly. Then Parsvanatha, the 23rd Prophet (c. 800 B.C.), systematized the Jaina Philosophy by placing before the world his Caujjamadhamma where Ahimsa had its first place, which, later, was also maintained in Mahavira's elucidated system of the Pamcamahavvaya etc.

Then whatever Mahavira preached and taught regarding Ahimsa came down through oral traditions and finally settled in the canonical texts. Now, here, I propose to present, with observations, the outstanding facets of Ahimsa as reflected in the Anusisti Adhikara (the Section of Religious Instruction) of the Mularadhana

1. Lord Mahavira, Sanmati Series No. 2, Varanasi, 1948, p. 73.
2. Scholars have accepted the historicity of Aristanemi : If Krsna, the arch-figure in the Mahabharata War, is accepted as a historical person, his cousin is bound to be so.

of Sivarya a highly esteemed Prakrit (Jaina Sauraseni) text of the Pro-canon of the Digambaras belonging to c. 1st century A D.[3]

The Mularadhana belongs to that age when the Digambara and Svetambara sects were not much different from one another. Moreover Sivarya tells us that the entire early canonical knowledge has been condensed in this work :

आराहणाणिबद्धं सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ।[4]

Hence the contents of the portion of Ahimsa in this work is of considerable importance. The context of this portion of the text is as follows :

The Ksapaka or Aradhaka is on the samstara (his bed for the great final vow viz , Bhaktapratyakhyana) and is exerting himself in the various auterities like kayotsarga (complete indifference to body), anupreksas (spiritual reflections) etc. which destroy the karman gradually. At this stage, the Niryapakacarya (the Superintending Teacher), sitting by his side, slowly and effectly instructs[5] him in the manifold aspects of religious tenets and practices, so that he may develop disgust for worldly life and longing for salvation. This course of instruction, naturally, also contains the topic of the Pancamahavrata; and the sub-topic of Ahimsa is covered by some 47 gahas : 776 to 822.

Amongst these 47 gahas several[6] contain exposition of the following facets of Ahimsa which, amidst others, are usually found as laid down or discussed in other canonical texts, exegetical works and also in Sravakacaras (Treatises on the Householder's Conduct) :

(i) Definition of himsa
(ii) Equality of all souls
(iii) Five-fold indulgence in himsa (pamcapayoga)
(iv) Bhavahimsa
(v) Consequences of committing himsa
(vi) Mathematical calculation of the 108 types of himsa
(vii) Importance of keeping away the passions
(viii) Role of Guptis and Samitis in the successful practice of Ahimsa

Hence repetition and enumeration of these here would be neither necessary nor practicable. So I would pick up only the significant facts of Ahimsa for our discussion here :

3. For my study here, I have followed the Solapur edition, 1935.
4. Gaha 2163.
5. (i) This is Anusisti—instruction. This Section (XXXIII) contains gahas 720 to 1489.
(ii) Dr. A.N. Upadhye remarks : "The Section on Anusisti is a fine didactic work by itself. Thus for the Jaina monk its importance is very great and its study simply indispensable". Intro. to Brhatkathakosa, Singhi Jaina Series 17, Bombay 1943, p. 52.
6. Nos. 776, 783, 794, 800, 801, 807, 808, 811, 816, 817, 818 etc.

After duly defining himsa,[7] the Acarya lays down the basic concept of Ahimsa in Jainism:[8]

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवामिओ जीवेसु होहि सदा ।।

Just as you do not like pain, so also other beings dislike it. Knowing this, treat them ever as your own self (and abstain from causing any injury to them).

This gaha reminds us the famous passage in the Ayaraniga Sutta:[9]

सव्वे पाणा पियाउया, सुह-साया दुक्ख-पडिकूला, अप्पिय-वहा, पिय-जीविणो जीविउ-कामा ।
सव्वेसिं जीवियं पियं ।

'All beings are fond of life, like pleasure, hate pain, shun destruction, like life, long to live. To all life is dear.[10]

Then we also remember a similar gaha in the Desaveyaliva Sutta[11]

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणि-वहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

All beings desire to live and not to be slain. Therefore, the Jaina monks avoid the horrible act of killing living beings.

An all sided consideration and scruitiny of this passage and these two gahas would indicate us that the passage in the Ayaramga Sutta could be rather a direct and close echo of what Mahavira taught on the basic concept of Ahimsa in his own simple, effective and inimitable way; and the gahas in the Mularadhana and the Dasaveyaliya could be an indirect and distant echoes of the same.

Then in another gaha,[12] the Acarya holds out the greatness of Ahimsa amongst other vows :

'There is nothing smaller than the atom and larger than the sky. Similarly there is no vow which is greater than Ahimsa.' This same idea is elucidated in the very next gaha[13] by comparing Ahimsa with the loftiest Mount Meru.

Further, we find an exposition of Ahimsa as an all comprising vow :

---

7. In gaha No. 776
8. No. 777
9. Ayaro II-3, 63-64: Ed. Muni Sri Nathmalji, Jaina Svet. Terapanthi Mahasabha, Calcutta, 1967. p. 29.
10. Hermann Jacobi's translation : Jaina Sutras (Part I), Sacred Books of the East, Vol. XXII, Delhi, 1964. p. 19.
11. Dasaveyaliya Suttam, Ch. VI, gaha 11: Ed. Prof. N.V. Vaidya, Pune, 1937.
12. No. 784.
13. No. 785.

Just as the sky contains all the three worlds, and the earth holds all the oceans, similarly (the practice of) Ahimsa comprises within it (the practice of) all the vows—vratas, silas and gunas.[14]

Then in the next two gahas,[15] the Acarya describes, in the same figurative language and style, the pivotal position of Ahimsa in the entire scheme of the ascetic vows. This description can be summarised as follows :

Ahimsa is the hub of the wheel of religion that holds together the spokes of Sila which as well support the outer ring (the ascetic conduct). Moreover the Silas play a protective role towards the vow of Ahimsa like the hedge towards crop.

Further, it is explained[16] that by practising Ahimsa, the first vow, the other four vows can also be successfully observed. At this context I remember R. William's observation on Amrtacandra, author of the Purusartha-siddhyupaya : Amrtacandra explains "every other vrata as but a restatement in different terms of the content of the first"[17]. Hence we can say that Ahimsa also acts as a Master Key for other vows to be operated for salvation.

At one spot[18] the Acarya, in his own sarcastic style, brings out the universal range and positive nature of Ahimsa by contrasting it with a Brahmanic religious dictum :

गोवंभणित्थिवध मोत्तिणियत्ति जदि हवे परम धम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥

If abstention from killing merely the cow, the Brahmin and the woman could make one religion supreme, why could not another religion, with compassion unto all beings, be accepted as supreme ?

And lastly, we can not afford to ignore Sivarya's exemplification[19] of social equality and corrigible opportunity for any violent culprit, admitted by the pracice of Ahimsa in Jainism, through an illustration of the story of a candala who was

14. (i) No. 786.
(ii) Somehow Vijayodaya Commentary of Aparajjtasuri does not say anything more about this gaha. But it is curious to know that the Mulacara (M.D.J. Series 23, Bombay, V.S. 1980), in its Silagunaprastaradhikara states, with calculation, that there are in all अट्ठारहसीलसहस्साइं— 18,000 protective rules of conduct (gaha 2) and 84,000,00 gunas—ascetic virtues (gaha 8 and onwards). All this gives us an idea of the scientific working-out of the *Jaina* way of Ahimsa in Yatyacara—Conduct of the monk.
15. Nos. 787 - 788.
16. No. 791
17. Jaina Yoga, London, 1963, p. 64.
18. No. 792
19. No. 822

After duly defining himsa,[7] the Acarya lays down the basic concept of Ahimsa in Jainism:[8]

जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं ।
एवं णच्चा अप्पोवामिओ जीवेसु होहि सदा ।।

Just as you do not like pain, so also other beings dislike it. Knowing this, treat them ever as your own self (and abstain from causing any injury to them).

This gaha reminds us the famous passage in the Ayaraniga Sutta:[9]

सव्वे पाणा पियाउया, सुह-साया दुक्ख-पडिकूला, अप्पिय-वहा, पिय-जीविणो जीविउ-कामा ।
सव्वेसिं जीवियं पियं ।

'All beings are fond of life, like pleasure, hate pain, shun destruction, like life, long to live. To all life is dear.[10]

Then we also remember a similar gaha in the Desaveyaliva Sutta[11]

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणि-वहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

All beings desire to live and not to be slain. Therefore, the Jaina monks avoid the horrible act of killing living beings.

An all sided consideration and scruitiny of this passage and these two gahas would indicate us that the passage in the Ayaramga Sutta could be rather a direct and close echo of what Mahavira taught on the basic concept of Ahimsa in his own simple, effective and inimitable way; and the gahas in the Mularadhana and the Dasaveyaliya could be an indirect and distant echoes of the same.

Then in another gaha,[12] the Acarya holds out the greatness of Ahimsa amongst other vows :

'There is nothing smaller than the atom and larger than the sky. Similarly there is no vow which is greater than Ahimsa.' This same idea is elucidated in the very next gaha[13] by comparing Ahimsa with the loftiest Mount Meru.

Further, we find an exposition of Ahimsa as an all comprising vow :

---

7. In gaha No. 776
8. No. 777
9. Ayaro II-3, 63-64: Ed. Muni Sri Nathmalji, Jaina Svet. Terapanthi Mahasabha, Calcutta, 1967. p. 29.
10. Hermann Jacobi's translation : Jaina Sutras (Part I), Sacred Books of the East, Vol. XXII, Delhi, 1964. p. 19.
11. Dasaveyaliya Suttam, Ch. VI, gaha 11: Ed. Prof. N.V. Vaidya, Pune, 1937.
12. No. 784.
13. No. 785.

Just as the sky contains all the three worlds, and the earth holds all the oceans, similarly (the practice of) Ahimsa comprises within it (the practice of) all the vows—vratas, silas and gunas.[14]

Then in the next two gahas,[15] the Acarya describes, in the same figurative language and style, the pivotal position of Ahimsa in the entire scheme of the ascetic vows. This description can be summarised as follows :

Ahimsa is the hub of the wheel of religion that holds together the spokes of Sila which as well support the outer ring (the ascetic conduct). Moreover the Silas play a protective role towards the vow of Ahimsa like the hedge towards crop.

Further, it is explained[16] that by practising Ahimsa, the first vow, the other four vows can also be successfully observed. At this context I remember R. William's observation on Amrtacandra, author of the Purusartha-siddhyupaya : Amrtacandra explains "every other vrata as but a restatement in different terms of the content of the first"[17]. Hence we can say that Ahimsa also acts as a Master Key for other vows to be operated for salvation.

At one spot[18] the Acarya, in his own sarcastic style, brings out the universal range and positive nature of Ahimsa by contrasting it with a Brahmanic religious dictum :

गोवंभणित्थिवध मोत्तिणियत्ति जदि हवे परम धम्मो ।
परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सव्वभूददया ॥

If abstention from killing merely the cow, the Brahmin and the woman could make one religion supreme, why could not another religion, with compassion unto all beings, be accepted as supreme ?

And lastly, we can not afford to ignore Sivarya's exemplification[19] of social equality and corrigible opportunity for any violent culprit, admitted by the pracice of Ahimsa in Jainism, through an illustration of the story of a candala who was

14. (i) No. 786.
(ii) Somehow Vijayodaya Commentary of Aparajjtasuri does not say anything more about this gaha. But it is curious to know that the Mulacara (M.D.J. Series 23, Bombay, V.S. 1980), in its Silagunaprastaradhikara states, with calculation, that there are in all अट्ठारहसीलसहस्साइं— 18,000 protective rules of conduct (gaha 2) and 84,000,00 gunas—ascetic virtues (gaha 8 and onwards). All this gives us an idea of the scientific working-out of the Jaina way of Ahimsa in Yatyacara—Conduct of the monk.
15. Nos. 787 - 788.
16. No. 791
17. Jaina Yoga, London, 1963, p. 64.
18. No. 792
19. No. 822

thrown in the Simsumara region of hell, but who, later, was worshipped by gods for observing the vow of Ahimsa for a short time.

In conclusion, we can note : This portion of the text in the Mularadhana presents a panoramic view of the various facets of the theory and practice of Ahimsa as a great vow. One of the gahas[20] contains the basic concept of Ahimsa in Jainism—almost an indirect and distant echo of Lord Mahavira's words on Ahimsa. By liberally using similies, illustrations etc., rather than often advancing logical arguments, the author, who is the master of canonical knowledge as well as a skilled teacher, imprints on our mind the great, all comprising, all pervading, pivotal, universal and positive nature of Ahiṃsa in the system of the ascetic (and also partly applicable to the lay) conduct. Hence there is no wonder if some of the above cited gahas prominently appear under the topic of Ahimsa in the recent learned compilations like the Jinavani[21] and encyclopaedic works like the Jainendra Siddhanta Kosa.[22]

—Dharwad (Maharashtra)

20. No. 777
21. Ed. Dr. H.L. Jain, Bharatiya Jnanapitha, Delhi, 1975.
22. Part I, Ed. Jinendra Varni, Bharatiya Jnanapitha, Delhi, 1970.

Status of Women In Jain Literature : An Analysis

Prof. J.C. Jain

If all human beings, according to Jainism, irrespective of caste or creed, whether a Brahman, a Ksatriya, a Vaisya or a Sudra, are equally placed and are entitled to achieve the highest goal of life, the summum bonum, then why should only a woman be debarred from attaining the goal? Obviously, Mahavir must not have preached such a basic distinction between man and woman. Did the interpreters of his teachings interject this division at a later stage? Perhaps not. The reason seems to be the very nature of philosophical ideology underlying asceticism or complete renunciation of worldly attachment from one's kith and kin. The whole discipline centres around the rules of self-control rigidly denying oneself ordinary bodily gratifications for conscience sake. But is it really possible to get rid of total thinking, say, of a person with whom one was wedded and lived enjoying various aspects of life? If at all possible, to what extent and upto what limit? There are numerous instances of Jain ascetics, who unable to control themselves, fascinated by the charm and beauty of fair sex, fell into their snares, violated the vow of asceticism and even returned to household life. An ancient Jain text, known as the *Pinda-Niryukti* refers to the *Rastrapala* drama of which a public performance was presented in Pataliputra by a Jain monk. The drama portrayed the renunciation of Bharata. the first sovereign king. It is said that the impact of the drama was so deep that it made numerous kings and princes abandoned the worldly pleasures and join the ascetic order. Ultimately, this work was destroyed with the apprehension that the world might be deprived of the gallantry of the warrior class, the poetical mind of Rabindranath Tagore could not bear to think of Buddha's forsaking his wife and child and walking out stealthily at the dead of night. He has described the scene in a poetical manner. He writes : At the dead of night the aspirant resolved, "I must leave my home and seek my God. Who has beguiled me and kept me here?" God whispered, "I". But the would-be

thrown in the Simsumara region of hell, but who, later, was worshipped by gods for observing the vow of Ahimsa for a short time.

In conclusion, we can note : This portion of the text in the Mularadhana presents a panoramic view of the various facets of the theory and practice of Ahimsa as a great vow. One of the gahas[20] contains the basic concept of Ahimsa in Jainism—almost an indirect and distant echo of Lord Mahavira's words on Ahimsa. By liberally using similies, illustrations etc., rather than often advancing logical arguments, the author, who is the master of canonical knowledge as well as a skilled teacher, imprints on our mind the great, all comprising, all pervading, pivotal, universal and positive nature of Ahiṃsa in the system of the ascetic (and also partly applicable to the lay) conduct. Hence there is no wonder if some of the above cited gahas prominently appear under the topic of Ahimsa in the recent learned compilations like the Jinavani[21] and encyclopaedic works like the Jainendra Siddhanta Kosa.[22]

—Dharwad (Maharashtra)

20. No. 777
21. Ed. Dr. H.L. Jain, Bharatiya Jnanapitha, Delhi, 1975.
22. Part I, Ed. Jinendra Varni, Bharatiya Jnanapitha, Delhi, 1970.

Status of Women In Jain Literature : An Analysis

□

Prof. J.C. Jain

If all human beings, according to Jainism, irrespective of caste or creed, whether a Brahman, a Ksatriya, a Vaisya or a Sudra, are equally placed and are entitled to achieve the highest goal of life, the summum bonum, then why should only a woman be debarred from attaining the goal? Obviously, Mahavir must not have preached such a basic distinction between man and woman. Did the interpreters of his teachings interject this division at a later stage? Perhaps not. The reason seems to be the very nature of philosophical ideology underlying asceticism or complete renunciation of worldly attachment from one's kith and kin. The whole discipline centres around the rules of self-control rigidly denying oneself ordinary bodily gratifications for conscience sake. But is it really possible to get rid of total thinking, say, of a person with whom one was wedded and lived enjoying various aspects of life? If at all possible, to what extent and upto what limit? There are numerous instances of Jain ascetics, who unable to control themselves, fascinated by the charm and beauty of fair sex, fell into their snares, violated the vow of asceticism and even returned to household life. An ancient Jain text, known as the *Pinda-Niryukti* refers to the *Rastrapala* drama of which a public performance was presented in Pataliputra by a Jain monk. The drama portrayed the renunciation of Bharata. the first sovereign king. It is said that the impact of the drama was so deep that it made numerous kings and princes abandoned the worldly pleasures and join the ascetic order. Ultimately, this work was destroyed with the apprehension that the world might be deprived of the gallantry of the warrior class, the poetical mind of Rabindranath Tagore could not bear to think of Buddha's forsaking his wife and child and walking out stealthily at the dead of night. He has described the scene in a poetical manner. He writes : At the dead of night the aspirant resolved, "I must leave my home and seek my God. Who has beguiled me and kept me here?" God whispered, "I". But the would-be

ascetic heard it not. Seeing his wife fast asleep, her babe clasped to her breast, he muttered, "What are you if not a snare?" God whispered, "Nought else but I," but none was there to heed. Leaving his bed he cried, "Where art thou, O Lord"? "Here" came the reply. He heeded not. The child wailed in its dream pulling at its mother. God commanded, "Turn back". The ascetic ignored the behest. God sighed and said, "Alas, where is my devotee straying, deserting me."[1] It is to be noted that indiscriminate mendicancy was prohibited by Mauryan rulers. Kautilya did not favour abandoning domestic life and laid down that only those who were old could become ascetics after making provision for those who were their dependents. He also prohibited women from accepting the order of nuns.

But once you have accepted the philosophy of renunciation and propagation of cult by wandering ascetics, you have to lay down strict rules and regulations for them so that they remain steadfast in following the discipline. In order to fulfil this difficult task, Jain teachers tried their utmost to preach them in such a manner that they were not affected by worldly allurements and temptations. They presented an adverse picture of woman, representing her as being wicked by nature, river of mountain deceit, mistress of a house of thousands of sins, generator of sorrow, slaughter-house for men, mine of enemity, place of bad conduct, enemy of ascetics, subservient to passion like an elephant in rut, wicked like a female tigress, untrustworthy like a black snake, inconsistent like a monkey and so on and so forth. It has been recorded in ancient Jain texts : "The wise men know the measure of sand of the Ganga, the measure of water in the ocean and the measure of the Himalaya mountain, but they will never know the heart of a woman." Therefore, it has been stipulated that a *brahamacharin* should get frightened of a woman as a chicken of a cat. In this context Manu has been quoted saying, "A men is prohibited from occupying the same *asana* with his own mother, sister or a daughter in a lonely place." Thus we see that if the virtue and integrity of an ascetic has to be preserved and maintained, he has to develop a feeling of utter contemptuousness and scorn towards women.

But how far the idea of contemptuousness towards women could be reconciled with the teachings of Mahavira ? Women have given birth to sixty-three great personalities (*salakapurusa*), including *Tirthankaras*. Besides, Rsabha, the first *Tirthankra* and many other *Tirthankaras* enjoyed married life, raised children, gave charity to the poor, ruled over the earth and at the end of life, relinquished the world. As a matter of fact, according to Jain tradition, it was Rsabha, who for the first time established the institution of marriage so that the human race could survive. Then why should a woman who helps in the survival of the human

1. Krishna Kripalani, *Rabindranath Tagore—A Biography*, 173.

race be condemned ? In the story of Prince Agadadatta narrated in the *Vasudeva-hindi* an ancient text written in archaic Maharastri Prakrit, after listening to the condemnation of women, Dhammilla puts up a question to the monk inquiring whether all women were of the same nature, there must be some at least of integrity and purity. Thereupon the monk replied, "Yes, there are women of integrity", and he narrated another story of a virtuous woman, who maintained her virtue for a long time even though her husband was away.

The *suyagadanga-Nijjutti* (itthiparinna, 1.4) has declared that as far as the violation of rules of chasticy are concerned, both sexes are to be blamed equally. The violation depends one's moral strength whether man or woman. As a man falters on account of his infirmity of moral strength while coming into contact with a woman, so is the case with a woman, who on account of her moral weaknesses slips while coming into contact with a man. It is not the fault of the woman alone. Acharya Sivakoti, the author of the *Bhagavati Aradhana* (987-996), a text of antiquity, has emphasized the same viewpoint, stating, "the faults which are indicated in women are also noticed in men, perhaps in larger quantity in men who are more powerful. As men are condemned by virtuous women so are women by virtuous men. Both gain eminence on account of their virtues. Particularly women, who have given birth to a *Tirthankara*, a *Vasudeva*, a *Baladeva* and *Gandhara*, are adorned by divine beings and excellent people......As a matter of fact, one gets deteriorated by one's own laxity whether man or woman."

We hear about numerous women in Jain literature who were of strong character and fought against all kinds of odds and hurdles emerged with flying colours. They were tempted by various means and passed through crucial tests, encountered physical and mental torture and ultimately were able to maintain their integrity and virtue. Rajimati, while practising penance in a cave at Girnara mountain, solicited by her brother-in-law Rahanemi, who too was practicing penance there. But the strong-minded Rajimati resisted all his attempts by offering him a drink in which she had vomitted. Narmada-sundari, the wife of a merchant, struggled hard to preserve her chastity. She was induced to accept the profession of a prostitute for which she was subjected to various tortures but she remained steadfast and would not move from her determination. Silavati was another virtuous woman, who at the time of her husband's departure to a foreign land, assured him by saying, "Fire may turn cold, the sun may rise in the west, the peak of Mount Meru may be shaken, the whole earth may roll down, the wind may remain steady and the sea may transgress its boundary, but my chastity shall never be violated."

The Yapaniya sect of the Jains in South India openly declared that a woman is entitled to attain *moksa* in this very birth, gave incentive to women of that land. As result a number of women distinguished themselves in various spheres of life.

PROF. J. C. JAIN

They not only acquired skill in administration, but also fought battles to defend their native land, Lakkale or Laksmimati, the wife of general Gangaraja, was known all over as the Lady of Victory for her bravery. Kanti, a contemporary of the well-known poet Pampa, was considered as one of the gems of the court of Hoysal king Ballala (1100-1106 A.D.). She was a wonderful poetess and oratoress who completed the unfinished poem of Abhinava Pampa. The versatile *Acharya-Hemchandra*, in his Prakrit Grammar has beautifully recorded the examples of unprecedented chivalry on the part of women of Gujarat and Rajasthan, A woman addressing her female companion, says, "O friend it is good that my husband has been killed while giving a fight to the enemy in the battlefield. Had he returned home defeated, I would have been put to shame in the presence of my companions" (8.4.351). These heroic women are seen praying to goddess Parvati to let them have in this life and the life next such a husband who smilingly met an excited elephant, unmanageable even by means of gods (8.4.383).

Then what might be the cause of making a distinction between man and women with regard to achievement of their salvation ? It seems that the controversy centres around the word '*nigganthа* or *nirgrantha*' meaning free from all ties and hindrances, without possession, or unattached. The followers of the Jain tradition, instead of being called a Jain, were originally know as *Nigganthа*. The question arose as to who can be called a *Nirgrantha* or having no worldly possessions. Is it essential to discard clothing altogether and move about in a nude state for a true monk ? The Digambaras (meaning sky-clad) declared that the practice of nudity is essential for a Jain mendicant. The Svetambaras (white-clad) on the other hand, denied this and held that the practice of nudity is not essential to achieve salvation. They observed that external signs are of little consequence and function merely to help identify various groups engaging in particular practices.[1] They also held that a woman can attain salvation a view not acceptable to the Digambaras. Now if nudity is made a prerequisite to achieve salvation, naturally the question cropped up whether a woman should be allowed to move about skyclad in public. Perhaps, nudity on their part was not acceptable to Indian society in general.

It should be noted in this connection that an ascetic has to lead a very hard life, living on the charity of people and enduring various affiications *(parisaha)*, including the one of nudity *(nagna)*, involving the feeling of shame. It need not be mentioned that the life of a female ascetic was much harder then brethern and that is why she had to undergo a more rigorous discipline than a monk. The *Bhasya on the Brhatkalpa Sutra* (3.4106 ff, 1.2443 f, 2085) has laid down, "the nuns should not stay alone without the protection of monks and avoid the company of

1. समयसार, 430-33

men of doubtful character. When they went out for begging, they were subjected to various annoyances by young men, who followed them to their residence *(vasati)*. The nuns were mocked at during their menstrual period and the *Kapalika* ascetics tried to reduce them by spells. Under such conditions they were asked to cover themselves thoroughly just like a plantain tree. They were asked to keep the doors of their residence closed. If there were no doors, the monks guarded them or they themselves sat together with sticks in hand to stop the tyrants. If still a young nun was assaulted by arrogant people, some young monk, well-versed in the art of fighting, was supposed to meet them in disguise of a nun and punish them."[1]

Under the circumstances, it was not advisable to allow the nuns moving about naked, more particularly while subject to the menstrual cycle. Therefore, if men and women both are entitled to achieve salvation and that, practicing nudity is an essential qualification to achieve the objective, and as we have noticed there are practical and social difficulties for women moving about naked, consequently they have to be debarred from achieving the highest goal in life. As far as the Svetambara tradition is concerned, as nudity is not a prerequisite to achieve salvation, the point does not arise. However, according to the Svetambara tradition, Malli, the nineteenth *Tirthankara* was a woman, but reading through the statements of the Svetambara teachers, *Tirthankarahood* of Malli is not established beyond doubt. Her attaining *Tirthankarahood* is considered as one of the ten wonders in *Thananga* (10) just as the removal of the foetus of Mahavira from the Womb of Devananda, a brahmana lady, and transferring it to the womb Trisala a Ksatriya Lady. The Abhayadeva, a well-known commentator of Jain canonical literature, while commenting on the eight chapter of the *Naya-dhanmakahao*, dealing with the story of Malli, has remarked, 'though Malli is feminine, she is called by a masculine word "*arhat*" (venerable). When the divine Gods appeared at her birth ceremony, they are also noticed addressing her as *bhagavam loganaha* (venerable Lord of worlds). Lastly, the author of the *Lokaprakasa* (32,10007) has specifically stated that only a man can become a *Tirthankara*. Further, women have been generally, condemned by the Svetambaras just as by the Digambaras, then how can they be placed on equal status with men, yet in the Svetambara tradition, they are entitled to achieve the summum bonum as men.

However, the question that they cannot achieve salvation and a man can, does not arise as in the existing era *(pancamakala)* none of them is entitled to achieve *moksa*.

In early vedic society a women had an equal status with man. A man was considered complete only if united with wife, who was supposed to be the source

1. After Jagdish Chandra Jain, *Life in Ancient India as depicted in India canon and commentaries* 220.

of happiness, wealth and glory. But in patriarchal system as man acquired more money and power, she lost her status and was degraded. Gradually, as a result of socio-economic disparity she was brought to the category of a *sudra*, both being prohibited to recite the sacred hymns of the Vedas. In a society where exploitation has reached its height and a man is making the highest profit at the expense of others, where there is no social justice and equal opportunities for all, where women are deprived of their rights and are entirely dependent on the sweet will of men, the status of women cannot be enchanced. If the mission of Mahavira's Jainism preaching equality of man and woman is to be really fulfilled, a woman has to be provided with social and economic equality in various spheres of life. Then only she can feel liberated and can be inspired to help in the task of building up of the nation.

Rebirth In Jainism & Buddhism

Dr. Raka Jain

Rebirth is the sequence of the world. The cause of present life is the preceding life, so the present life will be the cause of future life. To give the cause of sorrows is called Pratitya Samutpada[1] in Buddhism. It depends on cause and effect. The law of cause and effect creates rebirth so karmes (deeds) are the main root of rebirths.[2]

In Jainism, according to karma, every worldly saul transmigrates from birth to birth. The Atman (spirit) is ever lasting. But according to karmas it adopts corporal physique from birth to birth. The ruin of olden body and getting of new one, is called 'Rebirth' The rebirths are recognised in Jainism. Hearing the hymn (Namokar Mahamantra) by Jivandhar, a dog died and incarnated a Yaksha (a kind of celestial being). Due to the benevolence of Jivandhar Swami he helped him in every step of life.[3] So the description of the previous birth of Jivandhar Swami is worth reading, which not only expounds the Jain law of rebirth but also reveals the mystery of karmas as the law of cause and effect. In previous birth, Yoshodhar (name of Jivandhar in previous birth) separated the kid of a flamingo from its parents. As the result of some time Jivandhar too, remained separated from his parents.[4] Thus we find that according to actions (karmas) takes place—is mentioned in both Jain & Buddhist Cultures. In its opposition, Bhikkhu Dr. Dharmananda M.A., D.Phil. says that in karm philosophy, mind is dominating factor. The conscious mind decides the flow of karm (action). But all thoughts do not produce the karmas (actions).[5] But karmikas (belivers of karmas) believe that fate is their own creation-'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'[6] Buddhist theory deals with a dependent origination of cause and effect in that every action has its

1. Saddharma Pundrik Sutra 13/5.
2. Bauddha Sahitya ka Etihas. p, 101.
3. Jivandhar Champu, forth Labhbha.
4. Ibid 11/37.
5. Diryaloka, Buddha Jayanti, special number p 21.
6. Modern Buddhism and its followers in Orissa p. 12.

own reaction not only within a single life span but also through a series of repeated births and deaths. Nirvana has therefore to be understood as the end of rebirth.[7]

A Bhikkhu named Tissa was reborn after death in the Brahmaloka and was known there as Tissa Brahma and it is said that he was endowed with miraculous power and possessed great influence.[8] Buddhaghosa points out that the king Bimbisara of Magadha was after death reborn in the Catummaharajika heaven as a companion of Vessavana under the name of Janavasabha.[9]

Buddha does not believe the immortality of soul. So how can he believe in rebirths ? To ignore this difficulty, we can present the example of lamps which are lighted by each other in series. The existence of every lamp is separate to each other. There is the only relation of cause and result in them. Similar the view of William James, Buddhism accepts the scientific flow of life. The cause of present mental condition is also former mental state. So the former stage influences the present one.[10] Childers shows from a consideration of what is stated in the Pali text that there are eight Mahanarkas or principal hells. Besides these, there is the Lokantarika hell which is a place of punishment. It is partly inhabited by pretas. There are many minor hells. The Buddhist hell is a place of torment in which former sins are expiated but it is only a temporary state and may be immediately followed by rebirth in one of the higher devalokas.[11]

It is clear that similar to Jain and Hindu Cultures in Buddhism, rebirth is also mentioned. The spiritual evolution of many births, any person can achieve the stage of Buddha. So becoming a Buddha the person, who efforts, is called Bodhisatva. In only one birth man can't develop all virtues in himself. But the medicant, who is the eager to become a Buddha, make continuous efforts and becomes *welverse* in all virtues one by one in several births,[12] he *can be* able to become a Buddha.

In nut cell, in Jainism, the philosophy of rebirths or transmigration is vividly discussed in Tattwartha Sutra of Umaswami.[13] In it Swamiji has given the sutras, in which he mentioned the karmas which are responsible for incarnation of the four wordly states. They are following :

1. Human (Manushya) life.
2. Divine or celestial (Deva) life.
3. Hellish (Nark) life.
4. Animal or vegitation (Triyanch) life.

Thus we find that rebirths are discussed in Jain and Buddhist Cultures in this or that way.

—Aliganj (Etah)

7. The Mahabodhi, April-June 1984, p. 55.
8. Angutter Nikaya, Vol. III, p. 332.
9. Heaven and Hell in Buddhist Perspective—Shri Vimla Charan Law, p. 22.
10. Bhartiya Darshan—Satish Chandra Chottopadhayaya, p, 93.
11. Heaven and Hell in Buddhist Perspective, p. 95.
12. Buddha aur Mahavir—K.G Mashru Vala, p. 19-20.
13. Tattwartha Sutra—Umaswami 8/1.

तृतीय खण्ड

जैन इतिहास एवं परम्परा

मरुधरा-मुनि-मण्डल-संस्तवः

□

उपाध्याय-प्रवराः श्री लालचंद्रजिन्महाराजाः

धोषदाचार्य-द्वाविंशिका

धर्मो जिनेन्द्र-गदितो भुवने विभाति
दासास्तु तस्य विविधा इह सन्त्यभिज्ञाः।
केचित् प्रशस्तमिति सारतमं वदन्ति
निन्दन्ति केचिदथ तेऽपि तथैव दासाः ।।

वर्गे चतुष्टय इह प्रथमोऽस्ति धर्मो
ह्यर्थादयस्तदवशा अकराः समस्ताः।
तेनैव धर्ममभिवन्द्य चरन्ति सर्वे
आसीच्च साधुनिवहेऽपि स धर्म-पूज्यः ।।

येनोद्धृतं श्रमण - धर्ममुदस्यमानं
पाषण्ड वादिभिरथो जड - पूजकैर्वा।
त्यक्त्वा सुखं सकलमात्म - वशं वपुश्च
तं धर्मदासमुनिपं प्रणमामि चाद्यम् ।।

भावो हि सार इति लोकविदो वदन्ति
भावं विना न किमपीह लभेत सारम्।
आसीत्ततो मुनिवरोऽपि स भावसारः
श्री धर्मदासमुनिपो मम वन्दनीयः ।।

धर्मेण रोगरिपवो न भवन्ति दुःखाः
सूर्यादयोऽपि विहगाः शुभदा भवन्ति।
धर्मेण सौख्यमतुलं विजयो ध्रुवश्च
तत्प्रेरकं मुनिपतिं प्रणमामि धर्मम् ।।

धन्यो मुनिस्तदनुगो रवि-तुल्य-तेजा
धर्मद्विषां मुखरतां स रुरोध सम्यक् ।
श्री धर्मदास-सुगुरोः प्रियशिष्य एवं
सार्थाऽभिधोऽमितगतिर्मुनिराट् सुपूज्यः ।।

पूज्योऽभवन् मरुधरा - मुनि - मण्डलेशः
किं भूधरो बुधर वेत्यभिधा तु यस्य ।
आख्ये द्व एव गुणयुक्त इति प्रसिद्धे
लक्ष्मीरमा भवतु तावदथैक शक्तिः ।।

साधोर्गुणः प्रथम एव वसुन्धराया
स्तेन क्षमाश्रमण आगम उक्तिरेषा ।
क्षात्रेण यौवनवने व्यचरन्मृगेन्द्रो
वार्द्धक्य एव मुनिमण्डल - मण्डनोऽभूत् ।।

रातो बुधैरिति समस्त पदेन नूनं
देशे मरौ तु वहवो मुनयोऽस्य सन्ति ।
चत्वार एव निचया बुधरस्य तेन
नो नाम तथ्य - रहितो बुधरोऽपि तस्य ।।

पूज्यो जयस्तदनु यौवन - काननाग्नि—
र्ब्रह्मव्रतेन परिपावितवान् निजान् यः ।
शिष्येषु चान्य - मुनि - साधक - साधिकासु
तेने तु सद्गुण - गणान् जयमल्ल - पूज्यः ।।

आचार्य एव सुविलोक्य गुणं तदीयं
प्रेम्णा पदं निजमदात् सम-संघ-मध्ये ।
नैव स्वयं पदमुरीकृतवान् विनीतो
मेने रघुं गुरुनिभं समुदारभावः ।।

तेनैव रायमुनिपस्तदनूग्र तेजाः
संस्थापको मुनिगणस्य जयीय गच्छे ।
आद्योऽभवद् विधि - विधान - परम्पराया
मेधावि पण्डितवरो गुरुमार्गगामी ।।

वन्द्यानवन्दत मुनिप्रवरान् प्रगल्भः
शास्त्रानुसारि-रचना निपुणो हि शश्वत् ।

सम्यक् ततान भुवने कविता वितानं
भक्तास्तु तत्र सततं विरतौ रमन्ते ।।

धर्मोपदेशनविधौ मुनयो वदन्ति
पद्यानि तानि विविधानि परात्म - तुष्टयै ।
स्वीया गदन्तु न परन्तु कदाचिदन्ये
भक्त्या भवन्ति मुदिताः कथनेन तेषाम् ।।

आचार्य आशुकरणोऽपि कविस्तृतीय—
स्तस्यापि साधुगुणगीतिरिहास्ति लघ्वी ।
शिष्या बभूवुरपि विज्ञतरा गुणज्ञा—
स्तेनायमुज्ज्वलतरो गण ईरितश्च ।।

आसीच्चतुर्थमुनिपः सबलाभिधान—
स्तस्यापि शिष्यसमुदाय उत प्रभावी ।
शाखा सुविस्तृतमवाप ततोऽपि पूज्याद्
वृद्धयादयः कविवराः प्रथिताः स्वगच्छे ।।

पूज्योऽभवत्तदनु पञ्चम हीरनामा
शिष्यास्त्रयोऽस्य मुनयः शुचिशीलभावाः ।
सद्गीतयो विविध धार्मिक नीति-रम्या
अद्यापि हस्तलिखितास्तु मिलन्ति ताश्च ।।

कस्तूरचन्द्र इह षष्ठ इनेन तुल्य—
श्चत्वार एव मुनयस्त्विवह तस्य शिष्याः ।
काव्येन कोऽपि तपसा लिपिना दिदीपे
उग्रं विचेरुरिह वा विषये परत्र ।।

भीष्माऽभिधो मुनिपतिर्ननु सप्तमस्थो
नैजं गुरोः पदमवाप्य तु निर्विवादम् ।
संचालितो जयगणो जिनशासनञ्च
संशोभितं निजमतानुगतं हि चैतैः ।।

तत्पट्ट शोभनपरोऽष्टम कानमल्लो
वादं विजित्य नथमल्लगुरोः प्रसादात् ।
सम्प्राप्तवान् स्वगुरुपट्टमशोभयच्च
यातो दिवं सफल शासन-कार्यकारी ।।

पूज्योऽप्ययं लघुवयस्यतियोग्य आसीत्
रत्नाधिकान् विनयसेवन तत्परः सः ।
शिष्यान् समान् सततमीरयतिस्म सम्यक्
सर्वाल्पमेव स जिजीव निरिन्धनाग्निः ।।

आचार्यो जय आद्य उत्तमगुणो श्री रायचन्द्रोऽपर ।
स्तत्पट्टाधिप आशजित् सवलजिच् छ्री हीरनामा ततः
कस्तूरः पुनरेव भीष्मभयहृच्छ्री कानमल्लोऽष्टम—
एते स्वर्गिण उद्धृताघतमसो मुक्तेः पदं प्राप्नुयुः ।।

द्वाविंशिका मया प्रोक्ता, पूज्यानां द्योषदामियम् ।
प्रातरेनामधीते यस्, तस्य सद्गुणवर्द्धिका ।।

वर्तमानाचार्य-चतुर्विंशिका

पूज्याष्टकं सकल-कष्टहरं प्रणम्य
सम्यक् स्तवीमि नवमं त्विह वर्तमानम् ।
नीत्वा न यो वमति सो नवमः सदर्थो
ज्ञेयो न शब्द इह पूरण वाचकोऽयम् ।।

मिष्टा भवन्ति रसनावधयो हि लोके
इष्टाः परन्तु हृदयं परितोषयन्ति ।
प्रेयस्तु दुःखद इतीह वदन्ति विज्ञा
श्रेयः परं सम समुन्नयने सुदिष्टः ।।

भूतं न चिन्तयति वाञ्छति नैव भाव्यं
यो वर्तमानमुपयोगितया भजेत ।
त्यक्त्वाऽफलं सफलमाम्रतरुं श्रयंश्च
यश्चेष्टते स मनुजो मनुजाग्रवर्ती ।।

आध्यात्मिकं श्रमण जीवनमेव किन्तु
संवेद्यते जगति सद्व्यवहारतस्तत् ।
स्थानाङ्ग पञ्चमतमे व्यवहार वाणास्
ते चाऽऽगमश्रुत निदेशन धारणाद्याः ।।

जीतस्तु पञ्चम इहोदित एव साक्षात्
पञ्चस्वपीह बलवान् व्यवहार एषः ।
तत्पालने मतिमतामपि मल्लतुल्य-
स्तेनेह विज्ञविदितो **मुनि जीतमल्लः** ।।

लावण्यसार-नगरे मरुदेश अस्मिन्
ओसोप शब्द सहितो वर **वाल** विंश ।
व्याघ्रान् कदाचिदपि चारितवन्त एते
तेनैव लौकिकगिराऽजनि **बाघचाराः** ।।

आसीत् पिता **वचनमल्ल** सुनामधेयो
भिक्षाभिधा गुणवती जननी विनीता ।
सप्तर्तु-नन्द-शशिभिः प्रमिते तु वर्षे
मासेऽसिते **नभसि सूर्यतिथौ** सुजातः ।।

रत्नद्वयेन सुतरत्नमिदं ह्यवाप्तं
रत्नाकरे भवति रत्नमिति प्रसिद्धिः ।
रत्नानि तानि विविधानि भवन्तु वाढ़म्
एकेन्द्रियाणि परमेष तु पञ्चखोऽभूत् ।।

तद्‌रत्नमुत्तम - विभूषण - भूषितञ्चे-
दन्योऽन्यशोभि भवतीह सुविज्ञ-दृष्टौ
प्राप्ते मृतिं गृहपतौ सुतमातरौ तौ
प्राप्तौ **गुरुं नथमलं** मुनिवृन्द-वन्द्यम् ।।

नारायणो रघुपति - मुनि - जैतसिंहः
पूज्यो **जयः कुशल** इत्यपि पञ्च-शिष्याः ।
पत्रे मिलन्ति लिखिता **गुरुभूधरस्य**
शेषान् कथं विगणयाम न साधनं नः ।।

पत्राणि जीर्ण लिखितानि विकेन्द्रितानि
शिष्याः कियन्त इति कस्य हि तैर्न विद्मः ।
ज्ञातं तु किंचिदपि लब्धमपीह यत्नात्
तेनैव तुष्यतु जनो जिनमार्गदर्शी ।।

शाखे द्व एव निसृते गणिरायचन्द्रा-
दाद्या तु पूज्यपद शिष्य-परम्परैव ।
श्रीमत्कुशालमुनितो ह्यपरा प्रशाखा
शक्ता निदेशनपरा तु विवादकाले ।।

एकस्तु पूज्य इतरे मुनयः समानाः
पूज्यस्य शिष्य-विषयो वहुधा तु पट्टः ।

ओसाख्य जाति जनितः खलु पूज्य-भावः
प्रायेण रीतय इमाश्चलिता अवाधम् ।।

पूज्याच्चतुर्थ सवलादभवत्तु वार्द्धी
तत्राभवन्मुनय ईप्सित विज्ञशिष्याः ।
रामादयो मुनिवराः किल पूज्यकल्पाः
प्रीता गणे गुणिजनेषु च वद्धरागाः ।।

धीमत्कुशाल सुगुरोर् भगवानदासः
शिष्यो वभूव ननु तस्य च सूर्यमल्लः ।
तच्छिष्य उत्तममतिर् नथमल्ल नामा
तं सद्गुरुं समधिगम्य मुमोद माता ।।

स्वं चात्मजं गुरुवराय समर्प्य वाचा
चिन्ता-विमुक्त-हृदया गृहमाजगाम ।
विस्फोटकेन तनयं परिपीडितांगं
दृष्ट्वाऽचिरादहममुं श्रमणाय दास्ये ।।

एवं विधाय हृदयेन दृढां प्रतिज्ञां
सद्योऽफलच्च गुरवे स्वसुतं ददौसा ।
पश्चाद् विरक्त - मनसा **गुरुमब्रवीच्च**
संसार-पार-गमनाय तु देहि दीक्षाम् ।।

श्रुत्वा **प्रसूं** तु सुगुरुः श्रमणी-समूहे
सम्प्रेष्य तत्तनयकं निकटे ररक्ष ।
प्रज्ञापरं समवलोक्य जवेन जीत-
मध्यापयन् सुविधिना गुरवो गुणज्ञाः ।।

वर्षद्वये मुनिविधाववबुद्धच सम्य
गष्टर्षि-नन्द - शशि-मार्ग- सिते दशम्याम् ।
पीपाड़ नाम्नि नगरे सुमहोत्सवेन
प्रावेशयन् मुनिगणे मुनि-जीतमल्लम् ।।

अब्धि-द्यु रम्बर युगेऽक्षय - वन्हि-घस्त्रे
नागोर नाम्नि नगरे जयमल्ल - संघः ।
दत्वा चतुर्थ-पदमुग्रतरं जहर्ष
योग्यो हि योग्यतरमाप्य लसेत वस्तु ।।

सेवा कृता सुमनसा गुरुवान्धवानां
श्री **चौथ-वक्त्रवर-चान्द**-महोदयानाम् ।
श्री **रूपचन्द्र** - मुनिवृद्ध - तपस्विनश्च
शोभन्त एव विनयादि गुणैः सुविद्याः ॥

प्रायो विहृत्य **मरुनीवृति मेदपाटे**
नैक प्रदेश नगराणि विलोक्य सम्यक् ।
दत्वोपदेशमथ धर्म - परम्परायाः
संस्थापितो जयगणः पुनरेव नूनम् ॥

धन्वप्रदेश इह **रायपुरे** शुभेऽह्नि
श्री **वीर-जन्म नयनाग्नि[1]-ख-युग्मवर्षे** ।
आचार्य पट्टमभिभूषितवान् सुखेन
श्री कानमल्ल-सुपदे मुनि जीतमल्लः ॥

लाभो भवत्वनुदिनं मुनिमार्ग-योग्यो
लक्ष्यस्य पूर्तिरमला भवतान्नितान्तम् ।
चंचच्चकासतु सदा भवि तेजसाऽयं
द्रष्टार उत्सुकतया हृदि वासयन्तु ॥

१. त्रिलोचनापेक्षयाऽत्र नयनशब्दः प्रयुक्तः

ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी और ब्रह्म-पुत्री सरस्वती
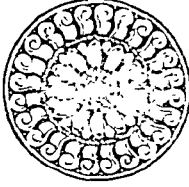
आचार्य गोपीलाल अमर

आरम्भिक वक्तव्य

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ की पुत्री ब्राह्मी थी जो महाविदुषी और कलाकुशल थी। वैदिक देव ब्रह्मा की पुत्री भी ब्राह्मी थी जो स्वयं सरस्वती थी। दोनों ब्राह्मियाँ एक ही व्यक्ति थीं, या यों कहें, ऋषभ-पुत्री ही आगे चलकर सरस्वती कहलाई। यह एक ऐसी परिकल्पना है जिससे एक दूसरी परिकल्पना जागती है कि ऋषभ की दूसरी पुत्री सुन्दरी और वैदिक देवी लक्ष्मी एक ही व्यक्ति थीं, और तीसरी परिकल्पना जागती है कि तीर्थंकर ऋषभ और वैदिक ब्रह्मा एक ही व्यक्ति थे। ये परिकल्पनाएँ इतनी सबल हैं कि इनके सामने यह पुरानी परिकल्पना निर्बल हो जाती है कि तीर्थंकर ऋषभ और वैदिक शिव एक ही व्यक्ति थे। जो भी हो, जैन कला और साहित्य में सरस्वती पर पुस्तक लिखते समय दोनों ब्राह्मियों की एकता पर किया गया प्रस्तुत अध्ययन इतिहासज्ञों की समीक्षा (अमरावती, सी २/५७, भजनपुरा, दिल्ली-११००५३) के हेतु समर्पित है। यहाँ संदर्भ जानबूझ कर नहीं दिए जा रहे हैं ताकि विद्वान् समीक्षक उनके जाल में उलझने के बदले इस परिकल्पना के मर्म तक पहुंच सकें।

प्राकृतिक शक्तियाँ और सरस्वती

आदिम काल में प्राकृतिक शक्तियों को देव-देवियों का रूप दिया गया, या संसार-भर में विचारों की धुरी प्रकृति के अध्ययन की ओर से मानव-जीवन के अध्ययन की ओर मुड़ गई, ये दोनों बातें सरस्वती के संदर्भ में भी खरी उतरती हैं।

प्राचीन नदी के रूप में सरस्वती, गंगा और सिंधु की भाँति, प्राकृतिक शक्ति रही होगी। जल, वसन्त, हंस, मयूर और कमण्डलु का देवी सरस्वती से सम्बन्ध उसके इसी आदिम रूप का सूचक है। किन्तु, साहित्यिक स्रोत इससे भी आगे पहुंचते हैं कि सरस्वती का यह रूप प्रथम और अन्तिम चरण नहीं था। प्रथम चरण में वह ब्रह्मा की पुत्री थी और तृतीय अर्थात् अंतिम चरण में वह विद्या की देवी कहलाई।

ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी

इसके अतिरिक्त, आगामी शोध कार्यो द्वारा यह प्रमाणित होने की प्रवल सम्भावना है कि दोनों ब्राह्मियाँ अर्थात् वैदिक परम्परा की ब्रह्म-पुत्री और जैन-परम्परा की ऋषभ-पुत्री एक ही व्यक्ति थीं।

ब्राह्मी अपने पिता ऋषभ की पत्नी कभी नहीं बनी जबकि सरस्वती अपने पिता ब्रह्मा की पत्नी बनी, इसलिए वे दोनों एक ही व्यक्ति नहीं हो सकतीं, यह तर्क निराधार है क्योंकि सरस्वती के अपने पिता की पत्नी होने की मान्यता परिष्कृत रुचि वालों के गले कभी नहीं उतरी कि वह अब अस्वीकृत हो चुकी है।

दोनों ब्राह्मियों के एक ही व्यक्ति होने की मान्यता की पुष्टि भारत के आद्य-इतिहास के इस आख्यान से होती है जिसके दो पात्र अर्थात् ब्राह्मी और सुन्दरी नामक ऋषभ-पुत्रियाँ क्रमशः सरस्वती और लक्ष्मी के आदिम रूप माने जा सकते हैं।

ऋषभनाथ, वृष, वृषभ, वृषभनाथ, आदिनाथ, ब्रह्मा, वेधा, प्रजापति, चतुर्मख आदि नामों से भी विख्यात 'ऋषभ' चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम थे और उनके पिता नाभिराज चौदह कुलकरों या मनुओं में अन्तिम थे और वैदिक पुराणों में उनकी भी ऋषभ की ही भाँति उपासना की गई है।

उनके प्रथम पुत्र भरत के नाम पर यह देश भारत कहलाया और वे बारह चक्रवर्तियों में प्रथम थे। उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली चौबीस कामदेवों में प्रथम थे। भरत के पुत्र मरीचि ने छठी शताब्दी ई. पू. में तीर्थंकर महावीर के रूप में अपना अन्तिम जन्म लिया।

ऐसे अभिजात घराने में जन्म लेने वालीं और अवधिज्ञानी पिता द्वारा ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में स्वयं प्रशिक्षित दोनों बहिनों का समय ऋग्वेद की रचना के पूर्व या उसके समकालीन रहा होगा क्योंकि उसमें उनके पिता की कई स्थानों पर उपासना की गई है।

ब्राह्मी और सुन्दरी का अत्यंत प्रतीकात्मक और भावगर्भित आख्यान अधिकांश जैन पुराणों में आया है। उदाहरण है ७८३ ई. में लिखा गया जिनसेनाचार्य का हरिवंश-पुराण, जिसमें दोनों बहिनों के लिए श्री सरस्वती, श्रुतदेवता, वाग्देवता आदि उच्च विशेषण दिए गये हैं। यह आख्यान कोरा काव्य-प्रतीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें मानव और प्रकृति के संबंधों का वह दर्शन अन्तर्निहित है जो अन्य दर्शनों से अधिक गंभीर है। क्योंकि इस आख्यान में राजाओं आदि का उल्लेख उनके ऐतिहासिक नामों से हुआ है अतः वह किन्हीं ठोस परम्पराओं पर आधारित अवश्य रहा होना चाहिए।

ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी और ब्रह्मपुत्री सरस्वती की एकता की यह परिकल्पना साहित्यिक संदर्भों से तो होती ही है, कला में उनके मूर्त्यंकन से भी होती है। ऐसे शिल्पांकन प्राप्त हुए हैं जिनमें ऋषभ के साथ उनकी यक्षी चक्रेश्वरी दिखाई गई है, उसकी एक ओर दिखाई गई सरस्वती और दूसरी ओर दिखाई गई लक्ष्मी अपने पूर्व रूपों, क्रमशः ब्राह्मी और सुन्दरी का स्मरण कराती हैं।

सरस्वती और ब्राह्मी की एकरूपता

ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में किशोरावस्था में ही महावैदुष्य प्राप्त कर लेने से जिसमें वाग्देवता का अवतार हो गया था ऐसी ब्राह्मी उस सरस्वती से अवश्य ही अभिन्न रही होगी जिसके

साधन-सम्पन्न थे कि वे सहज ही इन सब चीजों के धारक हो सकते थे। इस संदर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उनके पुत्र भरत ने यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम प्रचलन किया था जिसकी विधिवत् सूचना उन्होंने अपने पिता को दी थी।

जैन-साहित्य में स्थान-स्थान पर वर्णन है कि ऋषभ ने अपनी पुत्रियों, ब्राह्मी और सुंदरी को ज्ञान-विज्ञान की विविध विधाओं की शिक्षा देकर जन-साधारण के लिए शिक्षा और जीविकोपार्जन के नए आयाम खोले थे। इसी प्रकार, बृहद्धर्म-पुराण के पच्चीसवें अध्याय में वर्णन है कि ब्रह्म ने ज्ञान-विज्ञान की सभी विधाओं की सृष्टि की। यहाँ दोनों ब्रह्माओं के कार्य की समानता अत्यधिक भावगर्भित है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में एक स्थान पर लिखा है कि सरस्वती के पिता का नाम धर्म था। धर्म का एक पर्यायवाची है वृष और वृष है पर्यायवाची ऋषभ का। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सरस्वती ऋषभ की पुत्री थी। किसी व्यक्ति के लिए उसके नाम के बदले उसके पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग की परंपरा भारतीय साहित्य में रही ही है।

मत्स्यपुराण में उल्लेख है कि ब्रह्मा के दो पुत्र थे, भरत और काम। इधर ऋषभ के भी दो पुत्र थे, भरत जिसके नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया और बाहुबली जो चौबीस कामदेवों में प्रथम था।

मत्स्यपुराण के ही अनुसार, ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में एक था मरीचि। भागवत-पुराण में लिखा है कि मरीचि के साथ ब्रह्मा ने कर्दम ऋषि के आश्रम में पदार्पण किया जिसके चारों ओर ब्रह्मपुत्री बहती थी। जैन पुराणों में मरीचि भरत का पुत्र और ऋषभ का पौत्र था जो अपने पितामह के साथ ही साधु बन गया था।

इन वर्णनों से ब्रह्मा और ऋषभ की एकता होने में सन्देह समाप्त हो जाता है और इसीलिए सरस्वती और ब्राह्मी की एकता में भी संदेह समाप्त हो जाता है।

द्वितीय चरण

वैदिक परम्परा में तो सरस्वती द्वितीय चरण में नदी के रूप में पृथ्वी पर विष्णु के माध्यम से अवतीर्ण होती है, किन्तु जैन साहित्य में ब्राह्मी के नदी के रूप में परिवर्तित होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल से लेकर ५२७ ई. पू. में महावीर के निर्वाण तक के समय में ब्राह्मी, अर्थात् जैन परम्परा की सरस्वती, की मान्यता सार्वजनिक रूप ले चुकी थी। किसी न किसी आधार पर यह माना जा सकता है कि इस समयावधि में एक ऐसी सरस्वती का स्वरूप प्रकट हुआ जो किसी भी परम्परा या धर्म से निरपेक्ष था और जिसे भारतीय स्वरूप कहना अधिक उपयुक्त होगा।

जैसे-जैसे समय बीता होगा ब्राह्मी एक सार्वभौम देवी के रूप में, अपने गुणों के कारण, प्रतिष्ठित होती गई होगी। किसी वैदिकेतर मानव का इस प्रकार के सार्वभौम दैवीकरण का उदाहरण केवल ब्राह्मी ही नहीं है। स्वयं ब्राह्मी के पिता ऋषभ, बुद्ध और कपिल का ऐसा ही दैवीकरण हुआ जिसके फलस्वरूप वे विष्णु के चौबीस अवतारों में परिगणित हुए।

समय की इस दीर्घ अवधि में वैदिक परंपरा ने सरस्वती के स्वरूप में अनेक-अनेक परिवर्तन किए। उदाहरण के लिए, एक ओर उसका नदी वाला रूप माना जाता रहा और दूसरी ओर उसके नदी मातृका और नदी-देवी के रूप लोकप्रिय हुए। दूसरा उदाहरण है ऋग्वेद काल के देवी-त्रय का जिसमें से इला का लोप हो गया और भारती सरस्वती की पर्यायवाची बनकर रह गई। इन परिवर्तनों के संदर्भ में जैन परम्परा वैदिक परम्परा के कंधे से कंधा मिलाकर चलती रही प्रतीत होती है।

ऐसा नहीं कि सरस्वती के नदी वाले रूप से जैन परम्परा को कुछ भी लेना-देना नहीं है। जैन साहित्य में कई स्थानों पर सरस्वती नाम की नदियों की चर्चा है। यह उल्लेखनीय है कि इस नाम की सभी नदियाँ पश्चिम की ओर बहती बताई गई हैं, यह ऐसा तथ्य है जो वैदिक परम्परा से पूरी तरह मेल खाता है। ऋग्वेद में भरत के वशंजों अर्थात् भारतों के विषय में लिखा है कि वे सरस्वती के तटों पर रहते थे। "यह बहुत हद तक सच है कि भारतों की गणना ऋग्वैदिक आर्यों में होती थी, किन्तु ब्राह्मणकाल में आर्य जाति प्राच्य और पाश्चात्य नामक दो वर्गों में विभाजित हो गई।" यह भरत निश्चित रूप से ऋषभ-पुत्र होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, ऋषभ का भी एक नदी से सम्बंध रहा है, ऐसा भागवतपुराण से ज्ञात होता है जिसमें उनका वर्णन आयुष्यमान् और अम्बुधारा की कलावतार नामक सन्तान के रूप में किया गया है। अम्बुधारा का अर्थ है जल का प्रवाह। ऋषभ की माता मरुदेवी थीं, और मरुदेवी शब्द का अर्थ है मरु-स्थल की अधिष्ठात्री देवी। इस प्रकार अम्बुधारा और मरुदेवी में, प्रकृति से समान रूप से सम्बंध होने के कारण, बहुत कुछ समानता है।

इसके भी अतिरिक्त, जैन पुराणों में वर्णित चौदह महानदियों में गंगा और सिन्धु के साथ हरि-कान्ता भी एक है। हरिकान्ता शब्द का अर्थ है—हरि अर्थात् विष्णु की प्रिया; इस संदर्भ में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा में विष्णु की पत्नी के रूप में सरस्वती की भी गणना है।

महापर्वत हिमवान् से निकल कर लवण-समुद्र में गिरने वाली महानदी हरिकान्ता भरत क्षेत्र के हरि-वर्ष नामक चौथे क्षेत्र के पश्चिमार्ध में से बहती है।

सरस्वती और हरिकान्ता नदियों में इस तरह की जो समानताएँ हैं उनसे ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी के रूप में सरस्वती के विकास के द्वितीय चरण पर प्रकाश पड़ता है।

तृतीय चरण

महावीरोत्तर-काल अर्थात् विकास के तृतीय चरण में आने पर ही, पहले से ही सार्वभौम स्वरूप प्राप्त कर चुकी सरस्वती ने दो रूप धारण किए। श्रुति या वेद हाथ में लिए वह वैदिक परम्परा में प्रविष्ट हुई और जिनवाणी या श्रुत हाथ में लेकर वह जैन परम्परा में आई। कालान्तर में उसने बौद्ध परम्परा में भी प्रवेश किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से, सरस्वती के इन दो रूपों को स्पष्ट आकार प्रथम शताब्दी ई. में ही मिल पाया। उदाहरण के लिए इसी शताब्दी की जैन रचना तिरुक्कुरल का विषय इतना धर्म-निरपेक्ष, बल्कि सार्वभौम, है कि उसे शैव परम्परा की रचना भी कह दिया जाता है और वैष्णव-परम्परा की रचना भी। इससे कुछ आगे बढ़कर, इसी शताब्दी की बौद्ध रचना मणिमेखला जैन परम्परा की रचना कह दी जाती है।

लगभग यही स्थिति तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र की है; प्रथम शताब्दी की यह रचना जैनों की दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं को समान रूप से मान्य है। और, लगभग यही स्थिति द्वितीय शताब्दी ई. की दिगम्बर जैन परम्परा की रचना षट्खण्डागम की है जिसमें श्वेताम्बर-परम्परा के विपरीत कुछ भी नहीं है।

इसके अतिरिक्त, यहाँ जिस परिकल्पना या अनुमान का प्रतिपादन किया जा रहा है वह बहुत लम्बी कालावधि और बहुत विशाल क्षेत्र पर आधारित है। इस प्रकार की परिकल्पनाओं या अनुमानों की स्वतन्त्रता देने में भारतीय परंपरा बहुत उदार रही है। इस उदारता के कारण ही उसमें छह एकनिष्ठ दर्शन एक साथ प्रचलित रहे, पृथक् अस्तित्व की समर्थक और वाममार्ग की पोषक विचारधाराएँ चलती रहीं और अध्यात्म तथा ईश्वरत्व को लेकर मदभेद भी समाविष्ट रहे।

सरस्वती के तीन चरणों में विकास के इन कारणों के अतिरिक्त, राजनीतिक दर्शन से भी बल मिला होना चाहिए। यह ऐसा तथ्य है जो व्यापक आख्यान-परम्परा से प्रमाणित होता है। यह वही आख्यान-परम्परा है जिसमें उन प्रचण्ड और कभी-कभी आक्रामक शास्त्रार्थों के वर्णन मिलते हैं, जिनका आयोजन इतिहास के सभी युगों में और देश के सभी भागों में राजकीय संरक्षण में हुआ करता था।

महावीर-निर्वाण के पश्चात्, प्रथम शताब्दी ई. के आसपास जब जैन धर्म में देव-देवियों की उपासना प्रचलित हो रही थी, तब जैन मूल की किन्तु सार्वभौम रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी देवी सरस्वती ने जैन धर्म में जिन-वाणी के रूप में पुनः प्रवेश किया होगा, जिसे कालान्तर में श्रुतदेवी के रूप में अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

आज उपलब्ध जैन साहित्य और कला में सरस्वती के जिस रूप की प्रस्तुति है वह अवश्य ही एक देवी का रूप है, किन्तु इस अध्ययन में प्रतिपादित परिकल्पना के अनुसार वह मूलतः एक मानवी का रूप था; यही कारण है कि देव-देवियों की प्राचीन जैन सूचियों में सरस्वती नामक देवी की कहीं भी गणना नहीं की गई।

सरस्वती मूलतः एक मानवी थी, देवी नहीं, इसकी पुष्टि शिवचूलागणिनी-विज्ञप्ति नामक प्राचीन जैन लेख से भी होती है। इस विज्ञप्ति में चन्दनबाला, द्रौपदी, तारा, मृगावती, सीता और मन्दोदरी के साथ सरस्वती भी सात-सती नारियों के साथ गिनाई गई है। भारतीय पुराणों में अत्यधिक लोकप्रिय इन सातों का चरित्र मानव-जाति की नारियों का ही है, न कि देव-जाति की नारियों का; इसलिए सरस्वती भी मानव-जाति की ही सिद्ध होती है, तभी तो साहित्य में उसे सती और महासती कहा गया है।

—भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली (भारत)

**

जैनधर्म का उद्भव और विकास

श्रीमती माया जैन

जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है। इसकी परम्परा का इतिहास भी काफी प्राचीन माना जाता है। इस धर्म के उद्भव और विकास की एक अन्तर्यात्रा उस समय से प्रारम्भ हो जाती है, जिस समय से इस पृथ्वी पर अनेक दिव्य-पुरुषों ने जन्म लिया। उन दिव्य-पुरुषों को तीर्थंकरों के नाम से जाना जाता है। तीर्थंकरों ने ही जैनधर्म के विकास-क्रम में अपना सहयोग दिया। पूर्व में यह धर्म जैन धर्म के नाम से नहीं जाना जाता था। यह नाम तो भगवान् महावीर के बहुत समय पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ।

वेद और जैनधर्म की प्राचीनता

इतिहासकार वेदों को सबसे प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। उन ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद को माना गया है। ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव, अजितदेव, अरिष्टनेमी—इन तीन तीर्थंकरों का वर्णन आता है; जिससे यह निश्चित हो जाता है कि जैनधर्म का उद्भव प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ। इसकी विकास-यात्रा में अन्य तीर्थकरों का भी विशेष योगदान रहा। ऋग्वेद, यजुर्वेद में इस बात की प्रामाणिकता प्राप्त हो जाती है कि ये जो तीन तीर्थंकर हैं वे निश्चित ही केवलज्ञान से युक्त थे। यजुर्वेद के अध्याय ९ में इस बात का उल्लेख भी किया गया है तथा यह बतलाया है कि जो ज्ञान, दर्शन, बल और सुख—इन चार चतुष्टय के धनी हैं, वे सर्वज्ञ हैं। इनके दयामय उपदेशों से जीवों का आत्मकल्याण होता है। आगे इसी बात का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए यह भी कथन किया है कि, हे अरहंत ! आप वस्तु-स्वरूप धर्म रूपी वाणी को, उपदेश रूपी धनुष को तथा आत्म-चतुष्टय रूप आभूषणों को धारण किए हो। आपको केवलज्ञान प्राप्त हुआ है इसलिए आप ही संसार के प्राणियों की रक्षा करने वाले हो।

इस प्रकार वेद-ग्रन्थों में तीर्थंकर, अरहंत, केवली एवं सर्वज्ञ का उल्लेख हुआ, जिससे यह निश्चित हो जाता है कि प्राचीन समय में जैनधर्म किसी न किसी रूप में अवश्य रहा होगा।

प्राचीन अभिलेख एवं सभ्यता

विख्यात सिन्धु घाटी के अवशेषों पर ध्यान देने से हमें यह कथन करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है कि हमारी सभ्यता मोहनजोदड़ो के समय में भी थी। इस समय की खुदाई में प्राप्त हुई अनेक मूर्तियाँ इस बात की ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करती हैं कि सिन्धु-घाटी-सभ्यता में भी जैनधर्म अपनी प्रसिद्धि को प्राप्त था।

प्राचीन मान्यता के विषय में निम्नांकित कुछ विद्वानों के कथन को देखा जाए तो निश्चित यह सिद्ध हो सकेगा कि इस काल में ऋषभदेव से जैनधर्म की उत्पत्ति हुई। ऋषभदेव का जन्म हजारों शताब्दियों पूर्व हुआ था। भागवद् पुराण में भी यही उल्लेख प्राप्त होता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम संस्थापक थे। रामप्रसाद चाँदा, प्रोफेसर प्राणनाथ विद्यालंकार, श्रीकण्ठ शास्त्री, मेजर जनरल फर्लांग एवं डॉ. राधाकृष्णन ने अपने चिंतन के आधार पर जैनधर्म की प्राचीनता का कथन किया है। मेजर जनरल की ये पंक्तियाँ, "उत्तरी भारत में उस समय एक प्राचीन अत्यंत संगठित दार्शनिक सदाचार एवं कठिन तपस्या से युक्त जैनधर्म विद्यमान था", यही बात सिद्ध करती है कि जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है। डॉ. राधाकृष्णन ने भी जैनधर्म को प्राचीन बतलाया है।

जैन धर्म के प्रवर्तक

जैन धर्म के उद्भव के प्रथम प्रवर्तक ऋषभदेव माने जाते हैं। ऋषभदेव की परम्परा से ही आज तक जो जैन धर्म विद्यमान है, वह एक-दूसरे से काफी समय के अन्तराल से उत्पन्न हुए तीर्थंकरों के द्वारा उसी प्रकार प्रवाह रूप बहता गया और महावीर तक इसका क्रम चलता रहा। महावीर के बाद भी धर्म का वही क्रम बना रहा परन्तु महावीर के बाद जो कुछ भी कथन किया गया या लिपिबद्ध किया गया वह सब तीर्थंकरों की परम्परा के अनुसार ही लिखा गया। लिपिबद्ध करने का एक कारण यह भी था कि महावीर के पश्चात् ज्ञान का क्षयोपशम कम होने लगा था। इसलिए जो ज्ञान के आचार्य थे उन आचार्यों ने तीर्थंकरों की वाणी को उसी रूप में बनाए रखने के लिए लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया। आज उसी लिपिबद्ध-क्रम का यह फल है कि जैन धर्म के प्रमुख सिद्धांत उसी रूप में मौजूद हैं।

तीर्थंकर और उनका उपदिष्ट धर्म

चौबीस तीर्थंकरों के जीवन-परिचय का मूल्यांकन करने से यह पता चलता है कि जितने भी तीर्थंकर हैं उन सभी ने राजवंश एवं क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया। सभी ने राज्य-वैभव का उपभोग किया और उस उपभोग किए गए वैभव का चिंतन करके यह विचार किया कि इन सभी से हमारा कल्याण होने वाला नहीं है। अपने कल्याण के लिए तो अपने आत्मस्वरूप को जानना होगा। यही सोचकर सभी ने राज्य के वैभव को छोड़कर तपस्या की तथा कर्मों को नष्ट करने के लिए संयम को धारण किया। घातिया कर्मों को नष्ट करते हुए अलौकिक केवलज्ञान को प्राप्त कर अरहंत कहलाए। इस अरहंत-अवस्था में जो दिव्य-ध्वनि हुई वही सब प्राणियों के कल्याणार्थ हुई। अन्त में अघातिया-कर्मों का क्षय करते हुए सभी तीर्थंकरों ने निर्वाण को प्राप्त किया।

तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म ने सामाजिक क्रान्ति को उत्पन्न किया। लोगों ने अपने जीवन के महत्त्व को समझा तथा तीर्थंकरों की वाणी को सर्वप्रामाणिक मानकर उन्हें अपने शब्दों में सर्वज्ञ कहा तथा उनकी वाणी को भी श्रेयस्कर मानकर उसे आगे बढ़ाया। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त जितने भी तीर्थंकर हुए उन सभी के उपदेश का एक ही उद्देश्य था कि मानव अपना कल्याण कर सके तथा अपने आत्मस्वरूप को समझकर आनन्द का अनुभव कर सके। चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् ऋषभदेव प्रथम हैं जिन्हें आदि पुरुष भी कहा जाता है, इसके बाद अन्य तीर्थंकर भी हुए उनमें कुछ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक हो जाता है।

नेमिनाथ

नेमिनाथ २२ वें तीर्थंकर हैं जिनका उल्लेख वेदों में भी मिलता है। ये प्रतिष्ठित हरिवंश में श्री समुद्रविजय की पटरानी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। समुद्रविजय के छोटे भाई वसुदेव थे, जिनेके पुत्र श्री-कृष्ण वासुदेव थे। इनका जन्म सौरीपुर नाम के नगर में हुआ था। नेमिनाथ का विवाह उग्रसेन की पुत्री राजुल के साथ निश्चित हुआ। निश्चित समय पर जब सजी-धजी बारात के साथ नेमिनाथ वहाँ पहुंचे तो पशुओं को बाड़े में बंधा हुआ देखकर उनके मन में कौतूहल उत्पन्न हुआ। सारथी से पशु-बंधन के कारण को जानकर नेमिनाथ का हृदय करुणा से भर गया। और उन्होंने उसी समय अपना रथ मोड़ लिया तथा वैराग्य-भाव उत्पन्न हो गए। संयम ग्रहण कर वे तप-साधना में संलग्न हो गए। राजुल ने भी नेमिराज के मार्ग पर चलना श्रेयस्कर समझा और उसने भी राजमहल को छोड़कर संयम ग्रहण कर लिया और तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी।

नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष कहा गया है। इसका कारण उनके लघु भ्राता श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता भी है, इसीलिए इनका उल्लेख ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी आता है। पुरातत्त्व विशेषज्ञों का भी यह कथन है कि नेमिनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं। पाश्चात्य विचारकों में डॉ. फुहरर, बार्नेट, कर्नलटॉड, कर्क तथा भारतीय विद्वानों में डॉ. हरीकान्त, प्रो. प्राणनाथ, प्रो. विद्यालंकार, डॉ. राधाकृष्णन आदि ने भी नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष माना है। शिलालेखों के आधार पर भी नेमिनाथ के ऐतिहासिक होने पर संदेह नहीं रहता।

श्री पार्श्वनाथ

२३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ काशी के नरेश महाराज अश्वसेन की महारानी वामादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ये जन्म से ही वैरागी थे। इन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में घर का त्याग करके दीक्षा धारण कर ली। और कठोर तपश्चरण करने लगे। कठोर तपश्चरण के बीच उन्हें अनेक उपसर्गो को भी सहन करना पड़ा। कमठ के जीव ने अग्नि प्रज्वलित की, पत्थर फेंके, मूसलाधार वर्षा की परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ ध्यान में स्थिर रहे। इन्हें भी ऐतिहासिक माना जाता है। ये नागवंश के थे। इसलिए इनके धर्म का प्रचार नाग जाति के लोगों में अधिक था। पार्श्वनाथ के समय में पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं पूर्व समस्त भारत में नाग सत्ताएँ थीं। जिससे पार्श्वनाथ के उपासक भी काफी लोग थे। इन्होंने जो संघ चलाया, वह संघ निर्ग्रन्थ के नाम से भी जाना जाता था। आज यही शब्द महावीर भगवान् के लिए भी कहा जाता है।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर, धर्म-तीर्थ के अन्तिम प्रवर्तक का जन्म एक ऐसे समय में हुआ था कि जिस समय सारे राज्य में हिंसा का ताण्डव-नृत्य मौजूद था। लोग अत्याचार, दुराचार करने में किंचित् भी संकोच नहीं रखते थे। ऐसे समय में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व राजकुल में एक दिव्य पुरुष ने जन्म लिया। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशलादेवी ने ऐसे पुत्र को पाकर अपने राज्य में एक नए गणतंत्र का प्रारम्भ किया। महावीर के जन्म लेते ही इस गणतंत्र में एक नई शक्ति का संचार हुआ। लोगों ने वैम-नस्य की भावना का परित्याग कर भाई-चारे की भावना को अपनाया। हिंसा के स्थान पर अहिंसक

बनकर जीवन व्यतीत करने की लोगों के हृदय में भावना उत्पन्न हुई। भय और आतंक की समाप्ति होने से मनुष्यों में एक नई जागृति प्रकट हुई।

महावीर, जिन्हें बचपन में वर्धमान के नाम से जाना जाता था, ने ऐसे साहसिक कार्य किए जिससे वे वीर, अतिवीर, सन्मति और महावीर के नाम को प्राप्त कर सके। महावीर ने राज्य-सुख को छोड़कर ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण कर ली और १२ वर्ष के घोर तपश्चरण से घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त किया। विभिन्न भागों में परिभ्रमण कर अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के लिए उपदेश दिया।

महावीर के समय की विशेषताएँ

श्रमण-संस्कृति के उन्नायक चौबीसवें तीर्थंकर ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के समय सभ्यता और संस्कृति के साथ धार्मिक वातावरण एवं दार्शनिक क्रान्ति का उद्भव हुआ था। आज उन्हीं के धार्मिक विचारों एवं दार्शनिक तत्त्वों का मनन-चिन्तन किया जाता है। तत्त्व-चिन्तक अपने जीवन के महत्त्व को समझने के लिए सदाचार से युक्त वातावरण का प्रयोग करते हैं तथा यह चिन्तन करते हैं कि वास्तव में जो महावीर ने कहा, वह महावीर का कथन नहीं है अपितु हमारे ज्ञायिक स्वरूप आत्मा का कथन है।

महावीर के समय में गौतमबुद्ध भी धार्मिक क्रान्ति के नेता थे। गौतमबुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया। और महावीर ने अपनी सरल-भाषा में त्रिरत्न का कथन किया। मानव-समाज ने महावीर के कथन का स्वागत किया और श्रमण-संस्कृति के इस कथन का भारत में प्रचार-प्रसार हुआ। यद्यपि बौद्ध धर्म भारत की अपेक्षा चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया के समस्त भागों में आज भी फैला हुआ है। बौद्धधर्म के अनुयायी भी अधिक हैं फिर भी यह बात निश्चित कही जा सकती है कि दोनों ने श्रमण-संस्कृति को जीवित रखने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग करके ऐसे कुप्रभावों का अन्त किया जो लम्बे समय से चले आ रहे थे।

महावीर के समय से ही अध्यात्मवाद का प्रवाह विभिन्न रूपों में प्रवाहित हुआ। उपनिषद के ज्ञाताओं ने उपनिषदों पर विशेष महत्त्व दिया। और विभिन्न वेदों के विचारकों ने अलग-अलग रूप से जीव-जगत्, ईश्वर आदि विषय में तर्क पूर्ण कथन को प्रस्तुत किया, जिन लोगों ने इन विषयों के विषय में कथन किया वे दार्शनिक रूप को प्राप्त कर गए। दार्शनिक क्रम का विकास विभिन्न मतों के विचारकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से हुआ, जो बाद में षड्दर्शन के नाम से विख्यात हो गया। चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय एवं मीमांसा आदि के रूप में दर्शन का विकास हुआ। और यहीं से विभिन्न सिद्धान्तों का वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। बुद्ध के समय में गौशालक-मत, पूरण-काश्यप-मत एवं कात्यायन आदि के मतों का प्रचार एवं प्रसार हुआ। सभी विचारकों का एक ही लक्ष्य था कि दुःखों से निवृत्त होकर सुख को प्राप्त कर सकें। परन्तु विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण होने से अलग-अलग रूप में जीव-जगत् एवं ईश्वर सम्बन्धी विचारों का प्रयोग किया जाने लगा। यहीं से दार्शनिक युग की शुरुआत हो जाती है।

महावीर का प्रभाव

महावीर का प्रभाव कौशाम्बी, अवन्ती, मगध, कलिंग, चंपापुरी, श्रावस्ती, मथुरा, हेमांगत, कोदनपुर, पलासपुर, पांचाल, हस्तिनापुर आदि देशों के राजाओं पर पड़ा। ये राजा महावीर के पास आकर उनके उपासक बन गए। महावीर का प्रभाव विशेष रूप से भारत की जनता पर पड़ा। इसलिए आज भी भारत में महावीर के अनुयायी अधिक मात्रा में मौजूद हैं।

महावीर का योगदान

(१) महावीर ने राज्य में फैली हुई पशु-बलि के विरुद्ध आवाज उठाई। और यह कहा कि अहिंसा, तप, संयम एवं व्रतनियम आदि के पालन करने से ही सुख-शांति की प्राप्ति हो सकती है। इस बात का लोगों ने जैसे ही प्रयोग किया तो हिंसा जैसे कार्यों को छोड़कर अहिंसक के पद को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप यज्ञ में होने वाली हिंसा का प्रचार बन्द हो गया।

(२) महावीर सर्वसाधारण के नेता थे। उनके समवसरण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, चाण्डाल, राजा व रंक एक ही साथ ऊँच-नीच की भावना को भूलकर बैठते थे। लोगों के अन्दर इससे आत्म-विश्वास बढ़ा और वे एक जुट होकर महावीर के पथ पर चलने के लिए तैयार हो गए।

(३) महावीर का एक संघ था जिसमें साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएँ थीं। पुरुषों की तरह महिलाओं को समान अधिकार दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। क्योंकि महावीर ने चन्दना जैसी कई नारियों को पुरुषों की तरह धर्मपालन करने का एवं दीक्षा लेने का अधिकार प्रदान किया।

(४) मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति श्रद्धा, गरीबों के प्रति दया आदि इनके उपदेशों का सार था।

(५) व्रत, संयम, यम, नियम आदि का पालन करने से आत्मा का ज्ञान दीपक की तरह पूर्ण रोशनी से युक्त होकर चारों ओर अपनी आभा से जीवों को प्रकाशित करने लगता है। ऐसा आत्मा, परमात्मा बन सकता है। इसीलिए महावीर ने प्रत्येक आत्मा को परमात्मा कहा।

(६) महावीर का उपदेश मगध देश में प्रचलित जनभाषा में हुआ। उस जनभाषा के दो रूप आज भी आगम-साहित्य में प्राप्त होते हैं, जिसे हम अर्धमागधी भाषा और सौरसेनी भाषा के रूप में जानते हैं।

—पिऊ कुञ्ज, ३ अरविंद नगर
उदयपुर (राज.)

* * * *

प्रेरणादायक कतिपय श्रमण-कथानक

डॉ. प्रेम सुमन जैन

जैन परम्परा में विभिन्न तीर्थंकरों के धर्म-शासन-काल में यद्यपि हजारों की संख्या में व्यक्तियों ने दीक्षाएँ लेकर श्रमण-जीवन अंगीकार किया था। किन्तु अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों में कुछ प्रमुख श्रमणों की कथाएँ ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। ये कथाएँ विभिन्न आगमों में प्राप्त हैं। श्रद्धेय मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने तीर्थंकर क्रम से 'पाइयकहाणुयोग' नामक ग्रन्थ से ४६ श्रमण-कथाओं को संकलित किया है। इन सभी कथाओं का गहरायी से मूल्यांकन कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है। कुछ कथानकों पर चिन्तन प्रस्तुत है :

आगम साहित्य में प्राप्त श्रमण-कथानकों की यह विशेषता है कि मुनि-उपदेश वैराग्य-प्राप्ति में प्रमुख कारण रहा है। यद्यपि कुछ कथानकों में पूर्व-जन्मों के संस्कारों ने भी काम किया है। मुनि-जीवन धारण कर लेने के उपरान्त उसके निर्वाह में प्राय: कथानायक को कोई न कोई उपसर्ग सहन करना पड़ा है। इस सहिष्णुता एवं संयम की साधना ने चरित-नायक के आदर्श को ऊँचा उठाया है। सांसारिक वैभव को त्याग कर श्रमण-जीवन को अंगीकार करना एक परिपाटी बन गयी थी। गृह-कलह, दरिद्रता अथवा किसी अन्य भय से कोई श्रमण बना हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। निम्नतम धरातल से हृदय-परिवर्तन द्वारा श्रमण बन जाना तथा उसके बाद मोक्ष-पद की प्राप्ति करना इन कथानकों का मूल स्वर रहा है। अपनी इन विशेषताओं के कारण आगम की ये कथाएँ जातक एवं अन्य भारतीय वैराग्य कथाओं से भिन्न हैं। किन्तु भारतीय कथानक-रूढि एवं कथातत्त्वों की समानता इनमें पायी जाती है।

विमलनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में बल राजा और प्रभावती रानी के महाबल नामक पुत्र का जन्म होता है। स्वप्नदर्शन, गर्भरक्षा, जन्मोत्सव, महाबल की शिक्षा आदि का वर्णन वर्णकों के अनुसार है। धर्मघोष साधु से दीक्षा लेकर महाबल अगले जन्म में वाणिय ग्राम में सेठ-कुल में जन्म लेता है, जहाँ उसका नाम सुदर्शन रखा जाता है। यह सुदर्शन समय आने पर महावीर के तीर्थ में दीक्षित होता है और तपश्चर्या के उपरान्त मुक्ति प्राप्त करता है।[1] सुदर्शन नामक सेठ की कथा जैन साहित्य में बहुत प्रचलित है। णायाधम्मकहा में सुदर्शन गृहस्थ एक जैनाचार्य से दीक्षा ग्रहण करता है।[2] स्थानांग सूत्र में पांचवें

१. भगवती सूत्र, शतक ११, उ. ११

२. णायाधम्मकहा, ५ वां अध्ययन

महावीर का प्रभाव

महावीर का प्रभाव कौशाम्बी, अवन्ती, मगध, कलिंग, चंपापुरी, श्रावस्ती, मथुरा, हेमांगत, कोदनपुर, पलासपुर, पांचाल, हस्तिनापुर आदि देशों के राजाओं पर पड़ा। ये राजा महावीर के पास आकर उनके उपासक बन गए। महावीर का प्रभाव विशेष रूप से भारत की जनता पर पड़ा। इसलिए आज भी भारत में महावीर के अनुयायी अधिक मात्रा में मौजूद हैं।

महावीर का योगदान

(१) महावीर ने राज्य में फैली हुई पशु-बलि के विरुद्ध आवाज उठाई। और यह कहा कि अहिंसा, तप, संयम एवं व्रतनियम आदि के पालन करने से ही सुख-शांति की प्राप्ति हो सकती है। इस बात का लोगों ने जैसे ही प्रयोग किया तो हिंसा जैसे कार्यों को छोड़कर अहिंसक के पद को स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप यज्ञ में होने वाली हिंसा का प्रचार बन्द हो गया।

(२) महावीर सर्वसाधारण के नेता थे। उनके समवसरण में ब्राह्मण, क्षत्रिय, चाण्डाल, राजा व रंक एक ही साथ ऊँच-नीच की भावना को भूलकर बैठते थे। लोगों के अन्दर इससे आत्म-विश्वास बढ़ा और वे एक जुट होकर महावीर के पथ पर चलने के लिए तैयार हो गए।

(३) महावीर का एक संघ था जिसमें साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाएँ थीं। पुरुषों की तरह महिलाओं को समान अधिकार दिलाने का श्रेय इन्हीं को है। क्योंकि महावीर ने चन्दना जैसी कई नारियों को पुरुषों की तरह धर्मपालन करने का एवं दीक्षा लेने का अधिकार प्रदान किया।

(४) मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति श्रद्धा, गरीबों के प्रति दया आदि इनके उपदेशों का सार था।

(५) व्रत, संयम, यम, नियम आदि का पालन करने से आत्मा का ज्ञान दीपक की तरह पूर्ण रोशनी से युक्त होकर चारों ओर अपनी आभा से जीवों को प्रकाशित करने लगता है। ऐसा आत्मा, परमात्मा बन सकता है। इसीलिए महावीर ने प्रत्येक आत्मा को परमात्मा कहा।

(६) महावीर का उपदेश मगध देश में प्रचलित जनभाषा में हुआ। उस जनभाषा के दो रूप आज भी आगम-साहित्य में प्राप्त होते हैं, जिसे हम अर्धमागधी भाषा और सौरसेनी भाषा के रूप में जानते हैं।

—पिऊ कुञ्ज, ३ अरविंद नगर
उदयपुर (राज.)

* * * *

प्रेरणादायक कतिपय श्रमण-कथानक

डॉ. प्रेम सुमन जैन

जैन परम्परा में विभिन्न तीर्थंकरों के धर्म-शासन-काल में यद्यपि हजारों की संख्या में व्यक्तियों ने दीक्षाएँ लेकर श्रमण-जीवन अंगीकार किया था। किन्तु अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों में कुछ प्रमुख श्रमणों की कथाएँ ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। ये कथाएँ विभिन्न आगमों में प्राप्त हैं। श्रद्धेय मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने तीर्थंकर क्रम से 'पाइयकहाणुयोग' नामक ग्रन्थ से ४६ श्रमण-कथाओं को संकलित किया है। इन सभी कथाओं का गहरायी से मूल्यांकन कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है। कुछ कथानकों पर चिन्तन प्रस्तुत है :

आगम साहित्य में प्राप्त श्रमण-कथानकों की यह विशेषता है कि मुनि-उपदेश वैराग्य-प्राप्ति में प्रमुख कारण रहा है। यद्यपि कुछ कथानकों में पूर्व-जन्मों के संस्कारों ने भी काम किया है। मुनि-जीवन धारण कर लेने के उपरान्त उसके निर्वाह में प्रायः कथानायक को कोई न कोई उपसर्ग सहन करना पड़ा है। इस सहिष्णुता एवं संयम की साधना ने चरित-नायक के आदर्श को ऊँचा उठाया है। सांसारिक वैभव को त्याग कर श्रमण-जीवन को अंगीकार करना एक परिपाटी वन गयी थी। गृह-कलह, दरिद्रता अथवा किसी अन्य भय से कोई श्रमण बना हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। निम्नतम धरातल से हृदय-परिवर्तन द्वारा श्रमण बन जाना तथा उसके बाद मोक्ष-पद की प्राप्ति करना इन कथानकों का मूल स्वर रहा है। अपनी इन विशेषताओं के कारण आगम की ये कथाएँ जातक एवं अन्य भारतीय वैराग्य कथाओं से भिन्न हैं। किन्तु भारतीय कथानक-रूढि एवं कथातत्त्वों की समानता इनमें पायी जाती है।

विमलनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में बल राजा और प्रभावती रानी के महाबल नामक पुत्र का जन्म होता है। स्वप्नदर्शन, गर्भरक्षा, जन्मोत्सव, महाबल की शिक्षा आदि का वर्णन वर्णकों के अनुसार है। धर्मघोष साधु से दीक्षा लेकर महाबल अगले जन्म में वाणिय ग्राम में सेठ-कुल में जन्म लेता है, जहाँ उसका नाम सुदर्शन रखा जाता है। यह सुदर्शन समय आने पर महावीर के तीर्थ में दीक्षित होता है और तपश्चर्या के उपरान्त मुक्ति प्राप्त करता है।[1] सुदर्शन नामक सेठ की कथा जैन साहित्य में बहुत प्रचलित है। णायाधम्मकहा में सुदर्शन गृहस्थ एक जैनाचार्य से दीक्षा ग्रहण करता है।[2] स्थानांग सूत्र में पांचवें

१. भगवती सूत्र, शतक ११, उ. ११

२. णायाधम्मकहा, ५ वां अध्ययन

अन्तकृत केवली के रूप में सुदर्शन का उल्लेख है ।[1] प्राकृत एवं अपभ्रंश के कथाग्रन्थों में भी सुदर्शन नाम नायक के रूप में प्रसिद्ध रहा है ।[2]

मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के तीर्थ में कार्तिक सेठ एवं गंगदत्त गाथापति की दीक्षा का कथानक सामान्य ढंग से प्रस्तुत किया गया है। एक हजार आठ वणिक-पुत्रों के साथ कार्तिक सेठ की दीक्षा का वर्णन प्रभावोत्पादक है ।[3]

अरिष्टनेमि के तीर्थ में चित्त एवं संभूति की दीक्षा का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र में हुआ है। कुल ३५ गाथाओं में यह कथा संक्षेप में कही गयी है। इस कथा का विस्तार उत्तराध्ययनसूत्र की सुखबोध टीका में हुआ है। यह दो भाइयों के अटूट प्रेम की कथा है। परस्पर इस अनुराग के कारण वे दोनों ६-७ भवों तक एक-दूसरे के हित की चिन्ता करते रहते हैं। वाराणसी में भूतदत्त चाण्डाल के चित्त और सम्भूत नामक दो पुत्र थे। वे संगीतकला में निष्णात थे तथा रूप और लावण्य के भी धनी थे, किन्तु चाण्डाल जाति का होने के कारण उन्हें समाज में तिरस्कृत होना पड़ता है। अन्त में वे दीक्षा धारण कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं। तब उनके अगले भव की परम्परा चलती है।

दो भाइयों के स्नेह और निम्न जाति में उत्पन्न होने से निरादर—इन बिन्दुओं को लेकर प्राचीन समय से ही कथाएँ कही-सुनी जाती रही हैं। उत्तराध्ययन में इस कथा को जिस संक्षिप्त शैली में कहा गया है, उससे यह प्रतीत होता है कि यह कथा जनमानस में अतिप्रचलित थी। बौद्ध कथाओं में भी इस कथा को स्थान प्राप्त हुआ है। चित्त-सम्भूत नामक जातक-कथा में यह कथा वर्णित है ।[4] दोनों कथाओं की तुलना की दृष्टि से निम्न बिन्दु द्रष्टव्य हैं:

उत्तराध्ययनसूत्र	जातक-कथा
१. कथा मूलतः पद्य में थी, जिसे टीका में गद्य में लिखा गया है।	गद्य-पद्य मिश्रित शैली में कथा है।
२. दोनों भाइयों में अटूट प्रेम	वही
३. पूर्वभव में समानता	वही
(क) युगल मृग	वही
(ख) हंसयुगल	बाज-युगल
(ग) चित्त-सम्भूत	चित्त-सम्भूत
(घ) देवलोक-प्राप्ति	ब्रह्मलोक-प्राप्ति
(ङ) सेठ-पुत्र एवं राजपुत्र के रूप में जन्म।	पुरोहित-पुत्र एवं राजपुत्र के रूप में जन्म।

---

१. स्थानांगसूत्र, स्थान-१०, सू. ११३
२. जैन, डॉ. हीरालाल, सुदंसणचरिउ, भूमिका, पृ. २४-२५
३. पा. क. श्रमण-कथानक, पृ. १३ पैरा ५८
४. जातक खण्ड-५ (हिन्दी अनुवाद) सं. ५९८

४. सम्भूत के जीव ब्रह्मदत्त को नरक का निदान (यह कर्म-सिद्धान्त की परम्परा में भेद के कारण है)	सम्भूत के जीव को ब्रह्मलोकगामी ... ।

५. केवल कथानक में ही नहीं गाथाओं में भी पर्याप्त समानता है।[1] यथा—

उवणिज्जई जीवियमप्पमायं	उपनीयती जीवितं अप्पमायु
वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।	वण्णंजरा हन्तिनरस्स जीवितो।
पंचालराया। वयणं सुणाहि	करोहि पंचाल मम एत वाक्यं
मा कासि कम्माई महालयाइं॥	मा कासि कम्मं निरयूप पतिया।
(उत्त. १३/२६)	(जातक ४९८ गा. २०)

उत्तराध्ययनसूत्र की कथा-वस्तु का गठन जातक की कथावस्तु की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त है तथा उत्तराध्ययन की भाषा भी प्राचीन है। अतः विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उत्तराध्ययन की यह कथा प्राचीन है।[2] भले ही उसने इसे लोक प्रचलित कथा में से ग्रहण किया हो। इस कथा का मूल अभिप्राय तो प्रारम्भ में निम्न जाति के लोगों को भी धर्म और शिक्षा का अधिकार देना था। किन्तु बाद में कथा का विस्तार होने से इसमें कई उद्देश्य सम्मिलित हो गये हैं।

अरिष्टनेमि के तीर्थ में दीक्षा लेने वाले श्रमणों में श्रीकृष्ण के लघुभ्राता गजसुकुमार का कथांकन बहुत रोचक है। देवकी छह श्रमणों को अपने यहां देखकर उनकी सुन्दरता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करती है। उसे पता चलता है कि वे उसके ही पुत्र हैं, जिन्हें अपहरण कर हरिणैगमेषी नामक देव ने सुलसा गाथापत्नी को दे दिया था। इससे देवकी के मन में पुनः बालक्रीड़ा देखने की लालसा होती है। हरिणैगमेषी देव की आराधना से देवकी को गजसुकुमार नामक पुत्र प्राप्त होता है। गजसुकुमार की युवावस्था में श्रीकृष्ण उसका विवाह सौमिल ब्राह्मण की कन्या से करना चाहते हैं। किन्तु अरिष्टनेमि की धर्मदेशना से गजसुकुमार मुनि बन जाते हैं। तब अपमानित सौमिल ब्राह्मण द्वारा गजसुकुमार मुनि पर उपसर्ग किया जाता है। किन्तु वे मुनि उपसर्ग सहन कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। गजसुकुमार की यह कथा बौद्ध साहित्य में वर्णित यश की प्रव्रज्या से तुलनीय है।[3] इस कथा में कई कथातत्त्व सम्मिलित हैं। यथा—

१—हरिणैगमेषी द्वारा सन्तान का अपहरण एवं प्रदान।
२—माता द्वारा पुत्र-प्राप्ति की आकांक्षा और उसके लिए प्रयत्न।
३—पुत्र का जन्म एवं उसका लालन-पालन।
४—धर्मदेशना द्वारा गृहस्थ-जीवन का त्याग।

---

१. सरपेन्टियर, 'द. उत्तराध्ययनसूत्र' पृ. ४५१

२. घाटगे, ए. एम. : 'ए फ्यू पेरेरलस् इन जैन एण्ड बुद्धिस्ट वर्क्स' नामक निबन्ध, एनल्स आफ द भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, भाग १७ (१९३५-३६), पृ. ३४२

३. महावग्ग, पव्वज्जाकथा, नालन्दा संस्करण, पृ. १८-२१

५–पूर्वजीवन के वैरी द्वारा मुनि-जीवन में उपसर्ग।

६–उपसर्गों को सहन करते हुए मुक्ति।

सन्तान-प्राप्ति एवं उसके अपहरण के सम्बन्ध में हरिणैगमेषी नामक देव का भारतीय साहित्य में पर्याप्त उल्लेख है।[1] डा. जगदीशचन्द्र जैन ने इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला है।[2] भगवान महावीर की जीवनी में भी यह घटना प्राप्त है। देवकी के पुत्रों का अपहरण महाभारत की उस घटना से प्रभावित है जिसमें कंस द्वारा उसके पुत्रों का हरण कर उनका वध किया जाता है।[3] जैन कथा में वध की घटना को महत्त्व नहीं दिया गया।

पूर्व जीवन के वैरी द्वारा मुनि-जीवन में उपसर्ग किये जाने की घटना कई प्राकृत-कथाओं में प्राप्त है। पार्श्वनाथ के जीवन के साथ भी कमठ का उपसर्ग जुड़ा हुआ है। किन्तु कल्पसूत्र में इसका उल्लेख नहीं है। बाद के ग्रन्थों में है।[4] अवन्ति सुकुमाल नामक कथा में सुकुमाल मुनि के साथ उसके पूर्व जन्म की भाभी ने सियारनी के रूप में घोर उपसर्ग उपस्थित किया है।[5] गजसुकुमाल के उपसर्ग की घटना का यह विकास प्रतीत होता है।[6]

थावच्चापुत्र की कथा के दो उद्देश्य प्रतीत होते हैं। प्रथम तो इसमें यह घोषित किया गया है कि यदि कोई व्यक्ति घर-बार छोड कर दीक्षा लेता है तो श्रीकृष्ण उसके परिवार का भरण-पोषण करेंगे। यह बात अपने आप में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। राजा का धर्म के प्रचार के लिए इससे बड़ा योगदान क्या होगा? इस कथा में दूसरी बात सुदर्शन के शौचमूलक धर्म की समीक्षा प्रस्तुत करना है। ऐसी कथाओं से जैन-धर्म के प्रति रुझान पैदा करने का प्रयत्न किया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र (२२ अ.) में वर्णित रथनेमि-राजीमती कथा अरिष्टनेमि के जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह कथा अत्यन्त संक्षिप्त शैली में कही गयी है, किन्तु इसका सम्प्रेषण तीव्र है। इस कथा के निम्न उद्देश्य स्पष्ट हैं—

(१) अरिष्टनेमि की पशुओं के प्रति अपार करुणा को प्रकट करना। मांसाहार का प्रकारान्तर से निषेध।

(२) अरिष्टनेमि की वैराग्य भावना एवं अनासक्ति को प्रकट करना।

(३) राजीमती का भावी पति के प्रति भी अनन्य प्रेम एवं अटूट सम्बन्ध स्थापित करना। प्रकारान्तर से शीलव्रत को दृढ़ करना।

(४) रथनेमि को ब्रह्मचर्य-भाव से च्युत होने की स्थिति में राजीमती द्वारा उसे प्रतिबोध देकर पुनः श्रमणचर्या में दृढ़ करना।

---

१. कुमार स्वामी, ए. के., द. यक्षाज्, पृ. १२

२. जैन जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४४०

३. श्रीमद्भागवत, १०-३४

४. पासणाहचरियं, ३, ६, १६४, उत्तरपुराणं ७३, १३६-३७ आदि।

५. सुकुमालसामिचरिउ (श्रीधर) अप्रकाशित पाण्डुलिपि (लेखक द्वारा सम्पादित एवं प्रकाश्य)

६. द्रष्टव्य, लेखक का निबन्ध—'सुकुमाल स्वामी कथा—एक अध्ययन' प्राच्य विद्या सम्मेलन, धारवाड़, १९७६ में प्रस्तुत।

इस कथानक का परवर्ती साहित्य में पर्याप्त विकास हुआ है।[1] उसमें श्रीकृष्ण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।[2]

जितशत्रु राजा और सुबुद्धि मन्त्री की कथा स्पष्टतः उपदेश कथा है।[3] कथाकार को यहाँ जैन दर्शन की दृष्टि से वस्तु के नानात्मक रूप को प्रतिपादित करना था। सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के अन्तर को स्पष्ट करना था। इस कथा में प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार मन्त्री ने अशुद्ध जल को विशेष शोधन की प्रक्रिया द्वारा शुद्ध जल बना दिया, उसी प्रकार जैन दर्शन की दृष्टि से नाना कर्मों से दूषित आत्मा भी विशेष तपश्चर्या द्वारा शुद्ध आत्मा होकर अनुपम सुख को प्राप्त कर सकता है। अतः यह कथा एक रूपक कथा का भी उदाहरण है।

नमि राजर्षि की कथा उत्तराध्ययन सूत्र की एक महत्त्वपूर्ण कथा है।[4] यद्यपि इस कथा में नमि की प्रव्रज्या के निर्णय की पूर्व-कथा वर्णित नहीं है, किन्तु नमि और इन्द्र के बीच हुए संवाद का ही विवरण है। नमि प्रव्रज्या की कथा भारतीय साहित्य में पर्याप्त प्रचलित थी। सम्भवतः इसलिए उसके उपदेशात्मक अंश को ही उत्तराध्ययन सूत्र में अधिक उजागर किया गया है। टीका साहित्य में यह पूरी कथा दी गयी है।[5] उससे ज्ञात होता है कि—

१. मदन रेखा के पुत्र को जंगल से ले जाकर पद्मरथ राजा ने उसका नाम "नमि" रखा। वह मिथिला का राजा बना।

२. नमि एक बार दाह-ज्वर से ग्रस्त हुआ। उस समय उसने रानियों के हाथों के कंगनों के द्वन्द्व से शिक्षा ग्रहण कर एकाकी जीवन जीने का निश्चय किया।

३. नमि जब प्रव्रज्या-ग्रहण करने के लिए निकल रहा था तब इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण कर उसके निश्चय की परीक्षा ली।

४. "मिथिला का वैभव जल रहा है" इस सूचना से भी नमि राजा अनासक्त रहे।

उत्तराध्ययन सूत्र की यह कथा बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त है। महाजनक जातक में इसी प्रकार की कथा है।[6] यद्यपि उसमें कथावस्तु की कुछ भिन्नता है, फिर भी दोनों कथाओं का प्रतिपाद्य एक है। कुछ समानताएं द्रष्टव्य हैं:—

उत्तराध्ययनसूत्र	महाजनक जातक
१. प्रतिबुद्ध होने के कारण	
(क) कंगन की द्वन्द्वता के दुःख से शिक्षा	(क) फलयुक्त वृक्ष की दुर्दशा से शिक्षा

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित एवं सुखबोधटीका आदि।
२. हरिवंश पुराण, सर्ग ५५, श्लोक २९-४४ आदि।
३. पा. क. श्रमणकथा, पृ. ५१
४. उत्तरा. २२ वां अ.।
५. उत्तराध्ययन सुखबोध टीका।
६. महाजनक जातक (हिन्दी अनुवाद, सं. ५३९)।

	(ख) कंगन के द्वन्द्व से शिक्षा
	(ग) दोनों आँख से देखने में भ्रम होने से शिक्षा
२. "अकेले में सुख है" की स्वीकृति,	वही
३. समृद्ध मिथिला को त्याग कर प्रव्रज्या लेने का निर्णय	वही
४. नमि के निश्चय की परीक्षा लेना	वही
(क) इन्द्र द्वारा	देवी सीवली द्वारा
५. "मिथिला जल रही है" के द्वारा राजा को प्रलोभन देना	वही
६. मिथिला के जलने पर भी नमि का कुछ नहीं जलता ।[1]	वही
७. जैन कथानक में उपदेशतत्त्व अधिक है,	कुछ कम है ।

सोनक जातक (सं. ५२९) में इस कथा का कुछ साम्य है । प्रत्येक-बुद्ध सोनक यही कहता है कि साधु के लिए नगर मे यदि आग भी लग जाय तो उसका उसमें कुछ नहीं जलता है ।[2] महाभारत में मण्डव्यमुनि और जनक के संवाद में भी राजा जनक ने यही कहा है कि मिथिला के प्रदीप्त होने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता है ।[3] इससे ज्ञात होता है कि मिथिला के राजा नमि अथवा जनक का अनासक्ति भाव प्राचीन भारत की विचारधाराओं में प्रचलित था । विष्णुपुराण में भी कहा गया है कि मिथिला के सभी राजा आत्मवादी होते हैं ।[4] नमि राजा के कथानक की इन तीनों परम्पराओं में जातक की कथा अधिक प्राचीन प्रतीत होती है ! क्योंकि उसमें कथातत्त्व अधिक है, उपदेशतत्त्व कम है । जबकि जैन कथानक में कथा का निर्माण टीका साहित्य में हुआ है ।

उत्तराध्ययनसूत्र में दो नमि राजाओं की प्रव्रज्या का वर्णन है । एक नमि तीर्थंकर हैं, दूसरे नमि प्रत्येक बुद्ध हैं ।[5] ९वें अध्ययन की कथा प्रत्येक बुद्ध नमि से सम्बन्धित है । यह आश्चर्यजनक है कि जैन परम्परा में ऋषिभाषित प्रकीर्णक में ४५ प्रत्येक बुद्धों का जीवन संकलित है ।[6] किन्तु इनमें नमि प्रत्येक-बुद्ध का नाम नहीं है ।

---

१. सुहंवसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण ।। उत्त. ९. १४

२. पंचम भद्र अधनस्स अनगारस्स भिक्खुनो ।
नगम्हि डह्यमानम्हि नास्स किंचि अडयहथा ।। १-सोवजातक (५२९)

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अ. २७६ श्लोक ४

४. आचार्य तुलसी, उत्तराध्ययन—एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ- ३५५

५. दुन्निवि नमी विदेहा रज्जाइं पयहिअण पव्वइया ।
एगो नमितित्थवरो एगो पत्तेयबुद्धो अ ।। —उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २६७

६. इसिभासियं, प्रथम संग्रहिणी, गाथा १

श्रमण-कथानकों में मेघकुमार की कथा बहुत प्रसिद्ध है। यह कथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्व की है।[1] ज्ञाताधर्मकथा में मेघकुमार की प्रव्रज्या आदि का जो वर्णन है, उससे कथा के निम्न प्रमुख भाग ज्ञात होते हैं।[2]

१. राजा श्रेणिक, रानी धारिणी और अभयकुमार की कथा।

२. मेघकुमार का जन्म, शिक्षा, विवाह आदि।

३. महावीर के उपदेश से वैराग्य-भावना।

४. माता-पिता एवं मेघकुमार के बीच वैराग्य के सम्बन्ध में वार्तालाप।

५. मेघमुनि को रात्रि में शय्या-परीषह एवं उससे श्रमण-जीवन के प्रति उदासीनता।

६. मेघ की दीक्षा का महोत्सव।

७. महावीर द्वारा मेघकुमार का पूर्वभव सुनाकर उसे पुनः दीक्षा में दृढ़ करना।

८. पूर्वभवों में सुमेरुप्रभ हाथी और खरगोश की कथा।

यह कथा कुछ अंशों में गजसुकुमाल की कथा से मिलती-जुलती है, जिसे इसका विकसित रूप माना जा सकता है। जो कार्य इस कथा में अभयकुमार ने किये हैं, उसमें श्रीकृष्ण के द्वारा किये जाते हैं। वैराग्यप्राप्ति के लिए माता-पिता की आज्ञा लेना एवं उनके बीच संवाद होना यह एक प्रचलित अभिप्राय है।[3] बौद्ध साहित्य में भी इसके उल्लेख हैं।[4] मेघकुमार की कथा की भांति बौद्ध साहित्य में नन्द की दीक्षा का विवरण प्राप्त है।[5] यद्यपि कथा के गठन में दोनों में कुछ भिन्नता है। यथा—

१. मेघकुमार अपने गृहस्थ जीवन की प्रतिष्ठा और सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए मुनि-संघ में रात्रि में हुए अपमान और सोने के कष्ट के कारण श्रमणचर्या से उदासीन होता है। जबकि नन्द को अपनी सुन्दर पत्नी जनपदकल्याणी की बहुत याद आती है और वह भिक्षु-जीवन से उदासीन हो जाता है।

२. महावीर मेघकुमार को उसके पूर्व-जन्म में सहन किये गये कष्ट की याद दिलाते हुए उसे पुनः श्रमण-जीवन के प्रति आश्वस्त करते हैं। जबकि बुद्ध नन्द को एक कुरूप बन्दरिया तथा स्वर्ग की अप्सराओं के सौंदर्य को दिखा कर उसे भिक्षु-जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करते

---

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ब्यावर, १९८१ में भूमिका, पृ. १४ आदि।
२. पा. क., श्रमण कथा, पृ. ९३ आदि।
३. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ३८५-८६
४. महावग्ग १.४६.१०५ पृ. ८६
५. सुत्तनिपात-अट्ठकथा, पृ. २७२, जातककथा (सं. १८२), धम्मपद अट्ठकथा, खण्ड १ पृ. ५६-१०५ तथा थेरगाथा, १५७

हैं। इस तरह साधना से विचलित होने और उसमें पुनः प्रतिष्ठित होने का अभिप्राय इन दोनों कथाओं में है।

३. इन कथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के युवक को मुनिसंघ में दीक्षित करना महावीर और बुद्ध दोनों के लिए आवश्यक हो गया था, ताकि अन्य वर्ग के लोग भी इस ओर आकृष्ट हो सकें।

४. दोनों कथाओं के नायकों की तुलना करने पर मेघकुमार का जीवन अधिक प्रभावित करता है। क्योंकि उसमें पूर्वजन्म में भी असीम करुणा और सहनशीलता थी तथा मुनि-जीवन में भी वह प्रतिष्ठा और घमण्ड से ऊपर उठ चुका था। यद्यपि नन्द भी अपने पूर्व जन्मों में हाथी था तथा उसकी घटना भी लगभग समान है[1]।

अर्जुन मालाकार मूलतः एक यक्ष-कथा है। यक्ष की आराधना एवं उसके प्रभाव के साथ-साथ क्रूर से क्रूर व्यक्ति कैसे संयम एवं अध्यात्म के मार्ग में आ सकता है, इस बात को उजागर करना ही कथा का मूल उद्देश्य है।[2] जंगल में रहने वाले क्रूर दस्यु वाल्मीकि के हृदय-परिवर्तन की घटना रामायण में प्राप्त है।[3] बौद्ध साहित्य में अंगुलीमाल का कथानक व्यापक था।[4] उसी कोटि का यह अर्जुन मालाकार का कथानक है। इस कथानक में जो पर-काया में प्रवेश करके अपने प्रभाव को दिखाने की बात यक्ष ने की है, वह अभिप्राय भारतीय कथा साहित्य में बहुत लोकप्रिय हुआ है।[5] विद्वानों ने इस मोटिफ का विशेष अध्ययन किया है[6]। इस कथा के अन्तर्गत सुदर्शन नामक साधक की दृढ़ता को भी प्रकट किया गया है।

सार्थवाहपुत्र धन्य अनगार की कथा उत्कृष्ट तपस्या का उदाहरण है। तपश्चर्या में शरीर की अवस्था का वर्णन अनेक उपभावों एवं रूपकों के द्वारा किया गया है। बौद्ध साहित्य में भगवान् बुद्ध की तपश्चर्या का भी इसी प्रकार वर्णन प्राप्त है[7]। किन्तु जैन कथा का यह वर्णन अधिक सजीव है।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित हरिकेशी मुनि की कथा तत्कालीन जातिवाद की उग्रता के प्रति विरोध को प्रकट करने के लिए प्रस्तुत की गयी है[8]। चाण्डाल एवं ब्राह्मण इन दोनों जातियों का

---

१. संगमावतार जातक सं. १८२ (हिन्दी अनुवाद)।
२. पा. क., पृ. ६३ आदि।
३. रामायण, (वाल्मीकि) में क्रौञ्च पक्षी के वध की घटना।
४. मज्जिमनिकाय, २ पृ. १०२ आदि।
५. पेन्जर, कथासरित्सागर, जिल्द १, अध्याय ४, पृ. ३७।
६. ब्लूमफील्ड, "आन द आर्ट आफ ऐन्टरिंग एन अदर्स बाडी" नामक निबन्ध प्रोसीडिंग्स अमेरिकन फिलासोफिकल सोसायटी, ५६/२।
७. मज्जिमनिकाय—महासिंहनादसुत्त आदि।
८. पा. क. श्रमणकथा, पृ. ११०।

श्रमण-जीवन में कोई महत्त्व नहीं होता है। महत्त्व होता है वहां साधना का। इसी तरह इस कथा में हिंसक यज्ञों की व्यर्थता को उजागर किया गया है। इसके लिए एक यक्ष को माध्यम बनाया गया है। प्रकारान्तर से दान की महिमा और उसके उपयुक्त क्षेत्र का प्रतिपादन भी इस कथा के माध्यम से हुआ है[१]। इसी प्रकार की कथा मातंग जातक में भी वर्णित है[२]। दोनों कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ का आयोजन, चाण्डाल मुनियों की उपेक्षा एवं उनसे घृणा, जातिवाद का निरसन तथा दान की वास्तविक उपयोगिता दोनों में समान है[३]। फिर भी कथा की संघटना में अन्तर है। विद्वानों का मत है कि बौद्ध कथा में दो कथाएं मिली हुई हैं तथा वह मिश्रित है अतः वह बाद की है। जैन कथा प्राचीन है[४]। जैन कथा में ब्राह्मणों के प्रति उतना कटु एवं उग्र दृष्टिकोण नहीं है, जितना बौद्ध कथा में।

जैन आगम-साहित्य में इन कथाओं के अतिरिक्त अन्य भी कई कथाएँ संकलित हैं। उनमें शिवराजर्षि (पृ. १३३), जिनपालित जिनरक्षित[५] (पृ. १४०) उदक पेढ़ाल पुत्र (पृ. १४८), धन सार्थवाह कथानक (पृ. १५६) आदि महत्त्वपूर्ण कथानक हैं। इनसे प्राकृत कथा-साहित्य के कई रूप प्रकट होते हैं। ये श्रमण-कथानक जैन परम्परा में श्रमणों की दीक्षा, परिषहजय, तपश्चर्या एवं ज्ञान, ध्यान तथा चरित्र आदि के कई पक्षों को प्रकट करते हैं। किन्तु इसके साथ ही इनका कथात्मक महत्त्व भी कम नहीं है। उस पर अभी बहुत कम अध्ययन किया गया है। इन कथाओं के उद्गम स्थान तथा विकासक्रम को खोजने की भी आवश्यकता है। बौद्ध कथाओं के साथ इनकी तुलना करना जरूरी है[६]। इन कथाओं का सांस्कृतिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है[७]।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, सुखबोधा टीका, पत्र १७३-७५।
२. मातंग जातक (सं. ४९७) खण्ड ४, पृ. ५८३-९७।
३. उत्तराध्ययन–एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. २८०।
४. घाटगे, ए.एम., का "एफ्ल्यू पैरेलल्स इन जैन्स एण्ड बुद्धिस्ट वर्क्स" नामक निबन्ध।
५. तुलना के लिए देखें–बलाहस्स–जातक (सं. १९६) एवं दिव्यावदान आदि।
६. जैन, जगदीशचन्द्र, "प्राचीन भारत की श्रेष्ठ कहानियां" (बौद्ध कहानियां) दिल्ली १९७७।
७. विस्तार के लिए देखें–पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी कमल द्वारा सम्पादित धर्मकथानुयोग में लेखक की भूमिका, सांडेराव, १९८३-८४।

—अध्यक्ष : जैनविद्या व प्राकृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर–३१३००१ (राज.)

संक्रांति-काल में संघपतियों का दायित्व

मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म.सा. 'पारस'

श्रमण-वर्ग निरन्तर साधना में श्रमरत रहता है। वह 'स्व' के साथ ही पर-कल्याणक भी है। प्रत्येक श्रमण एवं श्रमणी के लिए एक समाचारी है, आचार-संहिता है और है कुछ निश्चित मर्यादाएँ, जिनके पालन में उसे कभी-कभी जीवन तक का उत्सर्ग करना पड़ता है। कई बार विचित्र परिस्थितियां उद्भूत होती हैं, ऐसी कि जिन्हें सुनकर श्रोता विचलित हो उठें। घटनाओं का यह क्रम भूतकाल में भी था और वर्तमान में भी जारी है।

संघपति श्रावक-श्राविका संघ के नायक, मुखिया, प्रमुख होते हैं। एक तरफ श्रावक-श्राविका-संगठन को सुदृढ़ नेतृत्व प्रदान करना इनका दायित्व होता है तो दूसरी तरफ श्रमण-वर्ग की सेवा, सुरक्षा, सम्मान इनका कर्त्तव्य। अपनी साधना के बल पर साधक जब तक लब्धि-संपन्न रहे, उनके प्रति संघ-पतियों के कर्त्तव्यों की भूमिका नगण्य-सी रही। अवसर्पिणी काल के चतुर्थ आरे में श्रमण-श्रमणी अत्यंत कठोर साधना करते थे। जंगल की कदराओं में एकाकी जीवन बिताना, खुले उपवनों में, वृक्ष-तले साधना करना, केवल भिक्षार्थ नगर-ग्राम में जाना, भिक्षा प्राप्त कर पुनः स्व-स्थान लौट आना उनकी आचार-संहिता के मुख्य-चरण थे। उनका संहनन (शारीरिक-सृजन) 'वज्रऋषभनाराच'[1] में होता था। ऐसी विशिष्ट देह-रचना, जो प्रत्येक बाधा, उपसर्ग, परीषह का मुकाबला करने में सक्षम हो।

ऐसे मानव, देव-तिर्यच एवं मनुष्य द्वारा दिए गये उपसर्गों को दृढ़तापूर्वक सहन कर लेते थे। वे लब्धि-संपन्न होते थे और कर्मों की निर्जरा हेतु आगे होकर परीषहों को खोजते रहते थे। सिंह की गुफा के मुहाने पर ध्यानस्थ होना, उग्र विषधरों की बाँबी के समक्ष कायोत्सर्ग कर अटल खड़े रहना जैसे परीषह स्वयं बुलाते; एक-दो घण्टे या एक-दो दिन नहीं अपितु चार-चार माह पर्यंत, परीषह स्वयं उनसे पराजित हो जाते। वे अजेय बने रहते उन परीषहों के सम्मुख। भगवान महावीर को संगम नाम के

---

१. 'वज्रऋषभनाराच संहनन' का अर्थ है—वज्र की हड्डी, वज्र के बंधन (वेष्टन) और वज्र की ही कील।

देवता ने छः मास तक उग्र से उग्र उपसर्ग दिए पर हारा नहीं, अन्त में प्रभु तो अपराजित ही रहे। कई बार उपसर्ग होने पर, दुरात्माओं द्वारा भयंकर स्थितियाँ पैदा किए जाने पर, निकटस्थ क्षेत्रपाल अथवा शासन-देव या देवियों ने तत्काल उनका निराकरण किया है।

वीर-निर्वाण के कई वर्षों तक उपर्युक्त स्थिति रही। बाद में उत्तरोत्तर देह तथा मनः स्थिति क्षीण होने लगी तो आयाम बदले, साधक बस्ती (नगर/ग्राम) में रहने लगे। साधना-प्रिय साधक साधना करते, शासन की प्रभावना के प्रति रुचि रखने वाले वाद-विवाद करके शासन की प्रसिद्धि करते। यदि विद्वेषी अनुचित हरकतें करते तो मंत्र-विद्या से प्रताड़ित कर संघस्थ श्रमण-श्रमणियों का पथ निष्कंटक बना देते। इस समय से संघपतियों के दायित्वों की भूमिका का निर्माण प्रारंभ हो गया।

एक लम्बे अन्तराल बाद परिस्थितियों में फिर परिवर्तन हुआ। जैन धर्म की बढ़ती हुई कीर्ति से विद्वेषी-जन जलने लगे, तिलमिलाने लगे, ईर्ष्या से भर गए। राज्य-सत्ता द्वारा जिनानुयायिओं का दमन करवाने लगे। जहाँ सत्ता के उच्च अधिकारी, राज्य के मन्त्री आदि जैन होते, (जैसे कि अनेक राज्यों में थे) वे समुचित समाधान कर देते। कभी-कभी संघपति अपनी अद्भुत शक्तियों के बल पर सत्ता को भी झुकने पर मजबूर कर देते। ज्यों-ज्यों समय बीत रहा था, संघपतियों के कन्धों पर दायित्वों का भार बढ़ रहा था और संघ में उनके पद की गरिमा भी बढ़ रही थी। आने वाले समय में संघ-पतियों ने संक्रमण काल में किस प्रकार संघ की प्रतिष्ठा को बनाए रखा, इसकी जानकारी हमें कुछेक घटनाओं से मिल सकेगी।

गुजरात राज्य में एक ग्राम है 'धोलका'। विक्रम संवत् १२९४ में गुर्जराधिपति राणा वीर धवल स्वर्गवासी हुए तो महाराज कुमार वीसलदेव को धोलका के सिंहासन पर आसीन किया गया। वह एक भावुक-हृदय व्यक्ति था और जल्दी ही सुनी-सुनाई बातों के प्रवाह में बह जाने वाला था। दूरदर्शिता उसमें थी ही नहीं। विवेक से कार्य करना या काम लेना उसने कभी सीखा न था। उसके इस भावुक स्वभाव के परिणाम-स्वरूप शीघ्र ही राज-कोष रिक्त होने लगा। जैसे-तैसे करके महामन्त्री वस्तुपाल राज्य-कार्य चलाते रहे पर शीघ्र ही उन्हें इन सबसे विरक्ति हो गई और वे सेवा-निवृत्त होकर धर्माराधन करने लगे।

सिंह जेठवा, राणा वीसलदेव का मामा था और 'राजमामा' के नाम से पहचाना जाता था। स्वच्छंद और उच्छृंखल, क्रूर और कटु, अभिमानी और अविवेकी। महामन्त्री वस्तुपाल की सेवा-निवृत्ति के बाद राज्य के प्रत्येक कार्य में उसका हस्तक्षेप था। राज्य की जनता में वह अलोकप्रिय ही नहीं, निंदित भी था। राज्य-सत्ता के अति निकट था, अतः कोई कुछ कहने का साहस भी नहीं जुटा सका। जब जनता उसके अत्याचारों से तंग आ गई तो कुछ लोग साहस जुटा कर पूर्व महामंत्री के पास पहुँचे और अपनी विपत्ति-गाथा सुनाते हुए सिंह जेठवा का मान-मर्दन करने के लिए उससे निवेदन किया। वस्तुपाल ने कहा—"मुझे खेद है। धार्मिक संकट के समय को छोड़कर मैंने शस्त्र को स्पर्श भी करने का त्याग कर दिया है।" सभी निराश हो लौट आए।

कुछ समय बीता। संयोगवश तभी आचार्य श्री नरचंद्र सूरीश्वर अपने शिष्यों सहित ग्राम-ग्राम में धर्म-ज्योति जगाते उधर पधारे। धोलका में विराजे और वहाँ धर्म-जागृति करने लगे। एक दिन

किसी नवदीक्षित लघु-वय मुनि जी ने कमरे की प्रतिलेखना कर कचरा भूल से खिड़की की राह बाहर गिरा दिया। दुर्भाग्य से उसी क्षण सिंह जेठवा घोड़े पर बैठकर वन-विहार करने जा रहा था। कचरा उसके सिर पर गिरा। कचरा क्या गिरा, काल-नाग की पूंछ पर जैसे पांव पड़ गया। क्रोध से आँखें रक्ताभ हो गईं, भौंहें चढ़ गईं। फुफकारते हुए उसने उस भवन में प्रवेश किया, जहाँ मुनिराज विराज रहे थे।

"कौन है ? किसने गिराया यह कचरा ?" कटु, कर्कश, विषैली आवाज पूरे स्थानक को गुञ्जा गई। आचार्य-श्री एवं अन्य बड़े मुनिराज शौचादि कार्य-निवृत्ति हेतु बाहर गए हुए थे। नव-दीक्षित मुनि जी सामने आए और स्थिरस्वर में बोले—"महाभाग ! अनजाने में ऐसा हो गया है, अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।" कितनी विनम्रता थी इस उत्तर में पर किसके आगे ? ऐसे विनयपूर्ण उत्तर से भी भला जो मान जाए तो वह सिंह जेठवा कैसा ? बिना कुछ सोचे-विचारे मुनि की जमकर पिटाई की, अपशब्द-भंडार खाली करता गया और धमकियाँ देता गया। जी-भर कर पीटने के पश्चात् वहाँ से चल दिया।

शेष,संत लौटे तो सम्पूर्ण घटना की जानकारी मिली। सभी के मन अवसाद से भर गए। गाँव में भी खबर पहुँच गई। एक-एक कर सभी स्थानक पहुँचने लगे। सारा गाँव एकत्रित हो गया। संघपति व संघ के प्रतिनिधि मिलकर घटना पर विचार करने लगे। वस्तुपाल नहीं आए, मालूम हुआ कि कार्यवश ग्रामान्तर गए हुए थे। पूर्व महामंत्री के रूप में ही नहीं, समाज में अपनी शक्तियों, अपने सद्गुणों एवं सद्व्यवहार के कारण वे संघ में संघपति के समकक्ष ही वर्चस्व रखते थे। सत्ता का प्रभाव संघ-हित में भी कार्य करता था। उपस्थित विचारकों ने निर्णय लिया कि संघपति स्वयं पूर्व महामंत्री से मिलें, विचार-विमर्श करें पर जो भी निष्कर्ष निकले वह 'सिंह जेठवा' को एक अच्छा सबक सिखाने वाला हो, इसका विशेष ध्यान रखा जाए।

उसी दिन संध्या समय पूर्व महामंत्री के महल में मुख्यद्वार पर एक कटा हुआ 'पुरुष-हाथ' तोरण की तरह लटक रहा था। आने-जाने वाले ग्रामीण-जन उस हाथ को देख रहे थे और कानाफूसी कर रहे थे। घरों में औरतें और बाजार में पुरुष इस घटना के परिणाम पर विचार करने लगे थे। हुआ यह कि संघपति जब पूर्व महामंत्री से मिले तो 'सिंह जेठवा' के आज प्रातः हुए मुनिराज के साथ घोर-दुर्व्यवहार पर बात करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि 'सिंह जेठवा' के उस हाथ को ही काट दिया जाए, यही उसके लिए उचित दण्ड होगा। उस दुर्विनीत को धर्म एवं संघ के हित में यह दण्ड देने का भार स्वयं पूर्व महामंत्री ने अपने ऊपर लेकर संघ को निश्चित रहने की बात कही थी। वे बोले—"राज्य-सत्ता से धर्म-सत्ता निश्चय ही बहुत ऊँची है। मैं धर्म-सत्ता के हित में राज्य का पक्ष नहीं लूंगा।"

संघपति को दिए वचन के अनुसार कार्य हो चुका था। आशंका थी कि बात बढ़ेगी और हुआ भी यही। 'सिंह जेठवा' अपनी व्यक्तिगत सेना को तैयार करने लगा। प्रतिशोध का ज्वालामुखी धधक रहा था उसके भीतर। पूर्व महामंत्री भी जानते थे कि वह शांत बैठने वाला नहीं। उन्होंने भी अपने अंगरक्षकों, निजी सैनिकों एवं अन्य वीर साथियों को इकट्ठा किया। इधर राणा वीसलदेव के पास भी समाचार पहुँचे। उन्होंने अथ से इति तक सम्पूर्ण घटना की जानकारी ली। वे वस्तुपाल की शक्ति और जौहर से परिचित थे। अपने मामा का हाथ काट कर तोरण की तरह लटका देना उसे भी बुरा लगा पर

वह कर भी क्या सकता था ? बात आगे बढ़ जाएगी तो भी सत्तापक्ष को ही नीचा देखना पड़ेगा—यह उसने महसूस किया। लम्बे सोच-विचार के बाद उसने अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी राजगुरु पण्डित सोमेश्वर को भेजकर दोनों में समझौते की वार्ता करवाने का निर्णय किया। सोमेश्वर गए, समझौता-वार्ता हुई। 'सिंह जेठवा' को अपना भविष्य अंधकार-मय नजर आने लगा था। बाह्य व्यवहार में भले स्थिरता दिखाई दे रही थी पर भीतर उथल-पुथल मची थी। राजपरिवार का सदस्य होते हुए भी उस पर राजसत्ता का ऐसा प्रबल दबाव पड़ा कि समझौता में जैसी भी शर्त थी उसे माननी पड़ी, समझौता करना पड़ा।

धोलका की पीड़ित जनता ने सहमी-सहमी नजरों से उस विलक्षण दृश्य को देखा। उनके लिए यह प्रथम अवसर था जब राजमामा 'सिंह जेठवा' जैसा दुर्दान्त व्यक्ति अपने कटे हाथ के साथ नतमस्तक पैदल चल रहा था। पैदल चलते हुए वह उपाश्रय तक आया। उपाश्रय में जाकर आचार्य-श्री के चरणों में अपना सिर रखते हुए उसने अपने दुर्विनय एवं दुर्व्यवहार के लिए क्षमायाचना की।

धोलका की जनता उसके इस व्यवहार को उसकी विवशता मान, भविष्य के गर्भ में पुनः किसी अनहोनी की प्रतीक्षा में थी पर ऐसा हुआ नहीं। लोकश्रुति के अनुसार आचार्य-श्री के दर्शन, वंदन, चरण-स्पर्शन एवं उपदेश से उस दिन के पश्चात् उसका जीवन ही बदल गया। सारे दुर्गुण बीते जीवन की कथा बन गए। जैन-संतों के प्रति उसकी निष्ठा निरन्तर बढ़ती गई और वह एक व्रत-धारी श्रावक-सा जीवन बिताने लगा।

संघपति के सुदृढ़ मानस ने, कार्य करने व निर्णय लेने की विलक्षण-बुद्धि ने एवं समय की परख ने ही सम्पूर्ण गुजरात में जैनियों की प्रतिष्ठा को पुनः जागृत किया, जिनानुयायियों की धाक जमी और साधना-मार्ग निष्कंटक बना।

संघपति का पद अत्यन्त गरिमामय होता है। किसी संघ का यह जोखिम-भरा उत्तरदायी पद साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। इसके लिए असाधारण व्यक्ति का होना आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति जिसके पास अलौकिक शक्ति हो, जिसका जीवन निर्मल हो, जिसका व्यक्तित्व तेजस्वी हो, जो गंभीर प्रकृति का एवं स्थिर चित्त वाला हो, जो दूरदर्शी हो एवं त्वरित निर्णय ले सके, जो गृहस्थ होकर भी जल में कमलवत् साधु-सा जीवन जीए, संघ के लिए सर्वस्व अर्पण की भावना रखता हो, वाणी में ओज एवं प्रभाव हो, आगम-तत्त्वों का गहन-गंभीर ज्ञाता हो, हठाग्रही न हो तथा समता-भाव में रमण करने वाला हो; इन गुणों के सम्मिश्रण से बने व्यक्तित्व का धनी ही संघपति-पद के योग्य होता है और वह ही संघ के सम्मान की रक्षा में सक्षम हो सकता है।

शिथिलाचारी परम्परा को उखाड़कर शुद्धाचारी श्रमणों की परम्परा को पल्लवित, पुष्पित करने में धर्म-प्राण, क्रांतिकारी–क्रियोद्धारक लोंकाशाह ने जो कार्य किया वह युग-युग तक स्मरणीय रहेगा। शुद्धाचारी श्रमणों की परम्परा में वृद्धि की बात जड़-पंथियों के लिए घातक थी। वे इस परम्परा की बढ़ती संख्या से मन ही मन जले जा रहे थे और इसे रोकने, इसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनाने लगे। अपनी योजनाओं की क्रियान्विति में निम्नकोटि के उपायों को काम में लेने से भी वे नहीं चूके। अहमदाबाद में तो एक बार इन शिथिलाचारियों ने निकृष्टता की सीमा को

किसी नवदीक्षित लघु-वय मुनि जी ने कमरे की प्रतिलेखना कर कचरा भूल से खिड़की की राह बाहर गिरा दिया। दुर्भाग्य से उसी क्षण सिंह जेठवा घोड़े पर बैठकर वन-विहार करने जा रहा था। कचरा उसके सिर पर गिरा। कचरा क्या गिरा, काल-नाग की पूंछ पर जैसे पाँव पड़ गया। क्रोध से आँखें रक्ताभ हो गईं, भौंहें चढ़ गईं। फुफकारते हुए उसने उस भवन में प्रवेश किया, जहाँ मुनिराज विराज रहे थे।

"कौन है ? किसने गिराया यह कचरा ?" कटु, कर्कश, विषैली आवाज पूरे स्थानक को गुञ्जा गई। आचार्य-श्री एवं अन्य बड़े मुनिराज शौचादि कार्य-निवृत्ति हेतु बाहर गए हुए थे। नव-दीक्षित मुनि जी सामने आए और स्थिरस्वर में बोले—"महाभाग ! अनजाने में ऐसा हो गया है, अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।" कितनी विनम्रता थी इस उत्तर में पर किसके आगे ? ऐसे विनयपूर्ण उत्तर से भी भला जो मान जाए तो वह सिंह जेठवा कैसा ? बिना कुछ सोचे-विचारे मुनि की जमकर पिटाई की, अपशब्द-भंडार खाली करता गया और धमकियाँ देता गया। जी-भर कर पीटने के पश्चात् वहाँ से चल दिया।

शेष,संत लौटे तो सम्पूर्ण घटना की जानकारी मिली। सभी के मन अवसाद से भर गए। गाँव में भी खबर पहुँच गई। एक-एक कर सभी स्थानक पहुँचने लगे। सारा गाँव एकत्रित हो गया। संघपति व संघ के प्रतिनिधि मिलकर घटना पर विचार करने लगे। वस्तुपाल नहीं आए, मालूम हुआ कि कार्यवश ग्रामान्तर गए हुए थे। पूर्व महामंत्री के रूप में ही नहीं, समाज में अपनी शक्तियों, अपने सद्गुणों एवं सद्व्यवहार के कारण वे संघ में संघपति के समकक्ष ही वर्चस्व रखते थे। सत्ता का प्रभाव संघ-हित में भी कार्य करता था। उपस्थित विचारकों ने निर्णय लिया कि संघपति स्वयं पूर्व महामंत्री से मिलें, विचार-विमर्श करें पर जो भी निष्कर्ष निकले वह 'सिंह जेठवा' को एक अच्छा सबक सिखाने वाला हो, इसका विशेष ध्यान रखा जाए।

उसी दिन संध्या समय पूर्व महामंत्री के महल में मुख्यद्वार पर एक कटा हुआ 'पुरुष-हाथ' तोरण की तरह लटक रहा था। आने-जाने वाले ग्रामीण-जन उस हाथ को देख रहे थे और कानाफूसी कर रहे थे। घरों में औरतें और बाजार में पुरुष इस घटना के परिणाम पर विचार करने लगे थे। हुआ यह कि संघपति जब पूर्व महामंत्री से मिले तो 'सिंह जेठवा' के आज प्रातः हुए मुनिराज के साथ घोर-दुर्व्यवहार पर बात करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि 'सिंह जेठवा' के उस हाथ को ही काट दिया जाए, यही उसके लिए उचित दण्ड होगा। उस दुर्विनीत को धर्म एवं संघ के हित में यह दण्ड देने का भार स्वयं पूर्व महामंत्री ने अपने ऊपर लेकर संघ को निश्चित रहने की बात कही थी। वे बोले—"राज्य-सत्ता से धर्म-सत्ता निश्चय ही बहुत ऊँची है। मैं धर्म-सत्ता के हित में राज्य का पक्ष नहीं लूंगा।"

संघपति को दिए वचन के अनुसार कार्य हो चुका था। आशंका थी कि बात बढ़ेगी और हुआ भी यही। 'सिंह जेठवा' अपनी व्यक्तिगत सेना को तैयार करने लगा। प्रतिशोध का ज्वालामुखी धधक रहा था उसके भीतर। पूर्व महामंत्री भी जानते थे कि वह शांत बैठने वाला नहीं। उन्होंने भी अपने अंगरक्षकों, निजी सैनिकों एवं अन्य वीर साथियों को इकट्ठा किया। इधर राणा वीसलदेव के पास भी समाचार पहुँचे। उन्होंने अथ से इति तक सम्पूर्ण घटना की जानकारी ली। वे वस्तुपाल की शक्ति और जौहर से परिचित थे। अपने मामा का हाथ काट कर तोरण की तरह लटका देना उसे भी बुरा लगा पर

वह कर भी क्या सकता था ? बात आगे बढ़ जाएगी तो भी सत्तापक्ष को ही नीचा देखना पड़ेगा—यह उसने महसूस किया। लम्बे सोच-विचार के बाद उसने अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी राजगुरु पण्डित सोमेश्वर को भेजकर दोनों में समझौते की वार्ता करवाने का निर्णय किया। सोमेश्वर गए, समझौता-वार्ता हुई। 'सिंह जेठवा' को अपना भविष्य अंधकार-मय नजर आने लगा था। बाह्य व्यवहार में भले स्थिरता दिखाई दे रही थी पर भीतर उथल-पुथल मची थी। राजपरिवार का सदस्य होते हुए भी उस पर राजसत्ता का ऐसा प्रबल दबाव पड़ा कि समझौता में जैसी भी शर्त थी उसे माननी पड़ी, समझौता करना पड़ा।

धोलका की पीड़ित जनता ने सहमी-सहमी नजरों से उस विलक्षण दृश्य को देखा। उनके लिए यह प्रथम अवसर था जब राजमामा 'सिंह जेठवा' जैसा दुर्दान्त व्यक्ति अपने कटे हाथ के साथ नतमस्तक पैदल चल रहा था। पैदल चलते हुए वह उपाश्रय तक आया। उपाश्रय में जाकर आचार्य-श्री के चरणों में अपना सिर रखते हुए उसने अपने दुर्विनय एवं दुर्व्यवहार के लिए क्षमायाचना की।

धोलका की जनता उसके इस व्यवहार को उसकी विवशता मान, भविष्य के गर्भ में पुनः किसी अनहोनी की प्रतीक्षा में थी पर ऐसा हुआ नहीं। लोकश्रुति के अनुसार आचार्य-श्री के दर्शन, वंदन, चरण-स्पर्शन एवं उपदेश से उस दिन के पश्चात् उसका जीवन ही बदल गया। सारे दुर्गुण बीते जीवन की कथा बन गए। जैन-संतों के प्रति उसकी निष्ठा निरन्तर बढ़ती गई और वह एक व्रत-धारी श्रावक-सा जीवन बिताने लगा।

संघपति के सुदृढ़ मानस ने, कार्य करने व निर्णय लेने की विलक्षण-बुद्धि ने एवं समय की परख ने ही सम्पूर्ण गुजरात में जैनियों की प्रतिष्ठा को पुनः जागृत किया, जिनानुयायियों की धाक जमी और साधना-मार्ग निष्कंटक बना।

संघपति का पद अत्यन्त गरिमामय होता है। किसी संघ का यह जोखिम-भरा उत्तरदायी पद साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। इसके लिए असाधारण व्यक्ति का होना आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति जिसके पास अलौकिक शक्ति हो, जिसका जीवन निर्मल हो, जिसका व्यक्तित्व तेजस्वी हो, जो गंभीर प्रकृति का एवं स्थिर चित्त वाला हो, जो दूरदर्शी हो एवं त्वरित निर्णय ले सके, जो गृहस्थ होकर भी जल में कमलवत् साधु-सा जीवन जीए, संघ के लिए सर्वस्व अर्पण की भावना रखता हो, वाणी में ओज एवं प्रभाव हो, आगम-तत्त्वों का गहन-गंभीर ज्ञाता हो, हठाग्रही न हो तथा समता-भाव में रमण करने वाला हो; इन गुणों के सम्मिश्रण से बने व्यक्तित्व का धनी ही संघपति-पद के योग्य होता है और वह ही संघ के सम्मान की रक्षा में सक्षम हो सकता है।

शिथिलाचारी परम्परा को उखाड़कर शुद्धाचारी श्रमणों की परम्परा को पल्लवित, पुष्पित करने में धर्म-प्राण, क्रांतिकारी–क्रियोद्धारक लोंकाशाह ने जो कार्य किया वह युग-युग तक स्मरणीय रहेगा। शुद्धाचारी श्रमणों की परम्परा में वृद्धि की बात जड़-पंथियों के लिए घातक थी। वे इस परम्परा की बढ़ती संख्या से मन ही मन जले जा रहे थे और इसे रोकने, इसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनाने लगे। अपनी योजनाओं की क्रियान्विति में निम्नकोटि के उपायों को काम में लेने से भी वे नहीं चूके। अहमदाबाद में तो एक बार इन शिथिलाचारियों ने निकृष्टता की सीमा को

किसी नवदीक्षित लघु-वय मुनि जी ने कमरे की प्रतिलेखना कर कचरा भूल से खिड़की की राह बाहर गिरा दिया। दुर्भाग्य से उसी क्षण सिंह जेठवा घोड़े पर बैठकर वन-विहार करने जा रहा था। कचरा उसके सिर पर गिरा। कचरा क्या गिरा, काल-नाग की पूंछ पर जैसे पाँव पड़ गया। क्रोध से आँखें रक्ताभ हो गईं, भौंहें चढ़ गईं। फुफकारते हुए उसने उस भवन में प्रवेश किया, जहाँ मुनिराज विराज रहे थे।

"कौन है ? किसने गिराया यह कचरा ?" कटु, कर्कश, विषैली आवाज पूरे स्थानक को गुञ्जा गई। आचार्य-श्री एवं अन्य बड़े मुनिराज शौचादि कार्य-निवृत्ति हेतु बाहर गए हुए थे। नव-दीक्षित मुनि जी सामने आए और स्थिरस्वर में बोले--"महाभाग ! अनजाने में ऐसा हो गया है, अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।" कितनी विनम्रता थी इस उत्तर में पर किसके आगे ? ऐसे विनयपूर्ण उत्तर से भी भला जो मान जाए तो वह सिंह जेठवा कैसा ? बिना कुछ सोचे-विचारे मुनि की जमकर पिटाई की, अपशब्द-भंडार खाली करता गया और धमकियाँ देता गया। जी-भर कर पीटने के पश्चात् वहाँ से चल दिया।

शेष संत लौटे तो सम्पूर्ण घटना की जानकारी मिली। सभी के मन अवसाद से भर गए। गाँव में भी खबर पहुँच गई। एक-एक कर सभी स्थानक पहुँचने लगे। सारा गाँव एकत्रित हो गया। संघपति व संघ के प्रतिनिधि मिलकर घटना पर विचार करने लगे। वस्तुपाल नहीं आए, मालूम हुआ कि कार्यवश ग्रामान्तर गए हुए थे। पूर्व महामंत्री के रूप में ही नहीं, समाज में अपनी शक्तियों, अपने सद्गुणों एवं सद्व्यवहार के कारण वे संघ में संघपति के समकक्ष ही वर्चस्व रखते थे। सत्ता का प्रभाव संघ-हित में भी कार्य करता था। उपस्थित विचारकों ने निर्णय लिया कि संघपति स्वयं पूर्व महामंत्री से मिलें, विचार-विमर्श करें पर जो भी निष्कर्ष निकले वह 'सिंह जेठवा' को एक अच्छा सबक सिखाने वाला हो, इसका विशेष ध्यान रखा जाए।

उसी दिन संध्या समय पूर्व महामंत्री के महल में मुख्यद्वार पर एक कटा हुआ 'पुरुष-हाथ' तोरण की तरह लटक रहा था। आने-जाने वाले ग्रामीण-जन उस हाथ को देख रहे थे और कानाफूसी कर रहे थे। घरों में औरतें और बाजार में पुरुष इस घटना के परिणाम पर विचार करने लगे थे। हुआ यह कि संघपति जब पूर्व महामंत्री से मिले तो 'सिंह जेठवा' के आज प्रातः हुए मुनिराज के साथ घोर-दुर्व्यवहार पर बात करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि 'सिंह जेठवा' के उस हाथ को ही काट दिया जाए, यही उसके लिए उचित दण्ड होगा। उस दुर्विनीत को धर्म एवं संघ के हित में यह दण्ड देने का भार स्वयं पूर्व महामंत्री ने अपने ऊपर लेकर संघ को निश्चिंत रहने की बात कही थी। वे बोले—"राज्य-सत्ता से धर्म-सत्ता निश्चय ही बहुत ऊँची है। मैं धर्म-सत्ता के हित में राज्य का पक्ष नहीं लूंगा।"

संघपति को दिए वचन के अनुसार कार्य हो चुका था। आशंका थी कि बात बढ़ेगी और हुआ भी यही। 'सिंह जेठवा' अपनी व्यक्तिगत सेना को तैयार करने लगा। प्रतिशोध का ज्वालामुखी धधक रहा था उसके भीतर। पूर्व महामंत्री भी जानते थे कि वह शांत बैठने वाला नहीं। उन्होंने भी अपने अंगरक्षकों, निजी सैनिकों एवं अन्य वीर साथियों को इकट्ठा किया। इधर राणा वीसलदेव के पास भी समाचार पहुँचे। उन्होंने अथ से इति तक सम्पूर्ण घटना की जानकारी ली। वे वस्तुपाल की शक्ति और जौहर से परिचित थे। अपने मामा का हाथ काट कर तोरण की तरह लटका देना उसे भी बुरा लगा पर

भी लांघ दिया। एक प्रभावशाली संत-मुनिराज अहमदाबाद के किसी मोहल्ले में गौचरी के लिए पधारे। प्रासुक आहार वहराने के निमित्त मकान में बुलाकर उनकी वहाँ हत्या कर दी गई। रक्तरंजित शव को निकट के मन्दिर में, पिछवाड़े के एक बाड़े में गाड़ दिया गया। काफी समय हो गया, मुनि नहीं लौटे तो पूछताछ की गई। अमुक मोहल्ले में अमुक स्थान तक मुनिराज के पधारने की बात प्रकाश में आई। आगे क्या हुआ, वे कहाँ गए ? कोई न बता सका। अनुमान यही लगाया गया कि उनकी हत्या कर दी गई है। तत्कालीन सूबेदार के पास गए संघ के प्रतिष्ठित-जन, शिकायत लेकर। सूबेदार ने शिकायत सुनी, उचित कार्यवाही का आश्वासन भी दिया पर विरोधियों ने धन की थैलियों के मुख खोल दिए फिर इधर-उधर के प्रभावशाली लोगों की सिफारिश भी पहुँचाई। धन में बड़ी शक्ति होती है। मामला दबा दिया गया। रहस्य, रहस्य ही बना रहा। अहमदाबाद और उसके निकटवर्ती कई स्थानों पर इस घटना का आतंक फैल गया। विरोधियों के हौंसले बुलन्द हो गए। ऐसे ही घृणित काण्ड करने के लिए वे नई योजनाएँ बनाने लगे।

संघपति को इन सब बातों से बड़ी चिन्ता हुई। चिन्ता होना स्वाभाविक ही था, लोगों में प्रचार किया जा रहा था कि मुनि तो मुनि-जीवन से घबरा कर पुनः गृहस्थ बन गए, भाग गए। ऐसे ही अनेक अन्य भ्रामक विचारों के प्रचार-प्रसार की संभावना बन रही थी। संघपति ने अपनी विलक्षण बुद्धि का प्रयोग किया। अपने प्रभाव के बल पर एवं धन खर्च कर गुपचुप सूचनाएँ इकट्ठी कीं। जब विश्वास हो गया कि हत्या की गई है, मन्दिर के पीछे बाड़े में गाड़ा गया है तो चल दिए अपने कुछेक प्रतिष्ठित साथियों के साथ दिल्ली, बादशाह की सेवा में। बादशाह से मिलना उस समय अत्यन्त दुरूह था। कभी-कभी तो वर्षों बीत जाते थे पर मुलाकात नहीं हो पाती थी। संघपति व उनके साथी दिल्ली में ठहर कर बादशाह से मुलाकात करने की प्रतीक्षा करने लगे।

बात जब बननी होती है तो संयोग भी स्वतः एकत्रित हो जाते हैं। संघपति नमस्कार-महामंत्र के एक-निष्ठ साधक थे। उनकी मंत्र-साधना सिद्ध हो चुकी थी। वे अपनी मंत्र-सिद्धि के कुछ चमत्कार भी बता चुके थे। यहाँ दिल्ली-प्रवास में एक दिन बादशाह के काजी साहब के पुत्र का निधन हो गया। उसे एक विष-सर्प ने दंश दिया था (डस लिया था)। उपचार व झाड़े-झपाटे काम नहीं आए और काजी-पुत्र ने प्राण त्याग दिए। जनाजा निकाला गया। संघपति ने जनाजा देखकर समस्त घटना की सूचना प्राप्त की। उपयुक्त अवसर देखकर काजी के पास अपने व्यक्ति द्वारा सन्देश प्रेषित किया। सन्देश-वाहक जनाजे में गया, काजी के साथ-साथ चला और कहने लगा—"काजी साहब ! खता माफ हो। संघपति यहीं पास में ठहरे हुए हैं। चमत्कारी पुरुष हैं। मंत्र-तन्त्र के अच्छे जानकार हैं। सिद्धि है उनके पास। आप उन्हें यहाँ बुलवा लें तो आपके मृत-पुत्र को नवजीवन मिलने की संभावना बन सकती है।"

सन्तान सभी को प्रिय होती है। काजी तत्काल तैयार हो गया। जनाजा वहीं रोक दिया गया। संघपति आए। अत्यन्त निष्ठा के साथ मंत्र-जाप किया। कुछ देर के जाप के पश्चात् नमस्कार-महामंत्र का उच्च-स्वर से उद्घोष करते हुए पवित्र जल अभिमंत्रित कर काजी-पुत्र के मृत-शरीर पर छिटकाव किया। महामंत्र का चमत्कारिक-प्रभाव, संघपति के अटूट विश्वास का प्रतिफल; जल के छींटों का संजीवन-स्पर्श पा कर काजी-पुत्र जी उठा। जनाजे में उपस्थित व्यक्ति इस चमत्कार को देख आश्चर्य-चकित रह

गए। "मुर्दा जी उठा, मुर्दा जी उठा"—सारे शहर में खबर फैल गई। ऐसी खबरें एक-से-दूसरे तक बेतार के तार से भी शीघ्र फैल जाती हैं, ठीक वायु की तरह। काजी तो इतना प्रभावित हुआ कि संघपति को पीर, पैगम्बर की तरह सम्मान देने लगा। काजी के परिवार ने संघपति का आभार प्रदर्शन किया।

ऐसी बातें सभी जगह पहुँच जाती हैं। बादशाह के पास भी पहुँची। स्वयं काजी ने कहा—हुजूरे आला! वह निश्चय ही कोई सिद्ध-महात्मा है, ओलिया-फकीर, खुदावंद का वंदा है। बादशाह ने संघपति को दरबार में बुलावा भेजा। संघपति तो इसी की प्रतीक्षा में थे। अपने साथियों सहित बादशाह के दरबार में उपस्थित हुए। बादशाह ने स्वयं धन्यवाद ज्ञापन करते हुए उसका परिचय पूछा। अहमदावाद से दिल्ली आने का सबब (कारण) भी पूछा तब संघपति ने सम्पूर्ण घटना सुनाते हुए अपना संदेह भी व्यक्त कर दिया।

तत्काल मुहरांकित आदेश तैयार हुआ और सूबेदार को भेज दिया गया। सूबेदार को ताकीद की गई थी कि यदि जैन मुनि के गायब होने की घटना का रहस्य नहीं खुल पाया तो तुम्हारी सूबेदारी समाप्त समझो। उसके पश्चात् अतिरिक्त दण्ड भी दिया जाएगा। वह दण्ड क्या होगा, उसका निर्णय हम बाद में देंगे।

संघपति सन्तुष्ट थे। संध्या समय काजी फिर हाजिर हुए और संघपति से चमत्कारिक-मंत्र के बारे में जानने की, उसे सीखने की इच्छा व्यक्त की। मंत्र सिखाने के बदले में इच्छानुसार स्वर्ण देने की बात भी कही। संघपति ने कहा—काजी साहब! स्वर्ण की मुझे कोई इच्छा नहीं है पर मंत्र-सिद्धि के लिए शुद्ध आहार एवं शुद्ध आचार-विचार का प्रश्न प्रमुख है। मांसाहारी व्यक्ति इस मंत्र का अधिकारी नहीं बन सकता। क्या आप मांसाहार का त्याग कर सकते हैं?

काजी ने मांसाहार-त्याग की बात स्वीकार कर ली। आचार-विचार की शुद्धि के लिए उसने श्रावक के बारह व्रतों की जानकारी प्राप्त की और उनमें से कई व्रत धारण कर व्रतधारी श्रावक बना। महामंत्र भी सीखा। व्रत धारण एवं महामंत्र के प्रति अटूट श्रद्धा का चमत्कारिक-प्रभाव भी उसे शीघ्र देखने को मिला।[1] इसके बाद तो उसकी श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई।

---

१. बादशाह के काजी महोदय व्रतधारी श्रावक बने और शस्त्र रखने का भी त्याग कर दिया। दरबार में जाते समय तलवार रखना आवश्यक था अतः आपने अपनी म्यान के नाप की एक सुन्दर लकड़ी की तलवार बनवाई और उसी को म्यान में रख कर अपने साथ ले जाने लगे। ईर्ष्यालु और चुगलखोर हर कहीं मिल जाते हैं। बादशाह के कान में भी किसी ने फूंक मार दी कि काजी साहब काफिर होकर 'ढूंढिया-धर्म' वालों के प्रभाव में आ गए हैं। विश्वास न हो तो इनकी तलवार देखें, असली के स्थान पर नकली; लकड़ी की तलवार पाएंगे।

अगले दिन काजी दरबार में आए तो मुख्य द्वार पर ही किसी ने उनके कान में धीरे-धीरे सारी बात कह दी। उन्हें यह भी पता चल गया कि कुछ लोग उन पर नजर रखे हुए हैं। घर जाकर

संघपति का देहली में कार्य सिद्ध हो चुका था। अतः वे अपने साथियों सहित अहमदाबाद पहुँच गए। सूबेदार को बादशाह का आदेश प्राप्त हो चुका था। आदेश की भाषा पढ़कर सूबेदार की घिग्घी बंध गई। उसने गुप्तचरों से खोज करवाई। अपराधी पकड़े गए। मन्दिर के पीछे की जमीन खोदी गई तो मुनिवर का शव, रक्तरंजित रजोहरण, मुखवस्त्रिका, झोली, भिक्षा-पात्र सभी मिल गए। अपराधियों एवं साजिश करने वालों को कठोर दण्ड दिया गया। संघ व संघपति ने सन्तोष की श्वांस ली। संघपति ने अपने दायित्व को पूर्णतः निभाया, जिसकी सभी ने हृदय से प्रशंसा की।

× × ×

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सही मार्ग-दर्शन के अभाव में पूरा संघ पथ से भटक जाता है। लम्बे समय तक संघ का श्रावक-श्राविका-वर्ग गलत परम्पराओं-प्ररूपणाओं का पालन करता रहता है। बाद में जब सत्य-दर्शन होते हैं तो वर्षों की गलत परम्पराओं को छोड़ना जरा मुश्किल ही होता है। ऐसे समय संघपति का दायित्व होता है कि वह अपने संघ को सत्य-पथ पर चलने के लिए प्रेरित करे, समझाए, हर तरह से पूर्ण प्रयत्न करे। ऐसी एक घटना हो चुकी है विक्रम संवत् १७८६ में।

राजस्थान के पीपाड़शहर में उस समय पोतियाबंध-शिथिलाचारी-यतियों का एक छत्र प्रभाव था। उनका कहना था कि इस पंचम आरे में साधुत्व लुप्त हो चुका है, शुद्ध-संयम साधक पाल ही नहीं सकता

तलवार ले आएं या किसी को भेज कर मंगवालें, इतना समय नहीं था। काजी महोदय ने पालकी में ही पद्मासन लगाया और भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करने लगे। स्तुति पूर्ण हुई तो काष्ठ की तलवार पर फूंक मारी, जैसे जादू कर रहे हों और फिर सभा में उपस्थित हो गए। बादशाह सलामत को आदाब किया और अपने स्थान पर बैठ गए। वे ऊपर से जितने शांत दिखाई दे रहे थे, अंदर से उतनी ही उनकी घबराहट बढ़ी हुई थी, हृदय काँप रहा था, धड़कन तेज हो रही थी।

बादशाह ने अर्थ भरी एक नजर काजी पर डाली और कहा—"काजी साहब! आपकी तलवार बहुत सुन्दर है। जरा हमें भी तो दिखाइए।" काजी साहब खड़े हुए, अस्थिर कदमों से चलकर बादशाह हुजूर के निकट पहुँचे और अन्यमनस्क भाव से तलवार उनके चरणों में रख दी। बादशाह हुजूर ने तलवार उठाई, उसे म्यान से बाहर खींचा। "शुभान अल्ला!", बादशाह बोले "क्या तलवार है, क्या तेज है?" सभी ने देखा। आँखों में चकाचौंध पैदा कर देने वाली चंचल-चपला के समान चमकती हुई वह तीक्ष्ण तलवार! चुगलखोरों और ईर्ष्यालुओं के चेहरे धुल गए। जिसने शिकायत की उसके तो चेहरे का खून ही निचुड़ गया था। बादशाह ने उसकी ओर इंगित कर कहा—"इसकी धार का परीक्षण तुम्हारी गर्दन पर चला कर किया जाना ही मुनासिब होगा। क्यों?"

तलवार पुनः काजी महोदय को दे दी गई। घर आकर काजी जी ने म्यान से तलवार बाहर खींची तो वही पुरानी लकड़ी की तलवार थी। जैन-पार्श्वनाथ-स्तोत्र का उसके जीवन में यह पहला चमत्कार था। इसके बाद भी कई चमत्कार हुए पर यहाँ उनका उल्लेख विस्तार-भय के कारण नहीं किया जा रहा है।

अतः हम धर्म-प्रचारक ही जिनवाणी के उद्घोषक एवं जैन अनुयायियों के पूजनीक हैं। वि. सं. १७८९ में जैन धर्म के महान प्रभावी संत आचार्य-श्री भूधर जी पीपाड़ पधारे। उनके साथ उनके अन्य शिष्यों में पूज्य श्री जयमल्ल जी भी थे। एक दिन द्वितीय प्रहर में अपने गुरुदेव की आज्ञा लेकर मुनि श्री जयमलजी महाराज गोचरी के लिए उपाश्रय से बाहर निकले। कुछ ही दूर गए होंगे कि पोतियाबंधों का उपाश्रय आया। सहज दृष्टि गई उपाश्रय की तरफ। एक यति पाट पर बैठा व्याख्यान दे रहा था। वेश उसका साधु की तरह था पर सिर पर पोतिया (साफा) बंधा हुआ था। मुनि श्री को यह देखकर आश्चर्य हुआ। दीक्षा पश्चात् वे प्रथम बार पीपाड़ पधारे थे और ऐसे यति को भी प्रथम बार ही देखा था। जिज्ञासावश खड़े रह गए। यति ने भी उन्हें देख लिया। उन्हें इस तरह खड़ा देख उसे जोश आया और वह उन्हें लक्ष्य कर कहने लगा—"क्यों भटक रहे हो? इस आरे में शुद्ध साधुत्व हो ही नहीं सकता फिर क्यों धोखाधड़ी करके, यह वेश धारण करके भोली जनता को गुमराह कर रहे हो?"

मुनि श्री जयमल जी को दीक्षा लिए अधिक समय नहीं हुआ था पर सतत आगम-अभ्यास एवं अध्ययन ने उनकी प्रतिभा को मुखरित कर दिया था। वे कुछ पास आकर शांत-स्वर में बोले—"शुद्ध साधुत्व हो सकता है और है। यदि मैं यह बात आगम-प्रमाण से सिद्ध कर दूं तो?"

वह यति मुनि के इस शांत, गंभीर घोष को सुनकर बौखला गया। कुछ क्रोधित होकर उसने कहा—"जब आगम-शास्त्रों में है ही नहीं तो क्या सिद्ध कर दोगे? जाओ, अपने रास्ते भाग जाओ! व्यर्थ का प्रलाप करने से कुछ नहीं होने का!

मुनि श्री ने इस पर पुनः शांत एवं स्थिर स्वर में कहा—"मैं आगम द्वारा अपनी बात सिद्ध कर दूंगा, मुझे यह पूर्ण विश्वास है। यदि बात सिद्ध हो गई तो क्या करोगे?"

यति के कुछ कहने से पूर्व ही वहाँ उपस्थित संघपति खड़े हुए और बोल उठे—मुनि जी, यदि आप आगम के द्वारा शुद्ध साधुत्व होने की बात सिद्ध कर देंगे तो हम इस ग्राम के समस्त जिनानुयायी श्रावक-श्राविकाएँ आपकी धारणा के अनुसार शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण करने की प्रतिज्ञा कर लेंगे।"

मुनि श्री ने यति से पूछा—"आपके हाथ में यह किस आगम की प्रति है?"

—"भगवती सूत्र की" —यति ने दबे स्वर में कहा।

—"ठीक है। इसी आगम से प्रमाण मिल जाएगा। 'भगवती सूत्र' के बारहवें शतक का आठवाँ उद्देशक निकालिए"—कहते हुए मुनि जी ने स्वयं सूत्र अपने हाथ में लिए, इच्छित स्थान पर उसे खोला और आगम पाठ को उद्धृत करने लगे—"प्रभु महावीर ने गौतम स्वामी से पूछा—भंते! यह धर्म-प्रभावना आप विद्यमान हैं तभी तक रहेगी या आगे भी चलेगी?

महावीर भगवान ने कहा—"गौतम! जैनधर्म का यह शासन अभी और चलेगा अतः किसी तरह की कुशंका मन में मत लाओ। लगभग इक्कीस हजार वर्षों तक कभी अच्छी और कभी साधारण स्थिति में नदी के प्रवाह की भांति यह शासन प्रवहमान रहेगा। वर्षाकाल में जैसे नदी अपने पूरे जोश के साथ, उफनती हुई बहती है और वर्षाकाल समाप्त हो जाने के पश्चात् भी वह बहती तो है पर उसकी धारा

क्रमशः मन्द होती जाती है। ठीक इसी तरह निरन्तर प्रवहमान इस शासन में कभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका अच्छी संख्या में रहेंगे तो कभी अल्प संख्या में।

अब संघपति सन्निकट आए। आगम अपने हाथ में लिया। मूल व अर्थ को देखा, पढ़ा, समझा और स्वीकार किया कि मुनि श्री का उद्धृत कथन आगमानुसार बिलकुल सत्य है। उसने तत्काल पोतिया-बंध-शिथिलाचार वाली उस परम्परा का परित्याग कर दिया और मुनि श्री जयमल जी की ओर उन्मुख होकर करबद्ध निवेदन करने लगा—श्रमण श्रेष्ठ ! अब आप हमारे इस संघ को शुद्ध कीजिए, शुद्ध मान्यता प्रदान करिए।

मुनि श्री ने सस्मित कहा—मेरे गुरुदेव पूज्य श्री भूधर जी महाराज यहीं पीपाड़ में विराजमान हैं। आप उनके पास जाइए। वे ही आपकी भावना को पूर्ण करेंगे।

संघपति चल दिए। उपाश्रय से बाहर निकले तो स्वतः ही वहाँ उपस्थित सभी श्रावक एवं श्राविकाएँ उपाश्रय से बाहर निकल संघपति का अनुगमन करने लगे। सभी ने पूज्य श्री भूधर जी के सन्मुख उपस्थित हो शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण किया।

वि. सं. १९४८ की एक अविस्मरणीय घटना और है जो सहज हृदय के तारों को झंकृत कर देने वाली है। मारवाड़ (राजस्थान) के पाली जिले में रायपुर कस्बे की बात है। स्वामी श्री सूर्यमल जी म. सा. अपने शिष्य-मुनिराजों सहित वहाँ पधारे। उन शिष्यों में एक नवदीक्षित मुनि (दीक्षा लिए लगभग १८ माह हुए थे) व्याख्यान वाचस्पति कविवर स्वामी श्री नथमल जी म. सा. भी थे। वहाँ के तत्कालीन ठाकुर थे श्री हरिसिंह जी, जिनके पट्टे में छोटे-बड़े ४५ गाँव थे, जोधपुर गढ़ के वे किलेदार थे।

एक दिन प्रातः काल मुनि श्री नथमल जी स्थण्डिल-भूमिका के लिए गणेश-दरवाजे की ओर गए। जैतारणिए द्वार पर प्रायः नदी बहती रहती थी, साथ ही आवागमन भी अधिक रहता था। उस दिन ठाकुर साहब शिकार के लिए अपने लवाजमे सहित गणेश द्वार से निकले। इधर ठाकुर साहब का निकलना हुआ, उधर मुनि श्री नथमल जी का उसी द्वार से लौटना हुआ। किसी मुंह लगे व्यक्ति ने कह दिया—"अन्नदाता ! अपशकुन, मोडा सामने आ गया है। अब तो अपशकुन का निवारण कराना जरूरी है।" ठाकुर साहब ने चोबदार की ओर देखा तो चोबदार ने शकुन-पाल करने के लिए अपने हाथ के दंड (लाठी) का हल्का-सा प्रहार मुनि-श्री पर कर दिया तब ठाकुर साहब आगे बढ़े।

मुनि तो समता के सागर होते हैं। मुनि श्री शांत-भाव से उपाश्रय की ओर चल दिए। वहीं समीपस्थ कुए पर मेहता श्री उदयसिंह (उदयराज) दातुन-कुल्ला कर रहे थे। मुनि श्री पर दंड-प्रहार का यह दृश्य उन्होंने देखा तो उनका खून खौल उठा। धर्मगुरु का अपमान रक्त में उबाल पैदा करे, यह स्वाभाविक ही है। वे कुए से सीधे स्थानक पहुँचे। मुनि श्री को वंदन कर उनके निकट आसन बिछाकर बैठ गए। मुनि श्री ने उनकी ओर देखा तो आप बोले—ऐसी क्या बात हुई मुनिवर, जो चोबदार ने आप पर दंड-प्रहार किया ?

अत्यधिक आग्रह कर पुनः-पुनः पूछने पर भी क्षमावतार मुनिराज मौन ही रहे। वे नहीं चाहते थे कि कोई झंझट खड़ा हो, राग-द्वेष की वृद्धि हो, वैमनस्य-भाव फैले। मेहता तब संघपति श्री फौजमलजी

पगारिया के यहाँ गए। संघपति ने मेहता जी के मुख से घटना सुनी तो तत्काल ठिकाने के कामदार श्री सागरमल जी मेहता से मिलकर विचार-विमर्श किया। वहाँ से स्थानक आए, मुनिराज से पूछा। कामदार थे अतः राजवर्गीय दावपेंच से बात की पर मुनिराज भाँप गए और केवल मुस्कराकर रह गए।

अब स्वामी श्री सूर्यमल जी के पास जाना अनिवार्य हो गया। स्वामी जी ने सुना तो मुनि श्री को बुलाया। मुनि श्री ने जैसी घटना घटी, वैसी गुरुवर के समक्ष सुना दी। स्वामी जी बोले—"मुझे नहीं बताया तुमने ?" मुनि श्री ने कहा—"साधारण बात थी, सामान्य रूप से ऐसी घटना कहीं भी हो सकती है अतः नहीं कहा।"

अब संघपति बोले—"मुनिवर ! यह साधारण बात हो सकती है आपकी नजर में, पर संघ और शासन के लिए साधारण नहीं है।"

इसके बाद गुरुदेव स्वामी श्री सूर्यमल जी से कुछ समय तक बहुत धीमे स्वर में मंत्रणा चली। इधर ये बातें हो रही थीं, उधर श्री उदयराज जी मेहता ने बाजार में घटना फैला दी और सभी के हृदयों में अपने आग्नेय-कथन से एक चिंगारी भड़का दी। कुछ ही समय में छोटे-बड़े सभी जैन स्थानक-भवन में एकत्रित हो गए। अग्रवाल-माहेश्वरी समाज को भी घटना की जानकारी मिली। इस समाज के भी कितने ही बन्धु स्वामी जी के श्रद्धालु भक्त थे अतः वे भी वहाँ पहुँच गए। घटित घटना पर गरमागरम बहस हुई। सभी का मत था कि यह जैन धर्म, जैन समाज, जैन जाति का घोर अपमान है। आज हमारे साथ हुआ, कल अन्य-अन्य के साथ भी हो सकता है। मौन होकर इस अपमान को सहन कर लिया तो भविष्य में इस तरह की वारदातों के लिए मार्ग खुल जाएगा। अग्रवाल-माहेश्वरी समाज के प्रतिनिधि श्री बक्सीराम जी ने कहा— "ठाकुर साहब की जागीर में रहते हैं तो क्या हमने अपना मान, सम्मान गिरवी रख दिया है ? हमें निश्चय ही कठोर कदम उठाना चाहिए।"

सर्वसम्मति से निर्णय हुआ कि "हमें अपनी जमीन, जायदाद, व्यवसाय, सम्पत्ति का मोह त्यागना होगा। हमें यह जागीर छोड़ कर कहीं अन्यत्र बसना होगा। हम व्यापारी हैं, जहाँ भी व्यापार करेंगे, वहीं समृद्धि का वरण कर लेंगे।"

रायपुर पट्टी के सभी गाँवों में, जहाँ-जहाँ ओसवाल समाज बसा था/रहता था; रायपुर-संघ का निर्णय पहुँचा दिया गया। बाजार बन्द हो गए, सामान बांधा जाने लगा। अन्यान्य जातियों के प्रतिनिधि जैन-समाज के इस निर्णय से चिन्तित हो रहे थे। वे जानते थे कि इनके चले जाने से उनका भी काम-धन्धा चौपट हो जाएगा।

उधर ठाकुर साहब शिकार करते हुए स्वयं दुर्घटना-ग्रस्त हो गए और अत्यधिक घायल होकर लौटे। यहाँ उन्होंने देखा कि बाजार बन्द है। वे विचार-मग्न हो गए। उन दिनों बाजार केवल रियासत के मालिक के स्वर्गवास होने पर ही बन्द होता था। अन्य अवसरों पर बाजार बन्द होना, विद्रोह का पूर्व संकेत था। शीघ्र ही उन्हें इसका कारण अवगत हो गया। अपने मुख्य सलाहकार बर के ठाकुर साहब श्री कल्याणसिंह जी से आपने परामर्श लिया। स्थिति की गंभीरता पर विचार कर और उसके

दूरगामी प्रभाव का मूल्यांकन कर ठाकुर साहब कांप उठे। व्यापार-व्यवसाय का ठप्प होना रियासत को भयंकर आर्थिक संकट में फंसा देगा। नए व्यापारी जब तक बसेंगे और व्यापार प्रारम्भ कर विकसित होंगे, तब तक जागीर जर्जर हो जाएगी अतः क्षमा मांग लेना ही एकमात्र रास्ता था।

ठाकुर साहब तत्काल स्वामी श्री सूर्यमल जी म. सा. की सेवा में पहुंचे। अपनी त्रुटि के लिए हार्दिक क्षमायाचना की। संघपति एवं कामदार भी पहुंचे। ठाकुर साहब के क्षमा मांगने पर उनका क्रोध शान्त हुआ। उन्होंने अपने लिए हुए निर्णय को रद्द किया और तुरंत इसकी सूचना सभी ग्रामों मे प्रसारित करवादी। भविष्य में ऐसी कोई घटना जागीर में घटित न हो, इसके लिए ठाकुर साहब से आश्वासन-वचन लिया गया। ठाकुर साहब ने स्वामी जी के विराजने तक शिकार का त्याग किया। भविष्य में शिकार के लिए बाजार-मार्ग से नहीं जाने की प्रतिज्ञा की। आप समय-समय पर व्याख्यान में भी पधारते रहे। अनेक मुख्य अवसरों पर कई प्रकार के धार्मिक नियमों (अकतों का, व्यापार-व्यवसाय बन्द रखने का) का जागीर में पालन करवाया। बाद में तो इतने प्रभावित हुए कि जब कभी स्वामी जी कहीं भी आसपास में विचरण कर रहे होते, आप दर्शनार्थ अवश्य जाते। आपकी इस परम्परा को आपकी भावी पीढ़ी ने भी बड़ी शालीनता से निभाया।

वि. सं. २०१७ में गुरुदेव स्वर्गीय स्वामी श्री चांदमल जी म. सा. का चातुर्मास अमरावती (महाराष्ट्र) में था। वहाँ स्थानक भवन के एक ओर ओसवाल समाज रहता था तो दूसरी ओर मुस्लिम समाज के घर थे। संवत्सरी की संध्या। प्रतिक्रमण प्रारम्भ हो चुका था। स्थानक का विशाल हॉल श्रावक-समुदाय से खचाखच भरा हुआ था। व्याख्यान-पट्ट पर पंडित रत्न श्री लालचंद जी म. सा. प्रतिक्रमण कर रहे थे। उनकी पीठ के ठीक पीछे एक खिड़की थी, जो मुस्लिम मोहल्ले में खुलती थी। जब मुनि श्री खड़े होकर सांवत्सरिक-कायोत्सर्ग कर रहे थे तभी किसी असामाजिक तत्त्व ने गुलेल से निशाना साधा जो खिड़की से होकर मुनिवर के लोच किए सिर में जा लगा। कायोत्सर्ग-समाप्ति पर मुनि-श्री ने सभी श्रावकों से बैठकर ही प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया, यह भी कह दिया कि पीछे से कुछ शरारती तत्त्व गुलेल से कंकड़ फैंक रहे हैं। प्रतिक्रमण कर रहे सभी श्रावक मुनि-श्री का आदेश पाकर बैठ गए तथा बैठे-बैठे ही प्रतिक्रमण करने लगे। संघपति श्री धनराज जी मुणोत के मन में हलचल मची। वे चुपचाप गुरुदेव के निकट पधारे। देखा तो कंकर था, पूछने पर मालूम हुआ—लगी भी है। पिछली खिड़की से आया है और संभवतः गुलेल से फेंका गया है। संघपति स्थानक से बाहर निकले, वे वृद्ध थे, उनके घुटनों में दर्द था। उन्हें बाहर निकलते व उस तरफ आते देख असामाजिक तत्त्व नौ-दो ग्यारह होने को हुए। आपने भी टिमटिमाते प्रकाश में उनकी ओर देखा, उन्हें भागने की तैयारी करते देख, आत्मबल को जगाया, साहस किया और स्वयं ने दौड़ लगाई। गुलेल सहित एक व्यक्ति हाथ आया। चेहरा देखा तो नामवर गुण्डा, सारे शहर में बदनाम पर आप कहाँ उसे छोड़ने वाले या स्वयं डरने वाले। प्रश्न धर्म का था, संघ का था अतः डरना तो मरने के बराबर ही था। आपने उसका गिरहबान पकड़ा और पीटते हुए उसे स्थानक तक लेकर आ गए। शहर का इतना नामी गुण्डा पर थर-थर काँप रहा था। संघपति श्री मुणोत जी ने पास के घर से रस्सी मंगवाई और उसे बिजली के खम्भे से बांध दिया और बोले "बुला अब तेरे गुण्डे साथियों को, देखें क्या करते हैं वे?"

उधर मुस्लिम मौहल्ले में सन्नाटा छा गया। कुछ देर बाद उसके वृद्ध माता-पिता वहाँ आए। उन्होंने संघपति के पांव पकड़ते हुए क्षमा मांगी। वचन दिया कि भविष्य में हमारे मोहल्ले से कोई भी किसी तरह की बुरी हरकत नहीं करेगा, तब कहीं संघपति ने उसके बन्धन खोलकर उसे छोड़ा। शेष चातुर्मास-अवधि अति शांति के साथ, धर्म-ध्यान की जागृति करते हुए व्यतीत हुई।

वर्तमान युग में बुजुर्गों के प्रति श्रद्धा, समाज से व उनके प्रतिनिधियों से भय एवं मनसा, वाचा, कर्मणा किसी से भी संकोच समाप्त-प्रायः है। ऐसी स्थिति में संघपतियों का दायित्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। संघ की एकता, संघपति का अनुशासन व बुद्धचातुर्य तथा आधुनिक वातावरण के अनुकूल संघ-संचालन-व्यवस्था आज अति आवश्यक है। प्राचीन युग में जनता का राज्य-सत्ता से भय था। बडे-से-बडा अधिकारी, अमीर एवं प्रभावी व्यक्ति से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति तक राज्य-सत्ता से भय खाते थे। राजाओं, राणाओं, बादशाहों की दण्ड-व्यवस्था अति कठोर होती थी। अंग्रेजों के शासन-काल में गोरे-अधिकारियों एवं सैनिकों, सिपाहियों का सर्वत्र आतंक था अतः साधारणतया असामाजिक तत्त्व सिर नहीं उठाते थे। आज जबकि हम स्वतंत्र हैं तब गुण्डों/असामाजिक तत्त्वों एवं भ्रष्ट-सत्ता से इतने भयभीत हैं कि न्याय का द्वार तक नहीं खटखटा सकते। न्याय का द्वार खटखटाने के लिए भी धन चाहिए, प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए और.............न जाने क्या-क्या चाहिए? इस पर भी न्याय मिलेगा ही, इसकी गारंटी कहाँ? हो सकता है वर्षों बाद जब न्याय चाहने वाला मृत्यु की गोद में पहुँच जाए तब न्याय मिले। उसे भी हम न्याय कैसे कहें, हाँ निर्णय कह सकते हैं। आज स्वतन्त्रता का अर्थ हो गया है, यदि आप कर सकें तो सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र हैं। राज्य या पुलिस का भय तो है पर उन लोगों को, जो शरीफ और सीधे-सादे हैं। आज तो लोगों के मन से जेल का भय भी हट गया है। व्यक्ति चाहे तो धन के बल पर, सिफारिशों के बल पर अथवा अपनी शक्ति-सामर्थ्य (गुण्डागर्दी) के बल पर जेल में भी 'पाँच-सितारा हॉटल' के समान सुविधाएँ जुटा सकता है।

इतिहास के जिन धूमिल पृष्ठों को यहाँ उजागर किया गया है, उसका उद्देश्य किसी तरह की भावनाओं को भड़काना नहीं है अपितु वर्तमान के बदलते परिवेश में संघ-समाज को जागृत बनाने की दृष्टि से यह कार्य किया गया है। आज जो घटनाएँ जगह-जगह घटित हो रही हैं, निश्चय ही वे शर्म-नाक व दर्दनाक हैं। कहीं किसी साध्वी को धमकी-भरे पत्र लिखे जा रहे हैं, कहीं साध्वियों के साथ छेड़छाड़ (तखतगढ़ व चित्तौड़गढ़ के निकट) की घटनाएँ हो रही हैं और कहीं साधु-वर्ग पर प्रहार की चेष्टाएँ हो रही हैं। अखबार घटनाओं को प्रकाश में लाते हैं पर असामाजिक तत्त्वों का कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ पा रहा है। राज्यसत्ता, कार्यपालिका और न्यायपालिका तो खैर कुछ नहीं कर पाती पर समाज, संघ ......? यदि अब भी संघपति, संघ के कार्यकारी-सदस्य एवं विशिष्ट-जन नहीं चेते, कुंभकर्णी-नींद ही लेते रहे तो भविष्य निश्चय ही अंधकारमय बनने की संभावना है।

* * *

दूरगामी प्रभाव का मूल्यांकन कर ठाकुर साहब कांप उठे। व्यापार-व्यवसाय का ठप्प होना रियासत को भयंकर आर्थिक संकट में फंसा देगा। नए व्यापारी जब तक बसेंगे और व्यापार प्रारम्भ कर विकसित होंगे, तब तक जागीर जर्जर हो जाएगी अतः क्षमा मांग लेना ही एकमात्र रास्ता था।

ठाकुर साहब तत्काल स्वामी श्री सूर्यमल जी म. सा. की सेवा में पहुँचे। अपनी त्रुटि के लिए हार्दिक क्षमायाचना की। संघपति एवं कामदार भी पहुँचे। ठाकुर साहब के क्षमा मांगने पर उनका क्रोध शान्त हुआ। उन्होंने अपने लिए हुए निर्णय को रद्द किया और तुरंत इसकी सूचना सभी ग्रामों मे प्रसारित करवादी। भविष्य में ऐसी कोई घटना जागीर में घटित न हो, इसके लिए ठाकुर साहब से आश्वासन-वचन लिया गया। ठाकुर साहब ने स्वामी जी के विराजने तक शिकार का त्याग किया। भविष्य में शिकार के लिए बाजार-मार्ग से नहीं जाने की प्रतिज्ञा की। आप समय-समय पर व्याख्यान में भी पधारते रहे। अनेक मुख्य अवसरों पर कई प्रकार के धार्मिक नियमों (अकतों का, व्यापार-व्यवसाय बन्द रखने का) का जागीर में पालन करवाया। बाद में तो इतने प्रभावित हुए कि जब कभी स्वामी जी कहीं भी आसपास में विचरण कर रहे होते, आप दर्शनार्थ अवश्य जाते। आपकी इस परम्परा को आपकी भावी पीढ़ी ने भी बड़ी शालीनता से निभाया।

वि. सं. २०१७ में गुरुदेव स्वर्गीय स्वामी श्री चांदमल जी म. सा. का चातुर्मास अमरावती (महाराष्ट्र) में था। वहाँ स्थानक भवन के एक ओर ओसवाल समाज रहता था तो दूसरी ओर मुस्लिम समाज के घर थे। संवत्सरी की संध्या। प्रतिक्रमण प्रारम्भ हो चुका था। स्थानक का विशाल हॉल श्रावक-समुदाय से खचाखच भरा हुआ था। व्याख्यान-पट्ट पर पंडित रत्न श्री लालचंद जी म. सा. प्रतिक्रमण कर रहे थे। उनकी पीठ के ठीक पीछे एक खिड़की थी, जो मुस्लिम मोहल्ले में खुलती थी। जब मुनि श्री खड़े होकर सांवत्सरिक-कायोत्सर्ग कर रहे थे तभी किसी असामाजिक तत्त्व ने गुलेल से निशाना साधा जो खिड़की से होकर मुनिवर के लोच किए सिर में जा लगा। कायोत्सर्ग-समाप्ति पर मुनि-श्री ने सभी श्रावकों से बैठकर ही प्रतिक्रमण करने का निर्देश दिया, यह भी कह दिया कि पीछे से कुछ शरारती तत्त्व गुलेल से कंकड़ फैंक रहे हैं। प्रतिक्रमण कर रहे सभी श्रावक मुनि-श्री का आदेश पाकर बैठ गए तथा बैठे-बैठे ही प्रतिक्रमण करने लगे। संघपति श्री धनराज जी मुणोत के मन में हलचल मची। वे चुपचाप गुरुदेव के निकट पधारे। देखा तो कंकर था, पूछने पर मालूम हुआ—लगी भी है। पिछली खिड़की से आया है और संभवतः गुलेल से फेंका गया है। संघपति स्थानक से बाहर निकले, वे वृद्ध थे, उनके घुटनों में दर्द था। उन्हें बाहर निकलते व उस तरफ आते देख असामाजिक तत्त्व नौ-दो ग्यारह होने को हुए। आपने भी टिमटिमाते प्रकाश में उनकी ओर देखा, उन्हें भागने की तैयारी करते देख, आत्मबल को जगाया, साहस किया और स्वयं ने दौड़ लगाई। गुलेल सहित एक व्यक्ति हाथ आया। चेहरा देखा तो नामवर गुण्डा, सारे शहर में बदनाम पर आप कहाँ उसे छोड़ते वाले या स्वयं डरने वाले। प्रश्न धर्म का था, संघ का था अतः डरना तो मरने के बराबर ही था। आपने उसका गिहरबान पकड़ा और पीटते हुए उसे स्थानक तक लेकर आ गए। शहर का इतना नामी गुण्डा पर थर-थर काँप रहा था। संघपति श्री मुणोत जी ने पास के घर से रस्सी मंगवाई और उसे बिजली के खम्भे से बांध दिया और बोले "बुला अब तेरे गुण्डे साथियों को, देखें क्या करते हैं वे ?"

उधर मुस्लिम मोहल्ले में सन्नाटा छा गया। कुछ देर बाद उसके वृद्ध माता-पिता वहाँ आए। उन्होंने संघपति के पाँव पकड़ते हुए क्षमा मांगी। वचन दिया कि भविष्य में हमारे मोहल्ले से कोई भी किसी तरह की बुरी हरकत नहीं करेगा, तब कहीं संघपति ने उसके बन्धन खोलकर उसे छोड़ा। शेष चातुर्मास-अवधि अति शांति के साथ, धर्म-ध्यान की जागृति करते हुए व्यतीत हुई।

वर्तमान युग में बुजुर्गों के प्रति श्रद्धा, समाज से व उनके प्रतिनिधियों से भय एवं मनसा, वाचा, कर्मणा किसी से भी संकोच समाप्त-प्राय: है। ऐसी स्थिति में संघपतियों का दायित्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। संघ की एकता, संघपति का अनुशासन व बुद्धचातुर्य तथा आधुनिक वातावरण के अनुकूल संघ-संचालन-व्यवस्था आज अति आवश्यक है। प्राचीन युग में जनता का राज्य-सत्ता से भय था। बडे-से-बडा अधिकारी, अमीर एवं प्रभावी व्यक्ति से लेकर छोटे-से-छोटे व्यक्ति तक राज्य-सत्ता से भय खाते थे। राजाओं, राणाओं, बादशाहों की दण्ड-व्यवस्था अति कठोर होती थी। अंग्रेजों के शासन-काल में गोरे-अधिकारियों एवं सैनिकों, सिपाहियों का सर्वत्र आतंक था अत: साधारणतया असामाजिक तत्त्व सिर नहीं उठाते थे। आज जबकि हम स्वतंत्र हैं तब गुण्डों/असामाजिक तत्त्वों एवं भ्रष्ट-सत्ता से इतने भयभीत हैं कि न्याय का द्वार तक नहीं खटखटा सकते। न्याय का द्वार खटखटाने के लिए भी धन चाहिए, प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए और..........न जाने क्या-क्या चाहिए? इस पर भी न्याय मिलेगा ही, इसकी गारंटी कहाँ? हो सकता है वर्षों बाद जब न्याय चाहने वाला मृत्यु की गोद में पहुँच जाए तब न्याय मिले। उसे भी हम न्याय कैसे कहें, हाँ निर्णय कह सकते हैं। आज स्वतन्त्रता का अर्थ हो गया है, यदि आप कर सकें तो सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र हैं। राज्य या पुलिस का भय तो है पर उन लोगों को, जो शरीफ और सीधे-सादे हैं। आज तो लोगों के मन से जेल का भय भी हट गया है। व्यक्ति चाहे तो धन के बल पर, सिफारिशों के बल पर अथवा अपनी शक्ति-सामर्थ्य (गुण्डागर्दी) के बल पर जेल में भी 'पाँच-सितारा हॉटल' के समान सुविधाएँ जुटा सकता है।

इतिहास के जिन धूमिल पृष्ठों को यहाँ उजागर किया गया है, उसका उद्देश्य किसी तरह की भावनाओं को भड़काना नहीं है अपितु वर्तमान के बदलते परिवेश में संघ-समाज को जागृत बनाने की दृष्टि से यह कार्य किया गया है। आज जो घटनाएँ जगह-जगह घटित हो रही हैं, निश्चय ही वे शर्मनाक व दर्दनाक हैं। कहीं किसी साध्वी को धमकी-भरे पत्र लिखे जा रहे हैं, कहीं साध्वियों के साथ छेड़छाड़ (तखतगढ़ व चित्तौड़गढ़ के निकट) की घटनाएँ हो रही हैं और कहीं साधु-वर्ग पर प्रहार की चेष्टाएँ हो रही हैं। अखबार घटनाओं को प्रकाश में लाते हैं पर असामाजिक तत्त्वों का कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ पा रहा है। राज्यसत्ता, कार्यपालिका और न्यायपालिका तो खैर कुछ नहीं कर पाती पर समाज, संघ ......? यदि अब भी संघपति, संघ के कार्यकारी-सदस्य एवं विशिष्ट-जन नहीं चेते, कुंभकर्णी-नींद ही लेते रहे तो भविष्य निश्चय ही अंधकारमय बनने की संभावना है।

* * *

परमार-कालीन मालवा में जैनधर्म

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

मालवा में जब परमारों का राज्य रहा तब देश के दूसरे भागों में विभिन्न राजवंश राज करते थे। पर उनमें परमार राजवंश ही विशेष ख्याति अर्जित कर सका। यह अपनी उदात्त गुण-गरिम परम्परा के कारण ही संभव हो सका। यहाँ तक कि शत्रु राजा भी इस वंश में उत्पन्न मुंज, भोज की बराबरी करने की कामना करते थे। इस वंश में उत्पन्न राजा न केवल स्वयं विद्यानुरागी थे अपितु विद्वानों के आश्रयदाता भी थे। सच्चे विद्यानुरागी होने से उनका चित्त भी उदार हो गया था। समस्त ज्ञानधाराओं का सन्मान करते थे। विविध धर्मों, दर्शनों को जानने के लिए वे लालायित रहते थे। इसी जिज्ञासावृत्ति के कारण वे विद्वानों का यथोचित सन्मान कर सके और यह समन्वय-बुद्धि पा सके। उनकी दृष्टि में हर धर्म-सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट महत्त्व था और इसलिए सभी आदरणीय थे—

> श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, कर्त्तव्यः पुनराहंतः।
> वैदिको व्यवहर्तव्यो, ध्यातव्यः परमः शिवः॥

ऐसी महान् उद्घोषणा भोज के अतिरिक्त और कभी किसी ने नहीं की। अकबर के दीन-ए-इलाही से पाँच सौ वर्ष पूर्व राजा भोज ने धार्मिक समन्वय का यह अनूठा उदाहरण पेश किया था। फरिश्ता लिखता है कि भोज हर छः माह में एक चालीस दिवसीय उत्सव मनाता था, जिसमें देश के कोने-कोने से विद्वानों को आमन्त्रित किया जाता था। उनका सन्मान किया जाता था। विद्वानों को वस्त्र, धन इत्यादि प्रदान किये जाते थे।

उसी राजवंश के शासनकाल में जैनधर्म का भी पर्याप्त पल्लवन हुआ। जैन विद्वानों का इस युग में आदर किया गया। उन्हें ग्रन्थ रचने के लिए प्रेरित किया गया। एक परम्परा के अनुसार ज्ञानार्णव का रचयिता शुभचंद्र, भोज का भाई था। भोज, भर्तृहरि और शुभचंद्र तीनों भाई थे। सम्भव है इसी कारण भोज का जैन-परम्परा से अनुराग रहा हो।

पर मुंज के युग में भी तो जैनों को आश्रय मिला था। धनपाल, अमितगति इत्यादि मुंज कालीन ही समर्थ ग्रंथकार थे जिन्होंने अपनी कालजयी कृतियों से भोज के युग तक अनवरत सर्जना की। अमितगति ने सुभाषित रत्न संदोह, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, आराधना, उपासकाचार, सामायिक पाठ, भावना-

द्वात्रिंशिका इत्यादि ग्रन्थ रचे। श्रीपाल की रची रतलाम के निकट के गाँव बिलपांक में प्रशस्ति प्राप्त होती है। धारावासी श्रीचंद ने संवत् १०८० में पुराणसार रचा और पुष्पदन्त के उत्तरपुराण पर टीका रची। इन्होंने १०८७ संवत् में पद्मचरित रचा और शिवकोटि की भगवती-आराधना पर टिप्पणी भी लिखी। ९३३ ई. में धार में रहकर देवसेन ने दर्शनसार की रचना की। इनके आलापपद्धति, नयचक्र, तत्त्वसार, आराधनासार इत्यादि ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। मुंज तथा सिंधुराज द्वारा सेवित आचार्य महासेन ने ग्यारहवीं शती के मध्य प्रद्युम्न-चरित रचा। आचार्य माणिक्यनन्दी ने परीक्षामुख न्यायसूत्र रचा। इनके शिष्य नयनन्दी ने संवत् ११०० में भोज के समय सुदंसण चरिउ रचा और प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका लिखी। धनपाल ने 'तिलक-मंजरी' के साथ ही जैनधर्म संबंधी अनेक स्तुतियाँ भी रची थीं। 'पारिजात-मंजरी' के रचयिता मदन कवि का गुरु आशाधर था। यह माण्डव के पास नालछा में रहता था। इसने कई ग्रन्थों की रचना की थी। कुछ ग्रंथ ज्ञात हैं जैसे—प्रमेयरत्नाकर, भारतेश्वराभ्युदय, धर्मामृतशास्त्र, राजीमतीविप्रलम्भ, अध्यात्मरहस्य, नित्यमहोद्योत, मूलाराधना की टीका, इष्टोपदेश की टीका, चतुर्विंशतिस्तव की टीका, सहस्रनामस्तवसटीक, जिनमतकल्प सटीक, त्रिषष्टि स्मृति, रत्नत्रयविधान, अष्टांगहृदयोद्योत इत्यादि।

राजा भोज के शासनकाल में कई जैन साधु राजधानी धारा में आकर ठहरते थे। वे भोज की अध्यक्षता में शास्त्रार्थ भी करते थे। इन साधुओं का राज्य की ओर से सम्मान किया जाता था। इन्हें निर्माण-कार्यों की प्रगति से भी अवगत कराया जाता था। प्रभावकचरित के अनुसार गुजरात से आए जैन साधु सूराचार्य को भोज ने नवनिर्मित नगरी के दर्शन करवाए। साधु चल-चलकर थक गए। पूरे नगर में चौबीस हाट थे। उन्होंने पूछा—एक से ही काम चल जाता। इतने बाजार बनवाने से क्या फायदा ? लोगों को अधिक भटकना नहीं पड़ता तथा सारी वस्तुएँ एक ही जगह मिल जातीं। तब राजा भोज ने उत्तर दिया था—विभिन्न वस्तुओं के ग्राहकों का एक स्थान पर मिलना ठीक नहीं। इसीलिए अलग-अलग बाजार बनवाए। इस नगरी में चौरासी चौराहे तथा उन पर उतने ही देवालय रहे। इस नगरी में चौरासी प्रासाद थे। परमार-युग के कुछ अन्य जैन ग्रन्थकारों की चर्चा भी प्राप्त होती है। चंद्रकीर्ति सूरि ने 'सारस्वत-व्याकरण' पर टीका लिखी। जिनकुशल सूरि ने 'चैत्यवंदन कुलवृत्ति' रची। १२वीं सदी में जिनदत्त सूरि हुए। जिनप्रभ सूरि ने 'द्वयाश्रम' काव्य रचा। धर्मसूरि ने 'साहित्यरत्नाकर' लिखा। नेमिचन्द्र ने 'द्रव्यसंग्रह' लिखा। दसवीं सदी के नेमिचंद्र ने गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार; प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, प्रकाशवर्ष रसार्णव; भद्रेश्वरसूरि ने दीपकग्रन्थ; मानतुंगाचार्य ने भक्तामर-स्तोत्र रचा। धनपाल के भाई शोभन ने चतुर्विंशिका-स्तुति रची। इस काल के वादिवेताल शांतिसूरि, सूराचार्य आदि भी प्रसिद्ध हैं। धनपाल ने तिलकमंजरी के अतिरिक्त प्रधानक चरित्र, प्राकृत लक्ष्मी तथा ऋषभ पंचाशिका भी लिखी।

परमार-युग में धार तथा उज्जैन में कई जैन मन्दिर व उपाश्रय थे। मालवा के गाँव-गाँव, नगर-नगर से प्राप्त होती विपुल मूर्ति-संपदा से स्पष्ट है कि उस काल में पूरे मालवा में पर्याप्त जैन प्रतिमाएँ बनीं, मन्दिर बने। इन प्रतिमाओं की चर्चा भोज ने अपने समरांगणसूत्रधार में भी की है। भोज ने विविध जैन देवी-देवताओं के लक्षण भी दिए हैं। इस काल की विभिन्न तीर्थंकर, विद्यादेवी, यक्ष,

यक्षिणी, शासनदेवी, क्षेत्रपाल, दिक्पाल, नवग्रह आदि की पाषाण व धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। देवसेन के दर्शनसार के अनुसार धारा नगरी में पार्श्वनाथ का मन्दिर संवत् ६६० में था। वर्धमानपुर (वदनावर) में शांतिनाथ का मन्दिर था। यहाँ से संवत् १२२९ की एक शासनदेवी की प्रतिमा मिली है।

धार, उज्जैन, भोजपुर, गंधावल, वदनावर, विदिशा, दशपुर, नेयावर, मक्सी, आशापुरी, पचोर, जामनेर, करेड़ी, आष्टा, झारड़ा, सुन्दरसी, करोहन, नागदा (देवास), उंडासा, जैथल इत्यादि विभिन्न स्थानों से जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इस काल की जैन प्रतिमाओं में ध्यानमग्न अंकन तथा शरीर के निर्माण में विशेष आनुपातिकता का ध्यान रखा गया है। ऐसी विभिन्न प्रतिमाओं का संग्रह उज्जैन के जयसिंहपुरा-संग्रहालय में देखा जा सकता है।

भोजपुर में २० फीट ऊँची आदिनाथ की प्रतिमा परमार-शिल्प का प्रतिनिधित्व करती है। नरवर्मा के शासनकाल में यहाँ ११५७ संवत् में तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित की गई थी। गंधावल में अनेक मूर्तियाँ हैं। यहाँ शांतिनाथ, सुमतिनाथ, सुविधिनाथ व विद्यादेवी, सुतरा यक्षिणी व गोमेधयक्ष विशेष कलात्मक हैं। देवास के पास नागदा से पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा एक खेत से प्राप्त हुई है। करेड़ी से १२४२ संवत् की चक्रेश्वरी की प्रतिमा मिली थी। वदनावर से एक चौमुखी प्रतिमा मिली, जिसमें क्रमशः आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ अंकित हैं। वहीं से अश्वारूढ अच्छुम्ना देवी की प्रतिमा भी प्राप्त हुई है। झारड़ा की दो शासनदेवियों पर संवत् ११२६ और संवत् १२२६ अंकित है। ग्यारसपुर, बड़ोद, बूढ़ीपटार, विदिशा, बडवानी इत्यादि विभिन्न स्थलों पर जैन देवी-देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं।

इनमें से बहुधा प्रतिमाओं के पादपीठ पर लेख खुदे हैं। इनसे उस युग को जानने में बड़ी मदद मिलती है। इसके अतिरिक्त कई स्वतंत्र जैन लेख भी प्राप्त होते हैं।

परमार-युग में आशाधर का विशेष सम्मान था। इसकी विस्तृत शिष्यमंडली में वह मदन कवि भी था जिसने अर्जुनवर्मा की प्रशस्ति में 'पारिजात मंजरी' नाटिका रची थी। इस युग में कई शासनाधिकारी जैन मतावलम्बी थे। तब से व्यापार-व्यवसाय में भी इन जैनों का विशेष योगदान रहा।

—उज्जैन (म. प्र.)

सतरहवीं शती के स्थानकवासी जैन कवि

पंडित श्री दलसुख मालवणिया

जैनधर्म के जितने भी सम्प्रदाय हैं उनकी उत्पत्ति के मूल में आचार की कठोरता का आग्रह रहा हुआ है। दार्शनिक मतभेद को लेकर ये सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हुए। स्थानकवासी सम्प्रदाय के मूल[1] लोंकाशाह (सं. १५०८) माने जाते हैं। लोंकाशाह ने भी कोई दार्शनिक मतभेद खड़ा किया हो—यह ज्ञात नहीं। आचार के विषय में ही मतभेद थे। मूर्तिपूजा करना या नहीं करना—इसी मतभेद को लेकर स्थानकवासी (अमूर्तिपूजक) सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इस सम्प्रदाय ने आगमों की संस्कृत टीकाओं का बहिष्कार किया। परिणाम यह हुआ कि जैन-विचार और आचार दोनों विषय की जैन-विरासत से वंचित रहे। संस्कृत टीका के बहिष्कार तक ही स्थिर रहते तब भी कुछ हाथ लगता। किन्तु संस्कृत-भाषा के पठन-पाठन का भी बहिष्कार हुआ। परिणाम यह हुआ कि केवल कठोर आचार ही रहा, ज्ञान के नाम पर शून्यावकाश रहा। परिणाम स्पष्ट है कि लोंकाशाह के बाद स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य या साधु ने कोई ग्रन्थ निर्मित किया हो—यह ज्ञात नहीं। जब तक यह स्थिति रही ग्रन्थ-निर्माण हुआ नहीं। जब संस्कृत-विद्या के द्वार मुनियों के लिए खुल गए उसके बाद ही ग्रन्थ-निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई।

फिर भी अपवाद तो है ही, मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" लिखा है। उसमें कई लोंकागच्छ के कविओं के विषय में परिचय दिया है। उससे ज्ञात होता है कि इन कविओं ने प्राचीन गुर्जर-भाषा में ही रचनाएँ की हैं। किसी ने प्राकृत या संस्कृत में रचना नहीं की। मैंने 'लोंका के सद्दहिया ५८ बोल' संपादित करके छापा है। वह भी प्राचीन गुर्जर भाषा में ही है।

यहाँ जै. सा. स. इतिहास में निर्दिष्ट कुछ लोंकागच्छीय कविओं का संग्रह किया जाता है, जिससे जिज्ञासुओं को पता लगेगा कि लोंकाशाह (सं. १५०८) से लेकर रूपमुनि तक (सं. १८५६-१८८०) कौन-कौन कवि कब हुए। यहाँ उनकी कृति के विषय में कुछ नहीं कहना है। केवल गुर्जर कविओं का परिचय देकर संतोष करना है।

लोंकाशाह के अनुयायी अपने को ढूंढिया कहते थे (जै. सा. सं. इ. पृ. ५७८)। उन ढूंढियों में आगे

१. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास—पृष्ठ ५०६

चलकर स्थानकवासी नाम प्रचलित हुआ। (वही पृ. ५०६) श्री देसाई का कहना है कि उनका सम्प्रदाय गुजराती बालावबोध की रचना पर टिका हुआ है। (वही पृ. ५०६) अर्थात् पुरानी कृतियों के आधार पर स्थानकवासी सम्प्रदाय वालों ने बालावबोध की रचना मुख्य रूप से की है। यह उनका अभिप्राय है और उसका आधार उनके द्वारा किया गया स्थानकवासी-कृत कृतिओं का निरीक्षण है।

अब यहाँ कविओं की सूची देने का प्रयत्न है। इन सभी ने प्राचीन गुर्जर-भाषा में ही लिखा है—यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

१. धर्मसिंह

धर्मसिंह ने स्थानकवासियों में 'दरियापुरी सम्प्रदाय' की स्थापना की सं. १६६५ में और उन्होंने २७ सूत्रों के गुजराती भाषा में 'टवे' अर्थात् बालावबोधों की रचना की। ऐसा श्री वा. मा. शाह ने लिखा है। यह रचना सं. १७२८ से पूर्व धर्मसिंह ने की थी। (वही पृ ६६२) उन्होंने टवों के अलावा समवायांग, 'व्यवहार सूत्रों की 'हुंडी' भी लिखी। पन्नवणा-ठाणांग-रायपसेणीय-जीवाभिगम-जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के 'यन्त्रो' की भी रचना की। यहाँ यन्त्रों से तात्पर्य संक्षेप में तालिका से है। इसके अलावा द्रौपदी तथा सामायिक की चर्चा भी की, साधु-समाचारी की रचना भी की और चन्द्रप्रज्ञप्ति की टीप भी लिखी। (वही पृ. ६०५ और पृ. ६६२) इन ग्रंथों की हस्तप्रतियाँ कहाँ हैं यह जानना जरूरी है।

धर्मसिंह के टवों की हस्तप्रति के शोध के लिए मैंने काफी प्रयत्न किया है। हमारे ला. द. विद्यामन्दिर के संग्रह में ७०,००० हस्तप्रतियाँ हैं किन्तु धर्मसिंह के टवों की नकलों का पता नहीं चला। अभी-अभी मैं देहली गया था। वहाँ के श्री वल्लभ-स्मारक के भण्डार में एक हस्तप्रति धर्मसिंह के टवे की विद्यमान है।

२. भीमऋषि

सं. १६३२-१६३६। ये भावसार थे। मुनि होने के बाद ऋषि कहलाए। श्रावक-अवस्था में भी सं. १६२१ में उन्होंने गुर्जर-भाषा में 'श्रेणिकरास' खण्ड १ लिखा था। और खण्ड २ को सं. १६३२ में लिखा था। (जैन गुर्जर कविओं—भाग ३ पृ ७०५) और तृतीय खण्ड सं. १६३६ में लिखा। (वही पृ. ७०७) उन्होंने ही नागलकुमार, नागदत्त नो रास सं. १६३२ में लिखा। (वही पृ. ७०७)।

३. परमा मुनि

परमामुनि ने सं. १६४८ में प्रभावती चौपाई की रचना की है—जै. गु. क. पृ. ७६१।

४. **धर्मदास**—ने सं. १६५२ में जसवन्तमुनि नो रास लिखा। (वही पृ. ८१६)

५. **नानजी**—ने पंचवरण-स्तवन सं. १६६६ में लिखा है— वही–पृ. ६५६। और सं. १६७२ में नेमिस्तवन लिखा है।

६. **ज्ञानदास**—नानजी के शिष्य ज्ञानदास ने सं. १६२३ में यशोधर-रास की रचना की है। (वही पृ. ६५८)

७. **प्रेममुनि**—ने सं. १६६१ में द्रौपदी-रास की रचना की है—(वही पृ. १०५५)।

—अहमदाबाद (गुजरात)।

प्राचीन जैनाचार्य और उनका दार्शनिक साहित्य

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

आचार्य कुन्दकुन्द

जैन दार्शनिक साहित्य का क्रमवद्ध इतिहास ईसा की प्रथम शताव्दी से प्रारम्भ होता है। इस शताब्दी में कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए। इनका समय विक्रम की तीसरी शताव्दी का है। इनका नाम पद्मनन्दि था। किन्तु अपने जन्म-स्थान कुन्दकुन्दपुर के नाम पर ये आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से ही ख्यात हैं। ये मूल संघ के अग्रणी थे जो दिगम्बर-आम्नाय का ही एक उपनाम है। उनके ग्रन्थ दिगम्बर आम्नाय में आगम-ग्रंथों के समान ही प्रमाण माने जाते हैं। प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक ग्रंथ उनके बनाए हुए हैं। इनके शुरू के तीन ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे वेदान्त-दर्शन में उपनिषद, भगवद् गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रस्थान-त्रयी कहते हैं वैसे ही जैन दर्शन में प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयसार नाटक-त्रयी के नाम से ख्यात हैं।

प्रवचनसार में तीन अधिकार हैं—ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चारित्राधिकार। ज्ञानाधिकार में सबसे प्रथम तो यह बतलाया है कि शुद्धात्मा के इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और सुख होता है। ज्ञान और सुख दोनों, आत्मा के स्वभाव हैं। सुख का कारण न तो शरीर ही है और न इन्द्रियों के विषय ही। इन्द्रिय-सुख यथार्थ में सुख नहीं है किन्तु दुःख ही है। सुख ज्ञान से अभिन्न है। इन्द्रिय-सुख का कारण इन्द्रिय-ज्ञान है और अतीन्द्रिय-सुख का कारण अतीन्द्रिय-ज्ञान है। इन्द्रिय-ज्ञान हेय है और अतीन्द्रिय-ज्ञान उपादेय है। इन्द्रिय-ज्ञान अक्ष-निपतित अर्थ को ही जानता है अत. वह अतीत-अनागत को नहीं जान सकता। किन्तु अतीन्द्रिय-ज्ञान में सब को जानने की सामर्थ्य है। अतीन्द्रिय-ज्ञान क्षायिक है, नित्य है और व्यापक है। अतः वह त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती नाना प्रकार के सब पदार्थों को युगपत् जानता है।

आत्मा और ज्ञान के भेदाभेद की चर्चा करते हुए लिखा है कि ज्ञान आत्मा है क्योंकि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं पाया जाता। अतः ज्ञान आत्म-स्वरूप है, किन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अन्य गुण रूप भी है। क्योंकि आत्मा अनन्त-गुणों का भण्डार है। अब चूंकि आत्मा और ज्ञान एक हैं अतः आत्मा

ज्ञान प्रमाण है। जितना बडा ज्ञान होता है उतना बडा आत्मा होता है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होता है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है अतः ज्ञान सर्वगत है और ज्ञान की अपेक्षा आत्मा भी सर्वगत है। यदि आत्मा को ज्ञान-प्रमाण नहीं माना जाता तो या तो आत्मा ज्ञान से छोटा हुआ अथवा ज्ञान से बडा हुआ। यदि वह ज्ञान से छोटा है तो आत्मा से बाहर का ज्ञान अचेतन हो जाएगा, तब वह कैसे जानेगा ? और यदि वह ज्ञान से बड़ा है तो बिना ज्ञान के वह कैसे किसी को जान सकेगा ? इस तरह ज्ञान को आत्म-प्रमाण और आत्मा को ज्ञान-प्रमाण सिद्ध करके आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने उसे सर्वज्ञ सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जो सबको नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता और जो एक को नहीं जानता वह सब को नहीं जानता।

इस तरह ज्ञान की बहुत ही सुन्दर चर्चा करके आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो भेद किए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जो पर की सहायता से पदार्थों का ज्ञान होता है वह परोक्ष है। और जो केवल जीव के द्वारा ही पदार्थ-ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान अवग्रह-ईहा आदि क्रमिक ज्ञानों से रहित होता है।

ज्ञानाधिकार की तरह दूसरा ज्ञेयाधिकार भी महत्त्वपूर्ण चर्चाओं से ओतप्रोत है। इसमें सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय की बहुत ही मनोहर चर्चा है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित हो तथा गुण और पर्याय वाला हो वह द्रव्य है। द्रव्य स्वभाव-सिद्ध है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य रूप परिणाम के होते हुए भी वह स्वभाव से सत् और अवस्थित है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर में अविनाभाव है। बिना उत्पाद के विनाश नहीं, बिना विनाश के उत्पाद नहीं और बिना ध्रौव्य के उत्पाद-विनाश नहीं। किन्तु उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य पर्यायों में रहते हैं और पर्याय द्रव्य में होती है अतः सब द्रव्य रूप ही हैं। इसी तरह स्वयं द्रव्य ही एक गुण से अन्य गुण रूप परिणमन करता है अतः गुण और पर्याय भी द्रव्य रूप ही हैं। तथा द्रव्य सत्स्वरूप है। द्रव्य सत् है, गुण सत् है, पर्याय सत् है यह सब सत्ता का ही विस्तार है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्याय में भेदाभेद का विवेचन सयुक्तिक और सुन्दर शैली में करके जैन-दर्शन की अनुपम देन सप्तभंगी के अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य और उभय—इन चार भंगों का उल्लेख मात्र किया है। इसके आगे द्रव्य के भेद—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का वर्णन करते हुए जीव और कर्म के सम्बन्ध का तथा जीव के कर्तृत्व का विचार किया है।

लिखा है—न तो यह आत्मा पुद्गल है और न इस आत्मा ने पुद्गलों को पिण्ड रूप किया है अतः न तो आत्मा देह रूप है और न देह का कर्त्ता है। किन्तु स्निग्ध-गुण और रूक्ष-गुण के निमित्त से परमाणु स्वयं ही पिण्ड रूप हो जाते हैं। अतः आत्मा पुद्गल-पिण्ड रूप कर्म का कर्त्ता नहीं है। आत्मा तो अपने राग-द्वेष रूप भावों को करता है। उन भावों का निमित्त पाकर पुद्गल-कर्म-वर्गणाएँ कर्म रूप होकर आत्मा से बद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम बन्ध है।

---

१. इनके विशेष परिचय के लिए 'जीवराज ग्रंथमाला' शोलापुर से प्रकाशित कुन्दकुन्द प्रा. संग्रह की प्रस्तावना पढ़ना चाहिए।

इस तरह बन्ध का निरूपण करके उससे छूटने का उपाय भी उसी के साथ बतला दिया है। लिखा है—जो शुद्ध आत्म-स्वरूप को जानकर उसी का ध्यान करता है वह मोह की ग्रन्थि को नष्ट कर देता है। मोह की ग्रन्थि के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष को छोड़कर जब आत्मा सुख-दुःख में समबुद्धि हो जाता है तो अक्षय-सुख को प्राप्त कर लेता है। अक्षय-सुख की प्राप्ति ही ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा का निचोड़ है। यही प्राप्तव्य है। उसी की प्राप्ति के लिए मनुष्य श्रमण होने की इच्छा करता है और श्रमण होकर उसकी साधना करता है। श्रमण की इस साधना का वर्णन तीसरे चारित्राधिकार मे है।

दूसरे पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ में भी तीन ही अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में पांच अस्तिकायों का वर्णन है। इसका विषय यद्यपि प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार से मिलता हुआ है किन्तु कई दृष्टियों से उससे विशिष्ट है। दूसरे अधिकार में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नव पदार्थों का वर्णन है और तीसरे में मोक्ष-मार्ग का कथन है।

तीसरा समयसार नामक ग्रंथ तो अध्यात्म का एक महानद ही है। 'समय' नाम आत्मा का है। आत्मा का सार यानी शुद्धावस्था का वर्णन इस ग्रंथ में है। इसको प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने समय के दो भेद किए हैं—स्व समय और पर समय। जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप स्वभाव में स्थित है वह स्व-समय है और जो आत्मा कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले पर-भाव में स्थित है वह पर समय है। इन दोनों में से अपने शुद्ध गुण-पर्याय-रूप परिणत आत्मा ही उपादेय है। उस आत्मा के कर्म-बंधन से बद्ध होने की कथा विसंवाद पैदा करती है अतः वह सत्य नहीं है। सत्य तो एक शुद्ध आत्म तत्त्व ही है। किन्तु उससे सब लोग अपरिचित हैं, उन्होंने न तो कभी उसको सुना ही है और न उसका अनुभव ही किया है। वे तो बस, काम-भोग में ही मस्त हैं उसे ही जीवन का सार समझते हैं। अतः इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने उस शुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन कराने का ही भरसक प्रयत्न किया है।

जैनदर्शन में वस्तुतत्त्व का विवेचन दो दृष्टियों से किया जाता है—एक निश्चयनय से और एक व्यवहारनय से। निश्चयनय वस्तु के पर-निरपेक्ष असली स्वरूप को ग्रहण करता है और व्यवहारनय पर-सापेक्ष को। जैसे मिट्टी के घड़े में घी भरा होने से उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है और मिट्टी का घड़ा कहना यथार्थ है। जो यथार्थग्राही है, वही निश्चय है अतः निश्चयनय की दृष्टि से वस्तु-तत्त्व अभेद रूप है। किन्तु अभेद रूप तत्त्व का प्रतिपादन करना शक्य नहीं है। प्रतिपादन करने से वह तत्त्व अभेद रूप न रहकर भेद रूप प्रतीत होता है, जो यथार्थ नहीं है। किन्तु बिना प्रतिपादन किए दूसरे को समझाया नहीं जा सकता। जैसे, 'आत्मा' कहने मात्र से दूसरा नहीं समझ सकता कि आत्मा क्या वस्तु है? किन्तु यदि कहा जाय कि जो जानता, देखता है वह आत्मा है तो दूसरा झट समझ जाता है। अतः निश्चय अभेदग्राही है और व्यवहार भेदग्राही है। इसी से निश्चय यथार्थ है और व्यवहार अयथार्थ। किन्तु बिना व्यवहारनय की सहायता के परमार्थ का उपदेश नहीं हो सकता। इसलिए व्यवहार को छोड़ा भी नहीं जा सकता।

इन्हीं दो दृष्टियों को सामने रखकर ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व का विवेचन किया है। वे कहते हैं—जो आत्मा को जल में कमल की तरह कर्म-नोकर्म से असंस्पृष्ट जानता है, नर-नारक आदि पर्यायों में भी

उसे एक रूप देखता है, तथा रागादि विकल्पों से असंयुक्त और ज्ञानदर्शन आदि के भेद से रहित अनुभव करता है वह शुद्धनय है (गाथा १५) और जो इसके विपरीत जानता है वह व्यवहार-नय है। व्यवहार-नय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से ये दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते। ग्रन्थकार का कहना है कि जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों को निश्चय नय से जानने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है अतः उन्होंने निश्चय और व्यवहार-दृष्टि से नौ तत्त्वों का निरूपण करके शुद्ध आत्मक्तव की प्रतिष्ठा इस ग्रंथ में की है। उनका कहना है कि एक जीव-तत्त्व ही नौ तत्त्व रूप हो रहा है किन्तु वह अपने एकत्व को फिर भी नहीं छोड़ता।

हम ऊपर लिख आए हैं कि पंचास्तिकाय, प्रवचन-सार और समयसार को नाटकत्रयी कहते हैं। किन्तु वास्तव में तो समयसार को ही नाटक कहना उचित है; क्योंकि उसमें संसार का नाटक दिखाया गया है, जिसमें जीव और अजीव नाम के दो नट आस्रव आदि तत्त्वों का अभिनय करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसके टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने इस को नाटक का ही रूप दिया है। अतः उन्होंने इसके प्रारम्भिक भाग का नाम पूर्व रंग रक्खा है। तथा जब एक तत्त्व का निरूपण समाप्त होता है तो वह नाटक की पद्धति में लिखते हैं—'आस्रवो निष्क्रान्तः।' आस्रव चला गया और जब दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होता है तो वह लिखते हैं—'अथ प्रविशति संवरः।' अब संवर प्रवेश करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने इन ग्रंन्थरत्नों में जो ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा की, आगे चलकर वही जैनदर्शन की आधार-शिला बनी।

सूत्रकार उमास्वाति

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद में एक आचार्य हुए जिन्होंने वैदिकदर्शनों के सूत्र-ग्रंथों की तरह ही जैनदर्शन को संस्कृत भाषा के सूत्रों में संगृहीत करने का सफल प्रयत्न किया। उस सूत्र-ग्रंथ को 'तत्त्वार्थ-सूत्र' कहते हैं। इस ग्रंथ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'मोक्ष' है, इसी से इसको 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहते हैं। इसका आरम्भ होता है मोक्ष-मार्ग से। आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र को मोक्ष-मार्ग बतलाया है। और सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। उन्हीं सात तत्त्वों का निरूपण इस ग्रंथ में है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नौ तत्त्वों का निरूपण किया है। किंतु सूत्रकार ने पुण्य और पाप तत्त्व को आस्रव और बन्ध तत्त्व में गर्भित करके तत्त्वों की संख्या सात ही रखी है।

इस ग्रंथ में दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सात तत्त्वों को जानने के उपाय बतलाते हुए ज्ञान के दो भेद किए हैं। सूत्रकार ने ज्ञान को ही प्रमाण बतलाकर प्रमाण के दो भेद किए हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष।

जैन साहित्य में ज्ञान-निरूपण की दो पद्धतियाँ पाई जाती हैं—पहली सैद्धान्तिक, दूसरी दार्शनिक। सैद्धान्तिक पद्धति में ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—इस तरह पाँच भेद करके समग्र ज्ञानों का निरूपण किया गया है। और दार्शनिक पद्धति में उक्त पाँच ज्ञानों में परोक्ष और प्रत्यक्ष का विभाग करके समग्र ज्ञानों का निरूपण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में परोक्ष

और प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप मात्र बतलाया है, उनके भेद-प्रभेद नहीं किए। किन्तु सूत्रकार ने पाँचों ज्ञानों को प्रमाण बतला कर तथा प्रमाण के परोक्ष और प्रत्यक्ष भेद में उनका विभाग करके दोनों परम्पराओं का समन्वय ही नहीं किया, वल्कि दार्शनिक जगत् के स्मृति आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव भी परोक्ष प्रमाण में करके अपने पश्चात् होने वाले जैन तार्किकों का मार्ग-दर्शन भी कर दिया। इस दिशा में उक्त सूत्रकार के बाद होने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के जैन तार्किकों ने सूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण किया है।

तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय में जीव तत्त्व का वर्णन है। उसमें प्रथम जीव के भावों का वर्णन करके उसका लक्षण बतलाया है। फिर जीव के संसारी और मुक्त—दो भेद करके संसारी जीवों का वर्णन किया है। उसमें बतलाया है कि मरने के बाद कैसे जीव एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है। वहाँ जाकर वह कैसे जन्म लेता है? कैसे उसके शरीर का निर्माण होता है? तथा किन जीवों की अकाल मृत्यु होती है?

तीसरे अध्याय में अधोलोक की रचना बतलाते हुए सात नरकों का वर्णन किया है। उसके बाद मध्यलोक का वर्णन है। चौथे अध्याय में ऊर्ध्वलोक का वर्णन करते हुए स्वर्गों का और स्वर्गों में रहने वाले देवों का वर्णन किया है।

पांचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन है जो प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार की चर्चा से मिलता हुआ है। इसमें भी उसी तरह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को तथा गुण और पर्यायों को द्रव्य का लक्षण बतलाया है। तथा द्रव्य के छह भेद—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—किए हैं। पुद्गल के दो भेद किए है—अणु और स्कन्ध। अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कन्ध की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से बतलाई गई है। स्कन्ध की उत्पत्ति बतलाते हुए एक परमाणु से दूसरे परमाणु का बन्ध कैसे होता है, इसका निरूपण भी प्रवचनसार के अनुसार ही किया है।

छट्ठे अध्याय में आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हुए बतलाया है कि किन-किन कामों के करने से किन-किन कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है। सातवें अध्याय में पुण्यास्रव के कारणों का निर्देश करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच व्रतों का वर्णन किया है। यह अध्याय श्रावक के आचार से सम्बद्ध है। आठवें में बन्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जैन कर्म-सिद्धांत का वर्णन किया गया है। उसमें कर्मबन्ध के कारण बतलाकर बन्ध का स्वरूप और भेद बतलाए हैं। नवें अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन है। एक तरह से यह अध्याय मुनि-धर्म से सम्बद्ध है। इसमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र का तथा ध्यान का विशद वर्णन है। दसवें अध्याय में मोक्ष का स्वरूप बतलाकर मुक्त-जीव का वर्णन किया है। इस तरह इस सूत्र ग्रन्थ में समस्त जैन पदार्थों को दार्शनिक शैली में गूंथा गया है। सभी जैन सम्प्रदाय इसको मानते और इसका आदर करते हैं। मीमांसा-दर्शन में जैमिनि के सूत्रों का, वेदान्त दर्शन में ब्रह्मसूत्र का, योगदर्शन में योगसूत्र का, न्यायदर्शन में न्यायसूत्र का और वैशेषिक दर्शन में वैशेषिक सूत्र का जो स्थान है, वही स्थान जैनदर्शन में तत्त्वार्थसूत्र का है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के रचयिता के विषय में मतभेद है। इस सूत्र-ग्रन्थ के दो पाठ प्रचलित हैं। एक

पाठ दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बर-परम्परा में। श्वेताम्बर मान्य पाठ के साथ एक भाष्य है जिसे श्वेताम्बर-सूत्रकार-कृत ही मानते हैं। उसके अन्त में ग्रन्थकार ने अपनी प्रशस्ति भी दी है और उसमें अपना नाम उमास्वाति दिया है। दिगम्बर-परम्परा में भी तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वामी अथवा 'उमास्वाति' की रचना माना जाता है और ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के शिलालेखों में ऐसा उल्लेख भी मिलता है। किन्तु नवी शताब्दी के विद्वान् आचार्य वीरनन्दि और विद्यानंद उसे गृद्धपिच्छाचार्य की कृति बतलाते हैं। गृद्धपिच्छाचार्य नाम तो नहीं हो सकता, उपनाम हो सकता है, किन्तु गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति का ही उपनाम है इस विषय में प्राचीन प्रमाणों का अभाव है।

अकलंकदेव के तत्त्वार्थ वार्तिक से इतना तो पता चलता है कि उनके सामने एक दूसरा सूत्रपाठ भी था, जो सम्भवतः श्वेताम्बर-सम्मत सूत्रपाठ ही था। दिगम्बर-सम्मत सूत्रपाठ पर सब से प्रथम उपलब्ध टीका पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि है, जो ईसा की पाँचवीं शताब्दी में रची गई है और भाष्य सहित श्वेताम्बर सूत्र पाठ पर सबसे पहली टीका सिद्धसेन गणि की है, जो आठवीं-नवीं शताब्दी में रची गई है।

आचार्य समन्तभद्र :

जैनाचार्यों में समन्तभद्र स्वामी का स्थान बहुत ऊँचा है। उत्तरकाल में होने वाले प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने ग्रंथ के आदि में बड़े ही सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया है। नवीं शताब्दी के विद्वान् जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के आरम्भ में लिखा है कि उस समय जितने वादी, वाग्मी, कवि और गमक थे उन सब के हृदय पर आचार्य समन्तभद्र का सिक्का जमा हुआ था। यह बड़े भारी वादी थे। इन्होंने समस्त भारत मे भ्रमण करके बड़े-बड़े वादियो के दांत खट्टे किए थे। इसी से जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि इनके वचन रूपी वज्रपात से कुमत रूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे। हनुमच्चारित्र में लिखा है कि वे दुर्वादियों की वाद रूपी खान को मिटाने के लिए अद्वितीय महौषधि हैं। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र-सूरि ने इन्हें 'वादिमुख्य' लिखा है।

ये प्रबल तार्किक होने के साथ ही साथ प्रथित ग्रन्थकार भी थे। इन्हें मुनि-जीवन में भस्मक व्याधि हो गई थी, तब उसे शान्त करने के लिए वाराणसी में राजा शिवकोटि के शिवालय में इन्हें वेश बदल कर रहना पड़ा था। भगवान के भोग के लिए जितना नैवेद्य आता था उसे यह स्वयं खा जाते थे, जब रोग शांत हुआ और नैवेद्य बचने लगा तो कलई खुल गई। तब राजा ने इनसे 'शिवलिंग' को नमस्कार करने का आग्रह किया। उस समय इन्होंने 'वृहत्स्वयंभू स्तोत्र' नामक एक दार्शनिक स्तोत्र की रचना करके अपना चमत्कार दिखाया और कहा— राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह सन्मुख आवे। इसी से ये आद्य स्तुतिकार भी कहे जाते हैं।

उक्त स्तोत्र के सिवा इनके युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, जिनस्तुति-शतक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ उपलब्ध हैं। जीवसिद्धि आदि कुछ अन्य ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। युक्त्यनुशासन-ग्रंथ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्तोत्र-प्रणाली से ६४ पद्यों के द्वारा स्वमत और पर-मत के गुण-दोषों का मार्मिक विवेचन किया गया है। और प्रत्येक विषय का निरूपण प्रबल युक्तियों के द्वारा किया है। वृहत्स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है। स्तुतियों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों के

धर्म का प्रतिपादन करना ही इसका मुख्य विषय है। संपूर्ण ग्रंथ दार्शनिक चर्चाओं और धार्मिक शिक्षाओं से परिपूर्ण है।

आप्तमीमांसा समन्तभद्र के ग्रंथों में सब से प्रधान ग्रंथ है। इसमें आप्त के स्वरूप की मीमांसा करते हुए उसे सर्वज्ञ और निर्दोष बतलाया है तथा उनके वचनों को युक्ति और आगम से अविरुद्ध प्रमाणित करने के लिए एकान्तवादी मतों को स्याद्वाद रूपी कसौटी पर कसकर सर्वत्र अनेकांतवाद की प्रतिष्ठा की है। जिन एकान्तवादों की समीक्षा इस ग्रंथ में की गई है उनकी तालिका इस प्रकार है :—

१. भावैकान्तवाद—जो केवल भावात्मक पदार्थों को ही स्वीकार करता है। २. अभावैकान्तवाद जो केवल अभाव को ही स्वीकार करता है। ३. अद्वैतैकान्तवाद—जो केवल अद्वैत को ही स्वीकार करता है। ४. द्वैतैकान्तवाद—जो केवल द्वैत को ही स्वीकार करता है। ५. नित्यत्वैकान्तवाद—जो वस्तु को सर्वथा नित्य ही मानता है। ६. अनित्यत्वैकान्तवाद—जो वस्तु को सर्वथा क्षणिक ही मानता हैं। ७. भेदैकान्तवाद—जो कार्य-कारण को, गुण-गुणी वगैरह को भिन्न ही मानता है। ८. अभेदैकान्तवाद जो इनको सर्वथा अभिन्न ही मानता है। ९. अपेक्षैकांतवाद—जो पदार्थों की सिद्धि अपेक्षा से ही मानता है। १०. अनपेक्षैकांतवाद—जो पदार्थों की सिद्धि बिना अपेक्षा के ही मानता है। ११. युक्त्यैकांतवाद जो केवल युक्ति से वस्तु की सिद्धि मानता है। १२. आगमैकांतवाद—जो केवल शास्त्राधार से ही वस्तु की सिद्धि मानता है। १३. अन्तरंगार्थतैकांतवाद—जो केवल अन्तरंग पदार्थों को ही मानता है। १४. बहिरंगार्थतैकांतवाद—जो केवल बाह्य पदार्थों को ही मानता है। १५. दैवैकांतवाद—जो केवल दैव को ही कार्य का साधक मानता है। १६. पौरुषैकांतवाद—जो केवल पौरुष को ही कार्य का साधक मानता है। १७. दूसरे को दुःख देने से पाप ही होता है और सुख देने से पुण्य ही होता है यह एकान्तवाद। १८. स्वयं दुख उठाने से पुण्य ही होता है और सुखोपभोग करने से पाप ही होता है यह एकांतवाद। १९. अज्ञान से बन्ध ही होता है यह एकांतवाद। २०. स्तोक ज्ञान से मोक्ष होता है यह एकान्तवाद।

इस तरह इन एकान्तवादों की समीक्षा करके आचार्य समन्तभद्र ने तत्त्व को भावाभावात्मक, द्वैताद्वैतात्मक, नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक आदि स्वीकार किया है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का दार्शनिक क्षेत्र में सफल प्रयोग करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को ही है। इसी से विद्वान लोग उन्हें स्याद्वाद-तीर्थंकर और स्याद्वाद का पिता तक कहते हैं। इनका समय विक्रम की चौथी-पाचवीं शताब्दी है।

आचार्य सिद्धसेन

जैन वाङ्मय में आचार्य सिद्धसेन का स्थान बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर-परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर के नाम से इनकी ख्याति है। किन्तु दिगम्बर-परम्परा में यह सिद्धसेन के नाम से ही ख्यात हैं। दिगम्बर-परम्परा में जिस प्रकार की घटना का उल्लेख स्वामी समन्तभद्र के जीवन के सम्बन्ध में पाया जाता है, श्वेताम्बर-परम्परा में उसी प्रकार की घटना का उल्लेख सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध में मिलता है। अर्थात विक्रमादित्य राजा की ओर से शिवलिंग को नमस्कार करने का अनुरोध करने पर जब सिद्धसेन ने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार नहीं सह सकता तब राजा ने उनसे आग्रह किया। इस पर सिद्धसेन ने इष्टदेव की स्तुति की।

सिद्धसेन प्राचीन तर्क ग्रन्थकार थे। द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका, सन्मति-तर्क, न्यायावतार और कल्याण-मन्दिर स्तोत्र को इनकी कृति माना जाता है। पं. सुखलाल जी का मन्तव्य है कि सिद्धसेन श्वेताम्बर थे।

पाठ दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित है और दूसरा श्वेताम्बर-परम्परा में। श्वेताम्बर मान्य पाठ के साथ एक भाष्य है जिसे श्वेताम्बर-सूत्रकार-कृत ही मानते हैं। उसके अन्त में ग्रन्थकार ने अपनी प्रशस्ति भी दी है और उसमें अपना नाम उमास्वाति दिया है। दिगम्बर-परम्परा में भी तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वामी अथवा 'उमास्वाति' की रचना माना जाता है और ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी के शिलालेखों में ऐसा उल्लेख भी मिलता है। किन्तु नवीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य वीरनन्दि और विद्यानंद उसे गृद्धपिच्छाचार्य की कृति बतलाते है। गृद्धपिच्छाचार्य नाम तो नही हो सकता, उपनाम हो सकता है, किन्तु गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति का ही उपनाम है इस विषय में प्राचीन प्रमाणों का अभाव है।

अकलंकदेव के तत्त्वार्थ वार्तिक से इतना तो पता चलता है कि उनके सामने एक दूसरा सूत्रपाठ भी था, जो सम्भवतः श्वेताम्बर-सम्मत सूत्रपाठ ही था। दिगम्बर-सम्मत सूत्रपाठ पर सब से प्रथम उपलब्ध टीका पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि है, जो ईसा की पांचवीं शताब्दी में रची गई है और भाष्य सहित श्वेताम्बर सूत्र पाठ पर सबसे पहली टीका सिद्धसेन गणि की है, जो आठवीं-नवीं शताब्दी में रची गई है।

आचार्य समन्तभद्र :

जैनाचार्यों में समन्तभद्र स्वामी का स्थान बहुत ऊँचा है। उत्तरकाल में होने वाले प्रायः सभी प्रमुख जैनाचार्यों ने अपने ग्रंथ के आदि में बड़े ही सम्मानपूर्वक उनका स्मरण किया है। नवीं शताब्दी के विद्वान् जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण के आरम्भ में लिखा है कि उस समय जितने वादी, वाग्मी, कवि और गमक थे उन सब के हृदय पर आचार्य समन्तभद्र का सिक्का जमा हुआ था। यह बड़े भारी वादी थे। इन्होंने समस्त भारत मे भ्रमण करके बड़े-बड़े वादियों के दांत खट्टे किए थे। इसी से जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि इनके वचन रूपी वज्रपात से कुमत रूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे। हनुमच्चारित्र में लिखा है कि वे दुर्वादियों की वाद रूपी खाज को मिटाने के लिए अद्वितीय महौषधि हैं। श्वेताम्बराचार्य हरिभद्र-सूरि ने इन्हें 'वादिमुख्य' लिखा है।

ये प्रबल तार्किक होने के साथ ही साथ प्रथित ग्रन्थकार भी थे। इन्हें मुनि-जीवन में भस्मक व्याधि हो गई थी, तब उसे शान्त करने के लिए वाराणसी में राजा शिवकोटि के शिवालय में इन्हें वेश बदल कर रहना पड़ा था। भगवान के भोग के लिए जितना नैवेद्य आता था उसे यह स्वयं खा जाते थे, जब रोग शांत हुआ और नैवेद्य बचने लगा तो कलई खुल गई। तब राजा ने इनसे 'शिवलिंग' को नमस्कार करने का आग्रह किया। उस समय इन्होंने 'वृहत्स्वयंभू स्तोत्र' नामक एक दार्शनिक स्तोत्र की रचना करके अपना चमत्कार दिखाया और कहा— राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह सन्मुख आवे। इसी से ये आद्य स्तुतिकार भी कहे जाते हैं।

उक्त स्तोत्र के सिवा इनके युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा, जिनस्तुति-शतक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रंथ उपलब्ध हैं। जीवसिद्धि आदि कुछ अन्य ग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। युक्त्यनुशासन-ग्रंथ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें स्तोत्र-प्रणाली से ६४ पद्यों के द्वारा स्वमत और पर-मत के गुण-दोषों का मार्मिक विवेचन किया गया है। और प्रत्येक विषय का निरूपण प्रबल युक्तियों के द्वारा किया है। वृहत्स्वयंभू स्तोत्र में चौबीस तीर्थकरों की स्तुति है। स्तुतियों के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों के

क्योंकि इसमें अनुमान को अभ्रान्त बतला कर प्रत्यक्ष को अभ्रान्त सिद्ध करने के लिए एक पृथक् कारिका ही रची गई है। यथा—

'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं, प्रमाणत्व विनिश्चयात्।'

यहां 'प्रमाणत्व विनिश्चय' पद पढते ही धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण बरबस हो आता हैं। दूसरे, हेतु का लक्षण अन्यथानुपपत्तिः 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ के रचयिता पात्र स्वामी की देन है। जो कि न्यायावतार में भी पाया जाता है। अतः पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार का यह मत हमें समुचित ही प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ सन्मति-सूत्र से कोई एक शताब्दी से भी बाद का बना हुआ हैं, क्योंकि इस पर समन्तभद्र स्वामी के उ त्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्यो का ही नहीं, किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्यों का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुख्तार सा. ने सन्मति सूत्र के रचयिता सिद्धसेन का समय ई. स. ५०७ से ६०६ तक निश्चित किया है। किन्तु प. सुखलाल उन्हें विक्रम की पांचवीं शताब्दी का विद्वान् मानते हैं।

आचार्य पूज्यपाद :

इनका नाम देवनन्दि था। किन्तु यह पूज्यपाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। यह गंग राजा दुर्विनीत के शिक्षा-गुरु थे। और दुर्विनीत राजा का राज्यकाल ई. सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। अतः यह ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं। पूज्यपाद के एक शिष्य वज्रनन्दि ने वि. सं. ५२६ (ई.स. ४७०) में द्राविड़-संघ की स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में किया है।

पूज्यपाद भारत के आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों में से हैं। इन्होंने जैनन्द्र-व्याकरण रचा है। तथा 'तत्वार्थ-सूत्र' पर सबसे पहली टीका इन्हीं की पायी जाती है, जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। इस टीका में इन्होंने कई स्थानों पर सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कतिपय मन्तव्यों की चर्चा की है। यह चर्चा मोक्ष-स्वरूप, प्रमाण-स्वरूप और द्रव्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। प्रथम सूत्र की उत्थानिका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध मत के मोक्ष का स्वरूप बतलाकर उन्हें सदोष बतलाया है। ज्ञान के प्रामाण्य की चर्चा करते हुए सांख्य के इंद्रिय-प्रामाण्य-वाद और योगों के सन्निकर्ष प्रामाण्यवाद की आलोचना की है।

अन्य दर्शन इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तब जैनदर्शन उसे परोक्ष कहता है। पूज्यपाद ने इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में आपत्तियाँ देते हुए जैनदर्शन की मान्यता का समर्थन किया है और यह भी लिखा है कि दीपक की तरह प्रमाण अपना भी प्रकाशन करता है और बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह पाँचवें अध्याय में जैनाभिमत द्रव्यों की परिगणना कराते हुए वैशेषिक दर्शन के नौ द्रव्यों का अन्तर्भाव जैनाभिमत छै द्रव्यों में किया है और बतलाया है कि सब परमाणु एक ही जाति के हैं उन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज और वायु बनते हैं।

पूज्यपाद की समाधि-शतक, इष्टोपदेश आदि अन्य भी रचनाएँ हैं जो आध्यात्मिक हैं। वैद्यक पर भी इनके ग्रन्थ पाए जाते हैं। इसी से ज्ञानार्णव के कर्त्ता ने पूज्यपाद का स्मरण करते हुए उनके वचनों को शरीर, मन और वचन के मल को ध्वंस करने वाला बतलाया है। क्योंकि वैद्यक ग्रन्थ शरीर-मलध्वंसी हैं, समाधिशतक आदि ग्रंथ मनोमलध्वंसी हैं और जैनेन्द्र व्याकरण वचनमलध्वंसी है।

किन्तु पं जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन'[1] शीर्षक अपने गवेषणा-पूर्ण निबन्ध में यह सिद्ध किया है कि सिद्धसेन नाम के कई आचार्य हुए हैं और उक्त ग्रन्थ एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ नहीं हैं तथा सन्मति सूत्र के कर्त्ता प्रसिद्ध सिदधसेन दिगम्बर थे। दिगम्बर आचार्यों ने उनके सन्मति-सूत्र नाम के ग्रन्थ का उल्लेख भक्ति-भाव से किया है। इतना ही नहीं किन्तु सुमति नाम के दिगम्बर विद्वान ने, जिनका उल्लेख तत्त्व-संग्रह की टीका में बौद्ध विद्वान कमलशील ने भी किया है, सन्मति पर एक टीका भी रची थी, जिसका उल्लेख वादिराज सूरि ने अपने पार्श्वनाथ-चरित के प्रारम्भ में किया है। यथा--

नमः सन्मतये तस्मै, भवकूप निपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम – प्रवेशिनी ॥

यह टीका उपलब्ध नहीं है। श्वेताम्बराचार्य मल्लवादी की भी एक टीका इस ग्रन्थ पर थी, जो उपलब्ध नही है। ग्यारहवीं शताब्दी के श्वेताम्बराचार्य अभयदेव की टीका उपलब्ध है।

सन्मति-सूत्र में नयवाद पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। तथा अन्त में लिखा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय यानी जैनेतर दर्शन हैं। उन दर्शनों में कपिल का सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नय का विषय है, बुद्ध का दर्शन शुद्ध पर्याय-नय का विषय है और कणाद का दर्शन दोनों नयों के द्वारा प्ररूपित होने पर भी मिथ्या है; क्योंकि उक्त दर्शन में दोनों दृष्टियां सापेक्ष नहीं हैं।

सन्मति-सूत्र के दूसरे काण्ड में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के क्रमवाद तथा युगपद्वाद में दोष दिखाकर अभेदवाद का स्थापन है। दिगम्बर-परम्परा में केवली के दर्शन और ज्ञान युगपद् माने जाते है और श्वेताम्बर-परम्परा में क्रम से माने जाते हैं। किन्तु सन्मतिकार का कहना है कि ज्ञान और दर्शन का भेद छद्मस्थ-अवस्था तक ही रहता है, केवलज्ञान हो जाने पर कोई भेद नहीं रहता। तब दर्शन कहो या ज्ञान कहो, एक ही बात है। इसी से सन्मति के कर्त्ता सिद्धसेन अभेदवाद के पुरस्कर्त्ता माने जाते हैं। यह ग्रन्थ प्राकृत में है।

न्यायावतार में प्रमाण का विवेचन है। इसमें समन्तभद्रोक्त प्रमाण के लक्षण में 'बाध-विवर्जित' पद बढाया गया है और उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करके दोनों की परिभाषा बतलाई है। उसके बाद अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और उसके स्वार्थ और परार्थ भेदों का स्वरूप बतलाया है। परार्थानुमान के साथ ही साथ पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, दूषण और तदाभासों का विवेचन भी इस ग्रन्थ में है। इस तरह न्यायोपयोगी तत्वों का समावेश इस ३२ कारिकाओं के प्रकरण में है। भाषा संस्कृत है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में न तो ग्रंथ का नाम दिया गया है और न ग्रंथकार का। 'न्याय' शब्द तक उसमें नहीं है। किन्तु उसके टीकाकार सिद्धर्षि ने उसका नाम न्यायावतार ही बताया है। तथा परम्परा से इसे सिद्धसेन की कृति माना जाता है। और पं. सुखलाल जी का यही मत है। किन्तु इसके अवलोकन से यह धारणा दृढ़ होती है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्ति के बाद में रचा गया होना चाहिये;

१. अनेकान्त वर्ष–९ अंक १४

क्योंकि इसमें अनुमान को अभ्रान्त बतला कर प्रत्यक्ष को अभ्रान्त सिद्ध करने के लिए एक पृथक् कारिका ही रची गई है। यथा—

'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं, प्रमाणत्व विनिश्चयात्।'

यहां 'प्रमाणत्व विनिश्चय' पद पढ़ते ही धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय का स्मरण बरबस हो आता हैं। दूसरे, हेतु का लक्षण अन्यथानुपपत्तिः 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ के रचयिता पात्र स्वामी की देन है। जो कि न्यायावतार में भी पाया जाता है। अतः पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार का यह मत हमें समुचित ही प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ सन्मति-सूत्र से कोई एक शताब्दी से भी बाद का बना हुआ हैं, क्योंकि इस पर समन्तभद्र स्वामी के उत्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्यो का ही नहीं, किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्यो का भी स्पष्ट प्रभाव है। मुख्तार सा. ने सन्मति सूत्र के रचयिता सिद्धसेन का समय ई. स. ५०७ से ६०९ तक निश्चित किया है। किन्तु प. सुखलाल उन्हें विक्रम की पांचवीं शताब्दी का विद्वान् मानते हैं।

आचार्य पूज्यपाद :

इनका नाम देवनन्दि था। किन्तु यह पूज्यपाद के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं। यह गंग राजा दुर्विनीत के शिक्षा-गुरु थे। और दुर्विनीत राजा का राज्यकाल ई. सन् ४८२ से ५२२ तक रहा है। अतः यह ईसा की पाँचवीं शताब्दी में हुए हैं। पूज्यपाद के एक शिष्य वज्रनन्दि ने वि. सं. ५२६ (ई.स. ४७०) में द्राविड़-संघ की स्थापना की थी, जिसका उल्लेख देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में किया है।

पूज्यपाद भारत के आठ प्रसिद्ध वैयाकरणों में से हैं। इन्होंने जैनेन्द्र-व्याकरण रचा है। तथा 'तत्त्वार्थ-सूत्र' पर सबसे पहली टीका इन्हीं की पायी जाती है, जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। इस टीका में इन्होंने कई स्थानों पर सांख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शनों के कतिपय मन्तव्यों की चर्चा की है। यह चर्चा मोक्ष-स्वरूप, प्रमाण-स्वरूप और द्रव्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखती है। प्रथम सूत्र की उत्थानिका करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध मत के मोक्ष का स्वरूप बतलाकर उन्हें सदोष बतलाया है। ज्ञान के प्रामाण्य की चर्चा करते हुए सांख्य के इंद्रिय-प्रामाण्य-वाद और योगों के सन्निकर्ष प्रामाण्यवाद की आलोचना की है।

अन्य दर्शन इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तब जैनदर्शन उसे परोक्ष कहता है। पूज्यपाद ने इन्द्रिय-जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में आपत्तियाँ देते हुए जैनदर्शन की मान्यता का समर्थन किया है और यह भी लिखा है कि दीपक की तरह प्रमाण अपना भी प्रकाशन करता है और बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी तरह पाँचवें अध्याय में जैनाभिमत द्रव्यों की परिगणना कराते हुए वैशेषिक दर्शन के नौ द्रव्यों का अन्तर्भाव जैनाभिमत छै द्रव्यों में किया है और बतलाया है कि सब परमाणु एक ही जाति के हैं उन्हीं से पृथ्वी, जल, तेज और वायु बनते हैं।

पूज्यपाद की समाधि-शतक, इष्टोपदेश आदि अन्य भी रचनाएँ हैं जो आध्यात्मिक हैं। वैद्यक पर भी इनके ग्रन्थ पाए जाते हैं। इसी से ज्ञानार्णव के कर्त्ता ने पूज्यपाद का स्मरण करते हुए उनके वचनों को शरीर, मन और वचन के मल को ध्वंस करने वाला बतलाया है। क्योंकि वैद्यक ग्रन्थ शरीर-मलध्वंसी हैं, समाधिशतक आदि ग्रंथ मनोमलध्वंसी हैं और जैनेन्द्र व्याकरण वचनमलध्वंसी है।

आचार्य मल्लवादी

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आचार्य मल्लवादी का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका बनाया 'द्वादशार नयचक्र' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सिंह गणि क्षमाश्रमण की टीका के साथ उपलब्ध है। जैनदर्शन में अनेकान्तात्मक वस्तु की व्यवस्था प्रमाण और नय के अधीन है। नयचक्र में जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, नय का प्रतिपादन है। यह ग्रन्थ संस्कृत में है किन्तु मूल नयचक्र उपलब्ध नहीं है, केवल उसकी टीका ही उपलब्ध है।

श्वेताम्बर[1] मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इस सटीक नयचक्र का पारायण करके उसका परिचय आनन्दप्रकाश (वर्ष ४५, अंक ७) में प्रकट किया। उस पर से मालूम होता है कि मल्लवादी ने अपने नयचक्र में पद-पद पर भर्तृहरि के 'वाक्य प्रदीप' ग्रंथ का उपयोग ही नहीं किया, बल्कि भर्तृहरि के नाम का उल्लेख भी किया है। भर्तृहरि का समय ई. सन ६०० से ६५० तक माना जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि वे इस समय के बाद ही हुए हैं। तथा हरिभद्र ने अपनी 'अनेकान्त जयपताका' की टीका में मल्लवादी का उल्लेख किया है। मुनि जिनविजय जी ने हरिभद्र का समय ई. ७०० से ७७० तक सिद्ध किया है। किन्तु ई. ८०० के लगभग बनी हुई भट्ट-जयन्त की न्याय-मंजरी का एक पद्य हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय में उद्धृत होने से पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने हरिभद्र की उत्तरावधि ई. ८१० मानी है।

उधर डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने लिखा है कि मल्लवादी ने बौद्ध विद्वान धर्मोत्तर की न्याय-बिन्दु टीका पर धर्मोत्तर टिप्पणक नाम से एक टिप्पण लिखा है। इस पर से डॉ. पी. एल. वैद्य मल्लवादी को धर्मोत्तर के बाद हुआ मानते हैं। और प्रभावक-चरित में जो मल्लवादी का समय वीर सं. ८८४ बतलाया है, उसे वे विक्रम संवत् मानने की सलाह देते हैं। और कहते हैं कि मल्लवादी का समय ८२७ ई. ही ठीक हो सकता है अतः ईसा की सातवीं शती के उत्तरार्ध के विद्वान ······भट्टकलंक ने जिस नयचक्र को देखने का उल्लेख किया है वह मल्लवादी कृत नयचक्र प्रतीत नहीं होता।

जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण एक बहुत समर्थ विद्वान हुए हैं। इनका विशेषावश्यक भाष्य सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसी के कारण भाष्यकार नाम से उनकी ख्याति है। यों तो विशेषावश्यक-भाष्य आगमिक चर्चाओं से भरपूर है किन्तु उसकी ज्ञान-विषयक चर्चा जैनदर्शन में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। श्वेताम्बर- परम्परा में जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण और दिगम्बर-परम्परा में भट्टाकलंक देव, ये दोनों ऐसे समर्थ विद्वान् हो गए हैं जिन्होंने जैनदर्शन की ज्ञान विषयक चर्चा को समृद्ध किया है और उसकी स्थिति को दार्शनिक क्षेत्र के अनुकूल बनाया है।

किन्तु क्षमाश्रमण जी तर्ककुशल होते हुए भी आगम प्रधान थे। उनका तर्क आगमानुसारी होता था। इसी से उन्होंने अपने पूर्वज तर्क-प्रधान आचार्य सिद्धसेन के मत की कड़ी आलोचना की है। सिद्धसेन ने अपने 'सन्मति तर्क' में तर्क से यह सिद्ध किया है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों एक ही हैं, जुदे नहीं हैं। किन्तु यह बात श्वेताम्बरीय आगम-परम्परा के विरुद्ध है। अतः गणि जी ने अपने विशेषावश्यक-भाष्य में सिद्धसेन के मत का जमकर खण्डन किया है।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ९, कि. ११ पृष्ठ, ४४७।

इनके रचे हुए वृहत्संग्रहिणी, वृहत्-क्षेत्र-समास आदि और भी अनेक ग्रन्थ हैं। इनका समय ईसा की छट्ठी शताब्दी का अन्तिम भाग है।

पात्रकेशरी

दिगम्बर-परम्परा में पात्रकेसरी नाम के एक समर्थ आचार्य हो गए हैं। उन्हें पात्रस्वामी भी कहते हैं। उन्होंने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नाम का एक महत्त्वशाली ग्रंथ रचा था, जो अनुपलब्ध है। बौद्धदर्शन में हेतु का लक्षण त्रैरुप्य माना गया है। बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने त्रैरुप्य का निर्देश किया है किन्तु उसका विकाश दिग्नाग ने ही किया था। इसी से वाचस्पति मिश्र उसे दिग्नाग का सिद्धान्त बतलाते हैं। इसी त्रैरुप्य या त्रिलक्षण का कदर्थन करने के लिए पात्रकेसरी ने उक्त शास्त्र की रचना की। अतः पात्रकेसरी दिग्नाथ (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के बाद के विद्वान् हैं। त्रिलक्षण का कदर्थन करने वाला उनका निम्न श्लोक बहुत प्रसिद्ध है।

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह के अनुमान परीक्षा नामक प्रकरण में पात्रस्वामी के मत की आलोचना करते हुए कुछ कारिकाएँ पूर्व पक्ष रूप से उद्धृत की हैं। उनमें उक्त श्लोक भी है। श्वेताम्बराचार्य वादिदेव सूरि ने भी अपने स्वाद्वाद-रत्नाकर[1] में पात्रकेसरी के नाम से उक्त श्लोक उद्धृत किया है। यह श्लोक अकलंकदेव के 'न्याय विनिश्चय' के अनुमान प्रस्ताव नामक द्वितीय परिच्छेद में भी आया है। न्याय-विनिश्चयालंकार नामक विवरण के विरचयिता श्री वादिराज सूरि ने उनकी उत्थानिका में लिखा है कि यह श्लोक पद्मावतीदेवी ने भगवान सीमंधर स्वामी के समवसरण से लाकर पात्रकेसरी को दिया था। इसी ग्रंथ में वादिराज सूरि ने यह भी लिखा है कि त्रिलक्षण कदर्थन नाम के शास्त्र में पात्रकेसरी स्वामी ने विस्तार से कथन किया है। अतः स्पष्ट है कि अकलंकदेव से पहले पात्रकेसरी नाम के एक प्रकाण्ड जैन दार्शनिक हो गए हैं।

भट्टाकलंक

भट्टाकलंक का स्थान जैन वाङ्मय में अनुपम है। स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन के पश्चात् इसी प्रखर तार्किक ने अपनी प्रभावक कृतियों से जैन वाङ्मय को समृद्ध बनाया है। ये जैन-न्याय के सर्जक कहे जाते हैं और उनके नाम के आधार पर श्लेषात्मक भाषा में जैन-न्याय को 'अाकलंक न्याय' भी कहा जाता है। जैनों के दोनों सम्प्रदायों के महान् ग्रन्थकारों ने आदर के साथ उनका स्मरण किया है और जैन न्याय में उनके द्वारा समाविष्ट किए गए मन्तव्यों को बिना किसी भेद-भाव के ज्यों का त्यों अपनाया है। इनका समय मैंने अनेक प्रमाणों के आधार पर ई. ६२० से ६८० तक निर्धारित किया है।[2] यह बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति और मीमांसक कुमारिल्लभट्ट के लघु समकालीन थे। इन्होंने अपने ग्रन्थों में उक्त दोनों विद्वानों के मन्तव्यों की आलोचना की है।

१. पृष्ठ-५२१

२. न्यायकुमुद की प्रस्तावना।

अकलंकदेव ने जैन-न्याय में किन-किन सिद्धांतों की स्थापना की, यह जानने के लिए अकलंक के पूर्व जैन न्याय की रूपरेखा पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

पहले बतलाया है कि प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षण बतलाए थे और सप्तभंगी के सात भंगों की गणना मात्र की थी। उसके बाद तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्र के द्वारा न्यायोपयोगी सामग्री का संकेत मात्र किया था।

इसके बाद जैन वाङ्मय के नीलाम्बर में समन्तभद्र और सिद्धसेन नाम के दो जाज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ। समन्तभद्र ने अनेकान्तवाद और सप्तभंगीवाद की रूपरेखा स्थिर करके दार्शनिक क्षेत्र में उनका व्यावहारिक उपयोग करने की प्रणाली बतलाई।[1] प्रमाण[2] का दार्शनिक लक्षण और फल बतलाया।[3] स्याद्वाद[4] की परिभाषा स्थिर की। श्रुतप्रमाण[5] को स्याद्वाद और उसके अंशों को नय बतलाया। सुनय और दुर्नय की व्यवस्था की और अनेकान्त में अनेकान्त की योजना करने की प्रक्रिया बतलाई।

स्वामी समन्तभद्र के पश्चात् आचार्य सिद्धसेन का उदय हुआ। इन्होंने अपने 'सन्मति तर्क' नामक प्रकरण में नयों का बहुत विशद और मौलिक विवेचन किया। और कथन करने की प्रत्येक प्रक्रिया को नय बतलाकर विभिन्न नयों में विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव करने की प्रक्रिया को जन्म दिया।

अकलंकदेव ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—जो तत्त्व समन्तभद्र की कृति में अव्यक्त थे उन्हें उन्होंने व्यक्त किया। जैसे समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में सप्तभंगी के प्रमाण—सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी भेदों की अस्पष्ट-सी सूचना है। अकलंकदेव ने उसे स्पष्ट करके सप्तभंगी के दो विभाग कर दिए।

अकलंकदेव के समय में भारतीय न्याय शास्त्र की बहुत उन्नति हो चुकी थी। बौद्धदर्शन का वह मध्यकाल था। शास्त्रार्थों की धूम थी, शास्त्रार्थों में उपयोग किए जाने वाले परार्थानुमान, छल, जाति, निग्रह-स्थान आदि में निपुण हुए बिना जय पाना दुर्लभ था। अतः अकलंकदेव ने उस ओर भी अपना ध्यान दिया।

सबसे पहले उन्होंने जैनदर्शन की प्रमाण-पद्धति की ओर ध्यान दिया और उसे दार्शनिक क्षेत्र के उपयुक्त बनाया। उसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ में प्रयुक्त होने वाले छल, जाति आदि असद् उपायों का विरोध किया और जय-पराजय की समुचित व्यवस्था की। इन सब बातों का वर्णन यथा स्थान तत्-तत् प्रकरणों में किया जाएगा।

अकलंकदेव की लेखनी बड़ी गूढ़ है। इसी से उन्होंने अपने स्वोपज्ञ प्रकरण ग्रन्थों पर विवृत्तियाँ

---

१. देखो आप्तमीमांसा।
२. "स्व-परावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्"—स्वयंभू. श्लो. ६३।
३. "उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादान………।"—आ. मी. का १०२।
४. आ. मी. का १०४।
५. आ. मी. का १०६।

भी बनाई हैं। इनके लघीयस्त्रय, सिद्धि विनिश्चय, न्यायविनिश्चय और प्रमाण-संग्रह नामक मौलिक ग्रन्थ बहुत महत्व के हैं। श्वेताम्बरों के जीतकल्पचूर्णि ग्रंथ की चन्द्रसूरि-विरचित टीका में 'सन्मति तर्क' के साथ सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का उल्लेख दर्शन प्रभावक शास्त्रों में किया है। इन मौलिक ग्रन्थों की रचना के सिवा अकलंकदेव के तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थ वार्तिक तथा समन्तभद्र के आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक भाष्य भी रचे हैं।

हरिभद्र

मुनि श्री जिनविजय जी ने आचार्य हरिभद्र सूरि का समय ई. सन् ७०० से ८०० निर्धारित किया है। यह श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के एक मान्य आचार्य थे। इन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने १४०० प्रकरण-ग्रन्थ[1] रचे थे। इनके उपलब्ध ग्रन्थों में विशेष प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ इस प्रकार हैं—अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकांत-जय-पताका (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित), दिग्नाथकृत न्याय प्रवेश की वृत्ति, षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता-समुच्चय (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)।

इनके समय में चैत्यवासी सम्प्रदाय के कारण श्वेताम्बर जैन साधुओं में शिथिलाचार बहुत बढ़ गया था। अपने सम्बोध-प्रकरण में इन्होंने उनकी अच्छी पोल खोली है और उन्हें कड़ी फटकार बतलाई है। प्रभावक-चरित में इनका जीवन-वृत्त विस्तार से दिया है।

स्वामी विद्यानन्द

स्वामी विद्यानन्द दिगम्बर-सम्प्रदाय में एक बहुत ही विशिष्ट विद्वान हो गए हैं। ये ब्राह्मण मीमांसक थे। आचार्य समन्तभद्र के आप्तमीमांसा नामक प्रकरण को सुनकर ये जैनदर्शन से प्रभावित हुए और जैन बन गए। इन्होंने आप्तमीमांसा पर अकलंकदेव के अत्यन्त गूढ़ार्थक अष्टशती भाष्य को आत्मसात् करके अष्टसहस्री नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके प्रारम्भ में ही उन्होंने भावना, विधि और नियोग की जमकर आलोचना की है। यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन साहित्य में अपना अनुपम स्थान रखता है। उसकी प्रसन्न शैली, मार्मिक शब्द-योजना और अकाट्य तर्क-कुशलता देखकर विद्वान मुग्ध हो जाते हैं। उसमें उन्होंने लिखा है—

"श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय परसमय सद्भावः॥"

अर्थात्—'एक अष्ट-सहस्री श्रवण करना पर्याप्त है, अन्य हजारों शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ? जिससे जैन और जैनेतर दर्शन का ज्ञान बखूबी हो जाता है।'

विद्यानन्द अकलंक के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। अकलंक के अस्त के बाद दार्शनिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ आविर्भूत हुईं, उनका समीकरण और परिमार्जन विद्यानन्द ने किया। उनकी 'प्रमाण परीक्षा' अकलंक के प्रकरणों के आधार पर ही रची गई है। इनका एक महत्त्वशाली ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक' है, जो कुमारिल्ल के 'मीमांसा-श्लोक-वार्तिक' का स्मरण करा देता है। यह ग्रन्थ अकलंक

१. १४४४ ग्रन्थों की रचना करने का भी उल्लेख मिलता है।

की मुद्रा से पद-पद पर अंकित है। 'आप्त-परीक्षा' नामक प्रकरण में ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व की समीक्षा अद्भुत और अनुपम है। पं. दरबारीलालजी कोठिया[1] ने इनका समय ई. सन् ७७५ से ८४० तक निर्धारित किया है।

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि सूत्रकार थे। इनका 'परीक्षामुख' नामक एक सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध है, जो न्याय-शास्त्र की दृष्टि से निबद्ध किया गया है। इसमें ६ उद्देश हैं—प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनंदि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपर व्यवसायि ज्ञान' था। इन्होंने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके 'स्वापूर्वार्थ व्यावसायी ज्ञान' को प्रमाण माना है। इसमें तो संदेह ही नहीं कि परीक्षामुख के द्वारा अकलंक-न्याय को ही सूत्रबद्ध किया गया है। किन्तु उस पर बौद्धाचार्य दिग्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्र-ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। जैनदर्शन में न्याय प्रवेश अथवा न्याय-बिन्दु के ढंग के एक सूत्र-ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति आचार्य माणिक्यनन्दि ने 'परीक्षा-मुख' को रचकर पूरी की। ये विद्यानन्द के समय के लगभग ही हुए हैं।

अभयदेव सूरि

श्वेताम्बराचार्य अभयदेव सूरि प्रद्युम्न सूरि के शिष्य थे। इन्होंने सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' पर एक टीका संस्कृत में रची है। उससे इनकी दर्शन-शास्त्र विषयक असाधारण विद्वत्ता का पता चलता है। इसमें सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थों का निचोड़ भरा हुआ है। मूल ग्रन्थ से इसकी शैली जुदी प्रकार की है। इसे दसवीं शताब्दी के दार्शनिक वादों का संग्रह कहा जा सकता है। जिस स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में तीव्र मतभेद है उनका समर्थन भी इस ग्रन्थ में किया गया है, इतना ही नहीं, मूर्ति को शृंगारित करने का भी समर्थन इस दार्शनिक ग्रंथ में है। अतः यह अपने समय के प्रचलित वादों का एक संग्रह ग्रन्थ है।

आचार्य प्रभाचन्द

आचार्य प्रभाचन्द भी अभयदेव सूरि की टक्कर के विद्वान् थे। इन्होंने अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर न्यायकुमुदचन्द्र नाम का और परीक्षा-मुख सूत्र पर 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम का सुविस्तृत टीका-ग्रन्थ अत्यन्त प्रांजल-भाषा में निबद्ध किए हैं। पहला ग्रन्थ उनकी दार्शनिकता का और दूसरा उनकी तार्किकता का प्रतीक है। इन्होंने भी अपने ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति का खण्डन जोरदार शब्दों में किया है। शाकटायन-व्याकरण पर इनका एक न्यास-ग्रन्थ भी है, जो दार्शनिक विचार-सरणि से ओतप्रोत है। ये भोजदेव राजा के समय में धारा नगरी में निवास करते थे। अतः इनका समय ई. की ग्यारहवीं शती है।

वादिराज सूरि

वादिराज सूरि दिगम्बर-सम्प्रदाय के महान् तार्किकों में से हैं। ये प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन थे। षट्तर्क-षण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेक-मल्लवादी इनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने अकलंकदेव के

---

१. आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में।

'न्याय विनिश्चय' पर 'न्यायविनिश्चय पर विवरण' नामक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण मौलिक टीका-ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमें अनेक ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत हैं। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाण-वार्तिक और उस पर प्रज्ञाकर के वार्तिकालंकार की समीक्षा से यह विवरण भरा हुआ है।

चौलुक्य-नरेश जयसिंह देव की राज-सभा में इनका बड़ा सम्मान था। इन्हीं की राजधानी में निवास करते हुए वादिराज ने शक सं. ९४७ (ई. १०२५) में अपना 'पार्श्वनाथ-चरित' बनाया था।

देवसूरि

श्वेताम्बराचार्य देवसूरि मुनिचन्द्र सूरि के शिष्य थे। गुजरात में वि. सं. ११४३ में इनका जन्म हुआ था। इन्होंने दिगम्बराचार्य माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र का अनुकरण करके 'प्रमाणनय तत्त्वालोक' नामक न्याय सूत्र-ग्रन्थ (आठ परिच्छेदों में) रचा है और उस पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक टीका भी रची है। यह टीका-ग्रन्थ भी जैन-न्याय में विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी शैली प्रसन्न है और अनेक ग्रन्थों के उद्धरणों से ओतप्रोत है।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने गुर्जर-नरेश सिद्धराज जयसिंह को प्रभावित करके अपना अनुयामी बनाया था। उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल तो उनका शिष्य ही था। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा सर्वमुखी थी। व्याकरण, काव्य, अलंकार, कोष, दर्शन, योग आदि सभी विषयों पर इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनकी 'प्रमाण-मीमांसा' यद्यपि अधूरी है, किन्तु उसके मूल सूत्र तथा उनकी वृत्ति अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रमाण के लक्षण में माणिक्यनन्दि ने जो 'अपूर्व' पद को स्थान दिया था, आचार्य हेमचन्द्र ने उसका सयुक्तिक निरसन इस ग्रन्थ में किया है। इनकी एक 'द्वात्रिंशिका' पर मल्लिषेण ने 'स्याद्वाद मंजरी' नामक सुन्दर टीका रची है जो जैनदर्शन की वाटिका है।

यशोविजय

ईसा की सोलहवीं शती में श्वेताम्बर-परम्परा में यशोविजय बहुत ही विचारक विद्वान हो गए हैं। इन्होंने काशी में विद्याभ्यास किया था और यह 'नव्य-न्याय' में न केवल पटु थे किन्तु नव्य-न्याय की शैली में उन्होंने ग्रन्थ-रचना भी की है। इनकी रचनाएँ मौलिक हैं उनमें केवल पिष्टपेषण ही नहीं है, किन्तु नवीन विचार-धारा प्रवाहित है। उनके दार्शनिक ग्रन्थों में जैन तर्क परिभाषा, ज्ञानबिन्दु और शास्त्रवार्ता-समुच्चय की टीका उल्लेखनीय है।

उपसंहार

संक्षेप में यहाँ कुछ प्रमुख जैन दार्शनिकों का परिचय है। इससे पता चलता है कि जैनदर्शन के काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भट्टाकलंकदेव तक का और दूसरा उसके बाद का काल। जैनदर्शन के विकास और निर्माण में अकलंकदेव का बहुमुखी प्रयत्न अनुपम है। उन्होंने जैन दार्शनिकों के सामने जैनेतर दार्शनिकों की दृष्टि से उपस्थित होने वाली सब समस्याओं का समाधान सर्वप्रथम करके आगे का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उनके बाद उनके द्वारा सर्जित भूमिका का आलम्बन लेकर विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि न केवल दिगम्बराचार्यों ने बल्कि अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि श्वेताम्बराचार्यों ने भी आकलंक-न्याय को विस्तीर्ण किया।

—वाराणसी (उ. प्र.)

की मुद्रा से पद-पद पर अंकित है। 'आप्त-परीक्षा' नामक प्रकरण में ईश्वर के सृष्टि-कर्तृत्व की समीक्षा अद्‌भुत और अनुपम है। पं. दरबारीलालजी कोठिया[1] ने इनका समय ई. सन् ७७५ से ८४० तक निर्धारित किया है।

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि सूत्रकार थे। इनका 'परीक्षामुख' नामक एक सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध है, जो न्याय-शास्त्र की दृष्टि से निबद्ध किया गया है। इसमें ६ उद्देश हैं—प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष, विषय, फल और तदाभास। माणिक्यनंदि से पहले प्रमाण का लक्षण 'स्वपर व्यवसायि ज्ञान' था। इन्होंने उसमें 'अपूर्व' पद की वृद्धि करके 'स्वापूर्वार्थ व्यावसायी ज्ञान' को प्रमाण माना है। इसमें तो संदेह ही नहीं कि परीक्षामुख के द्वारा अकलंक-न्याय को ही सूत्रबद्ध किया गया है। किन्तु उस पर बौद्धाचार्य दिग्नाग और धर्मकीर्ति के सूत्र-ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। जैनदर्शन में न्याय प्रवेश अथवा न्याय-बिन्दु के ढंग के एक सूत्र-ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति आचार्य माणिक्यनन्दि ने 'परीक्षा-मुख' को रचकर पूरी की। ये विद्यानन्द के समय के लगभग ही हुए हैं।

अभयदेव सूरि

श्वेताम्बराचार्य अभयदेव सूरि प्रद्युम्न सूरि के शिष्य थे। इन्होंने सिद्‌धसेन के 'सन्मति तर्क' पर एक टीका संस्कृत में रची है। उससे इनकी दर्शन-शास्त्र विषयक असाधारण विद्वत्ता का पता चलता है। इसमें सैकड़ों दार्शनिक ग्रन्थों का निचोड़ भरा हुआ है। मूल ग्रन्थ से इसकी शैली जुदी प्रकार की है। इसे दसवीं शताब्दी के दार्शनिक वादों का संग्रह कहा जा सकता है। जिस स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में तीव्र मतभेद है उनका समर्थन भी इस ग्रन्थ में किया गया है, इतना ही नहीं, मूर्ति को शृंगारित करने का भी समर्थन इस दार्शनिक ग्रंथ में है। अतः यह अपने समय के प्रचलित वादों का एक संग्रह ग्रन्थ है।

आचार्य प्रभाचन्द

आचार्य प्रभाचन्द भी अभयदेव सूरि की टक्कर के विद्वान् थे। इन्होंने अकलंकदेव के 'लघीयस्त्रय' पर न्यायकुमुदचन्द्र नाम का और परीक्षा-मुख सूत्र पर 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' नाम का सुविस्तृत टीका-ग्रन्थ अत्यन्त प्रांजल-भाषा में निबद्ध किए हैं। पहला ग्रन्थ उनकी दार्शनिकता का और दूसरा उनकी तार्किकता का प्रतीक है। इन्होंने भी अपने ग्रन्थों में स्त्री-मुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलि-भुक्ति का खण्डन जोरदार शब्दों में किया है। शाकटायन-व्याकरण पर इनका एक न्यास-ग्रन्थ भी है, जो दार्शनिक विचार-सरणि से ओतप्रोत है। ये भोजदेव राजा के समय में धारा नगरी में निवास करते थे। अतः इनका समय ई. की ग्यारहवीं शती है।

वादिराज सूरि

वादिराज सूरि दिगम्बर-सम्प्रदाय के महान् तार्किकों में से हैं। ये प्रभाचन्द्राचार्य के समकालीन थे। षट्तर्क-षण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेक-मल्लवादी इनकी उपाधियाँ थीं। इन्होंने अकलंकदेव के

१. आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना में।

नकली (खोटा) बताया। परीक्षा करने पर आपकी बात सही निकली तब से आपकी विशेष प्रसिद्धि हुई एवं आप दरबारी जौहरी बन गए।

उन्हीं दिनों चांपानेर के रावलराजा ने मुहम्मदशाह पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह के पुत्र कुतुबशाह ने अवसर देखकर अपने पिता को जहर खिलाकर मरवा दिया। इससे लोंकाशाह के हृदय पर गहरा आघात लगा। संसार के प्रति उनमें उदासीनता आ गई और वे अहमदाबाद छोड़ पाटण चले आए। यहाँ वे अपना समय यतियों एवं साधुओं के साथ बिताने लगे। उन्हें जिज्ञासु देखकर पाटण के यति सुमति विजय जी ने धर्म के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बतानी प्रारम्भ की। यति ज्ञानसुन्दर जी ने उनके अक्षरों की मन मुग्धकारी बनावट देखकर उन्हें दशवैकालिक सूत्र की नकल करने का कार्य सुपुर्द किया। वे नकल करने लगे। जैसे-जैसे उन्होंने सूत्र को पढ़ा उन्हें लगा कि वीर प्रभु की आज्ञा कुछ और है जबकि इस समय प्रचलित यति व श्रमण-जीवन कुछ और ही है। आवश्यकता थी सूत्र-प्रमाण की; सूत्र-शास्त्र सब यतियों के भण्डारों में पड़े थे।

उन्होंने दशवैकालिक सूत्र की दो प्रतियाँ नकल की। उसके बाद भी जो-जो सूत्र उन्हें प्रतिलिपि हेतु दिए गए, उनकी दो-दो प्रतियाँ तैयार कर, एक-एक प्रति अपने पास रखी। बहुत मनन-मंथन के बाद उन्होंने यह तय किया कि आज जो कुछ जैनधर्म के नाम पर हो रहा है, उसमें पाखण्ड, ढ़ोंग एवं आडम्बर ने घर कर लिया है। धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन किया जा रहा है। उन्होंने उसका विरोध प्रारंभ कर दिया और अपने प्रचार के आधार में आगम-वाक्यों का प्रमाण देने लगे—"अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पंच महाव्रतों का पालन ही मुनिधर्म है। जड़-साधना एवं शिथिलाचार का धर्म में कोई स्थान नहीं है। अज्ञानी जीवों का अन्ध श्रद्धा के साथ खिलवाड़ करना धर्म नहीं है। आज के जो मतिहीन-मूढ़ मुनिवेषधारी होकर लोभारूढ़ बन हिंसा में धर्म बताते हैं, उनसे हमें बचना है।"

लोंकाशाह के शास्त्र-सम्मत जिनधर्म के प्रचार-प्रसार का लोगों पर यथोचित प्रभाव पड़ा। उनके समर्थक बढ़ते गए। यति-समुदाय में खलबली मची। उन्होंने लोंकाशाह के विरुद्ध अनर्गल प्रचार प्रारम्भ कर दिया किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। यति ज्ञानसुन्दर जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने आगम की प्रतियाँ बनवाना बंद कर दिया पर तब तक लोंकाशाह आगम-रहस्य जान चुके थे। अहमदाबाद एवं पाटण दोनों स्थानों पर लोंकाशाह ने सत्य-धर्मप्रसार का कार्य बढाया। अनेक दिग्गज यतियों, विद्वान-श्रावकों एवं साधुओं से वाद-विवाद हुए। सभी लोंकाशाह के शास्त्र-सम्मत प्रमाणों एवं तर्कों से अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके समर्थक निरन्तर बढ़ते ही गए। संवत् १५२८ में अणहिलपुर (पाटण) संघ के बड़े नेता लखमशी भाई आपको समझाने आए। कई घंटों की जैनधर्म संबंधी अनेक विषयों-पक्षों पर बहस हुई और अन्त में लोंकाशाह को समझाने के स्थान पर वे स्वयं लोंकाशाह से सत्यधर्म समझ कर, ग्रहण कर चले गए। सम्पूर्ण जैन समाज में इससे खलबली मच गई।

इस घटना के पश्चात् लोंकाशाह ने साधु के समान जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया।[1] उन्हीं दिनों सिरोही, अरहट्टवाड़ा, पाटण व सूरत के चार संघ यात्रा को निकले। वर्षा की अधिकता से उन्हें

१. कुछेक विद्वानों के अनुसार साधु बन गए थे, ऐसा उल्लेख मिलता है पर यह किसी भी तरह से प्रमाणित नहीं हो पाता।

स्थानकवासी जैन आचार्य-परम्परा [जय गच्छ के परिप्रेक्ष्य में]

डॉ. तेजसिंह गौड़

धर्मवीर लोंकाशाह

पन्द्रहवीं शताब्दी का समय जैनधर्म के इतिहास में अत्यन्त उथल-पुथल पूर्ण रहा। इस समय तक संयम में शिथिलाचार व्याप्त हो चुका था। धर्म-ग्रन्थ (शास्त्र) भण्डारों में बन्द कर दिए गए थे और गृहस्थ के लिए शास्त्र-पठन निषिद्ध था अतः शास्त्र-सम्मत साध्वाचार की जानकारी का अभाव-सा हो गया था। यतियों ने अपने आपको सुविधा-भोगी बना लिया था और साधारण जैन-जन में यह बात प्रचारित कर दी गई थी कि भगवान महावीर के कथनानुसार इस समय (पंचम आरे में) शुद्ध संयम न तो है और न होगा। यह संयोग ही था कि लोंकाशाह को आगम-ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारने का कार्य मिला, जिससे उन्हें मालूम हुआ कि साधुओं में कितना शिथिलाचार व्याप्त है ? वास्तविक साध्वाचार का उन्हें बोध हुआ और उन्होंने शिथिलता के विरुद्ध क्रांति का बिगुल बजा दिया।

क्रांतिकारी वीर लोंकाशाह के जीवन-वृत्त संबंधी सामग्री पर इतिहासकार एकमत नहीं हैं। इनका जन्म सिरोही से आठ मील दूर अरणहट्टवाड़ा[1] में वि. सं. १४७२ (कहीं-कहीं वि. सं. १४८२ का भी उल्लेख मिलता है।) की कार्तिक पूर्णिमा के दिन हुआ। आपके पिता हेमाशाह दफ्तरी मेहता थे तथा माता का नाम केसरबाई था। बचपन में अपनी स्मरण शक्ति, विवेचन-शक्ति तथा मोती के समान सुन्दराक्षरों के लिए आप अपने अध्यापकों के अत्यन्त प्रिय रहे। युवा हुए तो अपने मधुर-व्यवहार से व्यापार में भी आपने वृद्धि की तथा व्यापारियों में लोकप्रिय बने। सिरोही के श्री ओधवजी शाह की सुपुत्री सुदर्शना से आपका गठबंधन हुआ। पूर्णचंद्र नामक पुत्ररत्न हुआ। थोड़े समय पश्चात् ही पहले आपकी मातुश्री फिर पिताश्री काल कवलित हुए।

सिरोही राज्य की राज्य-व्यवस्था बिगड़ने एवं वहाँ अकाल पड़ जाने पर आप अहमदाबाद चले आये। अहमदाबाद में जौहरी का व्यवसाय अपनाया एवं ख्याति प्राप्त की। एक ही समान रूप, रंग, वर्ण के दो मोती अहमदाबाद के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आए। पहचान के लिए आप भी गए। सभी जौहरियों ने देख-परख कर दोनों को खरा बताया पर आपने उसमें से एक को खरा व एक को

---

१. कहीं "अरहट्टवाड़ा" का उल्लेख भी मिलता है।

नकली (खोटा) बताया। परीक्षा करने पर आपकी बात सही निकली तब से आपकी विशेष प्रसिद्धि हुई एवं आप दरबारी जौहरी बन गए।

उन्हीं दिनों चांपानेर के रावलराजा ने मुहम्मदशाह पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह के पुत्र कुतुबशाह ने अवसर देखकर अपने पिता को जहर खिलाकर मरवा दिया। इससे लोंकाशाह के हृदय पर गहरा आघात लगा। संसार के प्रति उनमें उदासीनता आ गई और वे अहमदाबाद छोड़ पाटण चले आए। यहाँ वे अपना समय यतियों एवं साधुओं के साथ बिताने लगे। उन्हें जिज्ञासु देखकर पाटण के यति सुमति विजय जी ने धर्म के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बतानी प्रारम्भ की। यति ज्ञानसुन्दर जी ने उनके अक्षरों की मन मुग्धकारी बनावट देखकर उन्हें दशवैकालिक सूत्र की नकल करने का कार्य सुपुर्द किया। वे नकल करने लगे। जैसे-जैसे उन्होंने सूत्र को पढ़ा उन्हें लगा कि वीर प्रभु की आज्ञा कुछ और है जबकि इस समय प्रचलित यति व श्रमण-जीवन कुछ और ही है। आवश्यकता थी सूत्र-प्रमाण की; सूत्र-शास्त्र सब यतियों के भण्डारों में पड़े थे।

उन्होंने दशवैकालिक सूत्र की दो प्रतियाँ नकल की। उसके बाद भी जो-जो सूत्र उन्हें प्रतिलिपि हेतु दिए गए, उनकी दो-दो प्रतियाँ तैयार कर, एक-एक प्रति अपने पास रखी। बहुत मनन-मंथन के बाद उन्होंने यह तय किया कि आज जो कुछ जैनधर्म के नाम पर हो रहा है, उसमें पाखण्ड, ढोंग एवं आडम्बर ने घर कर लिया है। धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन किया जा रहा है। उन्होंने उसका विरोध प्रारंभ कर दिया और अपने प्रचार के आधार में आगम-वाक्यों का प्रमाण देने लगे—"अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पंच महाव्रतों का पालन ही मुनिधर्म है। जड़-साधना एवं शिथिलाचार का धर्म में कोई स्थान नहीं है। अज्ञानी जीवों का अन्ध श्रद्धा के साथ खिलवाड़ करना धर्म नहीं है। आज के जो मतिहीन-मूढ़ मुनिवेषधारी होकर लोभारूढ़ बन हिंसा में धर्म बताते हैं, उनसे हमें बचना है।"

लोंकाशाह के शास्त्र-सम्मत जिनधर्म के प्रचार-प्रसार का लोगों पर यथोचित प्रभाव पड़ा। उनके समर्थक बढ़ते गए। यति-समुदाय में खलबली मची। उन्होंने लोंकाशाह के विरुद्ध अनर्गल प्रचार प्रारम्भ कर दिया किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। यति ज्ञानसुन्दर जी को ज्ञात हुआ तो उन्होंने आगम की प्रतियाँ बनवाना बंद कर दिया पर तब तक लोंकाशाह आगम-रहस्य जान चुके थे। अहमदाबाद एवं पाटण दोनों स्थानों पर लोंकाशाह ने सत्य-धर्मप्रसार का कार्य बढाया। अनेक दिग्गज यतियों, विद्वान-श्रावकों एवं साधुओं से वाद-विवाद हुए। सभी लोंकाशाह के शास्त्र-सम्मत प्रमाणों एवं तर्कों से अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके समर्थक निरन्तर बढ़ते ही गए। संवत् १५२८ में अणहिलपुर (पाटण) संघ के बड़े नेता लखमशी भाई आपको समझाने आए। कई घंटों की जैनधर्म संबंधी अनेक विषयों-पक्षों पर बहस हुई और अन्त में लोंकाशाह को समझाने के स्थान पर वे स्वयं लोंकाशाह से सत्यधर्म समझ कर, ग्रहण कर चले गए। सम्पूर्ण जैन समाज में इससे खलबली मच गई।

इस घटना के पश्चात् लोंकाशाह ने साधु के समान जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया।[1] उन्हीं दिनों सिरोही, अरहट्टवाड़ा, पाटण व सूरत के चार संघ यात्रा को निकले। वर्षा की अधिकता से उन्हें

१. कुछेक विद्वानों के अनुसार साधु बन गए थे, ऐसा उल्लेख मिलता है पर यह किसी भी तरह से प्रमाणित नहीं हो पाता।

अहमदावाद रुकना पड़ा। यहां रहकर उन्होंने लोंकाशाह से धर्म-चर्चा की एवं विचारों का आदान-प्रदान किया। चारों संघों के संघपतियों—नाग जी, दलीचंद जी, मोतीचंदजी और शंभुजी तथा उनके अन्य अनेक साथियों पर लोंकाशाह के विचारों का ऐसा प्रभाव कायम हुआ कि इन चारों संघपतियों सहित कुल ४५ यात्रियों ने आगम सूत्र-परम्परा के अनुसार सत्य-श्रमण-धर्म को स्वीकार किया। ऐसे अनेक श्रमण बने और कालान्तर में लोंकाशाह की मान्यता मानने वाले इस संघ का नाम लोंकागच्छ पड़ा। संवत् १५३१ में कई साध्वियाँ जी भी दीक्षित हुईं। इस समय तक लोंकागच्छ सम्प्रदाय में ४०० से अधिक साधु-सती तथा लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएँ बन गए थे।

शिथिलाचारियों के लिए यह असह्य था। उन्होंने लोंकाशाह के मतानुयायी संतों को तरह-तरह के कष्ट देने शुरू किए। कहीं-कहीं तो इन श्रमणों को गोचरी तक नहीं मिल पाती थी। वह जमाना ही यतियों के श्री-पूज्यों का था। लोंकाशाह दिल्ली गए और वहाँ के श्री-पूज्यों को भी सच्चे-धर्म का बोध कराया। दिल्ली में भी उनके अनेक शिष्य बने। विरोधियों को यह क्यों सुहाने लगा ....? अलवर में तीन दिन (तेले) के पारणों में उनको विषाक्त आहार गोचरी में वहराया गया, उसी से उनके प्राण-पंखेरू उड़ गए। आपके स्वर्गवास की तिथि पर भी मतैक्य नहीं है? इस पर भी चैत्र शुक्ला एकादशी वि. सं. १५४६ को इनका देहावसान अधिक विश्वसनीय लगता है।

लोंकाशाह की मृत्यु के पश्चात् लोंकागच्छ स्थानकवासी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उनकी लगाई सत्यधर्म की ज्योति का प्रभाव लगभग एक सौ वर्ष तक चला। किन्तु फिर शिथिलाचार फैलने लगा। कालान्तर में पाँच क्रियोद्धारक मुनिराजों ने समय-समय पर इस शिथिलाचार को मिटाया। श्री जीवराज जी महाराज, श्री लवजी ऋषि जी महाराज, श्री धर्मसिंह जी महाराज, श्री धर्मदास जी महाराज तथा हरजी ऋषि जी महाराज; इन पाँचों क्रियोद्धारकों की अलग-अलग परम्पराएँ चलीं।[1] इन क्रियोद्धारकों में से श्री धर्मदास जी के पट्ट शिष्य श्री धन्ना जी महाराज प्रभावी आचार्य हुए। श्री धन्ना जी के पट्टधर श्री भूधर जी हुए और श्री भूधर जी महाराज के पट्ट शिष्य पूज्य श्री जयमल जी हुए। श्री जयमल जी अपने समय के क्रांतिकारी युगपुरुष थे अतः आपके नाम से एक अलग संप्रदाय चला जो आज भी विद्यमान है और जिसके वर्तमान आचार्यप्रवर हैं—पूज्य श्री जीतमल जी महाराज।

क्रियोद्धारक श्री धर्मदास जी महाराज

आपका जन्म अहमदाबाद के पास सरखेज नाम के गाँव में वि. सं. १७०१ की चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन हुआ था। जाति के आप भावसार थे। पिता का नाम था श्री जीवणभाई पटेल और माता का हीरावाई।[2]

१. देखिए—जैन आचार्य चरितावली : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज।

२. वि. सं. १६६० के आसपास श्री प्रेमचन्दजी श्रीश्रीमाल के यति कुंवर जी से मतभेद होने पर इस पंथ की स्थापना हुई। ये शिथिलाचार के विरुद्ध थे तथा घर-घर जाकर भिक्षा लाने हेतु हाथ में एक पात्र रखते थे, अतः 'पात्रिया' कहलाए। ये लाल वस्त्र पहनते थे, तप-त्याग और संयम की आराधना करते थे पर इनकी मान्यता थी कि महावीर प्रभु के शासन में सच्चा साधु कोई हो ही नहीं सकता। चौदह पूर्व के और बारहवें अंग के विच्छेद के साथ साधुचर्या का भी लोप हो गया है।

जाति के पटेल-भावसार होने पर भी आपकी श्रद्धा जैनधर्म में थी और वहाँ के सुप्रसिद्ध यति तेजसिंह के यहाँ आपका आना-जाना था। बालक धर्मदास भी इन्हीं यति के पास पढ़ने लगा। बचपन से आपकी रुचि धर्म में पड़ गई थी। अल्पायु में ही आपने अनेक धर्मशास्त्रों एवं दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। आपकी बुद्धि विकसित एवं तीव्र थी। कई बार यति लोग आपके तर्कों से चौंक पड़ते थे।

माँ-बाप चाहते थे, आपकी शादी करना पर आप पर कुछ और ही रंग छा रहा था। आपने अपने मन की बात पिताश्री से कही और सगाई-विवाह आदि न करने का आग्रह किया। एक बार आपका मिलन 'पात्रिया-पंथ' के अग्रणी नेता श्री कल्याण जी भाई से हुआ। आपने पात्रिया-पंथ स्वीकार कर लिया। दो वर्ष तक उनके साथ रहे किन्तु सत्यधर्म की झलक उन्हें नहीं मिल पाई। वि. सं. १७१६ में आप अहमदाबाद चले आए। यहीं आप लवजी ऋषि की परम्परा के श्री सोम जी ऋषि और कान जी ऋषि से भी मिले। व्याख्यान सुने, आगम सुना प्रभावित भी हुए पर कुछ मान्यताओं में मतभेद होने से दीक्षा लेने की इच्छा होने पर भी वे उनसे दीक्षा नहीं ले सके।

उस समय शास्त्रज्ञाता, साहित्यस्रष्टा एवं प्रखर पंडित क्रियोद्धारक श्री धर्मसिंह जी भी अहमदाबाद में थे। धर्मदास जी उनसे भी मिले, उनसे वे प्रभावित हुए पर कुछ मान्यता में भेद पड़ता था अतः बादशाहवाड़ी में आश्विन शुक्ला एकादशी सोमवार को स्वयं ही दीक्षित हो गए और अट्ठम तप किया। पारणे की गोचरी में एक कुम्हार के घर उन्हें राख बहराई गई तथा एक अन्य घर से छाछ मिली। धर्मदास जी ने समभाव से छाछ में राख मिलाकर पारणा किया। दूसरे दिन उन्होंने यह वृत्तान्त महान् क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज को सुनाया। धर्मसिंह जी ने कहा—जिस प्रकार प्रत्येक घर में राख होती है, वैसे ही तुम्हारा श्रमण-परिवार चारों ओर फैल जाएगा, हर गांव में तुम्हारे भक्त होंगे पर जैसे छाछ से दूध फट जाता है, वैसे ही तुम्हारे होने वाले भक्तों में आपस में फूट रहेगी, मतभेद रहेंगे, मनमुटाव रहेगा।

उज्जैन श्रीसंघ ने आपको वि. सं. १७२१ में वसन्त पंचमी (माघ शुक्ला पंचमी) के दिन आचार्य पद प्रदान किया। उस समय आप केवल २१ वर्ष के थे एवं तीनों आचार्यों (लवजी ऋषि जी की संप्रदाय के आचार्य श्री कान जी, श्री धर्मसिंह जी एवं श्री धर्मदास जी) में सबसे छोटी उम्र के थे। आपके शिष्यों की संख्या ९९ थी। इतना बडा शिष्य-मण्डल उस समय किसी का नहीं था।

'धार' में आपके एक शिष्य ने आमरण संथारा ग्रहण कर लिया। कुछ समय बाद उस शिष्य का आत्मबल पीछे हटने लगा और धारणा बदल गई। वह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए तैयार हो गया। जब धर्मदास जी को यह वृत्तान्त विदित हुआ तो आपने कहलवाया कि मेरे आने तक प्रतिज्ञा पर स्थिर रहना।

उग्र विहार कर आप 'धार' पधारे। रास्ते में निर्दोष आहार-पानी भी नहीं मिला। धार पहुँच कर सभी तरह से शिष्य को समझाया, इस पर भी जब वह नहीं माना तो आपने स्वयं ने संथारा ग्रहण कर लिया[1]। अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री मूलचंद जी महाराज को बुलाकर आपने साधु-व्यवस्था समझा दी।

१. हमारा इतिहास, १५९-६०

अहमदाबाद रुकना पड़ा। यहां रहकर उन्होंने लोंकाशाह से धर्म-चर्चा की एवं विचारों का आदान-प्रदान किया। चारों संघों के संघपतियों—नाग जी, दलीचंद जी, मोतीचंदजी और शंभुजी तथा उनके अन्य अनेक साथियों पर लोंकाशाह के विचारों का ऐसा प्रभाव कायम हुआ कि इन चारों संघपतियों सहित कुल ४५ यात्रियों ने आगम सूत्र-परम्परा के अनुसार सत्य-श्रमण-धर्म को स्वीकार किया। ऐसे अनेक श्रमण बने और कालान्तर में लोंकाशाह की मान्यता मानने वाले इस संघ का नाम लोंकागच्छ पड़ा। संवत् १५३१ में कई साध्वियाँ जी भी दीक्षित हुईं। इस समय तक लोंकागच्छ सम्प्रदाय में ४०० से अधिक साधु-सती तथा लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविकाएँ बन गए थे।

शिथिलाचारियों के लिए यह असह्य था। उन्होंने लोंकाशाह के मतानुयायी संतों को तरह-तरह के कष्ट देने शुरू किए। कहीं-कहीं तो इन श्रमणों को गोचरी तक नहीं मिल पाती थी। वह जमाना ही यतियों के श्री-पूज्यों का था। लोंकाशाह दिल्ली गए और वहां के श्री-पूज्यों को भी सच्चे-धर्म का बोध कराया। दिल्ली में भी उनके अनेक शिष्य बने। विरोधियों को यह क्यों सुहाने लगा ....? अलवर में तीन दिन (तेले) के पारणों में उनको विषाक्त आहार गोचरी में वहराया गया, उसी से उनके प्राण-पंखेरू उड़ गए। आपके स्वर्गवास की तिथि पर भी मतैक्य नहीं है? इस पर भी चैत्र शुक्ला एकादशी वि. सं. १५४६ को इनका देहावसान अधिक विश्वसनीय लगता है।

लोंकाशाह की मृत्यु के पश्चात् लोंकागच्छ स्थानकवासी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उनकी लगाई सत्यधर्म की ज्योति का प्रभाव लगभग एक सौ वर्ष तक चला। किन्तु फिर शिथिलाचार फैलने लगा। कालान्तर में पाँच क्रियोद्धारक मुनिराजों ने समय-समय पर इस शिथिलाचार को मिटाया। श्री जीवराज जी महाराज, श्री लवजी ऋषि जी महाराज, श्री धर्मसिंह जी महाराज, श्री धर्मदास जी महाराज तथा हरजी ऋषि जी महाराज; इन पांचों क्रियोद्धारकों की अलग-अलग परम्पराएँ चलीं।[1] इन क्रियोद्धारकों में से श्री धर्मदास जी के पट्ट शिष्य श्री धन्ना जी महाराज प्रभावी आचार्य हुए। श्री धन्ना जी के पट्टधर श्री भूधर जी हुए और श्री भूधर जी महाराज के पट्ट शिष्य पूज्य श्री जयमल जी हुए। श्री जयमल जी अपने समय के क्रांतिकारी युगपुरुष थे अतः आपके नाम से एक अलग संप्रदाय चला जो आज भी विद्यमान है और जिसके वर्तमान आचार्यप्रवर हैं—पूज्य श्री जीतमल जी महाराज।

क्रियोद्धारक श्री धर्मदास जी महाराज

आपका जन्म अहमदाबाद के पास सरखेज नाम के गाँव में वि. सं. १७०१ की चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन हुआ था। जाति के आप भावसार थे। पिता का नाम था श्री जीवणभाई पटेल और माता का हीराबाई।[2]

---

१. देखिए—जैन आचार्य चरितावली : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज।

२. वि. सं. १६६० के आसपास श्री प्रेमचन्दजी श्रीश्रीमाल के यति कुंवर जी से मतभेद होने पर इस पंथ की स्थापना हुई। ये शिथिलाचार के विरुद्ध थे तथा घर-घर जाकर भिक्षा लाने हेतु हाथ में एक पात्र रखते थे, अतः 'पात्रिया' कहलाए। ये लाल वस्त्र पहनते थे, तप-त्याग और संयम की आराधना करते थे पर इनकी मान्यता थी कि महावीर प्रभु के शासन में सच्चा साधु कोई हो ही नहीं सकता। चौदह पूर्व के और बारहवें अंग के विच्छेद के साथ साधुचर्या का भी लोप हो गया है।

जाति के पटेल-भावसार होने पर भी आपकी श्रद्धा जैनधर्म में थी और वहाँ के सुप्रसिद्ध यति तेजसिंह के यहाँ आपका आना-जाना था। बालक धर्मदास भी इन्हीं यति के पास पढ़ने लगा। बचपन से आपकी रुचि धर्म में पड़ गई थी। अल्पायु में ही आपने अनेक धर्मशास्त्रों एवं दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। आपकी बुद्धि विकसित एवं तीव्र थी। कई बार यति लोग आपके तर्कों से चौंक पड़ते थे।

माँ-बाप चाहते थे, आपकी शादी करना पर आप पर कुछ और ही रंग छा रहा था। आपने अपने मन की बात पिताश्री से कही और सगाई-विवाह आदि न करने का आग्रह किया। एक बार आपका मिलन 'पात्रिया-पंथ' के अग्रणी नेता श्री कल्याण जी भाई से हुआ। आपने पात्रिया-पंथ स्वीकार कर लिया। दो वर्ष तक उनके साथ रहे किन्तु सत्यधर्म की झलक उन्हें नहीं मिल पाई। वि. सं. १७१६ में आप अहमदाबाद चले आए। यहीं आप लवजी ऋषि की परम्परा के श्री सोम जी ऋषि और कान जी ऋषि से भी मिले। व्याख्यान सुने, आगम सुना प्रभावित भी हुए पर कुछ मान्यताओं में मतभेद होने से दीक्षा लेने की इच्छा होने पर भी वे उनसे दीक्षा नहीं ले सके।

उस समय शास्त्रज्ञाता, साहित्यस्रष्टा एवं प्रखर पंडित क्रियोद्धारक श्री धर्मसिंह जी भी अहमदाबाद में थे। धर्मदास जी उनसे भी मिले, उनसे वे प्रभावित हुए पर कुछ मान्यता में भेद पड़ता था अतः बादशाहवाड़ी में आश्विन शुक्ला एकादशी सोमवार को स्वयं ही दीक्षित हो गए और अट्ठम तप किया। पारणे की गोचरी में एक कुम्हार के घर उन्हें राख बहराई गई तथा एक अन्य घर से छाछ मिली। धर्मदास जी ने समभाव से छाछ में राख मिलाकर पारणा किया। दूसरे दिन उन्होंने यह वृत्तान्त महान् क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज को सुनाया। धर्मसिंह जी ने कहा—जिस प्रकार प्रत्येक घर में राख होती है, वैसे ही तुम्हारा श्रमण-परिवार चारों ओर फैल जाएगा, हर गांव में तुम्हारे भक्त होंगे पर जैसे छाछ से दूध फट जाता है, वैसे ही तुम्हारे होने वाले भक्तों में आपस में फूट रहेगी, मतभेद रहेंगे, मनमुटाव रहेगा।

उज्जैन श्रीसंघ ने आपको वि. सं. १७२१ में वसन्त पंचमी (माघ शुक्ला पंचमी) के दिन आचार्य पद प्रदान किया। उस समय आप केवल २१ वर्ष के थे एवं तीनों आचार्यों (लवजी ऋषि जी की संप्रदाय के आचार्य श्री कान जी, श्री धर्मसिंह जी एवं श्री धर्मदास जी) में सबसे छोटी उम्र के थे। आपके शिष्यों की संख्या ९९ थी। इतना बड़ा शिष्य-मण्डल उस समय किसी का नहीं था।

'धार' में आपके एक शिष्य ने आमरण संथारा ग्रहण कर लिया। कुछ समय बाद उस शिष्य का आत्मबल पीछे हटने लगा और धारणा बदल गई। वह अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए तैयार हो गया। जब धर्मदास जी को यह वृत्तान्त विदित हुआ तो आपने कहलवाया कि मेरे आने तक प्रतिज्ञा पर स्थिर रहना।

उग्र विहार कर आप 'धार' पधारे। रास्ते में निर्दोष आहार-पानी भी नहीं मिला। धार पहुँच कर सभी तरह से शिष्य को समझाया, इस पर भी जब वह नहीं माना तो आपने स्वयं ने संथारा ग्रहण कर लिया[1]। अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री मूलचंद जी महाराज को बुलाकर आपने साधु-व्यवस्था समझा दी।

---

१. हमारा इतिहास, १५९–६०

आषाढ़ शुक्ला पंचमी संवत् १७७२ को आप स्वर्गवासी हुए[1]। इस प्रकार बलिदान का एक नया आदर्श आपने समाज के सम्मुख रखा।

उनके पट्ट-शिष्य श्री मूलचंद जी महाराज ने सभी शिष्यों को एकत्रित कर धर्मदास जी की इच्छानुसार बाईस टोलियों में विभक्त किया, सभी के प्रचार क्षेत्र नियत किए और आदेश दिया कि वे जाएँ और अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक से अधिक श्रमण बनाये एवं चरित्रवान् श्रावक-समाज का निर्माण करें। तभी से स्थानकवासी समाज में यह 'बाईस-सम्प्रदाय' नाम चला है। इस नई व्यवस्था के अनुसार मारवाड़, थली पट्टी तथा मेवाड़-मेरवाड़ा का क्षेत्र पूज्य आचार्य श्री धन्ना जी म. सा. के हिस्से में आया।

आज इन बाईस-सम्प्रदायों में से कितनी और कौन-कौनसी सम्प्रदाएँ विद्यमान हैं, यह कहना बड़ा कठिन है। अनेक पट्टावलियों में जिन पाँच शिष्यों की परम्पराओं का उल्लेख मिलता है, उनके नाम हैं—(१) श्री धन्ना जी महाराज, (२) श्री मूलचन्द जी महाराज, (३) श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज, (४) श्री मनोहरदास जी महाराज और (५) श्री रायचंद जी महाराज। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं पंजाब की कई परम्पराएँ भी विद्यमान हैं।

श्री धर्मदास जी के प्रमुख शिष्य श्री धन्ना जी ने मारवाड़ में जिन-धर्म का खूब प्रभाव फैलाया। श्री धन्नाजी के प्रमुख शिष्य श्री भूधर जी हुए।

आचार्य श्री धन्ना जी महाराज

सांचोर के कामदार श्री बाघ जो मेहता के सुपुत्र थे, श्री धनराज जी। बचपन बीतने पर आपकी सगाई हुई पर वैराग्योत्पत्ति के कारण आप आत्म-ज्ञान की खोज में यतियों की एक शाखा "पोतिया बंद" के प्रभावी क्रियाधारी श्रावक श्री पूनमचन्द जी गुरांसा के पास आए। धर्म-अभ्यास चला पर उन्हें लगा कि जिस आत्मधर्म की खोज में वे हैं वह यह धर्म नहीं है। उस समय आचार्य धर्मदासजी गाँव-गाँव में धर्मप्रचार कर रहे थे। धनराज को जैसा सिखाया गया था, उसी के अनुरूप वे इन साधुओं के विरोधी थे और उन्हें ढोंगी-पाखंडी मानते थे पर पोतियाबंद-पंथ की यह दलील कि 'श्रावकाचार के आगे कुछ नहीं है'—उन्हें मान्य नहीं थी। जब धर्मदास जी धनराज जी के गाँव पहुँचे तो धनराज जी से नहीं रहा गया, वे भी व्याख्यान सुनने चले गए। व्याख्यान के पश्चात् उनका आचार्य जी से वार्तालाप हुआ। धनराज जी ने अपनी मान्यताएँ जो उन्हें सिखाई गई थीं, आचार्य जी के सम्मुख रखीं। आचार्य जी ने उनको सत्यधर्म समझाया। आप समझ गए और आज्ञा लेकर आपके पास संवत् १७२७ में दीक्षित हुए। आपने तप पर अधिक बल दिया। एकान्तर तो चालू ही रखा; बेले, तेले और इससे भी अधिक कठिन तप किया।

वर्षों तक आप धर्मदास जी के साथ रहे फिर आपकी योग्यता, प्रतिभा एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की श्रेष्ठता देखकर आपको स्वतन्त्र धर्म-प्रचार तथा शिष्य-परिवार करने की स्वीकृति प्रदान कर दी गई। पंजाब क्षेत्र के प्रभावी आचार्य श्री अमरसिंह जी से भी आपकी भावभीनी गहरी मुलाकात जोधपुर में

---

१. स्वर्गारोहण तिथि पर मतैक्य नहीं, पट्टावली प्रबन्ध-संग्रह—आ. हस्तीमल जी म.पृ. १५० पर १७५९ बताया है।

आसोप की हवेली में हुई। दोनों की विचारणाओं का अन्तर मिटा और दोनों ने एक साथ गोचरी कर भविष्य में एक ही गच्छ में रहने का निर्णय लिया। दोनों आचार्यों को मिलाने मे जोधपुर राज्य के दीवान भण्डारी खींवसी जी का बड़ा हाथ था। संवत् १७८४ की चैत्र शुक्ला अष्टमी के दिन आपने काल-धर्म समीप जानकर 'समाधि-मरण' की इच्छा प्रकट की। सभी शिष्यों ने कहा—"आप स्वस्थ हैं, ऐसा क्यों कहते है? आपने फरमाया—"तुम लोग नहीं जानते, मैं जान गया हूँ। अब तो यह थम्भा अन्न खाए तो धन्ना अन्न खाए।"

उन्होंने स्वयं ही संथारा ग्रहण किया। विरोधी लोग भला उन्हें यहां भी क्यों छोड़ते? भड़का दिया राज्य-कर्मचारियों को कि यह तो आत्महत्या है। राज्य-कर्मचारी दौड़े हुए स्थानक आए। उनके पूछने पर सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान कर दिया गया। आचार्य धन्ना जी ने कहा—"वैसे भी आज से मेरे वेले की तपस्या है, मुझे अब इस देह से कोई मोह नहीं है। मैं समाधि ले रहा हूँ। चैत्र शुक्ला दशमी को दूसरे प्रहर इस नश्वर-देह का त्याग कर मेरा आत्मा अन्यत्र चला जाएगा।"

संवत् १७८४ की चैत्र शुक्ला दशमी के दिन जैसा कि आचार्य श्री ने कहा, उनकी आत्मा का परलोक गमन हुआ। वस्तुत: वे एक तपोधनी एवं पहुँचे हुए सिद्ध-सन्त थे। आपके अनेक शिष्यों में श्री भूधर जी महाराज बड़े ही यशस्वी शिष्य हुए।

आचार्य श्री भूधर जी महाराज

नागौर निवासी श्री माणकचंद जी मुणोत की धर्मपत्नी रूपांदे की पावन-कुक्षि से १७१२ सं. की विजयादशमी (आश्विन शुक्ला दशमी) के दिन एक भाग्यवान बालक ने जन्म लिया। आप दिखने में अति सुन्दर, बुद्धि से प्रतिभा-सम्पन्न एवं शक्ति-शौर्य के भण्डार थे। भाग्य ने बचपन में ही आपके सिर से माँ-बाप का साया उठा लिया। आपने अपनी रुचि के अनुसार सैनिक शिक्षा प्राप्त कर उसमें निपुणता हासिल की एवं योग्यता के बल पर सेना में उच्च स्थान पाया। कुछ समय पश्चात् आप सोजत शहर में कोतवाल के पद पर नियुक्त हुए।

आपके सद्गुणों, आपकी योग्यता, प्रतिभा एवं आपके शौर्य से प्रभावित होकर सोजत निवासी शाह दल्ला जी रातड़िया ने अपनी सुन्दर, सुशील एवं गुणसम्पन्न कन्या का विवाह आपके साथ कर दिया। सोजत में कोतवाल-पद पर नियुक्त होते ही आपने डाकू-सफाया-अभियान चलाया और अब तक डाकुओं से आतंकित सोजत की जनता को आतंक-मुक्त किया। इससे श्री भूधर जी सोजतशहर में अधिक लोक-प्रिय हो गए तथा चोर-डाकुओं में श्री भूधर जी का भय छा गया। निकटस्थ ग्राम-नगर के ठाकुर, जमींदार आपकी बड़ी इज्जत करने लगे।

एक बार संवत् १७४० में कंटालिया ग्राम पर ८४ डाकुओं ने धावा बोल दिया। सभी डाकू ऊँट पर असवार थे। जैसे ही आपको इसकी सूचना मिली आप तुरन्त अपनी प्रिय ऊंटनी (सांडनी) पर सवार होकर अपनी फौजी टुकड़ी के साथ कंटालिया की ओर चल पड़े। तीव्र गति से चलते हुए ऊंटनी को दौड़ाते, हवा से वातें करते श्री भूधर जी शीघ्र कंटालिया के निकट पहुँच गए। डाकुओं को उनके आने की खबर मिली तो वे भय से भाग खड़े हुए। "भागो, भूधर आया।"—ये शब्द थे जो डाकुओं

आषाढ़ शुक्ला पंचमी संवत् १७७२ को आप स्वर्गवासी हुए[1]। इस प्रकार बलिदान का एक नया आदर्श आपने समाज के सम्मुख रखा।

उनके पट्ट-शिष्य श्री मूलचंद जी महाराज ने सभी शिष्यों को एकत्रित कर धर्मदास जी की इच्छानुसार बाईस टोलियों में विभक्त किया, सभी के प्रचार क्षेत्र नियत किए और आदेश दिया कि वे जाएँ और अपने-अपने क्षेत्रों में अधिक से अधिक श्रमण बनाये एवं चरित्रवान् श्रावक-समाज का निर्माण करें। तभी से स्थानकवासी समाज में यह 'बाईस-सम्प्रदाय' नाम चला है। इस नई व्यवस्था के अनुसार मारवाड़, थली पट्टी तथा मेवाड़-मेरवाड़ा का क्षेत्र पूज्य आचार्य श्री धन्ना जी म. सा. के हिस्से में आया।

आज इन बाईस-सम्प्रदायों में से कितनी और कौन-कौनसी सम्प्रदाएँ विद्यमान हैं, यह कहना बड़ा कठिन है। अनेक पट्टावलियों में जिन पाँच शिष्यों की परम्पराओं का उल्लेख मिलता है, उनके नाम हैं—(१) श्री धन्ना जी महाराज, (२) श्री मूलचन्द जी महाराज, (३) श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज, (४) श्री मनोहरदास जी महाराज और (५) श्री रायचंद जी महाराज। इनके अतिरिक्त दक्षिण एवं पंजाब की कई परम्पराएँ भी विद्यमान हैं।

श्री धर्मदास जी के प्रमुख शिष्य श्री धन्ना जी ने मारवाड़ में जिन-धर्म का खूब प्रभाव फैलाया। श्री धन्नाजी के प्रमुख शिष्य श्री भूधर जी हुए।

आचार्य श्री धन्ना जी महाराज

सांचोर के कामदार श्री वाघ जो मेहता के सुपुत्र थे, श्री धनराज जी। बचपन बीतने पर आपकी सगाई हुई पर वैराग्योत्पत्ति के कारण आप आत्म-ज्ञान की खोज में यतियों की एक शाखा "पोतिया बंद" के प्रभावी क्रियाधारी श्रावक श्री पूनमचन्द जी गुरांसा के पास आए। धर्म-अभ्यास चला पर उन्हें लगा कि जिस आत्मधर्म की खोज में वे हैं वह यह धर्म नहीं है। उस समय आचार्य धर्मदासजी गाँव-गाँव में धर्मप्रचार कर रहे थे। धनराज को जैसा सिखाया गया था, उसी के अनुरूप वे इन साधुओं के विरोधी थे और उन्हें ढोंगी-पाखंडी मानते थे पर पोतियाबंद-पंथ की यह दलील कि 'श्रावकाचार के आगे कुछ नहीं है'—उन्हें मान्य नहीं थी। जब धर्मदास जी धनराज जी के गाँव पहुँचे तो धनराज जी से नहीं रहा गया, वे भी व्याख्यान सुनने चले गए। व्याख्यान के पश्चात् उनका आचार्य जी से वार्तालाप हुआ। धनराज जी ने अपनी मान्यताएँ जो उन्हें सिखाई गई थीं, आचार्य जी के सम्मुख रखीं। आचार्य जी ने उनको सत्यधर्म समझाया। आप समझ गए और आज्ञा लेकर आपके पास संवत् १७२७ में दीक्षित हुए। आपने तप पर अधिक बल दिया। एकान्तर तो चालू ही रखा; बेले, तेले और इससे भी अधिक कठिन तप किया।

वर्षों तक आप धर्मदास जी के साथ रहे फिर आपकी योग्यता, प्रतिभा एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की श्रेष्ठता देखकर आपको स्वतन्त्र धर्म-प्रचार तथा शिष्य-परिवार करने की स्वीकृति प्रदान कर दी गई। पंजाब क्षेत्र के प्रभावी आचार्य श्री अमरसिंह जी से भी आपकी भावभीनी गहरी मुलाकात जोधपुर में

1. स्वर्गारोहण तिथि पर मतैक्य नहीं, पट्टावली प्रबन्ध-संग्रह—आ. हस्तीमल जी म.पृ. १५० पर १७५९ बताया है।

आसोप की हवेली में हुई। दोनों की विचारणाओं का अन्तर मिटा और दोनों ने एक साथ गोचरी कर भविष्य में एक ही गच्छ में रहने का निर्णय लिया। दोनों आचार्यों को मिलाने में जोधपुर राज्य के दीवान भण्डारी खींवसी जी का बड़ा हाथ था। संवत् १७८४ की चैत्र शुक्ला अष्टमी के दिन आपने काल-धर्म समीप जानकर 'समाधि-मरण' की इच्छा प्रकट की। सभी शिष्यों ने कहा—"आप स्वस्थ हैं, ऐसा क्यों कहते हैं? आपने फरमाया—"तुम लोग नहीं जानते, मैं जान गया हूँ। अब तो यह थम्भा अन्न खाए तो धन्ना अन्न खाए।"

उन्होंने स्वयं ही संथारा ग्रहण किया। विरोधी लोग भला उन्हें यहां भी क्यों छोड़ते? भड़का दिया राज्य-कर्मचारियों को कि यह तो आत्महत्या है। राज्य-कर्मचारी दौड़े हुए स्थानक आए। उनके पूछने पर सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान कर दिया गया। आचार्य धन्ना जी ने कहा—"वैसे भी आज से मेरे बेले की तपस्या है, मुझे अब इस देह से कोई मोह नहीं है। मैं समाधि ले रहा हूँ। चैत्र शुक्ला दशमी को दूसरे प्रहर इस नश्वर-देह का त्याग कर मेरा आत्मा अन्यत्र चला जाएगा।"

संवत् १७८४ की चैत्र शुक्ला दशमी के दिन जैसा कि आचार्य श्री ने कहा, उनकी आत्मा का परलोक गमन हुआ। वस्तुत: वे एक तपोधनी एवं पहुँचे हुए सिद्ध-सन्त थे। आपके अनेक शिष्यों में श्री भूधर जी महाराज बड़े ही यशस्वी शिष्य हुए।

आचार्य श्री भूधर जी महाराज

नागौर निवासी श्री माणकचंद जी मुणोत की धर्मपत्नी रूपांदे की पावन-कुक्षि से १७१२ सं. की विजयादशमी (आश्विन शुक्ला दशमी) के दिन एक भाग्यवान बालक ने जन्म लिया। आप दिखने में अति सुन्दर, बुद्धि से प्रतिभा-सम्पन्न एवं शक्ति-शौर्य के भण्डार थे। भाग्य ने बचपन में ही आपके सिर से माँ-बाप का साया उठा लिया। आपने अपनी रुचि के अनुसार सैनिक शिक्षा प्राप्त कर उसमें निपुणता हासिल की एवं योग्यता के बल पर सेना में उच्च स्थान पाया। कुछ समय पश्चात् आप सोजत शहर में कोतवाल के पद पर नियुक्त हुए।

आपके सद्गुणों, आपकी योग्यता, प्रतिभा एवं आपके शौर्य से प्रभावित होकर सोजत निवासी शाह दल्ला जी रातड़िया ने अपनी सुन्दर, सुशील एवं गुणसम्पन्न कन्या का विवाह आपके साथ कर दिया। सोजत में कोतवाल-पद पर नियुक्त होते ही आपने डाकू-सफाया-अभियान चलाया और अब तक डाकुओं से आतंकित सोजत की जनता को आतंक-मुक्त किया। इससे श्री भूधर जी सोजतशहर में अधिक लोकप्रिय हो गए तथा चोर-डाकुओं में श्री भूधर जी का भय छा गया। निकटस्थ ग्राम-नगर के ठाकुर, जमींदार आपकी बड़ी इज्जत करने लगे।

एक बार संवत् १७४० में कंटालिया ग्राम पर ८४ डाकुओं ने धावा बोल दिया। सभी डाकू ऊँट पर असवार थे। जैसे ही आपको इसकी सूचना मिली आप तुरन्त अपनी प्रिय ऊंटनी (सांडनी) पर सवार होकर अपनी फौजी टुकड़ी के साथ कंटालिया की ओर चल पड़े। तीव्र गति से चलते हुए ऊंटनी को दौड़ाते, हवा से बातें करते श्री भूधर जी शीघ्र कंटालिया के निकट पहुँच गए। डाकुओं को उनके आने की खबर मिली तो वे भय से भाग खड़े हुए। "भागो, भूधर आया।"—ये शब्द थे जो डाकुओं

के मुख से उस समय निकले। श्री भूधर जी ने उनका पीछा किया। कुछ ही पलों में वे उनके बराबर पहुँच गए। उनके हाथ में तलवार चमक उठी। भूधर का मुकाबला डाकू क्या कर पाते? उन्होंने चाल चली और उनकी प्रिय सांडनी की गर्दन पर दूर से कटार फेंकी, कटार आई और सांडनी की गर्दन में खुप गई।

कटी गर्दन लटक गई पर सांडनी दौड़ती रही। बड़ा मार्मिक दृश्य था। डाकुओं के तो होश ही गायब हो गए। कई डाकू घबरा कर, ऊँटों से गिर गए; उनके साथी उन्हें ऊँटों से कुचलते चले गए। अंत में उस सांडनी की गति धीमी हुई। वह रुकी, बैठी, भूधर नीचे उतरे और सांडनी ने दम तोड़ दिया। अपने अत्यन्त प्रिय एवं वफादार पशु की मौत ने भूधर जी के हृदय में हाहाकार मचा दी। वे घर पहुँचे, पर मन को चैन कहाँ? नौकरी पर गए, वहाँ भी मन अशांत! रह-रहकर उनकी आँखों के समक्ष गर्दन कटी सांडनी, दम तोड़ती सांडनी, खून से लथ-पथ सांडनी घूमने लगी। आपने जोधपुर-नरेश की सेवा में अपने कोतवाल-पद का त्याग-पत्र भेज दिया और अपना अधिकांश समय आध्यात्मिक चिन्तन में बिताने लगे। संसार की असारता, नश्वरता, अवश्यंभावी मृत्यु आदि पर गहन चिन्तन-मनन होने लगा। वे अब धर्म-स्थानकों में फिरने लगे, योगी-यती एवं फकीरों की संगति करने लगे। सोजत में पोतियाबन्द यतियों का बड़ा प्रभाव था। भूधर जी की पत्नी उन्हें मानसिक शान्ति के लिए इन यतियों के पास ले गई। हवा का रुख देखकर उन्होंने कह दिया—"इन पर सांडनी की आत्मा का ओछाया है।"

भूधर जी इन पोतिया-बन्द गुरांसा की नेश्राय में रहने लगे। किन्तु वहाँ सच्चा तप, त्याग, चारित्र कहाँ था? वहाँ तो मंत्र-तंत्र की साधना, गादी प्राप्त करने के लिए षडयंत्र, धन-प्राप्ति एवं उसके उपभोग के अनेक छलछंद तथा पैसों के लोभी माँ-बापों से कच्ची उम्र के बच्चों की खरीदी आदि ऐसे-ऐसे घृणित कार्य उन्होंने देखे कि उनके मन की अशान्ति घटने के बजाय बढ़ने लगी। उनकी आत्मा सत्यधर्म की खोज में तड़पने लगी।

इन्हीं दिनों आचार्य श्री धन्ना जी ग्रामानुग्राम विचरण करते वहाँ पधारे। उनका तप-त्याग जबरदस्त था। बेले-बेले की तपस्या, पारणे में चार विगय का त्याग; अपवाद में घृत में तली पुड़ी के अतिरिक्त घृत का भी त्याग था। भूधर जी शान्ति की खोज में उनके पास भी गए। यहाँ गादी न थी, पैसों की मारामारी न थी, छल-प्रपंच नहीं था और किसी तरह का लोभ भी नहीं था। भूधर जी अत्यन्त प्रभावित हुए। कई दिन आपके साथ रहे। उनकी आत्मा को शान्ति मिली। आपने पूज्य धन्ना जी के पास सं. १७७७ में शुद्ध आर्हती दीक्षा अंगीकार की।[1] एक मान्यतानुसार इनकी दीक्षा सं. १७५१ फाल्गुन शुक्ला पंचमी को हुई।[2]

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् आप ज्ञान व संयम की आराधना में लीन हो गए। आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। अपने गुरु की सेवा भी मन लगाकर की। गुरुदेव ने इन्हें तपाराधना का महामंत्र सिखाया—

---

१. जयध्वज ७१९ पृष्ठ।
२. युवाचार्य मधुकरमुनि-स्मृति-ग्रंथ—१९।

आयावयाही चयसोगुमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही हो हिसि संपराए ।।

—"आतापना लो (तप करो) और सुकुमारता त्यागो; इच्छाओं का दमन करो ताकि दुःख का स्वयं दमन हो। द्वेष का छेद करो और राग का विनाश करो; इस प्रकार तुम संसार में सच्चे सुखी बन सकते हो।"

श्री भूधर जी महाराज ने उग्र तपाराधन किया। भयंकर गर्मी में वे सूर्य की आतापना लेते, कड़कड़ाती सर्दी में निर्वस्त्र (चद्दर रहित) रहते। उग्र तपस्वी के नाम से आप शीघ्र विख्यात हो गए। आचार्य श्री धन्ना जी ने आपको सुयोग्य जानकर अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

आचार्य-पद प्राप्ति के पश्चात् एकदा आप कालू ग्राम पधारे। साधुमार्गी, सरावगी एवं अन्य सम्प्रदायों के बीच समझौता करा कर एकता स्थापित की। सरावगियों (दिगम्बरों) के संशयों को सचोट तर्क-विधान से दूर किया।

पूज्य भूधर जी महाराज अत्यन्त क्षमाशील थे और अपकार के बदले भी उपकार करना ही धर्म समझते थे। कालू ग्राम में एक बार जब आप नदी की बालू-रेत में सूर्य-ताप एवं भयंकर ऊष्ण-बालू की आतापना ले रहे थे कि उनके एक विद्वेषी नारायण पंडित ने एक जाट के द्वारा मुनि श्री के सिर पर लकड़ी की जड़ी हुई मूठ से घातक प्रहार करवाया। संत भूधर जी लहुलुहान हो गिर गए, जाट भाग गया, पंडित पकड़ा गया। यह नारायण पंडित काशी से पंडित बन कालू आए थे। प्रारम्भ में उनके आख्यान व व्याख्यान में लोगों की उपस्थिति अच्छी थी, भेंट-दक्षिणा भी भरपूर आती थी, मान-सम्मान भी था पर श्री भूधर जी के कालू आने के बाद यह समाप्त हो गया। जनता भूधर जी की ओर आकर्षित हो गई। पण्डित तिलमला उठा, भूधर जी से शास्त्रार्थ करने गया पर अपनी हंसी उड़वाकर आया, तब से उसके मन में प्रतिशोध की ज्वाला धधक रही थी। पूज्य भूधर जी पर प्रहार करवाने के पीछे यही प्रतिशोध था।

उस समय दिल्ली सल्तनत का फरमान था कि किसी मुंहपत्ति-धारी साधु को कहीं कोई कष्ट न हो; जो उन्हें कष्ट दें, उन्हें कड़ी सजा दी जाए। नारायण पंडित को भी भयंकर सजा दी, कालू के हवलदार ने। पूज्य भूधर जी महाराज जब होश में आए और उन्हें पता चला तो उनका दयालु हृदय द्रवित हो गया। आपने कहा—"नारायण पण्डित को छुड़ाओ, अन्यथा मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा।" गाँव वालों के दबाव से एवं उनकी सम्मिलित जिम्मेदारी पर नारायण पण्डित को छोड़ दिया गया। यहीं से पण्डित जी का हृदय-परिवर्तन हुआ और कालान्तर में यह काशी का पण्डित पूज्य श्री भूधर जी म.सा. का प्रिय-शिष्य मुनि श्री नारायणदास बना।

पूज्य भूधर जी महाराज का एक चातुर्मास दिल्ली में हुआ था। आपके ज्ञान, प्रतिभा एवं प्रवचन-पटुता से दिल्ली में जैनधर्म की पताका फहराने लगी। जोधपुर, जयपुर आदि मारवाड़ के कई नरेश जब भी दिल्ली आते तो पूज्य भूधर जी के दर्शनार्थ जाते, व्याख्यान सुनते। इन्हीं नरेशों ने बादशाह

मुहम्मदशाह को पूज्य भूधर जी का भक्त बनाया तथा शाहजादा तो कई बार व्याख्यान सुनने भी गया। दिल्ली के चातुर्मास में आपने सांवत्सरिक पर्व पर समस्त प्रकार की हिंसा बन्द करवाई, कत्लखाने बन्द रहे। यहीं श्रेष्ठीवर्य श्री सूरजमल जी ने दीक्षा धारण की।

आचार्य श्री के प्रवचन प्रभावशाली एव सार्वभौम होते थे। इन प्रवचनों में जो रसानुभूति होती, उससे लोगों में धर्मप्रभावना होती। जैन-समुदाय के अतिरिक्त जैनेतर समुदाय भी इन प्रवचनों में आते। बहुत से राजा, महाराजा, दीवान, श्रेष्ठीजन आते। शहजादा एवं बादशाह भी आते। अपने समुपदेशों से आपने अनेक ठाकुरों, जमींदारों, जागीरदारों, राजाओं व महाराजाओं को मांस-मदिरा से विरक्त किया, उनके नाच-मुजरे छुड़वाए, शिकार के त्याग करवाए और इस तरह जैनधर्म को दीप्तिमान किया।

आपके नव शिष्य थे। सभी शिष्य प्रतिभा-सम्पन्न, तेजस्वी एवं धर्म प्रभावक थे। श्री नारायण-दास जी, श्री रूपचन्द्र जी, श्री गोरधन जी, श्री जगरूप जी, श्री रतनचन्द जी, श्री रघुनाथ जी, श्री जेतसी जी, श्री जयमल्ल जी, श्री कुशलो जी—इन नवशिष्यों में चार शिष्य अत्यन्त ही विख्यात एवं गरिमामय हुए। इन चारों का विवरण निम्न दोहे में इस प्रकार मिलता है—

धन रघुपति, धन जेतसी, धन जयमल, कुशलेश।
चारों शिष्य भूधर तणा, चावा देश-विदेश[1]॥

विक्रम संवत् १८०४ विजयादशमी के दिन आपने नश्वर-देह से मोह-ममत्व त्याग कर समाधि-पूर्वक पण्डितमरण से शरीर त्याग दिया। आप सही अर्थों में कर्मवीर, क्षमाशील एवं धर्मवीर थे। आपके बाद श्री रघुनाथ जी एवं श्री जयमल जी दोनों ही आचार्य रहे।

आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज

मारवाड़ के सोजतनगर में एक धर्म प्रेमी परिवार रहता था। परिवार के मुखिया शा. नथमल जी बल्लावत गौत्रीय बाफणा थे तथा एक प्रसिद्ध व्यापारी थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम था सोमादेवी। मर्यादापुरुषोत्तम 'राम' को स्वप्न में देखकर सोमादे ने गर्भ धारण किया। माघ शुक्ला पंचमी संवत् १७६६ को इनके घर एक पुत्ररत्न ने जन्म लिया। स्वप्नाधार पर शिशु का नाम रघुनाथमल रखा गया।

आप अत्यन्त मेधावी एवं विनयी थे। पहले होनहार विद्यार्थी के रूप में और फिर व्यवहार-पटु युवक के रूप में आपकी प्रशंसा सभी करने लगे। आप जब सतरह वर्ष के हुए तब आपकी प्रतिभा से प्रभावित सोजत के बड़े सेठ कुन्दनमल जी ने अपनी सुपुत्री रत्नकुंवर की सगाई आपके साथ कर दी।

एक दिन आपके एक अत्यन्त प्रिय मित्र का आकस्मिक निधन हो गया। आप अत्यन्त शोकाकुल हो विचार करने लगे—जीवन के इस आकस्मिक अंत को कैसे रोका जाए? आपकी चिन्तनधारा ही बदल गई। अब आप अमरत्व की प्राप्ति का उपाय पूछते हुए फिरने लगे। एक दिन किसी मित्र ने मजाक में कह दिया कि यदि तुम चामुण्डा के मंदिर में सिर काटकर चढ़ा दोगे तो अमर हो जाओगे।

---

१. हमारा इतिहास—पृष्ठ १९९।

बस आपके हृदय में यह बात पैठ गई। आप चामुण्डा माता के मन्दिर में शीश चढ़ाने के लिए तैयार हुए। उनके पिता, माता, स्वजन, परिजन, बंधु-बांधव सभी ने सुना तो कई तरह से उन्हें समझाया, पर वे नहीं माने। कई लोग उनके साथ हो गए, तमाशा देखने के लिए।

यह एक संयोग ही था कि उसी समय पूज्य भूधर जी महाराज उस रास्ते से निकले। उन्हें देख संस्कारवश रघुनाथमल वंदन करने के लिए आगे बढ़ा। पूज्य भूधर जी को जब घटना-चक्र का विवरण मिला तो आपने उन्हें अमरत्व-उपलब्धि का वास्तविक मार्ग समझाया। विस्तार से शरीर और आत्मा के भेद को समझाते हुए उन्हें धर्म के मर्म का ज्ञान दिया। आचार्य भूधर जी का आप पर गहरा प्रभाव पड़ा। देवी-मन्दिर में बलिदान का भूत उतर गया। तीन दिन तक आप अपनी शंकाओं का समाधान आचार्य श्री से पाते रहे। आचार्य श्री भूधर जी ने उन्हें आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, संवर, निर्जरा, कर्म, बंध तथा मोक्ष के विषय में विस्तृत ज्ञान दिया। अमरत्व अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के उपायों का भी सविस्तार वर्णन किया। अनेक अन्य दार्शनिक विषयों पर भी चर्चा हुई। अब रघुनाथ जी का मन आश्वस्त हुआ तो विरक्त भी हो गया। उन्होंने दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया।

माता-पिता ने, श्वसुराल-पक्ष ने तथा उनकी वाग्दत्ता भावी पत्नी रत्नकुंवर ने भांति-भांति से उन्हें समझाया, उनके मन को संसार-आसक्ति की ओर मोड़ना चाहा पर वे दृढ़ रहे। चार वर्ष तक आपकी दीक्षा नहीं हो सकी। ये चार वर्ष उन्होंने धार्मिक-ग्रंथों, शास्त्रों के पठन-पाठन में व्यतीत किए। अपने पिता के स्वर्गारोहण उपरांत संवत् १७८७ की ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया, बुधवार के दिन जोधपुर में आपकी समारोहपूर्वक दीक्षा हुई।[1]

दीक्षा लेते समय आपने अपनी संसार-पक्ष की वाग्दत्ता रत्नकुंवर को कहलवा दिया था कि अब उनका सम्बन्ध (सगाई) छूट चुका है अतः उसका विवाह किसी अन्य जगह किया जा सकता है पर रत्नकुंवर ने इस सम्बन्ध में अपने माता-पिता एवं अन्य स्वजनों को स्पष्ट कर दिया कि वह अब अन्य किसी पुरुष से विवाह नहीं करेगी। रघुनाथ जी की दीक्षा के एक वर्ष बाद पूज्य श्री का चातुर्मास सोजत हुआ। इसी चातुर्मास में मुनि श्री रघुनाथ जी से प्रतिबोध पाकर रत्नकुंवर ने भी संयम का पथ स्वीकार किया, उनके साथ ग्यारह अन्य सन्नारियों ने भी दीक्षा-व्रत अंगीकार किया।

रघुनाथ जी महाराज उग्र तपस्वी थे। साध्वी श्री उमरावकुंवर जी अर्चना के अनुसार उन्होंने अपने साधनामय ६० वर्षों के जीवन में लगभग ३ वर्ष से भी कम आहार किया, ५७ वर्ष करीब तपस्या में बिताए।

संवत् १८४६ की माघ शुक्ला एकादशी के दिन मेड़ताशहर में आप देवलोकवासी हुए।

आचार्य भूधर जी म. के कालधर्म प्राप्त कर लेने पर उसी वर्ष (संवत् १८०४) सोजत श्री संघ ने श्री रघुनाथ जी म. को आचार्य-पद प्रदान किया।

---

१. कुछ विद्वज्जन मानते हैं कि उनकी दीक्षा जोधपुर राज्य के तत्कालीन दीवान खींवसी जी भण्डारी के प्रयत्नों से हुई थी और तब रघुनाथ जी के पिता विद्यमान थे।

मुहम्मदशाह को पूज्य भूधर जी का भक्त बनाया तथा शाहजादा तो कई बार व्याख्यान सुनने भी गया। दिल्ली के चातुर्मास में आपने सांवत्सरिक पर्व पर समस्त प्रकार की हिंसा बन्द करवाई, कत्लखाने बन्द रहे। यहीं श्रेष्ठीवर्य श्री सूरजमल जी ने दीक्षा धारण की।

आचार्य श्री के प्रवचन प्रभावशाली एव सार्वभौम होते थे। इन प्रवचनों में जो रसानुभूति होती, उससे लोगों में धर्मप्रभावना होती। जैन-समुदाय के अतिरिक्त जैनेतर समुदाय भी इन प्रवचनों में आते। बहुत से राजा, महाराजा, दीवान, श्रेष्ठीजन आते। शहजादा एवं बादशाह भी आते। अपने समुपदेशों से आपने अनेक ठाकुरों, जमींदारों, जागीरदारों, राजाओं व महाराजाओं को मांस-मदिरा से विरक्त किया, उनके नाच-मुजरे छुड़वाए, शिकार के त्याग करवाए और इस तरह जैनधर्म को दीप्तिमान किया।

आपके नव शिष्य थे। सभी शिष्य प्रतिभा-सम्पन्न, तेजस्वी एवं धर्म प्रभावक थे। श्री नारायणदास जी, श्री रूपचन्द्र जी, श्री गोरधन जी, श्री जगरूप जी, श्री रतनचन्द जी, श्री रघुनाथ जी, श्री जेतसी जी, श्री जयमल्ल जी, श्री कुशलो जी—इन नवशिष्यों में चार शिष्य अत्यन्त ही विख्यात एवं गरिमामय हुए। इन चारों का विवरण निम्न दोहे में इस प्रकार मिलता है—

धन रघुपति, धन जेतसी, धन जयमल, कुशलेश।
चारों शिष्य भूधर तणा, चावा देश-विदेश[1]॥

विक्रम संवत् १८०४ विजयादशमी के दिन आपने नश्वर-देह से मोह-ममत्व त्याग कर समाधिपूर्वक पण्डितमरण से शरीर त्याग दिया। आप सही अर्थों में कर्मवीर, क्षमाशील एवं धर्मवीर थे। आपके बाद श्री रघुनाथ जी एवं श्री जयमल जी दोनों ही आचार्य रहे।

आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज

मारवाड़ के सोजतनगर में एक धर्म प्रेमी परिवार रहता था। परिवार के मुखिया शा. नथमल जी बल्लावत गौत्रीय बाफणा थे तथा एक प्रसिद्ध व्यापारी थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम था सोमादेवी। मर्यादापुरुषोत्तम 'राम' को स्वप्न में देखकर सोमादे ने गर्भ धारण किया। माघ शुक्ला पंचमी संवत् १७६६ को इनके घर एक पुत्ररत्न ने जन्म लिया। स्वप्नाधार पर शिशु का नाम रघुनाथमल रखा गया।

आप अत्यन्त मेधावी एवं विनयी थे। पहले होनहार विद्यार्थी के रूप में और फिर व्यवहार-पटु युवक के रूप में आपकी प्रशंसा सभी करने लगे। आप जब सतरह वर्ष के हुए तब आपकी प्रतिभा से प्रभावित सोजत के बड़े सेठ कुन्दनमल जी ने अपनी सुपुत्री रत्नकुंवर की सगाई आपके साथ कर दी।

एक दिन आपके एक अत्यन्त प्रिय मित्र का आकस्मिक निधन हो गया। आप अत्यन्त शोकाकुल हो विचार करने लगे—जीवन के इस आकस्मिक अंत को कैसे रोका जाए? आपकी चिन्तनधारा ही बदल गई। अब आप अमरत्व की प्राप्ति का उपाय पूछते हुए फिरने लगे। एक दिन किसी मित्र ने मजाक में कह दिया कि यदि तुम चामुण्डा के मंदिर में सिर काटकर चढ़ा दोगे तो अमर हो जाओगे।

---

१. हमारा इतिहास—पृष्ठ १९९।

शीर्ष कृष्णा प्रतिपदा (एकम) के दिन जयमलजी दीक्षार्थी बन गए, प्रेयार्थी से श्रेयार्थी बन गए।

जयमल्ल जी शीघ्रातिशीघ्र दीक्षित बनना चाहते थे। उन्होंने दूसरे दिन प्रातः ब्रह्मवेला में गुरुदेव से पूछा—भगवन् दीक्षा जल्दी से जल्दी अब कैसे आ सकती है?

"वैसे तो दीक्षार्थी को कुछ दिन हमारे साथ विचरण कर साधुचर्या के आवश्यक अंग एवं आवश्यक क्रियाओं को समझ लेना चाहिए, तभी छोटी दीक्षा दी जाती है परन्तु नियमानुसार कम से कम प्रतिक्रमण-सूत्र जब तक कंठस्थ नहीं हो जाता तब तक तो दीक्षा दी ही नहीं जा सकती"। —आचार्य श्री ने फरमाया।

"अच्छी बात है, जब तक प्रतिक्रमण सूत्र कंठस्थ न हो जाए तब तक मुझे खड़े रहने के पच्चक्खाण दिला दें"।—जयमल जी ने विनय-पूर्वक हाथ जोड़ कर प्रार्थना की।

पहले तो आचार्य श्री को आश्चर्य हुआ फिर दीक्षार्थी की तीव्र लगन देख कर पूज्यश्री ने अन्य संतों को प्रति-लेखना आदि कार्यों में संलग्न किया और स्वयं जयमल जी को प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ सिखाने लगे। अभी एक प्रहर ही बीता होगा, जयमलजी ने सम्पूर्ण प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर सुना दिया। सभी उनकी असाधारण ग्राहक-बुद्धि एवं धारणा-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए। ऐसा शीघ्र-मति, प्रखर-बुद्धि व विलक्षण धारणा वाला दीक्षार्थी भूधर जी को आज तक नहीं मिला था। उन्होंने ऐसे दीक्षार्थी को तुरन्त ही दीक्षित करने का निश्चय कर अपनी इच्छा मेड़ता-श्रीसंघ के आगेवान श्रावकों के सम्मुख रखी। कार्यवशात् लांबिया के लोग भी मेड़ता ही रुके हुए थे। मेड़ता में दीक्षा-उत्सव की भव्य तैयारियां होने लगीं और संवत् १७८७ के मार्गशीर्ष मास में कृष्ण पक्ष की द्वितीया (मिगसर वदी दूज) के दिन बहुत ही ठाट-बाट से जयमल जी पूज्य श्री भूधर जी महाराज के पास दीक्षित हो गए।

अभी जयमल जी मुनिवेष धारण कर दीक्षित बने ही थे कि वे आचार्य श्री के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हो गए। आचार्य श्री ने पूछा—क्या इच्छा है?

"आपका गुरु-छत्र जब तक मेरे सिर पर है तब तक मैं एकान्तर (एक दिन छोड़ कर एक दिन) उपवास करना चाहता हूं। उसमें भी दूज, पांचम, आठम, ग्यारस और चौदस—इन पाँच तिथियों को पारणे में पाँचों विगयों (घी, दूध, दही, तेल और मीठा) को भी छोड़ना चाहता हूं। कृपा कर आज्ञा दीजिए"।—जयमल जी ने कहा।

अटल निश्चय की मुद्रा देख आचार्य श्री ने उन्हें पच्चक्खाण दिला दिए। दीक्षा-स्थल जैन धर्म, आचार्य श्री भूधर जी एवं नवदीक्षित मुनि जयमल जी की जय-जयकारों से गूंज उठा। इनकी बड़ी दीक्षा सात दिन बाद गुरुवार, मिगसर वद नवम को बिखरणिया ग्राम में हुई। दीक्षा के बाद गुरु-सेवा, तप-त्याग और ज्ञानाभ्यास में मुनि जयमल जी लीन हो गए। इनके शिक्षा गुरु थे, किसी समय के काशी के पण्डित, प्रकाण्ड विद्वान् मुनि श्री नारायणदास जी महाराज। मुनि जयमल जी प्रतिभा-सम्पन्न तो थे ही, लगन एवं धुन के भी पक्के थे। एक बार आपके एकान्तर-उपवास का पारणा था। प्रातःकाल आप कुछ पढे हुए सूत्र-पाठों को कंठस्थ करने बैठ गए। मन शायद एकाग्र नहीं बन पा रहा था, अतः सूत्र पकड़ में

आपके लघु 'गुरुभ्राता' थे —पूज्य श्री जयमल जी महाराज, जिनके उत्कृष्ट प्रभाव ने एक नए सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव किया, 'श्री जयमल जैन सम्प्रदाय'।

आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज

विक्रम संवत् १७६५ भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी के दिन मेड़ताशहर के सन्निकट लाम्बिया गांव में समदड़िया मेहता गोत्रीय वीसा ओसवाल मोहनदास जी के घर उनकी पत्नी महिमादेवी ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। मेहता जी के इस पुत्र का नाम था—'जयमल'।

जयमल जी का बाल्यकाल बड़े ही सुखद और शांत वातावरण में बीता। बाईसवें वर्ष में प्रवेश हो ही रहा था कि जयमल जी का विवाह 'शेरसिंह जी की रीयां' के प्रधान कामदार श्री शिवकरण जी मेहता की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी (लाछां दे) के साथ कर दिया गया। सामाजिक विधानानुसार जयमल जी का विवाह तो हो गया था पर मुकलावा अभी होना था। दीपावली के बाद रीयां से शिवकरण जी का पत्र आया तो जयमल जी को मुकलावे पर रीयां भेजने की तैयारियां होने लगीं। रिडमल जी ने कहा—'हो सकता है वहां जयमल को १५-२० दिन के लिए रोक भी लें, अतः दुकान के लिए आवश्यक वस्तुओं के स्टाक की खरीदी पहले ही करवा ली जाए और रीयां बाद में भेजा जाए'।

यही हुआ। जयमलजी अपने कुछ साथियों के साथ व्यावसायिक कार्य हेतु मेड़ता गए। जिस दिन वे वहां पहुंचे, वह कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का दिन था। उस वर्ष मेड़ता में आचार्य श्री भूधर जी महाराज का वर्षावास था। कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा उतरती चौमासी कहलाती है। वर्षावास की समाप्ति का समय एकदम निकट आ गया, इसलिए जैन-जनता अपना कारोबार छोड़ कर उस दिन आचार्य श्री के अंतिम प्रवचन-संदेश को सुनने के लिए अधिकतम संख्या में जैन स्थानक में गई हुई थी। बाजार लगभग बंद-सा था। जयमल जी को जब यह जानकारी हुई तो समय के सदुपयोग की दृष्टि से वे भी अपने साथियों सहित आचार्य श्री भूधर जी महाराज का प्रवचन सुनने के लिए स्थानक में जा पहुँचे। प्रवचन का विषय था—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य के प्रसंग पर सेठ सुदर्शन का इतिवृत्त चल रहा था। आचार्य श्री के कहने का अपना निराला ढंग था, शैली प्रभावोत्पादक थी। श्रोता मंत्र-मुग्ध हो सुन रहे थे। जयमल जी ने अथ से इति तक सेठ सुदर्शन की बात सुनी। वैराग्य से छलछलाते हुए पावन-प्रवचन को सुन कर जयमल जी के मन में वैराग्य भावना अठखेलियां करने लगीं। उन्होंने उसी क्षण आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार कर एक महान् साधक का आदर्श उपस्थित किया। ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लेने मात्र से ही उन्हें संतोष कहाँ था? उनका मन-पंछी तो साधना के अनन्त गगन में विचरण करना चाहता था। एक विशिष्ट अध्यात्म-योगी बनने का दृढ़ संकल्प उठ रहा था हृदय में परंतु उसके लिए बाधक थी मां की ममता, पिता का प्यार, भाई-भोजाई का अपार स्नेह और नवपरिणीता का प्रेम-बंधन। एक ओर पत्नी द्विरागमन (मुकलावे) की अपलक प्रतीक्षा कर रही थी, मन में रंग-बिरंगे सपने संजो रही थी तथा दूसरी ओर आचार्य श्री भूधर जी का प्रवचन सुन पति शिवसुन्दरी को वरण करने की तैयारी करने लगा था, श्रमण बनने की इच्छा प्रकट करने लगा था।

अपने दृढ़ निश्चय के अनुसार पारिवारिक जनों की आज्ञा लेकर विक्रम संवत् १७८७ की मार्ग-

शीर्ष कृष्णा प्रतिपदा (एकम) के दिन जयमलजी दीक्षार्थी बन गए, प्रेयार्थी से श्रेयार्थी बन गए।

जयमल्ल जी शीघ्रातिशीघ्र दीक्षित बनना चाहते थे। उन्होंने दूसरे दिन प्रातः ब्रह्मवेला में गुरुदेव से पूछा—भगवन् दीक्षा जल्दी से जल्दी अब कैसे आ सकती है?

"वैसे तो दीक्षार्थी को कुछ दिन हमारे साथ विचरण कर साधुचर्या के आवश्यक अंग एवं आवश्यक क्रियाओं को समझ लेना चाहिए, तभी छोटी दीक्षा दी जाती है परन्तु नियमानुसार कम से कम प्रतिक्रमण-सूत्र जब तक कंठस्थ नहीं हो जाता तब तक तो दीक्षा दी ही नहीं जा सकती"। —आचार्य श्री ने फरमाया।

"अच्छी बात है, जब तक प्रतिक्रमण सूत्र कंठस्थ न हो जाए तब तक मुझे खड़े रहने के पच्चक्खाण दिला दें"।—जयमल जी ने विनय-पूर्वक हाथ जोड़ कर प्रार्थना की।

पहले तो आचार्य श्री को आश्चर्य हुआ फिर दीक्षार्थी की तीव्र लगन देख कर पूज्यश्री ने अन्य संतों को प्रति-लेखना आदि कार्यों में संलग्न किया और स्वयं जयमल जी को प्रतिक्रमण-सूत्र के पाठ सिखाने लगे। अभी एक प्रहर ही बीता होगा, जयमलजी ने सम्पूर्ण प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर सुना दिया। सभी उनकी असाधारण ग्राहक-बुद्धि एवं धारणा-शक्ति से बहुत प्रभावित हुए। ऐसा शीघ्र-मति, प्रखर-बुद्धि व विलक्षण धारणा वाला दीक्षार्थी भूधर जी को आज तक नहीं मिला था। उन्होंने ऐसे दीक्षार्थी को तुरन्त ही दीक्षित करने का निश्चय कर अपनी इच्छा मेड़ता-श्रीसंघ के आगेवान श्रावकों के सम्मुख रखी। कार्यवशात् लांबिया के लोग भी मेड़ता ही रुके हुए थे। मेड़ता में दीक्षा-उत्सव की भव्य तैयारियां होने लगीं और संवत् १७८७ के मार्गशीर्ष मास में कृष्ण पक्ष की द्वितीया (मिगसर वदी दूज) के दिन बहुत ही ठाट-बाट से जयमल जी पूज्य श्री भूधर जी महाराज के पास दीक्षित हो गए।

अभी जयमल जी मुनिवेष धारण कर दीक्षित बने ही थे कि वे आचार्य श्री के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हो गए। आचार्य श्री ने पूछा—क्या इच्छा है?

"आपका गुरु-छत्र जब तक मेरे सिर पर है तब तक मैं एकान्तर (एक दिन छोड़ कर एक दिन) उपवास करना चाहता हूं। उसमें भी दूज, पांचम, आठम, ग्यारस और चौदस—इन पांच तिथियों को पारणे में पाँचों विगयों (घी, दूध, दही, तेल और मीठा) को भी छोड़ना चाहता हूं। कृपा कर आज्ञा दीजिए"।—जयमल जी ने कहा।

अटल निश्चय की मुद्रा देख आचार्य श्री ने उन्हें पच्चक्खाण दिला दिए। दीक्षा-स्थल जैन धर्म, आचार्य श्री भूधर जी एवं नवदीक्षित मुनि जयमल जी की जय-जयकारों से गूंज उठा। इनकी बड़ी दीक्षा सात दिन बाद गुरुवार, मिगसर वद नवम को बिखरणिया ग्राम में हुई। दीक्षा के बाद गुरु-सेवा, तप-त्याग और ज्ञानाभ्यास में मुनि जयमल जी लीन हो गए। इनके शिक्षा गुरु थे, किसी समय के काशी के पण्डित, प्रकाण्ड विद्वान् मुनि श्री नारायणदास जी महाराज। मुनि जयमल जी प्रतिभा-सम्पन्न तो थे ही, लगन एवं धुन के भी पक्के थे। एक बार आपके एकान्तर-उपवास का पारणा था। प्रातःकाल आप कुछ पढे हुए सूत्र-पाठों को कंठस्थ करने बैठ गए। मन शायद एकाग्र नहीं बन पा रहा था, अतः सूत्र पकड़ में

नहीं आ रहे थे। अपने आप पर खीझते हुए इन्होंने मन ही मन दृढ़ संकल्प कर लिया कि जब तक सूत्र-पाठ कंठस्थ नहीं कर लूं, मैं गोचरी नहीं जाऊंगा, आहार-पानी ग्रहण नहीं करूंगा। एक प्रहर बीत गया। बस, इस एक प्रहर में मुनि श्री जयमल जी ने पांच सूत्र कंठस्थ कर डाले। ये पांच सूत्र थे—कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वण्हिदशा। यह देख कर आचार्य श्री भूधर जी, मुनि श्री नारायणदास जी एवं सभी संत आश्चर्यान्वित हुए।

बहुत ही कम समय में आपने जैन एवं जैनेतर समाज में महान् तपस्वी, प्रकाण्ड विद्वान्, प्रखर प्रतिभावान, धर्म-प्रभावक एवं ओजस्वी व्याख्याता मुनि के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली। धर्मोपदेश द्वारा अपनी पत्नी को संसार से विमुख करने का श्रेय भी आपको ही मिला। आप ही के सदुपदेशों से प्रभावित हो लक्ष्मी देवी ने संसार का त्याग कर 'लाम्बिया' में ही आचार्य श्री भूधर जी महाराज के पास दीक्षा ली। और उग्र तपस्या कर छह माह के अल्प समय का संयमी जीवन बिता 'महासती लाछाँ दे' काल-धर्म को प्राप्त हुई।

पुष्कर के शांत एवं मनोरम वातावरण में आपके हृदय का कोमल कवि जगा और प्रथम बार काव्य-स्फुरणा हुई। रायपुर में गुरुवर के आदेश से प्रथम प्रवचन दिया और धीरे-धीरे प्रवचन देने में ऐसे निखरे कि जहाँ गए, वहीं हजारों जैन व जैनेतर मतानुयायियों को प्रभावित किया। अमीर-उमराव, ठाकुर-जमींदार, राजा-महाराजा एव शाहजादा-बादशाह भी आपके प्रवचनों से मुग्ध बने, प्रभावित हुए।

पीपाड़ शहर में आपने शिथिलाचारी "पोतियावंधों" को सन्मार्ग दिखलाया। गए थे गोचरी लेने पर लौटे तो पातरे खाली थे और लोगों की भीड़ उनके साथ थी। पूज्य भूधर जी महाराज ने पूछा—ले आए गोचरी ? मुनिवर ने कहा—"आज स्थूल आहार की गोचरी नहीं ला सका। आज तो धर्म के श्रद्धावानों की गोचरी लाया हूं।" पूरी बात आचार्य श्री को ज्ञात हुई तो वे बहुत प्रसन्न हुए। पीपाड़ के पोतियाबंध श्रावकों को भी आज सत्य-धर्म की पहचान हुई।

ये पोतियाबंध धर्म के नाम पर लोगों को ठगते, आडम्बर फैलाते थे। अपने शिथिलाचार को छुपाने और अपनी महत्ता बनाए रखने के लिए धर्म-शास्त्रों को पोथियों में लिखते थे अतः पोथियाबंध कहलाए। बाद में ये लोग गृहस्थी की तरह वेशभूषा रखने लगे और सिर पर भी पोतिया (साफा) बांधने लगे अतः पोतियाबंध कहलाए। इन लोगों ने पूजा-पाठ एवं देवद्रव्य-व्यवस्था में अपनी उपयोगिता बतानी प्रारंभ कर दी थी। गोचरी जाते हुए मुनि जयमलजी ने किसी पोतियाबंध की उल्टी-सीधी बातें जैनधर्म एवं उसके संतों के बारे में सुनी और बस करने लगे उससे चर्चा। पोतियाबंध के उपाश्रय में संत का आगमन देख सभी को आश्चर्य हुआ। कुछ श्रावक तो पहले से वहां थे ही, कुछ और इकट्ठे होने लगे। जयमल जी ने शास्त्र-निहित सत्य-तथ्यों का प्रमाण देकर सारी बात बताई तो उपस्थित जन-समुदाय को लगा कि वे अब तक गलत राह पर थे। पोतियाबंधों के शिथिलाचार का इस तरह भंडाफोड़ किया मुनि श्री जयमलजी ने और श्रद्धावान भक्तों की भीड़ को अपने साथ ले आए, गुरुदेव भूधर जी की शरण में। मुनि श्री द्वारा की गई इस क्रांति की छाप आस-पास के क्षेत्रों पर भी पड़ने लगी।

मुनि श्री जयमलजी के इस धर्म-जादू की बात जोधपुर तक पहुंची। जोधपुर के तात्कालीन महाराजा

श्री अभयसिंह जी ने अपने दीवान रतनसिंह जी को आचार्य श्री भूधर जी महाराज के पास भेजा तथा मुनि श्री जयमल जी सहित जोधपुर पधार कर दर्शन देने की विनती अर्ज करवाई। संतों के जोधपुर पहुँचने पर जोधपुर-नरेश ने राजकीय ठाट-बाट सहित बनाड़ पहुँच कर उनकी अगवानी की। जोधपुर में मुनि-श्री के ओजस्वी प्रवचनों की बड़ी धूम मची। स्वयं जोधपुर-नरेश प्रतिदिन प्रवचन में जाते। उनका रनिवास भी प्रतिदिन प्रवचन में रस लेने लगा। राज्य के कई उच्चाधिकारी भी नित्य प्रवचन सुनने लगे। साधारण जनता की तो बात ही क्या? जोधपुर से विहार के समय जोधपुर-नरेश ने, राज्याधिकारियों ने एवं बड़े-बड़े सेठ-श्रीमन्तों व भक्तों ने जोधपुर-चातुर्मास की आग्रहभरी, भावभीनी विनती पूज्य भूधर जी महाराज की सेवा में प्रस्तुत की।

बुचकला गाँव के ठाकुर साहब ने आपके ही उपदेशों से प्रभावित होकर शिकार, मद्यपान एव मांस-भक्षण का त्याग किया। सिरोही पहुँचने पर सिरोही-नरेश मानसिंह जी भी उनसे बहुत प्रभावित हुए। सिरोही-नरेश की पुत्री जोधपुर राज्य की महारानी थी और वे अभी वहीं आई हुई थीं। पिता-पुत्री दोनों संत-दर्शनार्थ आये, प्रवचन सुन बहुत ही प्रभावित हुए। एक माह तक संत सिरोही विराजे। सिरोही-नरेश ने अधिक से अधिक लोग उनका व्याख्यान सुन सकें, इस हेतु विशाल-पंडाल बनवा दिया तथा अन्य अनेक सुविधाओं का भी प्रबन्ध करवाया। वे स्वयं भी नित्य प्रवचन सुनने आते। आचार्य श्री एवं मुनि श्री जयमल जी के वे अत्यंत श्रद्धालु भक्त बन गये।

पूज्य श्री भूधर जी महाराज जब दिल्ली पधारे तो वहां भी जयमल जी के प्रवचनों की धूम मच गई। एक तो ऐसे निस्पृह संत फिर ऐसा ऊंचा ज्ञान। जोधपुर-नरेश दिल्ली पधारे तो गुरु-दर्शनार्थ आये। उनके साथ उनके मित्र सात रियासतों के ठाकुर भी पधारे। मुनि जयमल जी का प्रवचन सभी ने सुना और अनुपम शांति का अनुभव किया। प्रवचन के बाद मांगलिक सुनकर जब ये सभी दिल्ली-दरबार में पहुँचे तो बादशाह मुहम्मदशाह पूछ बैठे—"क्या नाराजगी है? आज आप सब इतनी देर से कैसे पधारे हैं?" जोधपुर-नरेश ने जब बताया कि वे सभी एक पहुँचे हुए जैन संत के दर्शनार्थ गये थे, वहां ऐसा जादूभरा प्रवचन चल रहा था कि उठकर आ ही न सके तो बादशाह ने उन संतों के बारे में कुछ और प्रश्न किये? उनके निस्पृह और अपरिग्रही जीवन एवं अगाध-ज्ञान की बातें सुनकर वह भी बड़ा प्रभावित हुआ और उनकी प्रशंसा किये बिना न रह सका। शाहजादा ने तो उन महापुरुषों के दर्शनों की इजाजत भी माँगी, जो उसे सहर्ष मिल गई।

शाहजादे ने अगले दिन संतों के दर्शन किए, मुनि श्री जयमल जी का प्रवचन सुना, उनसे अपने मन की कई शंकाओं का समाधान प्राप्त किया और अत्यन्त सन्तुष्ट होकर सौगन्ध ली कि वह जीवन में कभी बेगुनाह जानवरों को स्वयं मारेगा नहीं, दीन-दुःखियों के साथ न्याय करेगा और सभी पर रहम करेगा। अपने शाहजादे को इस तरह प्रत्याख्यान करते देख साथ में आए हुए कितने ही राजा-महाराजाओं, अमीर-उमरावों, ठाकुर-जमींदारों ने यथाशक्ति भावनानुसार व्रत-प्रत्याख्यान लिये। इस तरह दिल्ली के राज्याधिकारियों में और साधारण भक्तजनों में दिन-ब-दिन मुनि श्री जयमल जी के प्रवचनों का प्रभाव बढ़ता गया, सत्यधर्म का प्रचार हुआ एवं जिन-धर्म की प्रभावना हुई। इसी चातुर्मास में दिल्ली-चातुर्मास के यश-कलश सेठ श्री सूरजमलजी को श्री भूधर जी महाराज के आदेश पर मुनि जयमल जी ने अपना शिष्य स्वीकार कर दीक्षित किया। उनका यह प्रथम शिष्य उग्र तपस्वी बना और अल्पकाल की संयम-साधना कर काल-धर्म को प्राप्त हुआ।

जैसलमेर-वासी जैन-बंधुओं में से कुछेक ने जोधपुर में मुनि श्री जयमल जी के प्रवचनों को सुना था। उन्होने पूज्य भूधर जी महाराज से प्रार्थना की कि "जैसलमेर मे यतियों का जोर है। तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, बाह्याडम्बर, शरीर-सुख, भौतिक-साधन ही उनका ध्येय है, ये ही उन्हें इष्ट हैं। सत्य-जिन-धर्म के प्रचारक वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते या कहदें कि उन्हें पहुँचने ही नहीं दिया जाता। भूले-भटके कोई पहुँच भी जाएं तो वे ऐसा वातावरण पैदा करवाते हैं कि सत्य-धर्मोपासक वहाँ टिक नहीं सकते। ऐसी हालत में यदि मुनि श्री जयमल जी जैसे प्रभावी संत वहाँ पधारें तो निश्चय ही जैसलमेर में जिन-धर्म का उद्धार हो सकेगा।"

मुनि श्री जयमल जी ने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया। खीचन, फलौदी, पोकरण के रास्ते से वे जैसलमेर पहुँचे। बीच में पोकरण के ठाकुर श्री देवीसिंह जी ने उनके उपदेशों से प्रभावित हो मद्य-पान, शिकार, मांस-भक्षण आदि दुर्व्यसनों का त्याग किया। कई स्थानों पर बीच का मार्ग अत्यन्त दुर्गम एवं बीहड़ था। दृढ़-साधक राह की बाधाओं, कठिनाइयों, आपत्तियों की भला कब परवाह करते हैं। सहज-समभाव से चलते, विहार करते मुनि श्री जैसलमेर पधार गए तो वहाँ यतियों ने उनके स्वागत का प्रबंध पहले से कर रखा था। मुनि श्री जयमल जी की एक मूर्ति, एक पुतला बनाया गया। उस पुतले का जुलूस निकाला गया और उस पर धूल, कीचड़, सड़ी वस्तुएं उछाली गईं,। जूतों की माला पहनाई गई। कई न सुनने लायक नारे लगाए गए। मुनि श्री ने सुना तो मुस्कराए और कहा—बहुत भले आदमी हैं, मेरे कर्म बंधनों को काटने में सहयोगी बन रहे हैं पर नादान हैं, नहीं समझते कि उनके दुष्कर्म बंध रहे हैं।

यह बात जैसलमेर-नरेश तक भी पहुँची। उन्होने वास्तविकता की जानकारी प्राप्त की। जब उन्हें मुनि श्री जयमल जी की प्रतिभा और प्रभाव के बारे में ज्ञात हुआ तो स्वयं दर्शनार्थ पधारे। प्रवचन सुना, वार्ता हुई और सत्य-स्थिति अवगत कर राज्य-भर में आदेश जारी करवा दिया—"मुंहपत्ति बांधे निस्पृह जैन साधुओं को जैसलमेर राज्य में सर्वत्र स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करने की सुविधाएं दी जाएं।" मुनि श्री जयमलजी ने जैसलमेर में रहकर दो कार्य किये। एक तो शिथिलाचार एवं बाह्याडम्बर का खण्डन तथा सत्य-धर्म का प्रचार और दूसरा जैसलमेर के विशाल जिनज्ञान-भंडारों का सतत अवलोकन एवं अध्ययन।

जैसलमेर में सत्य-धर्म का झण्डा फहराने के बाद आप पुनः गुरुदेव श्री भूधर जी महाराज की सेवा में पहुँचे। कुछ वर्ष उनके साथ रहकर सेवा का अवसर प्राप्त किया। संवत् १८०४, विजयादशमी के दिन, जिस मेड़ता शहर में सौलह वर्ष पहले मुनि श्री जयमल जी ने आचार्य भूधर जी महाराज जैसा संत श्रेष्ठ गुरु प्राप्त किया था, उसी मेड़ताशहर में उन्हें अपने गुरु से सदा-सदा के लिए बिछुड़ना पड़ा। आचार्य भूधर जी महाराज ने काल-धर्म को प्राप्त किया। मुनि श्री जयमल जी ने उस अवसर पर विगयादि का कई तरह से त्याग किया पर सबसे बड़ा जो त्याग था, वह था न लेटने का। उन्होंने भीष्म-प्रतिज्ञा की कि जीवन-पर्यंत लेटकर नहीं सोऊंगा।

गुरुदेव की छत्रछाया हटने पर आपका चिन्तन-मनन और बढ़ गया। जिस-जिस क्षेत्र को आपने स्पर्श किया, वह क्षेत्र-सत्य धर्म के आलोक से जगमगा उठा। श्रावक-श्राविकाओं में जागृति आई। आपके

साधु-साध्वियों की संख्या बढ़ने लगी। अनेक दीक्षार्थियों ने आपसे दीक्षा लेकर संयम-मार्ग को ग्रहण किया। जहाँ-जहाँ यतियों का प्रभाव था, वहाँ-वहाँ उनके झूठे भय और प्रभाव को अपने ज्ञानालोक से दूर भगाया। नागौर में भी यतियों का अड्डा था, जिसे मुनि श्री जयमल जी ने निष्प्रभ किया। नागौर-नरेश महाराज बख्तसिंह जी जो जोधपुर-नरेश अभयसिंह जी के भाई थे, मुनि श्री के सम्पर्क में आकर सर्वथा बदल गए। आपने शिकार और पर-स्त्री-त्याग के आजीवन पच्चक्खाण लिए।

जोधपुर में रामकुंवर बाई ने बीकानेर क्षेत्र को स्पर्शने के लिए निवेदन कर रखा था, अतः नागौर में सत्य-धर्म का डंका बजाकर मुनि श्री जयमल जी म. सा. की भावना बीकानेर की तरफ बढ़ने की हुई। महाराज बख्तसिंह जी को मालूम पड़ा तो उन्होंने कई शंकाएँ मुनिवर के सम्मुख रखीं। मार्ग बड़ा कठिन था, अन्यान्य सम्प्रदायों का वहाँ जोर था, यतियों का अड्डा था बीकानेर और सबसे बड़ा खतरा जोधपुर और बीकानेर की सीमा पर था। कुछ ही वर्ष पूर्व जोधपुर एवं बीकानेर के बीच युद्ध हुआ था जिसमें भंडारी रतनसिंह जी काम आ गये थे। अतः संभावना इस बात की भी थी कि किसी को इधर की सीमा से उधर जाने न दिया जाए।

मुनिवर ने इन सब बातों के होते हुए भी विहार कर दिया। वे अपने विचारों में दृढ़ थे और किसी भी आपत्ति-विपत्ति से जूझने के लिए कटिबद्ध थे। मन में उनके एक ही भावना थी, उस क्षेत्र में जहाँ सत्य-धर्म का और सत्यधर्मानुयायी साधुओं का विचरण बिल्कुल नहीं है, ऐसा प्रचार करना/इस तरह का वातावरण बनाना कि सत्य-जिन-धर्म की प्रभावना हो सके। अत्यन्त दुर्गम पंथों से विचरण कर शनैः शनैः आगे बढ़ते, विहार करते मुनिराज बीकानेर की सीमा पर जा पहुंचे। मार्ग में रास्ते दुर्गम होने के अतिरिक्त ठहरने के स्थान और प्रासुक (ग्रहण करने योग्य) आहार का न मिलना ही सबसे बड़ी बाधा, तकलीफ थी। सीमा पर उनका स्वागत किया यतियों द्वारा तैनात किराये के लठैतों ने। लाठियों का भय दिखाकर उन्हें रोका और बताया कि इस क्षेत्र में या तो यति ही प्रवेश कर सकते हैं या उनसे अनुमति प्राप्त अन्य सम्प्रदाय के साधु। यतियों ने आपको रोकने के लिए हमें तैनात किया है। हमें हुक्म है कि यदि इस पर भी आप लोग न मानें तो आप लोगों के हाथ-पैर तोड़ दिए जाए।

मुनि श्री अहिंसक थे, वे हिंसा में विश्वास नहीं रखते थे। शांति के साथ उन्होंने पूछा—"क्या यह महाराजा का हुक्म है?" लठैत बोले—"यह महाराजा का हुक्म तो नहीं पर यहाँ यतियों का हुक्म महाराजा के हुक्म की तरह ही प्रभावशाली है। मुनि श्री जयमल जी ने वातावरण के अध्ययन तथा अगला कदम उठाने के लिए तालाब के किनारे बनी एक छतरी का आश्रय लिया। पास में कुछ कुम्हारों के घर थे, वहाँ से कुछ आटा और बर्तन आदि पकाते समय निकली राख का पानी आदि मिलता। कुछ संत गोचरी के नाम पर उसे उदरस्थ करते और कुछ उपवास करते।

क्षुधा और भीषण ठण्ड का परीषह आठ दिन तक मुनिजन समभाव-पूर्वक सहन करते रहे। संयोगवश नववें दिन रामकुंवर बाई को इस बात का पता लगा। इन्हीं रामकुंवर बाई ने मुनिवर को बीकानेर स्पर्शने की विनती की थी। जब सारी बात का पता लगा तो बाई ने प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरुवर बीकानेर में पधार कर गोचरी नहीं करेंगे, अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे, मैं भी मुंह में अन्न का दाना नहीं लूंगी। बाई के दो जवान बेटे बीकानेर महाराजा गजसिंह जी के दीवान थे। उन्हें मालूम हुआ तो

वे महाराजा के पास गए। फिर क्या था ? पलक झपकते ही राजकीय आज्ञा-पत्र निकला, पूज्य श्री का बीकानेर प्रवेश हुआ, धर्म का डंका बजा। आपके तप और ज्ञान का अद्भुत तेज, उसी के साथ ओजस्वी वाणी का जादूभरा प्रभाव। बीकानेर में भी आपके प्रवचनों का बड़ा अच्छा प्रभाव रहा। बीकानेर-नरेश भी प्रभावित हुए और शिकार न खेलने का व्रत लिया। आज तक जो मार्ग एवं क्षेत्र संतों के विहार के लिए बन्द था, मुनि श्री जयमल जी महाराज ने उसे खोल दिया। बीकानेर से आप नागौर होते हुए जोधपुर पहुँचे। इस समय तक सोजत श्री संघ ने मुनि श्री रघुनाथ जी महाराज को आचार्य-पद की चादर दे दी थी पर नागौर, मेड़ता व जोधपुर आदि श्री संघों से कोई राय नहीं ली गई थी। मुनि श्री जयमल जी के जोधपुर पहुँचने से पहले पूज्य श्री रघुनाथ जी महाराज भी जोधपुर पहुँच गए थे। नागौर, मेड़ता व जोधपुर श्री संघ के आगेवान श्रावकों एवं मुनि श्री कुशलचन्द जी महाराज के बहुत आग्रह करने व समझाने पर भी संघ-एकता के लिए मुनि श्री जयमल जी ने आचार्य-पद लेने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। वे एक मुनि के रूप में ही पूज्य रघुनाथ जी म. सा को वंदन करने गए। पूज्य रघुनाथ जी महाराज ने उन्हें वंदन करने से पहले ही हृदय से लगा लिया, पाट पर ले गए और चतुर्विध संघ के समक्ष अपने हाथों से आचार्य-पद की चादर फैलाकर स्वयं ओढ़ते हुए उनको भी ओढ़ा दी। इस तरह संवत् १८०५ की अक्षय तृतीया के शुभ दिन आप पर भी आचार्य-पद का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा, जिसे आपने यावज्जीवन पूर्ण निष्ठा से निभाया और संघैक्य एवं जिनधर्म का चरम विकास किया।

मेवाड़ में देवगढ़ नरेश यशवन्तसिंह जी आपके अनन्य भक्त बने तथा शिकार खेलने का त्याग किया। देलवाड़ा के राजा रघुनाथराय, जोधपुर-नरेश विजयसिंह जी (महाराजा अभयसिंह जी के बाद), इन्दौर-नरेश मल्हारराव, जयपुर नरेश, शाहपुर नरेश, रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रसिद्ध संत श्री रामचरण जी महाराज आदि कई राजा-महाराजाओं एवं विद्वान साधुओं ने आपके ज्ञान का लाभ उठाया, आपसे प्रभावित हुए और आपके भक्त, अनुयायी बन गए।

आपने विभिन्न साधु-सम्मेलनों में सम्प्रदायों को मिटाकर संघैक्य के लिए भी अनेक प्रयत्न किए। आपके पास इक्यावन मुमुक्षुओं ने दीक्षा ली। आपका अन्तिम समय लगभग बारह वर्ष अस्वस्थता एवं अशक्तता के कारण स्थिरवास की स्थिति में नागौर में बीता। आप एक महान् संत ही नहीं, अच्छे कवि भी थे। आपकी सैकड़ों काव्य-रचनाएँ इतस्ततः उपलब्ध हैं। सोलह वर्ष तक आपने एकान्तर तप किया और पचास वर्षों तक आप लेटकर नहीं सोए।

विक्रम संवत् १८५३ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी (नृसिंह चौदस) के दिन एक माह के संथारे के बाद आपने नागौर में अट्ठासी वर्ष की आयु पाकर अपनी इस नश्वर देह का त्याग कर दिया। नागौर नगर तभी से जैनानुयायियों के लिए पवित्र तीर्थ-स्थल बन गया। आपके पट्टधर शिष्य पूज्य श्री रायचन्द्र जी भी प्रतिभासंपन्न एवं ऊर्जस्वल व्यक्तित्व के धनी थे।

आचार्य श्री रायचन्द्र जी महाराज

जोधपुर निवासी श्री विजयराज जी घाड़ीवाल की धर्म-पत्नी नंदादेवी की कुक्षि से आसोज शुक्ला एकादशी संवत् १७९६ को आपश्री का शुभ जन्म हुआ। आपको वैराग्योत्पत्ति उस समय हुई जब आप

विवाह के लिए विवाह-पूर्व आयोजित बन्दोलों के जीमण जीम रहे थे। अठारह वर्ष की संधिवय में प्रवेश करते ही संवत् १८१४ तिथि आषाढ़ सुदी एकादशी के दिन आपकी दीक्षा स्वामी जी श्री गोवर्धनदास जी महाराज के पास पीपाड़ शहर में समारोहपूर्वक सम्पन्न हुई थी। आपके पिता श्री ने एवं आपकी बड़ी मातुश्री ने भी आपके दीक्षा-प्रसंग से प्रभावित होकर आपके साथ ही दीक्षा-व्रत स्वीकार कर लिया था। पूज्य श्री जयमल जी म. ने आपकी विद्वत्ता, प्रतिभा, संयम में दृढ़ता एवं तप में प्रवणता देखकर संवत् १८४६ की अक्षयतृतीया (वैशाख शुक्ला तृतीया) के शुभ दिन आपको अपना युवाचार्य घोषित कर दिया।

आप अपने समय के अत्यन्त ज्ञानवान् संत थे, सफलकवि एवं ओजस्वी प्रवचनकार थे। आपने कथात्मक, स्तुत्यात्मक, उपदेशात्मक एवं तत्त्वात्मक रूप से विशाल साहित्य की रचना की। आपकी समस्त रचनाओं को बड़े श्रम से एकत्रित कर श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर में सुरक्षित रखा गया है। आपकी रचनाओं के समीक्षात्मक अध्ययन में प्रकाशन की अपेक्षा है।

ऐसा उल्लेख मिलता है कि आपने ७ शिष्यों को दीक्षा दी पर अधिकृत रूप से पाँच शिष्यों के नाम एवं विवरण ही प्राप्त हुए हैं। उनके नाम हैं—१. श्री आसकरण जी म., २. श्री दीपचन्द जी म., ३. श्री गुमानचन्द्र जी म., ४. श्री कुशालचन्द्र जी म. और ५. श्री धनरूप जी म.।

नागौर में संवत् १८५३ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को आप आचार्य-पद पर सुशोभित हुए। लगभग ५४ वर्ष से कुछ अधिक आपकी दीक्षापर्याय थी। ७२ वर्ष की आयु में संवत् १८६८ की माघकृष्णा चतुर्दशी को जोधपुर में आप स्वर्गवासी हुए। आप आयु के अन्तिम भाग में लगभग १० वर्ष ठाणापति रहे।

आचार्य श्री आसकरण जी महाराज

आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया, संवत् १८१२ को जोधपुर-मारवाड़ परगनान्तर्गत तिंवरी ग्राम में रूपचन्द जी बोथरा के घर 'गीगां दे' की कुक्षि से हुआ। आपको अपनी सगाई के समय वैराग्योत्पत्ति हुई। आपने वि. सं. १८३० की वैशाख कृष्णा पंचमी के दिन तिंवरी में पूज्य आचार्य श्री जयमल जी महाराज के पास दीक्षा धारण की। आचार्य श्री रायचन्द्र जी ने अपने जीवन-काल में संवत् १८५७ की आषाढ़ कृष्णा पंचमी को आपको युवाचार्य घोषित किया।

आचार्य श्री आसकरण जी अपने समय के एक अच्छे कवि माने जाते थे। आपने दस भव्यात्माओं को दीक्षा दी। जिनके नाम हैं— १. श्री सबलदास जी म., २. श्री हीराचंद जी म., ३. श्री ताराचंद जी म., ४. श्री कपूरचद जी म., ५. श्री बुधमल जी म., ६. श्री नगराज जी म., ७. श्री सूरतराम जी म., ८. श्री शिववक्ष जी म., ९. श्री बच्छराज जी म. और १०. श्री टीकमचन्द जी म.।

आप संवत् १८६८ की माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन मेड़ताशहर में आचार्य-पद पर सुशोभित हुए। संयम का दृढ़ता से पालन करते एवं जिनधर्म की प्रभावना करते लगभग ७० वर्ष की आयु में संवत् १८८२ की कार्तिक कृष्णा पंचमी को आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य श्री सबलदास जी महाराज

जन्म स्थान पोकरण। जन्म-तिथि भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, संवत् १८२८। पिताश्री आनन्दराज जी

लूणिया, माता श्रीमती सुन्दरदेवी।

दीक्षा आपकी हुई बुचकला ग्राम में, संवत् १८४२ की मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया के दिन, आचार्य-श्री रायचंद्र जी म. के पास।

युवाचार्य-पद मिला संवत् १८८१ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को तथा आचार्य-पद पर शोभित हुए संवत् १८८२ की माघशुक्ला त्रयोदशी को, जोधपुर में। शिष्य हुए पांच, जिनके नाम हैं— १. श्री विरदीचंद जी म., २. श्री पृथ्वीचन्द्र जी म., ३. श्री कर्मचंद जी म., ४. श्री हिम्मतमल जी म., और ५. (नाम अनुपलब्ध)।

आप छन्दशास्त्र के अधिकाधिक ज्ञाता, आगम-साहित्य के जानकार एवं सफल कवि थे। संवत् १९०३ की वैशाख शुक्ला नवमी को सोजत में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य श्री हीराचंदजी महाराज

आपका जन्म बिराई ग्राम (राजस्थान) के कांकरिया गोत्रीय श्री नरसिंह जी की धर्मपत्नी गुमान-देवी की कुक्षि से सं. १८५४ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी को हुआ।

संवत् १८६४ में आश्विन कृष्णा तृतीया को सोजतनगर में पूज्य श्री आसकरणजी म. ने आपको दीक्षित बनाकर संयम-पथ पर आरूढ़ किया।

जोधपुर में संवत् १९०३ की आषाढ़ शुक्ला नवमी के दिन आप आचार्य श्री सबलदास जी म. के पट्टधर बने और आचार्य-पद पर शोभित हुए।

आपने पाँच योग्य विरक्तात्माओं को दीक्षा दी। जिनके नाम हैं—१. श्री किशना जी म., २. श्री कल्याण जी म., ३. श्री किस्तूरचन्द जी म., ४. श्री मूलचंद जी म. और ५. श्री भीकमचन्द जी म.।

लगभग ६६ वर्ष की उम्र में संवत् १९२० की फाल्गुण कृष्णा सप्तमी के दिन आप स्वर्गवासी हुए।

आचार्य श्री किस्तूरचंद जी महाराज

आपका जन्म हुआ था—विसलपुर में। पिता थे श्री नरसिंह जी मुणोत तथा माता का नाम कुन्दनादेवी था। जन्म-तिथि के बारे में मतभेद है। 'जयध्वज' ग्रन्थ में छपी पट्टावली तथा स्वामी श्री चौथमल जी म० की 'पूज्य गुणमाला' नामक पुस्तक में आपकी जन्म तिथि संवत् १८८९ की फाल्गुण कृष्णा तृतीया है, जबकि 'मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ' तथा ज्योतिर्धर जय (मु. मधुकर जी) में संवत् १८९८ का उल्लेख मिलता है। दीक्षा-तिथि में भी इतना ही अन्तर मिलता है। पूर्व मतानुयायी इनकी दीक्षा-तिथि मानते हैं, संवत् १८९८ की जबकि पश्चात्वर्ती मान्यतानुसार आपकी दीक्षा १९०७ में पाली में हुई थी।

आचार्य-पद पर आप शोभित हुए संवत् १९२० की फाल्गुण शुक्ला पंचमी को। आपके चार सुयोग्य शिष्य थे—१. श्री प्रतापमल जी म., २. श्री सोहनलाल जी म., ३. श्री मूलचंद जी म. और ४. श्री भीकमचंद जी म.।

आपकी स्वर्गवास-तिथि के बारे में भी मतभेद है। प्रथम मान्यता है, संवत् १९६० की भाद्रपद शुक्ला पंचमी, जबकि दूसरी मान्यता में सं. १९६८ का उल्लेख मिलता है।[1]

आचार्य श्री भीकमचंद्र जी महाराज

जन्मभूमि चोपड़ा ग्राम। गोत्र बरलोटा (मूथा), पिता श्री रतनचंद्र जी, माता श्रीमती जीवादेवी। जन्म-तिथि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दीक्षा-तिथि भी अभी तक प्राप्य नहीं। हाँ, युवावस्था में दीक्षित हुए। दीक्षा के समय अविवाहित थे। आपके दीक्षा-गुरु थे पूज्य श्री किस्तूरचंद जी म.। आचार्य-पद पर संवत् १९६० के भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को जोधपुर में प्रतिष्ठित हुए। शिष्य थे दो—१. श्री कानमल जी म. २. श्री मनसुख जी म.। श्री कानमल जी म. इनके बाद आचार्य बने।

आपका स्वर्गवास हुआ संवत् १९६५ की वैशाख कृष्णा पंचमी को। कहीं-कहीं आपकी आयु का उल्लेख है—६१ वर्ष ६ माह। इस तरह आपका जन्म संवत् १९०४ माना जा सकता है।

आचार्य श्री कानमल जी महाराज

घवा ग्राम के श्री अंगराज जी पारिख की धर्मपत्नी तीजांदेवी की कुक्षि से संवत् १९४८ की माह सुद पूर्णिमा को आपका जन्म हुआ। कार्तिक शुक्ला अष्टमी सं. १९६२ के दिन चौदह वर्ष की अवस्था में आपने महामन्दिर (जोधपुर) में पूज्य श्री भीकमचंद जी म. के सान्निध्य में दीक्षा स्वीकार की।

आप आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किए गए कुचेरा में ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी, संवत् १९६५ को। आपमें असाधारण प्रतिभा थी, आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था, आप संयम-निष्ठ थे तथा आप में अनुशासित रहने एवं अनुशासन में रखने की अनुपम क्षमता थी। संवत् १९८५ की माघ कृष्णा पंचमी को आप स्वर्गवासी हुए।

आपके पश्चात् लगभग सैंतालीस वर्ष तक आचार्य-पद रिक्त रहा। संवत् २०३३ में श्री जयमल जैन संघ के आचार्य-पद पर मुनि श्री जीतमल जी महाराज को प्रतिष्ठित किया गया।

यह 'जीत-अभिनन्दन-ग्रन्थ' उन्हीं परम-प्रतापी पूज्यप्रवर आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. के अभिनन्दनार्थ प्रकाशित किया गया है। वर्तमान आचार्य-श्री के जीवन का विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ के अन्य पृष्ठों पर पढ़िएगा।

एक विशेष बात, यदि आपने ध्यान से देखा हो तो पाया होगा कि गच्छ-प्रवर्तक पूज्य आचार्य श्री जयमल्ल जी म. सा. से लेकर वर्तमान आचार्यप्रवर महामहिम पूज्य श्री जीतमल जी म. सा. तक के सभी आचार्य दीक्षा के समय अविवाहित (कुंआरे), अखण्ड-बाल-ब्रह्मचारी थे। यह भले ही सुखद-संयोग मात्र हो, पर विशेष रूप से ध्यातव्य है।

—उज्जैन (म.प्र.)

---

१. संपादकीय टिप्पणी—

चूंकि आचार्य श्री किस्तूरचंद जी म. के पाट पर आचार्य श्री भीकमचंद्र जी म. आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने की तिथि सं. १९६० की भादवा सुद १५ है, अतः प्रथम मान्यता ही सही मालूम पड़ी है।

लूणिया, माता श्रीमती सुन्दरदेवी।

दीक्षा आपकी हुई बुचकला ग्राम में, संवत् १८४२ की मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया के दिन, आचार्य-श्री रायचंद्र जी म. के पास।

युवाचार्य-पद मिला संवत् १८८१ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को तथा आचार्य-पद पर शोभित हुए संवत् १८८२ की माघशुक्ला त्रयोदशी को, जोधपुर में। शिष्य हुए पांच, जिनके नाम हैं— १. श्री विरदीचंद जी म., २. श्री पृथ्वीचन्द्र जी म., ३. श्री कर्मचंद जी म., ४. श्री हिम्मतमल जी म., और ५. (नाम अनुपलब्ध)।

आप छन्दशास्त्र के अधिकाधिक ज्ञाता, आगम-साहित्य के जानकार एवं सफल कवि थे। संवत् १९०३ की वैशाख शुक्ला नवमी को सोजत में आपका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य श्री हीराचंदजी महाराज

आपका जन्म विराई ग्राम (राजस्थान) के कांकरिया गोत्रीय श्री नरसिंह जी की धर्मपत्नी गुमान-देवी की कुक्षि से सं. १८५४ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी को हुआ।

संवत् १८६४ में आश्विन कृष्णा तृतीया को सोजतनगर में पूज्य श्री आसकरणजी म. ने आपको दीक्षित बनाकर संयम-पथ पर आरूढ़ किया।

जोधपुर में संवत् १९०३ की आषाढ़ शुक्ला नवमी के दिन आप आचार्य श्री सबलदास जी म. के पट्टधर बने और आचार्य-पद पर शोभित हुए।

आपने पांच योग्य विरक्तात्माओं को दीक्षा दी। जिनके नाम हैं—१. श्री किशना जी म., २. श्री कल्याण जी म., ३. श्री किस्तूरचन्द जी म., ४. श्री मूलचंद जी म. और ५. श्री भीकमचन्द जी म.।

लगभग ६६ वर्ष की उम्र में संवत् १९२० की फाल्गुण कृष्णा सप्तमी के दिन आप स्वर्गवासी हुए।

आचार्य श्री किस्तूरचंद जी महाराज

आपका जन्म हुआ था—विसलपुर में। पिता थे श्री नरसिंह जी मुणोत तथा माता का नाम कुन्दनादेवी था। जन्म-तिथि के बारे में मतभेद है। 'जयध्वज' ग्रन्थ में छपी पट्टावली तथा स्वामी श्री चौथमल जी म० की 'पूज्य गुणमाला' नामक पुस्तक में आपकी जन्म तिथि संवत् १८८९ की फाल्गुण कृष्णा तृतीया है, जबकि 'मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रंथ' तथा ज्योतिर्धर जय (मु. मधुकर जी) में संवत् १८९८ का उल्लेख मिलता है। दीक्षा-तिथि में भी इतना ही अन्तर मिलता है। पूर्व मतानुयायी इनकी दीक्षा-तिथि मानते हैं, संवत् १८९८ की जबकि पश्चात्वर्ती मान्यतानुसार आपकी दीक्षा १९०७ में पाली में हुई थी।

आचार्य-पद पर आप शोभित हुए संवत् १९२० की फाल्गुण शुक्ला पंचमी को। आपके चार सुयोग्य शिष्य थे—१. श्री प्रतापमल जी म., २. श्री सोहनलाल जी म., ३. श्री मूलचंद जी म. और ४. श्री भीकमचंद जी म.।

आपकी स्वर्गवास-तिथि के बारे में भी मतभेद है। प्रथम मान्यता है, संवत् १९६० की भाद्रपद शुक्ला पंचमी, जबकि दूसरी मान्यता में सं. १९६८ का उल्लेख मिलता है।[1]

आचार्य श्री भीकमचंद्र जी महाराज

जन्मभूमि चौपड़ा ग्राम। गोत्र बरलोटा (मूथा), पिता श्री रतनचंद्र जी, माता श्रीमती जीवादेवी। जन्म-तिथि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दीक्षा-तिथि भी अभी तक प्राप्य नहीं। हाँ, युवावस्था में दीक्षित हुए। दीक्षा के समय अविवाहित थे। आपके दीक्षा-गुरु थे पूज्य श्री किस्तूरचंद जी म.। आचार्य-पद पर संवत् १९६० के भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा को जोधपुर में प्रतिष्ठित हुए। शिष्य थे दो— १. श्री कानमल जी म. २. श्री मनसुख जी म.। श्री कानमल जी म. इनके बाद आचार्य बने।

आपका स्वर्गवास हुआ संवत् १९६५ की वैशाख कृष्णा पंचमी को। कहीं-कहीं आपकी आयु का उल्लेख है—६१ वर्ष ६ माह। इस तरह आपका जन्म संवत् १९०४ माना जा सकता है।

आचार्य श्री कानमल जी महाराज

धवा ग्राम के श्री अंगराज जी पारिख की धर्मपत्नी तीजांदेवी की कुक्षि से संवत् १९४८ की माह सुद पूर्णिमा को आपका जन्म हुआ। कार्तिक शुक्ला अष्टमी सं. १९६२ के दिन चौदह वर्ष की अवस्था में आपने महामन्दिर (जोधपुर) में पूज्य श्री भीकमचंद जी म. के सान्निध्य में दीक्षा स्वीकार की।

आप आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किए गए कुचेरा में ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी, संवत् १९६५ को। आपमें असाधारण प्रतिभा थी, आपका व्यक्तित्व प्रभावशाली था, आप संयम-निष्ठ थे तथा आप में अनुशासित रहने एवं अनुशासन में रखने की अनुपम क्षमता थी। संवत् १९८५ की माघ कृष्णा पंचमी को आप स्वर्गवासी हुए।

आपके पश्चात् लगभग सैंतालीस वर्ष तक आचार्य-पद रिक्त रहा। संवत् २०३३ में श्री जयमल जैन संघ के आचार्य-पद पर मुनि श्री जीतमल जी महाराज को प्रतिष्ठित किया गया।

यह 'जीत-अभिनन्दन-ग्रन्थ' उन्हीं परम-प्रतापी पूज्यप्रवर आचार्य-श्री जीतमल जी म. सा. के अभिनन्दनार्थ प्रकाशित किया गया है। वर्तमान आचार्य-श्री के जीवन का विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ के अन्य पृष्ठों पर पढ़िएगा।

एक विशेष बात, यदि आपने ध्यान से देखा हो तो पाया होगा कि गच्छ-प्रवर्तक पूज्य आचार्य श्री जयमल्ल जी म. सा. से लेकर वर्तमान आचार्यप्रवर महामहिम पूज्य श्री जीतमल जी म. सा. तक के सभी आचार्य दीक्षा के समय अविवाहित (कुंआरे), अखण्ड-बाल-ब्रह्मचारी थे। यह भले ही सुखद-संयोग मात्र हो, पर विशेष रूप से ध्यातव्य है।

—उज्जैन (म.प्र.)

---

१. संपादकीय टिप्पणी—
चूंकि आचार्य श्री किस्तूरचंद जी म. के पाट पर आचार्य श्री भीकमचंद्र जी म. आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने की तिथि सं. १९६० की भादवा सुद १५ है, अतः प्रथम मान्यता ही सही मालूम पड़ी है।

इतिहास की आवश्यकता

श्रीमती सुमनलता भंडारी

यदि किसी समाज को चिर-काल तक जीवित रखना है एवं निरन्तर पल्लवित व पुष्पित बनाना है तो उस समाज के इतिहास को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति के आज तक अक्षुण्ण बने रहने का एक मात्र कारण यही है कि इस देश की विभिन्न जातियों का, इस देश के विभिन्न धर्मों, समाजों एवं सम्प्रदायों का इतिहास समृद्ध है सुरक्षित है और कुछ अंश तक जन-जन के कंठावस्थित भी है।

जिस समाज का इतिहास प्राप्य नहीं, प्राप्य हो तो समृद्ध नहीं, सबसे बड़ी बात कि सब कुछ होते हुए भी वह पूर्णतया सुरक्षित नहीं तो निश्चय ही यह एक बड़ी विडम्बना है और ऐसा समाज कभी प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

भारत जब अंग्रेजों के अधीन था तो इस देश की संस्कृति को समूल नष्ट करने का उन्होंने अथक एवं असीम प्रयत्न किया। चतुर अंग्रेज जाति ने सोचा कि हमने यदि भारतीय साहित्य को नष्ट कर दिया तो यहां की संस्कृति स्वतः नष्ट हो जाएगी और यह देश फिर कभी विश्व के इतिहास में गौरवमय स्थान प्राप्त नहीं कर सकेगा। उन्हें क्या मालूम था कि इस देश की रज के कण-कण पर इसके प्राचीन गौरवमय इतिहास की यशोगाथाएँ लिखी हुई हैं। वे क्या जानते थे कि इस देश के निवासियों के शरीर की एक-एक रक्त-बूंद में उस इतिहास की उज्ज्वल गाथाएं घुली हुई हैं। अंग्रेजों के सारे प्रयत्न विफल गए और यह देश आज फिर विश्व के मानचित्र पर अपनी उसी विशिष्ट गौरवमयी परम्परा के साथ नई शक्ति के रूप में उभर कर सम्पूर्ण विश्व को चमत्कृत किए दे रहा है।

इतिहास केवल बीते समय को स्मरण दिलाने वाला दस्तावेज मात्र नहीं है। वह आने वाली पीढी का पहरेदार है, उनका सृजक है, उनका शिक्षक है। अब तक की भूलों की पुनरावृत्ति न हो—इसकी चेतावनी सुरक्षित-इतिहास ही तो देता है। निराश एवं हताश मृत-प्रायः जीवन में प्राण-संजीवनी को फूंकने का कार्य भी इतिहास ही तो करता है। इतिहास के गौरवशाली जीवंतक्षण जब हृदय-पटल पर उभरते हैं तो निश्चय ही हम सब कुछ भूलकर समर्पित भाव से कुछ ऐसा कर बैठते हैं कि इतिहास उन क्षणों को पुनः जीता है।

इतिहास सुनहरे भविष्य का पथदर्शक है, वह वर्तमान का सर्जक है और वही चिंतक, शिक्षक एवं सचेतक भी है। महाकवि रामधारीसिंह दिनकर कहते हैं—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी ?
आओ विचारें बैठकर के, ये समस्याएँ सभी ॥
यदपि हमें इतिहास अपना पूर्ण मालूम है नहीं।
हम कौन थे ?, इस ज्ञान से फिर भी अधूरा है नहीं ॥

—सी-5/34 हाई कोर्ट कोलोनी
जोधपुर (राज.)

परिशिष्ट

- संत - सती - परिचय
- संस्था - परिचय
- कार्यकर्त्ता - परिचय
- ग्रंथ - सहयोगी - परिचय
- संस्था के स्थायी सदस्यों की नामावली

आचार्य प्रवर के आज्ञानुवर्ती

संत - परिचय

पुखराज मुणोत

कहते हैं संसार में व्यक्ति का नाम उसके कार्यो से या योग्य-पुत्रों से प्रसिद्धि पाता है। अध्यात्म-क्षेत्र में भी यही बात है, यदि शिष्य योग्य हों, प्रतिभाशाली हों, बुद्धिमान हों, विनयी हों, संयम में दृढ़ हों तथा कर्मठ हों तो निश्चय ही वे अपने गुरु का नाम रोशन करते हैं, उन्हें समाज व राष्ट्र में प्रसिद्धि-ख्याति दिलाते हैं। ऐसे सुशिष्यों की प्राप्ति भी बड़े सौभाग्य की बात है।

यह हर्ष का विषय है कि आचार्य-प्रवर के सभी संत-शिष्य योग्य हैं, विनयवान् हैं, विद्वान् हैं एवं निर्दोष संयम-पालक हैं। सभी मुनिराज आचार्य भगवन् एवं संघ की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले हैं, जिन-शासन की सेवा रुचि-पूर्वक करने वाले हैं, अपने आत्म-कल्याण में सजगता बरतने वाले हैं, सम्यग्ज्ञान के उपासक हैं, सम्यग्दर्शन के आराधक हैं एवं सम्यक् चारित्र के साधक हैं। पूज्य-प्रवर के आज्ञानुवर्ती एवं अंतेवासी-परिवार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

१. उपाध्याय-प्रवर श्री लालचन्द जी म. सा.

आगम-व्याख्याता, साहित्यसूरि, तत्व-मर्मज्ञ, पंडित-रत्न, शेर-ए-राजस्थान आदि अनेक उपाधियों से विभूषित वर्तमान युग के आध्यात्मिक एवं धार्मिक चेतना के प्रबुद्ध संत-शिरोमणि का संक्षिप्त परिचय उनके प्रवचन-संकलन "प्रवचन पीयूष कलश" के आवरण पृष्ठ पर स्वर्गीय मुनिराज श्री नूतनचंद्र जी महाराज की कलम से इस प्रकार अंकित हुआ है :

राजस्थान प्रान्त की मरुधरा का एक ऐतिहासिक कस्बा रायपुर-मारवाड़ के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ पर आज से पैंसठ वर्ष पूर्व एक महासागरोपम व्यक्ति ने जन्म ग्रहण किया —"चौथूसिंह" के रूप में; किन्तु आज जिन्हें जाना/पहचाना जाता है—"उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी महाराज (श्रमणलाल)" के नाम से। "मथुराबाई" आपकी माता का नाम था तथा पिता थे आपके "श्री दौलतसिंह जी"।

जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार ही कहना चाहिए इसे, सात वर्ष की लघुवय में ही "गोपीचंद भर्तृहरी" का खेल देखा कि संसार से विरक्ति हो गई। भावना फलवती हुई, ऐसा सुयोग मिला कि आप महासती श्री जड़ावकुंवर जी महाराज के सुसान्निध्य में पहुंच गए। महासती जी ने मातृवत् आपके धार्मिक संस्कारों का पालन-पोषण एवं संवर्धन किया। कुछ समय पर्यन्त वहाँ रहने के बाद आप परम

श्रद्धेय प्रगुरुवर्य स्वामी श्री राजमल जी म. सा. एवं गुरुवर्य स्वामी श्री बख्तावरमल जी म. सा. के सान्निध्य में लगभग बारह वर्ष तक वैरागी के रूप में रहे।

परिपुष्ट व अटल वैराग्य के धनी संतात्मा गुरुवर्य स्वामी जी ने विक्रम संवत् १९८७, ज्येष्ठ शुक्ला नवमी के दिन आपको विशुद्ध श्रामणी-दीक्षा प्रदान की। यह अपूर्व लाभ महाराष्ट्र प्रांत व आकोला जनपद के तांदली गांव की पवित्र भूमि को मिला। शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही साथ आपने यथावसर व्याख्यान देने का क्रम भी जारी रखा। आरम्भ से ही व्याख्यात्मक साहित्य आपकी रुचि का विषय रहा है। इसके अतिरिक्त आपने प्राकृत, संस्कृत व अंग्रेजी भाषाओं का भी ठोस अध्ययन किया।

आधुनिक युग में प्राचीनतम प्राकृत-भाषा के कवि व रचनाकार के रूप में आपकी विशेष प्रसिद्धि है। भारत-भर में विभिन्न प्रान्तों के सहस्रों ग्रामों-नगरों में विचरण करके आपने जैन धर्म-सिद्धान्तों की पावन मंदाकिनी को अबाध रूप से प्रवाहित किया है एवं कर रहे हैं।

विक्रम संवत् २०३६ तिथि कार्तिक शुक्ला अष्टमी के दिन डेह्-चातुर्मास में उपाध्याय-पद से सुशोभित किया गया। आप यद्यपि वयोवृद्ध हैं पर ज्ञान के आदान-प्रदान में, प्रवचन-लेखन एवं समस्या-निराकरण में अपनी उसी युवावस्था की परम्परा को चिर-स्थायी बनाए हुए हैं।

'प्रवचन-पीयूष-कलश' नामक ग्रंथ में आपके डेह्-चातुर्मास के अड़तीस लोकोपकारी प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। "जयगुञ्जार" नामक मासिक पत्र में भी आपकी शताधिक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। संघ व समाज को नव-जागरण का संदेश देने वाले महामनीषी उपाध्याय-प्रवर दीर्घायु हों, यही सत्कामना है।

स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा.

सौम्य चेहरे पर सदाबहार मुस्कान। इसी मधुर-मुस्कान के तले एक सुकोमल-हृदय। बच्चों में आध्यात्मिक रुचि जागृत करने की विशेष रुचि। आप एक बार मिल लीजिए, बात कर लीजिए, आपका हृदय पुनः पुनः उनसे मिलना चाहेगा, बतियाना चाहेगा।

आपका संसार-अवस्था (दीक्षा-पूर्व) का नाम था—श्री पुखराज जी। अन्य परिचय इस प्रकार है—

※ पिता : श्री दीपाराम जी ※ माता : श्रीमती वीरी बाई
※ कुल (गोत्र) : सोनी (ब्राह्मण) ※ जन्म-संवत् : १९९६
※ जन्म—स्थान : रूपावास (पाली)
※ विरक्ति के प्रेरणा-स्रोत : स्व. महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.।
※ वैराग्य-काल : नव माह
※ दीक्षा-गुरु : स्व. स्वामिप्रवर श्री चाँदमल जी म. सा.।
※ शिक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी म. सा.।
※ दीक्षा-स्थल : हरसोलाव (गोटन-नागौर)
※ दीक्षा-तिथि : वि. संवत् २०१३, मिति वैशाख वद १०

※ गुरुभ्राता : श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. पारस'
※ अध्ययन : जैन सिद्धान्त व कथा-साहित्य एवं हिन्दी-संस्कृत-भाषा
※ विशेषताएँ : आत्मीयता, सेवाभाव, व्याख्यान व सहज-मुस्कान ।

मुनि श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. 'पारस'

प्रखर-वक्ता, कलम के धनी, युवा-हृदय-सम्राट—ये कुछ विशिष्ट उपाधियां हैं जो जैन-समाज "श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा." के नाम के साथ प्रयोग में लेता है । आपके ऐतिहासिक उपन्यास 'बप्पभट्टि' के आवरण पृष्ठ पर स्व. श्री नूतनमुनि जी द्वारा प्रस्तुत आपका परिचय इस प्रकार है—

※ दीक्षा-पूर्व का नाम : श्री सोहनराज जी
※ जन्म-स्थान : सोजत शहर (पीपलिया वेरा) पाली जिला
※ जन्म-तिथि : वि. सं. २००६, ३१ मार्च १९४९
※ कुल-गोत्र : माली (परिहार)
※ पिता : श्री देवाराम जी
※ माता : श्रीमती नन्द कुंवर
※ विरक्ति के प्रेरणा-स्रोत : स्व. महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. (आपके संसार-पक्षीय दादीजी) एवं महासती श्री सुगनकुंवर जी म.(आपके संसार-पक्षीय भूआ जी)
※ दीक्षा-गुरु : स्व. स्वामिप्रवर श्री चाँदमल जी महराज
※ शिक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंदजी म. सा.
※ गुरुभ्राता : स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा.
※ दीक्षा-तिथि : द्वितीय ज्येष्ठ शुक्ला ११, वि. संवत् २०१८ (२४ जून १९६१)
※ दीक्षा-स्थल : कटंगी (बालाघाट-मध्यप्रदेश)
※ दीक्षा-नाम : मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. 'पारस'
※ अध्ययन : जैन सिद्धान्त एवं इतिहास तथा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाएँ ।
※ विशेषताएँ : संघ-सेवा, व्याख्यान, लेखन, गीत-रचना
※ प्रकाशित कृतियाँ : चंद्रालोक, बप्पभट्टि । इसके अतिरिक्त 'जयगुञ्जार' मासिक में प्रकाशित शताधिक लघु-बोधकथाएँ

श्री गुणवन्तमुनि जी म. सा.

※ दीक्षा-पूर्व-नाम : श्री गुलाबचंद जी
※ पिता : स्व. श्री देवचंद जी
※ माता : स्व. श्रीमती इन्दिरा देवी
※ कुल-गोत्र : ओसवाल (वैंगाणी)
※ नाना : स्व. श्री गौरीलाल जी वैद

श्रद्धेय प्रगुरुवर्य स्वामी श्री राजमल जी म. सा. एवं गुरुवर्य स्वामी श्री बख्तावरमल जी म. सा. के सान्निध्य में लगभग बारह वर्ष तक वैरागी के रूप में रहे।

परिपुष्ट व अटल वैराग्य के धनी संतात्मा गुरुवर्य स्वामी जी ने विक्रम संवत् १९८७, ज्येष्ठ शुक्ला नवमी के दिन आपको विशुद्ध श्रामणी-दीक्षा प्रदान की। यह अपूर्व लाभ महाराष्ट्र प्रांत व आकोला जनपद के तांदली गाँव की पवित्र भूमि को मिला। शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही साथ आपने यथावसर व्याख्यान देने का क्रम भी जारी रखा। आरम्भ से ही व्याख्यात्मक साहित्य आपकी रुचि का विषय रहा है। इसके अतिरिक्त आपने प्राकृत, संस्कृत व अंग्रेजी भाषाओं का भी ठोस अध्ययन किया।

आधुनिक युग में प्राचीनतम प्राकृत-भाषा के कवि व रचनाकार के रूप में आपकी विशेष प्रसिद्धि है। भारत-भर में विभिन्न प्रान्तों के सहस्रों ग्रामों-नगरों में विचरण करके आपने जैन धर्म-सिद्धान्तों की पावन मंदाकिनी को अबाध रूप से प्रवाहित किया है एवं कर रहे हैं।

विक्रम संवत् २०३६ तिथि कार्तिक शुक्ला अष्टमी के दिन डेह-चातुर्मास में उपाध्याय-पद से सुशोभित किया गया। आप यद्यपि वयोवृद्ध हैं पर ज्ञान के आदान-प्रदान में, प्रवचन-लेखन एवं समस्या-निराकरण में अपनी उसी युवावस्था की परम्परा को चिर-स्थायी बनाए हुए हैं।

'प्रवचन-पीयूष-कलश' नामक ग्रंथ में आपके डेह-चातुर्मास के अड़तीस लोकोपकारी प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं। "जयगुञ्जार" नामक मासिक पत्र में भी आपकी शताधिक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। संघ व समाज को नव-जागरण का संदेश देने वाले महामनीषी उपाध्याय-प्रवर दीर्घायु हों, यही सत्कामना है।

स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा.

सौम्य चेहरे पर सदाबहार मुस्कान। इसी मधुर-मुस्कान के तले एक सुकोमल-हृदय। बच्चों में आध्यात्मिक रुचि जागृत करने की विशेष रुचि। आप एक बार मिल लीजिए, बात कर लीजिए, आपका हृदय पुनः पुनः उनसे मिलना चाहेगा, बतियाना चाहेगा।

आपका संसार-अवस्था (दीक्षा-पूर्व) का नाम था—श्री पुखराज जी। अन्य परिचय इस प्रकार है—

※ पिता : श्री दीपाराम जी ※ माता : श्रीमती बीरी बाई
※ कुल (गोत्र) : सोनी (ब्राह्मण) ※ जन्म-संवत् : १९९६
※ जन्म—स्थान : रूपावास (पाली)
※ विरक्ति के प्रेरणा-स्रोत : स्व. महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.।
※ वैराग्य-काल : नव माह
※ दीक्षा-गुरु : स्व. स्वामिप्रवर श्री चाँदमल जी म. सा.।
※ शिक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी म. सा.।
※ दीक्षा-स्थल : हरसोलाव (गोटन-नागौर)
※ दीक्षा-तिथि : वि. संवत् २०१३, मिति वैशाख वद १०

※ गुरुभ्राता : श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. पारस'
※ अध्ययन : जैन सिद्धान्त व कथा-साहित्य एवं हिन्दी-संस्कृत-भाषा
※ विशेषताएँ : आत्मीयता, सेवाभाव, व्याख्यान व सहज-मुस्कान ।

मुनि श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. 'पारस'

प्रखर-वक्ता, कलम के धनी, युवा-हृदय-सम्राट—ये कुछ विशिष्ट उपाधियां हैं जो जैन-समाज "श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा." के नाम के साथ प्रयोग में लेता है। आपके ऐतिहासिक उपन्यास 'वप्पभट्टि' के आवरण पृष्ठ पर स्व. श्री नूतनमुनि जी द्वारा प्रस्तुत आपका परिचय इस प्रकार है—

※ दीक्षा-पूर्व का नाम : श्री सोहनराज जी
※ जन्म-स्थान : सोजत शहर (पीपलिया बेरा) पाली जिला
※ जन्म-तिथि : वि. सं. २००६, ३१ मार्च १९४९
※ कुल-गोत्र : माली (परिहार)
※ पिता : श्री देवाराम जी
※ माता : श्रीमती नन्द कुंवर
※ विरक्ति के प्रेरणा-स्रोत : स्व. महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. (आपके संसार-पक्षीय दादीजी) एवं महासती श्री सुगनकुंवर जी म.(आपके संसार-पक्षीय भूआ जी)
※ दीक्षा-गुरु : स्व. स्वामिप्रवर श्री चाँदमल जी महराज
※ शिक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. एवं उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंदजी म. सा.
※ गुरुभ्राता : स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा.
※ दीक्षा-तिथि : द्वितीय ज्येष्ठ शुक्ला ११, वि. संवत् २०१८ (२४ जून १९६१)
※ दीक्षा-स्थल : कटंगी (बालाघाट-मध्यप्रदेश)
※ दीक्षा-नाम : मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. 'पारस'
※ अध्ययन : जैन सिद्धान्त एवं इतिहास तथा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाएँ।
※ विशेषताएँ : संघ-सेवा, व्याख्यान, लेखन, गीत-रचना
※ प्रकाशित कृतियाँ : चंद्रालोक, वप्पभट्टि। इसके अतिरिक्त 'जयगुञ्जार' मासिक में प्रकाशित शताधिक लघु-बोधकथाएँ

श्री गुणवन्तमुनि जी म. सा.

※ दीक्षा-पूर्व-नाम : श्री गुलाबचंद जी
※ पिता : स्व. श्री देवचंद जी
※ माता : स्व. श्रीमती इन्दिरा देवी
※ कुल-गोत्र : ओसवाल (बैंगाणी)
※ नाना : स्व. श्री गौरीलाल जी वैद

※ नानी : श्रीमती केसर देवी
※ मामा : श्री भेरुदान जी व श्री अमीचन्द जी
※ लघुभ्राता : स्व. श्री डालमचन्द जी (आपसे भी पहले आचार्य-श्री के पास दीक्षित, दीक्षा-नाम : मुनि श्री नूतनचन्द जी म. सा.)
※ जन्म-तिथि : वि. सं. २०१४ आसोज सुद १२ शनिवार
※ जन्म-स्थान : सोनादा (दार्जिलिंग- प. बंगाल)
※ विरक्ति-प्रेरणा : (i) प्रतिकूल सांसारिक वातावरण
: (ii) भ्राता श्री डालमचंद्र की दीक्षा
: (iii) आचार्य-प्रवर श्री जीतमलजी म. सा. आदि संतों के दर्शन व उनकी आत्मीयता।
※ दीक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
※ शिक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर एवं उपाध्याय श्री लालचंद जी म. सा.
※ दीक्षा-तिथि : चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, वि. संवत् २०३३
※ दीक्षा-स्थल : रायपुर (मारवाड़)
※ अध्ययन : मा. शि. बोर्ड-अजमेर की 'प्रवेशिका' तथा 'उपाध्याय' परीक्षाएँ उत्तीर्ण (जैनागम एवं जैन-सिद्धान्त : अध्ययन-रत)
※ विशेषताएँ : संघ-सेवा, पद्य-रचना, धार्मिक शिक्षण, संकलन, संपादन व लेखन।

श्री भद्रेशमुनि जी म. सा.

※ दीक्षा-पूर्व नाम : श्री भगवान जी
※ पिता : श्री प्रभुराम जी
※ माता : श्रीमती चन्दना बाई
※ जन्म-स्थान : सोजतसिटी (पीपलिया वेरा)
※ कुल-गोत्र : माली (परिहार)
※ जन्म-तिथि : द्वि. आश्विन शुक्ला चतुर्थी, सोमवार वि. सं. २०२०
※ विरक्ति-प्रेरणा : महासती श्री सुगनकंवर जी म. सा. (संसार-पक्षीय भूआ)
※ दीक्षा-तिथि : चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, वि. संवत् २०३३
※ दीक्षा-स्थल : रायपुर (मारवाड़)
※ गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
※ अध्ययन : मा. शि. बोर्ड-अजमेर की माध्यमिक-परीक्षा (कलावर्ग) उत्तीर्ण, आगे अध्ययन जारी। (जैन स्तोक, आगम एवं कथा साहित्य : अध्ययन-रत)
※ विशेषताएँ : काव्य-गीत-रचना व मधुर-गायन।

श्री ऋषभचरण जी म. सा.

※ दीक्षा-पूर्व नाम : श्री नेमीचन्द जी बोथरा

- ※ पिता : श्री कन्हैयालाल जी
- ※ माता : श्रीमती निर्मला वाई
- ※ विरक्ति-प्रेरणा : सांसारिक प्रतिकूलता
- ※ दीक्षा-तिथि : वैशाख शुक्ला चतुर्दशी, वि. संवत् २०३९
- ※ दीक्षा-स्थल : नानणा (सेंदड़ा-पाली)
- ※ गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ※ अध्ययन : सूत्र-तत्त्व, स्तुति-स्तोत्र आदि
- ※ विशेषताएँ : उग्रविहार, उग्र-तपस्या, सेवाभाव।

ये छहों संत तो वर्तमान में सुखशांतिपूर्वक विचर रहे हैं, आचार्यप्रवर के आदेशों की अनुपालना कर रहे हैं एवं उनके उपदेश/सन्देश को प्रचारित कर रहे हैं। शासन-देव से कामना है कि ये सभी मुनिराज दीर्घायु हों एवं जयगच्छ की शोभा में अधिकाधिक श्री-वृद्धि करें।

अब बरबस मैं खींचा जा रहा हूँ—एक आदर्श व्यक्तित्व की ओर। भले ही आज वे हम सब के बीच नहीं हैं फिर भी उनका परिचय इस ग्रंथ में देना अनिवार्य प्रतीत हो रहा है। वे थे—

स्व० श्री नूतनचंद्र जी महाराज

'संघ चाहता था तुझे दें उत्तरदायित्व' (आचार्य श्री जीतमल जी म. सा.)
'चेलो थो तूं सब गुरुजन को, गुण सद्‌गुरु समेत' (उपाध्याय श्री लालचंद जी म. सा.)
'भण-गुण ज्ञानी बण्यो तूं नामी, जयसंघ बहुत शोभायो रे' (स्वामी श्री शुभमुनि जी म.)
'विनयवान सेवा गुण शोभित, तत्त्व-रसिक श्रुतवान' (मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म.)
'ज्ञान-खजानो भरयो लबालब करस्यो शासन-सेव' (श्री गुणवंत मुनि जी म.)
'तुम ज्ञान-सरोवर थे, हम ज्ञान-पिपासु थे' (श्री भद्रेश मुनि जी)
'नाम अमर नूतन, सुयश अपार है' (साध्वी शीलप्रभाजी)
'ज्ञान-ध्यान-लिखना औ पढ़ना, स्वाध्याय में रत रहना' (साध्वी चरणप्रभा जी)
'नित्य नूतन थे, नूतन थी उनकी नजर' (पुखराज मुणोत)
'पावन प्रवीण गुणी, महिमा अधिक सुनी, होनहार महामुनि' (श्री भगवती मुनि जी)
'संस्कृत प्राकृत के ज्ञाता थे, व्याख्यान कला थी हितकारी' (मुनि श्री मणिकुमार जी, कलकत्ता)

ये हैं कुछ हृदयोद्‌गार-पंक्तियाँ, जो स्व. श्री नूतनमुनि जी महाराज के अचानक स्वर्गवास होने पर जयगुंजार मासिक-पत्र के 'निर्वाण-अंक : नूतन श्रद्धांजलि परिशिष्टांक' में प्रकाशित हुईं। वे क्या थे, कैसे थे ? उनकी प्रतिभा, योग्यता, सेवावृत्ति, सदाशयता, निर्मलता, सरलता आदि गुणों की अभिव्यक्ति इसी अंक में पाठक पाएंगे। उन्हीं स्व. मुनि-श्रेष्ठ का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

पिता स्व. श्री देवचंद जी वैंगाणी। माता स्व. श्रीमती इन्दिरादेवी। (सांसारिक अन्य परिवार श्री गुणवंत मुनि जी म. के परिचय में देखें)। अग्रज भ्राता—श्री गुलाबचंद जी (आपके बाद दीक्षित, दीक्षा नाम—श्री गुणवंतमुनि जी म.)

※ जन्म-तिथि	: संवत् २०१६, ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी, दिनांक १३ जून १९५९
※ जन्म-स्थल	: सोनादा (दार्जिलिंग)
※ विरक्ति के प्रेरणास्रोत	: (१) प्रतिकूल सांसारिक परिस्थितियाँ (२) स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा. का सदुपदेश।
※ वैराग्य-काल	: ६ माह
※ दीक्षा-तिथि	: संवत् २०२९, ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी
※ दीक्षा-स्थल	: कुचेरा (नागौर)
※ दीक्षा-सान्निध्य	: स्व. पूज्य स्वामी जी श्री रावतमल जी म. सा.
※ दीक्षा-नेश्राय	: वर्तमान आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
※ शिक्षा-गुरु	: आचार्यप्रवर एवं उपाध्याय श्री लालचंद जी म. सा.
※ शिक्षक	: पं. सूर्यनारायण जी शास्त्री, स्व. डॉ. पी. सी. जैन आदि
※ अध्ययन	: जैनागम, अनेक स्तोक एवं अनेक स्तोत्र-पाठ। हिंदी, अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं का ठोस अध्ययन। उच्चकोटि के दर्शन ग्रन्थ, व्याकरण-साहित्य एवं उच्च कोटि के साहित्यकारों की हिंदी, संस्कृत रचनाओं का मनन-मंथन। बोर्ड की (संस्कृत) प्रवेशिका परीक्षा में प्रथम योग्यता प्राप्त कर स्वर्ण-पदक विजेता। अगले वर्ष उपाध्याय (संस्कृत) परीक्षा में भी प्रथम योग्यता, स्वर्ण-पदक।
※ विशेष योग्यता	: कुशल प्रवचनकार, आधिकारिक लेखक एवं संपादक, सुयोग्य अध्यापक, सच्चिंतक, तत्त्व-जिज्ञासु।

—प्रबन्ध सम्पादक

आचार्य-प्रवर की नेश्रायवर्ती

सती - परिचय

—डॉ. तेजसिंह गौड़

महासती श्री नंदकुंवर जी म. सा.

प्रशांत एवं सेवाभावी महासती श्री नंदकुंवर जी म. सा. का जन्म वि. सं. १९६५ में ग्राम केलवाज जिला पाली निवासी श्रीमान् धूलचंद जी की धर्मपत्नी श्रीमती केशरबाई की पावन-कुक्षि से हुआ था। ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था में वि. सं. १९७६ में आपने पूज्य श्री दयास्वामी जी म सा. के मुखारविन्द से जोधपुर में दीक्षाव्रत अंगीकार किया। दीक्षोपरांत आप महासती श्री पन्ना जी म. सा. की शिष्या घोषित की गई।

आपके दीक्षा-समारोह के अवसर पर पूज्य मुनिराज श्री राजमल जी म. सा., मुनि श्री मूलचंद जी म. सा., स्वामी श्री नथमल जी म. सा., पूज्य श्री कानमल जी म. सा., स्वामी श्री चौथमल जी म. सा., मुनि श्री गणेशलाल जी म. सा., मुनि श्री भेरूलाल जी म., मुनि श्री प्रसन्नचंद जी म., श्री मंगलमुनि जी म. सा., स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा., मुनि श्री बख्तावरमल जी म. आदि ठाणा विशेष रूप से उपस्थित थे।

साध्वी श्री मदनकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : रडावास (जिला-पाली)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. १९८०
- ☐ पिता : श्री चौथमल जी
- ☐ माता : श्रीमती राजीबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : रडावास
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०१०
- ☐ गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री संतोषकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : रिड़ (जिला-नागौर)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. २०१०

※ जन्म-तिथि	:	संवत् २०१६, ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी, दिनांक १३ जून १९५९
※ जन्म-स्थल	:	सोनादा (दार्जिलिंग)
※ विरक्ति के प्रेरणास्रोत	:	(१) प्रतिकूल सांसारिक परिस्थितियाँ (२) स्वामी श्री शुभचंद जी म. सा. का सदुपदेश।
※ वैराग्य-काल	:	६ माह
※ दीक्षा-तिथि	:	संवत् २०२९, ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी
※ दीक्षा-स्थल	:	कुचेरा (नागौर)
※ दीक्षा-सान्निध्य	:	स्व. पूज्य स्वामी जी श्री रावतमल जी म. सा.
※ दीक्षा-नेश्राय	:	वर्तमान आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
※ शिक्षा-गुरु	:	आचार्यप्रवर एवं उपाध्याय श्री लालचंद जी म. सा.
※ शिक्षक	:	पं. सूर्यनारायण जी शास्त्री, स्व. डॉ. पी. सी. जैन आदि
※ अध्ययन	:	जैनागम, अनेक स्तोक एवं अनेक स्तोत्र-पाठ। हिंदी, अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं का ठोस अध्ययन। उच्चकोटि के दर्शन ग्रन्थ, व्याकरण-साहित्य एवं उच्च कोटि के साहित्यकारों की हिंदी, संस्कृत रचनाओं का मनन-मंथन। बोर्ड की (संस्कृत) प्रवेशिका परीक्षा में प्रथम योग्यता प्राप्त कर स्वर्ण-पदक विजेता। अगले वर्ष उपाध्याय (संस्कृत) परीक्षा में भी प्रथम योग्यता, स्वर्ण-पदक।
※ विशेष योग्यता	:	कुशल प्रवचनकार, आधिकारिक लेखक एवं संपादक, सुयोग्य अध्यापक, सच्चिंतक, तत्त्व-जिज्ञासु।

—प्रबन्ध सम्पादक

आचार्य-प्रवर की नेश्रायवर्ती

सती - परिचय

—डॉ. तेजसिंह गौड़

महासती श्री नंदकुंवर जी म. सा.

प्रशांत एवं सेवाभावी महासती श्री नंदकुंवर जी म. सा. का जन्म वि. सं. १९६५ में ग्राम केलवाज जिला पाली निवासी श्रीमान् धूलचंद जी की धर्मपत्नी श्रीमती केशरबाई की पावन-कुक्षि से हुआ था। ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था में वि. सं. १९७६ में आपने पूज्य श्री दयास्वामी जी म सा. के मुखारविन्द से जोधपुर में दीक्षाव्रत अंगीकार किया। दीक्षोपरांत आप महासती श्री पन्ना जी म. सा. की शिष्या घोषित की गई।

आपके दीक्षा-समारोह के अवसर पर पूज्य मुनिराज श्री राजमल जी म. सा., मुनि श्री मूलचंद जी म. सा., स्वामी श्री नथमल जी म. सा., पूज्य श्री कानमल जी म. सा, स्वामी श्री चौथमल जी म. सा., मुनि श्री गणेशलाल जी म. सा., मुनि श्री भेरूलाल जी म., मुनि श्री प्रसन्नचंद जी म., श्री मंगलमुनि जी म. सा., स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा., मुनि श्री बख्तावरमल जी म. आदि ठाणा विशेष रूप से उपस्थित थे।

साध्वी श्री मदनकुंवर जी म. सा.

- जन्म-स्थल : रडावास (जिला-पाली)
- जन्म-संवत् : वि. सं. १९८०
- पिता : श्री चौथमल जी
- माता : श्रीमती राजीबाई
- दीक्षा-स्थल : रडावास
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०१०
- गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री संतोषकुंवर जी म. सा.

- जन्म-स्थल : रिड़ (जिला-नागौर)
- जन्म-संवत् : वि. सं. २०१०

- ☐ पिता : श्रीमान् छीतरमल जी
- ☐ माता : श्रीमती मांगीबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : कुचेरा (नागौर)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०२७
- ☐ गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री नदकुंवर जी म. सा.

दीक्षोत्सव पर उपस्थित मुनिराज—स्वामी जी श्री रावतमल जी म. सा. एवं श्री नवीनमुनि जी म. सा. ठाणा दो।

साध्वी श्री बिन्दूप्रभा जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : धमतरी (जिला-रायपुर-म.प्र)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. २०२४
- ☐ पिता : श्रीमान् लालचंद जी वैद (मूथा)
- ☐ माता : श्रीमती कमलाबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : नानणा (जिला : पाली)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०३९ वैसाख शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ दीक्षा-गुरु : आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री नंदकुंवर जी म. सा.

दीक्षोत्सव पर उपस्थित मुनिराज—परम श्रद्धेय आचार्य श्री जीतमल जी म. सा.. परम पूज्य उपाध्याय-प्रवर श्री लालचंद जी म. सा. आदि ठाणा सात।

महासती श्री लक्ष्मीकुंवर जी म. सा.

सरल स्वभावी महासती श्री लक्ष्मीकुंवर जी म. सा. का जन्म हिंगणघाट निवासी श्रीमान् रामावतार जी गौड़ ब्राह्मण की धर्मपत्नी श्रीमती गंगाबाई की पावन कुक्षि से वि. सं. १९७९ फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन हुआ था।

दस वर्ष की अल्पावस्था में वि. सं. १९८९ माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन आपने दीक्षाव्रत अंगीकार किया और गुरुणी महासती श्री गुलाबां जी की शिष्या बनी। आपकी दीक्षा रावतमाला (जवाजा) में सम्पन्न हुई थी।

विशेषता : अत्यन्त सरल-हृदया साध्वी। मधुर-भाषी। सभी के साथ स्नेहसिक्त व्यवहार। कभी-कभी हृदयोद्गार काव्य-पंक्तियों में भी बद्ध। श्रद्धालु श्राविकाएँ आपकी सरलता एवं सौम्यता से मुग्ध।

साध्वी श्री शांता जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : मडाल (गुजरात)
- ☐ जन्म संवत् : वि. सं. १९७०

- पिता : श्रीमान् पन्नालाल जी ढेलरिया (वोहरा)
- माता : श्रीमती डाई वाई
- दीक्षा-स्थल : जोधपुर (सिंहपोल)
- दीक्षा संवत् : वि. सं. २०११ मिगसर शुक्ला नवमी शनिवार
- गुरुणी : महासती श्री गुलाबां जी म. सा.
- दीक्षा गुरुणी : महासती श्री लक्ष्मीकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री दरियावकुंवर जी म. सा. (छोटे)

- जन्म स्थल : वीरावास (विलाड़ा)
- जन्म संवत् : वि. सं. १९९६
- पिता : श्रीमान् नैनसिंह जी भाटी
- माता : श्रीमती सोनीवाई
- दीक्षा-स्थल : महामन्दिर (जोधपुर)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०३२ महावीर जयंती
- दीक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री लक्ष्मीकुंवर जी म. सा.

महासती श्री सुगनकुँवर जी म. सा.

परम विदुषी कुशल-प्रवचनकर्त्री महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा. का जन्म सोजतशहर (पीपलिया बेरा) निवासी श्रीमान् तेजाराम जी परिहार (माली). की धर्मपत्नी श्रीमती राजीदेवी की पावन-कुक्षि से वि. सं. १९८१, कार्तिक माह के वद पक्ष में हुआ था ।

मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी, वि. संवत् १९९३ में वारह वर्ष की अल्पवय में ग्राम मसूदा (अजमेर) के प्रांगण में समारोह-पूर्वक आपने महासती श्री आनंद कुंवर जी म. सा. 'दाखां जी' की सेवामें जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की । दीक्षा लेने के पश्चात् महासती श्री पन्नाकंवर जी म. सा. से आपने शिक्षा ग्रहण की ।

अपने शांत और सौम्य-स्वभाव के कारण आप जन-जन में लोकप्रिय हैं । समीचीन आचार-विचार एवं अपूर्व नेतृत्व-क्षमता के लिए भी आप ख्यातनामा हैं ।

साध्वी श्री सुमतिकुंवर जी म. सा.

- जन्म-स्थान : काणुजा (रायपुर)
- जन्म-संवत् : वि. सं. १९७७ चैत्र कृष्णा त्रयोदशी
- पिता : श्रीमान् ताराचन्द जी नाहटा
- माता : श्रीमती ठमकी बाई
- दीक्षा-स्थल : जैतारण (पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०१२ आषाढ़ कृष्णा पंचमी
- दीक्षा-गुरु : स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री उगमकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थान : जोधपुर (राजस्थान)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. स १९८२
- ☐ पिता : श्रीमान् अनन्तराज जी फोफलिया
- ☐ माता : श्रीमती विलमकुंवर
- ☐ दीक्षा-स्थल : जोधपुर
- ☐ दीक्षा-गुरु : स्वामी श्री चाँदमल जी म. सा.
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०१३ वैशाख शुक्ला द्वितीया
- ☐ गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री निर्मलकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थान : ब्यावर (नया शहर)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. १९८२
- ☐ पिता : श्रीमान् हगामीलाल जी भण्डारी
- ☐ माता : श्रीमती एजनबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : ब्यावर (नसियां)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं २०१९ माघ शुक्ला दशमी
- ☐ गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री शारदाकंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : जगाधरी (पंजाब)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. २००७
- ☐ पिता : श्रीमान् किशोरीलाल जी
- ☐ माता : श्रीमती राजदुलारी जी
- ☐ दीक्षा-स्थल : भकरी (थांवला-अजमेर)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०१९ चैत्र कृष्णा तृतीया
- ☐ गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री सुगनकंवर जी म. सा.

साध्वी श्री उमंगकंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : सवराड़ रामदेव जी री (सोजत रोड)
- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. १९९८ माघ शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ पिता : श्रीमान् हरखचंद जी गुन्देचा
- ☐ माता : श्रीमती प्यारीबाई

- दीक्षा-स्थल : चण्डावल (पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०२८
- गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री पन्नाकुंवर जी म. सा.
- नेश्राय : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री चेतना जी म. सा.

- जन्म-स्थल : ब्यावर (राजस्थान)
- जन्म-संवत् : वि. सं. २०१६ कार्तिक कृष्णा पंचमी
- पिता : श्रीमान् नवरत्नमल जी भण्डारी
- माता : श्रीमती लाडकंवर
- दीक्षा-स्थल : कुशालपुर (पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०३६ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी
- गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री नीतिप्रिया जी म. सा.

- दीक्षा-स्थल : कुशालपुर (पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०३६ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी
- गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री जयप्रभा जी म. सा.

- जन्म-स्थल : सोजतशहर (पीपलिया वेरा)
- जन्म-संवत् : वि. सं. २०२३
- पिता : श्रीमान् लालाराम जी परिहार (माली)
- माता : श्रीमती ईमलीबाई
- दीक्षा-स्थल : नानणा (सेंदड़ा-पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं. २०३९ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
- दीक्षा-गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- गुरुणी : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री शशिप्रभा जी म. सा.

- दीक्षास्थल : नानणा (सेंदड़ा-पाली)
- दीक्षा-संवत् : वि. सं २०३९ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
- दीक्षा-गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.

- ☐ गुरुणी : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

साध्वी श्री रविप्रभा जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : पट्टी (अमृतसर)
- ☐ जन्म-सवत् : वि. सं. २०२५
- ☐ पिता : श्रीमान सुशीलकुमार जी दूगड़
- ☐ माता : श्रीमती प्रेमलता
- ☐ दीक्षा-स्थल : जोधपुर (श्रुताचार्य चौथ स्मृति भवन, महिला बाग)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. सं २०४२ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी (दिनांक १६ मई १९८५)
- ☐ दीक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री सुगनकंवर जी म. सा.

साध्वी श्री इन्दुप्रभा जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : गारासणी (नागौर) वर्तमान-महामन्दिर
- ☐ जन्म-संवत् : वि. संवत् २०२६
- ☐ पिता : श्रीमान् चम्पालाल जी चतुर मेहता
- ☐ माता : श्रीमती विमला देवी
- ☐ दीक्षा-स्थल : जोधपुर (श्रु. चौ. स्मृति भवन, महिलाबाग)
- ☐ दीक्षा-संवत् : वि. संवत् २०४२ ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी
- ☐ दीक्षा-गुरु : आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री सुगनकुंवर जी म. सा.

महासती श्री सुगनकंवर जी वर्तमान में कुल ठाणा चवदह हैं, जिनमें बारह साध्वियों का परिचय ही हम प्राप्त कर पाए हैं। शेष दो नवदीक्षिता साध्वियों का परिचय प्राप्त न हो सकने के कारण नहीं दिया जा सका है। वे नवदीक्षिता साध्वीद्वय हैं (१) साध्वी श्री संयमप्रभा जी एवं (२) साध्वी श्री संवेगप्रभा जी। इन दोनों की दीक्षा अभी-अभी अप्रेल १९८६, हरियाणा (पंजाब) प्रान्त में विचरण कर रही साध्वी श्री शारदाकंवर जी म. के पावन सान्निध्य में सानन्द सम्पन्न हुई है। दोनों साध्वियां संयम-पथ पर सुदृढ़ रह कर जिनशासन की प्रभावना करती रहें, यही सत्कामना है।

* * *

महासती श्री दरियावकुंवर जी म. सा. (बड़े)

महासती श्री दरियावकुंवर जी म. सा. (बडे) का जन्म साथीण (पीपाड़) निवासी श्रीमान् विजयराज जी चाम्बड़ मूथा की धर्मपत्नी श्रीमती शिवाबाई की कुक्षि से वि. सं. १९८७ में हुआ था।

तेरह वर्ष की किशोरावस्था में आपने जैन भागवती दीक्षाव्रत वि. सं. २०१० फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को स्वीकार किया और (स्व.) महासती श्री उमरावकुंवर जी म. सा. की शिष्या बनी।

साध्वी श्री विजयकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : पीपाड़

- ☐ जन्म-संवत् : वि. सं. १९६९ (अनुमानतः)
- ☐ पिता : श्रीमान मनोहरमल जी घोका
- ☐ माता : श्रीमती जतनबाई
- ☐ दीक्षा स्थल : खांगटा (जोधपुर)
- ☐ दीक्षा संवत् : वि. सं. २०३७ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ दीक्षा गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री दरियावकुंवर जी म. सा.

※ ※ ※

महासती श्री अकलकुंवर जी म. सा

- ☐ जन्म स्थल : झालामंड (जोधपुर)
- ☐ जन्म संवत : वि. सं. १९८५
- ☐ पिता : श्रीमान गणेशमल जी (छाजेड़) चाम्वड़
- ☐ माता : श्रीमती जसीबाई
- ☐ दीक्षा स्थल : मूथा जी का मन्दिर, जोधपुर
- ☐ दीक्षा संवत् : वि. सं. २०११ मिगसर शुक्ला षष्ठी
- ☐ गुरु : आ. प्र. श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री वख्तावरकुंवर जी म. सा.

※ ※ ※

महासती श्री पतासकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : सोमणा (नागौर)
- ☐ जन्म-संवत : १९८३ सावण कृष्णा प्रतिपदा
- ☐ पिता : श्रीमान् इन्दरचन्द जी वैताला
- ☐ माता : श्रीमती गुलाबबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : कड़लू (नागौर)
- ☐ दीक्षा-संवत् : १९९५ मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी
- ☐ दीक्षा-गुरु : पूज्य स्वामी श्री रावतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री केसर कंवर जी म. सा.

※ ※ ※

महासती श्री नन्दकुंवर जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : डेह (नागौर)
- ☐ जन्म-संवत् : १९८८ अनुमानित
- ☐ पिता : श्रीमान् रावराम जी गुर्जर
- ☐ माता : श्रीमती रुकमाबाई
- ☐ दीक्षा-स्थल : डेह (नागौर)
- ☐ दीक्षा-संवत् : २००1 माह सुद ५

- ☐ दीक्षा-गुरु : स्वामी श्री रावतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री जसकंवर जी म मा.

※ ※ ※

महासती श्री शीलप्रभा जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : कोराला (बुलढ़ाणा)
- ☐ जन्म-संवत् : २०१० भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी
- ☐ पिता : श्रीमान् कन्हैयालाल जी श्रीश्रीमाल
- ☐ माता : श्रीमती सदाबाई
- ☐ पूर्ववर्ती नाम : श्रीयुत लीलाबाई
- ☐ पाणिग्रहण : वि सं २०२६ के आसपास (तांदली निवासी श्री नेमिचंद जी बोथरा के साथ)।
- ☐ विरक्ति-प्रेरणा : सांसारिक प्रतिकूलता
- ☐ वैराग्य-काल : १ वर्ष ६ माह
- ☐ दीक्षा-स्थल : नानणा (पाली)
- ☐ दीक्षा-संवत् : २०३६ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ दीक्षा-गुरु : आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ शिक्षा-गुरु : स्वयं आचार्य-प्रवर, उपाध्याय-प्रवर श्री लालचन्द जी म. सा. एवं स्व. श्री नूतनमुनि जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : स्व महासती श्री लाछांदे जी म. सा.
- ☐ विशेष रुचि : अध्ययन व प्रवचन (संस्कृत, प्राकृत-व्याकरण, जैनदर्शन एवं जैनागम में अध्ययन-रत। "मा. शि. बोर्ड-राज." द्वारा आयोजित संस्कृत प्रवेशिका-परीक्षा (१९८५-८६) में प्रथम-स्थान से उत्तीर्ण; आगे अध्ययन जारी।

साध्वी श्री चरणप्रभा जी म. सा.

- ☐ जन्म-स्थल : भण्डारा (महाराष्ट्र)
- ☐ जन्म-संवत् : २०२८ पौष शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ पिता : श्रीमान् नेमिचन्द जी बोथरा[1]
- ☐ माता : श्रीमती लीलाबाई[2]
- ☐ दीक्षा-स्थल : नानणा (पाली)
- ☐ दीक्षा-संवत् : २०३६ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
- ☐ दीक्षा-गुरु : आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा.
- ☐ गुरुणी : महासती श्री शीलप्रभा जी म. सा.

---

(१) वर्तमान : तपस्वी-रत्न श्री ऋषभचरण जी म. सा.

(२) वर्तमान : महासती श्री शीलप्रभा जी म. सा.

- विरक्ति-प्रेरणा : माता-पिता का विरक्त-जीवन
- विशेष रुचि : अध्ययन (जैनदर्शन व संस्कृत-व्याकरण में अध्ययन-रत)

※ ※ ※

महासती श्री चाँदकंवर जी म.

स्व. महासती श्री आनंदकंवर जी म. सा. के पास आप दीक्षित हुई। आपकी गुरु-बहन का नाम था, महासती श्री चम्पाजी म. सा.। गुरु-बहन के स्वर्गवासोपरान्त आप अकेली ही रहीं। इस समय आप सोजतसिटी में स्थिरवास कर रही हैं।

एक अनुमान के अनुसार आप लगभग सत्तर वर्ष की हैं और आपकी दीक्षा-वय अनुमानतः चालीस वर्ष है।

मूलरूपेण आप महाराष्ट्र में जालना की रहने वाली थीं।

महासती श्री धापां जी म.

आप साध्वी श्री रुकमां जी के पास दीक्षित हुई। महासती श्री झणकारकंवर जी आपकी गुरु-बहन थी। उनके देवलोक हो जाने पर आप अकेली हैं। आप काफी वयोवृद्ध हैं एवं आपकी दीक्षावय लगभग तीस वर्ष है। इस समय आप सकारण सोजतरोड में स्थिरवास कर रही हैं।

महासती श्री कुसुमकंवर जी म.

स्व. महासती श्री नवलां जी की शिष्या वयोवृद्धा महासती श्री कुसुमकंवर जी म. अपनी शारीरिक शिथिलता के कारण बहुत समय से कुशालपुर (मारवांड़) में स्थिरवास कर रही हैं। अनुमानतः आपकी उम्र पचहत्तर वर्ष की कही जा सकती है।

साध्वी-वृन्द के समुज्ज्वल भविष्य की सदाकांक्षा है।

—उज्जैन (म. प्र.)

आचार्य-प्रवर के वर्षावास

कब	कहाँ
विक्रम संवत् १९७९	पीपाड़शहर (जोधपुर)
१९८०	नागौर (राज.)
१९८१	ब्यावर (अजमेर)
१९८२	सोजतशहर (पाली)
१९८३	ब्यावर (अजमेर)
१९८४	जोधपुर (राज.)
१९८५	पीपाड़शहर (जोधपुर)
१९८६	जयपुर (राज.)
१९८७	रीयां सेठां री (जोधपुर)
१९८८	सादड़ी-मारवाड़ (पाली)
१९८९	ब्यावर (अजमेर)
१९९०	जयपुर (राज.)
१९९१	ब्यावर (अजमेर)
१९९२	पीपाड़शहर (जोधपुर)
१९९३	ब्यावर (अजमेर)
१९९४	पालनपुर (गुजरात)
१९९५	पीपाड़शहर (जोधपुर)
१९९६	भूंठा (पाली)
१९९७	ब्यावर (अजमेर)
१९९८	पिपलियाकलां (पाली)
१९९९	पीपाड़शहर (जोधपुर)
२०००	कुचेरा (नागौर)

कब	कहाँ
विक्रम संवत् २००१	विरांटिया 'मेला वाला' (पाली)
२००२	जोधपुर (राज.)
२००३	पाली (राज.)
२००४	पीपाड़शहर (जोधपुर)
२००५	नानणा (पाली)
२००६	सोजतशहर (पाली)
२००७	महामंदिर (जोधपुर)
२००८	महामंदिर (जोधपुर)
२००९	महामंदिर (जोधपुर)
२०१०	खांगटा (जोधपुर)
२०११	जोधपुर (राज.)
२०१२	किशनगढ़ (अजमेर)
२०१३	गढ़सिवाणा (राज.)
२०१४	विलेपारले (बम्बई)
२०१५	कांदावाड़ी (बम्बई)
२०१६	कोट (बम्बई)
२०१७	अमरावती (महाराष्ट्र)
२०१८	नागपुर (महाराष्ट्र)
२०१९	राजनांदगाँव (मध्यप्रदेश)
२०२०	रायपुर (मध्यप्रदेश)
२०२१	साहुकारपेठ (मद्रास)
२०२२	मैलापुर (मद्रास)

कब	कहाँ
विक्रम संवत् २०२३	अलसूर (बैंगलोर)
२०२४	चिकपेठ (बैंगलोर)
२०२५	विलेपारले (बम्बई)
२०२६	कांदावाड़ी (बम्बई)
२०२७	माटुंगा (बम्बई)
२०२८	कुचेरा (नागौर)
२०२९	खजवाणा (नागौर)
२०३०	भूंठा (पाली)
२०३१	सोजतशहर (पाली)
२०३२	जोधपुर (राज.)
२०३३	पीपाड़शहर (जोधपुर)

कब	कहाँ
विक्रम संवत् २०३४	जयपुर (राज.)
२०३५	खांगटा (जोधपुर)
२०३६	डेह (नागौर)
२०३७	ब्यावर (अजमेर)
२०३८	कुचेरा (नागौर)
२०३९	जवाजा (अजमेर)
२०४०	कुशालपुरा (पाली)
२०४१	रायपुर (पाली)
२०४२	जोधपुर (राज.)
२०४३	नागौर (राज.)

—प्र. संपादक

संस्था-परिचय

गजराज जैन

श्री जयध्वज प्रकाशन समिति-मद्रास

सम्पूर्ण जैन समाज के अमर-कीर्ति-ग्रन्थ "जय-ध्वज" के प्रकाशन की कथा के साथ ही जुड़ी हुई है, 'जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास" नामक संस्था की स्थापना-कथा। उक्त ग्रंथ के प्रारम्भ में उपाध्याय श्री लालचन्द जी म. सा. 'श्रमणलाल' ने 'आत्मनिवेदन' करते हुए लिखा है—

"शांतिमूर्ति, शास्त्र-विशारद स्वामी श्री चौथमल जी म. सा. समय-समय पर मारवाड़ की जनता को पूज्य श्री का जीवन-पीयूष पिलाते ही रहते थे। आपके समाधिमरण प्राप्त करने के पश्चात् उन्हीं के लघु-गुरु-भ्राता सेवाभावी, विनयमूर्ति स्वामी जी श्री बख्तावरमल जी महाराज चार वर्ष तक मारवाड़ में विचरण करके पूज्य श्री जयमल जी म. के जीवन-गीत सुनाते रहे। संवत् २०१२ में आप समाधिमरण को प्राप्त हुए। आपके बाद स्वाध्याय-प्रेमी स्वामी श्री चाँदमल जी महाराज पूज्य श्री जयमल जी की जीवन-गाथा सुनाते रहे।

(जयध्वज, आत्मनिवेदनः "श्रमणलाल")

जयमल श्रमण-संघ के संतों की एक परम्परा-सी बन गई, प्रत्येक सांवत्सरिक महापर्व पर पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के उज्ज्वल जीवन-चरित्र का रसपान जनमेदिनी को कराना। स्वामी श्री चाँदमल जी महाराज ने मारवाड़ के बाहर जाकर बम्बई, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु और कर्नाटक के विभिन्न जनपदों में तेरह वर्षों तक उग्रविहार करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण किया और वहाँ के निवासियों को क्रियोद्धारक, समाज-सुधारक, सच्चे क्रान्तिकारी, यशस्वी साहित्यकार, सुदृढ़-संयमी, ओजस्वी-व्याख्याता एवं सहृदय-सुकोमल-कवि के रूप में ख्याति-प्राप्त पूज्य श्री जयमल जी की यशस्वी-गाथा से परिचित कराया। इस अमृत-कथा के मधुर-सुधा-रस का पान कर उन क्षेत्रों के श्रद्धालु-भक्त आनन्द-निमग्न हो, उसे पुनः पुनः सुनने का मानस बनाते पर ऐसा संभव कहाँ था? वे कहीं, कथा-प्रवक्ता मुनिजन कहीं! तब वहाँ की जनता ने पूज्य श्री के जीवन-चरित्र को प्रकाशित करवाने की बलवती भावना प्रकट की। उत्साही कार्यकर श्री जयन्तिलाल भाई मश्करिया ने "पूज्य गुणमाला" (रचनाकार स्वामी जी श्री चौथमल जी म. सा.) के आधार पर गुजराती-भाषा में पूज्य श्री जयमल जी का जीवन-

चरित्र लिखा। यह एक तरह से 'पूज्य-गुणमाला' का गुजराती अनुवाद ही था परन्तु "विशाल हिन्दी-भाषा भाषी जनता के लिए वह (गुजराती अनुवाद) इतना उपयोगी नहीं बन सकेगा"—इस विचार से गुजराती-अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। कोट (बम्बई) चातुर्मास (संवत् २०१६) की बात है यह। इससे पहले बम्बई में दो (विलेपारले व कांदावाड़ी) चातुर्मास हो चुके थे।

अब सन्तों का विहार विदर्भ की ओर हुआ। अमरावती (२०१७), नागपुर (२०१८), राजनांद-गांव (२०१९) चातुर्मास के बाद रायपुर (म. प्र.) (२०२०) के चातुर्मास में मद्रास-संघ के लगभग ४० श्रावक-श्राविकाओं के एक विशिष्ट-मण्डल की आग्रह-पूर्ण विनती को स्वीकृति मिली और सन्तों की विहार-दिशा अब तमिलनाडु की ओर हुई। संवत् २०२१ का चातुर्मास साहुकारपेठ, मद्रास में तथा २०२२ का मैलापुर, मद्रास में हुआ। इस बीच पूज्य-श्री के जीवन-चरित्र को हिन्दी में औपन्यासिक-शैली में प्रकाशित करवाने की मांग बराबर बढ़ती रही। वर्तमान उपाध्यायप्रवर मुनि श्री लालचन्द जी महाराज साहब ने पूज्य-श्री का जीवन-चरित्र लिखना आरम्भ भी किया और "माता-पिता से दीक्षा की आज्ञा" प्रकरण तक लिखा भी पर इतने अधिक विस्तार से कि बहुत अधिक समय लग गया। रायपुर-मध्यप्रदेश से एक प्रोफेसर को बुलाकर उन्हें यह महत् कार्य सौंपा गया, परन्तु पूरी सफलता नहीं मिल सकी।

मैलापुर (मद्रास) चातुर्मास में श्री सुगनचंद श्रीश्रीमाल की धर्मपत्नी ने उक्त ग्रंथ के प्रकाशन के लिए समस्त धन-राशि स्वयं अकेले देने की पेश-कश की। विचार-विमर्श चला पर संघ के (श्री लालचंद जी मरलेचा, श्री सुगालचंद जी सिंगवी आदि) अग्रणी कार्यकर्त्ताओं ने ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का श्रेय किसी एक व्यक्ति को मिले, इसे मान्य नहीं किया। फलतः दानदाताओं से धन एकत्रित करने के, 'जयध्वज प्रकाशन समिति' गठन करवाने के और उसे पंजीकृत करवाने के निर्णय लिए गए। निर्णयानुसार अनेक दानदाताओं ने ग्रन्थ के प्रकाशन में द्रव्य-सहायता दी, समिति का भी गठन हुआ उसका पंजीकरण भी हुआ और ब्यावर जैन गुरुकुल के स्नातक, श्वे. स्था. जैन कॉन्फ्रेंस के भूतपूर्व प्रबंधक, जैन प्रकाश के भूतपूर्व संपादक, सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं स्थानकवासी साहित्य के सुविज्ञ श्री गुलाबचंद नानचंद सेठ (गुलाबचंद जैन) से पूज्य श्री के ऐतिहासिक जीवन-चरित्र के लेखन का कार्य करवाया गया। समिति की स्थापना १२-१२-१९६५ को मद्रास में हुई। पाँच वर्षों के सतत प्रयास के बाद ग्रंथ का आलेखन पूर्ण हो सका। जून १९७० में ग्रन्थ सर्वसाधारण के पठनार्थ समाज के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया।

इस तरह "जय-ध्वज" (पूज्य श्री जयमल जी महाराज का जीवन-चरित्र) के प्रकाशन का इतिहास ही 'जयध्वज-प्रकाशन-समिति' की संस्थापना का इतिहास है। समिति के अनेक उद्देश्यों में से मुख्य हैं—जैन साहित्य का प्रकाशन व वितरण करना तथा विद्वन्मण्डल को, विद्वानों को, विषय-विशेषज्ञों को, पण्डितों को बुलाकर उनकी व्याख्यान-मालाओं का आयोजन करना।

समिति ने अपने अब तक के कार्यकाल में जिन-जिन ग्रन्थों/पुस्तकों का प्रकाशन किया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

क्र. सं.	नाम-ग्रंथ	विषय–परिचय	लेखक/संपादक	प्रकाशन वर्ष
१.	तुर्यस्तवनामृत गुटका	आध्यात्मिक व औपदेशिक स्तवन-संकलन	स्वामी श्री चौथमल जी महाराज	१९६५
२.	नथ के मोती	” ” ”	स्वामी श्री नथमल जी महाराज	१९६६
३.	जयध्वज	जैनाचार्य श्री जयमल जी म की विस्तृत जीवनी	गुलाबचंद जैन	जून १९७०
४.	संत कवि आचार्य श्री जयमल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व	जैनाचार्य जयमल जी महाराज पर लिखित शोध-प्रबन्ध का सार-संक्षेप	उषा बाफणा	मार्च १९७३
५.	सर्वतोमुखी व्यक्तित्व	श्रु. स्वामी श्री चौथमल जी म. (सं. जीवनी)	डॉ. पुरुषोत्तमचंद्र जैन	१९७८
६.	पूनम का चाँद	स्वामी श्री चांदमल जी म. (सं. जीवनी)	डॉ. पुरुषोत्तमचंद्र जैन	१९७९
७.	जैनधर्म की मौलिक उदभावनाएँ	जैनधर्म-दर्शन का संक्षिप्त व तुलनात्मक अध्ययन	आचार्य प्रवर श्री जीतमल जी महाराज	१९७९
८.	प्रवचन पीयूष कलश (भाग–I)	बंधन-मुक्ति : शाश्वत सुख (३८ प्रवचन)	उपाध्याय प्रवर श्री लालचंद जी महाराज	१९८०
९.	जैनधर्म का संक्षिप्त इतिहास (भाग–I)	वर्तमान चौवीसी के ऐतिहासिक बिन्दुओं का सारपूर्ण अध्ययन	डॉ. तेजसिंह गौड़	१९८०
१०.	रसधारा	औपदेशिक व भक्ति-गीत-संकलन	आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म.	१९८०
११.	चंद्रालोक	जैन ऐतिहासिक, मार्मिक व प्रेरणाप्रद १६ कहानियां	मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म. 'पारस'	१९८०
१२.	वप्पभट्टि	आचार्य वप्पभट्टि : ऐतिहासिक उपन्यास	मुनि श्री पार्श्वचंद्र जी म. 'पारस'	१९८३
१३.	श्रावक दर्पण	सामान्य जन से जिनभक्त जैन बनने हेतु प्रारम्भिक मार्गदर्शन	मुनिश्री गुणवंतकुमार जी म. 'गुणी'	१९८३

श्री अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ

विक्रम संवत् २००५ में जब "श्रमण-संघ" के संगठन का प्रयास प्रारम्भ हुआ तो स्थानकवासी सम्प्रदायों के विलीनीकरण की बात सामने आई। संगठन-प्रेमियों ने स्व-संप्रदायों का समर्पण भी किया। इसी क्रम में जयमल श्रमण-संघ भी भला पीछे क्यों रहता ? उसने भी सहर्ष सब कुछ अर्पित कर दिया। मूर्धन्य मनीषियों द्वारा आचार-भेद, विचार-भेद आदि भेदों को अभेदरूप देने के भरसक प्रयत्न किए गए परन्तु सफलता न मिल सकी। "ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज़ बढ़ता ही गया" की कहावत के अनुसार शनैः-शनैः मतभेद ने मनभेद का रूप धारण कर लिया और संगठन विगठित होने लगा। समर्पित सम्प्रदायों को पुनः अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम करना पड़ा। इसी क्रम में विक्रम संवत् २०३१ के चातुर्मास-काल में पर्युषण के मध्य प्राप्त आदेशानुसार जयमल-सम्प्रदाय को भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व की बात सोचनी पड़ी।

इन्हीं विभेदात्मक परिस्थितियों में फिर से जयमल श्रमण-संघ एवं जयमल श्रावक-संघ की नींव रखना जरूरी समझा गया। सर्वप्रथम जोधपुर में जयगच्छीय श्रावक संघ का पुनर्गठन हुआ और यहीं से धीरे-धीरे समस्त राजस्थान फिर सम्पूर्ण भारत में इस संघ ने अपने पैर जमाए।

संवत् २०३३ के पीपाड़ शहर—चातुर्मास में भारतभर के जय-संघीय श्रावक-श्राविकाओं की एक विशाल आमसभा हुई। इसी आमसभा ने "अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जयमल जैन श्रावक-संघ" को पुनर्जीवन दिया, वहीं उसकी पुनः स्थापना हुई।

आज इस संस्था का अपना विधान है, अपना स्थायी फण्ड है, भारतभर के कई स्थानों पर इसकी शाखाएँ (क्षेत्रीय-श्रावक-संघ) हैं, अनेक गतिविधियाँ हैं। जय-संघ से सम्बन्धित प्रत्येक गतिविधि इस वृहत् श्रावक-संघ की परिधि में आ जाती है, चाहे वह अपने आप में स्वतंत्र गतिविधि ही क्यों न हो ?

इस अ. भा. संघ की प्रतिवर्ष एक साधारण-सभा (खुला-अधिवेशन) अवश्य होती है तथा एकाधिक कार्यकारिणी-सभा की बैठकों का आयोजन भी होता है जिनमें महत्त्वपूर्ण संघीय निर्णय लिए जाते हैं। वर्तमान में संघ के अध्यक्ष हैं—श्रीयुत सेठ लालचंद जी सा मरलेचा, उपाध्यक्ष हैं—श्रीयुत सेठ गुलाबचंद जी मुणोत एवं श्रीयुत अंबालाल जी नाबरिया। प्रधानमंत्री हैं—श्रीयुत दुलराज जी रुणीवाल, जवाजा। संघ के एक दशक के इतिहास में श्रीयुत अंबालालजी सा नावरिया की निःस्वार्थ-सेवा कोई भला कैसा भूले ? वे संघ के सर्वाधिक कर्मठ, एकनिष्ठ एवं इस संघ को गति-प्रगति देने वाले संघ के प्रधान-मंत्रीत्व पद को इसकी स्थापना से सं. २०३९ तक संभालने वाले उत्साही कार्यकर्त्ता रहे हैं और आज भी (भले ही इस पद पर नहीं हैं) उसी सेवा एवं निष्ठा की भावना से संघ-कार्य में जुटे हुए हैं।

इसी संदर्भ में हमें स्व. सेठ श्रीयुत माणकलाल जी सा गोटावत का स्मरण हो आता है। श्री गोटावत उक्त संघ के कार्याध्यक्ष-पद पर सुशोभित थे। बड़ी ही लगन एवं उदारता से संघ की हर-एक प्रवृत्ति के संचालन में विशिष्ट सहयोग करते रहते थे।

श्रावक-संघ ने इन पिछले वर्षों में पर्याप्त प्रगति की है। श्री श्रुताचार्य-चौथ-स्मृति-भवन, विनोद-नगर (ब्यावर) का निर्माण, श्री श्रुताचार्य-चौथ-भवन, महिलाबाग (जोधपुर) का निर्माण एवं श्री जयमल जैन स्थानक भवन (रायपुर) का निर्माण—ये तीन नवनिर्माण-कार्य हुए हैं।

पूज्य श्री जयमल ज्ञान भण्डार-पीपाड़, श्री जय चौथ पुस्तकालय-रायपुर, श्री जिनराज ज्ञान भण्डार-ब्यावर, श्री नूतन ज्ञान कोष-जोधपुर आदि विभिन्न ज्ञान-भण्डार, पुस्तकालय एवं वाचनालय भी संघ के तत्त्वावधान में पल्लवित हुए हैं एवं हो रहे हैं। जयमल जैन शिक्षण संस्थान जिन शिविरों, धार्मिक

पाठशालाओं आदि का आयोजन करता है और अपने आपमें एक स्वतंत्र संस्थान है, भी मूल में श्रावक-संघ से जुड़ा हुआ है। 'अखिल भारतीय जयगुंजार प्रकाशन समिति' नामक संस्था जो 'जयगुंजार' नामक मासिक-पत्र का पिछले दस वर्षों से प्रकाशन करती आ रही है, स्वतंत्र होते हुए भी इससे अभिन्न रूप है।

श्री अ. भा. जयगुंजार प्रकाशन समिति

'अखिल भारतीय श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक-संघ' के परिचय में यह बताया गया है कि पीपाड़शहर में संवत् २०३३ में संघ की स्थापना का निर्णय एक आमसभा में लिया गया। इसी आमसभा में उपस्थित थे—अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विद्वान् डॉ. श्री पुरुषोत्तमचंद्र जी जैन। आपने सुझाव दिया कि संघ के कार्यों, प्रस्तावों, निर्णयों एवं अन्य समाचारों के भारतभर में प्रचार हेतु तथा जैन-साहित्य के धार्मिक एवं नैतिक प्रचार हेतु एक मासिक-पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया जाए।

श्रावक-संघ ने विद्वान डॉ. श्री जैन के इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर 'जयगुंजार' नाम से एक मासिक-पत्र के प्रकाशन की योजना बनाई। पत्र-प्रकाशन के लिए एक समिति का गठन कर प्रकाशन की व्यवस्था का कार्य उक्त समिति के सुपुर्द कर दिया गया। यह समिति थी—अखिल भारतीय जयगुंजार प्रकाशन समिति।

आचार्यप्रवर की प्रेरणा, शुभाशीष एवं वरदहस्त से विद्वान डॉ. जैन के प्रधान संपादकत्व में पत्र का प्रथम अंक मार्च १९७७ में प्रकाशित हुआ। मार्च १९८६ में इसने अपने दशम वर्ष में प्रवेश पा लिया है। पत्र गुरुदेवों की महती कृपा एवं चतुर्विध-संघ के सहयोग से निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है। आज भारत की उच्च कोटि की जैन पत्र-पत्रिकाओं में 'जयगुंजार-मासिक' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। श्रमण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले इस मासिक-पत्र में सुरुचिपूर्ण साहित्यिक एवं गवेषणात्मक रचनाओं का प्रकाशन होता है। डॉ. पी. सी. जैन ने प्रथम अंक के सम्पादकीय में 'जयगुंजार' के उद्देश्यों को प्रकट करते हुए बताया है कि "जीवन में धर्म की जय-विजय का गुञ्जार करना, उसे मधुरवाणी में अभिव्यक्त करना इस पत्र के प्रकाशन का प्रमुख उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य है—सत्य का प्रचार, तीसरा लक्ष्य है—अनेकान्त दृष्टि का प्रचार और चौथा उद्देश्य है—अपरिग्रह-सिद्धान्त के परिपालन पर विशेष बल।"

आज 'जयगुंजार' की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है, पाठकों की संख्या भी अच्छी है और प्रकाशन नियमित है। इसका सम्पूर्ण श्रेय गुरुदेव को है। उन्हीं की कृपादृष्टि एवं प्रेरणा से पत्र ने कितने ही असाधारण विशेषांक निकाले हैं, जिनका 'जैन-जगत' ने अत्यधिक स्वागत किया है।

श्री श्वे. स्था. जयमल जैन शिक्षण संस्थान

स्व. मुनि श्री नूतनचंद्र जी महाराज एवं वर्तमान में विराजमान श्री गुणवन्तमुनि जी महाराज की संसार-पक्ष की मातुश्री स्व. श्रीमती इंदिरादेवी बैंगाणी एक धर्मपरायणा महिला थीं। आपकी माता श्रीमती केसरदेवी बैद संवत् २०३३ में आचार्यश्री एवं सभी सन्तों के दर्शनार्थ ब्यावर पधारीं। यहीं आपने अपनी पुत्री स्व. श्रीमती बैंगाणी की सम्पत्ति का सदुपयोग धार्मिक-कार्यों में करने की भावना अभिव्यक्त की। आपने अपने दोनों सुयोग्य पुत्रों, श्री भेरुंदान जी बैद एवं श्री अमीचंद जी बैद से भी परामर्श किया। निर्णय के फलस्वरूप उक्त राशि में से एक बड़ी राशि भेंट करके "धार्मिक-शिक्षण-संस्थान" की स्थापना को अन्तिम रूप दिया, जिसका उद्देश्य था—बालकों एवं युवा-पीढ़ी में धार्मिक संस्कारों तथा नैतिकता का बीजारोपण।

श्रीमती केसरदेवी वैद एवं श्री भेरुंदान जी पुनः दर्शनार्थ संवत् २०३४ में आचार्यश्री के पास रायपुर पधारे। उनकी पावन-भावना के अनुरूप जनवरी १९७८ के अन्तिम सप्ताह में रायपुर (मारवाड़) में जैनाचार्य-प्रवर पूज्य श्री जीतमल जी म. सा. के पावन-पवित्र सान्निध्य में एक शिक्षण संस्थान की स्थापना, श्रीमती इंदिरादेवी की पुण्य-स्मृति स्वरूप, की गई। संस्थान का नाम रखा गया—"श्री श्वे. स्था. जयमल जैन शिक्षण-संस्थान"। श्रीमती वैद ने संस्थान की गतिविधियों को वेग प्रदान करने के लिए एक मुश्त में ४१,०००/- रु. की राशि वैंगाणी-संपत्ति में से भेंट की। यह शिक्षण-संस्थान तभी से इस धार्मिक-जगत् की भव्य-भूमि पर अवतरित हुआ।

संस्थान की स्थापना के पश्चात् नैतिक व धार्मिक-शिक्षण की योजनाएँ बनने लगीं। सर्वप्रथम जिस योजना की क्रियान्विति को स्वीकृति मिली, वह थी—"धार्मिक-शिक्षण-शिविर" योजना। इसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में २० से २५ दिन तक का शिविर आयोजित कर जैन छात्र-छात्राओं को धार्मिक अध्ययन कराया जाने लगा तथा उन्हें नैतिक शिक्षा द्वारा सुसंस्कारित किया जाने लगा। प्रथम शिविर-आयोजन "जवाजा" (ब्यावर) में हुआ। शिविर का नाम आचार्य श्री भूधर जी महाराज की स्मृति में "श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण शिविर" रखा गया। अब तक संस्थान ने कुल आठ शिविरों का सफल आयोजन किया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—जवाजा (१९७९), सियाट (सोजतरोड) १९८०, कुचेरा (१९८१), सोजतशहर (१९८२), महामंदिर (१९८३), जवाजा (१९८४), जोधपुर (१९८५) तथा कुचेरा (१९८६)। इनके साथ ही पर्युषण-पर्व में मुनिराज-रहित क्षेत्रों में धर्माराधना के वातावरण हेतु स्वाध्यायी-श्रावक तैयार करने की दृष्टि से चार स्वाध्याय-प्रशिक्षण-शिविरों का भी आयोजन किया जा चुका है—१. ब्यावर, २. सोजतशहर, ३. कुशालपुर व ४. रायपुर।

यह संस्थान प्रतिवर्ष जैनदर्शन के किसी एक गूढ़ विषय पर वर्तमान युग की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन करता है। प्रतियोगिता में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त रचनाओं को पुरस्कार स्वरूप अच्छी-सी राशि भेजी जाती है एवं कुछ अच्छे निबन्धों को प्रोत्साहन-पुरस्कार भी दिया जाता है। पुरस्कृत रचनाओं तथा अन्य चुनी हुई रचनाओं को "जयगुंजार" मासिक में प्रकाशित किया जाता है। अब तक आयोजित चार निबन्ध-प्रतियोगिताओं के विषय क्रमशः इस प्रकार थे—(१) जैनधर्म बनाम विश्वधर्म, (२) जैन साहित्य का सर्वदर्शनों पर प्रभाव, (३) विश्व-व्यापी तनावों से मुक्ति (जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में) तथा (४) स्वतंत्रता : स्वरूप और महत्त्व (जैन धर्म-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में)।

शिक्षण-संस्थान के तत्त्वावधान में जोधपुर, ब्यावर, रायपुर, बावड़ी तथा आसोप में धार्मिक-शिक्षण शालाएँ सफलतापूर्वक प्रगत हैं। विशेषता इस बात की है कि इनका संचालन लगभग "श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण शिविर" में धार्मिक-शिक्षा प्राप्त छात्र-छात्राओं द्वारा होता है। वे भी ऐसे छात्र, जो स्वयं महाविद्यालयों में सांसारिक-शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इन धार्मिक शालाओं में यही छात्र अध्यापक बनते हैं और धार्मिक-शिक्षा देते हैं। समाज के लिए यह एक उत्कृष्ट सेवा है।

इसी शिक्षण-संस्थान की गतिविधियों में 'श्री अ. भा. भूधर जैन सांस्कृतिक कलामंच' के कार्यक्रमों का संक्षिप्त उल्लेख करना चाहूँगा। संक्षिप्त इसलिए कि मंच की गतिविधियों का विवरण अलग से दिया जा रहा है। 'श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण शिविर' में शिक्षा प्राप्त जोधपुर के महाविद्यालयीय छात्रों ने धार्मिक-वातावरण को उजागर करने वाले सांस्कृतिक-कार्यक्रमों की विभिन्न अवसरों पर प्रस्तुति

हेतु जिस मंच का स्थापन किया, वह मंच अल्पावधि में अत्यग्रसर हो चला है। आज मंच धार्मिक-शिक्षण की स्थानीय व्यवस्था में रुचि लेता है, जैन छात्रों के शारीरिक-विकास एवं शक्ति-वर्धन हेतु व्यायाम-शालाएँ चलाता है, संगीत में रुचि लेने वाले छात्रों को संगीत का अभ्यास देता है तथा विद्यालयीय एवं महाविद्यालयीय गरीव-छात्रों के लिए पुस्तकों की व्यवस्था जयमल जैन पुस्तक-कोष (वुक-वैंक) के माध्यमसे करता है।

संस्थान का मुख्य कार्यालय मद्रास में है। राजस्थान में प्रान्तीय कार्यालय विनोदनगर व्यावर में है।

श्री अ. भा. भूधर जैन सांस्कृतिक कला मंच

ईस्वी सन् १९८३। आचार्यप्रवर का चातुर्मास—कुशालपुर। प्रतिवर्ष की तरह अक्टूबर में "आचार्य श्री भूधर स्मृति-दिवस" पर द्वि-दिवसीय विशाल अधिवेशन का आयोजन। इसी आयोजन में सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर विचार। शिविरार्थी महाविद्यालयीय उत्साही छात्रों को सूचना दी गई। आए छात्र और प्रयत्नशील हो गए इस दिशा में।

किशोर-युवकों का अदम्य-उत्साह व अन्य उपस्थित व्यक्तियों के कार्यक्रम को साकार वनाने की तीव्र उत्कण्ठा। यद्यपि यह कार्य इतना सरल नहीं था। कितनी ही समस्याएँ थीं, इन कलाकारों के सम्मुख। यथा—

१. महाविद्यालय में अध्ययनरत होने के कारण समयाभाव।
२. पूर्वाभ्यास, संशोधन एवं परिवर्द्धन के लिए मार्गदर्शन का अभाव। तथा
३. मंचन के लिए आवश्यक सामग्री का अभाव।

इसके अतिरिक्त भी अनेकों उलझनें थीं पर जहाँ गुरु-कृपा हो, गुरुजनों का मंगल-आशीर्वाद हो वहाँ भला समस्याएँ क्यों न सुलझें ?

कार्यक्रम तैयार था, पूर्वाभ्यास भी किया जा चुका था। प्रस्तुति के दिवस प्रस्तोता कलाकारों में से किसी कलाकार ने कला-प्रदर्शन के विकास की स्थायी-व्यवस्था की वात रखी। विचार-विनिमय के वाद नए कलाकारों के प्रशिक्षण एवं प्राचीन जैन संस्कृति को जनसाधारण तक पहुँचाने के उद्देश्य से उसी दिन एक "अखिल भारतीय श्री भूधर जैन सांस्कृतिक कलामंच" नामक संस्था की स्थापना की गई। उस दिन मंच की नाटिकाओं का प्रदर्शन कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल रहा। विशाल जन-समुदाय ने कार्यक्रमों से प्रभावित हो दिल खोलकर विपुल धनराशि पुरस्कार स्वरूप कलाकारों को प्रदान की। कलाकार चाहते थे अपनी संस्था को दृढ़ वनाना अतः उन्होंने नाम मात्र की आंशिक राशि लेकर शेष को मंच के स्थायी कोष में जमा कर लिया।

मंच की स्थापना के पश्चात् कुशालपुर के अतिरिक्त सोजतशहर, जवाजा, रायपुर, कुचेरा, महामंदिर आदि स्थानों पर धार्मिक शिक्षण शिविर-समापन, स्वाध्याय प्रशिक्षण शिविर-समापन अथवा "श्री भूधर स्मृति-दिवस" के आयोजनों पर मंच के कलाकारों ने सम्पूर्ण नाटक, गीति-नाट्य, हास्य-नाटिका आदि का प्रस्तुतीकरण किया है और अच्छी ख्याति अर्जित की है। यह केवल सांस्कृतिक-कार्यक्रमों की सीमा तक ही वंध कर नहीं रह गया अपितु अपने अल्प कार्य-काल में मंच ने जोधपुर, आसोप, वावड़ी की शिक्षण-शालाओं का संचालन करना प्रारम्भ किया, श्री भूधर जैन व्यायामशाला, जोधपुर की स्थापना की और 'श्री जयमल जैन पुस्तक-कोष' भी प्रारम्भ किया। आज ये सभी संस्थाएँ मंच द्वारा सफलतापूर्वक एवं व्यवस्थित रूपेण संचालित की जा रही हैं।

—सचिव : जयसंघीय संस्था-कार्यालय
श्रुताचार्य चौथ स्मृति-भवन, ३९ विनोदनगर, व्यावर-३०५९०१

संस्था के स्थायी सदस्यों की नामावली

जयध्वज प्रकाशन समिति के सदस्य

वंश परम्परागत सदस्य	निवास	वतन
१. सर्वश्री सुगनचन्द जी प्रेमचन्द जी श्रीश्रीमाल	रायपुर (म.प्र.)	सियाट
२. सर्वश्री लालचन्द जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
३. सर्वश्री मांगीलाल जी चम्पालाल जी गोटावत	बैंगलोर	सोजत सीटी
४. सर्वश्री जबरचन्द जी रतनचन्द जी बोहरा	मद्रास	कुचेरा
५. सर्वश्री मिश्रीमल जी लूणकरण जी नाहर	लखनऊ	कुचेरा
६. सर्वश्री जंवरीलाल जी सज्जनराज जी बोहरा	बैंगलोर	ब्यावर
७. सर्वश्री नेमीचन्द जी प्रेमचन्द जी खींचा	बैंगलोर	ब्यावर
८. सर्वश्री सुगालचन्द जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
९. सर्वश्री उगमचंद जी लोढा	बोलारम (आ.प्र.)	कुचेरा
१०. सर्वश्री भीकमचंद जी बोहरा	राजहमंद्री (आ.प्र.)	कुचेरा
आजीवन सदस्य		
१. श्रीमान् फूलचन्द जी लूणिया	बैंगलोर	पिपलिया
२. श्रीमान् भंवरलाल जी विनायकिया	मद्रास	करमावास (पट्टा)
३. श्रीमान् रणजीतमल जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड
४. श्रीमान् पन्नालाल जी सुराणा	मद्रास	कालाउना
५. श्रीमान् लालचन्द जी डागा	मद्रास	रायपुर
६. श्रीमान् भंवरलाल जी गोठी	मद्रास	ब्यावर
७. श्रीमान् रिघकरण जी वेताला	मद्रास	कुचेरा
८. श्रीमान् मोहनलाल जी चौरड़िया	मद्रास	नागौर
९. श्रीमान् अमोलकचन्द जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१०. श्रीमान् राजमल जी मरलेचा	मद्रास	सोजत रोड

११. श्रीमान् कपूरचन्द भाई	मद्रास	सौराष्ट्र
१२. श्रीमान् सम्पतराज जी सिंघवी	रायपुर	मियाट
१३. श्रीमान् फतेहचन्द जी कटारिया	बैंगलोर	देवली कलां
१४. श्रीमान् भंवरलाल जी डूंगरवाल	मद्रास	करमावास (मालियां)
१५. श्रीमान् पारसमल जी मांल्ला	बैंगलोर	सांडिया
१६. श्रीमान् मोतीलाल जी मूथा	बैंगलोर	रास
१७. श्रीमान् जुगराज जी बरमेचा	मद्रास	ग्रटवड़ा
१८. श्रीमान् नथमल जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
१९. श्रीमान् केवलचन्द जी बाफना	मद्रास	श्रागेवा
२०. श्रीमान् रिखबचन्द जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२१. श्रीमान् मोहनलाल जी कोठारी	विरंजीपुरम्	विरांटिया
२२. श्रीमान् भानीराम जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
२३. श्रीमान् चांदमल जी कोठारी	बैंगलोर	रायपुर
२४. श्रीमान् घनराज जी बोहरा	बैंगलोर	ब्यावर
२५. श्रीमान् जंगलीमल जी भलगट	भंडारा	रीयां
२६. श्रीमान् झूमरमल जी भलगट	भंडारा	रीयां
२७. श्रीमान् हस्तीमल जी वरिणगगोता	बैंगलोर	दासपा
२८. श्रीमान् रंगलाल जी रांका	पट्टाभिराम	कुशालपुरा
२९. श्रीमान् प्राणजीवन भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३०. श्रीमान् रसिकलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३१. श्रीमान् शान्तिलाल भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३२. श्रीमान् रजनीकान्त भाई	बम्बई	सौराष्ट्र
३३. श्रीमान् जवाहरलालजी बोहरा	रत्नागिरी	रीयां
३४. श्रीमान् हीरालाल जी बोहरा	रॉबर्टसनपेठ	ब्यावर
३५. श्रीमान् जैवन्तराज जी लूणिया	मद्रास	चंडावल
३६. श्रीमान् जवरचन्द जी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
३७. श्रीमान् पुखराज जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
३८. श्रीमान् गजराज जी मेहता	मद्रास	सत्यपुर
३९. श्रीमान् मीठालाल जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४०. श्रीमान् भीखमचन्द जी गादिया	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४१. श्रीमान् पारसमल जी बोहरा	तिरुवेलोर	सत्यपुर
४२. श्रीमान् चंपालाल जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४३. श्रीमान् भैरूलाल जी बोहरा	ऊत्कोटा	सत्यपुर
४४. श्रीमान् जुगराज जी चौपड़ा	मद्रास	सत्यपुर

४५. श्रीमान् मोतीलाल जी चोपड़ा	ऊत्कोटा	सत्यपुर
४६. श्रीमान् मांगीलाल जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४७. श्रीमान् घर्मचन्द जी बोहरा	मद्रास	सत्यपुर
४८. श्रीमान् माणकचन्द जी मूथा	मद्रास	सत्यपुर
४९. श्रीमान् भीखमचन्द जी बोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५०. श्रीमान् जबरचन्द जी बोहरा	पट्टाभिराम	सत्यपुर
५१. श्रीमान् जेंवतराज जी गादिया	मद्रास	सत्यपुर
५२. श्रीमान् सेंसमल जी सेठिया	बैंगलोर	कंटालिया
५३. श्रीमान् किसनलाल जी मकाणा	दोड़वालापुर	हाजीवास
५४. श्रीमान् लूणकरण जी सोनी	भिलाई	
५५. श्रीमान् भंवरलाल जी कोठारी	ब्यावर	खांगटा
५६. श्रीमान् लालचन्द जी श्रीश्रीमाल	ब्यावर	गिरी
५७. श्रीमान् देवराज जी छाजेड़	ब्यावर	बलाड़ा
५८. श्रीमान् संपतराज जी सिंघवी	तिरुवेलोर	सियाट
५९. श्रीमान् शान्तिलाल जी सांखला	तिरुवेलोर	सांडिया
६०. श्रीमान् हस्तीमल जी गादिया	मद्रास	सांडिया
६१. श्रीमान् दुलीचंद जी चौरड़िया	मद्रास	नोखा
६२. श्रीमान् इन्द्रचंद जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
६३. श्रीमान् पारसमल जी बागचार	मद्रास	कुचेरा
६४. श्रीमान् जवाहरलाल जी चोपड़ा	अमरावती	पीपाड़
६५. श्रीमान् शांतिलाल जी गांधी	बम्बई	पीपाड़
६६. श्रीमान् देवीचन्द जी सिंघवी	मद्रास	सियाट
६७. श्रीमान् रतनलाल जी बोहरा	केलशी	पीपाड़
६८. श्रीमान् पारसमल जी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
६९. श्रीमान् पूसालाल जी कोठारी	खांगटा	खांगटा
७०. श्रीमान् अमरचन्द जी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
७१. श्रीमान् दीपचंद जी बोकड़िया	मद्रास	खांगटा
७२. श्रीमान् केवलचन्द जी कोठारी	मद्रास	खांगटा
७३. श्रीमान् चैनमल जी सुराणा	मद्रास	कुचेरा
७४. श्रीमान् जुगराज जी कोठारी	मद्रास	खजवाणा

(स्व. श्रीमती इन्दिरादेवी बैंगाणी की स्मृति में संस्थापित)

श्री श्वे. स्था. जयमल जैन शिक्षण संस्थान के सदस्य

संस्थापक

१. श्रीयुत केसरदेवी वैद — लाडनूं (नागौर)

संरक्षक

१. श्री भेरुंदान जी अमीचन्द जी वैद — कलकत्ता (प. बंगाल)
२. श्री वी. लालचन्द जी मरलेचा — रायपुरम् (मद्रास)
३. श्री एन. सुगालचन्द जी सिंघवी — ट्रिप्लीकेन (मद्रास)
४. श्री गिरधारीमल जी केवलचन्द जी मुरट — कलकत्ता (प. बंगाल)

आजीवन-सदस्य

१. श्री पारसमल जी बाफणा — साउकार पेठ (मद्रास)
२. श्री भेरुंलाल जी मूथा — चंडावल टाऊन (पाली)
३. श्री लालचन्द जी पोरवाल — पाली (राजस्थान)
४. श्री मांगीलाल जी गांधी — पाली (राजस्थान)
५. श्री लूणकरण जी सरदारमल जी नाहर — लखनऊ (उ. प्र.)
६. श्री सुमेरमल जी मेड़तिया 'एडवोकेट' — जोधपुर (राज.)
७. श्री मोहनलाल जी लूणिया — चण्डावल टाऊन (पाली)
८. श्री उत्तमचन्द जी सिंघवी — तिरुवल्लूर (मद्रास)
९. श्री जे. दुलीचन्द जी चोरड़िया — साउकार पेठ (मद्रास)
१०. श्री जे. अमरचन्द जी बोकड़िया — साउकार पेठ (मद्रास)
११. श्री के. भंवरलाल जी लादुलाल जी बैताला — डेह (नागौर)
१२. श्री पारसमल जी प्रकाशचन्द जी पटवा — जोधपुर (राज.)
१३. श्री पन्नालाल जी संचेती — जोधपुर (राज.)
१४. श्री धनराज जी गुलाबचन्द जी चाम्बड़ — जोधपुर (राज.)

अ. भा. जयगुञ्जार प्रकाशन समिति के सदस्य

प्रमुख–स्तम्भ–सदस्य

१. श्री जे. दीपचंदजी बोकड़िया	साउकार पेठ, मद्रास
२. श्री बस्तीमल जी हस्तीमलजी लूंकड़	चिंतादरी पेठ, मद्रास
३. श्री पन्नालाल जी भागचंदजी बोथरा	चांगोटोला (म. प्र.)
४. श्री भूमरमलजी सज्जनराजजी घरमचंदजी लूंकड़	सैदापेठ, मद्रास

स्तम्भ–सदस्य

१. श्री सुखराज जी शांतिलालजी सांखला	तिरुवेल्लोर (मद्रास)
२. श्री पुखराजजी जोधराजजी बोहरा	केलशी (महाराष्ट्र)
३. श्री माणकचंदजी सिरेमलजी नाहटा	सोजत शहर (राजस्थान)
४. श्री घीसुलाल जी रणजीतमलजी मरलेचा	पल्लावरम (मद्रास)
५. श्री नवरतनमलजी मानमलजी डुंगरवाल	करमावास (राज.)
६. श्री एस. नेमीचंद जी खींचा	अलसूर (बैंगलोर)
७. श्री धनराज जी ताराचंद जी मोहनोत	अमरावती (महाराष्ट्र)
८. श्री भंवरलाल जी शेषमल जी सिंघवी	अमरावती (महाराष्ट्र)
९. श्री शांतिलाल जी मिश्रीमल जी कटारिया	रालेगाँव (महाराष्ट्र)
१०. श्री ए. मिश्रीमल जी लोढ़ा	चिकपेट (बैंगलोर)
११. श्री रिखबचंद जी इन्दरचंद जी वैद	जोधपुर (राज.)
१२. श्री मिश्रीमल जी लुणकरण जी नाहर	कुचेरा (राज.)
१३. श्री एन. सुगालचंद जी सिंघवी	टी. एच. रोड (मद्रास)
१४. श्री मोहन भाई गुजराती	जयपुर (राज.)
१५. श्री एक महानुभाव (गुप्त)	कुचेरा (राज.)
१६. श्री मगनमल जी भंवरलाल जी मोहनोत	भंडारा (महाराष्ट्र)
१७. श्री भंवरलाल जी हनुमानचंद जी कोठारी	ब्यावर (राज.)
१८. श्री पुखराज जी अमोलकचंदजी सिंघवी	पुलियान तोप (मद्रास)

(स्व. श्रीमती इन्दिरादेवी वैंगाणी की स्मृति में संस्थापित)

श्री श्वे. स्था. जयमल जैन शिक्षण संस्थान के सदस्य

संस्थापक

१. श्रीयुत केसरदेवी वैद — लाडनूं (नागौर)

संरक्षक

१. श्री भेरुंदान जी अमीचन्द जी वैद — कलकत्ता (प. बंगाल)
२. श्री वी. लालचन्द जी मरलेचा — रायपुरम् (मद्रास)
३. श्री एन. सुगालचन्द जी सिंघवी — ट्रिप्लीकेन (मद्रास)
४. श्री गिरधारीमल जी केवलचन्द जी भुरट — कलकत्ता (प. बंगाल)

आजीवन-सदस्य

१. श्री पारसमल जी बाफणा — साउकार पेठ (मद्रास)
२. श्री भेरुंलाल जी मूथा — चंडावल टाऊन (पाली)
३. श्री लालचन्द जी पोरवाल — पाली (राजस्थान)
४. श्री मांगीलाल जी गांधी — पाली (राजस्थान)
५. श्री लूणकरण जी सरदारमल जी नाहर — लखनऊ (उ. प्र.)
६. श्री सुमेरमल जी मेड़तिया 'एडवोकेट' — जोधपुर (राज.)
७. श्री मोहनलाल जी लूणिया — चण्डावल टाऊन (पाली)
८. श्री उत्तमचन्द जी सिंघवी — तिरुवल्लूर (मद्रास)
९. श्री जे. दुलीचन्द जी चोरड़िया — साउकार पेठ (मद्रास)
१०. श्री जे. अमरचन्द जी बोकड़िया — साउकार पेठ (मद्रास)
११. श्री के. भंवरलाल जी लादुलाल जी वैताला — डेह (नागौर)
१२. श्री पारसमल जी प्रकाशचन्द जी पटवा — जोधपुर (राज.)
१३. श्री पन्नालाल जी संचेती — जोधपुर (राज.)
१४. श्री धनराज जी गुलाबचन्द जी चाम्बड़ — जोधपुर (राज.)

अ. भा. जयगुञ्जार प्रकाशन समिति के सदस्य

प्रमुख–स्तम्भ–सदस्य

१. श्री जे. दीपचंदजी बोकड़िया	साउकार पेठ, मद्रास
२. श्री बस्तीमल जी हस्तीमलजी लूंकड़	चितादरी पेठ, मद्रास
३. श्री पन्नालाल जी भागचंदजी बोथरा	चांगोटोला (म. प्र.)
४. श्री भूमरमलजी सज्जनराजजी धरमचंदजी लूंकड़	सैदापेठ, मद्रास

स्तम्भ–सदस्य

१. श्री सुखराज जी शांतिलालजी सांखला	तिरुवेल्लोर (मद्रास)
२. श्री पुखराजजी जोधराजजी बोहरा	केलशी (महाराष्ट्र)
३. श्री माणकचंदजी सिरेमलजी नाहटा	सोजत शहर (राजस्थान)
४. श्री घीसुलाल जी रणजीतमलजी मरलेचा	पल्लावरम (मद्रास)
५. श्री नवरतनमलजी मानमलजी डुंगरवाल	करमावास (राज.)
६. श्री एस. नेमीचंद जी खींचा	अलसूर (बैंगलोर)
७. श्री धनराज जी ताराचंद जी मोहनोत	अमरावती (महाराष्ट्र)
८. श्री भंवरलाल जी शेषमल जी सिंघवी	अमरावती (महाराष्ट्र)
९. श्री शांतिलाल जी मिश्रीमल जी कटारिया	रालेगाँव (महाराष्ट्र)
१०. श्री ए. मिश्रीमल जी लोढ़ा	चिकपेट (बैंगलोर)
११. श्री रिखबचंद जी इन्दरचंद जी वैद	जोधपुर (राज.)
१२. श्री मिश्रीमल जी लुणकरण जी नाहर	कुचेरा (राज.)
१३. श्री एन. सुगालचंद जी सिंघवी	टी. एच. रोड (मद्रास)
१४. श्री मोहन भाई गुजराती	जयपुर (राज.)
१५. श्री एक महानुभाव (गुप्त)	कुचेरा (राज.)
१६. श्री मगनमल जी भंवरलाल जी मोहनोत	भंडारा (महाराष्ट्र)
१७. श्री भंवरलाल जी हनुमानचंद जी कोठारी	ब्यावर (राज.)
१८. श्री पुखराज जी अमोलकचंदजी सिंघवी	पुलियान तोप (मद्रास)

१९. श्री सोनराज जी संपतराज जी सिंघवी	गुड़ियारी (रायपुर)
२०. श्री पारसमल जी पूनमचंद जी पटवा	जोधपुर (राज.)
२१. श्री विजयराज जी धाड़ीवाल	महामंदिर (जोधपुर)
२२. श्री नगराज जी वलवंतराज जी मूथा	रायचूर (कर्णाटक)
२३. श्री मिश्रीमल जी मंवरलाल जी कांकरिया	पीपाड़ शहर (राज.)
२४. श्री जे. पारसमल जी बोकड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)
२५. श्री रतनलाल जी प्रेमराज जी वोहरा	केलशी (महाराष्ट्र)
२६. श्री मांगीलाल जी शांतिलाल जी मूथा	पीपाड़ शहर (राज.)
२७. श्री मिश्रीमल जी मंवरलाल जी भलगट	भण्डारा (महाराष्ट्र)
२८. श्री जंगलीमल जी शशीकांत जी भलगट	भण्डारा (महाराष्ट्र)
२९. श्री झूमरमल जी कल्याणमल जी भलगट	भण्डारा (महाराष्ट्र)
३०. श्री शांतिलाल जी माणकचंद जी गांधी	वम्बई (महाराष्ट्र)
३१. श्री हीराचंद जी पन्नालाल जी वोहरा	रावर्टसन पेठ (के. जी. एफ.)
३२. श्री बी. लालचंद जी मरलेचा	रायपुरम (मद्रास)
३३. श्री जवाहरलाल जी सज्जनराज जी निर्मलचंद जी वोहरा	अलसूर (वैंगलोर)
३४. श्री मांगीलाल जी अशोककुमार जी जांगड़ा	एम. आर. पालियम (वैंगलोर)
३५. श्री मांगीलाल जी माणकलाल जी गोटावत	सोजत शहर (पाली-राज.)
३६. श्री मूलचंद जी चांदमल जी वोहरा	इचलकरणजी (महाराष्ट्र)
३७. श्री लूणकरण जी नाहर	आर. टी. स्ट्रीट क्रास (वैंगलोर)
३८. श्री फूलचंद जी अशोककुमार जी खारीवाल	थाउजेन्डलाइट (मद्रास)

प्रमुख–संरक्षक–सदस्य

१. श्री भंवरलाल जी मदनलाल जी तातेड़	रायपुर (मारवाड़)
२. श्री चांदमल जी जंवरीलाल जी जांगड़ा	रायपुर (मारवाड़)
३. श्री लालचंद जी पन्नालाल जी श्रीश्रीमाल	व्यावर (राज.)
४. श्री रंगलाल जी जवाहरलाल जी रांका	पट्टाभिराम (मद्रास)
५. श्री हरकचंद जी विनोदीलाल जी मकाणा	व्यावर (राज.)
६. श्री जुगराज जी इन्दरचंद जी सिंघवी	ट्रिप्लीकेन (मद्रास)
७. श्री पुसालाल जी मंगलचंद जी पगारिया	रायपुर (मारवाड़)
८. श्री हगामीलालजी मंवरलाल जी सांखला	व्यावर (राज.)
९. श्री जवाहरलाल जी मोतीलाल जी मूथा	अलसूर (वैंगलोर)
१०. श्री फूलचंद जी मदनलाल जी मूथा	पीपाड़ शहर (राज.)
११. श्री घीसुलाल जी चंपालाल जी रांका	पूनमली (मद्रास)
१२. श्री जे. दीपचंद जी बोकड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)

१३. श्री एस. भीकमचन्द जी भंवरलाल जी गादिया	तिरुवेल्लोर (मद्रास)
१४. श्री मोड़ुलाल जी नवरतनमल जी खीचा	अलसूर (बैंगलोर)
१५. श्री हरकचन्द जी लालचन्द जी संचेती	अमरावती (महाराष्ट्र)
१६. श्री हीरालाल जी चांदमल जी जैन	दोदमावली (बैंगलोर)
१७. श्री राजमल जी बस्तीमल जी मरलेचा	रेडहिल्स (मद्रास)
१८. श्री लालचन्द जी कचरूलाल जी कांठेड़	एम. आर. पालियम (बैंगलोर)
१९. श्री शांतिलाल एण्ड कम्पनी	जयपुर (राज.)
२०. श्री राजमल जी जतनचन्द जी कोठारी	जयपुर (राज.)
२१. श्री सुगनचन्द जी दीपचन्द जी कोठारी	ब्यावर (राज.)
२२. श्री अमोलकचन्द जी भंवरलाल जी विनायकिया	थाउजेन्ट लाइट्स (मद्रास)
२३. श्री घेवरचन्द जी देवीचन्द जी सिंघवी	पुलियान तोप (मद्रास)
२४. श्री गजराज जी निहालचन्द जी भंडारी	जोधपुर (राज.)
२५. श्री मदनकंवर w/o सुमेरमल जी मेड़तिया	जोधपुर (राज.)
२६. श्री जसराज जी गणेशमल जी संचेती	जोधपुर (राज.)
२७. श्री पारसराज जी s/o सुकनराज जी घाड़ीवाल	महामंदिर (जोधपुर)
२८. श्री बादलचन्द जी जुगराज जी मेहता	इन्दौर (म. प्र.)
२९. श्री जे. दुलीचन्द जी चोरड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)
३०. श्री अनराज जी चोरड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)
३१. श्री जवरीलाल जी अमरचन्द जी कोठारी	ब्यावर (राज.)
३२. श्री भंवरलाल जी लादुलाल जी बेताला	डेह (नागौर)
३३. श्री संपतराज जी कांकरिया	साथीण (जोधपुर)
३४. श्री उमराव बाई छाजेड़	टीटवा (महाराष्ट्र)
३५. श्री ए. के. शांतिलाल जी जैन	ताम्बरम् (मद्रास)
३६. श्री केली बाई w/o घीसुलाल जी कुंकलोल	रायपुर (मारवाड़)
३७. श्री देवराज जी कंवरलाल जी बोहरा	आयनावरम् (मद्रास)
३८. श्री जी. उत्तमचन्द जी सिंघवी	तिरुवेल्लोर (मद्रास)
३९. श्री ताराचन्द जी उगमराज जी कांकरिया	रायचूर (कर्णाटक)
४०. श्री ताराचन्द जी उगमराज जी कांकरिया	पीपाड़ शहर (राज.)
४१. श्री आर. शांतिलाल जी पुंगलिया	कोडमबाकम् (मद्रास)
४२. श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा	पाली (राज.)
४३. श्री छोटमल जी रूपचन्द जी घाड़ीवाल	पाली (राज.)
४४. श्री केवलचन्द जी शांतिलाल जी बाफना	टी. नगर (मद्रास)
४५. श्री हस्तीमल जी गादिया	तेनामपेठ (मद्रास)
४६. श्री सोहन कुमार एण्ड कम्पनी	रायचूर (कर्णाटक)

४७. श्री अनराज जी शांतिलाल जी गादिया — थाउजेन्ट लाइट्स (मद्रास)
४८. श्री डॉ. केवलचन्द जी वेताला — साउकार पेठ (मद्रास)
४९. श्री लालचन्द जी शांतिलाल जी लूंकड़ — खांगटा (जोधपुर)
५०. श्री डॉ. पी. सी. जैन — रोहतक (हरियाणा)
५१. श्री केसर देवी c/o भेरुंदान जी अमीचन्द जी वैद — कलकत्ता
५२. श्री रतनचन्द जी सुभाषचन्द जी वाफणा — कड़लू (नागौर)
५३. श्री सौभागमल जी जैन — जोधपुर (राज.)
५४. श्री हीरालालजी मोतीलाल जी श्रीश्रीमाल — व्यावर (राज.)
५५. श्री हस्तीमल जी जसवंतराज जी रांका — विसलपुर (जोधपुर)
५६. श्री माणकचन्द जी प्रकाशचन्द जी ओस्तवाल — तिन्नानूर (मद्रास)
५७. श्री पदमा बाई जैन — अलसूर (वैंगलोर)
५८. श्री मिश्रीमल जी सूरजमल जी चोरड़िया — चिकपेठ क्रॉस (वैंगलोर)
५९. श्री गणेशदास जी माणकचन्द जी वाफणा — व्यावर (राज.)
६०. श्री शांतिलाल जी चन्द्रप्रकाश जी लोढ़ा — एम. आर. पालियम (वैंगलोर)
६१. श्री एस. भंवरलाल जी मोहनोत — अड्यार (मद्रास)
६२. श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा — साउकार पेठ (मद्रास)
६३. श्री एम. वस्तीमल जी वोकड़िया — सैदापेठ (मद्रास)

संरक्षक सदस्य

१. श्री भंवरलाल जी गुंदेचा — रणसीगाँव (जोधपुर)
२. श्री कन्हैयालाल जी जंवरीमल जी मेहता — सोजत शहर (राज.)
३. श्री अनराज जी चम्पालाल जी वोहरा — भूंठा (पाली)
४. श्री भंवरलाल जी शांतिलाल जी चोपड़ा — भूंठा (पाली)
५. श्री सुवालाल जी संपतराज जी वोहरा — रायपुर (मारवाड़)
६. श्री पुखराज जी बाघमार — साउकारपेठ (मद्रास)
७. श्री चम्पालाल जी पुसालाल जी कोठारी — खांगटा (जोधपुर)
८. श्री कूकमल जी घनराज जी जैन — बांगड़दा (म. प्र.)
९. श्री जी. जे. माणकचन्द जी गादिया — अलसूर (वैंगलोर)
१०. श्री पन्नालाल जी राजमल जी ढ़ेलरिया — मंडाल (गुजरात)
११. श्री पी. पारसमल जी सांखला — मैसूर रोड सर्कल (वेंगलोर)
१२. श्री पारसमल जी सांखला — सांडिया (पाली)
१३. श्री पारसमल जी संकलेचा — भीलवाड़ा (राज.)
१४. श्री छोगमल जी चतुरभुज जी — ब्यावर (राज.)
१५. श्री पुखराज जी इन्दरचन्द जी कोठारी — रायपुरम् (मद्रास)
१६. श्री गोरधनदास जी नवरतनमल जी लूंकड़ — जोधपुर (रांज.)

अ. भा. जयगुञ्जार प्रकाशन समिति के सदस्य

१७. श्री लालचन्द जी बोहरा	ब्यावर (राज)
१८. श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी पगारिया	रायपुर (मारवाड़)
१६. श्री जे. पारसमल जी बोकडिया	साउकार पेठ (मद्रास)
२०. श्री सोहनलाल जी कटारिया	महामन्दिर (जोधपुर)
२१. श्री लूणकरण जी सोनी	भिलाई नगर (म. प्र.)
२२. श्री जालमचन्द जी रेखचन्द जी कोठारी	खजवाणा (राज.)
२३. श्री सायर बाई घोड़ावत	नागोर (राज.)
२४. श्री भंवरलाल जी महावीरचन्द जी नाहर	कुचेरा (राज.)
२५. श्री अनराज जी केवलचन्द जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
२६. श्री जंवरीमल जी जैन	जोधपुर (राज.)
२७. श्री हेमचन्द जी महेशचन्द जी कोठारी	जोधपुर (राज.)
२८. श्री सरदारमल जी नवरतनमल जी भंसाली	जोधपुर (राज.)
२९. श्री एम. शेरमल जी नेमीचन्द जी बोहरा	सिकन्द्राबाद
३०. श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़	सिकन्द्राबाद
३१. श्री पन्नालाल जी हुकमीचन्द जी गादिया	अलसूर (बेंगलोर)
३२. श्री नथमल जी ढड्ढा	जयपुर (राज.)
३३. श्री दुलराज जी शांतिलाल जी जैन	तिरुमसी (मद्रास)
३४. श्री पुखराज जी ज्ञानचन्द जी मूणोत	ताम्बरम् (मद्रास)
३५. श्री पारसमल जी गौतमचन्द जी लूंकड़	जोधपुर (राज.)
३६. श्री जगदीशचन्द जी संचेती	जोधपुर (राज.)
३७. श्री उम्मेदमल जी सुमेरमल जी रुंटिया	जोधपुर (राज.)
३८. श्री सुखराज जी मूथा	जोधपुर (राज.)
३९. श्री गौतमचन्द जी हुसियारचन्द जी गोठी	महामन्दिर (जोधपुर)
४०. श्री केशव जी आर. जैन	कोटकपुरा (पंजाब)
४१. श्री केवलचन्द जी उमेदराज जी कांकरिया	सिन्धनूर (कर्णाटक)
४२. श्री मूलचन्द जी जौहरीमल जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
४३. श्री बी. गजराज जी बोकड़िया	सेलम (तमिलनाडु)
४४. श्री देवीचन्द जी मांगीलाल जी गांधी	पाली (राज.)
४५. श्री बालचन्द जी मेघराज जी लोढ़ा	पाली (राज.)
४६. श्री पारसमल जी मूणोत	नागौर (राज.)
४७. श्री जी. सूरजमल जी बोथरा	इगमोर (मद्रास)
४८. श्री अमोलकचन्द जी सुराणा	अजमेर (राज.)
४९. श्री पन्नालाल जी प्रवीणकुमार जी लूंकड़	बीजापुर (म. प्र.)
५०. श्री भीमसिंह जी लोढ़ा	कलकत्ता (प. बंगाल)
५१. श्री माणिकचन्द जी छाजेड़	अलसूर (बेंगलोर)

५२. श्री सुगालचन्द जी महावीरचन्द जी तालेड़ा — अलसूर (बैंगलोर)
५३. श्री घनराज जी मदनलाल जी वोहरा — अलसूर (बैंगलोर)
५४. श्री जवरचन्द जी सुरेशचन्द जी वोकड़िया — साउकार पेठ (मद्रास)
५५. श्री धर्मीचन्द जी कोठारी — ताम्बरम् (मद्रास)
५६. श्री भानीराम जी नेमिचन्द जी सिंघवी — तिरुवेल्लोर (मद्रास)
५७. श्री पूनमचन्द जी वोकड़िया — साउकारपेठ (मद्रास)
५८. श्री शांतिलाल जी धर्मीचन्द जी चौधरी — तिरुपती (आ. प्र.)
५९ श्री सज्जन सेल्स कारपोरेशन — साउकारपेठ (मद्रास)
६०. श्री नथमल जी मीठालाल जी नाहर — एम. आर. पालियम (बैंगलोर)
६१. श्री चांदमल जी पृथ्वीराज जी कोठारी — अलसूर (बैंगलोर)
६२. श्री एच. मोहनलाल एण्ड सन्स — नगरथपेठ (बैंगलोर)
६३. श्री सी. मांगीलाल जी डूंगरवाल — नगरथपेठ (बैंगलोर)
६४. श्री चंपालाल जी चेतनप्रकाश जी डूंगरवाल — नगरथपेठ (बैंगलोर)
६५. श्री किशनलाल जी चंपालाल जी मकाणा — डोडवालापुर (कर्णाटक)
६६. श्री एम. चंपालाल जी गोटावत — बैंगलोर
६७. श्री एस. भोपालचंद जी जैन — चिकपेट (बैंगलोर)
६८. श्री सम्पतराज जी कांकरिया — साउकारपेठ (मद्रास)
६९. श्री मीठालाल जी भीकमचंद जी मूथा — मद्रास
७०. श्री डी. पारसमल जी वरमेचा — अम्वतूर (मद्रास)
७१. श्री रणधीरकुमार जी मंगलचद जी कोठारी — नंदूरवार (महाराष्ट्र)
७२. श्री आर. जवरीलाल जी सुरेशचंद जी रांका — वड़पलनी (मद्रास)
७३. श्री वी. ए. कैलाशचंद जी जैन — विद्यारण्यपुरम (मैसूर)
७४. श्री मेघराज जी वावुलाल जी छाजेड़ — रायचूर (कर्णाटक)
७५. श्री प्रेम जयमाला होम्योपैथिक औषधालय — दुर्ग (मध्यप्रदेश)
७६. श्री मिश्रीलाल जी मांगीलाल जी श्रीश्रीमाल — सिकन्द्रावाद (आ.प्र.)

आजीवन सदस्य

१. श्री सुगनचंद जी धनराज जी वोहरा — रणसीगांव (जोधपुर)
२. श्री किशनलाल जी मदनलाल जी बोहरा — अटवडा (पाली)
३. श्री ओसवाल जैन संघ — अटबड़ा (पाली)
४. श्री लालचंद जी इंद्रचंद जी मूथा — अटवड़ा (पाली)
५. श्री भेरूलाल जी मोहनलाल जी झामड़ — सोजतशहर (पाली)
६. श्री लालचंद जी नाहटा — सोजतशहर (पाली)
७. श्री अमरचंद जी जवरीलाल जी लोढ़ा — सोजतशहर (पाली)
८. श्री चंपालाल जी लोढ़ा — सोजतशहर (पाली)
९. श्री रिखवचंद जी देवीचंद जी मरलेचा — बोरनड़ी (पाली)

१०. श्री डी. महावीरचंद जी जैन	आवड़ी (मद्रास)
११. श्री सेसमल जी महावीरचंद जी सेठिया	मल्लेश्वरम् (बेंगलोर)
१२. श्री मोहनलाल जी राजकुमार जी श्रीश्रीमाल	ब्यावर (राज.)
१३. श्री भंवरीलाल जी सुराणा	आकोला (महाराष्ट्र)
१४. श्री गुलाबचंद जी चोपड़ा	भिलाई (म.प्र.)
१५. श्री लाभचंद जी दुलीचंदजी मकाणा	ब्यावर (राज.)
१६. श्री एच. भंवरलाल जी जैन	डोडवालापुर (कर्णाटक)
१७. श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी कोठारी	विरंजीपुरम् (मद्रास)
१८. श्री सुगनचंद जी मीठालाल जी भंसाली	नानणा (पाली)
१९. श्री जैवन्तराज जी सुगनचंद जी बाफणा	मैसूर रोड (बेंगलोर)
२०. श्री जीवराज जी भंसाली	गिरी (पाली)
२१. श्री उगमबाई रूंटिया	जोधपुर (राज.)
२२. श्री धर्मचंद जी बस्तीमल जी मूणोत	नागपुर (महाराष्ट्र)
२३. श्री जे. गौतमचंद जी तातेड़	मद्रास
२४. श्री मिश्रीमल जी देवराज जी छाजेड़	ब्यावर (राज.)
२५. श्री चुन्नीलाल जी मुन्नीलाल जी बागरेचा	जोधपुर (राज.)
२६. श्री चंपालाल जी सोमचंद जी बागरेचा	जोधपुर (राज.)
२७. श्री भंवरलाल जी गोठी	साउकार पेठ (मद्रास)
२८. श्री रामलाल जी दुलराज जी रुणीवाल	जवाजा (अजमेर)
२९. श्री माणकचंद जी नौरतनमल जी भंडारी	रावतमाला (अजमेर)
३०. श्री गजराज जी शांतिलाल जी मेहता	(थाउजेन्ट लाइट) मद्रास
३१. श्री धनराज जी घेवरचंद जी पगारिया	कुशालपुर (पाली)
३२. श्री गणेशमल जी मांगीलाल जी खारीवाल	देवलीकलां (पाली)
३३. श्री बी. मांगीलाल जी जैन एण्ड ब्रदर्स	सुलुरपेठ (आ. प्र.)
३४. श्री महेन्द्रकुमार जैन एण्ड कम्पनी	टंगला (आसाम)
३५. श्री चम्पालाल जी ज्ञानचंद जी करणावट	खजवाणा (नागौर)
३६. श्री चम्पालाल जी गजराज जी मेहता	(इगमोर हाइ रोड) मद्रास
३७. श्री जबरचंद जी गौतमचंद जी कोठारी	खजवाणा (नागौर)
३८. श्री झणकार बाई नाहटा	नागौर (राज.)
३९. श्री केवलचंद जी सेठिया	नागौर (राज.)
४०. श्री सूरज बाई लोढ़ा	नागौर (राज.)
४१. श्री एम. सागरमल जी लूंकड़	धर्मनगर (त्रिपुरा)
४२. श्री बस्तीमल जी संतोषकुमार जी बैद	डेह (नागौर)
४३. श्री चुन्नीलाल जी मूथा	नागौर (राज.)
४४. श्री खींवराज जी कवाड़	नागौर (राज.)

४५. श्री लिखमीचंद जी बरड़िया	नागोर (राज.)
४६. श्री जसवन्तमल जी सुराणा	नागोर (राज.)
४७ श्री घीसुलाल जी बोहरा	नागोर (राज.)
४८. श्री उत्तमचंद जी गणपतमल जी	चौधरीहाट (कूचविहार)
४९. श्री लक्ष्मीमल जी परसनमल जी चोरड़िया	नागोर (राज.)
५०. श्री उमेदराज S/o आनंदराज जी सराफ	जोधपुर (राज.)
५१. श्री सायरमल जी पुखराज जी नाहर	कुचेरा (नागोर)
५२. श्री रतनचन्द जी हस्तीमल जी बाघमार	कुचेरा (नागोर)
५३. श्री सुगनचन्द जी सोनराज जी सुराणा	कुचेरा (नागोर)
५४. श्री मोहनलाल जी प्रेमचन्द जी सुराणा	कुचेरा (नागोर)
५५. श्री हस्तीमल जी रूणवाल	कुचेरा (नागोर)
५६. श्री चम्पालाल जी बाघमार	कुचेरा (नागोर)
५७. श्री बालचन्द जी थानमल जी भुरट	कुचेरा (नागोर)
५८. श्री महावीरचन्द जी खींवसरा	साउकारपेठ (मद्रास)
५९. श्री अशोककुमार छोटालाल एण्ड कं०	मेंगलोर (कर्णाटक)
६०. श्री हरकचद जी बाफणा	नागोर (राज.)
६१. श्री भंवरलाल जी रांका	ब्यावर (राज.)
६२. श्री मेसर्स सुमेर ट्रेडर्स	जोधपुर (राज.)
६३. श्री चुन्नीलाल जी बागरेचा	बालाघाट (म. प्र.)
६४. श्री फतेराज जी भंवरलाल जी करणावट	नागोर (राज.)
६५. श्री अमरचन्द S/o मांगीलाल जी नाहर	जयपुर (राज.)
६६. श्री इन्दरमल जी छगनमल जी	अहमदाबाद (गुजरात)
६७. श्री मांगीलाल जी सायरचन्द जी लूंकड़	जोधपुर (राज.)
६८. श्री सवाईसिंह जी बक्षी	जयपुर (राज.)
६९. श्री चुन्नीलाल जी ललवाणी	जयपुर (राज.)
७०. श्री सुखराज जी चम्पालाल जी भटेवड़ा	तिरुवेल्लोर (मद्रास)
७१. श्री एम. शांतिलाल जी रांका	कल्लाकुरुचि (तामिलनाडु)
७२. श्री पूज्य जयमल जैन ज्ञान भण्डार	पीपाड़शहर (राज.)
७३. श्री पृथ्वीराज जी मांगीलाल जी कवाड़	पूनमल्ली (मद्रास)
७४. श्री मीठालाल जी राजेन्द्रप्रसाद जी जैन	यशवन्तपुर (बेंगलोर)
७५. श्री एम. प्रवीणचन्द्र जी जैन	आरकाट रोड (मद्रास)
७६. श्री लालचन्द जी विजयराज जी पगारिया	रायपुर (मारवाड़)
७७. श्री संपतराज जी भेरूलाल जी मेहता	रायपुर (मारवाड़)
७८. श्री बस्तीमलजी हस्तीमल जी कांसवा	सोजतशहर (पाली)
७९. श्री किशनलाल जी चम्पालाल जी मकाणा	हाजीवास (पाली)

८०. श्री चन्दनमल जी बाबूलाल जी मकाणा	हाजीवास (पाली)
८१. श्री पारसमल जी करणावट	जोधपुर (राज.)
८२. श्रीमती सीतादेवी गोलिया	जोधपुर (राज.)
८३. श्री बस्तीमल जी प्यारेलाल जी कांकरिया	रायचूर (कर्णाटक)
८४. श्री जसवंतराज जी सायरचन्द जी कांकरिया	रायचूर (कर्णाटक)
८५. श्री राजमल जी खेमराज जी भण्डारी	रायचूर (कर्णाटक)
८६. श्री जंवरीलाल जी माणकचंद जी रांका	रायचूर (कर्णाटक)
८७. श्री जी. रतनलाल एण्ड कम्पनी	रायचूर (कर्णाटक)
८८. श्री जवाहरलाल जी बलवंतराज जी मूथा	रायचूर (कर्णाटक)
८९. श्री महावीर एस्सो सर्विस	रायचूर (कर्णाटक)
९०. श्री रामलाल जी कंवरलाल जी सांखला	राजनांदगांव (म.प्र.)
९१. श्री मोहनलाल जी बस्तीमल जी बोहरा	रूपावास (पाली)
९२. श्री सी. भंवरलाल जी जैन	पुरुषवाकम (मद्रास)
९३. श्री आर. सोहनराज जी हेमराज जी बाफणा	चितादरीपेठ (मद्रास)
९४. श्री मूलचंद जी माणकलाल जी चोरड़िया	राजनांदगांव (म.प्र.)
९५. श्री अमरचंद जी श्रेणिकराज जी छाजेड़	सिंघनूर (कर्णाटक)
९६. श्री जंवरीलाल जी गिरधारीलाल जी देशलहरा	नंदूरबार (महाराष्ट्र)
९७. श्री धर्मचंद जी जैन	जयपुर (राज.)
९८. श्री मानमल जी राजमल जी ललवाणी	जामनेर (महाराष्ट्र)
९९. श्री छोटालाल जी हरखचंद जी पारेख	शेयर बाजार (बम्बई)
१००. श्री हरखचंद जी रमणलाल जी बागरेचा	जयपुर (राज.)
१०१. श्री ऋषभचन्द जी मोहनलाल जी गुलेछा	मैलापुरम (मद्रास)
१०२. श्री जसवंतराज जी परसनराज जी ललवाणी	जोधपुर (राज.)
१०३. श्री मांगीलाल जी उत्तमचन्द जी बाफणा	नगरथ पेठ (बैंगलोर)
१०४. श्री विनयचन्द जी सेठ	जयपुर (राज.)
१०५. श्री डी. केवलचन्द जी बाफणा	आलंदूर (मद्रास)
१०६. श्री सुमतिचन्द जी कोठारी	जयपुर (राज.)
१०७. श्री जवाहरलाल जी प्यारेलाल जी चोपड़ा	अमरावती (महाराष्ट्र)
१०८. श्री संपतराज जी कोठारी	कंटोलमेंट (बैंगलोर)
१०९. श्री हंसराज जी लूंकड	जोधपुर (राज.)
११०. श्री फूलचन्द जी सुराणा	सिकन्द्राबाद (आ. प्र.)
१११. श्री भंवरलाल जी अनमोलप्रकाश जी छाजेड़	दाढ़ी (म. प्र.)
११२. श्री रतनलाल जी जवरचन्द जी कांकरिया	संपिग्स रोड (बैंगलोर)
११३. श्री मांगीलाल जी श्रेणिकराज जी कांकरिया	पीपाड़शहर (राज.)
११४. श्री भंवरलाल जी भंडारी	रुड़कली (जोधपुर)

११५. श्री शिवराज जी चम्पालाल जी खटोड़	वरणा (जोधपुर)
११६. श्री रिखबचन्द जी चन्दनमल जी कोठारी	खजवाणा (नागोर)
११७. श्री जसवंतमल जी लूंकड़	जोधपुर (राज.)
११८. श्री मांगीलाल जी चन्दनमल जी बोहरा	जोधपुर (राज.)
११९. श्री गुलाबचन्द जी प्रसन्नचन्द जी नाहर	कुचेरा (नागोर)
१२०. श्री मूलचंद जी हुकमीचंद जी लूंकड	जोधपुर (राज.)
१२१. श्री पूनमचंद जी सोहनराज जी लूकड़	जोधपुर (राज.)
१२२. श्री बाबूलाल जी पीचा	साउकार पेठ (मद्रास)
१२३. श्री एन. शांतिलाल जी खाबिया	मैलापुर (मद्रास)
१२४. श्री पुखराज जी भीकमचंद जी लोढा	मल्लेश्वरम (बैंगलोर)
१२५. श्री केवलमल जी मेहता	जोधपुर (राज.)
१२६. श्री भंवरलाल जी निर्मलचंद जी सुराणा	महामंदिर (जोधपुर)
१२७. श्री गोविंदसिंह जी गहलोत	महामंदिर (जोधपुर)
१२८. श्री अमरचंद जी नौरतनमल जी बोहरा	ब्यावर (राज.)
१२९. श्री व. स्था. जैन श्रावक संघ	नागपुर (महाराष्ट्र)
१३०. श्री बी. एल. सुराणा	कलकत्ता
१३१. श्री सुन्दरनाथ जी डूंगरनाथ जी	अलसूर (बैंगलोर)
१३२. श्री कनकमल जी बोहरा	जोधपुर (राज.)
१३३. श्री चैनमल जी मांगीलाल जी सुराणा	साउकार पेठ (मद्रास)
१३४. श्री नेमीचन्द जी छाजेड़	वड़ाला (बम्बई)
१३५. श्री लछमनचन्द जी पारसमल जी सांखला	मैसूर (कर्णाटक)
१३६. श्री अम्बालाल जी पारसमल जी नावरिया	जवाजा (अजमेर)
१३७. श्री सज्जनराज जी करणावट	सरदारपुरा (जोधपुर)
१३८. श्री सुगनचन्द जी भीमराज जी डूंगरवाल	पुरुषवाकम् (मद्रास)
१३९. श्री इन्दरमल जी पुखराज जी तातेड़	रायपुर (मारवाड़)
१४०. श्री कल्याणमल जी प्रकाशमल जी चोरड़िया ट्रस्ट	साउकार पेठ (मद्रास)
१४१. श्री हस्तीमल जी कटारिया	इलकल (कर्णाटक)
१४२. श्री नथमल जी मूलचन्द जी धोका	साथीण (जोधपुर)
१४३. श्री धनराज जी पारख	पाली (राज.)
१४४. श्री शोभाचन्द जी महावीरचन्द जी लोढ़ा	पांचल (बंगाल)
१४५. श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी बोहरा	टी. एच. रोड (मद्रास)
१४६. श्री मांगीलाल जी गिरधारीलाल जी घीयां	विसलपुर (राज.)
१४७. श्री मिश्रीलाल जी प्रेमराज जी भण्डारी	आसोप (जोधपुर)
१४८. श्री जे. के. इलेक्ट्रीकल्स	चिकपेट (बेंगलोर)
१४९. श्री एम. सी. बेताला एण्ड कम्पनी	गोहाटी (आसाम)

१५०. श्री नवजीवन प्रो. स्टोर्स	जलगांव (महाराष्ट्र)
१५१. श्री सुरेश टेक्सटाईल्स	डोडवालापुर (कर्णाटक)
१५२. श्री सेंसमल जी संकलेचा एण्ड सन्स	उत्तरमेरुर (चिंगलपेठ)
१५३. श्री घेवरचन्द जी सुखराज जी मूथा	गर्जसिंहपुरा (जोधपुर)
१५४. श्री मैनाबाई W/O भंवरलाल जी जैन	मल्लेश्वरम (बेंगलोर)
१५५. श्री शांतिलाल जी मेहता	गोरेगांव (बम्बई)
१५६. श्री इन्दरचंद जी मेहता	मद्रास
१५७. श्री एम. नेमीचंद जी दरड़ा	चोपड़ा (पाली)
१५८. श्री फूलचंद जी अमरचंद जी मेहता	लिंगसुगुर (छावनी)
१५९. श्री बी. सज्जनराज जी जैन	तिरुवथीपुरम (एन. ए. डी टी.)
१६०. श्री जंवरीमल जी गौतमचंद जी मेहता	बासणी (जोधपुर)
१६१. श्री पारसदेवी जैन	ब्रजदुलाल स्ट्रीट (कलकत्ता)
१६२. श्री विजयराज जी लालचंद जी बालेचा	कुशालपुर (पाली)
१६३. श्री सहसमल जी पारसमल जी भंडारी	कुशालपुर (पाली)
१६४. श्री मिश्रीमल जी रतनचंद जी बाफणा	डोडवालापुर (कर्णाटक)
१६५. श्री लालचंद जी शांतिलाल जी लूंकड़	खांगटा (जोधपुर)
१६६. श्री नेमीचंद जी जवाहरमल जी लोढा	सिन्धनूर (कर्णाटक)
१६७. श्री नवरतनमल जी देवराज जी बोहरा	ब्यावर (राज.)
१६८. श्री सोहनलाल जी जैन	तिरुवन्नामल्ली (तामिलनाडु)
१६९. श्री एस. मदनलाल जी जैन	मदनपल्ली (आ. प्र.)
१७०. श्री धर्मीचंद जी मकाणा	डोडबालापुर (कर्णाटक)
१७१. श्री कन्हैयालाल जी सज्जनराज जी मकाणा	ब्यावर (राज.)
१७२. श्री झूमरमल जी कंवरीलाल जी कोठारी	डेह (नागौर)
१७३. श्री हीरालाल जी नौरतमल जी जैन	बेंगलोर
१७४. श्री पृथ्वीराज जी पन्नालाल जी पीचा	तुमड़ीबोड़ (म. प्र.)
१७५. श्री माणकराज जी ललवाणी	जोधपुर (राज.)
१७६. श्री झूमरमल जी अमरचंद जी लूंकड़	सैदापेठ (मद्रास)
१७७. श्री मिश्रीलाल जी संचेती	भिलाई (म. प्र.)
१७८. श्री बुधराज जी मोहनोत	जोधपुर (राज.)
१७९. श्री सोहनलाल जी बाघमार	लूणसरा (नागौर)
१८०. श्री मूलचंद जी निहालचंद जी चोरड़िया	कटंगी (म. प्र.)
१८१. श्री पारसमल जी बस्तीमल जी कोठारी	डेह (नागौर)
१८२. श्री राजमल जी रिखबराज जी सुराणा	आसोप (जोधपुर)
१८३. श्री पूनमचंद जी सुमेरमल जी कोठारी	राहा (आसाम)
१८४. श्री किरोड़ीमल जी रिखबचंद जी सुराणा	नागौर (राज.)

१८५. श्री भंवरलाल जी धनराज जी कोठारी	कुशालपुर (पाली)
१८६. श्री ऊंकारलाल जी मेरूलाल जी बोहरा	डोडबालापुर (कर्णाटक)
१८७. श्री लालचंद जी भोपालचंद जी पोरवाल	पाली (राज.)
१८८. श्री चम्पालाल जी महावीरचंद जी समदड़िया	चिकपेट (बैंगलोर)
१८९. श्री अखेचंद जी गौतमचंद जी लोढ़ा	बोलारम (आ. प्र.)
१९०. श्री प्रेमराज जी श्रीश्रीमाल	दुर्ग (म. प्र.)
१९१. श्री एस. भंवरलाल जी महेन्द्रकुमार जी श्रीश्रीमाल	मलेश्वरम् (बैंगलोर)
१९२. श्री बस्तीमल जी गूदड़मल जी लूणावत	निम्बोल (पाली)
१९३. श्री जालमचन्द जी हुकमचन्द जी सांड	रायपुर (म. प्र.)
१९४. श्री दलीचन्द जी अमरचन्द जी समदड़िया	रावतमाला (अजमेर)
१९५. श्री अनराज जी जसवन्तराज जी कटारिया	जोधपुर (राज.)
१९६. श्री मोतीलाल जी रिखबचन्द जी बाफणा	मद्रास
१९७. श्री लालचन्द जी गुलाबचन्द जी जैन	दूदू (जयपुर)
१९८. श्री राजमल जी शांतिलाल जी पोकरणा	अग्रम (मद्रास)
१९९. श्री रसाल बाई खीचा c/o नरेश केमिकल कारपोरेशन	मद्रास
२००. श्री सलेराज जी उत्तमचन्द जी मंसाली	कोयम्बतुर (तमिलनाडु)
२०१. श्री सम्पतराज जी भंडारी	आवड़ी (मद्रास)
२०२. श्री रतनलाल जी शांतिलाल जी बोहरा	ब्यावर (राज.)
२०३. श्री हेमराज जी मुणोत	मालाड वेस्ट (बम्बई)
२०४. श्री पनराज जी पुखराज जी मुणोत	पीपाड़ शहर (राज.)
२०५. श्री पुखराज जी बाफणा	साउकारपेठ (मद्रास)
२०६. श्री जे. भंवरलाल जी जैन	मद्रास (तामिलनाडु)
२०७. श्री मोहनलाल जी समदड़िया	ब्यावर (राज.)
२०८. श्री गणपतराज जी रूणवाल	नगरथपेठ क्रास (बैंगलोर)
२०९. श्री दीपचन्द जी तिलोकचन्द जी नाहटा	वेस्ट माम्बलम (मद्रास)
२१०. श्री सुखराज जी नेमिचन्द जी कांकरिया	अलसूर (बैंगलोर)
२११. श्री घेवरचन्द जी टीकमचन्द जी संचेती	ब्यावर (अजमेर)
२१२. श्री पी. बस्तीमल जी एण्ड सन्स	राबर्टसनपेठ (के. जी. एफ.)
२१३. श्री मंगलचन्द जी मोहनलाल जी जैन	राबर्टसनपेठ (के. जी. एफ.)
२१४. श्री चांदमल जी पृथ्वीराज जी कोठारी	अलसूर (बैंगलोर)
२१५. श्री के. अमरचन्द जी जीवराज जी लोढ़ा	अलसूर (बैंगलोर)
२१६. श्री डी. सज्जनराज जी जैन	इन्द्रानगर (बैंगलोर)
२१७. श्री लालचन्द जी गौतमचन्द जी छाजेड़	अलसूर (बैंगलोर)
२१८. श्री चम्पालाल जी चेतनप्रकाश जी जैन	नगरथपेठ (बैंगलोर)
२१९. श्री समरथमल जी आलमचन्द जी रांका	सिकन्द्राबाद
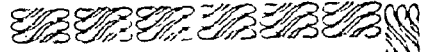
२२०. श्री पन्नालाल जी विमलचन्द जी आलिजार	सिकन्द्राबाद
२२१. श्री पुसालाल जी उत्तमचन्द जी लुणावत	सिकन्द्राबाद
२२२. श्री एस. हस्तोमल जी मुणोत	सिकन्द्राबाद
२२३. श्री लालचन्द जी सुभाषचन्द जी डुंगरवाल	सिकन्द्राबाद
२२४. श्री गूदड़मल जी शांतिलाल जी खींवसरा	पीपाड़ शहर (जोधपुर)
२२५. श्री गजराज जी कंवरलाल जी समदड़िया	ब्यावर (अजमेर)
२२६. श्री एम. माणकचन्द जी मूणोत	क्रोम पेठ (मद्रास)
२२७. श्री गहरीलाल जी कोठारी	सायनईस्ट (बम्बई)
२२८. श्री धनराज जी बिनायकिया	ब्यावर (अजमेर)
२२९. श्री भंवरलाल जी कोठारी	पाली (राज.)
२३०. श्री श्रेयांस एंटरप्राइजेज	इरोड (तामिलनाडु)
२३१. श्री बाबुलाल जी पोरवाल	नेल्लोर (आ. प्र.)
२३२. श्री एस. देवीचन्द किशनलाल एण्ड सन्स	ताम्बरम वेस्ट (मद्रास)
२३३. श्री जे. घीसूलाल जी गौतमचन्द जी डागा	ताम्बरम वेस्ट (मद्रास)
२३४. श्री धनराज जी मिश्रीलाल जी सुराणा	ताम्बरम वेस्ट (मद्रास)
२३५. श्री मिश्रीमल जी धरमीचन्द जी मूथा	ताम्बरम (मद्रास)
२३६. श्री सोहनराज जी गौतमचन्द जी सिंघवी	पुलियानतोप (मद्रास)
२३७. श्री सुराणा केनवास कम्पनी	मद्रास (तामिलनाडु)
२३८. श्री पुखराज जी मीठालाल जी बोहरा	पेरम्बुर (मद्रास)
२३९. श्री भंवरलाल जी नेमिचन्द जी बोहरा	पेरम्बुर (मद्रास)
२४०. श्री गौतमचन्द जी उत्तमचन्द जी रांका	तिन्नानूर (मद्रास)
२४१. श्री माणकचन्द जी हुकमीचन्द जी खींवसरा	पट्टाभिराम (मद्रास)
२४२. श्री चम्पालाल जी सज्जनराज जी जैन	तिरुवल्लूर (मद्रास)
२४३. श्री गणेशमल जी देवीचन्द जी सिंघवी	तिरुवल्लूर (मद्रास)
२४४. श्री मिश्रीलाल जी प्रेमराज जी लूंकड़	तिरुवल्लूर (मद्रास)
२४५. श्री जेवन्तमल फण्ड प्रा. लि.	मैलापुर (मद्रास)
२४६. श्री गौतमचन्द जी ज्ञानचन्द जी	आयनावरम (मद्रास)
२४७. श्री एस. मूलचन्द जी बोहरा	आयनावरम (मद्रास)
२४८. श्री पी. एम. राणा	नुंगमबाकम हाई रोड (मद्रास)
२४९. श्री सायरमल जी सुराणा	साउकारपेठ (मद्रास)
२५०. श्री सम्पतराज जी बाफणा	साउकारपेठ (मद्रास)
२५१. श्री जी. एल. सुराणा	साउकारपेठ (मद्रास)
२५२. श्री बिसनलाल जी सीताराम जी कडेल	साउकारपेठ (मद्रास)
२५३. श्री रतनराज जी पटवा	साउकारपेठ (मद्रास)
२५४. श्री महावीर मेटल कारपोरेशन	साउकारपेठ (मद्रास)

२५५. श्री सुमेरमल जी रुंटिया	साउकारपेठ (मद्रास)
२५६. श्री सोहनचन्द जी गादिया	साउकारपेठ (मद्रास)
२५७. श्री चम्पालाल जी मोतीलाल जी पगारिया	एम. आर. पालियम (बैंगलोर)
२५८. श्री किशनलाल जी गौतमचन्द जी जैन	बैंगलोर (कर्णाटक)
२५९. श्री सी. सुगनचन्द जी पगारिया	एम. आर. पालियम (बैंगलोर)
२६०. श्री सी. पारसमल जी जांगड़ा	एम. आर. पालियम (बैंगलोर)
२६१. श्री पारसमल जी नेमिचन्द जी सेठिया	अलसूर (बैंगलोर)
२६२. श्री बी. केवलचन्द जी रांका	शांतिनगर (बैंगलोर)
२६३. श्री पारसमल जी विमलराज जी वाफणा	नगरथपेठ (बैंगलोर)
२६४. श्री पन्नालाल जी चौरड़िया	चिकपेठ क्रास (बैंगलोर)
२६५. श्री मनोहर इलेक्ट्रिक कारपोरेशन	चिकपेठ (बैंगलोर)
२६६. श्री मालचंदजी मनोजकुमार जी	बेंगलोर (कर्णाटक)
२६७. श्री भंवरलालजी सियाल	चिकपेठ (बैंगलोर)
२६८. श्री मोतीलाल जी एस. देवड़ा	औरंगाबाद
२६९. श्री सोहनलाल जी जैन	सरदारपुरा (जोधपुर)
२७०. श्री गौतम टेक्सटाइल्स	साउकारपेठ (मद्रास)
२७१. श्री मघराजजी गणपतलाल जी सुराणा	सोजत शहर (पाली)
२७२. श्री रतनलालजी शेषमल जी सिंघवी	अमरावती (महाराष्ट्र)
२७३. श्री गुलाबचंद जी उत्तमचंदजी मुणोत	ब्यावर (अजमेर)
२७४. श्री रतनलाल जी लोढ़ा	बैंगलोर (कर्णाटक)
२७५. श्री जी. रवीन्द्रसिंह जी मोहनोत	जयपुर (राज.)
२७६. श्री प्रसन्नराज जी कांकरिया	अहमदाबाद (गुजरात)
२७७. श्री एच. जी. घीसूलाल जी मोहनलाल जी	मैसूर (कर्णाटक)
२७८. श्री वंशीलाल जी डागा	खरियार रोड़ (उड़ीसा)
२७९. श्री शांतिलाल जी अरुणकुमार जी धारीवाल	महामंदिर (जोधपुर)
२८०. श्री एम. रूपचन्द जी जैन	पेरम्बाकम (मद्रास)
२८१. श्री गेंदमलजी माणकचन्दजी नाहटा	बालाघाट (म. प्र.)
२८२. श्री उत्तमचंद जी राजेन्द्रकुमार जी मेहता	रानी स्टेशन (पाली)
२८३. श्री तेजराज जी रूपराज जी बम्ब	इचलकरंजी (महाराष्ट्र)
२८४. श्रीमती पारस चत्तर	कोटा (राज.)
२८५. श्री चम्पालाल जी गणपतराज जी नाबरिया	संपंगीनगर (बैंगलोर)
२८६. श्री रिधकरण जी मुरट	गौहाटी (आसाम)
२८७. श्री केवलचन्द जी कवरलाल जी जैन	आयनावरम (मद्रास)
२८८. श्री घीसूलाल जी चैनराजजी मकाणा	सिकन्द्राबाद (आ. प्र.)
२८९. श्री बछराज जी गुलाबचन्द जी पगारिया	धरणगांव (जलगांव)

२९०. श्री ढगलचन्द जी महावीरचन्द जी जैन	आरकोनम (मद्रास)
२९१. श्री फूलचन्दजी प्रकाशचन्दजी बाफणा	सिहावा (म. प्र.)
२९२. श्री सागरमल जी बाफणा	चिकपेठ क्रास (बेंगलोर)
२९३. श्री सोहनलाल जी तातेड़	चिकपेठ क्रास (बेंगलोर)
२९४. श्री राजुल इण्डस्ट्रीज़	चिकपेठ क्रास (बेंगलोर)
२९५. श्री कैलाश इलेक्ट्रिकल्स	चिकपेठ क्रास (बेंगलोर)
२९६. श्री जसवन्तराज जी लुणावत	चिकपेठ क्रास (बेंगलोर)
२९७. श्री चम्पालाल जी भेरूंलाल जी बोहरा	अटवड़ा (पाली)
२९८. श्री भंवरलाल जी हेमराज जी कोठारी	खांगटा (जोधपुर)
२९९. श्री हरकचन्द जी अमरचन्द जी कोठारी	खांगटा (जोधपुर)
३००. श्री नथमल जी सूरजमल जी कोठारी	खांगटा (जोधपुर)
३०१. श्रीमती मांगीबाई	कंटोरमेंट (बेंगलोर)
३०२. श्रीमती भारत बाई	कंटोरमेंट (बेंगलोर)
३०३. श्री जे. मदनलाल जी कांठेड़	पूनमली (मद्रास)
३०४. श्री भद्रेश जी आर. कोठारी	बम्बई (महाराष्ट्र)
३०५. श्री खेमचन्द जी सुराणा	साउकार पेठ (मद्रास)
३०६. श्री एम. रिखबचन्द जी कांकरिया	साउकार पेठ (मद्रास)
३०७. श्री श्रीकिशन जी भण्डारी	साउकार पेठ (मद्रास)
३०८. श्री बी. मोहनलाल जी मकाणा	पुदु पेठ (मद्रास)
३०९. श्री तेजराज जी रवीन्द्रकुमार जी मकाणा	डोडबालापुर (कर्णाटक)
३१०. श्री मोतीलाल जी नौरतमल जी चौपड़ा	उतकोटै (चिंगलपेठ)
३११. श्री रूपचन्द जी शांतिलाल जी कोठारी	रायचूर (कर्णाटक)
३१२. श्री एम. रिखबचन्द जी बोहरा	कोडम्बाकम् (मद्रास)
३१३. श्री चम्पालाल जी माणकचन्द जी गुलेच्छा	सिकन्द्राबाद (आ.प्र.)
३१४. श्री लालचन्द जी सोनी	भिलाई (म.प्र.)
३१५. श्री जेवन्तराज जी विजयराज जी बोहरा	जैतारण (पाली)
३१६. श्री रंगलाल जी रांका	वडपलनी (मद्रास)
३१७. श्री मानमल जी जगमोहन जी भण्डारी	हावेरी (धारवार)
३१८. श्री गजेन्द्रकुमार जी संपतराज जी मेहता	सोजत शहर (पाली)
३१९. श्री आर. जौहरीलाल जी गुगलिया	कोडम्बाकम् (मद्रास)
३२०. श्री सी. मूलचन्द जी जैन	वडपलनी (मद्रास)
३२१. श्री एम. देवीचन्द जी खींवसरा	चिक्कापालियम (बेंगलोर)
३२२. श्री प्रेमचन्द जी जैन	आर्काट रोड (मद्रास)
३२३. श्री वसन्तलाल जी मेहता	अहमदाबाद (गुजरात)
३२४. श्री मोतीलाल शांतिलाल एण्ड कम्पनी	लोनावला (पूना)

३२५. श्री चम्पालाल जी रांका	साउकारपेठ (मद्रास)
३२६. श्री ए. मोहनलाल जी लोढा	सिघनूर (कर्णाटक)
३२७. श्री मांगीलाल जी धर्मचन्द जी मूथा	वारासिवनी (म. प्र.)
३२८. श्री बुधराज जी सतीशचन्द जी झामड़	मेड़ता सिटी (नागौर)
३२९. श्री चम्पालाल जी ज्ञानचन्द जी कर्णावट	त्रिनगर (दिल्ली)
३३०. श्री फूलचन्दजी मदनलाल जी जैन	मैसूर (कर्णाटक)
३३१. श्री तेजराज जी जवरीलाल जी ललवाणी	रायपेठ (मद्रास)
३३२. श्री हीरालाल जी चेतन प्रकाश जी जैन	संपंगिरामानगर (बैंगलोर)
३३३. श्री बी. धर्मीचन्द जी जैन	पुदुपेठ (मद्रास)
३३४. श्री हीरालाल जी शान्तिलाल जी जैन	दोदमावली (बैंगलोर)
३३५. श्री टी. पी. पीचा	गोहाटी (आसाम)
३३६. श्री दिनेश एम. गाला	फरीदकोट (पंजाब)
३३७. श्री महावीरचंद जी श्रीश्रीमाल	बैंगलोर (कर्णाटक)
३३८. श्री कोमलचंद जी धोका	यादगिरी (कर्णाटक)
३३९. श्री मांगीलाल जी जवाहरलाल जी चोपड़ा	पीपाड़ शहर (जोधपुर)
३४०. श्री एस. रतनचंद जी चोरड़िया	साउकारपेठ (मद्रास)
३४१. श्री चन्दनमल जी बोहरा	जोधपुर (राज.)
३४२. श्री नवरतनमल जी रांका	जोधपुर (राज.)
३४३. श्री सूरजमल जी किशनलाल जी धारीवाल	चिकपेठ (बैंगलोर)
३४४. श्री आर. मोहनलाल जी जैन	वसंतनगर (बैंगलोर)
३४५. श्री पूपराज जी कांकरिया	टंगला (आसाम)
३४६. श्री श्रीलालजी अर्जुनशाह	बम्बई (महाराष्ट्र)
३४७. श्री रेखचंद जी हस्तीमल जी चोरड़िया	नागौर (राज.)
३४८. श्री मदनलाल जी सिघवी	साउकारपेठ (मद्रास)
३४९. श्री मूलचंद जी तनसुखचद जी बोहरा	दुर्ग (म. प्र.)
३५०. श्री लालचंद जी मूथा	साउकारपेठ (मद्रास)
३५१. श्री सी. धर्मीचन्द जी जैन	मद्रास (तामिलनाडु)
३५२. श्री जेठमल जी चौपड़ा	जोधपुर (राज.)
३५३. श्री धर्मचंदजी बाघमार	मद्रास (तामिलनाडु)
३५४. श्री छगनलाल जी जैन	देवकर (म. प्र.)
३५५. श्री चाँदमल जी मेहता	जोधपुर (राज.)
३५६. श्री रतनचन्द जी गौतमचन्द जी श्रीश्रीमाल	धमतरी (म. प्र.)
३५७. श्री प्रसन्नकुमारजी कवरलालजी जैन	भंडारा (महाराष्ट्र)
३५८. श्री शांतिलाल जी पदमचन्द जी ललवाणी	पाली (राज.)
३५९. श्री दलीचन्द जी भागचन्द जी बाफणा	नासिक रोड (महाराष्ट्र)
३६०. श्री शांतिलाल जी टाटिया	घाटकोपर (बम्बई)
३६१. श्री दिलीपकुमार जी लूंकड़	कुम्बारपेठ (बैंगलोर)
३६२. श्री केसरीमल जी छाजेड़	बलाड़ा (पाली)
३६३. श्री हीराचंदजी फतेचंदजी कटारिया	कामराज रोड (बैंगलोर)
३६४. श्रीयुत सुमनलता जैन	जोधपुर (राज.)
३६५. श्री मांगीलाल जी चम्पालाल जी गोटावत	बैंगलोर (कर्णाटक)
३६६. श्री सुखलाल जी पारसमल जी लोढ़ा	बैंगलोर (कर्णाटक)
३६७. श्री वैताला एन्टर प्राइजेज	एम. सी. रोड (मद्रास)

श्री अ.भा. भूधर जैन सांस्कृतिक कला मंच के सदस्य

प्रमुख स्तम्भ

१. श्री लूणकरण जी नाहर	बैंगलोर (कर्णाटक)
२. श्री कंवरलाल जी धर्मचन्द जी बैताला	गोहाटी (आसाम)

स्तम्भ

१. श्री पुखराज जी बाघमार	साउकारपेठ (मद्रास)
२. श्री पूसालाल जी उत्तमचन्द जी लुणावत	सिकन्द्राबाद (आ. प्र.)

आजीवन

१. श्री सुखपालचन्द जी मेहता	जोधपुर (राज.)
२. श्री पदमचन्द जी कांकरिया	जोधपुर (राज.)
३. श्री प्रकाशमल जी भंसाली	जोधपुर (राज.)
४. श्री संजयकुमार जी कांकरिया	जोधपुर (राज.)
५. श्री पदमचन्द जी कोचर	जोधपुर (राज.)
६. श्री चन्दनमल जी कोठारी	जोधपुर (राज.)
७. श्री गजेन्द्रकुमार जी मेहता	सोजतसिटी (पाली)
८. श्री महेन्द्रकुमार जी लोढ़ा	जोधपुर (राज.)
९. श्री कमलचन्द जी कांकरिया	बल्लारी (कर्णाटक)
१०. श्री रणजीतमल जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
११. श्री महावीरचन्द जी सांखला	जोधपुर (राज.)
१२. श्री चंचलकुमार जी बोथरा	चांगोटोला (म. प्र.)
१३. श्री अशोककुमार जी लोढ़ा	सोजतसिटी (पाली)
१४. श्री अमृत जी ललवाणी	जोधपुर (राज.)
१५. श्री पदमचन्द जी मूणोत	नागपुर (महाराष्ट्र)
१६. श्री गौतमचन्द जी ललवाणी	जोधपुर (राज.)

श्री अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ के सदस्य

विशेष सहयोगी

१. श्री एम. बस्तीमल जी बोकडिया	सैदापेठ (मद्रास)

सहयोगी

१. श्री पन्नालाल जी बोथरा	चांगोटोला (म. प्र.)
२. श्री देवराज जी बोहरा	आयनावरम (मद्रास)
३. श्री लूणकरण जी सोनी	भिलाई (म. प्र.)

आजीवन

१. श्री भंवरलाल जी तातेड़	रायपुर (मारवाड़)
२. श्री पारसमल जी सांखला	मैसूर (कर्णाटक)
३. श्री चम्पालाल जी बोहरा	झूंठा (पाली)
४. श्री मंगलचन्द जी पगारिया	रायपुर (मारवाड़)
५. श्री मांगीलाल जी चोपड़ा	पीपाड़ शहर (जोधपुर)
६. श्री नेमिचन्द जी छाजेड़	वडाला (बम्बई)
७. श्री अम्बालाल जी नावरिया	जवाजा (ब्यावर)
८. श्री मोहनलाल जी पगारिया	रायपुर (मारवाड़)
९. श्री हिम्मतमल जी मोहनोत	बली (उदयपुर)
१०. श्री रामलाल जी सांखला	राजनांद गाँव (म.प्र.)
११. श्री मूलचन्द जी चोरड़िया	राजनांद गांव (म. प्र)
१२. श्री पूसालाल जी लूणावत	सिकन्द्राबाद (आ. प्र.)
१३. श्री माणकचन्द जी ओस्तवाल	तिन्नानूर (मद्रास)
१४. श्री किशनलाल जी मकाणा	डोडबालापुर (कर्णाटक)
१५. श्री भंवरलाल जी लोढ़ा	मद्रास (तामिलनाडु)
१६. श्रीमती सूरज बाई लोढ़ा	नागोर (राज.)

१७. श्री जंवरीलाल जी बोहरा	पेरम्बुर (मद्रास)
१८. श्री भीमसिंह जी लोढ़ा	कलकत्ता (प. बंगाल)
१९. श्री मदनलाल जी गोटावत	बेंगलोर (कर्णाटक)
२०. श्री मोतीलाल जी लोढ़ा	सोजतशहर (पाली)
२१. श्री माणकलाल जी गोटावत	सोजतशहर (पाली)
२२. श्री हस्तीमल जी कांसवा	सोजतशहर (पाली)
२३. श्री जवाहरलाल जी गोटावत	बेंगलोर (कर्णाटक)
२४. श्री चैनराज जी गोटावत	बेंगलोर (कर्णाटक)
२५. श्री भंवरलाल जी गोटावत	बेंगलोर (कर्णाटक)
२६. श्री भेरूंमल जी झाम्बड़	सोजतशहर (पाली)
२७. श्री रामलाल जी रुणीवाल	जवाजा (अजमेर)
२८. श्री रणजीतमल जी मरलेचा	पल्लावरम् (मद्रास)
२९. श्री अनराज जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
३०. श्री गुलाबचन्द जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
३१. श्री सुमेरमल जी लूंकड़	जोधपुर (राज.)
३२. श्री पन्नालाल जी संचेती	जोधपुर (राज.)
३३. श्री छोटमल जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
३४. श्री जंवरीलाल जी चाम्बड़	जोधपुर (राज.)
३५. श्री सज्जनराज जी करणावट	अरटिया कलां (जोधपुर)
३६. श्री चम्पालाल जी गोटावत	बेंगलोर (कर्णाटक)
३७. श्री जंवरीलाल जी मेहता	सोजतशहर (पाली)
३८. श्री धर्मीचन्द जी मकाणा	डोडबालापुर (कर्णाटक)
३९. श्री चन्दनमल जी कोठारी	जोधपुर (राज.)
४०. श्री पन्नालाल जी सुराणा	साउकार पेठ (मद्रास)
४१. श्री जंवरीलाल जी जांगड़ा	रायपुर (मारवाड़)
४२. श्री तेजमल जी सांड	रायपुर (म. प्र.)
४३. श्री प्रकाशचन्द जी बोकड़िया	ब्यावर (अजमेर)
४४. श्रीमती पार्वती बाई बोथरा	चांगोटोला (म. प्र.)
४५. श्री पुखराज जी लोढ़ा	मल्लेश्वरम् (बेंगलोर)
४६. श्री भंवरलाल जी कोठारी	ब्यावर (अजमेर)
४७. श्री वीरसेन जी मुणोत	अमरावती (महाराष्ट्र)
४८. श्री मूलचन्द जी चोरड़िया	मैलापुर (मद्रास)
४९. श्री एस. धर्मीचन्द जी ओस्तवाल	माउण्ट रोड (मद्रास)
५०. श्री खेमचन्द जी वैद मूथा	बिजनी (आसाम)
५१. श्री ढ़गलचन्द जी सकलेचा	आरकोनम् (मद्रास)
५२. श्री हस्तीमल जी भण्डारी	पीपाड़शहर (जोधपुर)
५३. श्री नोरतमल जी जैन	बेंगलोर (कर्णाटक)
५४. श्री एस. भीकमचन्द जी गादिया	तिरुवल्लूर (मद्रास)
५५. श्री भंवरलाल जी श्रीश्रीमाल	मल्लेश्वरम् (बेंगलोर)
५६. श्री शांतिलाल जी बोहरा	भटिण्डा (पंजाब)
५७. श्रीमती नीलम बोहरा	भटिण्डा (पंजाब)
५८. श्री शांतिलाल जी बोकड़िया	बम्बई (महाराष्ट्र)
५९. श्री नवरतनमल जी डूंगरवाल	पुरुषवाकम् (मद्रास)
६०. श्री मंगलचन्द जी कोठारी	नंदूरबार (महाराष्ट्र)

६१. श्री लादुलाल जी वैताला	टंगला (आसाम)
६२. श्री शांतिलाल जी सांखला	तिरुवल्लूर (मद्रास)
६३. श्री ताराचन्द जी सकलेचा	रायपेठ (मद्रास)
६४. श्री नेमिचन्द जी खीचा	अलमूर (बैंगलोर)
६५. श्री पन्नालाल जी लूंकड़	बीजापुर (म. प्र.)
६६. श्री पदमचन्द जी सुराणा	हवड़ाघाट (आसाम)
६७. श्री चम्पालाल जी मुणोत	नागपुर (महाराष्ट्र)
६८. श्री पुखराज जी बोहरा	देवरिया (पाली)
६९. श्री जवरचन्द जी बोकड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)
७०. श्री भंवरलाल जी वैताला	डेह (नागोर)
७१. श्री पूसराज जी कांकरिया	टंगला (आसाम)
७२. श्री नेमिचन्द जी चोरड़िया	नागोर (राज.)
७३. श्री दीपचन्द जी नाहटा	नागोर (राज.)
७४. श्री रूपचन्द जी भूरट	फरड़ोद (नागोर)
७५. श्री भंवरलाल जी ललवाणी	नागोर (राज.)
७६. श्री मदनलाल जी वैताला	नागोर (राज.)
७७. श्री प्रसन्नमल जी चोरड़िया	नागोर (राज.)
७८. श्री लालचन्द जी मूथा	साउकार पेठ (मद्रास)
७९. श्री सोहनराज जी संचेती	कांचीपुरम
८०. श्री प्यारेलाल जी चौपड़ा	अमरावती (महाराष्ट्र)
८१. श्री केवलमल जी मेहता	जोधपुर (राज.)
८२. श्री गौतमचन्द जी कांकरिया	साउकार पेठ (मद्रास)
८३. श्री पारसराज जी मोहनोत	जोधपुर (राज.)
८४. श्री भीवराज जी वाघचार	कुचेरा (नागोर)
८५. श्री पारसमल जी भुरट	कुचेरा (नागोर)
८६. श्री प्रसन्नचन्द जी नाहर	कुचेरा (नागोर)
८७. श्री फकीरचन्द जी श्रीश्रीमाल	कुचेरा (नागोर)
८८. श्री पारसमल जी बोकड़िया	साउकार पेठ (मद्रास)
८९. श्री चम्पालाल जी वाघमार	कुचेरा (नागोर)
९०. श्री महावीरचन्द जी वैताला	डेह (नागोर)
९१. श्री घीसूलाल जी बोहरा	नागोर (राज.)
९२. श्री मदनलाल जी सिंघवी	साउकार पेठ (मद्रास)
९३. श्री कचरूलाल जी बोगावत	पाण्डरकवड़ा (महाराष्ट्र)
९४. श्री तखतमल जी भंसाली	जोधपुर (राज.)
९५. श्री जवाहरलाल जी चौपड़ा	अमरावती (महाराष्ट्र)
९६. श्री एल. नरेन्द्रकुमार जी मरलेचा	रायपुरम (मद्रास)
९७. श्री नेमीचन्द जी मूथा	मद्रास (तामिलनाडु)
९८. श्री जसवन्तराज जी लोढ़ा	मद्रास (तामिलनाडु)
९९. श्री सम्पतराज जी बोहरा	साउकार पेठ (मद्रास)
१००. श्री रिखबचन्द जी सिंघवी	ट्रिप्लीकेन (मद्रास)
१०१. श्री उत्तमचन्द जी बोहरा	मांदिवली (महाराष्ट्र)

—सचिव; संघ-कार्यालय
ब्यावर–३०५९०१

चित्र-परिचय

श्री अखिल भारतीय श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ
एवं
तत्संबंधित अन्य समस्त संस्थाओं के

विशिष्ट सहयोगी व कर्मठ कार्यकर्त्ता

श्री बी. लालचंद जी मरलेचा
रायपुरम् (मद्रास)

स्व. श्री मांगीलाल जी गोटावत
सोजत शहर (पाली)

श्री गुलाबचंद जी मुणोत
ब्यावर (अजमेर)

श्री अम्बालाल जी नाबरिया
जवाजा (अजमेर)
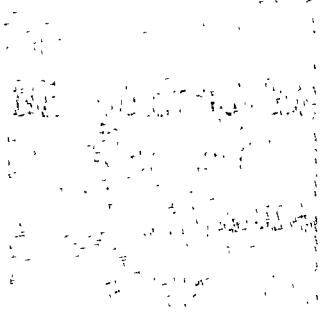
श्री पन्नालाल जी संचेती
सरदार मार्केट (जोधपुर)

श्री चम्पालाल जी बागरेचा
ऊपरलावास (जोधपुर)

श्री गणपतमल जी धारीवाल
महामन्दिर (जोधपुर)

श्री सरदारमल जी भंसाली
शांतिपुरा (जोधपुर)
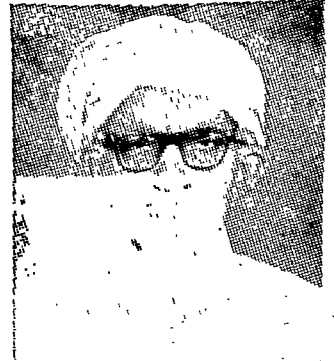
श्री पृथ्वीराज जी मुणोत
जोधपुर (राज.)
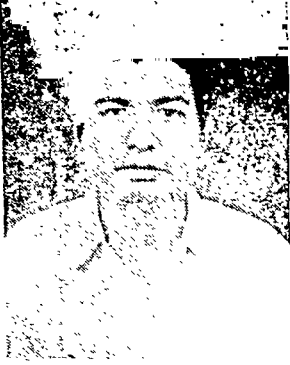
श्री सुगालचंदजी सिंघवी
टी.एच. रोड (मद्रास)

श्री पन्नालालजी सुराणा
साउकार पेठ (मद्रास)

श्री लूणकरण जी सोनी
भिलाई (म. प्र.)

श्री मांगीलालजी चौंपड़ा
पीपाड़ शहर (जोधपुर)
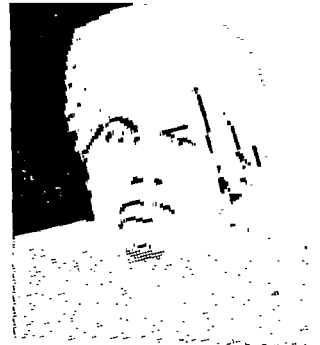
श्री भंवरलालजी तातेड़
रायपुर (मारवाड़)

श्री दुलराज जी रुणीवाल
जवाजा (अजमेर)

श्री प्रकाशचंद जी चोकड़िया
ब्यावर (राज.)

श्री भंवरलाल जी सांखला
ब्यावर (राज.)
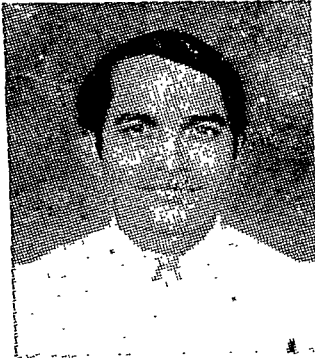
श्री पुखराज जी बाघमार
साउकार पेठ (मद्रास)

श्री अशोककुमार जी धारीवाल
महामन्दिर (जोधपुर)

श्री पन्नालाल जी बोथरा
चांगोटोला (म प्र.)

श्री लालचन्द जी श्रीश्रीमाल
ब्यावर (राज.)
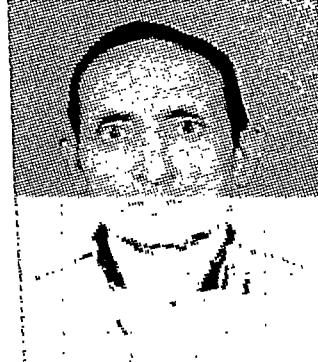
श्री देवराज जी छाजेड़
ब्यावर (राज.)

श्री पारसमल जी लूंकड़
डागा बाजार (जोधपुर)

श्री पुसालाल जी कोठारी
खांगटा (जोधपुर)

स्व. श्रीयुत इंदिरादेवी बैंगाणी
लाडनूं (नागौर)
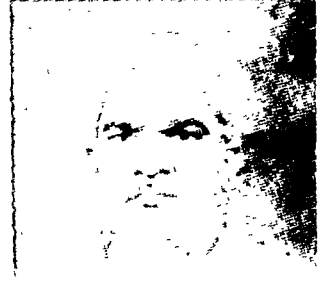
श्री भेरूंदान जी बैंद
लाडनूं (हा. मु. कलकत्ता)

श्री अमीचन्द जी बैंद
लाडनूं (हा. मु. कलकत्ता)

श्री बगसुलाल जी बैंताला
डेह (नागौर)

पं. श्री सूर्यनारायण जी शास्त्री
दूधवा (झुंझनूं)

स्व. श्री माणकलाल जी गोटावत
सोजत शहर (पाली)

स्व. श्री चांदमल जी जांगड़ा
रायपुर (मारवाड़)

स्व. श्री गजराज जी समदड़िया
नानणा (पाली)

स्व. श्री घेवरचंद जी समदड़िया
नानणा (पाली)
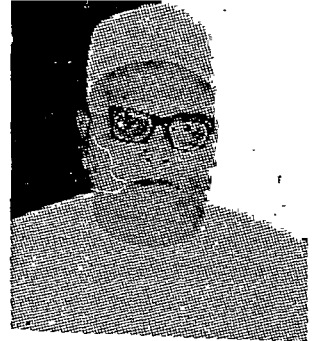
स्व. श्री फूलचंद जी मूथा
पीपाड़ शहर (जोधपुर)

श्री हस्तीमल जी रूणवाल
कुचेरा (नागौर)

श्री बाबुलाल जी मकाणा
हाजीवास (पाली)

श्री पदमचंद जी कांकरिया
जोधपुर (राज.)
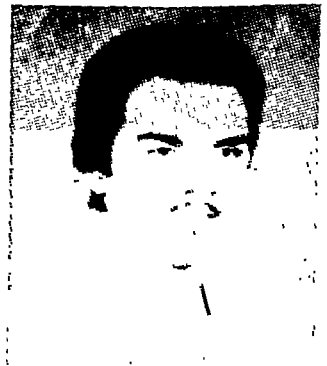
श्री प्रकाशमल जी भंसाली
जोधपुर (राज.)

जीत अभिनन्दन ग्रन्थ के अर्थ-सहयोगी

१. श्रीमान् चैनमल जी सुराणा—मद्रास

कुचेरा निवासी सुश्रावक श्रीमान् भेरू'मल जी सुराणा, जिनकी धर्मपत्नी थी श्रीमती सजनीबाई। श्रीयुत सजनीबाई सन्नारी के गुणों से अलंकृत सज्जन-प्रकृति की महिला थी। संसार-पक्ष में वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री जीतमल जी म. सा. की बहन थी। इन्हीं सजनीबाई की कुक्षि से लगभग ५० वर्षो पूर्व एक होनहार बालक का जन्म हुआ। माता-पिता ने बालक का नाम रखा—चैनमल।

व्यावसायिक प्रतिभा जागृत होते ही श्री चैनमल जी चले आए दक्षिण-प्रान्त के मद्रास नगर की ओर। प्रान्तीय भाषा आदि का शिक्षण प्राप्त कर शीघ्र ही मद्रास में आपने अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। आज श्री चैनमल जी की गणना मद्रास के चोटी के व्यवसायियों में है। लक्ष्मी की आप पर अपार कृपा है। "श्री लक्ष्मी सिल्क स्टोर" आप ही का ख्याति-प्राप्त व्यावसायिक प्रतिष्ठान है।

धार्मिक-सामाजिक कार्यक्रमों में आप युवावस्था से ही रुचिशील रहे हैं। उस समय जब आपके पास व्यवसाय प्रारम्भ करने जैसी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति नहीं थी तब भी आप धर्म के प्रति श्रद्धावान थे और आज आप लक्षाधिपति से कोटिपति बनने की तैयारी में हैं तब भी आपकी धर्मध्यान के प्रति वही दृढ़ श्रद्धा, वही उच्च भावना एवं वही तीव्र रुचि है।

आचार्य प्रवर के प्रति आप विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति का भाव रखते हैं एवं जय-संघ की प्रगति में पर्याप्त रुचि लेते हैं। आपके तीनों सुपुत्र—श्री लूणकरण जी, श्री गौतमचन्द जी एवं श्री हस्तीमल जी व्यवसाय में अपने पिता के सहयोगी हैं तथा सभी उदारचेता व धर्म के प्रति श्रद्धालु हैं। तीन शीलवती सुपुत्रियां भी हैं—श्रीयुत पुष्पा, मंजु एवं सन्तोष। सारा परिवार आचार्य-श्री के प्रति अनुरक्त एवं धार्मिक प्रवृत्ति-युक्त है।

दिन-प्रतिदिन धर्म व अध्यात्म की जागृति वर्द्धमान रहे एवं बढ़ती हुई लक्ष्मी का सदुपयोग आपके कर-कमलों से होता रहे—यही मंगल-भावना है।
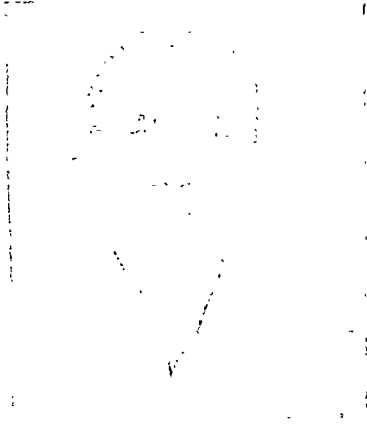
श्री पन्नालाल जी बोथरा
चांगोटोला (म. प्र.)
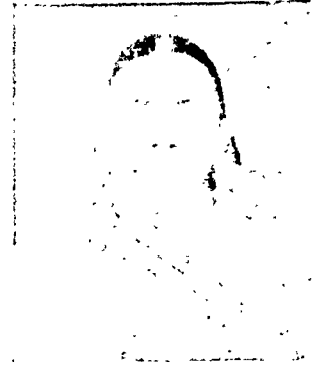
श्रीमती पुष्पादेवी बोथरा
W/o श्री पन्नालाल जी

वीर-प्रसविनी मरुधरा का नगीना नागौर है आपका जन्म-स्थल। स्व. सेठ श्रीमान् लूणकरण जी बोथरा के हैं आप सुपुत्र। कटंगी (बालाघाट) निवासी श्रीमान् पूसालाल जी सुराणा की सुपुत्री सौ. पुष्पादेवी से वि. सं. २०१० में १७ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण हुआ। पुष्पादेवी आचार्य-प्रवर की संसार-पक्ष में भाणजी होती हैं। दोनों दम्पति आचार्य-प्रवर के प्रति अटूट-श्रद्धाशील हैं। सारा परिवार आपका धर्म के प्रति श्रद्धावान एवं देव-गुरु के प्रति अपार भक्तिशील है। सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं प्रत्याख्यान आदि धार्मिक संस्कार आप सबको मानो विरासत में मिले हुए हैं।

आपके छह सुपुत्र तथा दो सुपुत्रियां हैं। सुपुत्रों के नाम हैं—(१) श्री भागचन्द (२) श्री शिखरचन्द (३) श्री गौतमचन्द (४) श्री स्वरूप कुमार (५) श्री चञ्चलकुमार एवं (६) श्री पदमकुमार। सुपुत्रियों के नाम हैं— श्रीयुत कान्ता व सुश्री संगीता।

आपने अपने लकड़ी के व्यवसाय में नीतिपूर्वक धनार्जन हेतु सदैव सजगता बरती है। यही कारण है कि आप धनार्जन के क्षेत्र में दिनोदिन उन्नत बनते जा रहे हैं। अर्जित धन का धार्मिक व सामाजिक कार्यों के लिए सदुपयोग आप खुलकर करते आ रहे हैं।

श्री अ. भा. श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ एवं तत्संबंधी अन्य सभी संस्थाओं में आपका समुचित सहयोग स्वतः मिलता रहता है। किस संस्था में कितनी जरूरत है? संस्थाएँ प्रगतिशील हैं या नहीं? कौन-कौन-सी संस्थाओं की ओर से कितनी प्रवृत्तियां चल रही हैं? आदि सारी जानकारी जब भी आप मारवाड़ गुरु-दर्शनार्थ पधारते हैं तो करते रहते हैं और यथाशक्ति प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ सहयोग देते हैं।

आपका व्यवसाय-निमित्त अभी काफी वर्षों से चांगोटोला (नागरवाड़ा) म. प्र. निवास-स्थान बना हुआ है। व्यवसाय आपका फले-फूले एवं आपकी धार्मिक व सामाजिक कार्यों में सहयोग की लगन अभिवृद्ध रहे, यही सदाकांक्षा है।

३. श्री कस्तूरचंद जी सुराणा—कटंगी

आज इस जय-संघ की युवाशक्ति के प्रेरणास्रोत, इतिहास-प्रेमी एवं सुलेखक श्री पार्श्व मुनिवर की दीक्षा हुई थी कटंगी (बालाघाट) में। उनके इस दीक्षा-समारोह का यथाशक्ति व्यय-भार उठाने के साथ ही समारोह के आयोजन में सक्रिय भाग लेने व प्रत्येक कार्य में अग्रणी रहने के लिए विशेष साधुवाद के पात्र रहे—श्रीयुत पुसालाल जी सुराणा। श्रीयुत सुराणा जी की धर्मपत्नी श्रीमती किसनीबाई संसार-पक्ष में आचार्यप्रवर की बहन है।

श्री कस्तूरचंद जी सुराणा इन्हीं पुण्यशाली श्री पूसालाल जी के सुपुत्र हैं। आपका अपना कपड़े का व्यवसाय है, जिसे अपने बुद्धि-कौशल, मृदु-व्यवहार एवं नैतिक आचरण के बल पर आपने उत्तरोत्तर बढ़ाया है। लक्ष्मी आपके चरणों की चेरी है। धन-सम्पत्ति के विशाल अम्बार पर बैठकर भी अभिमान आपसे दूर ही है। जयसंघ, जैनधर्म तथा आचार्य-श्री के प्रति आपकी समर्पित भावना है।

आपके चार सुपुत्र हैं—(१) श्री पुखराज जी, (२) श्री जयचन्द जी, (३) श्री प्रदीपकुमार जी एवं (४) श्री राजेशकुमार जी। दो भाग्यशालिनी पुत्रियां भी हैं आपके।

आपके व्यवसाय का क्षेत्र बालाघाट भी है और कटंगी भी। दोनों जगह आपके व्यावसायिक संस्थान हैं। अपने अर्जित धन का समय-समय पर धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के लिए आप सदुपयोग करते रहे हैं। आपकी धर्म-रुचि को देखते हुए हमारी कामना है कि आपका व्यवसाय दिन-प्रतिदिन प्रगति करे जिससे संघ व समाज को आपकी उदार-भावना का उचित लाभ मिलता रहे।

श्री लूणकरण जी नाहर उदारमना, गुप्तदानी व निरभिमानी होने के साथ ही सहृदय, मिलनसार तथा भावुक भी हैं। गुरुदेव आचार्य प्रवर के प्रति आप विशेष प्रतीति-भाव रखते हैं। जय-सम्प्रदाय की गतिविधियों को सुचारु रूपेण प्रगति देने के लिए आपका सहयोग सदैव मिलता रहता है।

लखनऊ (उ. प्र.) में आप वर्षों से व्यवसाय-रत हैं। ज्यों-ज्यों अर्जित धन का सदुपयोग कर रहे हैं, त्यों-त्यो आप व्यावसायिक क्षेत्र में वृद्धिगत हो रहे हैं। आपके लघुभ्राता श्रीयुत सरदारमल जी, श्री रोशनलाल जी आदि भी सज्जन-प्रकृति के धनी हैं एवं अपने अग्रज भ्राता के साथ व्यावसायिक सहयोग में संलग्न हैं।

श्रीमान् लूणकरण जी नाहर अपनी जन्मभूमि मारवाड़ (राजस्थान) की हर एक धार्मिक, सामाजिक गतिविधियों में जिस तरह उदारता वरतते हैं उसी तरह व्यवसाय-भूमि लखनऊ (उत्तर प्रदेश) में भी ऐसी सत्प्रवृत्तियों के प्रति विशेष रुचिशील रहते हैं एवं हर एक सत्कार्य में अग्रणी होकर भाग लेते हैं।

जय-सम्प्रदाय व जैन समाज की प्रगति के लिए भविष्य में भी तन-मन-धन से आपका सहयोग इसी तरह बना रहे, यही सदाकांक्षा है।

---

१. श्री डालमचन्द बैंगाणी (दीक्षा-नाम : नूतनमुनि जी म.)

स्व. श्री मिश्रीमल जी चोरड़िया
बेंगलोर (कर्नाटक)

मारवाड़ में खजवाणा निवासी श्री तेजमल जी के सुपुत्र श्री मिश्रीमल जी चोरड़िया जहां एक ओर बहुत अच्छे व्यवसायी थे, वहीं दूसरी ओर वे धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देने वाले, नीतिवान् एवं श्रद्धावान् पुरुष थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रतनबाई बहुत ही सरल-प्रकृति की भद्रमहिला हैं, आचार्य-प्रवर की अनन्य भक्त हैं और आज भी जय-सम्प्रदाय व जैन समाज के विकास हेतु अपनी क्षमतानुसार सहयोग की भावना रखती हैं।

स्व. श्री मिश्रीमल जी के पांच सुपुत्र एवं चार सुपुत्रियां हैं। सबसे बड़े श्री सूरजमल जी को धर्म-ध्यान की रुचि है, श्री पन्नालाल जी एक अच्छे एवं सुप्रसिद्ध कार्यकर्त्ता हैं। राजस्थान से जब कभी कोई प्रतिनिधिमंडल आर्थिक सहयोगार्थ दक्षिण जाता है तो बेंगलोर क्षेत्र में आप उनके साथ रहकर, फिरकर सहयोग करते हैं। कर्णाटक स्वाध्याय-मंडल के भी आप उत्साही कार्यकर्त्ता हैं।

श्री अमरचन्द जी चोरड़िया सजग सामाजिक-कार्यकर्त्ता हैं। धर्म में आपकी बहुत ही अच्छी रुचि है। अर्जित धन का धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में सदुपयोग कर सुयश के भागी बनना आपको पसन्द है। आचार्यप्रवर के प्रति अत्यधिक श्रद्धा एवं निष्ठा है। संत-सती-वृन्द की सेवा में अवसर आने पर समय देते हैं। श्री मदनलाल जी व श्री रिखबचंद जी धार्मिक व सामाजिक कार्यों में सहयोग देते रहते हैं। सरदारबाई, कमलादेवी, गणेशीबाई तथा विमलादेवी चारों ही सौभाग्यवती, सुशील पुत्रियां हैं। श्री मिश्रीमल जी की चारों ही सुपुत्रियाँ धर्म के प्रति रुचि वाली हैं।

चोरड़िया-परिवार की आचार्यप्रवर के प्रति अटूट श्रद्धा बनी रहे, उसमें वृद्धि हो तथा संघ व समाज आपके द्वारा लाभान्वित होता रहे। इसी कामना के साथ ....।

७. श्री गणपतमल जी धारीवाल–महामंदिर

राजस्थान की सूर्यनगरी जोधपुर का एक उपनगर महामन्दिर। इसी उपनगर में स्व. सुश्रावक श्री चन्दनमल सा धारीवाल के सुपुत्र हैं—श्री गणपतमल सा धारीवाल। पेशे से राज्य-शिक्षा-सेवा में अध्यापक। शैक्षणिक योग्यता—एम.ए., बी.एड.। ससुराल है—सोजतशहर के श्री कालूमल जी कोचर मेहता के यहाँ।

सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक कार्यों में विशेष रुचि। सेवा एवं श्रम के लिए समाज में प्रतिष्ठित। गत छह वर्षों से महामन्दिर-जैन समाज की कार्यकारिणी के सजग, सक्रिय सदस्य। महामंदिरीय श्री वर्द्धमान उ. प्रा. विद्यालय नामक शिक्षण-संस्थान की कार्यकारिणी के संयोजक व निरीक्षक-समिति के भी सदस्य। धर्मध्यान के प्रति अच्छा सम्मान। व्रत-नियम, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओं में नियमित बनने की ओर प्रयत्नशील। संत-सेवार्थ तत्परता एवं गुरुदेव आचार्य-प्रवर के प्रति विशेष समर्पणता। समय-समय पर 'जय गुञ्जार', 'नूतन ज्ञान कोष' आदि साहित्यिक संस्थाओं को आप द्वारा आर्थिक सहयोग मिलता रहा है। अमर-बकरों एवं सांडियों की देखरेख का उत्तरदायित्व आपने स्वतः ले रखा है। जीव-दया आपके हृदय का स्रोत है।

आपके चार सुपुत्र हैं—१. श्री सुरेन्द्रचन्द्र २. श्री अशोकचन्द्र ३. श्री अनिलचन्द्र एवं ४. श्री गौतमचन्द्र। इनमें प्रथम दो जालोर में ग्रेनाइट की अपनी निजी फैक्ट्री में कार्यरत हैं। उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए व्यवसाय की व्यस्तता में से समय निकाल कर आप दोनों भाई सामाजिक कार्यों में भी अपना सक्रिय सहयोग करते रहते हैं। लायन्स क्लब, जेसीज आदि के सम्माननीय सदस्य हैं। श्री अनिल जोधपुर में ही फैक्ट्री प्रबन्धक हैं तथा लियो क्लब के उपाध्यक्ष हैं। पुत्री श्रीमती आनन्दकंवर विवाहित हैं एवं धर्म के प्रति जागृत हैं।

इस प्रकार श्री गणपतमल सा का पूरा परिवार धर्मानुरक्त एवं सत्संस्कारों की सौरभ से युक्त हैं।

७. श्री गणपतमल जी धारीवाल–महामंदिर

राजस्थान की सूर्यनगरी जोधपुर का एक उपनगर महामन्दिर। इसी उपनगर में स्व. सुश्रावक श्री चन्दनमल सा धारीवाल के सुपुत्र हैं—श्री गणपतमल सा धारीवाल। पेशे से राज्य-शिक्षा-सेवा में अध्यापक। शैक्षणिक योग्यता—एम.ए., बी.एड.। ससुराल है – सोजतशहर के श्री कालूमल जी कोचर मेहता के यहाँ।

सामाजिक, शैक्षणिक एवं धार्मिक कार्यों में विशेष रुचि। सेवा एवं श्रम के लिए समाज में प्रतिष्ठित। गत छह वर्षों से महामन्दिर-जैन समाज की कार्यकारिणी के सजग, सक्रिय सदस्य। महामंदिरीय श्री वर्द्धमान उ. प्रा. विद्यालय नामक शिक्षण-संस्थान की कार्यकारिणी के संयोजक व निरीक्षक-समिति के भी सदस्य। धर्मध्यान के प्रति अच्छा सम्मान। व्रत-नियम, सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओं में नियमित बनने की ओर प्रयत्नशील। संत-सेवार्थ तत्परता एव गुरुदेव आचार्य-प्रवर के प्रति विशेष समर्पणता। समय-समय पर 'जय गुञ्जार', 'नूतन ज्ञान कोष' आदि साहित्यिक संस्थाओं को आप द्वारा आर्थिक सहयोग मिलता रहा है। अमर-बकरों एवं सांडियों की देखरेख का उत्तरदायित्व आपने स्वतः ले रखा है। जीव-दया आपके हृदय का स्रोत है।

आपके चार सुपुत्र हैं—१. श्री सुरेन्द्रचन्द्र २. श्री अशोकचन्द्र ३. श्री अनिलचन्द्र एवं ४. श्री गौतमचन्द्र। इनमें प्रथम दो जालोर में ग्रेनाइट की अपनी निजी फैक्ट्री में कार्यरत हैं। उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए व्यवसाय की व्यस्तता में से समय निकाल कर आप दोनों भाई सामाजिक कार्यों में भी अपना सक्रिय सहयोग करते रहते हैं। लायन्स क्लब, जेसीज आदि के सम्माननीय सदस्य हैं। श्री अनिल जोधपुर में ही फैक्ट्री प्रबन्धक हैं तथा लियो क्लब के उपाध्यक्ष हैं। पुत्री श्रीमती आनन्दकंवर विवाहित हैं एवं धर्म के प्रति जागृत हैं।

इस प्रकार श्री गणपतमल सा का पूरा परिवार धर्मानुरक्त एवं सत्संस्कारों की सौरभ से युक्त हैं।

श्री बादलचन्द जी व श्री जुगराज जी, इन दोनों युगल-भ्राताओं को धार्मिक लगन ने समाज को शीघ्र ही आकर्षित किया। आपके मानवीय गुणों से इन्दौर, मद्रास व राजस्थान का जैन-समाज विशेष रूप से लाभान्वित हुआ है। सामाजिक कार्यों में आपकी रुचि विकासशील है।

व्यवसाय-क्षेत्र में आपकी नैतिकता, स्पष्टवादिता एवं सत्यनिष्ठा ने आपके व्यवसाय को प्रगति ही नहीं दी अपितु उच्च व्यवसायियों में प्रमुख स्थान भी दिलाया है। इन्दौर में आपके दाल-मिल है तथा मद्रास में आप फायनेन्स-व्यवसाय में कार्यरत हैं।

जिनशासन एवं जयगच्छ के प्रति आप पूर्णतः समर्पित हैं। तन-मन-धन से यथेष्ट सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ-प्रकाशन में आपका द्रव्य-सहयोग निश्चय ही आपकी उदारता-वृत्ति का परिचायक हैं।

९. श्री जौहरीमल जी कटारिया—महामन्दिर

महामन्दिर (जोधपुर) निवासी सुश्रावक श्रीयुत मिश्रीमल जी कटारिया के सुपुत्र श्री जोहरीमल जी कटारिया जैन-समाज, महामन्दिर एवं सादड़ी के जाने-माने कार्यकर्त्ता हैं। स्वयं श्री मिश्रीमल जी की धर्म के प्रति अच्छी रुचि थी। सामायिक, स्वाध्याय एवं प्रतिक्रमण आप नित्य करते थे। श्री जौहरीमल जी तथा उनकी श्रीमती जी भी धर्म के प्रति अच्छा समादर-भाव रखते हैं एवं तपस्या करने में अग्रणी रहते हैं।

आपके दो भ्राता हैं—अग्रज श्री सम्पतराज जी एवं अनुज श्री सोहनराज जी। ये दोनों भ्राता भी धर्मप्रेमी सुश्रावक हैं। पूरा परिवार आचार्य-श्री के प्रति पूर्ण श्रद्धालु हैं। श्री जौहरीमल जी के दो सुपुत्र हैं—श्री धनपत एवं श्री अशोक। दोनों ही धार्मिक शिक्षा व सामाजिक कार्यों में उत्साह रखते हैं।

उदार-मनोवृत्ति के धनी श्री कटारिया जी उन्नति-पथ पर अग्रसर रहें—यही सत्कामना है।

१०. श्रीमती सोहनकंवर बोहरा—राजहमन्द्री (आ. प्र.)
११. श्रीमान् पारसमल जी महेन्द्रकुमार जी समदड़िया—मद्रास
१२. श्रीमान् गुलाबचन्द जी भींवराज जी सुराणा—महामन्दिर (जोधपुर)
१३. श्रीमान् लूणकरण जी सोनी—भिलाई (म. प्र.)
१४. श्रीमान् बाबूलाल जी मकाणा—हाजीवास (पाली)

आचार्य जीत : परिचय बिन्दु

जन्म-नाम	:	गणेशमल
जन्म-स्थल	:	लूणसरा (नागौर-राजस्थान)
जन्म-समय	:	वि. संवत् १९६७ श्रावण कृष्णा ७
पितामह	:	श्रीमान् हंसराज जी
पिता	:	श्रीमान् वचनमल जी
माता	:	श्रीमती भीखीबाई
कुल/जाति	:	बीसा श्रोसवाल/बाघचार
वैराग्य-काल	:	लगभग २ वर्ष (संवत् १९७६ के पौष में बालक गणेश गुरु-चरणों में समर्पित हुए)।
दीक्षा-समय	:	वि. संवत् १९७८ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीय नवमी।
दीक्षा-स्थल	:	पीपाड़ शहर (जोधपुर-राजस्थान)
दीक्षा-नाम	:	मुनि श्री जीतमल जी (उपनाम 'विजय')
दीक्षा-गुरु	:	स्वामी श्री नथमल जी म. सा.।
शिक्षा-गुरु	:	श्रुताचार्य स्वामी श्री चौथमलजी म. सा.।
भाषा-ज्ञान	:	प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, बंगला, गुरुमुखी एवं अंग्रेजी।
साहित्य-सर्जन	:	संस्कृत-हिन्दी भाषा में काव्य-सृजन की नैसर्गिक प्रतिभा। सैकड़ों संस्कृत-पद्यों की एवं नई तर्जो में शताधिक हिन्दी गीतों-कविताओं व चित्र-कविताओं की नव-रचना। हिन्दी भाषा में सैद्धान्तिक व शोध प्रधान अनेक निबन्धों का सुन्दर लेखन।
व्यक्तित्व	:	लम्बा कद, श्याम वर्ण, दुबला शरीर, उन्नत भाल।
स्वभाव	:	आत्मबली, भावनाशील, शांतिप्रिय एवं गम्भीर।
पदवियाँ	:	१. उपाध्याय पद—वि. सं. २००४ नागौर। २. आचार्य पद—वि. सं. २०३३ रायपुर (मारवाड़)। इसके अतिरिक्त सन् १९३९में विद्वत्परिषद् की ओर से 'तर्कमनीषी' का पद भी प्रदान किया गया।
विहार-प्रान्त	:	राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, आन्ध्र-प्रदेश, कर्नाटक आदि।
विशेष	:	पाँच क्रियोद्धारकों में से पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज की परम्परा में युगप्रणेता आचार्य-प्रवर श्री जयमलजी की सम्प्रदाय के 'नवम आचार्य'।